# भाषा-विज्ञान

लेखक
एफ० मैक्समूलर
अनुवादक
उदयनारायण तिवारी

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : वाराणसी : पटना

# भाषा-विज्ञान

# भाषा-विज्ञान

["The Science of Language"]

लेखक

एफ० मैक्समूलर

अनुवादक एवं परिवर्द्धक

उदयनारायण तिवारी, एम्० ए०, डी० लिट्०

आचार्य एवं अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग

संचालक : भाषा एवं शोध-संस्थान

जबलपुर विश्वविद्यालय

जबलपुर (मध्यप्रदेश)

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली * वाराणसी * पटना

Bhāṣā Vijñāna : Hindi translation by Dr. Uday Narayan Tiwari of *the Original 'Science of Language,'* by Prof. F. Max Muller.



मोतीलाल बनारसीदास
बंगला रोड, जवाहरनगर,
दिल्ली—७ द्वारा प्रकाशित

चौक, वाराणसी—१

अशोक राजपथ, पटना—४

मूल लेखक : प्रो० एफ० मैक्समूलर

अनुवादक
डा० उदयनारायण तिवारी

इंडियन प्रेस (प्रा०) लिमिटेड
३६, पन्नालाल—रोड,
इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

प्रथम संस्करण : जनवरी १९७०

केन्द्रीय हिन्दीनिदेशालय (शिक्षा तथा युवक-सेवा-मंत्रालय) द्वारा प्रकाशकों के सहयोग से कार्यान्वित हिन्दी में पुस्तकों के लेखन अनुवाद और प्रकाशन की योजना के अंतर्गत प्रकाशित।

## दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए मंत्रालय के तत्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्चकोटि की हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महँगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी-पाठक उन्हें खरीदकर पढ़ सकें। इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए जो योजनाएँ बनाई गई हैं, उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत-सरकार प्रकाशित पुस्तकों की निश्चित संख्या में प्रतियाँ खरीद कर उन्हें मदद पहुँचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद और प्रकाशन की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वयं की है तथा इसमें शिक्षा-मंत्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का उपयोग किया गया है।

भाषा-विज्ञान के ज्ञान-क्षेत्र में जैसे प्रयास विदेशों में हुए वैसे भारत में नहीं हो पाए। भाषा-विज्ञान को महत्त्वपूर्ण विज्ञानों की पंक्ति में बैठाने के जो प्रयत्न अन्यत्र किए गए उनसे भारतीय विद्वानों को पर्याप्त प्रेरणा मिली है। प्रस्तुत ग्रंथ ही इसका प्रमाण है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों को स्पष्ट-रूप से समझने में इस पुस्तक से निस्संदेह बड़ी सहायता मिलेगी।

हमें विश्वास है कि प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगी।

आशा है यह योजना सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय होगी।

(ए० चन्द्रहासन)
**निदेशक**

**केंद्रीय हिन्दी निदेशालय**

# मैक्समूलर द्वारा लिखित भूमिका

## नूतन संस्करण में परिवर्तन

मैंने भाषाविज्ञान पर 'रायल इंस्टिट्यूशन, लंदन में, सन् १८६१ तथा सन् १८६३ में कई भाषण दिये थे। इसके बाद इनके कई संस्करण हुए तथा प्रत्येक संस्करण में मैंने इन्हें त्रुटियों से मुक्त करने का यत्न किया। किन्तु जब ये दो खण्डों में प्रकाशित हो गये तब एक अत्यन्त संकुचित सीमा के अतिरिक्त, इनमें परिवर्तन करना एक प्रकार से असम्भव हो गया। इसका कारण यह था कि इधर भाषाविज्ञान के ज्ञान-क्षेत्र में इतनी अधिक प्रगति हुई कि उसके साथ-साथ इनमें संशोधन करना कठिन हो गया।

प्रत्येक ग्रन्थ-प्रणेता का लेखन-काल सीमित अथच निर्धारित होता है और जब इसके बाद भी वह जीवित रहता है तब यह एक समस्या हो जाती है कि उसके द्वारा लिखित पुराने ग्रंथ को क्या किया जाय? उसके निधन के पश्चात् उसकी कृति पुस्तकालय की आलमारी की शोभा बढ़ाने लगती है और तब वह उन त्रुटियों के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है जिन्हें उसने ग्रंथ-लेखन के समय की थी। किन्तु जब तक ग्रंथ-प्रणेता जीवित रहता है तब तक उससे यह आशा की जाती है कि उसकी कृति में ज्ञान-विषयक अधुनातम सामग्री समाविष्ट रहेगी और यदि उसमें कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हें ग्रंथ-कर्ता स्वयं प्रामाणिक नहीं मानता तो उसके लिए वह दोषी माना जाता है।

अतएव जब मेरे भाषणों का नूतन संस्करण एक बार पुनः आवश्यक हो गया तब मैंने यह निश्चय कर लिया कि इस संस्करण के दोनों खण्डों को, यथासम्भव, त्रुटिरहित रूप देने का प्रयत्न करूँगा। इसके लिए मुझे इस संस्करण से एकओर जहाँ बहुत सामग्री निकालनी पड़ी वहाँ दूसरीओर इसमें नवीन सामग्री समाविष्ट भी करनी पड़ी। इसके लिए मैंने अनेक पृष्ठ नूतनरूप में लिखे। अन्य संस्करणों से इसे अभिनवरूप देने के लिए मैंने अपने भाषणों के रूप को परिवर्तित करके इन्हें पुस्तक का रूप दिया। मैंने पुस्तक का नाम भी बदल दिया तथा भाषाविज्ञान के भाषण के स्थान पर इसका नाम भाषणों के आधार पर भाषाविज्ञान रख दिया।

मैंने अपनी पुस्तक के मूलरूप को सर्वथा परिवर्तित करने का यत्न नहीं किया और यद्यपि अपनी पुरानी पुस्तक में संशोधन करने की अपेक्षा, मैं भाषाविज्ञान पर एक नवीन कृति प्रस्तुत कर सकता था किन्तु वार्द्धक्य एवं अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण मेरे लिए यह सम्भव न था।

मेरे आज के तथा भविष्य के पाठकों को एक बात में यह पुस्तक अत्यधिक त्रुटिपूर्ण प्रतीत होगी। वह बात यह है कि मैंने भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्तों के समर्थन में कहीं-कहीं बहुत अधिक तर्क दिये हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि जिन सिद्धान्तों को आज प्रायः सभी लोग सहजरूप में स्वीकार कर चुके हैं उन्हें उस युग के लोग अत्यन्त संदिग्ध दृष्टि से देखते थे। इनमें से कतिपय सिद्धान्तों की ओर मैं ध्यान आकर्षित करूँगा।

## भाषाविज्ञान तुलनात्मक वाङमीमांसा (फिलॉलोजी) से भिन्न है।

आरम्भ में विद्वान् लोग इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे कि तुलनात्मक व्याकरण के पार्श्व में भाषाविज्ञान के लिए भी स्थान है जिसमें केवल स्वर-व्यंजन मात्र का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है अपितु जिसके अन्तर्गत ध्वनि-परिवर्तन एवं मानव-वाक् (human speech) की उत्पत्ति एवं उसके विकास के अध्ययन का भी समावेश है। सन् १८५६ में हेज़ ने इस विषय पर एक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इसके बाद इस दिशा में किसी ने प्रयत्न भी नहीं किया। तुलनात्मक वाङमीमांसा की खोजों के आधार पर भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों को निर्धारित करने के मेरे प्रयत्नों को भी, मेरे अध्यापक एवं मित्र प्रो० बाप्प, वेन्फे एवं कुर्टियस जैसे भाषाविज्ञान के विद्वान्, समयानुकूल नहीं मानते थे।

अब युग परिवर्तित हो गया है तथा भाषाविज्ञान के सिद्धान्त, भाषा की उत्पत्ति एवं उसके विकास, तथा भाषा के इतिहास के विषय में इधर कई ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इन अभिनव ग्रंथों में उन अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में पूर्णरूप से विचार किया गया है जिनका सर्वप्रथम उल्लेख मैंने अपने भाषणों में किया था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि आज दार्शनिकों के लिए यह तर्कशास्त्र एवं मनोविज्ञान के समान ही आवश्यक बन गया है और कतिपय भविष्यद्रष्टा विचारकों ने तो सहजरूप में यह स्वीकार कर लिया है कि आगे चलकर यह सभी दार्शनिक चिन्तनों का दृढ़ आधार बन जायेगा। सच बात तो यह है कि भाषाविज्ञान को वास्तविक महत्त्व-

पूर्ण विज्ञानों की पंक्ति में बिठाने के लिए इतने अधिक तर्कों की आवश्यकता भी न थी।

भाषाविज्ञान को भौतिक विज्ञानों की पंक्ति में स्थान न देने का एक कारण विद्वानों के दृष्टिकोणों का वैषम्य भी है। एक ओर जहाँ कतिपय विद्वान् मानव को प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते हैं वहाँ दूसरी ओर अन्य विद्वान्, मानसिक दृष्टि से, उसे पशु जगत् से सर्वथा असंपृक्त स्वीकार करते हैं। मैंने इस बात पर सबसे अधिक बल दिया है कि मनुष्य को पशु से पृथक् करनेवाला एक तत्त्व भाषा है किन्तु इसके साथ ही मेरा यह भी मत है कि जो तत्त्व प्रकृति जगत् का है कि उसे प्रकृति-जगत् का तथा जो मानसिक जगत् का है उसे मानसिक जगत् का मानना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि हम प्रकृति की ऐसी परिभाषा दे सकते हैं जिससे भाषाविज्ञान भौतिक विज्ञान की सीमित परिधि से बाहर हो जाय किन्तु यदि हम प्रकृति के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण थोड़ा विस्तृत बना लें तो मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मानव-वाक् (ह्यूमन स्पीच) के अध्ययन को हम केवल भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत ही नहीं रख सकते अपितु भौतिक विज्ञानों में इसे सर्वोच्च स्थान दे सकते हैं।

## बाउ-बाउ एवं पूह-पूह सिद्धान्त

यद्यपि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुझे अपने भाषणों में कुछ कथन नहीं करना था तथापि यहाँ पर इतना निवेदन करना मैं आवश्यक समझता हूँ कि मानव-वाक् का घटक मैं धातु मानता हूँ न कि स्वनानुकरण अथवा विस्मयादिबोधक क्रन्दन या पुकार को। मुझसे यह बारंबार कहा गया है कि बाउ-वाउ तथा पूह-पूह सिद्धान्तों के विरुद्ध मैंने जो भी तर्क दिये हैं वे अनावश्यक हैं। यदि आज से तीस वर्ष पूर्व यह बात सत्य थी तो आज तो यह उस युग से कई गुना अधिक सत्य है। मुझे आश्चर्य है कि जब मैं भाषाविज्ञान सम्बन्धी अपना भाषण दे रहा था उस समय भी भाषा की उत्पत्ति विषयक अनुकरणवाद के सिद्धान्त के कतिपय समर्थ समर्थक थे। आज मूलरूप में इस सिद्धान्त के माननेवालों का अभाव है किन्तु किंचित् परिवर्तित रूप में आज भी इसके कतिपय अनुगामी हैं।

जैसा कि मेरे मित्र स्वर्गीय प्रो० नोरे ने अपने एक लेख में स्पष्ट किया है, भाषा की उत्पत्ति-विषयक समस्या के हल की प्रक्रिया को, वास्तविक रूप में, बहुत कम लोगों ने समझा है। उन्होंने अपने इस लेख में मेरे

'धातुवाद' के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए लिखा है कि किसप्रकार मैं इस सिद्धान्त को सर्वोत्कृष्ट मानता हूँ, यद्यपि इस समस्या का एकमात्र हल यही नहीं है। श्री नोरे ने ठीक ही कहा है कि हमें 'ककू' अथवा 'बाउ-बाउ' जैसी अनुकरणात्मक ध्वनियों की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करनी है। इनकी उत्पत्ति के विषय में कब किसे शंका थी ? वास्तव में हमें संप्रत्यय ध्वनियों (conceptual sounds) अथवा आक्षरिक संप्रत्यय की उत्पत्ति के विषय में विचार करना है। नोरे ने अपने लेख में यह स्पष्टरूप से प्रदर्शित किया है कि हमारे आरम्भिक संप्रत्ययों की उत्पत्ति हमारे अविछिन्न कार्यों की चेतना से हुई होगी। वास्तव में तब तक कोई कार्य अपना कार्य नहीं है जब तक उसकी चेतना हमें न हो और ज्योंही कार्य की चेतना हमारे मन में आई त्योंही हमारे अविछिन्न कार्य-समूह एक कार्य में परिणत होकर संप्रत्यय बन गया। नोरे ने अपने इस लेख में यह भी प्रतिपादित किया है कि जो ध्वनियाँ मनुष्य के साधारण कार्यों को द्योतित करने वाली थीं वही आगे चलकर आक्षरिक संप्रत्यय अथवा धातु में परिणत हो गईं। उदाहरणार्थ घर्षण का अनुगमन करनेवाली 'मर्' ध्वनि अविछिन्न निरन्तर कार्य के कारण पहले संप्रत्यय में परिणत हुई और कालान्तर में इसने धातु का रूप ग्रहण कर लिया।

इसमें सन्देह नहीं कि इसे हम कोरा सिद्धान्त अथवा सम्भावना मात्र कह सकते हैं। संभवतः इसीरूप में भाषा उत्पन्न हुई होगी। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि किसी अन्यप्रकार से भाषा की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं है। किन्तु जब मुझे वैज्ञानिक विश्लेषण के बाद 'धातु-सिद्धान्त' की उपलब्धि हो गई तब मुझे यह प्रतीत हुआ कि भाषा की उत्पत्ति का रहस्य मुझे ज्ञात हो गया तथा बिना अवशेष के यह समस्या हल हो गई।

जो लोग मूल समस्या से वास्तविक रूप में परिचित थे उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए ऊपर के तथ्य पर्याप्त थे किन्तु कतिपय विद्वानों ने नोरे के सिद्धान्तों को इस भ्रामक रूप में हृदयंगम किया कि उन्होंने इसे अनुकरणवाद का ही पुनरूप माना। इससे मेरी यह धारणा पुष्ट हो गई कि अनुकरणवाद के सिद्धान्त के अनुगामी आज भी कतिपय लोग हैं। यही कारण है कि जब मैं भाषाविषयक अपने भाषणों में संशोधन करने लगा तो उस सिद्धान्त के विषय में स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ी जिसपर एक युग में अत्यधिक विवाद हो चुका था।

प्रारम्भ से ही मैं यह मानकर चला था कि भाषाविज्ञान को एक भौतिक विज्ञान के रूप में ग्रहण करना चाहिए और तब मुझे इसके शारीरिक अथवा भौतिक आधार की व्याख्या के लिए अग्रसर होना पड़ा।

### तुलनात्मक वाङ्मीमांसा का आधार स्वनविज्ञान (फोनेटिक्स) है

अपने भाषण के द्वितीय खण्ड में मैंने स्वनविज्ञान के अध्ययन पर विशेष बल दिया था। मेरा यह स्पष्ट मत है कि स्वनविज्ञान के अध्ययन के आधार पर ही भाषाविज्ञान का विशिष्ट अध्ययन हो सकता है। पहले इस तथ्य को स्वीकार करने में विद्वानों को संकोच था किन्तु अब सभी लोग इस बात को स्वीकार करने लगे हैं। पुनः जब मैंने अपने भाषाविज्ञान के भाषणों में, अपनी बातों को सिद्ध करने के लिए जोहन्स मूलर, ब्रुके, ज़ेरमार एवं अन्य विद्वानों के अनुसन्धानों का उल्लेख किया तब प्रो० बेन्फे ने इसके लिए मेरी कड़ी आलोचना की तथा उन्होंने स्पष्टरूप से भाषाविज्ञान के क्षेत्र में स्वनविज्ञान के हस्तक्षेप के लिए मुझे दोषी ठहराया। युगपरिवर्तन के साथ-साथ अब इन विचारों में भी परिवर्तन आ गया है। अब भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए स्वनविज्ञान का अध्ययन आवश्यक माना जाने लगा है। इधर स्वनविज्ञान का अध्ययन इतना महत्वपूर्ण माना जाने लगा है कि कुछ विद्वान् इससे चिढ़कर खतरनाक मानने लगे हैं।

### स्वननियम अपरिवर्त्तनीय है

मैंने भाषाविज्ञान को अथवा उसके एक भाग को जो भौतिक विज्ञान के रूप में ग्रहण किया तो उसका यह परिणाम हुआ कि मुझे अपने भाषणों में बारंबार 'स्वननियम' की स्थिरता अथवा अपरिवर्तनीयता पर बल देना पड़ा। मैंने इस सम्बन्ध में अत्यधिक अधिकारपूर्ण ढंग से यह घोषणा की थी कि 'स्वननियम', (=वाङ्नियम) उसीप्रकार स्थिर हैं जिसप्रकार रक्तसंचार को नियंत्रित करने वाले नियम हैं। मेरे इस वक्तव्य का उस समय घोर विरोध हुआ था। आज मैं अपने उस वक्तव्य को पूर्णरूप में स्वीकार करने को तत्पर नहीं हूँ। आज स्वन-परिवर्तन के सन्दर्भ में नियम, शब्द को किंचित् सावधानी से परिभाषित करने की आवश्यकता है। ये नियम गुरुत्वाकर्षण के नियम की भाँति सार्वभौम नहीं हैं। ये प्रयोगसिद्ध नियमों की श्रेणी के हैं। ये नियम ऐसे हैं जो तथ्यों के निरीक्षण से सिद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु जैसा कि मिल ने अपने तर्कशास्त्र के ग्रंथ में कहा है,

कहीं-कहीं इनके अपवाद भी मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें वास्तविक नियम की संज्ञा देना उचित नहीं है।

उदाहरणार्थ हम यह जानते हैं कि संस्कृत के किसी शब्द के अन्त में दो व्यंजन नहीं आते हैं; किन्तु इसके कतिपय अपवाद भी हैं, यथा, 'ऊर्क' (शक्ति) एवं मृत् से सम्पन्न 'अमार्त्'। संस्कृत में केवल ग्यारह व्यंजन ही ऐसे हैं जो किसी शब्द के अन्त में आ सकते है। ये हैं--क्, ङ, ट्, ण्, त्, न्, प्, म्, ल्, ह्, म् (अनुस्वार)। किन्तु ग्रीक में न्, र्, स् इन तीन व्यंजनों के अतिरिक्त कोई अन्य व्यंजन शब्दान्त में नहीं आ सकता जबकि अंग्रेजी में, शब्दान्त में प्रायः सभी व्यंजन आते हैं। यहाँ यह बात सहजरूप में हृदयंगम की जा सकती है कि स्वनात्मक प्रतिबन्धों के कारण भाषा की सम्पूर्ण प्रकृति किसप्रकार निर्धारित होती है। ग्रीक के सम्बन्ध में एक और बात जो उल्लेखनीय है, यह है कि इसके शब्दों के अन्त में 'म्र', 'म्ल' एवं 'न्स्' व्यंजनगुच्छ प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु इस सन्दर्भ में यह बताना कठिन है कि ऐसा क्यों होता है? यहाँ यह बात स्मरणीय है कि 'आरगिव्ज़' (Argives) तथा 'क्रेटन्स' (Cretans) जैसे लेखक कृदन्तीय शब्दों के अन्त में 'न्स् (ns) व्यंजनगुच्छ का प्रयोग करते थे, (यथा, tithens में), किन्तु अन्य ग्रीक लेखक tithens अथवा tithents को titheis में परिवर्तित कर देते थे।

यही कारण है कि हम 'स्वननियम' को पूर्णनियम नहीं कह सकते। वास्तव में हम इस सन्दर्भ में कोई कारण देने में समर्थ नहीं हैं कि एक स्थान पर क्यों ये नियम अनुवर्तित तथा दूसरे स्थान पर ये क्यों विरूपित हो जाते हैं? सच बात तो यह है कि हम अन्तिम नियम के रूप में इनका अन्वेषण नहीं कर सकते और ऐसा करने में हम अभी तक पुरस्सृत भी नहीं हुए हैं।

कुर्टियस तथा उनके अनुगामियों ने यद्यपि स्वननियम के दृढ़ निरीक्षण पर अत्यधिक बल दिया है किन्तु उन्होंने भी कतिपय ऐसे अपवादों को स्वीकार किया है जिनके कारण अभी तक नहीं दिये जा सके हैं। इधर इन्हीं कतिपय अपवादों एवं प्रयोगों ने नूतन तथा पुरानी विचारधारा के लोगों को एक अनुरूप स्थान पर मिलने का अवसर दिया है। नूतन विचारधारा के लोगों की यह मान्यता है कि 'स्वननियम' अपवादरहित होता है। यही बात मैंने आज से कई वर्ष पूर्व कही थी। इस मान्यता का मुख्य कारण यह है कि इसके विपरीत तथ्य को स्वीकार करने से भाषा यथार्थतः

वैज्ञानिक निरूपण के लिए अयोग्य बन जाती है। मेरी मान्यता किंचित् दुस्साहसिक प्रतीत होगी किन्तु अनिवार्य सिद्धान्त के रूप में यह प्रत्येक भाषा के अध्येता के लिए स्वीकार करने के योग्य है। किन्तु इस सामान्य सिद्धान्त के सबसे कट्टर समर्थकों तक को इसकी सीमा निर्धारित करते हुए प्रो० ब्रुगमान के इस कथन को स्वीकार करना पड़ेगा कि एक विशेष भाषिक क्षेत्र एवं काल में ही 'स्वन-नियम' दृढ़ स्थिरता के साथ क्रियाशील होता है। इस सीमा की परिधि में सम्भवत: यह सामान्य सिद्धान्त आज सत्य के रूप में स्वीकरणीय होगा। यदि अन्य स्थान पर प्रो० ब्रुगमान तथा उनके मित्रों की यह मान्यता है कि वर्णों की समान स्थिति में सभी शब्दों में एक ही प्रकार का परिवर्तन होता है तो आज इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि इस बात को कैसे निर्धारित किया जाय कि कौन वर्ण समान दशा में स्थित हैं और पुन: अनन्त वैविध्य में दशाओं की खोज कैसे की जाय ? सच बात तो यह है कि प्रत्येक भाषा में स्वनात्मक एवं स्वभावगत विलक्षणता होती है। प्रत्येक भाषा की बोलियाँ तक अपनी गतिविधि से परिचालित होती हैं। यही नहीं, हम यह भी जानते हैं कि विशेष परिवारों एवं व्यक्तियों तक के उच्चारण में, कभी-कभी विशेषता उपलब्ध होती है।

## बोली-विकास

यद्यपि बोली-विकास को विस्तृत अर्थ में व्यवहृत कर मैंने सभी बाधक तत्त्वों को इसके अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है किन्तु मैं इसके मूल अर्थ में विश्वास करता हूँ। बोलियों का समारम्भ व्यक्तियों के परस्पर बातचीत से होता है। इनका अस्तित्व परिवारों, गोत्रों, गाँवों तथा कभी-कभी जातियों, संघों एवं राज्यों में, सामान्य सम्भाषण-भाषा के रूप में वर्तमान रहता है। वर्तमान की अपेक्षा ये अतीतकाल में, भाषाओं के पोषकरूप में क्रियाशील रहती हैं। बहुत समय तक स्वतंत्र-पथ का अनुसरण करने के कारण अपनी अंगीभूत भाषा को ये जो अंशदान करती हैं वह कभी-कभी उस भाषा की सामान्य प्रवृत्ति एवं विशेषताओं से भिन्न होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाषा में, परिवर्तन के साथ-साथ कतिपय पुराने शब्द एवं शब्दरूप भी उपलब्ध होते हैं जिन्हें हम प्राचीन भाषा का अवशेष कह सकते हैं।

## विभिन्न भाषाओं का सम्पर्क

जब कभी दो विभिन्न एवं दूरतः सम्बद्ध भाषाओं के बोलनेवाले राष्ट्रों में ऐतिहासिक सम्पर्क एवं संघर्ष उपस्थित होता है तो अधिक उग्रतर बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पुरानी उच्च जर्मन तथा गॉथिक के बीच जो अधिक भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनकी व्याख्या केवल मन्दगति से होने वाले स्वनात्मकह्रास के द्वारा नहीं की जा सकती अपितु इसका कारण निम्न-जर्मन एवं उच्च जर्मन जातियों का सम्पर्क तथा मुख्यरूप से दूसरे वर्ग की जातियों द्वारा पहले वर्ग की जातियों का राजनैतिक विस्थापन है। अल्फ्रेड के युग की अंग्रेजी चॉसर की अंग्रेजी में कभी भी परिवर्तित नहीं हुई होती यदि उसे डेन्मार्क एवं नार्मन विजेताओं के भाषा-विषयक अपप्रयोग न प्राप्त हुए होते। इसीप्रकार जब तक हम यह नहीं जान लेते कि रोमन सैन्यदल के दुर्व्यवहारों तथा गॉल के केल्टिक निवासियों तथा अन्त में जर्मनी के फ्रैंक लोगों के प्रहार से लैटिन किस रूप में विताड़ित हुई थी तब तक हम फ्रेंच भाषा की विचित्र अवस्था को नहीं जान सकते। जब एक भाषा के बोलने वाले लोगों को दूसरी भाषा में अपने विचार प्रकट करने पड़ते हैं, जैसा कि मध्ययूरप में लैटिन, केल्टिक तथा ट्यूटनिक भाषा बोलने वालों में तथा इंगलैण्ड में अंग्रेजी और नार्मन फ्रेंच भाषा-भाषियों में हुआ था, तब भाषा में सर्वाधिक स्वनात्मक विखण्डन होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि हम अधिकारपूर्वक यह घोषणा कर सकते हैं कि इन सभी घटनाओं के द्वारा जो भी व्यत्यय उत्पन्न होते हैं वे स्वयं सामान्य नियम के अनुकूल होते हैं। सच बात तो यह है कि जब हम अपवादों के कारण ढूँढ़ निकालते हैं तो वे अपवाद नहीं रह जाते तथा एकल अपवाद उस समय अपवाद नहीं रह जाता जब वह सामान्य नियम का अनुगामी बन जाता है। यह बिल्कुल ठीक है और अपवाद के द्वारा ही सामान्य नियम की सिद्धि होती है, यही इसका अर्थ है। इस बिन्दु पर पुरानी तथा नई विचारधारा के लोगों के विचारों में कठिनाई से अन्तर मिलता है। इनमें वास्तविक अन्तर सिद्धान्त की अपेक्षा वैज्ञानिक मनःस्थिति की है। अभिनव विचारधारा के युवा उत्साही व्यक्तियों का कथन है कि भाषा में जो विधि-विरुद्ध व्यत्यय एवं विशृंखलन दृष्टिगोचर होते हैं उनके लिए कोई कारण अवश्य होने चाहिए। पुराने लोगों की इस सम्बन्ध में यह धारणा है कि ऐसा हो सकता है। ये दोनों किसी निर्वचन की अपेक्षा रखते हैं और

जब यह प्राप्त हो जाता है तो ये दोनों उसीरूप में आनन्द का अनुभव करते हैं जिसरूप में मंगल ग्रह की गति में जो व्यत्यय था उसके नेप्चून जैसे नये ग्रह के अनुसंधान से समाधान हो जाने पर एडम्स एवं लेवेरियर को हुआ था।

## स्वनपरिवर्तन के कारण

यद्यपि स्वनपरिवर्तन के नियम के अपवादों के कारणों की व्याख्या बोली के प्रभावों में ढूँढ़ी जा सकती है तथापि यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि स्वनपरिवर्तन होता ही क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर भी, मैंने अपने भाषणों में, भौतिक दृष्टि से देने का प्रयत्न किया है जिसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

बहुत समय तक भाषा सम्बन्धी ग्रंथों एवं लेखों में प्रायः यही कहा जाता रहा है कि परिवर्तनचक्र में 'क्', 'ग्', 'त्', 'द्' तथा 'स्' 'र्' हो जाता है, किन्तु एक वर्ण दूसरे वर्ण में किसप्रकार और क्यों परि त हो जाता है, इस पर विचार नहीं किया गया। इसके बाद एक ऐसा समय आया जब कुर्टियस ने इसके लिए 'Verwittering' शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ ह्रास अथवा मौसम के प्रभाव से प्रस्तर का घर्षण है। वास्तव में यह अलंकारिक अभिव्यक्ति थी जिसमें कारणों का उल्लेख न था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, मैं वह प्रथम व्यक्ति हूँ जिसने यह व्याख्या प्रस्तुत की थी कि स्वन-परिवर्तन के कारण आलस्य एवं स्वर-व्यंजनों के उच्चारण-प्रयत्न के लाघव हैं। यदि मेरे पूर्व किसी विद्वान् ने इन कारणों का उल्लेख किया है तो मैं इसके श्रेय का भागी नहीं हूँ। मेरे इस निर्वचन के विरुद्ध मुख्यरूप से यह आपत्ति उठाई गई है कि ऐसी अनेक अवस्थाएँ हैं जहाँ रचनात्मक परिवर्तन के कारण उच्चारण में सौकर्य नहीं आता। उदाहरणार्थ 'ग्रिम-नियम में 'त्' की 'थ्' में परिणति सरलता का द्योतक नहीं है क्योंकि बहुत लोगों के लिए 'थ्', का उच्चारण सहज नहीं है। पुनः 'थ्' की 'द्' में परिणति को तो सहज कहा जा सकता है किन्तु इसके आगे 'द्', की 'त् में परिणति सहज नहीं है।

लेकिन इस सिद्धान्त को ही तो मैंने पूर्णरूप से स्थापित करने का यत्न किया है। आलस्य के कारण बहुत से स्वन-परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, उदाहरणार्थ जब हम 'क्नाइट' (knight) को 'नाइट' (night),

'लाफोर्ड' (hlaford) को 'लॉर्ड' (lord) एवं 'वोरसेस्टर' (worcester) को 'वूस्टा' (woosta) रूप में उच्चरित करते हैं तो इनमें आलस्य स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। किन्तु एक दूसरे प्रकार का भी स्वनपरिवर्तन होता है जिसके लिए इससे भिन्न निर्वचन की अपेक्षा है। ग्रिम नियम के रूप में जो परिवर्तन उपलब्ध है उसे हम स्वनात्मकह्रास के भीतर वर्गीकृत नहीं कर सकते। इस परिवर्तन का कारण उच्चारण सौकर्य अथवा आलस्य नहीं है अपितु एक ही गोत्र के लोगों द्वारा बोली जानेवाली बोली की भिन्नताएँ हैं। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह कथन ठीक नहीं है कि महाप्राण अथवा सघोष स्पर्श व्यंजन के उच्चारण की अपेक्षा अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन के उच्चारण में महत् प्रयत्न की आवश्यकता है क्योंकि हमें यह तथ्य ज्ञात है कि गॉथिक भाषा-भाषी सभी प्रकार के वर्णों का उच्चारण समान सुकरता से करते थे। इसीलिए मैं इस प्रश्न के उत्तर की खोज में पूर्णरूप से प्रवृत्त हुआ कि क्यों विभिन्न जर्मन जाति के लोग, अल्पप्राण अघोष व्यंजन, सघोष स्पर्श व्यंजन तथा महाप्राण वर्ण का उच्चारण अपने-अपने ढंग से करने लगे जो संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, केल्टिक तथा स्लावानिक भाषा-भाषियों के उच्चारण से सर्वथा भिन्न था। मुझे विश्वास है कि स्वनात्मकह्रास तथा बोली-विकास के बीच जो अन्तर है वह सामान्यतः विद्वानों द्वारा स्वीकृत है तथा इसके लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भाषा-विज्ञान सम्बन्धी इधर की प्रकाशित अनेक पुस्तकों में इस अन्तर पर पूरा बल नहीं दिया गया है। हम एक व्यंजन का दूसरे व्यंजन में रूपान्तरण अव्यक्त परिवर्तन के रूप में स्वीकार करते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि भाषा के इतिहास में सभी बातें सम्भव हैं।

## मिथ्या सादृश्य

भाषा में परिवर्तन लाने वाले विकास या ह्रास सम्बन्धी कारणों के अतिरिक्त मुझे एक नये कारण की ओर निर्देशन करना है। यह कारण 'मिथ्या सादृश्य' है। इसके विषय में मैंने जो भी तथ्य उपलब्ध किये वे विवादास्पद नहीं बने किन्तु इसके नाम की अत्यधिक भर्त्सना हुई। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो नाम को बिलकुल महत्त्व नहीं देते और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मिथ्या सादृश्य से जो अभिव्यक्ति होती है उससे भ्रान्त धारणाओं के

उत्पन्न होने की आशंका है। जब मैंने मिथ्या सादृश्य को स्पष्ट करते हुए यह बताया कि इतालीय भाषा में credere > credendo के सादृश्य पर ही essere > essendo अथवा लैटिन sumus, sutis, sunt के सादृश्य पर ही स्पैनिश में somos, sois, son रूप बने तब मेरा यह तात्पर्य नहीं था कि भाषा को व्याकरणिक विरूपताओं को जन्म देने का अधिकार नहीं है। हमें यह तथ्य स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा में जो कुछ है ठीक है तथा सादृश्य के पूर्ण प्रभाव के बिना वह जैसी है वैसी नहीं बन सकती। मैंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि आरम्भ में बोलचाल तथा आगे चलकर लिखित भाषा के अपवादों को दूर कर उसे समतल बनाने में बच्चों का बहुत बड़ा हाथ होता है। यद्यपि bad badder तथा baddest, I goed, I coomed, I catched आदि प्रयोग भविष्य में साधु माने जा सकते हैं किन्तु आज तो इन्हें युवाविरोधियों द्वारा प्रयुक्त मिथ्या सादृश्य की श्रेणी में ही रखना पड़ेगा। आज से कई वर्ष पूर्व सन् १८५६ में, विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मैंने लिखा था कि फ्रेंच पर जर्मन भाषा का किस रूप में प्रभाव पड़ा है। इसे भी भ्रान्त सादृश्य का ही परिणाम माना जा सकता है तथा इसे फ्रेंच के Contrce, Gegend, avener, Zukunft आदि शब्द-रूपों में देखा जा सकता है। यदि वैयाकरणों की दृष्टि से इसप्रकार के रूपों का मेरे द्वारा मिथ्या सादृश्य नाम से अभिहित करना गलत था तो अब मैं यह स्वीकार करने को तत्पर हूँ कि भ्रान्त सादृश्य भी भाषा के विकास के लिए एक विध्यनुकूल सिद्धान्त है। यहाँ इस सम्बन्ध में चेतावनी के रूप में मुझे एक बात जो कहनी है यह है कि सभी निर्वचनात्मक बाधाओं के लिए मिथ्या सादृश्य-सिद्धान्त ओषधि नहीं है और भाषाविषयक अध्ययन के पथ में यह खतरे का स्रोत भी हो सकता है।

## आधुनिक भाषाओं का महत्त्व

जब मैंने अपने भाषणों को प्रकाशित किया था तब मुझे एक विशेष तत्त्व को सुदृढ़ तर्कों के आधार पर स्थापित करना चाहिए था। यह तत्त्व था आधुनिक भाषाओं के अध्ययन का वास्तविक महत्त्व। उस युग के विद्वान् प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के एकीकरण के अत्यधिक विरोधी थे। प्रो० डीज़ (Dietz) कृत रोमनी भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण को उस युग के विद्वानों ने अत्यधिक रुचि से पढ़ा किन्तु बॉप्प-

द्वारा प्रणीत आर्य भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण के समकक्ष उसे महत्त्व देने के लिए ये लोग तैयार न थे। मैंने भाषाविज्ञान के अध्ययन में भूगर्भ विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग किया था। यह सिद्धान्त यह था कि ज्ञात ज्ञान के सहारे ही हमें अज्ञात की ओर बढ़ना चाहिए। उस समय के विद्वानों ने मेरी इस अध्ययन प्रणाली को स्वीकार नहीं किया था किन्तु युग-परिवर्तन के कारण अब इसमें अविश्वास करनेवाला कोई नहीं है।

इन बातों का उल्लेख मैं इस श्रेय को प्राप्त करने के लिए नहीं कर रहा हूँ कि भाषा सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों के निर्माण में मेरा हाथ था अपितु इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कर रहा हूँ कि मेरे भाषणों में आज जो निरर्थक एवं क्लान्तिकर दृष्टिगोचर होता है वह आज से तीस वर्ष पूर्व नितान्त आवश्यक था। जो कोई भी व्यक्ति किसी विज्ञान के इतिहास का अध्ययन करता है अथवा जिस किसी व्यक्ति को अनेक वर्षों तक किसी विज्ञान की प्रगति के अवलोकन का अवसर मिलता है वह यह भलीभाँति जानता है कि उसमें कितना थोड़ा ऐसा अंश रहता है जिसे वास्तविक रूप में मौलिक कहा जा सकता है। लाइबनिज़ को आधुनिक भाषाओं का महत्त्व उतना ही ज्ञात था जितना आज हमलोगों को ज्ञात है। वह इस सम्बन्ध में लिखता है—"हमें सर्वप्रथम आधुनिक भाषाओं का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि ये हमारे निकट की हैं। हमें इनका तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि हम इनके अन्तर एवं सम्बन्ध को जान सकें। इसके बाद हमें इनके पूर्व की भाषाओं के अध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिए ताकि उनके साथ इनके सम्बन्ध एवं इनकी उत्पत्ति का ज्ञान हमें हो सके। इसीप्रकार उत्तरोत्तर अध्ययन करते हुए हम प्राचीनतम भाषा तक पहुँच सकते हैं जिसके विश्लेषण से हमें आवश्यकरूप में विश्वस्त निष्कर्ष की उपलब्धि हो सकती है। किन्तु समय की प्रगति से अनेक ज्ञात बातें पुनः विस्मृत हो जाती हैं, जो बातें स्वीकृत थीं वे अस्वीकृत हो जाती हैं तथा उन्हें पुनर्स्थापित करना पड़ता है और इसप्रकार मानवज्ञान की गति पेण्डुलम के समान अथवा सर्पिल होती है जो बारंबार उसी बिन्दु पर आ जाती है किन्तु इस प्रक्रिया के प्रत्येक मोड़ पर हमें उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

## तुलनात्मक भाषाविज्ञान की प्रगति

इधर प्राचीन भाषाओं के पंडितों की यह शिकायत है कि बॉप्प, पॉट तथा

ग्रिम के बाद तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कोई मौलिक उपलब्धि नहीं हुई है। इसके विपरीत दूसरी ओर यह कहा जा रहा है कि नये युग का आरम्भ हो गया है तथा इसके पूर्व भाषाविज्ञान के विषय में जो कुछ लिखा गया था वह पूर्णतया पौरातनिक एवं अवैज्ञानिक था। जैसा कि प्रायः होता है, सत्य इन दोनों अतिवादों के बीच में है। तुलनात्मक भाषाविज्ञानी आज भी हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं हैं किन्तु इस सम्बन्ध में इतना तो मानना ही पड़ेगा कि एक नये विश्व की खोज के बाद तत्काल एक अभिनव कोलम्बस की आशा नहीं करनी चाहिए। भाषाविज्ञान के अध्ययन में न तो गतिहीनता आई है और न इसमें क्रान्ति ही हुई है। प्रत्येक प्रगतिशील विज्ञान की भाँति भाषाविज्ञान भी उन्नति के पथ पर आरूढ़ है और आगे बढ़ रहा है जो वास्तव में स्वस्थ जीवन का लक्षण है।

## भाषाओं का सम्बन्ध

अब यहाँ कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया जाता है। आज से कई वर्ष पूर्व विविध भाषाओं में जो सम्बन्ध निर्धारित किया गया था उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ तथा भाषाओं के वर्गीकरण का आधार भी प्रायः वैसा ही रहा। आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व यह सिद्धान्त स्थिर हुआ था कि भाषाओं का वर्गीकरण शब्दों के आधार पर न होकर व्याकरण के आधार पर होना चाहिए क्योंकि शब्दों में तो सम्मिश्रण हो सकता है किन्तु व्याकरण में इसप्रकार की कोई आशंका नहीं है। कतिपय वर्षों के बाद विद्वानों को यह विचारधारा रूढ़िग्रस्त प्रतीत होने लगी तथा कई विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ यह सिद्ध करने के लिए लिखे गये कि संसार में कोई भाषा ऐसी नहीं है जिसमें सम्मिश्रण न हो और एक भाषा दूसरी भाषा से व्याकरणिक रूप भी उधार लेती है; किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद पुनः इसकी प्रतिक्रिया हुई तथा पेण्डुलम एक बार फिर पीछे की ओर चला गया और यह माना जाने लगा कि यद्यपि कतिपय व्याकरणिक रूप भी अन्य भाषाओं से उधार रूप में आ सकते हैं तथा उनके सादृश्य पर नये व्याकरणिक रूपों का निर्माण भी हो सकता है तथापि अन्तर इतना है कि प्रत्येक भाषा के व्याकरणिक रूप ऐतिहासिक परम्परा से उसे प्राप्त होते हैं तथा आगे चलकर ये औपचारिक बन जाते हैं। ये निरन्तर विकसनशील होते हैं तथा ये अन्य भाषाओं से उधार नहीं लिये जा सकते।

इधर आर्यपरिवार की भाषा की श्लाइखर, शिमिट, फिक तथा अन्य विद्वानों ने नई वंशावलियाँ तैयार कीं किन्तु यहाँ भी हम लौटकर इसी बिन्दु पर आ गये कि इस परिवार की भाषा का दो भागों में विभाजन हुआ था। इनमें से एक उत्तरी-पश्चिमी तथा दूसरी दक्षिणी-पश्चिमी शाखा थी। इसके आगे हम इस अनुसन्धान में सफल नहीं हुए कि उत्तरी-पश्चिमी शाखा कब तक एक रूप में रही तथा कब से इस शाखा की भाषाएँ स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित हुईं। अनुसन्धान से यह बात ज्ञात हुई है कि आर्यों के प्रथम पृथक्करण के पूर्व से ही इनकी भाषा में पार्थक्य के बीज वर्तमान थे।

## आर्यों का मूलस्थान

सामान्य पाठक की दृष्टि में आर्यों के मूलस्थान की खोज आकर्षण की वस्तु है किन्तु तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए इसका उतना महत्त्व नहीं है। विभिन्न विद्वानों की खोजों के परिणामस्वरूप इस प्रश्न पर नवीन प्रकाश पड़ा है किन्तु इस विषय में ऐसी सामग्री भी प्रकाश में आई है जिससे यह प्रश्न उलझकर अन्धकार के गर्त में चला गया है। इधर सन् १८९० ई० में श्रेडर की कृति 'प्रिहिस्टारिक एन्टिक्विटी आव द एरियन रेस (Prehistoric Antiquities of the Aryan Race) का प्रकाशन हुआ है। इस विषय की यह सर्वोत्कृष्ट कृति है।

## स्वननियम

स्वननियम के वैज्ञानिक प्रयोग में इधर सर्वाधिक प्रगति हुई है। इस क्षेत्र में जो खोजें हुई हैं वे उतनी चकित करनेवाली नहीं हैं क्योंकि एक सीमित क्षेत्र के विद्वानों के अतिरिक्त इसमें अन्य लोगों की किसीप्रकार की दिलचस्पी नहीं है। किन्तु इसके बावजूद भी स्वननियम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि सम्प्रति भाषा विज्ञानियों का निरीक्षण कितना सूक्ष्म एवं सटीक हो गया है तथा इसके साथ ही इसमें कितनी प्रखर प्रतिभा का योगदान हो गया है। इस क्षेत्र में हमारी यह उपलब्धि हुई है कि अतीतकाल में जो स्वनपरिवर्तन असम्भव माने जाते थे वे सम्भव सिद्ध हो गये हैं किन्तु इसके विपरीत कई सम्भव स्वनपरिवर्तन असम्भव भी सिद्ध हुए हैं। इसीप्रकार जो निर्वचन सर्वसम्मति से स्वीकृत थे वे असिद्ध तथा जिनकी सिद्धि की स्वप्न में भी सम्भावना न थी वे पूर्णतया सिद्ध एवं प्रतिष्ठित हुए हैं।

## भाषाविज्ञान के तीन युग

एक अर्थ में यह बात सत्य है कि हम भाषाविज्ञान के इतिहास के तीसरे युग में प्रविष्ट हुए हैं। यह युग अपने पूर्ववर्ती युगों से किसीप्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैज्ञानिक अनुसन्धान की प्रत्येक शाखा में जो प्रगति हुई है उसके लेखे-जोखे की समय-समय पर आवश्यकता है और भाषाविज्ञान जैसे निरन्तर प्रगतिशील विज्ञान के क्षेत्र में तो यह बात अत्यावश्यक है। भाषा-विज्ञान के स्पष्टरूप से ऐसे तीन युग हैं जिनमें इसकी प्रगति विचारणीय है। इनमें से प्रथम युग वह था जब बॉप्प ने अपने तुलनात्मक व्याकरण का प्रकाशन किया था। यह प्रकाशन-कार्य सन् १८३३ से सन् १८५२ तक सम्पन्न हुआ था। इसका तृतीय संस्करण सन् १८६८-७१ में हुआ था। दूसरे युग का समारम्भ श्लाइखर के 'कम्पैन्डियम' (Compendium) के प्रकाशन से हुआ। इसका प्रथम संस्करण सन् १८६२ ई० में तथा चतुर्थ संस्करण सन् १८७६ में सम्पन्न हुआ था। तीसरे युग का आरम्भ ब्रुगमान की कृति (Grundriss der Vergleichenden Grammatik) से हुआ। इसका प्रथम संस्करण सन् १८८६ ई० में तथा द्वितीय सन् १८८९ ई० में सम्पन्न हुआ था।

ऊपर की तीनों कृतियों की तुलना से ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि भाषाविज्ञान की प्रगति तीव्रगति से निरन्तर होती रही। श्लाइखर बॉप्प को पदच्युत न कर सके और न ब्रुगमान श्लाइखर से आगे बढ़ सके। किन्तु जिसप्रकार श्लाइखर की कृति ने भाषाविज्ञान के भवन की नींव को ही दृढ़ नहीं बनाया अपितु उसे ऊँचा भी बनाया उसीप्रकार ब्रुगमान की कृति से इस भवन की गहराई, ऊँचाई एवं चौड़ाई में अभिवृद्धि हुई। इधर ब्रुगमान की कृति के विषय में जो निराशा व्यक्त की गई है उसके लिए कोई आधार नहीं है। जिन लोगों को यह आशा थी कि इस कृति में सर्वथा अभिनव तत्त्वों का समावेश होगा तथा इसका निर्माण बॉप्प, ग्रिम, पॉट, बेन्फे, श्लाइखर कुर्टियस तथा भाषाविज्ञान के अन्य विद्वानों की कृतियों के ध्वंसावशेष एवं उच्छेद पर होगा उन्हें निस्सन्देह निराशा हुई होगी। वास्तव में ब्रुगमान की कृति आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अभिप्राय से लिखी गई है। यह उन्हीं तथ्यों पर आधारित है जो पूर्ववर्ती विद्वानों से प्राप्त हुए हैं किन्तु इसकी विवेचना में निश्चितरूप से नवीनता है। हमारे पूर्ववर्ती विद्वानों

तथा उनके सहयोगियों ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो भी कार्य किया है उसका मूल्यांकन एवं सही सर्वेक्षण दुष्कर है। अतएव हमें बॉप्प, श्लाइखर तथा ब्रुगमान जैसे व्यक्तियों के प्रति अधिक कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि इन्होंने समय-समय पर अत्यधिक परिश्रमपूर्वक इसप्रकार के सर्वेक्षण कार्य को सम्पन्न किया है। यदि हम यह बात मान लें कि ब्रुगमान की कृति (Grundriss) एस्कोली, बार्थोलोमे, ब्रील, बुग्ग, कोलिट्ज़, डाउसे, फिक, हेनरी, हुव्शमैन, क्लुग, मेर्लो, ओस्टाफ, रीज़, सस्योर, साइस, श्मिट, श्रेडर, स्टोक्स, स्वीट, वर्नर, विंडिश, अन्य विद्वानों तथा स्वयं ब्रुगमान के मौलिक अनुसन्धानों का प्रतिनिधित्व करती है, तो हम लोगों का यह अधिकार है कि इस कृति को बॉप्प तथा श्लाइखर की महान् कृतियों के पार्श्व में रखें। किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि ब्रुगमान की इस कृति से एक नये युग का समारम्भ होता है तथापि इसे भाषाविज्ञान की विजय-यात्रा का अगला कदम मानना ही समीचीन होगा।

चूंकि मेरे भाषणों का सम्बन्ध मुख्यरूप से भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों से है अतएव ब्रुगमान तथा अन्य विद्वानों ने इसे सम्मुन्नत करने में जो योगदान किया है उसका सम्यक् विवेचन यहाँ मेरे लिए सम्भव नहीं है। स्वन-विषयक प्रश्नों, यथा ग्रिमनियम पर विचार करते समय, मैंने पूरकरूप में, ग्रासमान, वर्नर, पाल एवं अन्य विद्वानों की खोजों का विवरण दिया है। इधर निर्वचन के क्षेत्र में जो अभिनव उपलब्धियाँ हुई हैं उन पर भी मैंने विचार नहीं किया है। इसीप्रकार भाषाविज्ञान क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण खोजों, यथा, आर्यभाषा की मूल स्वरपद्धति, स्वरों का पूर्व व्यंजनों पर प्रभाव, नासिक्य का वास्तविक अर्थ, गुण, वृद्धि एवं विभिन्न वर्गों के कंठ्यवर्णों तथा आर्यभाषा के स्वराघात के सम्बन्ध में भी मेरे भाषणों में कोई संकेत नहीं है। इन सभी तत्त्वों का ज्ञान, भाषाविज्ञान की सीमा एवं अन्य भाषाओं से इसके सम्बन्ध-निर्धारण तथा इसके सिद्धान्तों की सम्पुष्टि के लिए परमावश्यक हैं।

मेरे इन भाषणों का विश्व के विद्वानों एवं छात्रों ने कृपापूर्वक जो स्वागत किया है, उनके प्रति, इस भूमिका के अन्त में, मैं कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। इन भाषणों को लिखितरूप देने में मेरा जो उद्देश्य था उन्हें इन अध्येताओं ने यथार्थरूप में समझा है। मेरे अनेक अपरिचित मित्रों ने इन भाषणों में संशोधन करने तथा इनमें अभिनव तत्त्वों के समावेश के लिए अनेक पत्र लिखे हैं। इन सभी लोगों के प्रति मैं अपना हार्दिक धन्यवाद प्रेषित

करता हूँ। यहाँ मैं विशेषरूप से उन दो विद्वानों की सहायता का उल्लेख करता हूँ जिन्होंने इस संस्करण को प्रेस में भेजते समय की है। ये हैं रेवरेण्ड ए० एल० मेहू तथा जोसेफ राइट। इनमें से प्रथम सज्जन ने अनेक शब्दों के निर्वचन में मेरी सहायता की तो दूसरे ने एंग्लोसैक्सन एवं टयूटनिक शब्दों की अखरौटी को एकरूपता देकर उन्हें आज के इंगलैंड में प्रचलित परिनिष्ठित अखरौटी के अनुरूप बनाया।

**एफ० मैक्समूलर**
**इगथम मोटे, केन्ट :**
**अगस्त ३०, १८९०**

## अनुवादक द्वारा लिखित आमुख

डा० ग्रियर्सन कृत 'भाषा-सर्वेक्षण की भूमिका' के अनुवाद के प्रकाशन के पश्चात् मैंने यह प्रायः निश्चय कर लिया था कि भविष्य में किसी अंग्रेजी कृति का अनुवाद नहीं करूँगा क्योंकि इसप्रकार का कार्य तो अन्य भारतीय विद्वान् भी कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। उधर सन् १९५९-६० के अमरीकी प्रवास-काल में मुझे अन्तोने मेइये कृत "ला लांग्वे दु मोंद" का एक संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण उपलब्ध हुआ और उसके भाषान्तर की प्रेरणा को स्वरूप देने में मैं चेष्टाशील हो चला। भारत लौटने पर मुझे ज्ञात हुआ कि फ्रेंच एवं हिन्दी के एक योग्य विद्वान् यह कार्य सम्पन्न करने का कार्यक्रम बना चुके हैं। इसी बीच सन् १९६१ के मार्च में मेरे प्रिय शिष्य एवं सहयोगी डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी (प्राध्यापक, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) ने मक्समूलर की कृति "लेक्-चर्स आन् द सायन्स आव लैंग्वेज" की एक प्रति मुझे दी। ये व्याख्यान ग्रेटब्रिटेन के "रायल इंस्टिट्यूशन" के तत्त्वावधान में सन् १८६१ ई० में दिये गये थे। इनका संशोधित तृतीय संस्करण सन् १८६२ ई० में प्रकाशित हुआ था। मैक्स-मूलर के ये व्याख्यान मेरे मानसिक संस्कारों के लिए सर्वथा नवीन वस्तु नहीं थे तथापि इनके पुनर्पठन से मुझे नवीन ज्ञानानन्द मिला।

मैक्समूलर की कतिपय उपलब्धियों ने मुझे बरबस आकृष्ट किया। एक तो यह कि भाषाविज्ञान को विज्ञान की कोटि में समाविष्ट करने के लिए उस युग में उन्होंने अकाटच तर्क उपस्थित किये थे; अन्य यह कि कथित कृति में विविध भाषाओं के सम्बन्ध में जो पुष्कल सामग्री निबद्ध है, वह भाषा-विज्ञान की अन्य पुस्तकों के सन्दर्भ में अतुलनीय है। मैक्समूलर ने भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषा--'वैदिक संस्कृत' एवं 'पाणिनीय संस्कृत' का गहन अध्ययन किया था। वे पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के भी पंडित थे। इसके साथ ही उनकी प्रतिभा ने ग्रीक, लैटिन तथा विश्व के अन्य परिवारों की समर्थ भाषाओं का भी सुधा-स्वाद लिया था। किन्तु सर्वोपरि थी उनकी तुलनात्मक एवं वैज्ञा-निक दृष्टि जो भाषा सम्बन्धी तात्त्विक सिद्धान्तों के अन्वेषण में सिद्ध थी।

अन्ततः अपने पूर्व संकल्प से उपराम हो, मैंने मैक्समूलर की इस कृति के अनुवाद का संकल्प कर लिया। सन् १९६१ के दिसम्बर में मुझे जबलपुर विश्व-

विद्यालय की सेवाएँ स्वीकार कर यहाँ आना पड़ा। यहीं सन् १९६२ से इस कृति के अनुवाद-कार्य में प्रवृत्त हो गया। इसी बीच संस्कृत ग्रंथों के प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान 'मोतीलाल बनारसीदास' के मालिक श्री सुन्दरलालजी से दिल्ली में मेरी भेंट हुई। भाषाविज्ञान तथा संस्कृत की प्राचीन प्रकाशित पुस्तकों के सम्बन्ध में लालाजी का ज्ञान अद्भुत है। उन्होंने मैक्समूलर के 'कलेक्टेड वर्क्स' के ग्यारहव भाग में प्रकाशित 'सायन्स आव लैंग्वेज' के प्रथम भाग की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। इस संग्रह में यह ग्रंथ अपने परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप में पूर्ण है। यह कार्य मैक्समूलर ने स्वयं सन् १८९० में सम्पन्न किया था। प्रस्तुत पुस्तक इसी का अनुवाद है। अनुवाद करते समय मैंने कतिपय अनावश्यक अंशों को छोड़ दिया है तथा एक-दो स्थानों पर उनकी पुरानी कृति की आवश्यक सामग्री को समाविष्ट कर दिया है।

मेरा अनुवाद का कार्य सन् १९६३-६४ में पूर्ण हो चुका था इसके बाद मुझे ज्ञात हुआ कि इस कृति का अनुवाद 'भाषाविज्ञान पर भाषण' नाम से उत्तर-प्रदेश की हिन्दी-समिति की ओर से सम्पन्न हो चुका है। इसके अनुवादक मेरे परम आदरणीय बन्धु स्वर्गीय डा० हेमचन्द्रजी जोशी थे। यह पुस्तक सन् १९६४ ई० में 'हिन्दी समिति ग्रंथमाला के ८३ वे ग्रंथ के रूप में प्रकाशित भी हुई। डा० जोशी संस्कृत के अतिरिक्त लैटिन, फ्रेंच, जर्मन एवं अंग्रेजी के अधिकारी विद्वान् थे। दुःख है कि हिन्दी को समुन्नत एवं सम्पन्न बनाने में उनके ज्ञान का यथोचित उपयोग न हो सका।

मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि मेरी यह अनूदित कृति श्री मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से प्रकाशित हो रही है। इसके लिए मैं श्री सुन्दरलाल जी तथा उनके पौत्र श्री प्रकाश बाबू का आभारी हूँ। सम्पूर्ण पुस्तक का अनुवाद ३४३ पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। परिशिष्ट १ में मूल पुस्तक की आवश्यक टिप्पणियाँ हैं। इसकी पृष्ठ संख्या ३२ है। परिशिष्ट २ के १९६ पृष्ठों की सामग्री ग्रंथ को विशेष उपयोगी बनाने के लिए जोड़ी गई है। इसमें भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अधुनातम ज्ञान को संक्षेप में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यह सम्पूर्ण सामग्री भाषाविज्ञान की विविध पुस्तकों से ली गई है। यदि इस पुस्तक के अध्येताओं को भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को स्पष्टरूप से हृदयङ्गम करने में किंचित् भी सहायता मिली तो अनुवादक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

मेरी दृष्टि में भाषाविज्ञान जैसे नित्य प्रगतिशील एवं परिवर्तनोन्मुख विज्ञान के सन्दर्भ में यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक अनूदित पुस्तक में, परिशिष्ट

रूप में, अधुनातम ज्ञान उपलब्ध किया जाय। इसके लिए अनुवाद का कार्य विशेषज्ञों द्वारा अथवा उनके तत्त्वावधान में होना चाहिए।

इस पुस्तक के पृष्ठ ५३०—५७३ में, परिशिष्ट में, मैंने तुर्की भाषाओं का संक्षिप्त परिचय दिया है। आरम्भ में तुर्क घुमन्तू जाति के लोग थे। धीरे-धीरे इन्होंने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस्लाम धर्म में दीक्षित होने के बाद तुर्कों में अरबी लिपि प्रचलित हो गई किन्तु यूरप के प्रभाव के परिणामस्वरूप, आगे चलकर, इन्होंने अवैज्ञानिक अरबी लिपि का परित्याग कर रोमन लिपि को स्वीकार किया। जो तुर्क रूस-राज्य में बसे थे वे भी सन् १९४० ई० तक रोमन लिपि का ही व्यवहार करते रहे किन्तु सन् १९४०-४५ में यहाँ रोमन लिपि के स्थान पर रूसी लिपि का प्रयोग प्रचलित हो गया और अब रूस-राज्य के अन्तर्गत सभी तुर्की भाषा-भाषियों में यही लिपि चालू है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि भाषा एवं धर्म की विभिन्नता होते हुए भी आज समस्त रूस में एक मात्र रूसी लिपि ही व्यवहृत हो रही है। सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में आबद्ध करने तथा प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के लिए एक लिपि का प्रचलन आवश्यक है। रूस इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। क्या भारत भी इससे प्रेरणा ग्रहण कर सम्पूर्ण देश में नागरी लिपि प्रचलित करने में सफल हो सकेगा? राष्ट्रीय एकता के लिए यह परमावश्यक है।

यहाँ जबलपुर विश्वविद्यालय में अपने कार्यों के सम्बन्ध में एक शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा। मैं सन् १९६१ के दिसम्बर में, जबलपुर विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति, डा० कुंजीलाल जी दुबे के आमंत्रण पर यहाँ के 'भाषा एवं शोध संस्थान' में हिन्दी के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर आया था। इस संस्थान के अन्तर्गत प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति, पालि, संस्कृत, एवं हिन्दी, ये तीन विभाग हैं। मेरे आने से पूर्व, इनमें से दो विभागों के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डॉ० राजबली पाण्डेय तथा डॉ० हीरालाल जैन अपने-अपने विषयों के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-लब्ध विद्वान् कार्यरत थे। इन्हीं के सहयोगी के रूप में हिन्दी के अध्यक्ष पद पर, डॉ० कुंजीलाल जी दुबे ने मेरी नियुक्ति की थी। मेरा कार्य आरम्भ के तीन वर्षों में केवल अनुसन्धान को प्रगति देने से सम्बन्धित था। इसके बाद जब विश्वविद्यालय का नवीन भवन बना तो हिन्दी, एम० ए०, का शिक्षण कार्य भी प्रारम्भ हुआ। डॉ० दुबे का यह प्रीति-कर स्वप्न था कि अनुसन्धान एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में यह विश्वविद्यालय देश के अन्य विश्वविद्यालयों में विशिष्ट स्थान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करे। मुझे यह उल्लेख करने में प्रसन्नता का

अनुभव हो रहा है कि इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से अबतक २३ शोधार्थी पी० एच० डी०, तथा २, डीलिट् की उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। इनमें से पी-एच० डी० के १६ तथा डी लिट् के दोनों शोध छात्रों ने मेरे तत्वावधान में महत्वपूर्ण शोध कार्य किये हैं। इधर सन् १९६८ से, यहाँ हिन्दी विभाग के अन्तर्गत ही, भाषाविज्ञान में, एम० ए० की कक्षाएँ चल रही हैं जिनका संचालन मेरे शिष्य एवं सहयोगी डा० महावीर सरन जैन बड़ी योग्यता एवं कुशलता से कर रहे हैं। इसप्रकार, एक सीमा तक, हिन्दी विभाग, डा० कुंजीलालजी दुबे के सुखकर स्वप्न को साकार रूप देने में प्रयत्नशील है।

देश के वरिष्ठ नेता तथा मध्यप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। पंडित मिश्र कुशल राजनीतिज्ञ के अतिरिक्त भारतीय-इतिहास, एवं हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। समय-समय पर जबलपुर में, उनसे जो साहित्य-चर्चाएँ होती रहीं वे मेरे लिए अत्यन्त प्रेरणादायिनी रही हैं।

भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जिन गुरुजनों से मुझे सदैव सहायता मिलती रही है उनमें, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० बाबूराम सक्सेना, पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, तथा डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के नाम विशेषरूप स्मरणीय और उल्लेखनीय हैं। हिन्दी के परम उन्नायक सरस्वती सम्पादक पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी जी तथा जबलपुर विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति डॉ० राजबली पाण्डेयजी मेरे अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों में सदैव सुरुचि लेते रहे हैं तथा उत्साहवर्धन भी करते रहे हैं। इन समस्त गुरुजनों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ तथा इनके श्री चरणों में नत मस्तक हूँ।

पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे शिष्य डॉ० एन० सुन्दरम्, डॉ० रामदयाल कोष्टा, डॉ० शिवकुमार शर्मा 'मलय', डॉ० विश्वनाथ सिंह डॉ० गुरुचरण पाठक तथा डॉ० पुरुषोत्तम खरे के प्रयत्न सराहनीय हैं अतः ये सभी मेरे आशीष के पात्र हैं।

पुस्तक के प्रकाशन में अप्रत्याशित विलम्ब इस कारण से भी हुआ कि मेरी धर्मपत्नी श्रीमती माहेश्वरी तिवारी विगत फरवरी सन् ६८ में एकाएक अत्यधिक रुग्ण हो गयीं। भगवान् की कृपा से सम्प्रति वह क्रमशः स्वास्थ्य-लाभ कर रही हैं। पुस्तक के अनुक्रमणिका के कार्य में, मेरे शिष्य पं० भोलानाथ पाण्डेय, श्री कमलनारायण दुबे, श्री आतमाराम त्रिपाठी, श्री शिवविलास शुक्ल तथा श्री राधेश्याम पाठक से विशेष सहायता मिली है। ये सभी लोग मेरे आशी-

वाद के पात्र हैं। अन्त में मैं भारती भंडार के संचालक अपने स्नेही मित्र पं० वाचस्पति पाठक तथा इंडियन प्रेस के उत्पादन व्यवस्थापक श्री सन्तोषकुमार तिवारी के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके मूल्य-वान् सहयोग से इस पुस्तक का मुद्रित-स्वरूप सुन्दर हो सका है।

विश्वविद्यालय निवास-गृह
पचपेढ़ी, जबलपुर
गाँधी शताब्दी
२, अक्टूबर, १९६९ ई०

उदयनारायण तिवारी

# विषय-सूची

------

# भाषा-विज्ञान

## अध्याय १

## भाषा-विज्ञान वस्तुतः एक भौतिक विज्ञान है

### भाषा-विज्ञान का नामकरण

**भाषा-विज्ञान**——भाषा-विज्ञान वस्तुतः अति आधुनिक विज्ञान है। और इस शताब्दी से पूर्व इसका इतिहास नहीं मिलता। अभी भी यह अपूर्ण विज्ञान है और प्राचीन पूर्ण विज्ञानों के साथ इसकी तुलना नहीं की जा सकती। अभी तक ठीक ढंग से इसका नाम भी निश्चित नहीं हो पाया है और इँग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी में इसे जिन नामों से पुकारते हैं वे इतने अस्पष्ट एवं विभिन्न हैं कि लोगों को उनसे यह भी ज्ञात नहीं होता कि इस नूतन विज्ञान का लक्ष्य क्या है? लोगों ने इसे तुलनात्मक भाषा-शास्त्र (कम्परेटिव फिलॉलोजी), वैज्ञानिक व्युत्पत्तिशास्त्र (साइंटिफिक एटिमालोजी), ध्वनिशास्त्र (फोनॉलोजी) तथा शब्द-शास्त्र (ग्लॉसालोजी) के नामों से अभिहित किया है। फ्रांस में तो इस विज्ञान को लिंग्विस्तिक जैसा सहज किन्तु बर्बर नाम दिया गया है। इस विज्ञान का नामकरण यदि हम ग्रीक भाषा के आधार पर करना चाहें तो इसे 'शब्द' (मिथोस्) अथवा भाषा या वाणी (लोगोस) से निर्मित करना पड़ेगा किन्तु 'मिथोस्' के आधार पर एक अन्य विज्ञान का नामकरण 'माइथोलोजी' हो गया है और यदि इस विज्ञान को 'लोगोलोजी' का नाम दिया गया तो यह शास्त्र-ज्ञाताओं को कर्ण-कटु होगा। इन नामों की आलोचना करने में अधिक समय विनष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनमें से कोई भी नाम उस रूप में स्वीकृत नहीं है जैसे आधुनिक विज्ञानों के भूगर्भशास्त्र (जिओलोजी) अथवा तुलनात्मक शरीरशास्त्र (कम्परेटिव एनाटॉमी) जैसे नाम। किन्तु, जब हम इस नूतन शास्त्र के जन्म, इसकी प्रकृति तथा इसके इतिहास से परिचित हो जायेंगे तब इसके नामकरण में वैसी कठि-

नाई न होगी। मैं इसे भाषा-विज्ञान जैसे सरल नाम से अभिहित करना पसन्द करूँगा। यद्यपि, आज के युग में जहाँ विभिन्न-विज्ञानों को भड़कीले नामों से अभिहित किया जाता है वहाँ यह नाम लोगों को सहज ही स्वीकार्य न हो सकेगा।

## भौतिक-विज्ञान

नामकरण के प्रश्न पर अधिक विचार न कर अब हम भाषा-विज्ञान के तात्पर्य एवं प्रयोजन के संबंध में विचार करते हैं। चूँकि, भाषा-विज्ञान प्रथम बार विज्ञान होने का दावा कर रहा है अतएव इसकी परिभाषा देने के पूर्व हमें अन्य विज्ञानों के इतिहास, उनकी उत्पत्ति, उनके क्रमिक विकास तथा उनकी वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करना चाहिए; इसके साथ ही हमें उन पद्धतियों का भी ज्ञान होना चाहिए जिनका हम भाषा-विज्ञान के अनुसंधान में अनुगमन करेंगे। किसी भी विज्ञान का इतिहास वस्तुतः उसकी आत्म-कथा है और साधारणतः आत्मकथाएँ पढ़कर कभी-कभी हम भ्रान्त धारणाएँ भी बना लेते हैं। ऐसी भ्रान्त धारणाओं से हमें इस नव-विज्ञान की रक्षा करनी है।

## तीन अवस्थाएँ :—आनुभाविक, वर्गीकरणिक तथा सैद्धान्तिक

अधिकांश विज्ञानों के इतिहास में हमें एक प्रकार की समरूपता मिलती है। जब हम वेवेलकृत 'आगमनात्मक विज्ञानों के इतिहास' (हिस्ट्री आफ् इंडक्टिव साइंसेज) अथवा हम्बोल्ट कृत कासमॉस (ब्रह्माण्ड) को पढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य के ज्ञान की प्रत्येक शाखा की उत्पत्ति, उसके उन्नयन एवं उसकी अवनति के कारण प्रायः एक सी हैं। और प्रत्येक विज्ञान की प्रायः तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन्हें हम क्रमशः 'आनुभाविक' (एम्पिरि-कल), 'वर्गीकरणिक' (क्लासिफिकेटरी) तथा सैद्धांतिक (थियोरेटिकल) नाम से अभिहित कर सकते हैं। यह बात चाहे कितनी ही अरोचक क्यों न लगे, यदि हम आधुनिक युग के भव्य नामधारी विज्ञानों के इतिहास का अनुसंधान करें तो ज्ञात होगा कि उनका आरंभ अर्धशिक्षित जातियों के घरेलू उद्योग-धंधों से हुआ था। यह वस्तुतः सत्यं शिवं सुन्दरम् नहीं था जिसने आरंभ के दार्शनिकों को गहरे अनुसंधानों एवं साहसिक शोध-कार्यों में प्रवृत्त किया।

## आनुभाविक अवस्था

मनुष्य की चमत्कारपूर्ण पटुता की नींव में पितृसत्तात्मक तथा अर्द्ध-सभ्य समाज की अनिवार्य आवश्यकताएँ ही थीं। मानव-ज्ञान के कतिपय प्राचीन विषयों के नामों के संबंध में यदि हम विचार करें तो अनेक नवीन तथ्य उपलब्ध होंगे। 'ज्यामिति', (ज्योमेट्री) आज इन्द्रियविषयक सभी स्थूल धारणाओं से मुक्त है और यह बिन्दुओं, रेखाओं आदि के संबंध में आदर्शरूप से विचार करती है, किन्तु जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसका आरम्भ उपवन या क्षेत्र की पैमाइश से हुआ था। 'ज्योमेट्री' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक 'गे' (gē) 'पृथ्वी' अथवा 'भूमि' तथा 'मेट्रोन' (metron) पैमाइश से हुई है। 'बॉटेनी' (वनस्पति-विज्ञान) वस्तुतः 'बोटाने' (botāne) का विज्ञान था। 'बोटाने' का सामान्य अर्थ ग्रीक में वनस्पति नहीं है अपितु यह पशुओं के खाने का भूसा अथवा चारा है। इसकी उत्पत्ति 'बोस्केइन' (bos-kein) से हुई है जिसका अर्थ है 'खिलाना'। वनस्पति-विज्ञान का उपयुक्त नाम 'फाइटॉलोजी' हो सकता है क्योंकि ग्रीक में 'फाइटोन' (phyton) का अर्थ वनस्पति है। 'ज्योतिषशास्त्र' के संस्थापक भी कवि अथवा दार्शनिक नहीं थे अपितु ये नाविक एवं कृषक थे। प्राचीनकाल के कवियों ने ग्रहों के कुटिल नृत्य का भले ही वर्णन किया हो, दार्शनिकों ने आकाशीय पिंडों में सामंजस्य की भले ही कल्पना की हो, किन्तु वास्तव में गगन के ये प्रकाशमान नक्षत्र नाविकों के लिए जीवन-मरण के प्रश्न थे। ये नाविक ही थे जिन्होंने नक्षत्रों के उदय और अस्त होने के ठीक-ठीक समय का अन्वेषण चतुरता, साहसिकता एवं अतिव्यापारिक सूक्ष्मता से किया। किसी नक्षत्र-विशेष अथवा समूह के जो नाम मिलते हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके नामकरण करनेवाले नाविक तथा कृषक थे। उदाहरणस्वरूप आकाश के नीले पट पर स्वर्ण-हस्त के समान प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमा को उन्होंने 'मापक', समय का मापनेवाले कहा, क्योंकि समय को दिन, सूर्य तथा वर्ष के द्वारा मापे जाने के पूर्व समय की माप रात्रि, चन्द्रमा तथा शीतकाल के द्वारा ही की जाती थी।

चन्द्र (मून=moon) बहुत पुराना शब्द है। (१) एंग्लोसैक्सन भाषा में इसका रूप 'मोन' (Mōna) था और वहाँ इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में न होकर पुल्लिग में होता था क्योंकि सभी ट्यूटनिक भाषाओं में मूलतः चन्द्र पुंल्लिग तथा सूर्य स्त्रीलिंग था। प्राचीन (क्लासिकल) भाषाओं के प्रभाव के कारण ही अंग्रेजी में 'मून' (=चन्द्र) स्त्रीलिंग तथा 'सन' (=सूर्य) पुल्लिग

बन गया। श्री हैरिस का अपनी पुस्तक 'बुध' (=र्हमिज=Hermes) में यह कथन कि विश्व की सभी जातियाँ सूर्य को पुंल्लिग तथा चन्द्र को स्त्रीलिंग मानती हैं—अनुपयुक्त एवं अशुद्ध है। तथ्य यह है कि सभी ट्यूटनिक भाषाओं में मूलतः सूर्य स्त्रीलिंग तथा चन्द्र पुल्लिग था। एड्डा (=Edda) की पुरातन कथा में चन्द्र (=main=moon) को मंडिलफोरि (Mundil fōri) का पुत्र (=sōl=sun) एवं सूर्य को उसकी कन्या माना गया है। गॉथिक में चन्द्र (mēna=moon) को पुंल्लिग तथा सूर्य (=sunnō=sun) को स्त्रीलिंग कहा गया है। (३) एंग्लो-सैक्सन में चन्द्र (Mōna, संबंधकारक monan=moon) को पूल्लिग एवं सूर्य (=sunne सम्बन्धकारक sunnan=sun) को स्त्रीलिंग माना गया है। चौदहवीं शताब्दि तक में हम चॉसर को सूर्य शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में करते हुए पाते हैं। (४) प्राचीन सैक्सन में भी सूर्य (=sunna) स्त्रीलिंग तथा चन्द्र (=māno) पुंलिंग है और स्वेडिश (स्वेडन की भाषा) तथा डैनिश (डेनमार्क की भाषा) में सूर्य (=sol) एवं चन्द्र (=mana) के यही लिंग हैं। लिथुआनीय भाषा में भी चन्द्र (=mēnu) पुंलिंग तथा सूर्य (=saule) स्त्रीलिंग है। और संस्कृत में यद्यपि सूर्य साधारणतया, पुरुष-शक्ति माना जाता है तथापि चन्द्र के पर्यायवाची प्रचलित शब्द सोम, इन्दु एवं विधु पुंल्लिग हैं। कहा जाता है कि अक्कादीय लोगों के विचारानुसार सूर्य से पूर्व चन्द्र वर्तमान था और वह देवताओं का पिता माना जाता था, किन्तु सामी लोगों के मतानुसार सूर्य की उत्पत्ति पहले हुई थी और देवताओं में उसका उच्च एवं महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसप्रकार अक्कादीय लोगों ने चन्द्रमा की कल्पना पुरुष एवं सूर्य की कल्पना स्त्री रूप में की थी। किन्तु, बेबिलोनिया में इसके विपरीत सूर्य को पुरुष एवं चन्द्रमा को स्त्री माना गया था। चन्द्रमा (=moon) के नामों का प्रयोग प्रायः मास (महीनों) के अर्थ में भी होता है। इस तरह गॉथिक में 'मेनोथ्स (mēnōths) एवं एंग्लोसैक्सन में 'मोनाद' (monād) पुंल्लिग हैं। ग्रीक में महीने के लिए 'मेन' (men) तथा आयोनिक में 'मेइस' (meis) शब्द सदैव पुल्लिग में प्रयुक्त होते हैं। लैटिन में 'मेन्सिस' (mensis) महीने और संस्कृत में 'मस्' चन्द्र तथा 'मास' महीने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों शब्द यहाँ पुंल्लिग हैं।

संस्कृत का 'मास' शब्द स्पष्ट रूप से 'मा' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'नापना'। संस्कृत में 'मैं नापता हूँ' का 'मा-मि', 'तू नापता है' का 'मा-सि',

'वह नापता है' का 'मा-ति' अथवा 'मिमी-ते' होता है। संस्कृत में नापने के उपकरण को 'मा-त्रम्', ग्रीक में 'मेट्रोन' (Metron) तथा अंग्रेजी में मीटर (Metre) कहते हैं। यदि मूलतः कृषकों ने चन्द्र (मून) को मापक, दिन, सप्ताह एवं ऋतु का शासक, ज्वारभाटे का नियन्ता, अपने पर्वों का स्वामी तथा जनसमितियों का अग्रदूत कहा तो यह स्वाभाविक है कि उन्होंने 'चन्द्र' की मानव (पुंल्लिग) रूप में कल्पना की थी, न कि प्रेम-रोग-ग्रस्त स्त्री रूप में, जैसा कि प्रायः आधुनिक भावुक कवियों ने उसे चित्रित किया है।

ये नाविक ही थे जो समुद्र की लहरों एवं झंझावातों को अपने जीवन और व्यापारिक वस्तुओं को समर्पित करने के पूर्व उन नक्षत्रों के उदित होने की प्रतीक्षा करते थे, जिन्हें वे समुद्र-यात्रा-निर्देशक नक्षत्र अथवा 'कृत्तिका' (Pleiades) नक्षत्र के नाम से पुकारते थे। स शब्द की उत्पत्ति 'प्लेइन' (Plein) से हुई है, जिसका अर्थ है 'समुद्र-यात्रा करना'। ग्रीस में समुद्र-यात्रा कृत्तिका नक्षत्र-पुंज के उदित होने पर सुरक्षित समझी जाती थी और इनके अस्त होने पर स्थगित कर दी जाती थी। 'कृत्तिका' के लिए लैटिन नाम 'वरजिलिए' (vergiliae) है जो 'विरगा' (virga) से निष्पन्न हुआ है तथा जिसका अर्थ है 'पल्लव' या 'उपशाखा'। इन्हें यह नाम इटली के कृषकों ने दिया था क्योंकि इटली में जब ये (कृत्तिका नक्षत्र-पुंज) मई के लगभग प्रगट होते हैं तब ग्रीष्मकाल के आगमन की सूचना देते हैं। दूसरी नक्षत्र-राशि, वृष-राशि के शिरोभाग पर स्थित नक्षत्र का, लैटिन में 'ह्याडेज' (Hyades) अथवा 'प्लुविए' (Pluviae) नाम पड़ा, क्योंकि उस समय, जब ये सूर्य के साथ उदित होते हैं तब वर्षा होने की आशा की जाती है। ज्योतिष-शास्त्र में इन नामों के अतिरिक्त भी इसीप्रकार के अन्य नाम सुरक्षित हैं। ज्योतिषी लोग आकाश के ध्रुव एवं भ्रमणशील नक्षत्रों के संबंध में बातें करते हैं, परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि ये नामकरण वैज्ञानिक पर्यवेक्षण एवं वर्गीकरण के फलस्वरूप नहीं हैं, अपितु ये उनके द्वारा किये गये हैं जो स्वयं समुद्र अथवा रेगिस्तान के यात्री थे तथा जिनके लिए स्थिर नक्षत्र वास्तविक वस्तु थे। उनका यह विश्वास था कि जैसे समुद्र में लंगर के द्वारा जहाज स्थिर रहते हैं वैसे ही ये नक्षत्र भी आकाशीय लंगर में बँधे हैं।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से यह कथन सत्य है कि प्रथम-ज्यामितिज्ञ हल-वाहा, प्रथम-वनस्पतिशास्त्री माली तथा प्रथम खनिज-विद्या-विशारद खनक

था, तथापि यहाँ यह तर्कसंगत बात भी कही जा सकती है कि इन आरंभिक अवस्थाओं में किसी विज्ञान को विज्ञान की संज्ञा देना भी उचित नहीं है। सच तो यह है कि केवल क्षेत्र की पैमाइश करना ज्यामिति नहीं है। इसीप्रकार गोभी उगानेवाले को वनस्पतिशास्त्री तथा बूचड़ (कसाई) को तुलनात्मक शरीरविज्ञानी की उपाधि से विभूषित करना भी अनुपयुक्त है। यह बात सर्वांशतः सत्य है और इस तथ्य की अनुभूति भी आवश्यक है कि प्रत्येक विज्ञान का आरंभ अति साधारण ढंग से––मूलतः मनुष्य की व्यावहारिक तथा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए––हुआ था। बेकन के अनुसार विज्ञान को भगवान् की महिमा का सम्पन्न भंडार होना चाहिए जो मनुष्य की दशा सुधारने का एक उत्कृष्ट माध्यम हो। यद्यपि आज अनेक ऐसे अनुसन्धित्सु हैं जो प्रकृति के नियमों एवं रहस्यों को केवल ज्ञान की दृष्टि से ही खोजने में संलग्न हैं और उसके व्यावहारिक पक्ष की ओर उनका ध्यान नहीं है, किन्तु इस संबंध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि कोई भी कला और विज्ञान तब तक उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते जब तक कि वे समाज के व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति न करें।

यह सत्य है कि विभिन्न विज्ञानों के पंडित जब किसी अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं तो उनकी दृष्टि तात्कालिक लाभ पर नहीं होती, किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि जनता इनकी खोजों में इसलिए रस लेती है कि उनसे समाज को व्यावहारिक लाभ होने की आशा रहती है। यह बात उल्लेखनीय है कि भूगर्भशास्त्री के लिए पृथ्वी की विभिन्न पर्तों का चाहे जितना महत्त्व हो, खनक के लिए उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। इसीप्रकार नाविक के लिए ज्योतिष-शास्त्र के पंचांग व्यर्थ हैं और रसायनशास्त्र उत्पादक के लिए व्यय-साध्य मनोरंजन मात्र है। यदि ये विज्ञान जनसाधारण के हाथ में पड़ जायँ तो उनकी वही स्थिति हो जायेगी जो कीमियागिरी तथा ज्योतिष की हो गयी है। जब तक मिस्र देश में चित्रलिपि में लिखित रहस्यात्मक कीमियागिरी के नुस्खों में लोगों का विश्वास था तथा जब तक इसके द्वारा लोगों को स्वर्ण प्राप्ति की आशा थी तब तक राजदरबारों एवं ईसाई मठों में इस विज्ञान का सम्मान था। यद्यपि मध्ययुग की रसविद्या (कीमियागिरी) से स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हुई तथापि इसने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण खोजों के मार्ग को प्रशस्त किया। यही बात फलित-ज्योतिष के संबंध में भी है। कुछ लोगों के अनुसार फलित ज्योतिष केवल धोखा-धड़ी है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। 'मेलनेथान् (Me-

lanethon) जैसे गंभीर विद्वान् द्वारा इसे विज्ञान माना गया है और स्वयं बेकन के अनुसार भी यह विज्ञान है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसका संबंध कल्पना की अपेक्षा विचारणा से अधिक है। लूथर की घोर निन्दा के बावजूद भी फलित-ज्योतिष यूरप का भाग्यविधाता था और उसकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद तक फलित-ज्योतिषी राजाओं तथा सेनानायकों के परामर्श-दाता थे, किन्तु आधुनिक गणित-ज्योतिष के संस्थापक की निर्धनता तथा निराशा में मृत्यु हुई। आज के युग में, हमारे सामने ही, फलित-ज्योतिष से लोगों का विश्वास उठ गया है।

वास्तविक तथा उपयोगी कलाएँ भी जब अनुपयोगी हो जाती हैं तो लोग उन्हें भूल जाते हैं और उन्हें पुनः जीवित करना कठिन हो जाता है 'रिफार्मेशन' (धार्मिक सुधार आन्दोलन) के बाद, जब ईसाई धर्म को सादगी तथा पवित्रता की दृष्टि से गिरजाघरों तथा पूजागृहों को अनलंकृत रूप दिया जाने लगा तो चित्रित गवाक्षों का रंग धूमिल पड़ने लगा, तथा प्राचीनकाल में उनमें जो गाम्भीर्य एवं सामंजस्य था उसे पुनः लाना कठिन हो गया। मुद्रण कला के आविर्भाव के साथ-साथ अलंकृत हाथ की लिखावट तथा हस्तलिखित पुस्तकों में चित्र बनाने की प्रथा का अन्त हो गया तथा मध्ययुग के कैथलिक धर्मग्रन्थों को कलात्मक ढंग से तैयार करनेवाले साधारण कलाकारों की कला में जो गंभीरता, सुकुमारता तथा सजीवता थी उसका आधुनिक युग के श्रेष्ठ कलाकारों में अभाव सा हो गया।

## भाषा-विज्ञान की उपयोगिता

प्रत्येक विज्ञान को किंचित् उपयोगी होना चाहिए। इस विषय में, मैं इस-लिए भावपूर्ण रूप से अपने विचार प्रगट कर रहा हूँ, क्योंकि यह मैं जानता हूँ कि आज के उपयोगितावादी युग में भाषा-विज्ञान कुछ देने में असमर्थ है। न तो इसकी सहायता से शीघ्रता से कोई भाषा ही सीखी जा सकती है और न इसके द्वारा कभी विश्व में किसी सार्वभौम भाषा के प्रचलन के स्वप्न के साकार होने की ही आशा है। भाषा-विज्ञान केवल इतना ही बताता है कि भाषा क्या है और केवल इतने के लिए ही किसी नये विज्ञान के लिए जनता की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है। ऐसा होते हुए भी कतिपय ऐसी समस्यायें हैं जो वाह्य रूप में जटिल एवं काल्पनिक प्रतीत होती हैं; किन्तु जिन्होंने मानव इतिहास को कल्याण अथवा अकल्याण की ओर प्रवृत्त

किया है। प्राचीनकाल में अनेक व्यक्तियों ने एक विशेष विचार के लिए युद्ध किया और एक शब्द के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया। इसप्रकार की अनेक ऐसी समस्यायें हैं जिन्होंने अतीतकाल से आज तक जनमानस को आन्दोलित किया है, किन्तु जिनका संबंध भाषा-विज्ञान से है।

पौराणिक कथायें जो प्राचीनकाल में, विश्व के दुःख का कारण थीं, वास्तव में भाषा की ही व्याधि थीं। ग्रीक में 'मिथ्' (Myth) का अर्थ है 'शब्द', किन्तु ऐसा शब्द जिसने कोरा नाम अथवा गुणवाची न होकर अर्थ में एक विशेषप्रकार का स्थायित्व प्राप्त कर लिया हो। ग्रीक, ोमन तथा भारतीय लोगों के अधिकांश देवता वस्तुतः कवियों द्वारा प्रदत्त नाम ही हैं, किन्तु समय की प्रगति से इन नामों ने ऐसा दैवीरूप धारण कर लिया, जिसकी इन नामों के रखनेवालों ने कभी कल्पना तक न की थी। 'एओस' (उषस्) वस्तुतः देवी तथा 'टिथॉनास' (Tithonos=अस्तमन दिवस) की पत्नी होने के पूर्व प्रातःकाल का प्रकाश था। "फातुम्" या 'फेट' (नियति या भाग्य) का मूल अर्थ था 'जो कहा गया हो' किन्तु आगे चलकर 'फेट' 'जुपिटर' से बढ़कर शक्तिमान हो गया और इसका अर्थ हो गया "वह जिसे जुपिटर ने कहा हो और जिसे बदलने में वह भी असमर्थ एवं अशक्य हो।" ज़ेउस (Zeus) का मूल अर्थ था 'शुभ्र आकाश'। संस्कृत में यह शब्द 'द्योस' रूप में मिलता है और महान् देवता के रूप में इसके संबंध में जो कथाएँ मिलती हैं वे वहीं हैं जो मूलतः शुभ्र आकाश के संबंध में कही गई थीं। न कथाओं में शुभ्र आकाश से किरणें पृथ्वी पर स्वर्ण-वृष्टि के रूप में उतरती थीं। यह प्राचीनकाल की डानाए (Danae) थी--जिसे उसके पिता ने शीतकाल रूपी अंधकार-मय कारागार में बन्द कर रखा था। यह निर्विवाद सत्य है कि 'लूना' (Luna) अर्थ में 'लुसिना' (Lucina) शब्द का भी प्रयोग होता था और ये दोनों शब्द 'लुसेरे' (Lucere) शब्द से उत्पन्न हैं जिसका अर्थ है चमकना। "चन्द्र" (मून) का पुराना नाम 'हेकाटे' (Hecate) भी था। यह 'हेकटोस' (Hekatos) तथा 'हेकाटेबोलोस' (Hekatebolos) का स्त्रीलिंग रूप था जिसका अर्थ है दूरस्थ फेंका हुआ सूर्य। 'पिर्हा' (Pyrrha) ग्रीक लोगों की आद्य देवी (हौवा) वस्तुतः 'थेसली' प्रदेश की लालभूमि थी। पौराणिक कथाओं संबंधी बीमारी यद्यपि आधुनिक युग में बहुत कम विषाक्त रह गई है फिर भी अब तक वह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है। मध्ययुग का नामवाद (नामिनालिज़िम)--यह सिद्धान्त कि सामान्य

शब्द केवल ध्वनि-मात्र हैं, वास्तव में इनकी कोई सत्ता नहीं है तथा यथार्थवाद (रियालिजिम) संबंधी वाद-विवाद, जिसने कई शताब्दियों तक ईसाई धर्मावलम्बियों को परेशान किया था तथा जिसने आगे चलकर 'रिफार्मेशन' (ईसाई धर्म में सुधार) के मार्ग को प्रशस्त किया था, स्पष्टतया नामों का विवाद था और इसका बहुत कुछ भाषा की प्रकृति से संबंध था। वास्तव में, एक ओर जहाँ शब्दों का हमारे सामान्य विचारों से संबंध होता है वहाँ दूसरी ओर से ये बाह्य यथार्थ जगत् से भी सम्बन्धित होते हैं। इन तथ्यों को स्पष्ट रूप में न समझने के कारण ही यह विवाद था। उस समय जो लोग इस बात में विश्वास करते थे कि 'न्याय' तथा 'सत्य' केवल हमारे मन की अवधारणाएँ हैं तथा ये कोई वास्तविक वस्तुएँ नहीं हैं, उन्हें दिन-दहाड़े विधर्मी कहा जाता था।

आधुनिक युग में कई जटिल राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं के सुलझाने में भाषा-शास्त्र की सहायता ली जा रही है। आज राजवंशों तथा संधिपत्रों का स्थान राष्ट्रों तथा भाषाओं ने ले लिया है और इसके अनुसार यूरोप का मानचित्र बदल रहा है तथा भविष्य में भी उसके बदलने की आशा है। आज अमेरिका के भाषाशास्त्री प्राचीन दासता संबंधी दूषित सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए यह वैज्ञानिक तर्क उपस्थित कर रहे हैं कि वास्तव में भाषाओं तथा जाति की उत्पत्ति का स्रोत एक नहीं है। मैंने विज्ञान की ऐसी अधोगति का दृश्य कभी नहीं देखा था जैसा कि मुझे अमरीकी प्रकाशन की एक पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर छपे हुए विभिन्न जातियों के मानवों के पार्श्व-चित्र में मिला। इस चित्रावली में हब्शी की अपेक्षा बन्दर को अधिक मानवगुणसम्पन्न प्रदर्शित किया गया था।

## मानव तथा पशु के बीच भाषा ही अवरोधक है

भौतिक तथा मानस विज्ञान के समक्ष आज जो अनेक प्रश्न हैं उनमें यह प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया है कि अन्ततोगत्वा भौतिक तथा मनस्तत्त्वों के बीच में मानव का स्थान कहाँ है। जिन लोगों ने अनेक तथ्यों के संकलन तथा परीक्षण में अपना जीवन व्यतीत किया है तथा विविध जटिल प्रश्नों के सुलझाने की जिनमें अनुपम योग्यता है वे लोग भी ऊपर की समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त हैं और यदि हम शान्तिपूर्वक इस संबंध में विचार करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि आज भी मनुष्य के सम्मुख ऐसे अनेक प्रश्न हैं

जिनके समाधान में उसे बहुत रस मिलता है। ये प्रश्न हैं, मनुष्य के अस्तित्व, उसकी श्रेष्ठता तथा उसके स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतीर्ण होने के। यद्यपि इन प्रश्नों तथा नके समाधान का मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में बहुत उपयोग नहीं है, तथापि इनका अपना आकर्षण है और मनुष्य के मन एवं हृदय में इनके प्रति सदैव आकर्षण बना रहेगा। मनुष्य एवं पशु के बीच की विभाजक रेखा चाहे कितनी ही क्षीण क्यों न हो और चाहे उसका अस्तित्व केवल मनुष्य के मस्तिष्क में ही हो, इन दोनों के बीच जो भाषा का अवरोध है उसे स्पर्श करने का आज तक किसी को साहस नहीं हुआ। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि जिन शक्तियों से विचार उत्पन्न होते हैं, वे मनुष्य एवं पशु में समान रूप में वर्तमान हैं, उन्हें भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि आज कहीं भी ऐसे पशु नहीं हैं जिनकी भाषा भी हो। उदाहरणस्वरूप लार्ड मोनबोड्डो यह स्पष्टरूप से स्वीकार करते हैं कि अभी तक ऐसा पशु नहीं मिला है जिसकी भाषा भी हो। यदि हम अन्य पशुओं को छोड़ भी दें और मनुष्य के अति-निकट के पशु वन-मानुष को लें तो उसमें भी इतनी समझदारी नहीं मिलती जितनी मनुष्य में है।

'लाक' तक ने जिसकी गणना सामान्यतया उन भौतिकवादी दार्शनिकों में की जाती है, जिन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रज्ञा के अधिकांश तत्त्व सहजबुद्धि में ही हैं, स्पष्टरूप से यह स्वीकार किया है कि मानव तथा पशु के बीच की विभाजक रेखा भाषा ही है। वह लिखता है—मेरा यह दृढ़ मत है कि बुद्धिजन्य चिन्तनशक्ति पशु में बिलकुल नहीं है और इसीप्रकार उनमें सामान्य विचारों का भी अभाव है। हम यह प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं कि सार्वभौम विचारों को व्यक्त करने के लिए उनके पास प्रतीक नहीं हैं। चूँकि, उनके पास शब्द अथवा अन्य प्रतीक नहीं हैं अतः वे अमूर्त भावों को व्यक्त करने में असमर्थ हैं।

अतएव, यदि भाषा-विज्ञान हमें वह अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा हम मनुष्यों को अन्य समस्त जीवधारियों से पृथक् करते हैं तथा मनुष्य एवं पशु के बीच भित्ति का निर्माण करते हैं जिसका भविष्य में भी अति-क्रमण न हो सकेगा तो आज वह उस विशिष्ट अभियाचना का अधिकारी है जिससे वह उन लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके जो शुद्ध भाव से तुलनात्मक जीव-क्रिया-विज्ञान के उत्कर्ष का अवलोकन करते हुए भी

लार्ड मोनबोड्डो द्वारा तिपादित छिछले सिद्धान्तों के पुनः प्रवर्त्तन का सशक्त विरोध करना अपना कर्तव्य मानते हैं।

## वर्गीकरण की अवस्था

अब हमें भौतिक विज्ञानों के इतिहास के सर्वेक्षण की ओर पुनः लौटना है। हम उस आनुभाविक अवस्था के संबंध में उल्लेख कर चुके हैं जिससे होकर प्रत्येक विज्ञान को गुजरना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप हम यह देख चुके हैं कि जिस मनुष्य ने सुदूर देशों की यात्रा करके विविध वनस्पतियों का संग्रह किया है, जो इनके नाम इनकी विशेषताओं एवं औषधीय गुणों को जानता है, वह वनस्पति-शास्त्री नहीं अपितु जड़ी-बूटियों का व्यवसायी अथवा उनका प्रेमी मात्र है। उसे इटली के लोग 'दिलेतान्ते' (Dilethane) कहते हैं। अन्य विज्ञानों की भाँति ही वास्तव में वनस्पति-विज्ञान का आरंभ तो इन वनस्पतियों के वर्गीकरण से आरंभ होता है। जब मनुष्य तथ्यों के अनेकत्व में से एकत्व को ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है तब तथ्यों का आनुभाविक परिचय विज्ञान का रूप धारण करने लगता है। यह खोज तुलना एवं वर्गीकरण द्वारा सम्पन्न होती है। हम प्रत्येक फूल का अध्ययन केवल अध्ययन के लिए नहीं करते अपितु निरंतर पर्यवेक्षण के द्वारा हम इस बात का पता लगाते हैं कि वे कौन से तत्त्व हैं जो समान रूप में अनेक फूलों में उपलब्ध हैं और इनके आधार पर हम इन्हें समूहों अथवा नैसर्गिक वर्गों में विभाजित करते हैं। इन वर्गों की भी हम सामान्यरूप से एक दूसरे से तुलना करते हैं। इस तुलना में हमें सूक्ष्म नूतन समानताएँ एवं अन्तर मिलते हैं जिनके आधार पर हम इनके वंशों अथवा कुलों का निर्धारण करते हैं। इसप्रकार जब समस्त वनस्पति जगत् का सर्वेक्षण सम्पन्न हो जाता है तथा प्रकृति का उद्यान साधारण नामों के झीने पट से ढँक जाता है और जब हम इस पट को उठाकर अपने मस्तिष्क में इसे सम्पूर्णरूप में एक पद्धति एवं पूर्ण इकाई के रूप में देखते हैं तब हम इसे वनस्पतिविज्ञान अथवा 'बोटेनी' कहते हैं। इस अवस्था में हम ज्ञान के एक नूतन क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जहाँ तथ्य नियम द्वारा अनुशासित होते दिखाई देते हैं और तब हम इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि प्रकृति के समस्त राज्य में सुनिश्चित रूप में क्रमबद्धता है। इसप्रकार की अनुभूति में हमें दिव्य मन का प्रकाश उपलब्ध होता है जिसमें वस्तुओं की अंधकारमय अस्तव्यस्तता विनष्ट हो जाती है। वस्तुओं के संबंध में कभी-कभी हमारी धारणाएँ सही [अथवा गलत हो

सकती हैं। यह भी संभव है कि जल्दबाजी में की गई तुलनाओं एवं संकीर्ण प्रभेदों के कारण हम प्रकृति की योजनाओं के स्थूल रेखा-चित्रों को न देख पाये हों, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक पद्धति, चाहे बाद में उसमें कितनी त्रुटियाँ क्यों न निकल आयें, ज्ञान के क्षेत्र में अगला कदम होती हैं। यदि मनुष्य के मन में एक बार यह धारणा बद्धमूल हो जाय कि विश्व में सर्वत्र क्रम एवं नियम है तो वह तब तक चैन नहीं लेगा जब तक वह समस्त असम्बद्धताओं का निराकरण नहीं कर लेता तथा जब तक उसे भगवान् की उन आँखों का दर्शन नहीं हो जाता जो उसकी रचना के प्रत्येक कण में भासमान हैं। अतीतकाल की विफलता ही भविष्य की सफलता के मार्ग का निर्माण करती है।

यहाँ पहले के उदाहरण के संबंध में पुनः विचार किया जाता है। वनस्पतियों का क्रमबद्ध विन्यास जो 'लिनोस' (Linnaeus) के नाम से विख्यात है और जिसका आधार पुनरुत्पादी जननेन्द्रियों की संख्या एवं विशेषता है, उनके प्राकृतिक अनुक्रम की व्याख्या करने में असफल रहा। इसके द्वारा वे तत्त्व जो वनस्पतियों की अनेक नस्लों एवं उनके वंश के बीच सीमा निर्धारित करते हैं, स्पष्ट नहीं हो पाते थे। फिर भी 'लिनोस' का कार्य व्यर्थ नहीं था। इसके द्वारा यह बात तो सार्वभौमरूप से सिद्ध हो गई कि विश्व के सभी भागों के वनस्पति एक ही पद्धति अथवा प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं। उसके बाद की पद्धतियों में भी उसके द्वारा निर्धारित वर्ग एवं विभाजन प्रायः उसीरूप में सुरक्षित रहे। ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में भी ठीक यही बात है। यद्यपि टालेमी की पद्धति त्रुटिपूर्ण थी फिर भी इसके द्वारा वे नियम ज्ञात हो गये जिनसे आकाशीय पिण्डों की गति का निर्धारण होता है। यह धारणा ही कि कतिपय तत्त्व व्याख्या-रहित छूट गए, हमारी त्रुटियों की खोज का मार्ग प्रशस्त करती है। वास्तव में, प्रकृति में कोई त्रुटि नहीं है; जो कुछ त्रुटि है वह हम लोगों में है। यही धारणा उस समय अरस्तू के हृदय में भी थी जब प्रकृति का अपूर्ण ज्ञान होते हुए भी उसने यह घोषित किया था कि भयानक दुखान्तकी भाँति प्रकृति में कुछ भी असम्बद्ध अथवा क्षेपक रूप में नहीं है और उस समय से लेकर आज तक की सभी प्रणालियों ने उसके इस उद्घोष का समर्थन किया।

वर्गीकरण का उद्देश्य स्पष्ट है। जब हम वस्तुओं के भीतर प्रवेश करते हैं तब हमें उनका ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में यदि हम एकाकी तथ्यों का

पूर्णज्ञान प्राप्त कर लें, उससे सम्बन्ध रखनेवाले विच्छिन्न विचारों से उसका संबंध स्थापित कर लें, तथा तद्‌विषयक आकस्मिक एवं आवश्यक तत्त्वों का भेद स्पष्ट कर लें तो हम व्यष्टि के सामान्यरूप को निरूपित कर सकते हैं और पुनः उसे सामान्य के अन्तर्गत वर्गीकृत भी कर सकते हैं। सभीप्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान का यही रहस्य है। अनेक विज्ञान जब इस द्वितीय अथवा वर्गीकरण की अवस्था से गुजरते हैं तो वे तुलनात्मक नाम धारण कर लेते हैं। जब शरीर-रचना-शास्त्री अनेक शवों का विच्छेदन करता है तथा जब वह प्रत्येक अवयव का नामकरण करता है और इनमें से प्रत्येक के विशिष्ट धर्म का पता लगाता है तो पहले जहाँ उसे असमानता मिलती थी वहाँ समानता मिलने लगती है। उसे निम्न श्रेणी के पशुओं में भी उच्च श्रेणी के पशुओं के पूर्ण संगठन के आरम्भिक संकेत मिलते हैं; तब उसकी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि पशु जगत् में भी वही क्रम एवं प्रयोजन है जो अनन्त प्रकार की वनस्पतियों या प्रकृति के अन्य प्रदेशों में है। इससे यह ज्ञात होता है कि पहले उसे नहीं मालूम था कि संसार की वस्तुओं का सर्जन आकस्मिक ढंग से अथवा लोष्ठवत् नहीं हुआ है, अपितु निम्नतम अक्वाथज कीट (इन्फ्यूजोरिया) से लेकर श्रेष्ठतम मानव तक की सृष्टि में क्रम है तथा इस जगत् में हम जो कुछ देखते हैं उसके सर्जन में एक अटूट श्रृंखला है और यह कार्य एक सर्वज्ञ सर्जक द्वारा सम्पन्न हुआ है।

## सैद्धान्तिक अवस्था

इसप्रकार द्वितीय अथवा वर्गीकरण सम्बन्धी अवस्था से सहज में ही, हम तृतीय अथवा अन्तिम अवस्था—सैद्धान्तिक या तात्त्विक–की ओर बढ़ते हैं। यदि वर्गीकरण का कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न हुआ है तो हमें यह ज्ञात हो जाता है कि प्रकृति में कोई वस्तु आकस्मिक नहीं है। प्रत्येक वस्तु किसी न किसी उपजाति की है और प्रत्येक उपजाति का संबंध प्रजाति से है तथा दृश्य जगत् में हमें जो कुछ वैविध्य दृष्टिगोचर होता है वह अप्रत्यक्ष नियमों से अनुशासित होता है। ये नियम इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि सृष्टि-रचना में स्रष्टा के मन में प्रयोजन था। यही कारण है कि एक ओर जहाँ प्राचीन दार्शनिक इस भौतिक जगत् को मिथ्या, परमाणुपुंज एवं पापमय मानते थे वहाँ दूसरी ओर आज हम लोग इसे दैवीशक्ति, ज्ञान एवं प्रेम की अभिव्यक्ति मानने लगे हैं। इस दृष्टिकोण ने प्रकृति के अध्ययन

के लिए एक नूतन रूप प्रदान किया है। जब पर्यवेक्षक तथ्यों का संग्रह कर लेता है और इसके बाद जब संभाजक (classifier) उन्हें क्रम में सजा देता है तब जिज्ञासु छात्र यह प्रश्न करता है कि आखिर इसकी उत्पत्ति एवं तात्पर्य क्या है। और वह आगमनात्मक पद्धति अथवा कभी-कभी दैवी-वाणी के द्वारा एक ऐसी उच्च भूमि में पहुँच जाता है जहाँ साधारण संग्राहक की गति नहीं होती। इस प्रयत्न में मनुष्य के सम्मुख कई बार असफलताएँ ही आती हैं जो उसकी चिन्ता का कारण बनती हैं, किन्तु वह निरन्तर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता जाता है। इसकी आलोचना में लोग प्रायः कहा करते हैं कि प्रकृति संबंधी यह खोज निरर्थक है क्योंकि इसमें कुछ हाथ नहीं आता और पर्यवेक्षक ने जिसरूप में वस्तुओं को देखा है तथा संग्राहक ने जिसरूप में उनका संग्रह किया है वे ठीक उसीरूप में रहे होंगे। यदि विचार करके देखा जाय तो इस आलोचना में बहुत तथ्य नहीं हैं। यदि भौतिक विज्ञान को विचारकों अथवा दार्शनिकों एवं कवियों से प्रेरणाएँ न मिली होतीं तो आज उसकी जितनी उन्नति हुई है वह किमपि न हुई होती।

कोपरनिकस ने पोप पाल तृतीय को अपना ग्रन्थ (यह सन् १५१७ में आरंभ, सन् १५३० में समाप्त तथा सन् १५४३ में प्रकाशित हुआ था) समर्पित करते हुए यह स्वीकार किया है कि सूर्य के केन्द्र में स्थित होने तथा उसके चारों ओर पृथ्वी की दैनिक परिक्रमा की खोज के आधार उसके पर्यवेक्षण एवं विश्लेषण न थे अपितु टालमी प्रणाली में सामंजस्य की स्थापना हेतु ही किये गये, परन्तु उससे यह किसने कहा था कि आकाशीय पिण्डों की गतियों में संतुलन परमावश्यक है अथवा सरलता की अपेक्षा जटिलता महान् नहीं है? कोपरनिकस की खोज के बहुत पहले सममिति एवं सरलता की परिकल्पना दार्शनिक कर चुके थे। कोपरनिकस ने यह स्वीकार किया है कि आकाशीय पिण्डों की गति में क्रान्ति लाने का विचार उसे सर्वप्रथम पिथागोरस के अनुगामी, प्राचीन ग्रीक दार्शनिक, फिलोलौस से प्राप्त हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वी की गतिशीलता की कल्पना फिलोलौस के लिए एक परिकल्पना अथवा आनन्ददायक अन्तःप्रेरणा थी, फिर भी यदि हमें कोपरनिकस के कथन में विश्वास है तो हम यह सहज ही सोच सकते हैं कि फिलोलौस की कल्पना के अभाव में बहुत संभव है कि कोपरनिकस की प्रणाली अस्तित्व में ही न आती। सत्य की उपलब्धि केवल संकलन एवं गुणा से ही नहीं होती। केप्लर की तर्कप्रणाली को उसके समकालीन एवं बाद के ज्योतिषविदों ने भयावह एवं

असंगत बतलाया है, किन्तु उसके संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए सर डेविड ब्रेस्टर (David Brewster) लिखते हैं:—शास्त्रीय नियमों के निर्माता—अनुसंधान में प्रायः कल्पना के प्रभाव से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वास्तविक बात यह है कि सत्यान्वेषण के लिए अध्ययन एवं कल्पना दोनों आवश्यक हैं।केप्लर में दोनों का योग था और इससे भी अधिक उसमें निष्ठा थी जो अन्धकार से प्रकाश की ओर लाने में उसकी मार्गदर्शिका थी।

अन्त में यहाँ मानव ज्ञान की गति में कल्पना या निष्ठा एवं अंधविश्वास का क्या मूल्य है, इस संबंध में निष्कर्ष रूप में अलकजेन्डर वॉन हम्बोल्ट को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करना उपयुक्त होगा। आप लिखते हैं—"द्वीप की ऊँची कगार की भाँति ही पूर्ण विज्ञान की सीमाओं से मनुष्य की आँखें सुदूर प्रदेशों को देखना पसन्द करती हैं। जिन चित्रों को वे देखती हैं वे मिथ्या हो सकते हैं किन्तु कोलम्बस के बहुत पहले से इसप्रकार के मिथ्या चित्रों ने ही मनुष्य को नई खोज करने में सफल बनाया था।"

भौतिक-विज्ञान के इतिहास में ऊपर वर्णित, आनुभाविक, वर्गीकरणिक एवं सैद्धान्तिक तीनों अवस्थाएँ प्रायः क्रमशः आती हैं। यहाँ क्रमशः शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है। ऊपर फिलोलौस एवं उसकी प्रणाली का उल्लेख हो चुका है। इस प्रणाली में तृतीय अवस्था के परिणाम का आभास प्रथम अवस्था में ही मिल जाता है। मेधावी व्यक्ति की दृष्टि में विशिष्ट गुण-सम्पन्न केवल एक ही स्थिति, एक सहस्र एक प्रयोगों के समान हो सकती है और वह पूर्ण नियम की खोज का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त विज्ञान के इतिहास में भी अनेक बड़े गर्त हैं। राजनीतिक अथवा नृवंश-संबंधी भूकम्पों के कारण कई पीढ़ियों की परम्पराएँ ध्वस्त हो जाती हैं और कभी-कभी जब नई सभ्यता की अभिवृद्धि के लिए नये धरातल का निर्माण हो जाता है तब समाप्तप्राय कार्य का पुनः समारंभ करना पड़ता है। फिर भी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन तीनों अवस्थाओं का क्रमिक अनुगमन स्वाभाविक है और प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन में इनका पूर्ण ध्यान रखा जाता है। वनस्पति-विज्ञान का विद्यार्थी विविध प्रकार के पौधों के संकलन से अपना कार्य आ ंभ करता है। वह प्रत्येक पौधे की विशेषताओं, उसके वातावरण, उपयु त ऋतु एवं उसके प्रचलित तथा अवैज्ञानिक नामों के संबंध में विचार करता है। वह पौधे की जड़, उसके स्कंध, पत्तों, फूल, आलबाल एवं पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर का अध्ययन करता है और उनके भेद को स्पष्टतया समझने का यत्न करता

है। पौधे की तुलना उसे क्रम देने तथा उसके वर्गीकरण के पूर्ववत् उसके व्यावहारिक व्याकरण का अध्ययन करता है। पुनः जब तक कोई व्यक्ति दूसरी अवस्था न पार कर ले तब तक भौतिकविज्ञान की तीसरी अवस्था में प्रविष्ट होना उसके लिए लाभप्रद न होगा। जब तक कोई व्यक्ति पौधों के जीवन के विभिन्न प्रकारों, उनके क्रमों एवं उनकी प्रकृति के संबंध में जानकारी न प्राप्त कर ले तब तक वह प्रोफेसर श्लेडन (Schleiden) की कृति "पौधे के जीवन" (Life of the plant) को नहीं समझ सकता। आगमनात्मक दर्शन (Inductive Philosophy) की ये अन्तिम एवं सर्वोच्च उपलब्धियाँ तभी संभव हैं जब पूर्व वर्गीकरण द्वारा उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया जाय। तत्त्वज्ञ को अपने वर्गों पर उसीप्रकार का अधिकार होना चाहिए जिसप्रकार सेनाध्यक्ष का अपनी सेना पर होता है। ऐसी स्थिति में ही लड़ाई लड़ी जा सकती है तथा सत्य पर विजय प्राप्त की जा सकती है; सत्य को खोजकर निकाला जा सकता है।

## भाषाविज्ञान भौतिकविज्ञान है

अन्य भौतिकविज्ञानों के इतिहास पर इस विहंगम दृष्टिपात के पश्चात् अब हमें अपने विज्ञान (भाषा-विज्ञान) के संबंध में विचार करना चाहिए और हमें यह देखना चाहिए कि क्या इसे आगमनात्मक विज्ञानों (Inductive Sciences) की पंक्ति में भी रखा जा सकता है। यहाँ हमें इस संबंध में भी विचार करना है कि क्या भौतिक अनुसंधान की तीन अवस्थाओं को यह पार कर चुका है अथवा कर रहा है; क्या इसकी प्रगति व्यवस्थित रूप में हुई है अथवा अव्यवस्थित रूप में और क्या इसकी प्रणाली उपयुक्त रही है अथवा नहीं। किन्तु, इसके पूर्व हमें कुछ और भी करना आवश्यक है। आपको अब तक यही ज्ञात होगा कि मैं अपने भाषण में यह स्वीकार करके आगे बढ़ रहा हूँ कि भाषा-विज्ञान (फिलॉलोजी)––जो इस देश में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान––(कम्परेटिव फिलॉलोजी) के नाम से प्रख्यात है, भौतिक विज्ञानों (फिजिकल सायंसेज) में से ही एक है और इसकी प्रणाली भी वही होनी चाहिए जो अत्यन्त सफल रूप में अन्य प्राकृतिक विज्ञानों––वनस्पति, भूगर्भ एवं शरीर-रचना विज्ञानों––में लागू रही है। इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कम्परेटिव फिलॉलोजी) को भौतिक विज्ञानों की श्रेणी में रखने का प्रयास ही व्यर्थ है और इसके नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवज्ञान के क्षेत्र में इसका स्थान अन्यत्र है।

मानव-ज्ञान के वस्तुतः दो विभाग हैं और विषयानुसार इन्हें भौतिक (फिज़िकल) एवं ऐतिहासिक (हिस्टॉरिकल) कहा जा सकता है। भौतिक-विज्ञान का संबंध ईश्वरकृत और ऐतिहासिक विज्ञान का संबंध मानवकृत कार्यों से है। इसप्रकार प्रकाश एवं रंग के सभी नियमों से सम्बद्ध प्रकाशविज्ञान वस्तुतः भौतिकविज्ञान है; किन्तु रंग एवं रेखाओं के नियमों से आबद्ध चित्र-विज्ञान, मानवीय कृति होने के कारण ऐतिहासिक विज्ञान हैं। अब इसके नाम के अनुसार ही यदि हम विचार करें तो शास्त्रीय भाषा-विज्ञान (क्लासिकल-फिलॉलोजी) की भाँति ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कम्पैरेटिव फिलॉलोजी) को हमें भौतिक विज्ञान की श्रेणी में नहीं अपितु ऐतिहासिक विज्ञान की श्रेणी में ही रखना होगा और इसमें हमें उसी प्रणाली का अनुगमन करना होगा जिसका हम कला, विधि, राज- नीति एवं धर्म के शास्त्रीय अध्ययन में करते हैं। जो भी हो, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कम्पैरेटिव फिलॉलोजी) के नाम से हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। यह कहना कठिन है कि यह नामकरण किसने किया था। इसके पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि इसके संस्थापक विद्वान् अथवा भाषा-शास्त्री (फिलॉलोजिस्ट) थे। इनकी खोजों के परिणामस्वरूप ही भाषा-संबंधी नियम बने और इन नियमों के आधार भाषा-विषयक वे तथ्य थे जिन्हें भाषा-शास्त्रियों ने विविध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त किया था। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि न तो जर्मनी में, जिसे इस विज्ञान की जन्मभूमि कहा जा सकता है और न फ्रान्स में जहाँ यह विज्ञान विशेष रूप से विकासावस्था को प्राप्त हुआ है, यह नाम स्वीकार किया गया है। यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि यद्यपि भाषा-विज्ञान को रूप देने में शास्त्रीय विद्वानों (क्लासिकल स्कालरों) का बहुत बड़ा हाथ है और उनके लिए यह उपयोगी भी है तथापि तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कम्पैरेटिव फिलॉलोजी) का वास्तव में भाषा-विज्ञान (फिलॉलोजी) से कोई संबंध नहीं है। फिलॉलोजी, चाहे हम उसके शास्त्रीय (क्लासिकल) या प्राच्य (ओरियंटल) रूप को लें अथवा प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं या विकसित एवं अविकसित भाषाओंवाले रूप को लें, है यह ऐतिहासिक विज्ञान। भाषा का व्यवहार यहाँ केवल साधन रूप में ही होता है। जब शास्त्रीय विद्वान् ग्रीक अथवा लैटिन एवं प्राच्य विद्वान् हिब्रू, संस्कृत अथवा अन्य भाषाओं का अध्ययन करते हैं, तो उनका उद्देश्य उन साहित्यिक कृतियों का ज्ञान प्राप्त करना होता है जिन्हें अतीत ने हमें

रिक्थ के रूप में प्रदान किया है तथा जिनके द्वारा हम विभिन्न युगों के महान् पुरुषों के विचारों को जान पाते हैं और अन्ततोगत्वा मानव के सामाजिक, चारित्रिक, बौद्धिक एवं धार्मिक उत्कर्ष का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीप्रकार जब हम जीवित भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो केवल ज्ञान की दृष्टि से हम उनके व्याकरण एवं शब्दभांडार का अध्ययन नहीं करते। हम इन भाषाओं का ज्ञान इसलिए प्राप्त करते हैं कि ये व्यावहारिक एवं उपयोगी हैं। हम लोग श्रेष्ठतम समाज से परिचय प्राप्त करने तथा यूरोप के श्रेष्ठतम साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही इन भाषाओं को पढ़ते हैं। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कम्पैरेटिव फिलालोजी) में हमारे अध्ययन का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न होता है। यहाँ हम भाषा का अध्ययन साधन रूप में नहीं अपितु साध्य रूप में करते हैं। यहाँ भाषा ही हमारे वैज्ञानिक खोज का विषय बन जाती है। यहाँ कतिपय समस्याओं के समाधान के लिए साहित्य, विज्ञान, अविकसित भाषाएँ, वन्य जाति के लोगों की बोलियाँ, हॉटनटॉट लोगों की क्लिक एवं भारत चीनी जातियों की सुरवाली भाषाएँ, होमर के काव्य तथा सिसेरो के गद्य से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि तुलनात्मक भाषा-विज्ञान अथवा साइंस आफ् लैंग्वेज में. हमारा उद्देश्य भाषाओं का अध्ययन नहीं होता अपितु स्वयं भाषा ही हमारे अध्ययन का केन्द्रबिन्दु बन जाती है। यहाँ हमारे अनुसंधान का विषय यह होता है कि भाषा वस्तुतः है क्या तथा यह हमारे विचारों के वहन का माध्यम कैसे बनी? यहाँ हम भाषा की उत्पत्ति, इसकी प्रकृति एवं इसके नियमों का अनुसंधान करते हैं। यहाँ भाषा से सम्बन्ध रखनेवाले जो भी तथ्य हम एकत्र करते हैं अथवा उनका वर्गीकरण करते हैं, वे सभी एकमात्र भाषा के अध्ययन के लिए होते हैं।

इस प्रथम भाषण में ही मुझे एक भ्रान्त धारणा का खण्डन करना है, जिसके आधार पर लोगों का यह ख्याल है कि भाषा के विद्यार्थी (भाषा-शास्त्री) को बहुभाषाविद् भी होना चाहिए। जिन भाषाओं के साथ उस छात्र का संबंध है ऐसी सैकड़ों भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके पास समय ही कहाँ है? सच तो यह है कि अनेक भाषाएँ सीखकर मिथ्रिडेट्स[1] (Mithridates) अथवा मेज़ोफान्ति (Mezzofanti) की भावना उसके मन में कभी नहीं होती। उसकी जानकारी सही एवं उचित होनी चाहिए किन्तु यह कैसे संभव है कि जिन छः-सात

मृत या जीवित भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान हम अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में प्राप्त करते हैं वह उसे इस छोटी सी इकाई में प्राप्त कर ले? उसे तो केवल व्याकरण एवं कोश में ही आनन्द आता है और ये ही दोनों उसकी खोज के विषय भी हैं। वह उन्हीं का सावधानी से अध्ययन एवं विश्लेषण करता है किन्तु भाषा के शब्द एवं क्रियारूपों तथा साहित्य में अप्रयुक्त अन्य शब्दों का बोझ वह अपनी स्मरणशक्ति पर नहीं आने देता।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी भाषा के गठन एवं विभिन्न युगों में उसके विकास का ज्ञान, उसके साहित्य के गम्भीर अध्ययन के बिना संभव नहीं है; फिर भी ऐसी भाषा के संक्षिप्त शब्द-भाण्डार एवं व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लेने से भाषाशास्त्री का काम चल जाता है। जिसप्रकार शरीररचना-विज्ञानी कतिपय पुरानी अस्थियों अथवा यात्रियों से प्राप्त पशुओं के चित्रों से ही अपने शास्त्र के भवन का निर्माण करता है उसीप्रकार भाषाशास्त्र के निर्माण के लिए भाषा-शास्त्री को भी भाषा-सम्बन्धी संक्षिप्त सामग्री के पूर्णरूप से उपयोग करने की क्रिया का ज्ञान होना चाहिए। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि यदि तुलनात्मक भाषाशास्त्री के लिए सभी भाषाओं का विवेचनात्मक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता तो भाषा-शास्त्र का जन्म ही न हुआ होता। हम यह आशा नहीं करते कि वनस्पतिशास्त्री, अनुभवी माली, भूगर्भशास्त्री खनक या मत्स्य-शास्त्री मछुआ होगा। इसीतरह जैसे साधारण से साधारण अन्य विषयों के अध्ययन में श्रम-विभाजन की आवश्यकता होती है वैसी हमें भाषाशास्त्र के अध्ययन में भी स्वीकार करनी होगी। यद्यपि भाषा में कतिपय ऐसे अप्रत्यक्ष तत्त्व हैं जिन्हें हम न तो कभी जान सकेंगे और न उनका विश्लेषण ही हमारे लिए संभव होगा तथापि प्राचीन साहित्य एवं अनन्त भाषाओं और बोलियों में जो प्रत्यक्ष तत्व हैं वे भी तनी अधिक मात्रा में हैं कि अनुसन्धान की पर्याप्त गुंजाइश है। आज विश्व में कितनी भाषाएँ हैं, इनकी संख्या बतलाना भी कठिन है। किन्तु यह संख्या[२] ९०० से किसी तरह कम नहीं हो सकती।

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि भाषा-संबंधी विस्तृत सामग्री की ओर इस शताब्दी से पूर्व हमारा ध्यान नहीं गया। यही बात पृथ्वी के धरातल पर उपलब्ध प्रस्तर के संबंध में भी है, जिसकी ओर से प्रकृति के अध्येता

वैज्ञानिक उदासीन रहे। इन दोनों विषयों की ओर से उदासीनता का मुख्य कारण इनसे अतिपरिचित होना था। हमारे पैरों से रौंदे जानेवाले प्रस्तर तथा अति साधारण व्यक्तियों द्वारा व्यवहृत भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के विषय हो सकते हैं, यह लोगों की समझ में नहीं आया। मनुष्य ने प्रकृति के विभिन्न अंगों का अध्ययन किया। उसने पृथ्वी के गर्भ में गुप्त खनिज पदार्थों, विभिन्न ऋतुओं के फूलों, प्रत्येक महाद्वीप के पशुओं, झंझावात की प्रक्रियाविधियों एवं आकाशीय पिण्डों की गति का ज्ञान प्राप्त किया। इसीप्रकार उसने प्रत्येक पदार्थ का विश्लेषण किया। प्रत्येक जीव का सूक्ष्म परीक्षण किया तथा अपने शरीर की अस्थियों, नसों एवं मांस-मज्जा का ज्ञान प्राप्त किया। वह इससे भी आगे बढ़ा और अपनी आत्मा की प्रकृति एवं मन की गति को जाना और अपने अस्तित्व के मूलभूत कारणों की जानकारी प्राप्त की। किन्तु, यह कितने आश्चर्य की बात है कि पग-पग पर काम आनेवाली भाषा की ओर उसका बिलकुल ध्यान नहीं गया। सचमुच ही यह मानव-मस्तिष्क पर एक ऐसा पर्दा था जिसे वह देख न पाया। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस युग में पुरातत्त्व के अध्ययन में उत्साही लोग प्रवृत्त हुए, रोमन लोगों की आमोद-प्रमोद की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए पंपियाई की धूल की छानबीन की गई, चर्मपट पर लिखित पुरातन ग्रीक लेखकों को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पढ़ा गया, पवित्र वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मिस्र की समाधियाँ खोदी गईं, बेबिलन एवं निमेवेह के राजप्रासादों से मि्टी के खपरैलों पर लिखित नेबुछाद्नेजर (Nebuchadnezzar) की डायरियों को प्राप्त किया गया तथा मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली सभी पुरातन वस्तुओं को पुस्तकालयों एवं अजायबघरों में सुरक्षित रखा गया, उस युग में उस भाषा की ओर, जो असीरिया, बेबिलोनियाँ तथा मिस्र की बाणमुख एवं चित्रलिपियों में लिखित प्रलेखों से प्राचीन है, जो सनातन से अतीत एवं वर्तमान को जोड़नेवाली शृंखला है तथा जो हमारे जातीय इतिहास की जीवन्त प्रतिमा है, हमारे इतिहास के विद्यार्थियों का आज से ५० वर्ष पूर्व तब तक ध्यान नहीं गया, जब तक हम्बोल्ट, बॉप, ग्रिम, बन्सेन तथा अन्य प्रतिभाशाली विद्वान् इस क्षेत्र में न आये। यदि थोड़ी देर के लिए हम भाषा की उत्पत्ति एवं प्रसार के संबंध में विचार न भी करें और इस बात को ही अपने विचार का केन्द्रबिन्दु बनावें कि भाषा में कभी कोई नवीन तत्त्व नहीं आया, इसमें जो भी परिवर्तन हुआ वह केवल रूप-संबंधी था, बाद की पीढ़ी ने इसमें नवीन धातुओं

एवं अन्य तत्त्वों का समावेश नहीं किया तथा हमें उन्हीं शब्दों पर विचार करना है जो ईश्वर के पुत्र के मुख से पशु-पक्षियों एवं अन्य वस्तुओं के नाम के रूप में निःसृत हुए तो भी मेरा विचार है कि अन्य विज्ञानों की भाँति ही भाषा-विज्ञान (साइंस आफ् लैंग्वेज) भी हमारे अध्ययन का विषय है।

## अध्याय २

# भाषा के विकास और भाषा के इतिहास की परस्पर भिन्नताएँ

मेरा यह दावा है कि भाषा-विज्ञान को भौतिक विज्ञानों में स्थान मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में जो भी आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं उनका उत्तर देने को मैं प्रस्तुत हूँ क्योंकि कुछ लोगों का यह विचार है कि भौतिक विज्ञान की सीमा में संभावित सभी विज्ञान आ चुके हैं जिनमें सभी प्राचीन परम्परागत श्रेष्ठ स्थापित विज्ञान की शाखाएँ सम्मिलत हैं और इसीलिए उनके अनुसार समें किसी नये विज्ञान के लिए स्थान नहीं है।[1]

## भाषा मानव-कृति है

वनस्पति, भूगर्भ एवं शरीररचना जैसे विज्ञानों की ओर से जो आपत्ति की जा सकती है, यह है कि भाषा मनुष्य की कृति है और जब भ्रू-संचालन एवं इंगित से अपने विचारों को व्यक्त करने में मनुष्य को सफलता न मिली तो उसने भाषा का आविष्कार किया। कई पीढ़ियों के समवेत प्रयत्न के परिणामस्वरूप यह पूर्णता को प्राप्त हुई और बाइबिल, वेद, कुरान तथा होमर वर्जिल एवं दांते की कृतियों में इस पूर्णता को देखकर मनुष्य मुग्ध हो उठा। यह बात पूर्णतः सत्य है कि यदि वास्तव में भाषा उसीरूप में मानव की कृति है जिसरूप में कोई मूर्ति, मन्दिर, कविता अथवा विधि (कानून) है तब हमें भाषाविज्ञान को ऐतिहासिक विज्ञान मानना पड़ेगा। कला, कविता एवं विधि (कानून) के इतिहास की भाँति ही भाषा का भी इतिहास होना चाहिए नहीं तो हम इसे प्राकृतिक इतिहास की पंक्ति में नहीं बिठा सकेंगे। यदि आप आधुनिक विद्वानों की कृतियों को ध्यानपूर्वक पढ़ें, तो उनमें यही विचार मिलेंगे कि भाषा मनुष्य की कृति है और इसमें प्रयुक्त शब्द कृत्रिम प्रतीक हैं। भाषाओं में भिन्नता का कारण यह है कि विभिन्न जाति के लोगों ने अपनी-अपनी भाषाओं में विभिन्न विचारों को व्यक्त करने के लिए, विभिन्न उपयुक्त ध्वनियों को स्वीकार

कर लिया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गत-शताब्दि के विद्वानों द्वारा यह विचार अधिकारपूर्वक प्रचारित किया गया है कि उनसे भिन्न मत वाले लोगों को भी इसे निर्विवाद सत्य के रूप में स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

बहुत कम लोगों ने भाषा के मनुष्यकृत होने के विरोध में अपना विचार प्रगट किया है। इनमें से अधिकांश धर्माचार्य हैं जिन्होंने भाषा की दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादन में इतना अधिक उत्साह दिखलाया है कि उनके विचार बाइबिल के विरोधी हो गये हैं। बाइबिल के अनुसार वस्तुओं के नामकरण करने वाले वास्तव में स्रष्टा अथवा ईश्वर न थे, अपितु यह कार्य आदम द्वारा सम्पन्न हुआ था। बाइबिल में हम यह पढ़ते हैं कि भूमि अथवा पृथ्वी से ही परमेश्वर ने खेतों में विचरण करने वाले पशु एवं वायु में उड़ने वाले प्रत्येक पक्षी का निर्माण किया और उन्हें आदम के समक्ष लाकर उनका नामकरण करने के लिए कहा और आदम ने उन्हें जो भी नाम दिया वही आगे चलकर लोक में प्रचलित हुआ।

किन्तु इसप्रकार के विचार को यदि हम अपवाद के रूप में मान भी लें, जो अपनी कट्टरता में बाइबिल से भी आगे हैं तो सामान्यरूप से भाषा की उत्पत्ति के विषय में वही विचार स्वीकृत हुआ, जिसे लॉके ने प्रतिपादित किया था और जिसका जोरदार समर्थन एडम स्मिथ ने भाषा की उत्पत्ति विषयक अपने एक निबन्ध में व्यक्त किया था तथा जिसको आचरण सम्बन्धी भावनाओं पर विचारविमर्ष नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में समाहित किया गया था एवं जिसे स्टेवर्ट ने किंचित् परिवर्त्तनों के साथ स्वीकार कर लिया था। इन विद्वानों के अनुसार आरम्भ में मनुष्य मूक था। वह केवल भ्रू-संचालन एवं शारीरिक शारों द्वारा ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता था। जब विचारों की संख्या में अभिवृद्धि हुई तो उसके लिए अंगुलि-निर्देश से काम चलना कठिन हो गया। "तब कृत्रिम-प्रतीकों द्वारा विचार की अभिव्यक्ति आवश्यक हो गई। आगे चलकर इन प्रतीकों को पारस्परिक सहमति से उसने अर्थ भी प्रदान किया।"

इस कृत्रिम भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में यत्किंचित् मतभेद है, किन्तु उस पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। एडमस्मिथ के अनुसार प्रथम कृत्रिम शब्द क्रिया-पद थे। उसके विचार में संज्ञापद इस-लिए उतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे कि उनकी ओर इशारा किया जा सकता था,

किन्तु क्रिया-पदों के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया सम्भव न थी। उनकी कल्पना के अनुसार जब लोगों ने भेड़िये को आते हुए देखा तो उसकी ओर इशारा करके वे यह कहते हुए चिल्ला उठे कि 'वह आया'। इसके विपरीत 'दुगाल' स्टुवर्ट का यह विचार है कि प्रथम कृत्रिम शब्द संज्ञा-पद थे और क्रिया-पद इशारे से द्योतित किये जाते थे। इसप्रकार जब लोगों ने भेड़िये को आते हुए देखा तो उन्होंने चिल्लाकर यह नहीं कहा कि 'वह आता है' अपितु उन्होंने "भेड़िया, भेड़िया" कहा और आगे कल्पना के लिए छोड़ दिया।

किन्तु, चाहे पहले क्रिया-पद का आविष्कार हुआ अथवा संज्ञा-पद का यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीप्रकार भाषा की प्रकृति के विषय में अपनी खोज के आरम्भ में ही मुझे उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में यहाँ गहराई के साथ छान-बीन करने का अवकाश नहीं है, जिसके अनुसार भाषा मनुष्य की कला अथवा कृति है और उसे मनुष्य ने पारस्परिक सहमति से विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। इस बात को पूर्णतया स्वीकार करते हुए कि यदि यह सिद्धान्त सत्य है तो भाषा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञानों की परिधि में न आ सकेगा, मुझे इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करके ही सन्तोष करना है कि इस सिद्धान्त के पोषकों ने कहीं भी इस बात की व्याख्या नहीं दी है कि भाषा के अभाव में प्रत्येक प्रतीक (शब्द) के लिए सहमति से अर्थ देने का कार्य किस माध्यम से सम्पन्न हुआ था। किन्तु इन भाषणों से मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि भाषा उसीरूप में मनुष्य की कृति नहीं है जिसरूप में चित्र अथवा भवन-निर्माण या लेखन अथवा मुद्रण के कार्य हैं; अतएव अपने भाषण के प्रारम्भ में ही मेरे लिए यह आवश्यक है कि मैं उस सिद्धान्त का विरोध करूँ जो आज स्कूलों में पढ़ाया जाता है, किन्तु जिसकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

## क्या भाषा का इतिहास भी है ?

किन्तु ऊपर की आपत्तियों के अतिरिक्त अन्य ऐसी और भी आपत्तियाँ हैं जो भाषा-विज्ञान को भौतिक विज्ञानों की परिधि में रखने के पक्ष में नहीं हैं। चाहे भाषा की उत्पत्ति जैसे भी हुई हो, यह बात सत्याभास के रूप में जोरों से कही गई हैं कि कला, विधि (कानून) एवं धर्म की भाँति ही भाषा का भी अपना इतिहास हैं। अतएव भाषा-विज्ञान को भौतिक की अपेक्षा ऐतिहासिक परिधि में रखना ही समीचीन है। यह सर्वमान्य तथ्य है और जिसे आधुनिक

अनुसन्धानों के द्वारा भी अन्यथा सिद्ध नहीं किया जा सका है कि प्रकृति किसी प्रकार के विकास और उन्नति करने में असमर्थ है। वनस्पति-शास्त्री आज जिसरूप में फूलों को पाता है वह आदि से ही उसीरूप में हैं। पशुओं में भी जो एक प्रकार का कलात्मक सहजज्ञान है वह आरम्भ से वैसा ही है और उसमें किसीप्रकार की पूर्णता नहीं आई है। मधुमक्खियों का षटकोणीय छत्ता आज १९वीं शताब्दि में भी उसीरूप में है और बुलबुल के मधुर गान में पहले की अपेक्षा आज अधिक पूर्णता नहीं आई है। डा० ह्वेवेल के शब्दों में प्राकृतिक इतिहास, (नेचुरल हिस्ट्री) ऐतिहासिक तथ्यों पर बिल्कुल विचार नहीं करता क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं में स्थायी एवं सार्वभौम गुणों का समावेश रहता है। जब हम विश्व में प्रचलित विविध भाषाओं, बोलियों एवं उनके आंचलिक भेदों-प्रभेदों पर विचार करते हैं तो हम स्पष्टरूप से उनमें अन्तर पाते हैं। ये भाषाएँ एवं बोलियाँ समय की गति से सदैव परिवर्तित होती रही हैं। यदि उदाहरण के लिए हम लैटिन को ही लें तो देखते हैं कि किसप्रकार यह इतालीय, स्पैनिश, पोर्चुगीज, प्रावेंशल, फ्रेंच, रूमानियन एवं रोमांस रूपों में परिवर्तित हुई है। पुनः यदि उत्पत्ति की दृष्टि से हम विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि ग्रीक, केल्तिक, टयूटनिक, स्लाव तथा भारतीय और ईरानीय भाषाओं के साथ लैटिन भी एक प्राचीन भाषा से प्रादुर्भूत हुई है जो वस्तुतः भारोपीय लोगों की मातृ-भाषा थी। हिब्रू, अरबी तथा सिरियक एवं इनसे सम्बन्धित अनेक छोटी-मोटी भाषाएँ भारोपीय से भिन्न, एक अन्य मूल भाषा से प्रसूत हुई हैं। वस्तुतः इस मूल भाषा को सामी जाति के मूल पुरुष बोलते थे। इन दोनों परिवारों के साथ-साथ, एक तीसरे परिवार —तूरानी—का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। इस परिवार की भाषाएँ मध्य एवं उत्तरी एशिया की घुमन्तू जातियों —तुंगुज, मंगोल, तुर्क तथा समोयद एवं फिनिक—द्वारा व्यवहृत होती हैं। ये सभी एक मूल भाषा से ही प्रसूत हुई हैं। यदि हम न तीनों परिवारों की भाषाओं के सम्बन्ध में विचार क तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनका ऐतिहासिक जीवन है और समय की गति के साथ-साथ इनमें परिवर्तन हुआ है।

## भाषा में परिवर्त्तन

चूँकि भाषाएँ परिवर्तनशील तत्त्व हैं अतएव भौतिकविज्ञान के सिद्धान्तों के साथ इनका समन्वय नितान्त दुरूह है। प्रकृति का प्रत्येक भाग, चाहे वह खनिज, वनस्पति अथवा पशु हो, अपने जीवन में आदि से अन्त तक एक रूप

में रहता है; किन्तु इसके विपरीत किसी भी भाषा में समय की गति से इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि एक सहस्र वर्ष के उपरान्त उसे पहिचानना भी कठिन हो जाता है। अल्फ्रेड के युग की अंग्रेजी भाषा आज की अंग्रेजी से इतनी भिन्न है कि हमें उसे ग्रीक एवं लैटिन की भाँति ही पढ़ना पड़ता है। हम लोग मिल्टन, बेकन, शेक्सपियर एवं हूकर को पढ़ते हैं, इसी-प्रकार हम विक्लिफ एवं चॉसर की कृतियों को भी समझ लेते हैं, किन्तु जब हम १३वीं शती की अंग्रेजी पढ़ते हैं तो उसका अर्थ केवल अनुमान से लगा पाते हैं और ओरमुलम (Ormulum) एवं लेमॉन (Layamon) के पूर्व की कृतियों का समझना भी हमारे लिए नितान्त कठिन हो जाता है। भाषाओं के ऐतिहासिक परिवर्तन की गति तीव्र अथवा मन्द हो सकती है किन्तु परिवर्तन सदैव एवं सर्वत्र होता है। परिवर्तन की यह गति इतनी विकट है कि इसने वैदिक ऋषियों की समृद्ध एवं शक्तिशाली वाणी को आज के जन-साधारण की बोली में परिवर्तित कर दिया है, जेन्दावस्ता तथा बिहिश्तुन के प्रलेखों की भाषा को इसने फिरदौसी कृत शाहनामा की भाषा एवं आधुनिक फारसी में परिणत कर दिया है। इसीरूप में वर्जिल की भाषा दांते की भाषा, पादरी उल्फिलास की भाषा शार्लमेन की भाषा में तथा शार्लमेन की भाषा गेटे की भाषा में बदल गई है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि वन्यजाति के लोगों की भाषा में परिवर्तन की गति अति तीव्र होती है, यद्यपि लिखित साहित्य के अभाव में इस सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय सूचना प्राप्त करना कठिन है। उधर साइबेरिया, अफ्रीका एवं स्याम देश की निरक्षर वन्य जातियों की भाषाओं को सावधानी से निरीक्षण करने के पश्चात् यह पता चला है कि दो-तीन पीढ़ियों में उनकी बोलियों में पूर्णरूपेण परिवर्तन हो जाता है। इसके विपरीत उच्च सभ्य जातियों की भाषाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी परिवर्तन की शक्ति लुप्त हो गई है। जिन भाषाओं में उच्च साहित्य है, जो भाषाएँ नगरों एवं गाँवों में प्रविष्ट हो चुकी हैं उनके विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें परिवर्तन होगा ही नहीं। ऐसा होते हुए भी रोम की भाषा जो शताब्दियों तक समस्त सभ्य संसार की भाषाओं की रानी बनी थी, आधुनिक रोमान्स भाषाओं द्वारा पदच्युत कर दी गई और प्राचीन ग्रीक का स्थान आधुनिक रोमनिक भाषाओं ने ले लिया। यद्यपि आज मुद्रण-कला एवं चारों ओर 'बाइबिल' तथा 'प्रेयर बुकों' एवं समाचार-पत्रों के प्रचार-प्रसार के कारण

भाषा के निरन्तर परिवर्तन में अवरोध उत्पन्न हो रहा है तथापि हम स्पष्ट रूप से इस बात का अनुभव करते हैं कि बाइबिल की भाषा जिसे समझने में हमें कठिनाई नहीं है, आज इंगलैंड की बोलचाल की भाषा नहीं है। बुकर द्वारा संग्रहीत बाइबिल की शब्दावली (ग्लासरी) के देखने सेयह स्पष्ट-हो जाता है कि सन् १६११ से आज तक इसके ३८८ शब्द अप्रचलित अथवा लुप्तप्राय हो चुके हैं। यह शब्द-संख्या बाइबिल में प्रयुक्त शब्दों की संख्या का पंचमांश है। स्वराघात एवं अर्थपरिवर्तन सम्बन्धी साधारण परिवर्तनों, पुराने शब्दों के लुप्त होने एवं नये शब्दों के आगमन की प्रक्रिया तो हम नित्य देखते रहते हैं। रोज़र्स के अनुसार अंग्रेजी के Conte'mplate एवं balco'-ny शब्दों में पहले एवं द्वितीय स्वरों 'e' तथा 'o' पर स्वराघात था और प्रथम स्वरों 'o' तथा 'e' पर बल देकर इनका उच्चारण करना गँवारूपन का द्योतक था किन्तु आज लोग इन दोनों का, प्रथम स्वरों पर बल देकर ही Co'ntemplate एवं ba'lcony के रूप में उच्चारण करने लगे हैं और यह सर्वसाधारण के लिए सरल है। अक्षरौटी एवं उच्चारण में आज Roome, Chaney, layloc एवं goold शब्द क्रमशः Rome, China, lilac तथा gold बन गये हैं और obliged के लिए obleeged शब्द का प्रयोग तो केवल विनयशील भद्र लोगों तक ही सीमित रह गया है। वर्ड्सवर्थ के पूर्व Force का प्रयोग प्रपात तथा gill का प्रयोग पर्वतीय खोह के अर्थ में नहीं होता था। "हैण्डबुक" (Hand book) यद्यपि एंग्लो सैक्सन शब्द है किन्तु आज इसने "मैन्युल" (Manual) का स्थान ले लिया है। इसीप्रकार "कैब्रियोलेट" (Cabriolet) के लिए "कैब" (Cab), "ऑम्निबस' (Omnibus) के स्थान में "बस" (bus) एवं विकम्पित अर्थ में To shunt क्रियापद के प्रयोग होने लगे हैं। आज भी इन शब्दों के प्रयोग ग्रामीण एवं शिष्ट की सीमा पर हैं। यद्यपि बाइबिल के प्रामाणिक संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् अंग्रेजी भाषा में व्याकरण सम्बन्धी बहुत कम परिवर्तन हुए हैं तथापि कतिपय परिवर्तन उल्लेखनीय एवं द्रष्टव्य हैं। अन्य-पुरुष, एक वचन क्रियापद के प्रत्यय के रूप में अब--'th' का लोप हो गया है और इसका स्थान --'s' ने ले लिया है। अब कोई "he liveth" नहीं कहता अपितु सर्वत्र 'he lives" ही सुनाई पड़ता है। अनेक अनियमित अपूर्ण क्रियारूपों एवं कृदन्तों के रूप अब बदल गये हैं। आज कल "he spake" तथा "he drave" के स्थान पर लोग "he spoke" एवं 'he drove"

का प्रयोग करने लगे हैं। इसीप्रकार 'holpen', 'holden', एवं 'shapen' का स्थान क्रमशः 'helped', 'hold' एवं 'shaped' जैसे भूतकालिक कृदन्तीयरूपों ने ले लिया है। पहले अंग्रेजी में 'ye' सर्वनाम का प्रयोग कर्ता कारक तथा 'you' का प्रयोग अन्य कारकों में होता था किन्तु आधुनिक अंग्रेजी में यह भेद लुप्त हो गया है। सत्रहवीं शताब्दि के आरम्भ से, अधिकारी-वाची सर्वनाम का एक नूतन व्याकरणीय रूप "its" प्रयोग में आने लगा है। यद्यपि शेक्सपियर ने दो-तीन बार इसका प्रयोग किया है किन्तु बाइबिल में तो इसका एक भी प्रयोग नहीं मिलता। बेनजान्सन ने तो अपने अंग्रेजी व्याकरण में इसे आज तक स्वीकार नहीं किया है।

ऊपर के तथ्यों को ध्यान में रखकर यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि चूँकि भाषा एवं प्रकृति की अन्य देनों में अन्तर है और चूँकि भाषा में ऐतिहासिक परिवर्तन होते हैं अतएव इसकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञानों की विषय-वस्तुओं के समान विचार नहीं किया जा सकता।

इस आपत्ति में तथ्याभास दृष्टिगोचर होता है किन्तु यदि इस सम्बन्ध में सावधानी से विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि शब्दों के अर्थ-भ्रम के कारण ही वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है। यहाँ पर हमें ऐतिहासिक परिवर्तन तथा प्राकृतिक विकास के अन्तर को स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। कला, विज्ञान, दर्शन एवं धर्म के अपने-अपने इतिहास हैं; किन्तु भाषा एवं प्रकृति की अन्य वस्तुएँ केवल विकसनशील हैं।

## भाषा का विकास, इतिहास नहीं

यहाँ सर्वप्रथम यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि भाषा निरन्तर परिवर्तनशील है तथापि इसे उत्पन्न करने अथवा इसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने की क्षमता मनुष्य में नहीं है। भाषा-नियमों में परिवर्त्तन करने की क्षमता आना मनुष्य के लिए उसीप्रकार की क्षमता प्राप्त करने के बराबर होगा—जैसे कि वह अपने शरीर में रक्त संचार करने व क़द की ऊँचाई को दो-एक इंच बढ़ा सकने की शक्ति प्राप्त कर ले। यही बात व्यक्तिगत आनन्द के लिए नये शब्दों के गढ़ने के सम्बन्ध में भी है। जिस प्रकार मनुष्य प्रकृति का स्वामी तभी है जब वह उसके नियमों को जानें उसी प्रकार कवि एवं दार्शनिक तभी भाषा के स्वामी बन सकते हैं जब वे उसके नियमों को जानें तथा उनके अनुसार आचरण भी करें।

जब सम्राट् टाइबेरियस (Tiberius) ने अपने भाषण में भाषा-सम्बन्धी अशुद्धि की और इसके लिये उसे मार्सेलस (Marcellus) ने टोका तो वहाँ उपस्थित कैपिटो (Capito) नामक एक अन्य वैयाकरण ने सम्राट् का समर्थन करते हुए कहा––"सम्राट् ने जो कुछ कहा है वह शुद्ध लैटिन है और यदि वह शुद्ध नहीं भी है तो भविष्य में वह शुद्ध मानी जायेगी।" मार्सेलस दरबारी की अपेक्षा श्रेष्ठ वैयाकरण था। उसने तुरन्त यह कहते हुए उत्तर दिया––"कैपिटो झूठा है। सम्राट् मनुष्य को तो रोम की नागरिकता प्रदान कर सकते हैं किन्तु शब्दों को नागरिकता प्रदान करना उनकी शक्ति के बाहर है।" जर्मन सम्राट् सिगिमंड (Sigismund) के सम्बन्ध में भी एक ऐसी ही कथा कही जाती है। किसी परिषद् का सभापतित्व करते समय सम्राट् ने लैटिन में भाषण दिया। उन्होंने संघभेद (Schism) के लिए लैटिन 'Schismam' रूप का प्रयोग किया। तुरन्त ही एक विद्वान् ने उन्हें टोकते हुए कहा––आपको Schisma कहना चाहिए, Schismam नहीं, क्योंकि वास्तव में यह शब्द नपुंसक लिंग है। सम्राट् ने तनिक भी विचलित हुए बिना ही उससे तुरन्त पूछा—तुम्हे यह कैसे ज्ञात हुआ कि यह शब्द नपुंसकलिंग है। वयोवृद्ध पंडित ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा––अलक्जैंडर गॉल का यही मत है। सम्राट् ने पुनः प्रश्न किया––और यह अलैक्जैंडर गॉल कौन है? इस पर पंडित ने जवाब दिया––वह एक विद्वान् (वैयाकरण) है। इस पर सम्राट् ने कहा—तुझे यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं रोम का सम्राट् हूँ और मुझे विश्वास है कि मेरा कथन उतना ही सत्य है जितना किसी पंडित का। इसमें सन्देह नहीं कि परिषद् में उपस्थित लोगों ने इस परिहास में सम्राट् का ही साथ दिया, किन्तु यह सब होते हुए भी (Schisma) शब्द नपुंसकलिंग ही रहा और कोई सम्राट् इसके लिंग को परिवर्तित न कर सका।

मनुष्य भाषा में परिवर्तन कर सकता है अथवा उसे उन्नत बना सकता है, यह विचार नया नहीं है। हमें यह ज्ञात है कि प्राचीन ग्रीक विद्वान् प्रोटागोरस (Protagoras) ने ग्रीक भाषा के लिंग-निर्णय के सम्बन्ध में नियम बनाया और इसके बाद उसने होमर के प्रयोगों को इसलिये अशुद्ध कहना प्रारम्भ किया क्योंकि वे उसके द्वारा निर्मित नियमों के अनुकूल न थे किन्तु जैसा कि अन्यत्र हुआ है, इस विद्वान् को भी अपने कार्य में सफलता न मिली। आप अंग्रेजी के छोटे से छोटे नियम को परिवर्तित

करने का प्रयत्न करें तो आपको यह ज्ञात होगा कि ऐसा करना आपके सामर्थ्य के बाहर हैं। अंग्रेजी के 'मच' (Much) तथा 'वेरी' (Very) शब्दों के अर्थ में बहुत कम अन्तर है किन्तु यह होते हुए भी एक स्थान पर दूसरे का प्रयोग नहीं किया जा सकता। हम लोग 'आइ एम वेरी हैपी' (I am very happy) अथवा 'आइ एम मोस्ट हैपी' (I am most happy) तो कह सकते हैं किन्तु हम 'आइ एम मच हैपी' (I am much happy) नहीं कह सकते। इसके विपरीत आप 'आइ एम मच मिस्अंडरस्टुड' (I am much misunderstood) तो कह सकते हैं किन्तु 'आइ एम वेरी मिस् अंडर स्टुड' (I am very misunderstood) का प्रयोग नहीं कर सकते। इसीप्रकार स्पैनिश, पोर्तुगीज तथा वैलेशियन जैसी पश्चिमी रोमांस भाषाएँ तुलनात्मक श्रेणी (Comparative degree) के निर्माण में लैटिन 'मैगिस' (Magis) शब्द का व्यवहार करती हैं—यथा, स्पै० mas dulce; पोर्तु० mais doce; वैले० mai dulce किन्तु फ्रेंच, प्रावेंसल एवं इटैलियन इसी के लिये 'प्लु' (Plus) का प्रयोग करता हैं; यथा, इटै० piu dolce; प्रावे० plus dous; फ्रें० plus doux। आजकल, अंग्रेजी में, 'वेरी' (Very) का प्रयोग विशेषण के पूर्व तथा 'मच' (Much) का प्रयोग कृदन्तीय रूपों के पूर्व होता है। बहुत सम्भव है कि भविष्य में यह भेद मिट जाय। वास्तव में 'वेरी प्लीज्ड' (Very pleased) एवं 'वेरी डिलाइटेड' (Very delighted) का प्रयोग अमेरिका में होता है और कभी-कभी इस देश (इँगलैंड) में लोगों को इसका प्रयोग करते हुए हम सुनते हैं। यदि यह परिवर्तन यहाँ भी स्वीकृत हो जाता है तो यह किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा के कारण अथवा अधिकांश लोगों की सहमति से न होगा अपितु वैयाकरणों एवं विद्वानों की इच्छा के विरुद्ध होगा।

यहाँ पर आपको इतिहास तथा विकास के भेद (अन्तर) का ज्ञान प्रथम बार होगा। इसप्रकार के परिवर्तन को ऐतिहासिक **न** कहकर विकसनशील कहना ही उपयुक्त होगा। कोई सम्राट् समाज के नियमों को परिवर्तित कर सकता है, वह धर्म के रूप एवं कला के नियमों को भी बदल सकता है, एक पीढ़ी कला को उच्चतम शिखर पर पहुँचा सकती है, कोई व्यक्ति विशेष भी यह कार्य सम्पन्न कर सकता है, इसीप्रकार दूसरी पीढ़ी में कला में पतन भी हो सकता हैं और तीसरी में वह पुनः उत्थान के पथ पर अग्रसर हो सकती है; इन सभी कृत्यों में हम मनुष्य के व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणाम का अनु-

भव कर सकते हैं अतएव ये सभी कृत्य ऐतिहासिक भूमि के अन्तर्गत आते हैं। जब हम माइकेल एंजेलो अथवा रैफल की कृतियों की तुलना प्राचीन रोम की मूर्तियों तथा भित्तिचित्रों से करते हैं तो हम कला के इतिहास की चर्चा करते हैं। हम सहस्रों वर्षों की कला के इतिहास का अध्ययन कर सकते हैं और इस इतिहास में हम प्रत्येक शताब्दि की कला की परम्परा का दर्शन कर सकते हैं, किन्तु इसीरूप में हम उस निरन्तर स्वतः विकास की शृंखला को नहीं देख सकते जो प्लेटो की भाषा को दान्ते की भाषा से जोड़ती है। जिस प्रक्रिया से किसी भाषा का रूप निर्धारित अथवा विखंडित होता है उसमें दो वि ोधी तत्त्वों का सम्मिलित रूप में सहयोग होता है। ये तत्त्व हैं आवश्यकता एवं स्वतंत्र इच्छा। यद्यपि नये शब्दों एवं नूतन व्याकरणीय रूपों के निर्माण में मुख्यरूप से व्यक्ति का ही हाथ होता है किन्तु यह तभी होता है जब उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्णरूप में उसके परिवार, जाति एवं राष्ट्र के दैनिक जीवन में विलयन हो जाता है। वह अकेले कुछ भी नहीं कर सकता और भाषा में जब भी कोई नया तत्त्व आता है, वह सर्वप्रथम यद्यपि किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा ही आता है तथापि वह किसी पूर्वचिन्तन के परिणामस्वरूप नहीं आता, अपितु वह अनजाने ही आ जाता है। कोई भी एक व्यक्ति भाषा में नवीन तत्त्व उत्पन्न करने में असमर्थ है क्योंकि जिन नियमों के वशीभूत होकर ये तत्त्व आते हैं वे उसकी नियंत्रण शक्ति के बाहर हैं। सच तो यह है कि भाषा में नूतन तत्त्वों को उत्पन्न करने वाला कोई व्यक्ति नहीं होता अपितु वह समाज होता है जो इस कार्य में व्यक्ति का पूर्ण सहायक होता है। इस कार्य में व्यष्टि एवं समष्टि एक हो जाते हैं और उनमें कोई भेद नहीं रह जाता।

## भाषा राजनैतिक इतिहास से स्वतंत्र है

यहाँ हमें एक दूसरी आपत्ति के सम्बन्ध में भी विचार करना है। यह विचार भाषा की वास्तविक प्रकृति को स्पष्टतया समझने में सहायक सिद्ध होगा। इस सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा है कि यद्यपि भाषा केवल कलात्मक क्रिया-कलाप नहीं है तथापि जिस युग में वह विकसित हुई ी उसके इतिहास के ज्ञान के बिना भाषा के जीवन एवं विकास के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। इसके लिए हमें यह ज्ञान भी आवश्यक है कि जिस भाषा का हम तुलनात्मक व्याकरण के रूप में विश्लेषण कर रहे हैं वह आदिवासियों की साहित्य-विहीन भाषा है अथवा वह कवियों, पुरोहितों एवं व्याख्यान-दाताओं की सुसंस्कृत साहित्यिक भाषा है। इसके अतिरिक्त केवल राज-

नैतिक इतिहास के अध्ययन से ही हमें यह पता चलता है कि एक भाषा दूसरे भाषा के सम्पर्क में आई है, यह सम्पर्क कितने दिनों का रहा है, सम्पर्क में आने वाली जातियों में से कौन जाति अधिक संस्कृत एवं सुशिक्षित थी, कौन जेता एवं कौन विजित थी, किसने देश में धर्म एवं नियम की स्थापना की थी तथा किसने अधिक संख्या में अध्यापकों, लोक-प्रसिद्ध कवियों, सफल जन-नायकों एवं शिक्षकों को उत्पन्न किया था। ये सभी प्रश्न इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले हैं और जिस विज्ञान का इतिहास से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे भौतिक विज्ञान की पंक्ति में रखना कहाँ तक तर्कसंगत है?

ऊपर के प्रश्न के उत्तर में यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि भौतिक विज्ञानों में से कोई भी विज्ञान मानव-इतिहास से इतना अधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित नहीं है जितना भाषाविज्ञान। किन्तु चाहे सम्बन्ध की मात्रा कुछ कम ही क्यों न हो, इसप्रकार का सम्बन्ध भौतिक अनुसन्धान की अन्य शाखाओं एवं मानव-इतिहास में भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ प्राणि-विज्ञान में यह ज्ञान महत्त्वपूर्ण है कि किसी देश विशेष के इतिहास में कब और किस उद्देश्य से कतिपय पशु पालतू बनाये गये। यही बात भाषा-विज्ञान से सर्वथा भिन्न नृ-विज्ञान के सम्वन्ध में है। जब तक मंगोलों एवं तातारों के यूरप के स्थानान्तरण एवं निवास-सम्बन्धी तथ्य प्राचीन लिखित प्रमाणों से सिद्ध न हो जायँ तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हुंगेरी की मंगोल एवं तुर्की की तातार जातियों में काकेशीय रक्त का सम्मिश्रण किसरूप में हुआ है। पुनः राई (एक प्रकार के खाद्यान्न) की विभिन्न प्रजातियों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद भी कोई वनस्पतिशास्त्री उसकी विशेषताओं को तब तक न समझ सकेगा जब तक उसे यह ज्ञात न हो जाय कि संसार के कई देशों में तो शताब्दियों से इसकी खेती होती है किन्तु काकेशस पर्वत पर यह आज भी जंगली पौधे के रूप में उगती है। जातियों की भाँति ही पौधों के भी अपने देश होते हैं। ग्रीस में ककड़ी, इटली में नारंगी एवं शाहदाना, इंगलैंड में आलू तथा कामोरिन अन्तरीप के निकट अंगूर की पैदावार को पूर्ण व्याख्या कोई इतिहास का पंडित ही कर सकता है। इसीप्रकार यदि भाषा एवं मानव के इतिहास में घनिष्ठ सम्बन्ध है तो इस कारण ही भाषा-विज्ञान को भौतिक-विज्ञानों के टाट से बाहर नहीं किया जा सकता।

इतना ही नहीं, यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध की जा सकती है कि यदि परि-भाषा देते समय हम विशेष सावधानी बरतें तो हम निस्संकोचरूप से यह

घोषित कर सकते हैं कि भाषा-विज्ञान इतिहास से सर्वथा स्वतंत्र है। यदि हमें इंगलैंड की भाषा के सम्बन्ध में कुछ कहना है तो उसकी वर्तमान स्थिति को समझने के लिये हमें ब्रिटेन के इतिहास की भी थोड़ी बहुत जानकारी आवश्यक है। इसका इतिहास ब्रिटेन लोगों से आरम्भ होता है जो वास्तव में केल्टिक भाषा-भाषी थे। इसके बाद क्रमशः सैक्सन, डेन एवं नार्मन लोगों ने इस देश को जीता। अंग्रेजी भाषा के निर्माण में इन सभी राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव हम स्पष्टरूप में देख सकते हैं और हम यह भी कह सकते हैं कि इंगलैंड की भाषा क्रमशः केल्टिक, सैक्सन, नार्मन एवं इंगलिश (अंग्रेजी) थी। किन्तु जब हम अंग्रेजी भाषा के इतिहास की बातें करते हैं तो हम एक सर्वथा भिन्न भूमि में प्रवेश करते हैं। अंग्रेजी कभी भी केल्टिक न थी और न केल्टिक की परिणति सैक्सन, न सैक्सन की नार्मन और न नार्मन की अंग्रेजी में हुई। केल्टिक भाषा आज भी जीवित है, यद्यपि यह केवल वेल्स, आयरलैंड एवं स्काटलैंड के अल्पसंख्यकों द्वारा व्यवहृत होती है। जब तक किसी भाषा का बोलने वाला एक व्यक्ति भी रहता है तब तक वह भाषा जीवित रहती है और तब तक उसका अस्तित्व भी रहता है। कार्नवाल की भाषा कोर्निश की एक मात्र प्रतिनिधि एक बुढ़िया बच गई थी और उसके निधन पर आज हम उसका स्मारक बनाने जा रहे हैं। एक केल्ट अंग्रेज बन सकता है, केल्ट एवं अंग्रेज रक्त में सम्मिश्रण भी हो सकता है, आज के इंगलैंड के निवासियों में इन दोनों जातियों के रक्त का सम्मिश्रण किस अनुपात में हुआ है, इसे कौन बता सकता है? किन्तु भाषाओं में सम्मिश्रण नहीं होता। ब्रिटेन में जो भाषा बोली जाती है उसे चाहे आप अंग्रेजी या ब्रिटिश अथवा सैक्सन कहें किन्तु भाषा के विद्यार्थी के लिये अंग्रेजी ट्यूटनिक और केवल ट्यूटनिक है। शरीरविज्ञानी कह सकते हैं कि अधिकांश अंग्रेजों की खोपड़ियों की संरचना केल्टिक ढंग की है। वंशावली विशारद दावा कर सकते हैं कि अनेक अंग्रेजों के हाथ नार्मन लोगों की तरह हैं किन्तु भाषा के विद्यार्थियों को तो अपने मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। ब्रिटेन में केल्ट लोगों के अवशेष तथा सैक्सन, डेन एवं नार्मन आक्रमण के ऐतिहासिक विवरण उनके लिये लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं परन्तु इतिहास-सम्बन्धी सभी प्रमाणों के विनष्ट हो जाने तथा यहाँ के निवासियों के मस्तिष्कों में घोर परिवर्तन हो जाने पर भी तुलनात्मक व्याकरण की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा का अपना अलग इतिहास होगा। इतिहास की सहायता के बिना ही हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि अंग्रेजी ट्यूटनिक परिवार की भाषा

है और डच तथा फ्रिजियन की भाँति ही उसका सम्बन्ध निम्न जर्मन से है। उच्च जर्मन, गॉथिक एवं स्कैण्डेनेवियन के साथ ही यह टयूटनिक शाखा के अन्तर्गत आती है और केल्टिक, स्लाव, हेलेनिक (ग्रीक), इटालिक, इरानिक एवं इंडिक (भारतीय) भाषाओं से मिलकर यह भारोपीय अथवा आर्य परिवार का निर्माण करती है। अंग्रेजी कोष में भाषा-विज्ञान के छात्र को केल्टिक, नार्मन, ग्रीक एवं लैटिन के तत्त्व मिल सकते हैं किन्तु अंग्रेजी भाषा की सजीव संरचना में उसे कोई भी विदेशी तत्त्व उपलब्ध न होगा। इसका व्याकरण, इसका रक्त, इसकी आत्मा उसीरूप में शुद्ध एवं अमिश्रित है जिसरूप में वह कभी जर्मन सागर के तट पर एंगिल्स, सैक्सन एवं जूट जातियों द्वारा बोली जाती थी।

## भाषा में परिवर्तन के कारण

किन्तु, यदि राजनीति तथा कला की भाँति भाषा में स्वतंत्र व्यक्तियों के इच्छानुसार परिवर्तन नहीं होते और उसमें जो भी परिवर्तन होते हैं उनका युग के इतिहास एवं काल से कोई सम्बन्ध नहीं है, तब यह प्रश्न उठता है कि इन परिवर्तनों के कारण क्या हैं? यद्यपि यह बात सर्वथा सत्य है कि किसी व्यक्ति-विशेष की अभिरुचि अथवा भावना के कारण भाषा में परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि मानव के द्वारा ही भाषा परिवर्तित भी होती है। सच बात तो यह है कि यदि भाषा विकसित होती है तो उसके विकास की भूमि भी होनी चाहिए और वह भूमि मनुष्य ही है। भाषा स्वतः नहीं टिक सकती। फ्रेड्रिक श्लेगेल के अनुसार किसी भाषा के संज्ञा एवं क्रियापदों से प्रत्यय उसीप्रकार फूट निकलते हैं जिसप्रकार वृक्ष से नई कोंपलें एवं अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। इसीप्रकार श्लाइखर के मतानुसार एक सजीव वस्तु की भाँति भाषा का अपना जीवन होता है। वह युवा होकर सन्तति उत्पन्न करती है तथा वृद्ध होकर विनाश को प्राप्त हो जाती है। यदि विचारपूर्वक हम देखें तो भाषा के सम्बन्ध में हमारे ये कथन नानी की कहानी की तरह हैं। यह सच है कि भावों के स्पष्टीकरण के लिये हमें रूपक का सहारा लेना आवश्यक होता है किन्तु जब हम किसी शोधकार्य में प्रवृत्त हों तो हमें बहुत सोच-समझकर शब्दों का प्रयोग करना चाहिए और भावावेश में नहीं बह जाना चाहिए।

इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि भाषा में परिवर्तन

होता है। यह हमारी आँखों के सामने होता है और इतिहास के सभी युगों में इसप्रकार के परिवर्तन हुए हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं :--

१. बोली सम्बन्धी पुनरुज्जीवन (Dialectic regeneration)।
२. ध्वनिह्रास (Phonetic decay)।

## ध्वनिह्रास

इनमें दूसरी प्रक्रिया अधिक स्पष्ट है, यद्यपि इसका परिचालन बोली सम्बन्धी पुनरुज्जीवन के बाद होता है। यहाँ पर मैं आप लोगों से यह बात स्वीकार करने के लिए निवेदन करूँगा कि भाषा में प्रायः सभी वस्तुओं का मूलतः अर्थ होता है। भाषा का उद्देश्य अर्थ की स्पष्टता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इससे यह आवश्यक हो जाता है कि अर्थ-द्योतन के लिए जो तत्त्व आवश्यक हैं, वे भाषा में न तो अधिक मात्रा में और न कम मात्रा में हों। अर्थद्योतन के लिए जो तत्त्व आवश्यक हैं, यदि उससे अधिक भाषा ग्रहण नहीं कर सकती तो इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन तत्त्वों में यत्किंचित परिवर्तन कर देने से भाषा अपना वास्तविक स्वरूप ही खो बैठती है। कतिपय भाषाओं के सम्बन्ध यह बात वास्तव में सही है। ये अन्य कारणों से नहीं तो इसीकारण से एक पृथक् वर्ग का निर्माण करती हैं। इस वर्ग की भाषा को योगात्मक तथा विभक्ति-प्रत्यय-सम्बन्धी भाषाओं से पृथक् करने के लिए हम अयोगात्मक नाम से अभिहित करते हैं। उदाहरणार्थ चीनी भाषा में दस का भाव व्यक्त करने के लिए 'शि' शब्द व्यवहृत होता है।

## चीनी में ध्वनिह्रास नहीं होता

यदि हम 'शि' में तनिक भी परिवर्तन कर दें तो चीनी भाषा में दस का भाव प्रकट करना ही असम्भव हो जायेगा। यदि 'शी' का उच्चारण हम 'त्शी' रूप में करें तो इसका अर्थ 'सात' हो जायेगा, 'दस' नहीं। अब कल्पना कीजिए कि हम 'दस' के दुगुने भाव 'दो-दस' अथवा 'बीस' को प्रकट करना चाहते हैं, तो इसके लिए हमें चीनी भाषा के 'एउल्', दो, शब्द को 'शी' के पूर्व रखकर 'एउल्शी' कहना पड़ेगा। तब इसका अर्थ होगा 'दो-दस' अथवा 'बीस'। जो बात ऊपर 'शी' के सम्बन्ध में कही जा चुकी है, वही 'एउल् शी' के सम्बन्ध में भी सत्य है। यदि इसमें से एक अक्षर भी घटा-बढ़ा दें तो 'बीस' का अर्थ द्योतित न होगा। एकाक्षरपरिवार की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में भी

ठीक यही बात है। तिब्बती में 'दस' के लिये 'चु' तथा 'दो' के लिये 'न्यि' शब्द व्यवहृत होते हैं। इसप्रकार 'बीस' के लिये वहाँ 'न्यि-चू' कहते हैं। बर्मी भाषा में 'दस' को 'शे' तथा 'दो' को 'न्हिट्' कहते हैं और यहाँ 'न्हिट्-शे' का अर्थ होता है 'बीस'।

## संस्कृत में ध्वनिह्रास

अब हमें देखना यह है कि अंग्रेजी, गॉथिक, ग्रीक, लैटिन अथवा संस्कृत में इस भाव को किस रूप में द्योतित किया जाता है? हम अंग्रेजी में 'टु-टेन', लैटिन में 'डुओडेसेम्' अथवा संस्कृत में 'द्विदश' नहीं कहते। इन भाषाओं में इसके रूप इस प्रकार मिलते हैं।

| संस्कृत | ग्रीक | लैटिन | अंग्रेजी |
|---|---|---|---|
| विंशति | vikati | viginti | ट्वेन्टी |

ऊपर के उदाहरण में हम पहली बात यह देखते हैं कि संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन शब्द एक मूल शब्द से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। यह दूस ी बात है कि स्थानीय भेद के कारण इनके रूप परिवर्तित हो गये हैं। अंग्रेजी का 'ट्वेन्टी' (twe-nty) वस्तुतः नया सामासिक शब्द है। यह गॉथिक 'twai tigjus' तथा ट्यूटनिक तत्त्वों से निर्मित एंग्लो सैक्सन 'twen-tig' से बना है। इसमें बोली सम्बन्धी पुनरुज्जीवन के 'तत्त्व वर्तमान हैं। इसके बाद हम देखते हैं कि लैटिन 'vi-ginti' तथा संस्कृत 'vinśati' (विंशति), दोनों के आदि में vi-(वि-) उपलब्ध है। वास्तव में मूल 'dvi' (द्वि-) ही इस vi -(वि-) में परिणत हो गया है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है क्योंकि 'द्वि' का उच्चारण सरल नहीं है; इसकी अपेक्षा 'वि' बहुत सरल है। लैटिन 'bis' (बिस्) 'दुगुना' या 'दूना' जिसे आज भी हम संगीत गोष्ठी में सुनते हैं, मूलतः dvis ( द्विस्) का ही प्रतिरूप है। अंग्रेजी में यही twice तथा ग्रीक में यह dis रूप में मिलता है। पुनः यही dis- लैटिन में, उपसर्ग रूप में मिलता है जहाँ इसका अर्थ होता है 'दो'। उदाहरणार्थ discussion का मूल अर्थ है, 'दो विभिन्न संघर्ष।' इसकी तुलना में हम percussion शब्द को ले सकते हैं जिसका अर्थ है 'निरन्तर संघर्ष'। Discussion का मूल अर्थ है 'गूदे की प्राप्ति के लिए नारियल को तोड़ना'। यही 'dvi' (द्वि-) अथवा vi- (वि-) रूपों में हमें लैटिन 'vi-ginti' एवं संस्कृत 'vinśati' (विंशति) शब्दों में मिलता है जिसका अर्थ है 'बीस'।

इसीप्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि 'viginti' का द्वितीय भाग 'ginti' वस्तुतः 'दश' का अपभ्रष्ट रूप है। संस्कृत में यह 'दशन्' रूप में मिलता है और इसी से संस्कृत का 'दशति' रूप बनता है। यही 'दशति' क्षय को प्राप्त होकर 'शति' बन जाता है। इस प्रकार हमें 'दो' के अर्थ में 'dvi' (द्वि-) के स्थान पर 'vi' (वि-) उपसर्ग मिलता है जिससे संस्कृत का 'विशति' अथवा 'विंशति' रूप सिद्ध होता है। लैटिन 'viginti' एवं ग्रीक 'vikati की उत्पत्ति भी इसीप्रकार से हुई है।

जब हम संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन में 'बीस' के लिए उपलब्ध शब्दों की तुलना चीनी 'एउल-शी' (eúl-shi) से करते हैं तो अत्यधिक रूपगत अन्तर मिलता है। भाव या अर्थद्योतन के लिए जो तत्त्व आवश्यक हैं, वह चीनी में वर्तमान हैं। यह न तो अधिक मात्रा में है और न कम मात्रा में। चीनी के दोनों अक्षर (Syllable) अपना अर्थ स्वतः प्रकट करते हैं और उनकी किसीप्रकार की व्याख्या को जरूरत नहीं होती। इसके विपरीत संस्कृत शब्द के दोनों खण्ड या अक्षर इतने अधिक परिवर्तित हो गये हैं कि सूक्ष्म विश्लेषण के बिना उनका समझना असम्भव है। यहाँ हमें वस्तुतः ध्वनि-ह्रास का उदाहरण उपलब्ध होता है और इसके साथ ही इस बात का भी ज्ञान होता है कि केवल रूप में ही नहीं अपितु भाषा की प्रकृति में भी घोर परिवर्तन हो गया है। वास्तव में भाषा की मूल विशेषता यह है कि उसमें उपलब्ध शब्दों के विभिन्न खण्डों के अर्थ स्पष्टरूप में समझ में आ जायँ, किन्तु जब किसी भाषा में ध्वनि-ह्रास का आरम्भ होता है तो उसकी प्रकृति ही विनष्ट हो जाती है। संस्कृत बोलने वालों को वस्तुतः यह बात कि विंशति से तात्पर्य दो दस है उस रूप में ज्ञात नहीं है जैसे फ्रेंच भाषाभाषी को यह मालूम है कि उसकी भाषा के 'vingt' रूप में deux' एवं 'dix' के अवशेष वर्तमान हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि जब भाषा में ध्वनि-ह्रास की प्रक्रिया आरम्भ होती है तो वह एक नूतन अवस्था में प्रवेश करती है। जिन शब्दों अथवा शब्दखण्डों में ध्वनि-ह्रास होता है, वह मूल से बहुत दूर हटकर निष्प्राण हो जाते हैं। इसके बाद तो ये शब्द अथवा शब्द खण्ड केवल कृत्रिम रूप में रह जाते हैं और परम्परा से ही उनके अर्थ का अवबोध होता है। यहाँ हम सार अथवा आधारभूतरूपों एवं व्याकरणिक रूपों के अन्तर को स्पष्टतया देख सकते हैं। जहाँ तक व्याकरणिकरूपों का सम्बन्ध है, ये सर्वथा औपचारिक बन जाते हैं।

## ध्वनिह्रास द्वारा व्याकरणीयरूपों का निर्माण

ध्वन्यात्मक-ह्रास के कारण व्याकरणिक रूप आरम्भ में किस प्रकार अस्तित्व में आते हैं, इसे यहाँ एक दूसरे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है। हम लोग 'बीस' को बहुवचन अथवा द्विवचन रूप में ग्रहण नहीं करते हैं। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आखिर बहुवचन की उत्पत्ति कैसे हुई? चीनी भाषा ध्वन्यात्मक-ह्रास से बहुत कुछ सुरक्षित है और इसमें बहुवचन के रूप युक्ति-युक्त ढंग से सम्पन्न होते हैं। एक मनुष्य के लिए चीनी भाषा में गिन (gin) शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण अथवा अनेक अर्थ में यहाँ 'कि आ इ' (kiai) शब्द व्यवहृत होता है। जब इसे 'गिन्' के साथ संयुक्त किया जाता है तो 'गिन् कि आ इ' रूप बनता है जो वस्तुतः मनुष्य का बहुवचन रूप है। बहुवचन बनाने के लिए चीनी में और कई शब्दों का प्रयोग होता है। उदाहरणस्वरूप 'अनेक' के लिए चीनी में पेइ (péi) शब्द व्यवहृत होता है। इसीतरह 'अज्ञात' के लिए यहाँ इ' (í) शब्द का प्रयोग होता है। इसके बहुवचन रूप 'अज्ञात लोग' के लिए चीनी में इपेइ' रूप का व्यवहार होता है। बँगला तथा हिन्दी में बहुवचन के निर्माण के लिए क्रमशः डिग् अथवा लोक या लोग शब्द को संज्ञा के साथ संयुक्त करते हैं। किन्तु उन्हें हम व्याकरणिक रूप नहीं कह सकते। 'इ-पेइ' (अज्ञात-लोग) की भाँति ही अंग्रेजी में 'मैन-काइंड' (Man-kind) रूप सिद्ध होता है जो वास्तव में बहुवचन का रूप है। क्रिश्चिन्-डम् (Christen-dom) से क्रिश्चियन लोग से तात्पर्य है और 'क्लर्जी' (Clergy) शब्द वस्तुतः 'क्लेरिसि' (Clerici) का पर्यायवाची है। अंग्रेजी में भी इसप्रकार के बहुवचन के रूप मिलते हैं। तिब्बती भाषा में 'कुन्' (kun) 'सभी' एवं 'च सोग्स' (t'sogs) 'अनेक' को संयुक्त करके बहुवचन के रूप बनते हैं। इसी कार्य के लिये 'नौ' तथा 'सौ' संख्यावाची शब्द भी व्यवहृत होते हैं। इसीप्रकार अन्य सजातीय भाषाओं में भी यह क्रम चलता है। और यहाँ भी जब तक ये शब्द पूर्णतया बोधगम्य एवं जीवित रहते हैं तब तक इन में किसीप्रकार का ध्वन्यात्मक-ह्रास नहीं होता है, किन्तु ज्योंही इनमें किंचित् परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है त्योंही ध्वन्यात्मक-ह्रास की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो जाती है। इसके बाद इन शब्दों के कुछ भाग कृत्रिम अथवा परम्परारूप में अवशिष्ट रह जाते हैं। वास्तव में ये अवशिष्ट भाग ही व्याकरणिक रूप होते हैं।

मुख्यरूप से, ध्वनि ह्रास के कारण ही अयोगात्मक भाषाएँ योगात्मक तथा योगात्मक विभक्ति-प्रत्यय सम्बन्धी भाषाओं में परिणत हो जाती हैं। संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन में किसप्रकार स्वतंत्र शब्द ही धीरे-धीरे अपक्षय को प्राप्त होकर प्रत्यय में परिणत हो गये, यदि मैं इसका विश्लेषण करूँ तो मुझे भय है कि आप ऊब जायेंगे। किन्तु ध्वनि-ह्रास के कारण किसप्रकार व्याकरणिक प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई, इसकी व्याख्या के लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी बहुपरिचित भाषा को दृष्टि में रखकर विचार करें। उदाहरण के लिये मैं फ्रेंच क्रियाविशेषण को लेता हूँ। फ्रेंच भाषा के वैयाकरणों के अनुसार क्रियाविशेषण के निर्माण के लिये 'माँ' (–ment) प्रत्यय का व्यवहार करना चाहिये। यथा, बॉन (bon) 'अच्छा' से 'बॉनमाँ' (bonnement) तथा 'व्राइ' (vrai), 'सच' से 'व्राइमाँ' (vraiment) क्रियाविशेषण रूप सिद्ध होते हैं। लैटिन में इस प्रत्यय का अभाव है। किन्तु लैटिन में 'बोना-मेण्टे' (bona mente) 'पूर्ण विश्वास' का प्रयोग होता है, 'ओविड' (ovid) में हमें 'इन्-सिस्टम् फॉटिमेण्टे' (insistam fortimente) 'मैं मन से जोर दूँगा' अथवा 'मैं जोर देकर कहूँगा' जैसा प्रयोग बराबर मिलता है। इसीप्रकार फ्रेंच में 'j' insisterai fortement' 'मैंने मन से जोर दिया' कहते हैं। मध्यकालीन हस्तलिखित ग्रंथों के शब्दों के आदि में aut, vel, seu, id, est, hoc est, अथवा in alia mente आदि पूर्व प्रत्यय मिलते हैं। इसप्रकार autrement शब्द का निर्माण हुआ जिसका अर्थ अन्यथा होता है। लैटिन के विकास अथवा लैटिन से फ्रेंच में परिवर्तन होने में यह हुआ है कि 'फार्टि- मेण्टे' (forti mente) वाक्यांश में, अन्त के शब्द 'मेण्टे' (mente) की स्वतंत्र अथवा पृथक् सत्ता नहीं रह गई और तब इसके उच्चारण में भी परिवर्तन हो गया। वास्तव में 'मेन्स' (mens = मनस्) से पंचमी का रूप 'मेण्टे' (mente) सिद्ध हुआ और यही फ्रेंच में 'माँ' (ment) बनकर अव्यय-प्रत्यय रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसप्रकार 'मेण्टे' (mente) 'मनसे' का मूल अर्थ ही लुप्त हो गया। अब जब हम फ्रेंच में कहते हैं कि हथौड़ा ('lourdement') 'लोर्दे माँ', जोर से गिरता है तो हमें इस बात का आभास तक नहीं होता कि लोहे के टुकड़े पर हम 'भारी मन' (heavy mind) का आरोप करते हैं। इटालियन भाषा के 'Chiaramente' में, यद्यपि अव्यय-प्रत्यय 'मेण्टे' (mente) स्वतंत्र शब्द नहीं माना जाता, किन्तु अभी तक यहाँ ध्वन्यात्मक

ह्रास नहीं हुआ है। स्पैनिश भाषा में तो कभी-कभी स्वतंत्र शब्द के रूप में भी इसका व्यवहार होता है किन्तु वहाँ भी इसका स्वतंत्र अर्थ सुरक्षित नहीं रह पाया है। इसप्रकार स्पैनिश में 'Claramente, concisamente y elegantemente की अपेक्षा 'clara, concisa y elegante mente' कहना अधिक मुहावरेदार माना जाता है।

ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण भाषा का सम्पूर्ण धरातल कितना परिवर्तित हो सकता है, इसका अन्दाज़ा लगाना भी कठिन है। विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता ह कि फ्रेंच "vingt' में वही तत्त्व हैं जो deux तथा dix में और फ्रेंच 'douze' 'बारह' का f तीय भाग लैटिन 'duodecim' के 'decim' में वर्तमान है। वस्तुतः 'tente' का अन्तिम'—ente' मूलतः लैटिन 'trigenta' में उपलब्ध 'ginta' से आया है। पुनः इस 'ginta' की उत्पत्ति भी संस्कृत 'दश' या 'दशत्' से हुई है। इन परिवर्तनों को दृष्टि में रखकर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर यह ध्वनि-सम्बन्धी रोग कब उत्पन्न हुआ होगा? इसीप्रकार फ्रेंच 'vingt', स्पैनिश 'veinte' एवं इटालियन 'venti' रूपों से ज्ञात होता है कि यह लैटिन 'viginti' से आया है। अतः लैटिन 'viginti', ग्रीक 'eikati' एवं संस्कृत 'vinśati' (विंशति) रूप इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि ये सभी रूप किसी पूर्व भाषा से उद्भूत हुए हैं जिसमें 'viginti' के पहले 'dvi-genti' रूप उपलब्ध होगा और उसके भी पूर्व चीनी 'एउल-शी' (eul-shi) की भाँति कोई सामासिक शब्द होगा, जिसके प्रतिनिधि रूप दोनों पद आज आर्य-भाषा में 'द्वि' तथा 'दशति' रूप में वर्तमान हैं। सच बात तो यह है कि यह ध्वन्यात्मक परिवर्तन इतना अधिक सांघातिक है कि कभी-कभी तो यह शब्द के सम्पूर्ण शरीर को ही खा डालता है और अवशिष्ट रूप में कुछ भी नहीं बच पाता। संस्कृत का 'स्वसर्', (बहन) शब्द पहलवी एवं ओसेटिक में 'चो' (cho) हो जाता है। अँग्रेजी डॉटर (daughter), संस्कृत दुहितर् का रूप बोहेमिया की भाषा में dci (उच्चारण त्सि=tsi) हो जाता है। इस बात में किसे विश्वास होगा कि 'tear' तथा 'larme' का स्रोत एक है, meme वास्तव में Semetipsissimus है तथा aujourd' hui में लैटिन शब्द dies 'दुगुना, वर्तमान है। भला इसे कौन पहचान सकेगा कि लैटिन 'pater' आर्मेनियन का hayr है; फिर भी हमें pe're एवं pater को एक समझने में देर नहीं लगती और चूँकि आर्मेनियन में

आदि की ह् (h) ध्वनि, मूल प् (p) ध्वनि का प्रतिनिधि है, [यथा, het=pes, pedis; hing=ग्रीक pente 'पाँच; hour=ग्रीक pyr (=fire) 'अग्नि]' अतएव hayr वास्तव में 'pater' का ही प्रतिरूप है।

## बोलियाँ

बोली पुनरुज्जीवन (Dialect Regeneration) का भाषा के विकास पर जो प्रभाव पड़ता है, अब हमें उसके सम्बन्ध में विचार करना है। किन्तु इसके पूर्व हमें यह बात स्पष्टतया समझ लेनी है कि बोली से क्या तात्पर्य है?

हम यह देख चुके हैं कि भाषा का वस्तुतः कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। भाषा मनुष्य में ही स्थित है, बोलचाल में ही उसका अस्तित्व है, प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ ही इसकी मृत्यु हो जाती है और इसके बाद हमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता। यह केवल संयोग की ही बात है कि भाषा को लिखित रूप भी दिया जाता है और यह लिखित साहित्य का वाहन भी बन जाती है। आज भी ऐसी अनेक भाषाएँ वर्तमान हैं जिनमें कुछ भी साहित्य नहीं है। मध्यएशिया, अफ्रीका, अमेरिका एवं पोलेनिशिया की अनेक जातियों में आज भी भाषा अपने प्राकृतिक एवं निरन्तर जीवन्त रूप में वर्तमान है। यदि हम मानव भाषा के साहित्यिक रूप की पूर्वावस्था के विकास का दर्शन करना चाहते हैं तो हमें इन भाषाओं को देखना चाहिये। जिन्हें हम भाषा के नाम से अभिहित करते हैं वे वास्तव में प्राकृतिक नहीं अपितु कृत्रिम होती हैं, इस तरह ग्रीस, रोम, भारत, इटली, फ्रान्स एवं स्पेन की साहित्यिक भाषाओं का रूप कृत्रिम है। भाषा का वास्तविक एवं प्राकृतिक जीवन उसकी बोलियों में सन्निहित रहता है और साहित्यिक भाषाओं के अत्यधिक दबाव के बावजूद भी वह दिन अभी बहुत दूर है जब इटालियन एवं फ्रेंच भाषाओं की बोलियाँ पूर्णतया उच्छिन्न हो जायेंगी। इटालियन भाषा की बीस बोलियाँ अभी हाल में ही लिखित रूप में आई हैं। पहले फ्रेंच की चार बोलियाँ स्वीकृत थीं। ये थीं—'नार्मन' 'पिकार्ड' 'बरगंडियन' तथा 'इले द फ्रान्स'। किन्तु शापोलियो के अनुसार इनकी संख्या चौदह थी। इटालियन रिवियरा के आसपास प्रत्येक खाड़ी में उनकी स्वतः की एक एक बोली प्रचलित है। नार्वे की प्रत्येक घाटी में नार्स भाषा के अलग-अलग रूपों का व्यवहार होता है। कतिपय लोगों के अनुसार आधुनिक ग्रीक की बोलियों की संख्या सत्तर है और यद्यपि इनमें से कुछ तो आंचलिक हैं किन्तु 'ताकोनिक' (tzaconic) जैसी कुछ अन्य बोलियाँ भी

हैं जिनका साहित्यिक भाषा से उतना ही अन्तर है जितना 'डोरिक' का 'ऐटिक' से। लेस्वास् द्वीप के अनेक गाँवों में जो एक दूसरे से बहुत दूर पर स्थित नहीं हैं, [यहाँ एक गाँव से दूसरे गाँव में केवल तीन घंटे में ही पहुँचा जा सकता है] विचित्र शब्दों का प्रयोग प्रचलित है। इन शब्दों के उच्चारण में भी कम विचित्रता नहीं होती।

अब मुझे बोलियों के विकास को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण रूप में एक ऐसी भाषा लेनी है जिसमें थोड़ा-बहुत साहित्य तो है किन्तु जो इटालियन एवं फ्रेंच की भाँति समृद्ध नहीं है। यह भाषा फ्रिजियन (Friesian) है जो उत्तरी-पश्चिमी जर्मनी के तट पर एक सीमित क्षेत्र में शेल्ट (Scheldt) एवं जटलैंड के बीच तथा उसके समीपवर्ती द्वीपों में, लगभग दो हजार वर्षों से बोली जाती है। इसमें बारहवीं शती के साहित्यिक नमूने एवं कागज-पत्र उपलब्ध हैं। यह भाषा अनेक आंचलिक बोलियों के रूप में विखंडित है। मैं कोहल के यात्रा-विवरण से यहाँ प्रमाण उपस्थित कर रहा हूँ। कोहल लिखता है—अनेक साधारण वस्तुओं के नाम प्रायः समस्त यूरप में एक ही है किन्तु इस प्रदेश के विभिन्न द्वीपों में इनके भी नाम भिन्न-भिन्न हैं। इसप्रकार अम्रुम में father 'पिता' को 'आज' (aatj), हैलिग (Halligs) में 'बाबा' या बावे (baba or babe), सिल्ट (Sylt) में 'फॉडर' (foder) अथवा 'वार' (vaar), मुख्य देश के अनेक जिलों में 'टाटे' (tate), फोहर के पूर्वीभाग में 'ओटि' (oti) अथवा 'ओहित' (ohitj) कहते हैं। यद्यपि इन बोलियों के बोलने वालों के निवास-स्थानों में कुछ ही मीलों का अन्तर है तथापि इनके शब्दों में इटालियन के 'पाद्रे' (padre) तथा अंग्रेजी के 'फॉदर' (father) से भी अधिक अंतर है। यही नहीं, इनके जिलों एवं द्वीपों के नाम भी विभिन्न बोलियों में भिन्न-भिन्न हैं। 'सिल्ट' द्वीप का नाम तक एक बोली में सोल दूसरी में सोएल तथा तीसरी में साल है। इनमें से प्रत्येक बोली यद्यपि फ्रिजियन विद्वानों के लिये बोधगम्य है तथापि उनके एवं प्रत्येक बोली के क्षेत्र के कृषकों के अतिरिक्त इन्हें अन्य कोई व्यक्ति समझ नहीं पाता। जिसे हम फ्रिजियन भाषा तथा फ्रिजियन भाषा का व्याकरण कहते हैं वह वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण बोली एवं उसका व्याकरण है। यही बात इसकी तथाकथित साहित्यिक भाषाओं के सम्बन्ध में भी है।

क्लाउस ग्रॉथ लिखता है—"श्लेस्विग प्रदेश में हुसुम एवं टान्डर्न के बीच फ्रिजियन भाषा का जो द्वीप है, वह भाषा के इतिहास में एक

पहेली है जिसके सम्बन्ध में अभी तक पर्याप्त रूप में विचार नहीं हुआ है। यहाँ एक यह भी प्रश्न है कि केवल बेल्जियम तथा जटलैण्ड के दो छोरों में ही फ्रिजियन भाषा मातृभाषा रूप में आज भी क्यों सुरक्षित है? और क्यों ओल्डेनबुर्ग के ओस्ट फ्रिजियन लोग वेस्टफिलिया के लोगों की भाँति ही प्लाटडायशे (platt-Deutsch) बोलते हैं? कर्क हिन- रिख स्टुरेमबर्ग (Cirk Hinrich Stüremburg) कृत "ऑस्ट फ्रिजियन कोष" फ्रिजियन भाषा का वैसा ही प्रतिनिधि कोष है जैसा ब्रिमेन (Bremen) कृत इस भाषा का कोष। इस बात का कौन स्पष्टीकरण कर सकेगा कि जब तक समस्त तटवर्ती भूमि समुद्र में डुबा न दी जाय तब तक क्यों हुसुम के पीछे स्थित विस्तृत प्रदेश में यदि कोई यात्री जाय तो चाहे वह उच्च या निम्न जर्मन बोले लोग उसे शुद्ध जर्मन में उत्तर देंगे किन्तु आतिथेय एवं उसके नौकर को वह परस्पर ऐसी भाषा बोलते हुए पायेगा जो उसे सर्वथा विचित्र मालूम होगी? इसीप्रकार यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं कि विडेउ (Viede-au) की उत्तरोसीमा पर फ्रिजियन के स्थान पर डैनिश भाषा क्यों बोली जाती है? इस बात की भी व्याख्या कौन कर सकता है कि किस पद्धति से यह भाषा यहीं तक चालू है और इसके आगे उसका प्रसार रुक गया है? इसके साथ ही यह भी प्रश्न है कि क्यों नहीं इस बोली के बोलनेवाले केवल कुछ हजार लोग इसका परित्याग कर निम्न तथा उच्च जर्मन अथवा निम्न जर्मन एवं डैनिश भाषा को अपना लिये क्योंकि अन्ततोगत्वा उन्हें स्कूलों में यही भाषाएँ पढ़नी पड़ती हैं? चारों ओर विकीर्ण फ्रिजियन घरों के बीच इधर कभी-कभी एक निम्न जर्मन भाषी घर भी मिल जाता है और इसके विपरीत निम्न जर्मनभाषी अनेक घरों के बीच एक फ्रिजियन घर भी मिल जाता है और यह बात पीढ़ी-दर-पीढ़ी से इसीरूप में चली आ रही है। इधर के सैक्सन भाषा-भाषी घरों के लोगों को फ्रिजियन भाषा पढ़ने की जरूरत नहीं महसूस होती क्योंकि पड़ोस के सभी लोग निम्न जर्मन बोल सकते हैं; किन्तु इधर फ्रिजियन घरों में जर्मन तभी बोली जाती है जब कोई जर्मन भाषा-भाषी व्यक्ति आता है। यह विचित्र बात है कि सत्रहवीं शताब्दि से आज तक गाँवों की बात कौन कहे, एक घर पर भी जर्मन भाषा विजय न प्राप्त कर सकी।

यह धारणा ही गलत है कि सर्वत्र बोलियाँ किसी न किसी साहित्यिक भाषा का अपभ्रष्ट रूप होती हैं। इंगलैंड तक में, आंचलिक बोलियों में ऐसे

अनेक रूप वर्तमान हैं जो शेक्सपियर की भाषा से पुराने हैं और इन बोलियों का शब्द-भाण्डार कहीं-कहीं इतना समृद्ध एवं विशाल है कि उसका मुकाबिला कई युगों के क्लासिक के लेखक तक नहीं कर सकते। बोली सदैव साहित्यिक भाषा की नहर की अपेक्षा उसका सहायक एवं पोषक होती है। जो भी हो, विभिन्न बोलियाँ वस्तुतः साहित्यिक भाषाओं की समानान्तर धाराएँ हैं जो अति प्राचीनकाल से प्रवहमान हैं। इन्हीं धाराओं में से कभी-कभी एक धारा साहित्य-रचना के परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती है।

## दो प्रकार की बोलियाँ

ग्रिम्म ने बोलियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सामान्यरूप से कहा है, वह वास्तव में ध्वन्यात्मक अपभ्रष्टता के कारण उत्पन्न दशा में लागू होता है। ग्रिम्म लिखते हैं—"बोलियाँ क्रमशः विकसित होती हैं और जब हम भाषा के प्राचीन-इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो इन बोलियों की संख्या भी कम मिलती है और इनका रूप भी उतना निश्चित नहीं मिलता। वास्तव में, मूल एकता से ही अनेकता प्रादुर्भूत होती है।" ग्रिम्म द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त तभी सत्य प्रतीत होगा जब हम केवल संस्कृत, ग्रीक, लैटिन एवं गॉथिक जैसी साहित्यिक भाषाओं से उपलब्ध सामग्री को ही अपना एकमात्र आधार बनालें। किन्तु साहित्यिक भाषा के रूप में आने के पूर्व ये भाषाएँ क्या थीं? क्या हमें यह बात मान लेनी चाहिए कि पर्वतों एवं जंगलों से विच्छिन्न तथा क्षेत्रफल में लगभग यूरप के बराबर भारत जैसे देश में उस युग में केवल एक ही भाषा प्रचलित थी जब वैदिक ऋषियों ने अपने देवताओं की प्रशंसा में प्रथम वेदमंत्र का गान किया था। क्या साहित्यिक ग्रीक भाषा तक में हमें स्थानीय भाषाओं के रूप उपलब्ध नहीं होते? और जिसे हम क्लासिकल लैटिन कहते हैं क्या वह लैटियम की अनेक बोलियों में से एक वह बोली न थी जिसे रोम के उच्च-वर्ग के लोग बोलते थे? ग्रीक वैयाकरणों में अत्यधिक विचारशील 'मेलहॉर्न' (Mehlhorn) ने ठीक ही कहा है कि ग्रीक की बोलियों को कोइने का अपभ्रंश मानना अवैज्ञानिक है। प्रत्येक जाति का अपना अधिकार होता है और यदि लैसेडामोनिया के लोग 'पार्सेनास्' (parsenos) बोलते हैं तो संक्षिप्तता की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यह 'पार्थेनॉस्' (parthenos) का ही रूप है किन्तु इन दोनों शब्दों का समान अधिकार है और इन्हें सहयोगी वर्ग में

रखना चाहिए। इसीप्रकार ग्रीक 'पेलेथ्रान्' (pelethron) शब्द का वही अधिकार है जो प्लेथ्रान (plethron) का और हम दूसरे को पहले का उसी प्रकार संक्षिप्त रूप कह सकते हैं जिस प्रकार पहले को दूसरा का विकसित रूप। ग्रीक भाषा में कतिपय व्यंजन संयोग अमान्य हैं। ये हैं, 'म्र्' (mr), म्ब् (mb) एवं म्ल् (ml) किन्तु तिङ् प्रत्यय रूप में ens (यथा, टिथेन्स, tithens आदि), आर्गिव एवं क्रेटन बोलियों में मान्य होते हुए भी अन्य ग्रीक बोलियों में अमान्य है। 'ऐटिक' लोगों के लिए 'फिलेओन्सी' (phileonsi) शब्द अति श्रुतिमधुर था किन्तु 'आयोनिक' लोगों के लिए यह बात न थी।

जब कभी हमें किसी साहित्यिक भाषा के विकास के अध्ययन का अवसर मिलता है तब हम यह देखते हैं कि इस रूप के पूर्व वह एक बोली मात्र थी। प्रत्येक साहित्यिक-भाषा अनेक बोलियों में से एक बोली होती है। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि साहित्यिक-भाषा के पद पर आसीन हो जाने पर तुर्की के सुल्तान के भाइयों अथवा क्रीड़ा-सखाओं की भाँति अन्य बोलियों का गला घोंट दिया जाता है। इसके विपरीत ये बोलियाँ भी अपनी पूर्ण शक्ति से जीवित रहती हैं, यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से इनका उतना महत्त्व नहीं रहता। यदि साहित्यिक एवं दरबारी भाषा इन सहयोगिनी बोलियों के सतत संसर्ग से शक्ति नहीं प्राप्त करती तो जनप्रिय भाषा उस पर हावी हो जाती है। साहित्य के इतिहास में संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन जैसी भाषाएँ राजमुकुट के समान हैं किन्तु जिस प्रकार राजनैतिक इतिहास केवल राजवंशों का इतिहास मात्र न होकर उससे कुछ अधिक होना चाहिए उसी प्रकार भाषा के इतिहास के पंडित को उस निम्नस्तर की लोकप्रचलित भाषा को नहीं भूलना चाहिए जिनसे ये राजवंशी भाषाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं तथा जिनके सहारे ये चल रही हैं।

## बोली वास्तव में भाषा की प्राकृत अवस्था है

यहाँ एक कठिनाई है और वह यह है कि इन प्रागैतिहासिक बोलियों का अस्तित्व कैसे सिद्ध किया जाय? हम लोग आरम्भ में ही यह सिद्ध कर सकते हैं और यह तर्कसंगत भी है कि एक समान साहित्यिक-भाषा के पूर्व बोलियाँ अवश्य रही होंगी। आरम्भ में भाषा का अस्तित्व व्यक्तियों, वंशों, कबीलों एवं जातियों में था और यद्यपि भाषा को स्वयं समझने तथा दूसरों को समझाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भाषा का अपने पड़ोसी की भाषा से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता था तथापि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग से भाव

व्यक्त करने के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता थी। आज भी कोई व्यक्ति ठीक-ठीक रूप में किसी दूसरे व्यक्ति की भाँति नहीं बोलता। व्यक्तियों, वंशों, नगरों एवं प्रदेशों की उच्चारण-सम्बन्धी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं और मनुष्य के लिए जितने सहजरूप में उसकी भाषा प्रवंचक होती है उतनी कोई अन्य वस्तु नहीं। मैं यह नहीं बता सकता कि बात क्या है किन्तु अपनी जन्मभूमि के शहर देस्साउ (Dessau) से गत पचास वर्षों से अलग होने पर भी जब कोई जर्मन उस नगर से आता है तो मैं उसे तुरन्त पहचान लेता हूँ। प्रत्येक खान्दान में आज भी पिता की भाषा, माता की भाषा तथा बच्चों, विशेषतया छोटे बच्चों की भाषा में अन्तर मिलता है। अतएव, इसप्रकार भाषा की प्रकृति ही बोलियों की विभिन्नता उत्पन्न करती है। प्राचीनकाल में जब भाषाओं का क्षेत्र अति संकुचित था तब इससे इनका सम्पूर्ण धरातल ही परिवर्तित हो जाता था। इन तर्कों से यह तो स्पष्टरूप से सिद्ध ही हो जाता है कि आदि युग में भाषा का अस्तित्व बोलियों के रूप में ही था। किन्तु इतिहास में इस बात का भी पता चलता है कि जिस देश में हम केवल एक भाषा के प्रचलित होने की कल्पना करते थे वहाँ अनेक भाषाएँ प्रचलित थीं।

प्लिनी (pliny) के अनुसार 'कोल्चिज' में तीन सौ से अधिक विभिन्न बोलियों की बोलनेवाली जातियाँ थीं और उनसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए रोमन लोगों को एक सौ तीन दुभाषियों से सहायता लेनी पड़ती थी। सम्भवतः यह उल्लेख अतिशयोक्तिपूर्ण है किन्तु हमें स्ट्रैबो के इस कथन में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है जिसके अनुसार इस प्रदेश में एक साथ सत्तर जातियाँ रहती थीं और यह प्रदेश आज भी "भाषाओं के पर्वत" के नाम से विख्यात है।

इस सम्बन्ध में मिशनरी लोगों ने जो विवरण प्रस्तुत किये हैं, वस्तुतः मुख्यरूप से हमें उन पर निर्भर रहना चाहिए। इन्होंने ऐसी भाषाओं का उल्लेख किया है जो प्राकृत रूप में केवल बोलचाल में व्यवहृत होती थीं, जिनका कोई लिखित रूप न था तथा जिन्हें उन्होंने साहित्यिक भाषा के रूप में परिणत होते हुए देखा था। मैंने इस सम्बन्ध में श्री डब्ल्यू० गिल से भी पूछा था। आप ने अपना समस्त जीवन ऐसी जातियों के बीच व्यतीत किया है जो केवल बोलियों का ही व्यवहार करती हैं। मैंने श्री गिल से भाषा-सम्बन्धी उन परिवर्तनों के विषय में भी पूछा था जो उनके सामने हो रहे थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह नीचे दिया जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि इस विषय में इस भाषण में जो कुछ कहा गया है, उसका श्री गिल की बातों से समर्थन हो जाता है। आप लिखते हैं :—

जब कोई सरदार या पुरोहित कोई नया शब्द अथवा वाक्य उच्चरित करता है तो लोग उसे तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं तथा उसमें यह जोड़कर इस रूप में चालू कर देते हैं कि अमुक व्यक्ति का यह कथन है। कालान्तर में लोग व्यक्तियों का नाम भूल जाते हैं, तब उनके द्वारा उच्चरित शब्द एवं वाक्य भाषा में सम्मिलित कर लिये जाते हैं। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है। अशुद्ध उच्चारण तथा दन्तविहीन सम्मानित वृद्ध लोगों के अपूर्ण उच्चारण के कारण भी भाषा में परिवर्तन हो जाता है। प्राचीन काल में जन-साधारण से अपनी भविष्यवाणी को गोपनीय रखने की पुरोहितों की इच्छा भी भाषा के परिवर्तन का एक कारण थी। मूल निवासियों के इधर-उधर स्थान-परिवर्तन से भी भाषा में प्रायः परिवर्तन आ जाता था। जब मैंगाइ (Mangai) द्वीप में आदिवासियों की कोई नाव भटकती हुई आ जाती तो वहाँ के निवासियों की भाषा पर इस घटना का स्थायी प्रभाव पड़ता है। प्राचीन गीतों को अनूदित करते समय कभी-कभी यह देखा जाता है कि जो शब्द स्थानीय भाषा से पूर्णतया लुप्त हो चुके हैं, वे पड़ोस की सहयोगी भाषाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। जब मैं एलिस द्वीप के लोगों से मिला जो निश्चितरूप से समोयन लोगों के वंशज हैं, तो मुझे इस बात का अनुभव हुआ कि उनकी बोली का समोयन परिवार की अपेक्षा हर्वे परिवार की बोलियों से अधिक निकट का सम्बन्ध है। इसके कई कारण हैं जिनमें कबीलों के पारस्परिक युद्ध, अत्यधिक पूजा पद्धति, उनके सरदारों की महत्त्वाकांक्षा जिसकी प्रेरणा से बड़ी सभाओं में एकत्र होकर एक व्यक्ति दूसरे के विरुद्ध भाषण करने के लिए उत्तेजित किया जाता है, मुख्य हैं। इन कारणों से मूलभाषा का परिमार्जन होता है जिसके कारण उसमें परिवर्तन आ जाता है। छोटे कबीलों में इसप्रकार के कारणों का अभाव सा रहता है अतएव उनकी भाषा में परिवर्तन की गति भी मन्द पड़ जाती है। उदाहरण के लिए हम सैक्सन भाषा को ले सकते हैं जिसमें प्राचीन ढंग से बहुवचन बनाने की प्रक्रिया आज भी यहाँ के गाँवों में प्रचलित है। "अपनी पुस्तक 'भाषाविज्ञान' (सायंस आव लैंग्वेज) में आपने निरक्षर जातियों की बोलियों में शीघ्रता से परिवर्तन होने का जो उल्लेख किया है उसका समर्थन पूर्वी पोलेनिशिया के ताहिति की बोलियों के परिवर्तन से हो जाता है। वर्तमान शताब्दि के आरम्भ में यहाँ जो बोली बोली जाती थी

वह आज की बोली से अनेक अंशों में भिन्न थी। इधर के अनेक छोटे-छोटे द्वीपों का नामकरण ताहिती के शिक्षकों ने किया है किन्तु इन द्वीपों की मूल बोलियाँ समाप्त हो गई हैं। एलिस परिवार की मूल बोलियों पर समोयन बोली हावी हो रही है। यही हाल अन्य अनेक द्वीपों की बोलियों का भी है। यहाँ रारोटोंगा से शिक्षक पहुँच गये हैं। यदि यहाँ की जातियाँ भविष्य में एक शताब्दि तक और बची रहीं तो लोग देखेंगे कि इधर कोई भी मूल बोली को बोलने वाला नहीं रह गया है। भविष्य में इधर की वही बोलियाँ जीवित रह पायेंगी जिनमें बाइबिल का अनुवाद हुआ है। इसी कारण मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि महान् पॉलेनिशियन परिवार की ज्ञात बोलियों के शब्दों का मैं विज्ञान (भाषा-विज्ञान) के लिए सावधानी से संग्रह कर लूँ।"

मैंगाई के इन्हीं भले मिशनरी लोगों से मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि जिस समय ये लोग इस द्वीप में पहुँचे थे, उस समय वहाँ अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित थीं किन्तु जब इन लोगों ने बाइबिल के अनुवाद एवं स्कूली शिक्षा के लिए इनमें से एक बोली को स्वीकार कर लिया तो आगे चलकर वही बोली उस द्वीप की स्वीकृत भाषा बन गई।

रोजर विलियम्स कृत "अमेरिका की भाषा" (Into the Language of America) नामक पुस्तक की भूमिका के पृष्ठ ७ पर श्री ट्रम्बुल (Trumbull) लिखते हैं—रोजर विलियम्स की कृति इसलिए भी महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान है कि नैरेगन्सेट्स (Narragansetts) लोगों की बोली में अंग्रेजी के सम्पर्क में आने के कारण जो परिवर्तन हुए थे एवं मैसाचुसेट्स की बोली में इलियट तथा अन्य लोगों के अनुवादों का जो प्रभाव पड़ा था, उसके पूर्व इसका संकलन एवं सम्पादन हुआ था। सभी अलिखित भाषाओं में इसप्रकार के परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं और अमेरिका की इंडियन भाषाओं की तो बनावट ही ऐसी थी कि उनमें विशेषरूप से परिवर्तन हुए। इसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुंजायश नहीं है कि इंडियन बाइबिल के प्रकाशन से न्यूइंगलैण्ड की भाषा में परिवर्तन हुए थे, यद्यपि हमारे पास यह सिद्ध करने के साधन नहीं हैं कि परिवर्तन की धारा का वेग नैरेगट्सेन्स लोगों की बोली तक पहुँचा था अथवा नहीं। मार्थी के अंगूर क्षेत्र से, सन् १७२२ ई० में इधर की भाषाओं एवं बोलियों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए श्री मेह्यु (Mayhew) लिखते हैं कि उस

द्वीप तथा नैटिक की भाषा बहुत कुछ मिलती-जुलती है किन्तु अपने विवरण में आप आगे चलकर यह भी जोड़ देते हैं कि इलियट के बाइबिल एवं अन्य अनुवादों के पूर्व इन भाषाओं एवं बोलियों में, आज की अपेक्षा कहीं अधिक अन्तर था। इन अनुवादों के बाद से इनमें जो कुछ अन्तर था वह समाप्त हो गया और इंडियन लोगों की लिखने और बोलने की भाषा वही हो गई जो नैटिक लोगों की थी।

गैब्रियल सागर्द (Gabriel Sagard) सन् १६२६ ई० में 'हुरान' लोगों के देश में मिशनरी के रूप में गया था। उसने हुरान लोगों के देश का विस्तृत विवरण अपनी पुस्तक "ग्रांद् व्यायज दु पेइ दे हुरान" (=Grand Voyage du pays des Hurons) का सन् १६३१ में पैरिस में प्रकाशन किया था। अपने यात्रा-विवरण में वह लिखता है—'मुश्किल से उत्तरी अमेरिका के दो गाँवों की भाषा एक हैं। यही नहीं, कभी-कभी तो एक ही गाँव के दो खान्दानों के लोग तक ठीक-ठीक एक ही भाषा नहीं बोलते।' वह पुनः लिखता है—एक बात जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, यह है कि प्रतिदिन यहाँ की भाषा परिवर्तित हो रही है और यह परिवर्तन इतनी अधिक मात्रा में हो चुका है कि प्राचीन हुरान भाषा आज की भाषा से सर्वथा भिन्न हो गई है। इसके विपरीत गत दो सौ वर्षों से 'हुरान' तथा 'इरोकीय' लोगों की बोलियों में बिल्कुल परिवर्तन नहीं हुआ है। हम लोगों को यह वृत्तान्त ज्ञात है कि मध्य अमेरिका में मिशनरियों ने जंगली लोगों की बोलियों को लिपि बद्ध करने का प्रयत्न किया था तथा उन्हें जो शब्द उपलब्ध हुए थे उन्हें अत्यन्त सावधानी से कोश रूप में संकलित कर लिया था। दस वर्षों के बाद जब ये लोग पुनः यहाँ गये तो उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि उनका कोश पुराना एवं सर्वथा अनुपयोगी हो चुका है; इस भाषा के पुराने शब्द पाताल जा चुके हैं और नये शब्द ऊपर के धरातल पर आ गये हैं एवं बाह्यरूप में भाषा पूर्णतया परिवर्तित हो गई है।

जेसुइट मिशनरियों को इस बात से अत्यधिक आश्चर्य हुआ था कि अमेरिका के आदिवासी अनेक भाषाएँ बोलते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये लोग सभ्यता के उच्च शिखर पर थे। इससे केवल इतना ही पता चलता है कि राजनैतिक दृष्टि से ये लोग कभी भी किसी केन्द्रीय शक्ति के अधीन न रहे और इसीलिए ये लोग कभी भी राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना में सफल

न हो सके। हर्वास् (Hervas) ने अमेरिका की बोलियों को ग्यारह परिवारों में वर्गीकृत किया है। इनमें से चार परिवार दक्षिण के तथा सात उत्तर के हैं। किन्तु वर्गीकरण का यह कार्य उसी प्रकार सावधानी एवं तुलनात्मक अध्ययन के बाद सम्पन्न हुआ है जिस प्रकार के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया था कि आइसलैंड एवं सीलोन की भाषाएँ एक ही परिवार की हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अमेरिका की बोलियाँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तथा एक बोली दूसरी बोली बोलने वालों के लिए अबोधगम्य है।

अधुनातम एवं परम योग्य निरीक्षक डा० ब्रिन्टन ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। अपनी पुस्तक "नूतन संसार की कथा" (Myths of the New World) के पृष्ठ ८ में आप लिखते हैं--"अमेरिका-के इंडियन लोगों की भाषा में अत्यधिक शैथिल्य है। पुरुष एवं स्त्री के लिए एक ही वस्तु को दो विभिन्न नामों से पुकारना तो साधारण बात है। इसीप्रकार उच्च एवं नीच, पुरोहित एवं जनसाधारण, वृद्ध एवं युवा तथा विवाहित एवं अविवाहित लोगों की उच्चारण शैली में भी यहाँ विभिन्नता है। परिवारों एवं गाँवों के लोग यहाँ कौतूहल अथवा अन्धविश्वास के कारण शब्दों को बहिष्कृत कर देते हैं और उनके स्थान पर नवीन शब्द गढ़ लेते हैं। यहाँ केवल कतिपय वर्षों के अनन्तर ही बोलियों में उल्लेखनीय अन्तर आ जाता है। श्री 'लेलैण्ड' ने 'मेन' के जंगलों एवं झीलों के बीच अनेक वर्ष व्यतीत किये हैं। आपने भी ऊपर के विवरण का ही समर्थन किया है। आप लिखते हैं--"जब बूढ़े लोग आपस में बातें करते हैं तो युवा लोग उनके कथनों को केवल आधा ही समझ पाते हैं। यहाँ की पुरानी बोली में बड़े-बड़े नाम मिलते हैं किन्तु बाद की पीढ़ी के लोग उसे संक्षिप्त बना देते हैं। पुराने 'पस्समकोडी' (Passamaquoddy) इंडियन "हाँ" के लिए "छेव-डेच्-लोह्" (Chew-dech-a-loh) कहते हैं किन्तु उनके पुत्र इसके लिए 'अहऽ' (A-ha) कहते हैं।

जहाँ कहीं भी योग्य व्यक्तियों ने बोलियों का अध्ययन किया है, वे सभी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। यदि हम बर्मा की ओर अपनी दृष्टि दौड़ावें तो हमें ज्ञात होगा कि बर्मी भाषा में पर्याप्त मात्रा में साहित्य है और यह भाषा केवल बर्मा में ही विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम नहीं है अपितु इसीरूप में यह पेगू एवं अराकान में भी प्रचलित है। किन्तु इरावदी प्राय-

द्वीप की विकट पर्वत-मालाओं में अनेक ऐसी स्वतंत्र जातियाँ बसी हुई हैं जिनकी बोलियाँ भी एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। केवल मनीपुर के पड़ोस में ही कैप्टन गार्डन ने बारह स्वतंत्र बोलियों का पता लगाया था। वे लिखते हैं—"इनमें से कतिपय बोलियों का व्यवहार तो केवल तीस से चालीस परिवारों तक ही सीमित है। किन्तु पारस्परिक बोधगम्यता की दृष्टि से ये बोलियाँ एक दूसरे से इतनी दूर हैं कि निकट पड़ोसी भी इन्हें नहीं समझ पाते।" अमेरिका के प्रसिद्ध मिशनरी ब्राउन ने अपना सम्पूर्ण जीवन इस प्रदेश में बाइबिल के प्रचार में व्यतीत किया था। वह लिखता है—"जब कतिपय कबीलों के लोग अपना अभिजन छोड़कर किसी अन्य पर्वतीय घाटीमें जा बसते हैं तो वे केवल दो-तीन पुश्तों में ही अपनी मातृभाषा पूर्णतया भूल जाते हैं।

मेसर श्मिट (Messer Schmidt) के उल्लेखानुसार एशिया के उतर के ओस्टिए लोग यद्यपि सर्वत्र एक ही भाषा बोलते हैं तथापि प्रत्येक कबीले की बोली में इतने विचित्र नये शब्द एवं शब्दरूप मिलते हैं कि बारह या बीस जर्मन मीलों की दूरी के भीतर ही इनमें पारस्परिक बोधगम्यता का अभाव मिलने लगता है। कास्ट्रेन (Castren) ने उत्तरी एवं मध्यएशिया को बोलियों की खोज में अपने दुस्साहस का परिचय दिया है। वह लिखता है—"मंगोलिया की कतिपय बोलियाँ वास्तव में अपने व्याकरणिक जीवन की नई अवस्था में प्रविष्ट हो रही हैं और यद्यपि मंगोलिया की साहित्यिक भाषा में पुरुष के अनुसार क्रिया के प्रत्ययों में परिवर्तन नहीं होता है तथापि तूरानी भाषा की यह विशेषता अभी हाल से ही बुरियत (Buriat) एवं साइबेरिया स्थित नेरसिंक्स (Njertschinsk) की तुंगुज बोलियों में दृष्टिगोचर होने लगी है।

इसप्रकार का एक उल्लेख राबर्ट मोफ्फात (Robert Moffat) कृत 'मिश्नरी सीन्स एंड लेबर्स् इन् सद्रन् अफ्रिका' में मिलता है। वह लिखता है—"भाषा की शुद्धता एवं एकरूपता सभाओं, त्योहारों, समारोहों, गीतों एवं निरन्तर सम्पर्कों द्वारा अक्षुण्ण रखी जाती है। यह बात एकान्तिक गाँवों के निवासियों के सम्बन्ध में नहीं है। उन्हें इसप्रकार के समारोहों का अवसर नहीं मिलता। उन्हें अपने गाँवों के बाहर जाने पर अनेक जंगलों को पार करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर माँ-बाप एवं अन्य सशक्त लोग अपने बाल-

बच्चों का भार कतिपय बड़े बूढ़े एवं अशक्त लोगों को सौंपकर कई सप्ताहों के लिये बाहर चले जाते हैं। छोटे बच्चे जिनमें से कुछ तुतला कर बोलते हैं, कुछ एक-आध वाक्य बोल लेते हैं तथा कुछ अधिक अवस्था वाले होते हैं, एक साथ खेलते-कूदते हैं और इस तरह वे अपनी भाषा से अभ्यस्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से अबाधित भाषा कुछ नियंत्रित तो हो जाती है किन्तु इसमें अनेक संकर शब्द एवं वाक्यांश समाविष्ट हो जाते हैं। इन शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध किन्हीं व्याकरणीय नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होता और इसका यह परिणाम होता है कि केवल एक पीढ़ी में ही भाषा की पूरी प्रकृति ही बदल जाती है।

## बोलियों की समृद्धि

प्रकृति में ऐसा है भाषा का जीवन; और इसीतरह हम यह भी कह सकते हैं कि भाषाएँ विकसित होती हैं किन्तु यह बात हमें उस समय ज्ञात होती हैं जब भाषा साहित्य के नाग-पाश में आबद्ध हो जाती है। इस साहित्य का भी अनेक बोलियों में से किसी एक बोली को प्राथमिकता देने के कारण लिखित अथवा क्लासिक रूप में होना आवश्यक नहीं है। भाषण, सार्वजनिक सभाएँ, लोकप्रिय गाथाएँ, राष्ट्रीय-विधान, धार्मिक मार्गदर्शन भी कुछ सीमा के भीतर साहित्य की भाँति ही प्रभाव डालते हैं। ये भाषा को उसकी अनेक बोलियों में प्राकृतिकरूप में प्रवहमान होने से रोकते हैं तथा किसी एक बोली को स्थायित्व प्रदान करते हैं जो इनके बाह्य प्रवाह के बिना सम्भव न था। मैं यहाँ इस समय भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार नहीं करूँगा, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि चाहे भाषा की उत्पत्ति जैसे भी हुई हो, आरम्भ में इसकी प्रकृति अनेक रूपता की ओर रही होगी। इसका प्राकृतिक प्रतिबन्ध भी था जिसने प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय अथवा साहित्यिक भाषाओं के विकास के मार्ग को प्रशस्त किया था। पिता की भाषा ही पूरे परिवार की भाषा बन जाती थी और यही कबीले की भाषा हो जाती थी। एक ही कबीले के विभिन्न परिवार के लोग आपसी व्यवहार में अपने विशेष शब्दों एवं शब्द-रूपों का प्रयोग करते थे। समय की प्रगति से ऐसे शब्दों एवं शब्दरूपों की संख्या भी बढ़ती जाती थी। ये शब्द कबीले के अन्य लोगों के लिए बोधगम्य न थे। जब कबीले के सभी लोग किसी एक स्थान में एकत्र होते थे तो ऐसे

शब्दों का प्रयोग नहीं होता था; किन्तु जब ये लोग अपने खेमों में, अलाव के आस-पास बैठते थे तो विभिन्न परिवारों के लोग आपसी बातचीत में इन शब्दों का व्यवहार करते थे क्योंकि कबीले की भाषा का एक सामान्यरूप निर्धारित हो गया था। इसीप्रकार विभिन्न वर्गों की बोलियाँ अस्तित्व में आईं और नौकरों, सईसों, चरवाहों एवं सैनिकों की बोलियाँ प्रादुर्भूत हुईं। स्त्रियों के घरेलू शब्द अलग थे और युवकों की भाषा भी इस दौड़ में पीछे न रह सकी। आज के साहित्यिक-युग में हम लोग तक भी जो मूल भाषा के पिताओं से हजारों वर्ष बाद के हैं, सभाओं में उसी भाषा का व्यवहार नहीं करते हैं जिसका अपने घरों में प्रयोग करते हैं।

बोलियों के अमित साधन-स्रोत का अन्दाज़ा लगाना कठिन है। जब भाषा रूढ़िबद्ध हो जाती है तब बोलियाँ उसे नये अर्थवाले शब्द प्रदान करती हैं। जब समाज की प्रगति के साथ-साथ नये विचारों के द्योतन के लिए शब्दों की आवश्यकता होती है तब बोलियाँ अपने भाण्डार के अतिरिक्त शब्दों से उनकी सहायता करती हैं। केवल स्थानीय एवं प्रादेशिक बोलियाँ ही नहीं होतीं अपितु विभिन्न वर्गों की बोलियाँ भी होती हैं। चरवाहों, खिलाड़ियों, सैनिकों एवं कृषकों की अपनी-अपनी बोलियाँ होती हैं। जब इनके शब्द साहित्यिकभाषा में आते हैं तब बहुत कम ऐसे नागरिक होते हैं जो इनके अर्थ को ठीक-ठीक बता सकें। विभिन्न प्रकार के पशुओं के बच्चों के लिए कभी-कभी साहित्यिकभाषा में केवल दो-तीन शब्द ही मिलते हैं किन्तु बोलियों में इनके लिये अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं।

जैसा कि ग्रिम्म ने कहा है कि घुमन्तू जातियों की भाषा में तलवार, हथियार तथा उनके पशुओं के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को द्योतित करने के लिए अनेक भावव्यंजक शब्द एवं मुहावरे होते हैं। अत्यन्त सुसंस्कृत भाषा में तो ये शब्द भार-स्वरूप एवं अनावश्यक से हो जाते हैं। जिसप्रकार खिलाड़ियों को अपने सदस्यों के पदक्षेप की विशेषताओं के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारने में आनन्द आता है उसीप्रकार कृषकों के मुख से पशुओं के गाभिन होने, उनके बच्चे जनने, उनके गिरने एवं बध करने के सम्बन्ध में अनेक शब्द सुनने को मिलते हैं। जब स्वच्छन्द वायु में विचरण करने वाले चरवाहों की आँखें बहुत दूर की वस्तुओं को देख लेती हैं तथा उनके कान दूर के शब्द सुन लेते हैं तब उनकी भाषा में जीवन्त सत्य एवं वैविध्य क्यों न हो ?

सोपवेल (Sop well) मठ की अध्यक्षा जुलियाना वर्नर्स (Juliana Berners) ने अपनी १५वीं शताब्दि की प्रसिद्ध पुस्तक 'बुक आव सेंट अल- बान्स' में यह बहुत सुन्दर ढंग से दिखाया है कि बहुसंख्या को द्योतित करने के लिए स्वेच्छा से काम न लेकर विभिन्न संज्ञा-शब्दों के साथ विभिन्न विशेषपदों का योग करना चाहिए। उदाहरणार्थ 'मनुष्य की भीड़' के लिए अंग्रेजी शब्द 'पिपुल्' (people) के साथ हमें "Congregacyon" शब्द का व्यवहार करते हुए 'A Congregaecyon of peoole' कहना चाहिए किन्तु 'मेन' (men) के साथ 'हूस्ट' (hoost) शब्द का प्रयोग करते हुए 'A hoost of men' कहना चाहिए। इसीप्रकार हमें A felyshyppynge of yomen तथा A bevy of ladyes, A herde of hartys swannys, Cranys अथवा Wrennys, A sege of herons अथवा bytourys, A muster of pecockys, A watche of nyghtyngalys एवं A flyghte of doves आदि कहना चाहिए।

इस भाँति ही भोज्य-सामग्री के रूप में प्रयोग किए जाने वाले विभिन्न पशुओं के मारने के लिए केवल Carved शब्द का ही प्रयोग न करके यह कहना चाहिए कि—

A dere was broken, A gose reryd, chekyn frusshed, A cony unlacyd, A Crane dysplayed, A curlewe unioyntyd, A quayle wynggyd, A swanne lyfte, A lambe sholderyd, A heron dysmembryd, A pecocke dysfygured, A samon Chynyd, A hadoka sydyd, A sole loynyd, और A breme splayed.

## विकास बनाम भाषा का इतिहास

अब हमें भाषा के इतिहास के सम्बन्ध में विचार करना है। सामान्य-रूप में इसे लोग भाषा का इतिहास ही कहते हैं किन्तु वास्तव में इसे भाषा का प्राकृतिक विकास कहना चाहिए। इस विकास में केवल दो ही सिद्धान्त —ध्वन्यात्मक ह्रास तथा बोली सम्बन्धी पुनरुज्जीवन या विकास कार्य करते हैं।

## लैटिन तथा नूतन लैटिन

उदाहरण के लिये हम रोमान्स की छै भाषाओं को ले सकते हैं। लोग साधारणतया इन्हें लैटिन की दुहिता के नाम से अभिहित करते हैं। मुझे भाषाओं को जनक एवं कन्या नाम से सम्बोधित करने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु इन सीधे-सादे शब्दों को प्रयोग करते समय हमें भ्रान्त धारणाओं का शिकार नहीं होना चाहिए। जब हम इटालियन को लैटिन की पुत्री कहते हैं तो हम इसमें कोई नवीन तत्त्व आरोपित नहीं करते हैं क्योंकि इटालियन के निर्माण के लिए किसी नवीन तत्त्व की उद्भावना नहीं की गई है। इटैलियन वस्तुतः नये रूप में लैटिन ही है। इटालियन वास्तव में आधुनिक लैटिन है अथवा लैटिन प्राचीन इटालियन है। भाषा में माता तथा पुत्री का सम्बन्ध उसके विकास की दो अवस्थाओं का द्योतक होता है। यह कथन कि लैटिन सन्तान को जन्म देकर पंचतत्त्व को प्राप्त हो गई, विशुद्ध गल्प है और यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि इ ालियन के पृथक् रूप धारण करने के बहुत बाद तक लैटिन जीवित भाषा थी। यहाँ अब हमें यह देखना है कि लैटिन से हमारा तात्पर्य क्या है ? इटैली के आर्यों द्वारा जो अनेक बोलियाँ बोली जाती थीं, उन्हीं में से लैटिन भी एक है। यह लैटियम की तथा लैटियम रोम की बोली थी और रोम की बोली वहाँ के अभिजात वर्ग की भाषा थी। इसके रूप निर्धारण में लिवियस (Livius), एन्ड्रोनिकस (Andronicus), एनियस (Ennius), नोवियस (Noevius), कैटो (Cato) तथा लुक्रेटियस (Lucretius) का हाथ था तथा इसे सिपियस (scip:os), हॉर्टेन्सियस (Hortensius) एवं सिसेरो (Cicero) ने सुसंस्कृत बनाया था। लैटिन वस्तुतः एक सीमित राजनैतिक एवं साहित्यिक वर्ग के लोगों की भाषा थी। इनके पूर्व रोम की भाषा काफी परिवर्तित हुई होगी। पोलिबियस् (polybius) का कथन है कि प्राचीन काल में रोम तथा कार्थेज में जो सन्धि हुई थी, उसकी भाषा को योग्य व्यक्ति भी कठिनाई से समझ पाते थे। होरेस (Horace) ने यह स्वीकार किया है कि वह प्राचीन सैलियन कविता (Salian poems) को नहीं समझ पाता था और अन्य लोग भी उसे नहीं समझते थे। क्विन्टिलियन (Quintilian) का कहना है कि सैलियन पुरोहित भी पवित्र मंत्रों का अर्थ नहीं समझ पाते थे। यदि अभिजात वर्ग के लोगों की अपेक्षा जनसाधारण के हाथों में शक्ति होती तो लैटिन भाषा का जो रूप हमें सिसेरो में मिलता है, वह सर्वथा भिन्न होता।

हम लोगों को यह ज्ञात है कि सिसेरो का पालन-पोषण अर्पिनुम (Arpinum) में हुआ था और जब उसका उच्चवर्ग के लोगों से सम्पर्क हुआ एवं जब उसे अपने नवीन अभिजात वर्ग के मित्रों के लिये लिखना पड़ा तो उसे अपनी आंचलिक भाषा की कतिपय विशेषताओं को छोड़ना पड़ा। इनमें से एक विशेषता थी अन्त में आने वाले स् (S) का त्याग; यथा, लैटिन Conaberis के लिये Conabere का प्रयोग। विधि, धर्म, साहित्य एवं सामान्य संस्कृति की भाषा के रूप में प्रतिष्ठापित हो जाने के बाद क्लासिकल लैटिन भाषा स्थिर एवं गतिहीन हो गई। इसका विकास रुक गया क्योंकि इसके शुद्ध रूप को परिवर्तित करना कठिन था। सच तो यह है कि लैटिन का अपना ही प्रेत उसके ऊपर मँडराने लगा। साहित्यिक अथवा क्लासिक बोलियों को अपने अल्पकालिक बड़प्पन का मूल्य चुकाना ही पड़ता है क्योंकि अन्ततोगत्वा उनमें भी ह्रास होना अवश्यम्भावी है। इन बोलियों की दशा नदी के पास की गतिहीन झील के समान होती है। ये प्राचीनयुग की प्रवहमान भाषा का जलाशय सदृश भण्डार बन जाती हैं। इनका मूलधारा से विच्छेद हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा की समस्त धारा इन झीलों में ही समाहित हो गई है और मुख्य धारा से मिलने वाले क्षुद्र नाले दिखाई तक नहीं देते। किन्तु जब हम प्रगति के साथ-साथ भाषा के इतिहास में आगे बढ़ते हैं तो हमें पुनः एक नवीन स्थायी भाषा मिलती है जिसके विश्लेषण से हमें ज्ञात होता है कि इसके निर्माण में उन्हीं क्षुद्र नालों का हाथ है जो कुछ समय के लिये हमारी आँखों से ओझल हो गये थे। 'क्लासिकल' अथवा साहित्यिक भाषा की ठीक-ठीक उपमा न ी के हिमरूप में जमे हुए शुभ्र एवं चिक्कण किन्तु जड़ और शीतल धरातल से ही दी जा सकती है। जिसप्रकार हिमाच्छादित नदी के नीचे का जल उफान से बाहर निकल आता है उसीप्रकार अधिकतर राजनैतिक विप्लव के कारण भाषा का शिष्ट एवं सुसंस्कृत धरातल टूट जाता है। यह अवसर उस समय उपस्थित होता है जब उच्चवर्ग के लोग धार्मिक अथवा सामाजिक संघर्ष में कुचल दिये जाते हैं अथवा जब उन्हें विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए निम्नस्तर के लोगों से मिलना पड़ता है, जब साहित्य के प्रति लोगों में उपेक्षा का भाव आ जाता है, जब राजप्रासाद ध्वस्त कर दिये जाते हैं, म धराशायी हो जाते हैं तथा विद्या के स्थान विनष्ट कर दिये जाते हैं। ऐसे ही समय तथा अवसर पर जनप्रिय अथवा गँवारू बोली जो निम्नवर्ग के लोगों में प्रचलित

थी, शुभ्र साहित्यिक-भाषा को दबाकर जल के शक्तिमान स्रोत की भांति ऊपर आ जाती है तथा युग-युग से प्रचलित जटिल साहित्यिक-भाषा को तोड़-फोड़ देती है। विप्लव के बाद जब शान्ति की स्थापना होती है तब इस नवीन भाषा में जनप्रिय साहित्य का प्रादुर्भाव होता है। यह सच है कि यह नवीन भाषा विजय अथवा विप्लव के परिणामस्वरूप ही अस्तित्व में आती है किन्तु वास्तव में यह बहुत पहले से ही विकसित होती रहती है तथा ऐतिहासिक घटना-चक्र के परिणामस्वरूप ही जनता के समक्ष आती है। इस दृष्टि से विचार करने से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी साहित्यिक-भाषा किसी अन्य भाषा की माता नहीं हो सकती। ज्योंही भाषा की परिवर्तनशीलता की अनन्त शक्ति विनष्ट हो जाती है त्योंही उसमें मानव के मन एवं हृदय की आवश्यकताओं की तत्काल पूर्ति की क्षमता भी नष्ट हो जाती है और तब उसका नैसर्गिक जीवन केवल कृत्रिम अस्तित्व में परिणत हो जाता है। वह बहुत समय तक जीवित रह सकती है किन्तु जहाँ वह सजीव कोंपल के रूप में दिखाई देती है वहाँ वह वास्तव में भग्न एवं शुष्क शाखा के समान होती है और जिस वंशमूल से वह प्रादुर्भूत हुई है उससे धीरे-धीरे विच्छिन्न होती जाती है। इटालियन भाषा का मूल स्रोत रोम के क्लासिकल साहित्य में नहीं है अपितु वह इटली की जनभाषा में है। अंग्रेजी का जन्म केवल वेसेक्स (Wessex) की एंग्लो सैक्सन भाषा से नहीं हुआ था किन्तु उसकी उत्पत्ति ग्रेटब्रिटेन के प्रत्येक भाग में प्रचलित बोलियों से हुई थी। इसमें अन्य बोलियों की जो विशेषताएँ आई थीं वे समय-समय पर लैटिन, डैनिश, नार्मन, फ्रेंच एवं अन्य विदेशी भाषाओं के प्रभाव से परिवर्तित होती गईं। अंग्रेजी भाषा के सूक्ष्म एवं आलोचनात्मक अध्ययन के लिये इसकी कतिपय स्थानीय बोलियों का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और इन बोलियों का जो कुछ रूप अवशेष रह गया है उसे संग्रह करने का श्रेय एक फ्रेंच राजकुमार को है जिसने इस देश को अपना निवासस्थान बना लिया है। हिन्दुस्तानी भाषा वैदिक अथवा ब्राह्मण साहित्य की संस्कृत की पुत्री नहीं है अपितु यह सजीव भाषा की शाखा है जिससे स्वयं संस्कृत प्रादुर्भूत होकर स्वतंत्र साहित्यिक भाषा बन गई है।

## साहित्य का प्रभाव

मैंने भाषा के संपोषक रूप में बोलियों की विशेषता एवं उनके महत्त्व को स्पष्ट करने का जो उद्योग किया है, वह मेरे कतिपय श्रोताओं को अति-

शयोक्तिपूर्ण प्रतीत हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि मेरा उद्देश्य भिन्न होता तो मैं यह सहज में ही स्पष्ट कर सकता था कि साहित्यिक रूप को प्राप्त किये बिना भाषा को न तो वह स्थिर रूप कभी मिला होता जो विचारों के संवहन के लिये आवश्यक है और न वह अपने उच्चतम उद्देश्य में ही सफल हुई होती, अपितु वह केवल गुहा-निवासियों की दुर्भाषा मात्र रह जाती। किन्तु चूँकि साहित्यिक-भाषा का महत्त्व सदैव स्वीकार किया गया है और भाषा के विकास में बोलियों का जो हाथ है उसके सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा गया है, इसलिये यह मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ कि बोलियों को साहित्यिक भाषाओं से जो लाभ होता है, उसके बजाय साहित्यिक-भाषाओं को बोलियों से जो लाभ होता है उसे मैं स्पष्टरूप से प्रदर्शित करूँ। इसके अतिरिक्त आज मेरा मुख्य उद्देश्य भाषा के विकास की व्याख्या करना था और यह कार्य बोली के महत्त्व को प्रदर्शित किये बिना सम्भव न था। किसी भाषा को उसके मूल स्थान से हटा दें, इसकी संपोषक बोलियों से इसे विच्छिन्न कर दें और आप देखेंगे कि उसका प्राकृतिक विकास रुक गया। ऐसा करने पर भी ध्वन्यात्मक ह्रास की क्रिया तो चलती रहेगी किन्तु भाषा-सम्बन्धी पुनरुज्जीवन का प्रभाव विनष्ट हो जायेगा। कैनाडा की फ्रेंच, भाषा में वे विशेषताएँ आज भी सुरक्षित हैं जो मोलियर के युग में स्वीकृत थी, किन्तु जो अब पैरिस की फ्रेंच से लुप्त हो चुकी हैं। यदि कैनाडा के लोग "loi' एवं "roi" को "loue" एवं "roue" की भाँति उच्चरित करते हैं तो मोलियर भी इनका उच्चारण इसीरूप में करता था। यहा नहीं, सन् १८३० तक 'लाफायेते' (Lafayette) भी इनका उच्चारण इसीप्रकार करता था। आइसलैंड में नार्वे के शरणार्थी अपने साथ जो भाषा लाये वह गत सात सौ वर्षों से प्रायः उसी रूप में है, किन्तु अपने मूल स्थान में स्थानीय बोलियों से आवृत्त होने के कारण यह दो भाषाओं--स्वेडिश एवं डैनिश--के रूप में विकसित हो गई है। ग्यारहवीं शताब्दि में स्वेडेन, डेन्मार्क एवं आइसलैण्ड की भाषाएँ एक थीं। स्वेडेन तथा डेन्मार्क की भाषा में परिवर्तन तो हुआ किन्तु आइसलैंड की भाषा उसीरूप में रह गई। इस परिवर्तन का कारण न तो यह था कि विदेशियों ने उस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया और न यही था कि विदेशी रक्त का वहाँके रक्त से किसीप्रकार सम्मिश्रण हुआ।

## भाषा का विकास तथा इसका वास्तविक अर्थ

एक बार हमें पुनः उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार करना है जिस पर भाषा का विकास आधारित है। चाहे यह विकास ध्वन्यात्मक ह्रास अथवा बोली सम्बन्धी पुनरुज्जीवन के कारण हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह भाषा के बोलनेवालों के व्यक्तिगत नियंत्रण के सर्वथा परे है। जब हम उन नियमों की बातें करते हैं जो भाषा के विकास को नियंत्रित करते हैं तब हमारा वास्तविक तात्पर्य यह होता है कि ये भाषा के बोलने वालों का नियंत्रण करते हैं और इनके अनुशासन से बचना प्रायः उसीप्रकार कठिन है जिसप्रकार प्राकृतिक नियमों के अनुशासन से बचना कठिन होता हैं।

## भाषा का इतिहास तथा उसका वास्तविक अर्थ

यदि हम इतिहास को इसके वास्तविक अर्थ स्वतंत्र अभिकर्ता के क्रिया-कलापों के सन्दर्भ में लें तो भाषा का भी इतिहास होता है, यह कहना अनुपयुक्त होगा; किन्तु तब तो भाषा के लिये विकास शब्द का व्यवहार भी उचित न होगा क्योंकि इस शब्द का प्रयोग केवल सजीव वस्तु के विकास के सन्दर्भ में किया जाता है। यह होते हुए भी हम पृथ्वी की विभिन्न परतों के विकास की चर्चा करते हैं और वहाँ 'विकास' शब्द का ठीक अर्थ भी समझते हैं। वास्तव में इसी अर्थ में, वृक्ष के विकास के अर्थ में नहीं, हमें भाषा के विकास के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन करने का अधिकार है। समय की प्रगति के साथ-साथ तत्त्व विशेष में निरन्तर नूतन तत्त्वों के सम्मिश्रण से जो परिवर्तन होता है तथा जो स्वतंत्र अभिकर्ताओं के नियंत्रण के परे होता है तथा अन्ततोगत्वा प्राकृतिक अभिकर्ताओं का परिणाम होता है, यदि उसे हम विकास की संज्ञा देते हैं और इसी अर्थ में पृथ्वी की परत के विकास के लिये इसका प्रयोग करते हैं तो हम भाषा के विकास के लिये भी इस शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। उस दशा में, हम भाषा-विज्ञान को इतिहास के क्षेत्र से पृथक् कर, भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में रख सकते हैं।

## आवृत्ति

भाषाविज्ञान को भौतिक विज्ञानों की श्रेणी में रखने के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं अथवा उठाई जा सकती हैं उनका निराकरण करते हुए हमें कुछ ऐसी विशेष उपलब्धियाँ हुई हैं जिनकी एक बार आवृत्ति आव-

श्यक है। हम ने यह देख लिया है कि एक ओर जहाँ भाषाविज्ञान भाषा को एक साधन के रूप में ग्रहण करता है, वहाँ दूसरी ओर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान भाषा को वैज्ञानिक अध्ययन की वस्तु मानता है। इस नवीन विज्ञान का उद्देश्य किसी भाषा-विशेष का अध्ययन नहीं है, अपितु अनेक भाषाओं और अन्ततोगत्वा विश्व की सभी भाषाओं का अध्ययन है। मानववाक् (ह्यूमन स्पीच) के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भाषाविज्ञानी के लिये 'हॉटेनटॉट्' बोली उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी होमर की भाषा।

दूसरी बात यह है कि हमने यह देख लिया है कि किसी भी भाषा के तथ्यों एवं प्रकारों के सम्बन्ध में सामग्री सकलन एवं विश्लेषण के पश्चात् दूसरा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मानववाक् (मानव वाणी) के सम्पूर्ण प्रकारों के वर्गीकरण का होता है। इस कार्य के सम्पन्न हो जाने के बाद ही भौतिक अनुसन्धान सम्बन्धी उन महान् प्रश्नों, भाषा के क्या, कहाँ और क्यों के उत्तर खोजने के कार्य में प्रवृत होने का साहस करना उचित है।

तीसरी बात जिसके सम्बन्ध में ऊपर विचार किया जा चुका है, इतिहास एवं विकास के अन्तर के सम्बन्ध में है। यह अन्यत्र स्पष्ट किया गया है कि भाषा के सन्दर्भ में विकास से क्या तात्पर्य है और किसप्रकार यह मनुष्य की कल्पना प्रवगता से परे की वस्तु है तथा किसप्रकार यह उन नियमों रा अनुशासित होता है जो सावधानी से निरोक्षण के उपरान्त उपलब्ध होते हैं तथा जिनका स्रोत उन गहरे नियमों में है जिसके द्वारा मनुष्य के विचार एवं उसकी वाणी अनुशासित होती ह। यद्यपि ऊपर हम यह बात स्वीकार कर चुके हैं कि अन्य भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा भाषाविज्ञान का राजनैतिक इतिहास से अधिक सम्बन्ध है तथापि हमने यह भी अनुभव किया है कि राजनैतिक इतिहास से निरपेक्ष होकर भी भाषाओं का विश्लेषण एवं वर्गीकरण किया जा सकता है। यह कार्य विविध भाषाओं के बोलने वाले लोगों की भाषाओं के व्याकरण के आधार पर ही सम्पन्न किया जा सकता है और इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम उनकी रहन-सहन, उनके परिवार एवं उनकी प्रजाति के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करें।

## व्याकरण, वर्गीकरण का सिद्धान्त

इस सम्बन्ध में विचार करते समय हमें स्वतःसिद्ध प्रमाणों को स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि हमारे अनुसन्धानों में इनसे बराबर सहायता मिलेगी।

इनमें से प्रथम प्रमाण के अनुसार व्याकरण को सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व स्वीकार करना होगा। तथ्य की बात यह है कि वर्गीकरण के लिये हमें व्याकरण को ही आधार मानना पड़ेगा। दूसरे प्रमाण के अनुसार हमें मिश्रित भाषा के अस्तित्व को अस्वीकार करना पड़ेगा।

## भाषा मिश्रित नहीं होती

आगे चलकर जब हम गम्भीरता से विचार करेंगे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये दोनों स्वतंत्र प्रमाण वास्तव में एक ही हैं। संसार में कोई भी ऐसी भाषा नहीं है, जो एक अर्थ में मिश्रित न हो। संसार में कोई भी जाति ऐसी नहीं है जो पूर्णरूप से एकान्तिक हो और जिसकी भाषा ने अन्य भाषाओं के कतिपय शब्दों को ग्रहण न किया हो। आज कतिपय ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनमें अन्य भाषाओं से आगत शब्द इस रूप में मिश्रित हो गये हैं कि इनका रूप ही परिवर्तित हो गया है। इन भाषाओं में अपने मूल शब्दों की अपेक्षा आगत शब्दों की संख्या ही अधिक है। तुर्की तूरानी बोली है; इसका व्याकरण विशुद्ध रूप में तातारी अथवा तूरानी है। फिर भी आज कुस्तुनतुनिया के उच्चवर्ग के लोग जिस तुर्की भाषा का प्रयोग करते हैं उसमें फारसी-अरबी शब्द इतनी अधिक संख्या में हैं कि साधारण ग्रामीणजन तथाकथित 'ओसमानली' भाषा को बहुत कम समझ पाते हैं, यद्यपि इसका व्याकरण वही है जो उनके द्वारा व्यवहृत तातारी भाषा का है। इन फारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग का मुख्य कारण धर्म की अपेक्षा साहित्य एवं राजनीति अधिक है। धार्मिक तथा सैनिक विजय के प्रथम दिन से ही फारसी सभ्यता का प्रभाव अरब लोगों पर पड़ने लगा और यद्यपि विजित तथा नवीन धर्म में दीक्षित पारसीक लोगों को धर्म एवं राजनीति के क्षेत्र में आवश्यकरूप में सामी परिवार के अरबी भाषा के अनेक शब्दों को अपनाना पड़ा तथापि सावधानी से जाँच करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबी को भी फारसी के अनेक शब्द अपनाने पड़े और इसप्रकार ससानीय राजाओं द्वारा पुनः अनुप्राणित फारस की प्राचीन आर्य सभ्यता ने अरब की आदिम यायावरीय सभ्यता को नितान्त गोपनीय किन्तु शक्तिशाली ढंग से प्रभावित किया। कुरान तक फारसी शब्दों से मुक्त नहीं है और इसमें फारसी की उन रूमानी कहानियों की निन्दा की गई है जो मुहम्मद के अधिक शिक्षित अनुगामियों में प्रचलित थीं। तुर्क लोगों ने सामी धर्म एवं उसके साथ-साथ सामी धार्मिक शब्दों को उस समय अपनाया जब ये फारस

के लोगों द्वारा स्वीकृत हो चुके थे। इस तरह तुर्की में ये शब्द फारसी-स्रोत से आये। इसका परिणाम यह हुआ कि तुर्की में फारसी के शब्द केवल अधिक मात्रा में ही नहीं आये अपितु अरबी के शब्द भी फारसी-रचना-शैली एवं मुहावरों के अनुगामी बनकर गृहीत हुए। ऐसे आर्य उत्पत्ति वाले शब्द दीन (धर्म), गौर (काफिर), ओरुज (उपवास) एवं नमाज़ (प्रार्थना) हैं। सामी धर्म के नियमों द्वारा उपासना करने वाले तूरानी लोगों द्वारा व्यवहृत ये शब्द सभ्यता के इतिहास में, सिक्कों, शिला-लेखों एवं पुरानी ख्यातों से कहीं अधिक प्रामाणिक हैं।

आज विश्व में कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें सुदूर देशों एवं विभिन्न स्रोतों से इतनी अधिक मात्रा में शब्द आए हों जितने अंग्रेजी में। पृथ्वी के प्रत्येक देश के लोगों ने अंग्रेजी को कुछ न कुछ शब्द दान दिए हैं। लैटिन, ग्रीक, हिब्रू, केल्टिक, सैक्सन्, डैनिश, फ्रेंच, स्पैनिश, ईटालियन, जर्मन, हिन्दुस्तानी मलाया, और चीनी तक के शब्द अंग्रेजी में बिखरे पड़े हैं। किन्तु केवल शब्दों के आधार पर ही अन्य भाषाओं के साथ अंग्रेजी का सम्बन्ध जोड़ना अनुचित एवं असंभव होगा। अंग्रेजी में जो छोटे-मोटे तत्व हैं यदि उन्हें पृथक् कर दें तो हमें ज्ञात होगा कि टयूटनिक (सैक्सन्) की अपेक्षा इसमें लैटिन तथा नार्मन की ही प्रधानता है। इस बात में बहुत लोग विश्वास नहीं करेंगे; किन्तु यदि हम किसी अंग्रेजी कोश के एक पृष्ठ को ले लें और उसमें उपलब्ध विशुद्ध सैक्सन एवं लैटिन से व्युत्पन्न शब्दों की गणना करें तो इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश शब्द सैक्सन् के ही होंगे। इसमें हमें विशेषता द्योतक विशेषण अथवा आर्टिकिल (Article), सर्वनाम, उपसर्ग, सहायकक्रिया, सभी सैक्सन् से व्युत्पन्न मिलेंगे। हिक्स के अनुसार अंग्रेजी कोश में केवल दशांश को छोड़कर शेष सभी शब्द सैक्सन के हैं। बाइबिल (लार्डस् प्रेयर) में तो लैटिन से व्युत्पन्न केवल तीन शब्द ही हैं। शेरॉन टर्नर (Sharon Turner) विस्तृत रूप में अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अंग्रेजी शब्द-समूह में नार्मन तथा सैक्सन शब्दों का अनुपात चार एवं छै का है। एक दूसरे विद्वान् के अनुसार अंग्रेजी में कुल ३८,००० शब्द हैं। इनमें २३,००० शब्द सैक्सन के हैं तथा अवशेष १५,००० लैटिन एवं ग्रीक आदि से आए हैं। राबर्टसन् एवं वेब्सटर के कोशों के शब्दों की गणना के पश्चात् थामेरेल (Thommeral) इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि ४३,५६६ शब्दों में से २९,८५३ शब्द लैटिन-ग्रीक से,

१३,२३० ट्यूटनिक से तथा अवशिष्ट शब्द अन्य स्रोतों से आये हैं।[२] इस प्रकार कोष के साक्ष्य के आधार पर अंग्रेजी को मिश्रित भाषा मानते हुए इसे फ्रेंच, इटैलियन एवं स्पैनिश के समान रोमान्स अथवा न्यूलैटिन की बोली मानना होगा। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि भाषाएँ मिश्रित हो सकती हैं (इनके शब्द-समूह में अन्य भाषाओं के शब्द आ सकते हैं) किन्तु इनके व्याकरण में किसीप्रकार का सम्मिश्रण नहीं हो सकता। हर्वास (Hervas) को मिशनरियों से यह ज्ञात हुआ था कि १८वीं शताब्दि के मध्य में अराकान के लोग जो भाषा बोलते थे उसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं था जो स्पैनिश भाषा का न हो किन्तु यह होते हुए भी उन लोगों ने अपनी मातृ-भाषा के वाक्यविन्यास को सर्वथा सुरक्षित रखा।

यही कारण है कि प्रायः सभी भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध एवं वर्गीकरण का आधार व्याकरण को ही माना जाता है। इससे यह परिणाम निकला कि भाषाओं के वर्गीकरण के समय भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार मिश्रित भाषा के अस्तित्व को स्वीकार करना असम्भव है। कतिपय भाषाओं यथा, तुर्की एवं जर्मन तक ने विदेशी शब्दों को उनके व्याकरणीय प्रत्ययों के साथ ग्रहण किया है, किन्तु चाहे मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही इन प्रत्ययों को देशी शब्दों के साथ क्यों न संयुक्त किया जाय, इससे ऊपर के सिद्धान्त पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। चूँकि हम जर्मन में 'अ ला बिस्मार्क' (á la Bismarck) कह सकते हैं किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि 'á la' जर्मन भाषा का अंगीभूत बन गया। इसीप्रकार अंग्रेजी में हम bearable एवं tolerable का व्यवहार कर सकते हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि –able ट्यूटनिक भाषा का प्रत्यय बन गया। हम अंग्रेजी में ऐसे वाक्यों का निर्माण कर सकते हैं जिनमें कुल शब्द लैटिन अथवा रोमान्स के हों किन्तु उसके व्याकरण पर ट्यूटनिक की निश्चित रूप से पूरी छाप होगी। जिसे हम अंग्रेजी का व्याकरण कहते हैं, यदि उसके सम्बन्ध में हम विचार करें तो उसमें सम्बन्धकारक, कर्ताकारक के बहुवचन, तुलनात्मक श्रेणियों, कतिपय पुरुषों तथा क्रिया के कालों के अतिरिक्त हमें कुछ भी नहीं मिलेगा। फिर भी, इसमें वर्तमानकाल की अन्यपुरुष, एक वचन की क्रिया में जो—स' (–S) प्रत्यय का व्यवहार होता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सैक्सन एक भी शब्द का व्यवहार न करते हुए भी वैज्ञानिक

वर्गीकरण की दृष्टि से अंग्रेजी सैक्सन ही है और इसका सम्बन्ध आर्यपरिवार की टयूटनिक शाखा से है।

प्राचीन एवं अविकसित भाषाओं का व्याकरण अंग्रेजी की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित एवं पूर्ण है अतएव किसी परिवार की इधर-उधर फैली हुई भाषाओं में समानता ढूँढ़ना अधिक निरापद है। संसार में कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें जिस अर्थ में हम व्याकरण का प्रयोग करते हैं, व्याकरण का सर्वथा अभाव है। उदाहरण के लिए हम प्राचीन चीनी भाषा को ले सकते हैं। इसके विपरीत हमें ऐसी भाषाएँ भी मिलती हैं जिनमें हम व्याकरण के विकास को प्रत्यक्षरूप में देख सकते हैं तथा जहाँ विविध शब्दरूप विलीन होकर व्याकरणीय एकता की ओर अग्रसर होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी भाषाओं के वर्गीकरण में हमें नवीन सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ेगा और ये सिद्धान्त हमें प्राकृतिक इतिहास के अध्ययन से प्राप्त होंगे। ऐसी भाषाओं में वंशानुक्रम के सम्बन्ध के सिद्धान्त का परित्याग कर हमें केवल रूपों की समानता के सिद्धान्त को ही स्वीकार करना होगा।

मुझे विश्वास है कि मैंने उन कतिपय आपत्तियों के सम्बन्ध में उत्तर देने का प्रयत्न किया है जो भाषा-विज्ञान को भौतिक विज्ञानों की श्रेणी से पृथक् रखने के पक्ष में हैं। अब आगे मैं इस बात पर विचार करूँगा कि आरम्भ से आज तक भाषा-विज्ञान का क्या इतिहास है तथा किसप्रकार यह आनुभाविक, वर्गीकरण एवं सैद्धान्तिक अवस्थाओं को पारकर आगे बढ़ा है। वास्तव में इन अवस्थाओं को हम भौतिक विज्ञानों की बाल्यावस्था, युवावस्था तथा पूर्णपुरुषत्व की अवस्था कह सकते हैं।

———

### अध्याय ३

# आनुभाविक अवस्था

## भारत तथा ग्रीस में भाषा सम्बन्धी अध्ययन

सामान्यतया प्रत्येक भौतिक विज्ञान का समारम्भ विश्लेषण से होता है। इसके उपरान्त वर्गीकरण और अन्त में सिद्धान्त की अवस्था आती हैं, किन्तु जैसा कि मैंने पहले निवेदन किया है, इस नियम के कभी-कभी अपवाद भी मिलते हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भौतिक विज्ञानों के इतिहास में भी हमें सैद्धान्तिक चिन्तन के वे तत्त्व जो वस्तुतः अन्त में आने चाहिए और जिनके आधार प्रत्यक्ष प्रमाण होते हैं, कभी-कभी आरम्भ में ही आते हैं। इसका उदाहरण हमें भाषा-विज्ञान में भी मिलता है। इस विज्ञान की उत्पत्ति एवं इसका विकास, प्राचीनकाल में भारत एवं ग्रीस में हुआ था। इन दोनों देशों के चिन्तक भाषा-सम्बन्धी तथ्यों के विषय में सम्यक विचार करने के पूर्व ही सिद्धान्त निर्माण में प्रवृत्त हुए थे। उनका यह कार्य बहुत कुछ वैसा ही था जैसे कोई ऊँट अथवा रेगिस्तान को कभी देखे बिना ही उनका वर्णन करे। भारत में, ब्राह्मणों ने अन्य अज्ञात वस्तुओं की भांति, भाषा को भी देवी का स्थान प्रदान किया था। उन्होंने वाग्देवी की स्तुति में मंत्र लिखा और यह भी कहा कि वह आदि काल से ही देवताओं के साथ थी, उसने आश्चर्यजनक कार्य किया तथा उसे मनुष्य पूर्णरूप से न जान सका। ब्राह्मण-ग्रंथों में, भाषा को गाय, श्वास को वृषभ और उसके बछड़े को मनुष्य का मस्तिष्क कहा गया है। पूर्णपुरुष ब्रह्मन् को केवल वाचा द्वारा ही जाना जा सकता है। वास्तव में वाचा ही पूर्ण ब्रह्म है। आरम्भिक युग में, भाषा के प्रति ब्राह्मणों की जो अतिशय उल्लासमय भावना थी वह समय की प्रगति के साथ-साथ तिरोहित हुई और तब वे अत्यन्त आश्चर्यजनकरूप में भाषा के विश्लेषण में प्रवृत्त हुए। उनके व्याकरणीय विश्लेषण-कार्य का समारम्भ छठीं शती ईस्वी पूर्व

में हुआ था और उनके इस कार्य का महत्त्व किसी भी जाति के व्याकरणीय साहित्य में अन्यतम है। किसी भी भाषा का आरम्भ कतिपय धातुओं से हुआ है, इस तथ्य से ब्राह्मण ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व पूर्णतया परिचित थे। यूरप में सोलहवीं शताब्दि के हेनरी एस्टिने (Henry Estienne) के पूर्व इस तथ्य की ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया था।

ग्रीक लोगों ने यद्यपि भाषा में देवत्व का निरूपण नहीं किया किन्तु उन्होंने दर्शनशास्त्र के अध्ययन में उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। कोई भी ऐसा प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक नहीं हुआ जिसने भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ न कुछ न कहा हो। ग्रीक के प्राचीन ज्ञानियों के लिए वाग् जगत् अथवा प्रकृति एवं आन्तरिक जगत् अथवा मस्तिष्क में उतनी ज्ञान-गरिमा न थी जितनी दोनों की प्रतिमा भाषा में। उनके लिये 'यह संसार क्या है,' 'मनुष्य क्या है,' आदि प्रश्न उतने ही पुराने एवं महत्त्वपूर्ण थे जितना 'भाषा क्या है?' प्राचीन ग्रीक दर्शन में विभिन्नविचार वाले पंडितों के लिये भाषा की समस्या अत्यधिक विवादग्रस्त वस्तु थी। जब हम भाषाविज्ञान की तीसरी अथवा सैद्धान्तिक अवस्था पर विचार करेंगे तो मानव-वाचा के सम्बन्ध में उनकी जो कल्पनायें थीं उस पर भी एक दृष्टि डालेंगे।

## आनुभाविक अवस्था

सम्प्रति, हमें आनुभाविक अवस्था के प्राचीनतम शेषचिह्नों की खोज करनी है। यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस अवस्था में क्या कार्य हुआ था? इसीप्रकार हमें भाषा की आनुभाविक व्याख्या के तात्पर्य के सम्बन्ध में भी विचार करना है और यह देखना है कि जिसप्रकार नाविकों ने नक्षत्रों के सम्बन्ध में, भूखनकों ने धातुओं के सम्बन्ध में तथा मालियों ने विविध फूलों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया था उसीप्रकार वे कौन लोग थे जिन्होंने भाषा के सम्बन्ध में विचार किया था? हमें यह भी देखना है कि भाषा के सम्बन्ध में किन लोगों ने सर्वप्रथम विचार किया था? वे कौन लोग थे जिन्होंने भाषा के विभिन्न अंगों——संज्ञा एवं क्रिया, विशेषण एवं सर्वनाम, कर्ता कारक एवं कर्मकारक तथा कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य के अन्तर तथा भेद—— को स्पष्टरूप से समझा था? किन लोगों ने इन पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया था और किस उद्देश्य से यह कार्य सम्पन्न हुआ था?

इन प्रश्नों का उत्तर हमें सावधानी से देना चाहिए। जैसा कि पहले कहा

जा चुका है, ग्रीस में, सामान्यतया, विचार एवं भाषा के विषय में पहले खोज हुई। इसके उपरान्त भाषा के आनुभाविक विश्लेषण का कार्य हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि आनुभाविक व्याकरण के अनेक पारिभाषिक शब्द इसमें (भाषा में) वही हैं जिनका व्याकरण के समारम्भ से पूर्व, दर्शन की विविध-धाराओं के प्रवर्तकों ने प्रयोग किया था। संज्ञा और क्रिया अथवा उद्देश्य एवं विधेय के अन्तर को स्पष्ट करने वाले सबसे पहले ग्रीक दार्शनिक थे। अति प्राचीनकाल में ही, विचारों की विशेषता एवं प्रकृति को स्पष्ट करने के उद्देश्य से कारक, वचन एवं लिंग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का निर्माण ग्रीक दार्शनिकों ने किया था, न कि भाषा के रूपों के व्यावहारिक विश्लेषण के उद्देश्य से। बाद की पीढ़ी के लोगों ने बोलचाल की ग्रीक के लिये भी इन शब्दों का प्रयोग किया। भाषा के अध्यापकों ने, सर्वप्रथम, विचार की अनेक कोटियों की ग्रीक भाषा के वास्तविक तथ्यों के साथ तुलना की तथा उन्होंने ही अरस्तू (अरिस्टोटल) एवं स्टोइकों (ग्रीक दार्शनिकों) के उन पारिभाषिक शब्दों को जो विचार के लिये प्रयुक्त होते थे, भाषा के लिये तथा जो तर्कशास्त्र में प्रयुक्त होते थे, उन्हें व्याकरण के लिये प्रयुक्त किया। इसप्रकार इन अध्यापकों ने ही कथ्य भाषा के निर्जन प्रदेश में, सर्वप्रथम, राज-मार्ग का निर्माण किया। ऐसा करते समय वैयाकरणों ने दार्शनिकों से उधार लिये हुए शब्दों में यत्किंचित परिवर्तन भी किया। और मोटे तौर पर भाषा के विश्लेषण के लिये, अनेक नवीन पारिभाषिक शब्दों का भी निर्माण किया। वास्तव में, संज्ञा और क्रिया, कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य तथा कर्ता एवं कर्म के अन्तर को जान लेने से ही हमें भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण में बहुत सहायता नहीं मिलती। ये तो आरम्भिक युग की पारिभाषिक शब्दावली हैं और मानव ज्ञान की अन्य शाखाओं में प्रयुक्त शब्दावली की तुलना में यह अत्यन्त प्राथमिक हैं। फिर भी यह आरम्भ था और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आरम्भ था। यदि हम विश्व के इतिहास में, भौतिक तत्त्वों के अन्वेषक थेल्स (Thales), एनैक्सिमेनेस (Anaximenes) एवं एम्पिडॉक्लिज (Empedocles) के नामों को सुर-क्षित रखे हैं तो उन वैयाकरणों के नामों को भी कभी न भूलना चाहिए जिन्होंने परम लाभदायक भाषा के तत्त्वों का सर्वप्रथम सफल अन्वेषण किया था।

## व्याकरण

वास्तव में, व्याकरण, भाषा का नियमानुसार आनुभाविक विश्लेषण है तथा अन्य विज्ञानों की भाँति व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही

इसकी उत्पत्ति हुई है। व्यवहार की दृष्टि से भाषाओं का प्रथम अध्यापक ही, प्रथम वैयाकरण भी था। यदि हम भाषाविज्ञान के समारम्भ का पता लगाना चाहते हैं तो हमें इस बात की भी खोज करनी पड़ेगी कि विश्व के इतिहास में वह कौन सा युग था तथा वह कौन सी अवस्था थी जिनमें लोगों ने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को सीखने का विचार किया था? उसी समय हमें प्रथम व्यावहारिक व्याकरण का पता लगेगा, इसके पूर्व नहीं। यद्यपि दार्शनिक लोगों की भाषा में उतनी दिलचस्पी नहीं थी तथापि उनके द्वारा इस क्षेत्र में जो भी कार्य हुआ उसके अध्ययन से व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश पड़ेगा। इसीप्रकार अलेकजेन्ड्रिया के विद्वानों ने आलोचनात्मक दृष्टि से होमर के काव्य में सुरक्षित अपनी मातृभाषा की जो सामग्री प्रस्तुत की उसमें भी भाषा-विज्ञान के इतिहास की आरम्भिक कहानी सुरक्षित मिलेगी। किन्तु संज्ञा एवं क्रियाप ों के रूप एवं पदयोजना तथा इसीप्रकार के व्याकरण सम्बन्धी अन्य नियमों के निर्माण में अध्यापकों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति का हाथ न था।

सम्प्रति भाषा की शिक्षा ने एक व्यापक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है किन्तु सापेक्षिक दृष्टि से यह आधुनिक युग की उपज हैं। प्राचीन ग्रीस का कोई भी अधिवासी विदेशी भाषा सीखने का विचार तक नहीं करता था। भला वह ऐसा करे भी क्यों? उसने तो समस्त विश्व को केवल ग्रीक एवं बर्बर (असंस्कृत) में विभाजित कर रखा था और वह अपने बर्बर प्रतिवेशी की वेषभूषा, उसके आचरण एवं उसकी भाषा को अपनाकर अपने को पतित बनाने के लिये तैयार न था। वह ग्रीक बोलने में गौरव का अनुभव करता था और उसकी भाषा से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित बोलियाँ भी उसके लिये अर्थहीन थीं। यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि लोगों को इस तथ्य के ग्रहण करने में भी पर्याप्त समय लग जाता है कि अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा के माध्यम से भी विचार व्यक्त किया जा सकता है। जिसप्रकार ग्रीक, बर्बर लोगों को 'एग्लोसोइ' (Aglosoi) अथवा वाचाहीन प्राणी मानते थे उसीप्रकार पोलैंड के निवासी अपने पड़ोसी जर्मन लोगों को गूंगा कहते थे। जर्मन अपने पड़ोसी केल्ट लोगों को प्राचीन उच्च जर्मन के शब्द 'वाल्ह' (Walh), एंग्लोसैक्सन शब्द 'विल्ह' (Vealh) द्वारा सम्बोधित करते थे। इस शब्द का अर्थ है अस्पष्ट भाषी और यह संस्कृत म्लेक्ष शब्द का पर्यायवाची है।

## विदेशी भाषाओं का अध्ययन

जब ग्रीक लोगों को विदेशी राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तथा उन्हें इनकी भाषा सीखने की भी इच्छा हुई तब भी वे इस समस्या का समाधान न कर सके। बात यह है कि जब तक दो पक्षों के लोग अपनी अपनी भाषा बोलते रहते हैं तब तक विदेशी भाषा सीखी भी कैसे जा सकती है? कुछ लोगों के अनुसार यह समस्या वैसी ही कठिन है जैसे मूक आदि मानव को भाषा के निर्माण काल में, एकत्र होकर इस सम्बन्ध में विचार विनिमय करना कठिन था कि इन्द्रियजन्य अनुभवों एवं भावात्मक विचारों को व्यक्त करने वाले कौन शब्द हों। यह सहज में ही कल्पना की जा सकती है कि आरम्भ में ग्रीक लोगों ने विदेशी भाषाओं को उसीरूप में सीखा होगा जिसरूप में बच्चे अपनी भाषा सीखते हैं। प्राचीन इतिहास लेखकों के अनुसार, आरम्भ में, विविध भाषाओं के बोलने वाले लोगों के बच्चे ही सम्भवतः दुभाषिए का कार्य करते थे। मीदिया के राजा सियाक्सरेस (Cyaxares) के राज्य में जब सीथियन लोगों का एक कबीला पहुँचा तो उन्होंने उनके पास कतिपय लड़कों को इसलिये भेजा कि वे उनसे उनकी भाषा एवं धनुर्विद्या सीखें। ग्रीक एवं बर्बर (अन्य भाषा-भाषियों को ग्रीक लोग इसी नाम से पुकारते थे) के पुत्र, प्रायः अपने माता-पिता की भाषा सीखते थे और चूँकि दुभाषिए के रूप में उनका व्यवसाय लाभप्रद था अतएव माँग की पूर्ति के लिये यह कार्य चलता रहता था। यह प्रसिद्ध है—यद्यपि इसका आधार कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—कि जब ग्रीक लोगों ने आरगोनाटिक पर आक्रमण किया था तो अनेक भाषाओं का अस्तित्व देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था और योग्य दुभाषियों के अभाव में उन्हें अत्यधिक असुविधा भी हुई थी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि क्रिमियाँ में जेसन (Jason) लोगों से युद्ध करते समय अँग्रेजी सेना को भी ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ा था और काकेशिया में तो इतनी अधिक विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं कि यहाँ के लोग इस प्रदेश को 'बोलियों के पर्वत' नाम से अभिहित करते हैं।

## दुभाषिए

जब हम प्रागैतिहासिक युग के बाद ग्रीस के ऐतिहासिक युग पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि व्यापार-वृद्धि के कारण द्विभाषियों के व्यवसाय को प्रथम बार प्रोत्साहन मिला था। हैरोडोटस (४,२४) के अनुसार

जब ग्रीस के व्यापारी बोल्गा नदी के मार्ग का अनुसरण करते हुए यूराल पर्वत की ओर कारवाँ लेकर गये थे तो विभिन्न सात भाषाओं के बोलने वाले सात द्विभाषिये उनके साथ थे। ये उस युग की स्लाव, तातार एवं फिनिक बोलियों के बोलने वाले लोग होंगे। जब ग्रीक लोगों को फारस से युद्ध करना पड़ा तो उन्हें प्रथम बार इस बात का अनुभव हुआ कि अन्य जाति के लोग भी वास्तविक भाषाएँ बोलते हैं। थेमिस्टॉकलिज (Themistocles) ने फारसी पढ़ी और यह प्रसिद्ध है कि वह इसे भली भाँति बोल लेता था। सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप ग्रीक लोगों के लिये अन्य जातियों की भाषाओं का ज्ञान अत्यावश्यक हो गया; किन्तु जब उसने भारत पर आक्रमण किया तथा वह ब्राह्मणों से वार्तालाप करने गया जिन्हें ग्रीक लोग भी अत्यन्त प्राचीन एवं रहस्यात्मक ज्ञान का अभिभावक मानते थे तो उनके उत्तरों को उसे कई दुभाषियों के माध्यम से समझना पड़ा। इस पर एक ब्राह्मण ने यह टिप्पणी की थी कि ये उत्तर उस जल की तरह है जो कई अपवित्र सरणियों से छन कर गया हो।

## ग्रीक दार्शनिकों की यात्राएँ

हम कई प्राचीन ग्रीक यात्रियों की विदेश यात्राओं के सम्बन्ध में सुन चुके हैं किन्तु आज हमारे लिये यह समझना कठिन है कि विदेशी भाषा के ज्ञान के बिना वे उन देशों के गाँवों एवं नगरों में कैसे गये होंगे? कई यात्रियों के सम्बन्ध में तो यह भी कहा गया है कि वे भारत भी गये थे किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह बाद के लेखकों की मनगढ़न्त कहानी है। लाइकुरगुस (Lycurgus) ने स्पेन तथा अफ्रीका की यात्रा की होगी किन्तु यह निश्चय है कि वह भारत नहीं आया था क्योंकि अरिस्टोक्रेटिस (समय १०० ई० पू०) के पूर्व भारतीय संन्यासियों से उसके समागम का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसीप्रकार पिथागोरस की भारत यात्रा की चर्चा भी काल्पनिक ही है। सम्भवतः यह सिकन्दर के युग के लेखकों की कल्पना मात्र है जिनकी यह धारणा थी कि सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश पूरब से ही हुआ है। इस सम्बन्ध में पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं कि डेमोक्रिटस (Democritus), मिस्र (एजिप्ट) एवं बेबिलन गया था किन्तु उसके सुदूर भारत आने की बात कल्पना मात्र ही है। यद्यपि हेरोडोटस ने मिस्र एवं फारस की यात्रा की थी किन्तु इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि वह अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और भी कोई अन्य भाषा जानता था।

## बर्बर लोगों द्वारा ग्रीक का अध्ययन

जहाँ तक हम लोगों को ज्ञात है, बर्बर लोगों को ग्रीक अथवा रोमन लोगों की अपेक्षा भाषाओं से परिचय प्राप्त करने की अधिक सुविधा थी। सिकन्दर की विजय के थोड़े दिनों के पश्चात् ही हम बे ोसस (Berosus) को बेबिलन, मेनान्डर कोटायर तथा मेनेथो (Menetho) को मिस्र देश के इतिहास को मूलस्रोतों के आधार पर लिखने में प्रवृत्त पाते हैं। इन लोगों ने ग्रीक लोगों के लिये ग्रीक भाषा में ग्रंथों का प्रणयन किया था। इनमें से बेरोसस की मातृभाषा बेबीलोनीय, मिनान्डर की फोनेसीय एवं मेनेथो की मिस्री थो।

## बेरोसस, मेनान्डर एवं मेनेथो

बेरोसस, बेबिलोनिया की बाणमुख लिपि में लिखित पुराने कागज-पत्रों को उसी सरलता से पढ़ सकता था जिस सरलता से मेनेथो मिस्र के प्राचीन पत्रों पर लिखित पुरालेखों को। एक ही समय में, इन तीन ऐसे व्यक्तियों के नाम जो जन्म एवं भाषा की दृष्टि से बर्बर थे किन्तु जिन्होंने अपने देश के इतिहास को विस्मृति के गर्भ में विलीन होने से बचाकर अपने विजेता ग्रीक लोगों को सौंप दिया, सचमुच विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इसीप्रकार यह भी उल्लेखनीय एवं ग्रीक विजेताओं के लिये अशोभनीय है कि उन्होंने इन बहुमूल्य इतिहास-ग्रंथों को बहुत कम महत्त्व दिया। ये सभी ग्रंथ आज काल-कवलित हो चुके हैं और इनके यत्रतत्र उद्धरण मात्र ही उपलब्ध हैं। किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि आज यदि बेरोसस का ग्रंथ सुरक्षित होता तो वह बाणमुख में लिखित प्रत्नलेखों के अध्ययन एवं बेबिलन के इतिहास के छात्रों के मार्गदर्शन करने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता। इसीप्रकार आज कहीं मेनेथो का इतिहास पूर्णरूप से सुरक्षित होता तो मिस्र देश के राजाओं के राजत्वकाल की तिथियों के सम्बन्ध में अनेक विवादों का अन्त हो जाता। इन ग्रंथों के एक साथ प्रणयन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सिकन्दर की पूरब की विजय के तत्काल बाद ही जन्मतः बर्बर जाति के साहित्यिक तो ग्रीक के अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्त थे किन्तु उस युग के किसी भी ऐसे ग्रीक का नाम आज हमें उपलब्ध नहीं है जो अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा का साहित्य रचना में प्रयोग करता हो। सिकन्दर एवं सिकन्दरिया की प्रतिष्ठापना के पूर्व हमें ग्रीक एवं बर्बर लोगों के बीच किसीप्रकार के बौद्धिक समागम के प्रमाण नहीं मिलते। सिकन्दरिया में ही

(सम्भवतः सर्वप्रथम) विभिन्न भाषाभाषी एवं विभिन्न धर्मावलम्बी लोगों का समागम हुआ था। यद्यपि इस समागम में व्यापार-व्यवसाय का ही अधिक हाथ था तथापि अवकाश के समय यहाँ एकत्र लोग अपने देशों, देवताओं, राजाओं, स्मृतिकारों एवं कवियों के सम्बन्ध में भी चर्चाएँ करते थे। इसके अतिरिक्त सिकन्दरिया में ऐसे ग्रीक भी थे जो पुरातत्त्व के अध्ययन में प्रवृत्त थे तथा जिन्हें यह ज्ञात था कि विश्व के विभिन्न देशों से आगत लोगों से किसप्रकार के प्रश्न पूछने चाहिए। मिस्र के निवासियों का यह दावा कि उनकी सभ्यता अति प्राचीन है, यहूदी लोगों का अपने प्राचीन विधान में विश्वास, ईरानी अथवा पारसीक लोगों की जरथुस्त्र (सं० जरठोष्ट्र) की शिक्षाओं में आस्था ही वस्तुतः सिकन्दरिया के महाकक्षों एवं पुस्तकालयों के परिसंवाद के लिये उपयुक्त विषय थे। टालेमी नामधारी राजाओं ने सिकन्दरिया में साहित्यिक अनुसन्धान के लिये जो प्रोत्साहन प्रदान किया था उसी के परिणामस्वरूप सम्भवतः पुरानी बाइबिल का ग्रीक में अनुवाद हुआ था। सम्भवतः जरथुस्त्र विरचित ग्रंथ, ज़ेन्दअवेस्ता का अनुवाद भी इस समय ही ग्रीक भाषा में किया गया था, क्योंकि प्लिनी के अनुसार ज़रथुस्त्र की शिक्षाओं का अनुवाद प्रसिद्ध दार्शनिक हर्मिप्पस (Hermippus) ने किया था। सम्भवतः यह कैलिमैकुस (Callimachus) का शिष्य था जो सिकन्दरिया का एक महान् विद्वान् था।

## सिकन्दरिया में विद्वानों का समागम

किन्तु यद्यपि सिकन्दरिया में हम अन्य जातियों के साहित्यिकों को इस प्रकार के सुरुचिपूर्ण वातावरण उत्पन्न करते हुए पाते हैं तथापि हमें इस बात का कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर हम कह सकें कि इन साहित्यिकों की भाषाएँ भी वैज्ञानिक अनुसन्धान का विषय बन गई थीं। अन्य भाषाओं के अध्ययन के कारण नहीं अपितु अपनी भाषा की प्राचीन बोलियों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही सिकन्दरिया में सर्वप्रथम ग्रीक लोगों का ध्यान भाषा के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ था। ग्रीक भाषा के आलोचनात्मक अध्ययन का आरम्भ सिकन्दरिया में ही हुआ था और यह मुख्यरूप से होमर के पाठ पर आधारित था। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, ग्रीक व्याकरण की एक सामान्य रूपरेखा पहले से ही लोगों के सामने थी। ग्रीक दार्शनिकों के विद्यापीठों में इसका सम्बर्द्धन हुआ था। प्लेटो को संज्ञा एवं क्रिया के रूप में, शब्दों के दो भेद ज्ञात थे। अरिस्टॉटल (अरस्तू) ने

इसमें संयोजक (Conjunction) एवं निर्देशक (Article) की अभिवृद्धि की। इसीप्रकार उसने वचन एवं कारक के अन्तर को भी स्पष्ट किया। किन्तु न तो प्लेटो और न अरिस्टॉटल ने ही भाषा के उस रूप पर ध्यान दिया जिसका सम्बन्ध इसीप्रकार के समरूप विचारों से था। इसके अतिरिक्त उन्होंने इसके लिये व्यावहारिक नियम भी नहीं बनाये। अरिस्टॉटल के लिये क्रिया अथवा 'र्‌हेमा' (Rhema) का 'विधेय' के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ से तात्पर्य न था और "बर्फ श्वेत है" इस वाक्य में उसके अनुसार 'श्वेत' क्रियापद था। भाषा के यथातथ्यरूप को व्यवस्थित करने वाले सर्वप्रथम सिकन्दरिया के विद्वान् थे। उनका मुख्य कार्य ग्रीक 'क्लासिक', विशेषतया, होमर के शुद्ध पाठ को प्रकाशित करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रीक व्याकरण के ठीक-ठीक रूपों पर ध्यान देना उनके लिये आवश्यक हो गया था। ग्रीस के विभिन्न अंचलों से सिकन्दरिया एवं पर्गामुस (pergamus) में जो हस्तलिखित ग्रंथ आये उनमें अत्यधिक पाठ भेद था और उनमें से होमर के प्रामाणिक संस्करण के लिये कौन पाठ उपयुक्त या कौन पाठ अनुपयुक्त था, इसका निर्धारण सावधानी से करना था। ईसप्रकार के संस्करण कोई साधारण संस्करण नहीं थे अपितु वैज्ञानिक एवं पाठालोचन की दृष्टि से तैयार किये हुए संस्करण थे। होमर की भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विचारों वाले कई दल थे और 'जेनोडोटस' (Zenodotus) अथवा अरिस्टार्कुस ने (Aristarchus) उसके जो प्रामाणिक पाठ तैयार किये थे उनके समर्थन के लिये होमर के काव्य के आधार पर सामान्य नियमों का निर्माण आवश्यक था।

## ग्रीक में आर्टिकिल का प्रयोग

प्रश्न यह था कि क्या होमर ने आर्टिकिल (Article) का प्रयोग किया था? क्या यह प्रयोग उसने व्यक्तिवाचक नामों के पूर्व किया था। इन और इसीप्रकार के अन्य प्रश्नों का समाधान आवश्यक था और चूँकि सम्पादकों में इन बातों के सम्बन्ध में मतभेद था अतएव उनके पाठों में भी अत्यधिक अन्तर था। इसके अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी भेदों एवं अन्तरों को स्पष्ट करने के लिये नये पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता थी। उदाहरणार्थ आर्टिकिल (Article) एवं उल्लेखसूचक सर्वनाम (Demonstrative pronoun) के अन्तर को स्पष्ट करना था। वस्तुतः अंग्रेजी का Article शब्द ग्रीक Arthron का शब्दशः अनुवाद है। 'आर्थ्रान्' (Arthron), लैटिन

आर्टुस (Artus) का अर्थ दो जोड़ों के बीच का 'खाना' अथवा साकेट (Socket) है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तू (अरिस्टॉटल) ने किया था और उसका आर्टिकिल (Article) से तात्पर्य उन शब्दों से था जो ऐसे 'साकेटों' अथवा 'खानों' का निर्माण करते थे जिनके भीतर किसी वाक्य के शब्द अवस्थान करते थे। उदाहरणस्वरूप "जो यह काम करेगा, वह कष्ट पायेगा", इस वाक्य में, ग्रीक वैयाकरण के अनुसार पहला 'साकेट' उल्लेख सूचक सर्वनाम "वह" था तथा दूसरा साकेट सम्बन्ध वाचक सर्वनाम "जो" था। ज़ेनोडोटस [यह सिकन्दरिया का प्रथम पुस्तकाध्यक्ष था तथा उसका समय २५० ई० पू० था] के पूर्व सभी सर्वनाम सामान्यतया 'साकेट' रूप में ही वर्गीकृत किये जाते थे। ज़ेनोडोटस ही वह प्रथम व्यक्ति था जिसने व्यक्तिवाचक सर्वनाम (personal pronoun) एवं 'आर्टिकिल' (Article) के अन्तर को स्पष्ट किया था। इस अन्तर को स्पष्ट करना आवश्यक था और इसमें सन्देह नहीं कि इस बात का ज्ञान उसे होमर के पाठ-संस्कार के समय हुआ था। इसप्रकार ज़ेनोडोटस ही वह प्रथम व्यक्ति था जिसने होमर के 'इलियड' एवं 'ओडेसी' महाकाव्यों में व्यक्तिवाचक नामों के पूर्व आर्टिकिल का प्रयोग किया था। आज कितने लोग ऐसे हैं जो निश्चयवाचक तथा अनिश्चयवाचक निर्देशक (Definite and Indefinite Article) की चर्चा करते हुए उसकी उत्पत्ति का इतिहास भी जानते हैं और उन्हें इस बात का भी ज्ञान है कि आज जिस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग स्कूल का एक साधारण छात्र भी करता है उसे यह रूप प्राप्त करने में कितना समय लगा था।

## कारक

पाठालोचन की दृष्टि से, सिकन्दरिया में होमर के ग्रन्थों के दो पाठ तयार किये गये थे। उसका व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक दूसरा उदाहरण लेना उपयुक्त होगा। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि सबसे पहिले दार्शनिकों ने वचन की परिभाषा दी थी किन्तु अरिस्टॉटल ने कभी एक वचन तथा बहुवचन शब्दों का प्रयोग नहीं किया था और द्विवचन तो वह जानता भी न था। उसने केवल कारकों का उल्लेख किया है जो एक अथवा अनेक भावों को व्यक्त करते हैं। उसने कारक (Case=ग्रीक ptosis ) शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया

था, वह आज के व्याकरण में प्रयुक्त अर्थ से सर्वथा भिन्न था। आगे चलकर आवश्यकता पड़ने पर ही 'एकवचन' तथा 'बहुवचन'—शब्दों का निर्माण हुआ और इसके निर्माणकर्त्ता भी वैयाकरण ही थे। होमर के ग्रंथों के संपादक ज़ेनोडोटस ने उसकी कविता में सर्वप्रथम द्विवचन का प्रयोग देखा था और उत्साह में आकर उसने अनेक अनावश्यक स्थानों में भी बहुवचन शब्दों को द्विवचन में परिणत कर दिया था।

इसप्रकार सिकन्दरिया और विशेषरूप से उसके प्रतिद्वन्दी संस्थान पर्गैमुस के विद्वानों ने सर्वप्रथम ग्रीक भाषा का आलोचनात्मक पद्धति से अध्ययन किया। दूसरे शब्दों में इन्हीं विद्वानों ने (ग्रीक) भाषा का विश्लेषण किया। उसे सामान्य कोटियों में वर्गीकृत किया, शब्द के अनेक धर्मों के लिए उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया, कतिपय कवियों के शुद्ध प्रयोगों को परखा, लुप्त एवं क्लासिकल रूपों के अंतर को अंकित किया और इन विषयों पर शोधसम्बन्धी विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा। भाषा-विज्ञान के इतिहास में वास्तव में इनके ग्रंथ युग निर्माता थे; किन्तु ग्रीक भाषा के आरंभिक वास्तविक एवं व्यावहारिक व्याकरण के लिए अभी एक कदम और बाक़ी था। ग्रीक का प्रथम वास्तविक व्याकरण डियोनिसियस थ्रैक्स (Dionysius Thrax) ने लिखा। यह आज भी उपलब्ध है और यद्यपि इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कतिपय लोगों ने संदेह व्यक्त किया है किन्तु अब इनका पूर्णतया निराकरण हो चुका है।

## डियोनिसियस थ्रैक्स

यह डियोनिसियस थ्रैक्स कौन था? जैसा कि उसके नाम से ही ज्ञात होता है, उसका पिता थ्रैक्स का निवासी था किन्तु डियोनिसियस स्वयं सिकन्दरिया में रहता था तथा वह होमर के प्रसिद्ध आलोचक एवं सम्पादक अरिस्टार्कुस का शिष्य था। बाद में वह रोम गया तथा पोम्पिआई के समय—वह रोम में अध्यापन-कार्य करता था। यहाँ हमें मानव-इतिहास में एक नवीन तथ्य का दर्शन होता है। हम अरिस्टार्कुस के एक ग्रीक शिष्य को रोम में निवास करते हुए तथा अपने रोमन शिष्यों के लाभ के लिये ग्रीक भाषा का एक व्यावहारिक व्याकरण लिखते हुए पाते हैं। वास्तव में यह व्याकरण-शास्त्र का आविष्कर्ता न था। जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं, व्याकरण का प्रायः सम्पूर्ण ढाँचा उसे अपने पूर्व के विद्वानों—प्लेटो से अरिस्टार्कुस तक—से उपलब्ध हुआ था। किन्तु वह प्रथम व्यक्ति था जिसने पुराने आलोचकों एवं दार्शनिकों की व्या-

करण सम्बन्धी खोजों का ग्रीक के अध्यापन में, व्यावहारिक रूप में प्रयोग किया था। यहाँ यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है कि उसने ग्रीक लोगों को ग्रीक नहीं पढ़ाया, जो ग्रीक भाषा एवं उसके सिद्धान्तों से परिचित थे, अपितु उसने रोमन लोगों को ग्रीक पढ़ायी थी। इन लोगों को ग्रीक भाषा के शब्द एवं धातुरूपों को भी उसे पढ़ना पड़ा था तथा नियमित अनियमित रूप से चलने वाले विच्छेदक एवं योजक शब्दरूपों का निर्देश भी करना पड़ता था। इसप्रकार उसका व्याकरण एक ऐसा मुख्य स्रोत बन गया जिसके पारिभाषिक शब्द एथेन्स से सिकन्दरिया होते हुए रोम लौट आये थे और उसके बाद यहाँ से उनका समस्त सभ्य संसार में प्रचार एवं प्रसार हुआ था।

## रोम में ग्रीक के अध्यापक

यद्यपि डायोनिसियस ग्रीक के प्रथम व्यावहारिक व्याकरण का प्रणेता था तथापि रोम को अपना निवास-स्थान बनाने वाला वह ग्रीक भाषा का प्रथम प्राध्यापक न था। आजकल लन्दन में जिस मात्रा में फ्रेंच प्रचलित है उससे कहीं अधिक, उस युग में, रोम में ग्रीक का प्रचलन था। यहाँ भद्र परिवार के लड़के, लैटिन के पूर्व, ग्रीक पढ़ते थे। यद्यपि क्विन्टिलियन (Quintilion) ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया है कि आजकल सभी लोगों में सदा के लिये जो केवल ग्रीक पढ़ने का एक फैशन चल गया है, वह ठीक नहीं है तथापि उसे यह भी कहना पड़ा था कि पहले ग्रीक सीखकर ही लोगों को लैटिन पढ़नी चाहिये। यद्यपि यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होगी किन्तु यह सत्य है कि जहाँ तक हमें इटली के सम्बन्ध में ज्ञान है, यहाँ के लोग ग्रीक से उतना ही परिचित थे जितना वे लैटिन से परिचित थे। इटली को सब कुछ ग्रीक से ही प्राप्त हुआ था। यह प्राप्ति केवल बाद के उस युग में ही नहीं हुई थी जब ग्रीक सभ्यता के अस्ताचल की ओर गमन करने वाली सूर्य की किरणें रोम के उत्थान की प्रभातकालीन किरणों से अभिमिश्रित हो रही थीं, अपितु इसका आरम्भ उस समय से ही हो चुका था, जब नये निवास की खोज में ग्रीक लोगों ने पश्चिम में अपना उपनिवेश बनाना आरंभ किया था। टली के लोगों ने अपने लिखने-पढ़ने की वर्णमाला भी ग्रीक लोगों से प्राप्त की थी। तौलने की तराजू एवं कपड़े नापने के गज के नाम सामान्यरूप से इंजनों के नाम एवं द्रव्य के सिक्कों के नाम तथा समुद्र से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक शब्दों (जिनमें सामुद्रिक बीमारी संबंधी शब्द भी

सम्मिलित हैं) को भी इटली के लोगों ने ग्रीक से उधार लिया था, ये बातें उस सीमा का निर्देश करती हैं जिस सीमा तक इटालियन, सभ्यता के उन तत्वों के लिए ग्रीक लोगों के ऋणी हैं। निस्सन्देह इटली के लोगों का अपना धर्म था और उनके कतिपय देवता तो लैटिन एवं ग्रीक में एक ही हैं। वास्तव में ये देवता सभी आर्य भाषा-भाषियों के देवता हैं क्योंकि इनका अस्तित्व सर्वत्र मिलता है, किन्तु कतिपय ऐसे देवताओं के नाम भी मिलते हैं जो अम्ब्रियन एवं सैबेलियन में तो नहीं मिलते किन्तु लैटिन एवं ओस्कन में उपलब्ध हैं। ये नाम ग्रीक से आये हैं। ये देवता अपोलो एवं हरक्यूलिज़ (ओस्कन Heraklo) हैं। मॉमसेन (Mommsen) एक इटालियन देवता का नाम हेरेक्लुस (Hereclus) था किन्तु आगे चलकर यही ग्रीक का हेराक्लिज (Herakles) बन गया। इसके नाम की व्युत्पत्ति 'हेरकेरे' (Hercere) से बतलायी जाती है जिसका अर्थ वही है जो ग्रीक 'हेरकियॉस' (herkeios) का। 'हेरकियॉस' का अर्थ ग्रीक में 'सीमा-रक्षक' है, लेकिन इसकी व्युत्पत्ति में अनेक कठिनाइयाँ हैं। वस्तुतः 'हेरकेरे' (hercere) शब्द लैटिन में नहीं मिलता। यदि यह मिलता भी तो वह उसी धातु से व्युत्पन्न न होता जिससे 'हेरकॉस' (herkos)। इसके अतिरिक्त लघुतावाची प्रत्यय 'लुस्' (lus) से 'हरकुलुस' (herculus) अथवा 'हरक्लुस' (herclus) शब्द निष्पन्न होगा न कि लैटिन का 'हेरेक्लुस्' (hereclus) शब्द।

कॉस्टर (Castor) एवं पोलुक्स (pollux) जो मूलतः ग्रीक देवता थे, इटली के नाविकों के देवता बन गये और लेक रेगिलस (ई० पू० ४८५) के युद्ध के बाद इनके लिये रोम में एक मन्दिर बन गया। इसीप्रकार ४३१ ई० पू० रोम में ही 'अपोलो' के लिये एक दूसरा मन्दिर बना जिसके 'डेल्फी के ओरेकिल' (डेल्फी के भविष्यवक्ता) की बड़ी प्रसिद्धि हुई। रोम में ग्रीक लोगों के उपनिवेशन के बाद इटली के लोग इस 'ओरेकिल' से बराबर प्रश्न पूछते थे। 'क्यूमे' (Cumae) के 'सायबिला' (Sibylla) के भविष्य-वक्ता की वाणी तो ग्रीक में लिखी होती थीं जिसे अनूदित करने के लिये पुरोहित लोग दो ग्रीक दासों को अपने यहाँ रखते थे।

ग्रीस तथा इटली के कई देवता तो एक ही थे। जुपिटर (Jupiter) तो स्पष्टतया आर्यों का देवता जेउस (Zeus) था। उसकी पत्नी 'जुनो' (Juno) को 'हेरा' (Hera) माना गया। एरेस् (Ares) को वस्तुतः

मार्स (Mars) का प्रतिरूप माना गया। इसी प्रकार हेफास्टोस (Hephaestos) का वुलकानुस (Vulcanus) एवं एथेने (Athene) का मिनर्वा (Minerva) के साथ समीकरण किया गया। इटली के फसलों की कटनी के देवता शनैश्चर (Saturnus) का समीकरण ग्रीक देवता क्रोनोस (kronos) से किया गया। चूँकि 'क्रोनोस' 'उरोनॉस' (Uronos) का पुत्र था अतएव 'सैटर्नुस' के पिता की भी खोज की गई और उसका नामकरण 'कैलुस' (Caelus) किया गया।

जब ४५४ ई० पू० में रोमन लोगों को अपने देश के लिये कानून बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उन्होंने अपने कई उच्चशिक्षित व्यक्तियों को ग्रीस के एथेन्स तथा अन्य नगरों में प्रचलित अधिनियमों के अध्ययन के लिये भेजा। जब रोम की राजनैतिक शक्ति विकसित हुई तो वहाँ ग्रीक शिष्टाचार, ग्रीक कला, ग्रीक भाषा एवं ग्रीक साहित्य को तत्काल स्थान मिला। 'प्यूनिक युद्धों' के आरम्भ से पूर्व ऐसे अनेक रोमन राजनीतिज्ञ थे जो ग्रीक भाषा समझ एवं बोल लेते थे। यहाँ के बालकों को केवल रोमन वर्णमाला ही नहीं सिखाई जाती थी अपितु उसके साथ-साथ उन्हें ग्रीक वर्णमाला का भी अभ्यास करना पड़ता था। उस समय, रोम में जो लोग ग्रीक पढ़ाते थे उन्हें ग्रामाटिकी (Grammatici) के नाम से अभिहित किया जाता था और पढ़ाने वाले प्रायः सभी ग्रीक दास अथवा लिबर्टी (Liberti) थे।

कैटो (Cato) के अनुसार वहाँ युवकों को भद्र बनने के लिये ग्रीक जानना आवश्यक था। वे ग्रीक पुस्तकें पढ़ते थे, ग्रीक में ही बातें करते थे तथा ग्रीक में ही लिखते भी थे। प्रसिद्ध प्रद्रूत टाइबेरियस ग्रेचुस (Tiberius Gracchus) ने १७७ ई० पू०, रोड्स (Rhodes) में, ग्रीक में एक भाषण दिया था जिसे बाद में उसने प्रकाशित भीं कराया था। फ्लेमिनुस (Flaminus) को जब ग्रीक लोगों ने लैटिन में सम्बोधित किया तो उसने आभार प्रदर्शन में ग्रीक देवताओं की ग्रीक भाषा में ही स्तुति की थी। फेबियस पिक्टर (Fabius Pictor) ने २०० ई० पू० में रोम का प्रथम इतिहास रोम में ही बैठकर ग्रीक में लिखा था। सम्भवतः इसी के तथा 'लुसियस सिन्सियस अलिमेन्टुस (Lucius Cincius Alimentus) एवं पबलियस स्किपियो (Publius Scipio) के विरोध में 'कैरो' ने अपना रोम का इतिहास लैटिन में लिखा था। वहाँ उच्चवर्ग के लोगों के आदर्श का निम्नवर्ग

के लोग अत्यन्त आतुरता से पालन करते थे। प्लाउटुस (plautus) के नाटक इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। इसके नाटक के कतिपय पात्रों को ग्रीक शब्दों के प्रयोग में वैसा ही आनन्द आता है जैसा जर्मनी के १८वीं शताब्दि के लेखकों को अपनी कृतियों में फ्रेंच भाषा के मूर्खतापूर्ण दर्शन में होता था।

## ग्रीक का रोम पर प्रभाव

रोम को ग्रीस से जो उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था, उसमें हानि एवं लाभ दोनों थे। किन्तु ग्रीक शिक्षकों के अभाव में रोम की क्या स्थिति होती, इसकी कल्पना भी आज कठिन है। रोम के साहित्य के तो ग्रीक वास्तव में जनक ही थे। इनके अध्यापक तो ग्रीक थे ही, इनके अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो ग्रीक से पाठ्यपुस्तकों एवं नाटकों का अनुवाद करके अपनी जीविका अर्जित करते थे। लिव्हियस एन्ड्रोनिकस (Livius Andronicus) नामक व्यक्ति २७२ ई० पू० टारेन्टुम (Tarentum) से युद्ध-बन्दी बनाकर रोम भेजा गया और वह वहाँ जाकर ग्रीक भाषा का प्राध्यापक बन बैठा। अपनी प्राइवेट कक्षा के छात्रों के लिये उसने होमर के ओडेसी का लैटिन छन्दों में अनुवाद किया था। वास्तव में इसीसे रोमन साहित्य का समारम्भ हुआ था। उसकी शैली अत्यधिक भद्दी एवं जड़ थी किन्तु राजधानी के उदीयमान कवियों के लिये तो वही पूर्णता का आदर्श बनी। नेवियस (Naevius) एवं प्लाउटुस (Plautus) उसके समसामयिक एवं तात्कालिक क्रमानुयायी थे। प्लाउटुस के सभी नाटक मूलतः ग्रीक से अनूदित एवं अनुयोजित थे और उसे यह भी अधिकार न था कि अनुवाद में वह ग्रीस के किसी दृश्य को रोम के दृश्य में परिवर्तित कर सके। रोम की जनता ग्रीक लोगों के जीवन एवं उनके कालुष्य को देखना चाहती थी। यदि किसी नाटककार ने कभी रोमन गृहिणी अथवा अभिजात पात्र को रंगमंच पर प्रदर्शित करने का यत्न किया तो उसे लोग पत्थर मारते थे। ग्रीक के दुखान्त नाटक भी लैटिन में अनूदित किये गये। नेवियस एवं प्लाउटुस के समसामयिक एनियस (Ennius) ने जो अवस्था में इन दोनों से छोटा था, यूरिपाइडिज (Euripides) के नाटकों का सर्वप्रथम अनुवाद किया। एन्ड्रोनिकस की भाँति ही एनियस भी इटली का रहनेवाला ग्रीक था। वह रोम में ग्रीक भाषा के अध्यापक एवं अनुवादक के रूप में आया था और वहीं बस गया था। रोम के उदार दल के लोग, पब्लियस स्किपियो (Publius Sci-

pio), टाइटस फ्लेमिनियस Titus Flaminins) तथा मार्कस फुल्वियस नोबिलियर (Marcus Fulvius Nobilior) उसके आश्रयदाता थे। वह रोम का नागरिक बन गया था। किन्तु एनियस केवल कवि तथा भाषा का अध्यापक ही न था, उसमें और भी विशेषताएँ थीं। वह नवमत प्रचारक के रूप में प्रसिद्ध है और कुछ अंशों में यह सत्य भी है। उसने दो ऐसे ग्रीक ग्रंथों का लैटिन में अनुवाद किया है जो अत्यधिक विद्वेषपूर्ण भावना से ग्रीक धर्म एवं ग्रीक देवताओं के अस्तित्व के विरोध में लिखे गये थे। इन में से एक एपिचैमुस (Epichaimus) का दर्शन है जो ४७० ई० पू० मेगारा में लिखा गया था। एपिचैमुस ने अपनी इस पुस्तक में यह प्रतिपादित किया है कि ग्रीकदेवता ज़ेउस (Zeus=सं० द्योस) 'वायु' अथवा 'मरुत' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसीप्रकार ग्रीक लोगों के अन्य देवता भी प्रकृति की शक्ति के ही नाम हैं। दूसरे ग्रंथ का लेखक 'मेसेने' (Messene) का निवासी यूहेमेरेस (Euhemerus) था; सका समय ३०० ई० पू० है। उसने उपन्यास के रूप में अपना यह ग्रंथ लिखा है और इसमें यह सिद्ध किया है कि ग्रीक देवताओं का कहीं वास्तविक अस्तित्व न था और ये मनुष्य ही थे। ये दोनों ग्रंथ निरुदेश्य अनूदित नहीं हुए थे। यद्यपि ये दोनों ग्रंथ स्वयं अत्यधिक छिछले हैं तथापि और भी अधिक छिछली रोमन र्मपद्धति के लिये ये विध्वंसात्मक सिद्ध हुए। इन ग्रंथों में ग्रीक, काफिर का पर्यायवाची बन गया है और एनियस को तोम के प्रभावशाली राजनीतिज्ञों का प्रश्रय न मिला होता तो उसे वही दंड मिलता जो नेवियस को राजनैतिक विदूषात्मक पुस्तकें लिखने के लिये मिला था। ग्रीक दर्शन एवं अलंकार-शास्त्र का भयंकर शत्रु कैटो भी एनियस का मित्र था, किन्तु उस युग में रोम में ग्रीक का इतना अधिक प्रभाव था कि कैटो को बुढ़ापे में ग्रीक भाषा का इसलिए अभ्यास करना पड़ा ताकि वह कम से कम अपने लड़के को ग्रीक साहित्य का वह अंश पढ़ा सके जो दोष रहित हो, भले ही वह लाभदायक न हो। कैटो ग्रीक की सभी वस्तुओं का घोर विरोधी था और इस कारण लोग उसकी हँसी भी उड़ाते थे किन्तु उसके विरोध में सत्य का अंश अधिक था। बंगाल के युवकों के सम्बन्ध में भी हमें ऐसी ही बातें सुनने को मिलती हैं। ये हिन्दू युवक बायरन एवं वाल्तेयर की पुस्तकें पढ़ते हैं, बिलियर्ड खेलते हैं, टमटम पर चढ़कर घूमने निकलते हैं, अपने पुरोहितों का मजाक उड़ाते हैं तथा मिशनरियों को प्रश्रय प्रदान करते हैं, किन्तु वास्तव में वे किसी बात में विश्वास नहीं करते। कैटो ने रोम के

आलसी युवकों का जो विवरण दिया है उसे पढ़कर सहसा हमें बंगाल के युवकों का स्मरण हो आता है।

जब रोम ने मृतप्राय ग्रीस के हाथ से ज्ञानदीपक लिया था उस समय वह अपनी उच्चतम प्रभा बिखेरने में असमर्थ हो चुका था। तब प्लेटो एवं अरिस्टॉटल के आसन पर क्रिसिपस (Chrysippus) एवं कारेंडेस (Carneades) विराजमान थे और एस्काइलस (Aeschylus) तथा सोफोक्लिज (Sophocles) का स्थान यूरिपाइडिज़ (Euripides)) एवं मिनाण्डर (Menander) ले चुके थे। ग्रीस के ज्ञानदीपक का अभिभावक बनकर केवल इटली को ही नहीं अपितु यूरप के अन्य देशों को प्रकाश प्रदान करने वाला रोम अपनी उन आंचलिक विशेषताओं को खो बैठा, जिसके कारण उसका महत्त्व था। क्रमशः रोम की मितव्ययिता एवं गम्भीरता, उसकी नागरिकता एवं देशभक्ति तथा शुचिता एवं साधुता का तिरोभाव हो गया और उसका स्थान ग्रीक की भोगलिप्सा एवं अविवेक, षड्यंत्रकारिता एवं स्वार्थपरता और पापाचार तथा अनास्था ने ले लिया। प्रतिबन्धों एवं अभिशापों का रोम की जनता पर कोई प्रभाव न था और कैटो तथा उसके मित्रों की निन्दा के बावजूद भी रोम के लोग ग्रीक के प्रवाह में बहते गये। प्रत्येक नई पीढ़ी की नसनस में ग्रीक विचारधारा व्याप्त होती गई। ई० पू० १३१ में पब्लियस क्रेसस (publius Crassus) नामक प्रदूत का नाम मिलता है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह मेज़ोफान्ती (Mezzofanti) की भाँति विविध ग्रीक बोलियों में भी वार्तालाप कर सकता था। रोमन सीनेट के सम्मुख सुल्ला (Sulla) ने विदेशी राजदूतों को ग्रीक में बोलने की आज्ञा दी थी। स्टोइक विचारधारा का दार्शनिक पैनेटियस (panaetius) स्किपिओस (Scipios) के घर रहता था। बहुत दिनों तक, यह स्थान, रोम के साहित्यकारों का अड्डा था। यहाँ ग्रीक इतिहास के पंडित पोलीबियस (polybius), दार्शनिक क्लिटोमैकुस (Clitomachus), व्यंग्यलेखक लुसिलियस (Lucilius), अफ्रीकी कवि टेरेन्स (Terence, ई० पू० १९६-१५९) एवं आशुकवि आर्चियस (Archias ई० पू० १०२) अतिथिरूप में सम्मान पाते थे। स विशिष्ट गोष्ठी में उत्कृष्ट ग्रीक साहित्य का अध्ययन एवं उसकी आलोचना होती थी, ग्रीक दर्शन के सम्बन्ध में वाद-विवाद होते थे तथा मानवजीवन की उच्च धारणाओं के सम्बन्ध में विचारपूर्ण वार्तालाप होते थे।

यद्यपि इस गोष्ठी से कोई प्रतिभाशाली कवि नहीं निकला किन्तु रोमन साहित्य के विकास पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। एक प्रकार से यह गोष्ठी सुरुचि एवं शील का न्यायालय थी और क्लासिकल लैटिन में जो हमें शुद्धता, सरलता एवं शौर्य के दर्शन होते हैं उसका बहुत कुछ श्रेय इस गोष्ठी को ही है जिसके सदस्यों के लिये स्किपियों का घर अतिथिशाला थी। प्रत्येक आगामी पीढ़ी में रोम के लोगों के लिए ग्रीक का ज्ञान अत्यधिक सामान्य होता गया। 'सिसरो' (Cicero) सीरेकस (Syracuse) की संसद् में तथा 'अगस्टस' (Augustus) अलकजेन्डरिया (Alexandria) के नगर परिषद् में ग्रीक में भाषण देता था। ओविड (Ovid) के अनुसार लड़के और लड़कियाँ मेनान्डर (Menander) के नाटक का अध्ययन करते थे।

प्यूनिक युद्ध के अन्त में रोमन समाज का धार्मिक जीवन, रोमन की अपेक्षा ग्रीक अधिक था। जो लोग धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में, यहाँ गम्भीरतापूर्वक विचार करने वाले थे, वे या तो स्टोइक (जितेन्द्रिय) अथवा एपिक्यूरियन (इन्द्रिय सुखानुरागी) दार्शनिक विचारधारा के अनुयायी थे या वे न्यू एकेडमी के सिद्धान्तों के पोषक थे जिनके अनुसार अनन्त असीम सत्ता के सम्बन्ध में ज्ञानोपलब्धि असंभव है और सत्य के नाम पर केवल विचारों की अभिव्यक्ति ही सम्भव है। यद्यपि इन्द्रिय-सुखानुरागी तथा न्यू एकेडमी के सिद्धान्त सदैव भयानक एवं अधार्मिक माने जाते थे तथापि स्टोइक विचारधारा का अनुगमन लोगों को सह्य था और इसप्रकार दर्शन एवं धर्म में एक प्रकार से समन्वय का स्थान मिला था। यहाँ दर्शन एवं धर्म, दोनों, राज्यस्वीकृत थे। यद्यपि रोमन पुरोहित ई० पू० १६१ में ही सभी ग्रीक अलंकार शिक्षकों एवं दार्शनिकों को देश से निष्कासित करने में सफलता प्राप्त कर चुके थे तथापि उन्होंने इस बात का भी अनुभव किया था कि इस सम्बन्ध में समन्वय की आवश्यकता थी। लोगों ने यह बात स्पष्टरूप से स्वीकार कर ली थी कि जहाँ तक प्रबुद्ध लोगों का प्रश्न था, धर्म का स्थान दर्शन को लेना चाहिये। किन्तु अधिकांश जनता को वश में रखने के लिये चमत्कार एवं भविष्यवाणी में भी विश्वास रखना आवश्यक था। कैटो जैसे व्यक्ति ने भी जो परंपरानिष्ठ राष्ट्रीय एवं सनातनी दल का नेता था, इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि जब एक शकुन-शास्त्री अपने दूसरे सहयोगी से मिला तो वह अपनी हँसी को न रोक सका था। स्किपियो, एमीलियानुस (Aemilianus) एवं लैलियस (Laelius) जैसे व्यक्ति भी

जनता द्वारा मान्य देवताओं में विश्वास रखते थे। इनके अनुसार जुपिटर विश्व की आत्मा था और देवताओं की मूर्तियाँ कलाकृतियाँ मात्र थीं। इनके देवता अशरीरी एवं वासनारहित थे। न विचारधाराओं के बावजूद भी रूढ़िवादी पुरोहितों एवं स्टोइक दार्शनिकों के बीच सद्भावना सुरक्षित थी। ये दोनों एक ही प्रकार के देवताओं में विश्वास रखते थे किन्तु ये विश्वास एक ही प्रकार के न थे और विभिन्न रुचियों के कारण उनमें भी भिन्नता थी।

प्यूनिक युद्ध के अन्त में रोम के बौद्धिक वातावरण में जो अन्तर आये उनके सम्बन्ध में ऊपर निवेदन किया गया है। वहाँ इस बात को भी स्पष्ट करने का यत्न किया गया है कि इस युग में रोम के लोग ग्रीक विचारधारा से कितनी अधिक मात्रा में सम्पृक्त थे। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ग्रीक व्याकरण को उत्साह एवं तत्परता से अध्ययन करने वाले रोम के केवल कतिपय विद्वान् एवं दार्शनिक ही नहीं थे अपितु इस युगके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ भी इसका अध्ययन करते थे। हम लोगों की दृष्टि में संज्ञा एवं क्रिया, कारक और लिंग तथा शब्द एवं धातुरूपों का अध्ययन यत्किंचित क्लेशकर है अतएव हम लोगों के लिये आज यह समझना भी कठिन है कि किस प्रकार रोमन लोगों को विशुद्ध व्याकरण के अध्ययन में रस मिलता होगा तथा यह उनके वार्तालाप का प्रिय विषय बना होगा। यद्यपि व्याकरण के अध्ययन के समय में लोग ग्रीक के प्रतिष्ठित लेखकों के उद्धरण भी देते थे जिससे उनका यह अध्ययन सरस बन जाता था तथापि उनका मुख्य उद्देश्य भाषा का अध्ययन करना ही होता था।

## पर्गामुस का क्रेट्स

उस युग का प्रथम वैयाकरण पर्गामुस का क्रेट्स (Crates) जब रोम के राजा अटालुस (Attalus) के दरबार में राजदूत बनकर गया तो राजधानी के सभी साहित्यिक राजनीतिज्ञों ने अत्यधिक समादर के साथ उसका स्वागत किया। वह क्रिसिपुस (Chrysippus) के शिष्य, डियोगनेस वेबिलोनियस् (Diogenes Babylonius) का शिष्य था। चूँकि क्रिसिपुस **'एनोमेली'** (Anomaly) के सिद्धान्त का पोषक था अतएव क्रेट्स के भाषा के दर्शन का वही रूप था। एक दिन पैलेसियन पर्वत पर टहलते हुये क्रेट्स का पैर नाली के तारों में फँस गया और जिसके कारण गिरने से उसका पैर टूट गया। इसप्रकार रोम में अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसे कुछ दिनों और रुकना पड़ा। लोगों ने उसे व्याकरण के सम्बन्ध में

कतिपय सार्वजनिक भाषण देने के लिये अनुरोध किया और सुयेटोनियस के अनुसार इन भाषणों की तिथियों से ही रोम में व्याकरण के अध्ययन का समारम्भ हुआ। ये भाषण–द्वितीय तथा तृतीय प्यूनिक युद्ध के बीच ई० पू० १५९ में एनियस की मृत्यु के कुछ दिनों बाद ही दिये गये थे। इसके दो वर्ष बाद ई० पू० १६१ में रोम से ग्रीक अलंकार-शास्त्रियों एवं दार्शनिकों का निष्कासन हुआ था।

## कार्नेडेस

इसके चार वर्ष बाद कार्नेडेस (Carneades) रोम में दूत बनकर आया किन्तु कैटो ने उसके भाषण पर रोक लगा दी। क्रेट्स के भाषणों के बाद रोम में भाषा एवं व्याकरण के अध्ययन की परिपाटी सुचारुरूप से चल पड़ी।

## एलेक्ज़ेण्डर पोलिहिस्टोर

उसका शिष्य अलेक्ज़ेण्डर पोलिहिस्टोर, सुल्ला द्वारा सम्मानित हुआ। जिसप्रकार क्रेट्स ने ग्रीक भाषा के सम्बन्ध में भाषण दिया था उसीप्रकार आगे चलकर लुसियस एलियस स्टिलो (Lucius Aelius Stilo) ने लैटिन भाषाके सम्बन्ध में भाषण दिया था।

## वरो, लुसिलियस तथा सिसेरो

इसके तीन शिष्य––वरो (Varro), लुसिलियस (Lucilius) एवं सिसेरो (Cicero) थे। वरो ने लैटिन में चौबीस ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इनमें से चार ग्रन्थ सिसेरो को समर्पित किये गये थे। सिसेरो को भी व्याकरणीय प्रश्नों के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वान् माना गया है, यद्यपि आज व्याकरण के सम्बन्ध में उसके द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। लुसिलियस ने अपनी नौवीं हास्य-रसात्मक पुस्तक अखरौटी (Spelling) के सुधार के सम्बन्ध में लिखी थी।

## कैसर की कृति

इसके बाद कैसर (Caesar) कृत लैटिन व्याकरण आया। इस कृति से यह स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है कि रोमन समाज के श्रेष्ठ लोगों की व्याकरण के अध्ययन की पिपासा कितनी तीव्र थी। लेखक ने अपनी इस कृति का प्रणयन गैलिक युद्ध के समय किया था और इसे उसने सिसेरो को समर्पित

किया था। रोम के प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष एवं राजनीतिज्ञ के इस सम्मान से सिसेरो फूला न समाया होगा। आज इनमें से अधिकांश कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं और इनके यत्र-तत्र जो उद्धरण मिल जाते हैं उनसे ही हम इसके महत्त्व का अनुमान कर सकते हैं। कैसर की कृति के एक खण्ड "डी अनालोगिया" (De Analogia) के पढ़ने से ज्ञात होता है कि लैटिन में अपादान कारक की खोज उसी ने की थी। इसके पूर्व, लैटिन में इस शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। लेखक ने किसी अन्य कृति से इसे उधार लिया होगा, इसकी भी संभावना नहीं है क्योंकि ग्रीक वैयाकरणों ने अपादान के अस्तित्त्व को ही नहीं स्वीकार किया है। कैसर के असाधारण युग एवं उसके व्यक्तित्व के विषय में ग्रीक विद्वान् डिडिमस (Didymus) ने हमको नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। एक ओर गाल एवं जर्मनी के बर्बर लोगों से युद्ध करते हुए उसकी दृष्टि रोम की जटिल राजनैतिक परिस्थिति एवं संसार के शासन पर थी तो दूसरी ओर उसका ध्यान अपने सचिव के साथ भाषा-विज्ञान एवं व्याकरण के अध्ययन की ओर भी था। युद्ध में विजय के पश्चात् कैसर की प्रिय योजना रोम में एक लैटिन एवं ग्रीक पुस्तकालय की स्थापना की थी। उसने उसके पुस्तकाध्यक्ष पद के लिये उस युग के सबसे बड़े पण्डित वरो को चुना था, यद्यपि वरो उसके विरुद्ध पोम्पे (pompey) के युद्ध में लड़ चुका था।

## व्याकरण सम्बन्धी परिभाषिक शब्द

इस विवरण के पश्चात् हम उस युग में आ जाते हैं जब डियोनिसियस थ्रैक्स ने अपने आरंभिक ग्रीक व्याकरण की रचना, रोम में, की थी। इस सम्बन्ध में अन्यत्र निवेदन किया जा चुका है। संक्षेप में, प्रयोग सिद्ध व्याकरण का रोम में प्रतिरोपण हुआ था और इसके लिये ग्रीक के पारिभाषिक शब्द लैटिन में अनूदित किये गये थे। इसप्रकार अपने इस नूतन लैटिन रूप में यह व्याकरण गत दो हजार वर्षों से समस्त सभ्य संसार में विचरण कर रहा है। भारत के ब्राह्मण गुरुकुलों में, व्याकरण सम्बन्धी जिस पारिभाषिक शब्दावली का प्रणयन हुआ था वह सिकन्दरिया एवं रोम की पारिभाषिक शब्दावली से भिन्न किन्तु अधिक पूर्ण थी, किन्तु वहाँ भी आज हम यूरोपीय अध्यापकों द्वारा भारतीय छात्रों को कारक (Case), लिंग (gender), कर्तृवाच्य (Active Voice) एवं कर्मवाच्य (passive Voice) का ज्ञान लैटिन प्रणाली से ही कराते हुए पाते हैं। शब्दों का भी विचित्र भाग्य होता है

और इधर हाल ही में मुझे भारत के सरकारी स्कूल की परीक्षा में व्याकरण सम्बन्धी जो एक प्रश्न देखने में आया तो एक वाक्य में ही मेरे सामने सम्पूर्ण इतिहास आ गया। प्रश्न इस प्रकार था—'शिव' शब्द के सम्बन्ध-कारक (षष्टी) के रूप लिखो। यह सम्बन्ध कारक (Genitive) भारत कैसे पहुँचा? यह इँगलैंड से भारत गया, इंगलैंड में यह रोम से आया था। रोम में यह सिकन्दरिया से तथा सिकन्दरिया में यह एथेन्स से पहुँचा था। एथेन्स में "केस" (कारक=ग्रीक प्टोसिस=Ptosis) का प्रयोग दर्शनशास्त्र में होता था। वहाँ इसका अर्थ भी भिन्न होता था। रोम (लैटिन) में इसका शाब्दिक अनुवाद 'कासस' (Casus) हुआ जिसका मूल अर्थ 'पतन' था। कालान्तर में उसका यह अर्थ लुप्त हो गया और आज यह व्याकरण का एक पारिभाषिक शब्द बन गया है। एथेन्स में भाषा का दर्शन वास्तव में मानसिक दर्शन का ही प्रतिरूप था। वहाँ तर्कशास्त्र एवं व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्द एक ही थे। स्टोइक विचारधारा के दार्शनिकों ने तर्क (तर्कशास्त्र) को दो खण्डों में विभाजित कर रखा था। इनमें से एक अलंकार (Rhetoric) तथा दूसरा खण्डन-मण्डन (Dialectic) से सम्बन्धित था। इनमें भी दूसरे का सम्बन्ध भाषा से तथा पहले का सम्बन्ध वस्तु से था। उनकी दार्शनिक भाषा में प्तोसिस (Ptosis)—रोमन (लैटिन) में इसका अनुवाद 'कासस' (Casus) था—का अर्थ 'गिरावट' अथवा 'पतन' था। इसका वास्तविक अर्थ एक विचार से दूसरे विचार का सम्बन्ध अथवा एक शब्द का दूसरे शब्द पर आश्रय लेना था। वहाँ 'प्तोसिस' को लेकर इस बात पर घोर विवाद होता था कि इसका प्रयोग कर्ता (Nominative) के लिये भी करना चाहिये अथवा नहीं? प्रत्येक सच्चे स्टोइक को इस बात में आपत्ति थी और वह इस बात की खिल्ली भी उड़ाता था कि 'कासस रेक्टस' (Casus Rectus) का प्रयोग कर्तृपदीय शब्द अथवा कर्ता के लिये करना चाहिए। उसके अनुसार कर्ता का आधार कोई अन्य नहीं होता अपितु वह ऊर्ध्वरूप में अवस्थित रहता है और वाक्य के अन्य शब्द इसकी ओर झुके रहते हैं अथवा इस पर आधारित होते हैं। आज जब हम 'केस' (Case) शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारे सामने ये कोई भी अर्थ नहीं होते।

## सम्बन्धकारक

और हिन्दुस्थान के सरकारी स्कूलों के परम्परावादी पंडित, जेनेटिव

(Genetive=संबंधकारक) के वास्तविक अर्थ का अनुमान भी कैसे कर सकते हैं? लैटिन का "जेनिटिवुस" (Genitivus) शब्द अशुद्ध है, क्योंकि ग्रीक 'जेनिके' (Genike) का अर्थ कभी भी 'जेनिटिवुस' (Genitivus) नहीं हो सकता। यदि 'जेनिटिवुस' का प्रयोग, 'उत्पत्ति' अथवा 'जन्म' के अर्थ में किया जाता है, तो ग्रीक में उसका रूप जेनेटिके (Genetike) होगा, न कि 'जेनिके'। पुनः जेनिटिव (Genitive) पिता-पुत्र के संबंध को भी नहीं प्रकट करता, क्योंकि यदि हम 'पिता का पुत्र' (The son of the Father) कह सकते हैं, तो इसीप्रकार हम 'पुत्र का पिता (The Father of the son) भी कह सकते हैं। ग्रीक में 'जेनिके' का इसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत अर्थ है। वहाँ इसका दार्शनिक अर्थ भी विस्तृत है। वहाँ यह एक सामान्य अवस्था (Casus Generatis) को द्योतित करता है, और यह प्रजाति (Genus) अथवा प्रकार को द्योतित करता है। सम्बन्धकारक (Genitive) की वास्तविक शक्ति यही है। जब हम "जलपक्षी=जल का पक्षी" अथवा "जल का" (A bird of the water; of the water) कहते हैं तो हमारा उद्देश्य, उस प्रजाति को परिभाषित करना होता है, जिसका वह पक्षी है। यह जलपक्षी के प्रजाति को द्योतित करता है। "पर्वत के मनुष्य" से तात्पर्य 'पर्वतीय' से होता है। "पुत्र का पिता" अथवा "पिता का पुत्र" वाक्यों में संबंध (Genitive) का प्रभाव एक ही है। ये पुत्र अथवा पिता के विधेय हैं और जब हम "पिता के पुत्र" अथवा "माता के पुत्र" के भेद को स्पष्ट करते हैं, तो यहाँ संबंध (Genitive) उस प्रजाति को व्यक्त करता है, जिससे पुत्र का संबंध होता है। यहाँ संबंधकारक वही कार्य सम्पन्न करता है, जो पितृ एवं मातृ-संबंधी विशेषण। व्युत्पत्ति से यह सिद्ध किया जा सकता है, कि संबंधकारक के प्रत्यय प्रायः वही हैं, जो संज्ञा से विशेषण बनाने के काम में आते हैं।

रोम के बाहर व्याकरण संबंधी आनुभाविक अथवा विश्लेषणात्मक अध्ययन के इतिहास के विषय में खोज करना अनावश्यक है क्योंकि डायोनिसियस थ्रेक्स के व्याकरण की रचना के साथ ही व्याकरण के ढाँचे की रूपरेखा एक प्रकार से अपने अंतिमरूप में हमारे सामने आ गयी थी। बाद के लेखकों ने इसे उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु इसमें से किसी लेखक ने नये अथवा मौलिक तत्व का समावेश नहीं किया। डायोनिसियस थ्रेक्स से लेकर आज के युग तक व्याकरण-विज्ञान की धारा अप्रतिहत-

रूप से प्रवाहित होती रही है और हम उसका भलीभाँति अनुगमन कर सकते हैं।

प्रथम ईस्वी शताब्दी में हम एम० वेरियस फ्लेकसM. Verrius Flaccus) को आगस्टस (Augustus) एवं क्विन्टीलियन (Quintillian) के पोतों के शिक्षक के रूप में, द्वितीय ईस्वी शताब्दी में स्कारस (Scaurus) को अपोलोनियस (Appollonius) और उसके पुत्र हेरोडाइनस (Herodianus) के शिक्षक के रूप में, और चौथी ईस्वी शताब्दी में प्रोबस (Probus) और डोनेटस (Donatus) को सेंट जेरोम (St. Jerome) के शिक्षक के रूप में हम पाते हैं। जब सम्राट कान्स्टेन्टाइन (Constantine) ने रोम को छोड़कर कान्स्टेन्टीनोपल (कुस्तुनतुनियाँ) को अपनी राजधानी बनाया, तब व्याकरण-विज्ञान के अध्ययन को कुस्तुनतुनियाँ के नवीन संस्थान में एक नूतन महत्व मिला। यहाँ बीस से अधिक ग्रीक एवं लैटिन के वैयाकरण, आचार्य के पद पर नियुक्त थे। छठीं शताब्दी में जस्टीनियन (Justinian) के अभिभावकत्व में प्रिसीनुस (Priscianus) ने व्याकरण-विषयक अध्ययन को अपनी नूतन प्रतिभा से उद्‌भासित किया और उसकी कृति, मध्ययुग से लेकर आज तक, प्रामाणिक मानी जाती है। हम लोगों को जो व्याकरण पढ़ाया गया है उसकी योजना वही है, जिसका अनुगमन, डायोनिसियस ने रोम में, प्रिसीनुस ने कुस्तुनतुनियाँ में और अल्क्वीन ने यॉर्क में किया था। हमारी शिक्षा-प्रणाली में चाहे जो भी उन्नति हुई हो किन्तु हम लोगों के स्कूलों में जो भी ग्रीक और लैटिन व्याकरण पढ़ाये जाते हैं, उनका मुख्य आधार एथेन्स के दार्शनिकों द्वारा भाषा का विश्लेषण है। सी का उपयोग सिकन्दरिया के विद्वानों ने किया था और विदेशी भाषा की शिक्षा के लिये, रोम के ग्रीक के आचार्यों ने भी इसी का योग किया था।

———

अध्याय ४

# वर्गीकरण की अवस्था

पिछले भाषण में हम लोग प्लैटो एवं अरिस्टॉटल के युग से लेकर वर्तमान काल तक के भाषा के निरीक्षणात्मक एवं परीक्षणात्मक उत्पत्ति की अध्ययन एवं प्रगति के सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि किन परिस्थितियों में भाषा का व्याकरणीय विश्लेषण प्रारम्भ हुआ था, इसके विभिन्न भागों, शब्दभेद (Parts of Speech) का किस प्रकार नामकरण किया गया था तथा किस प्रकार ऐसे पारिभाषिक शब्दों की सहायता से, जो पहले दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त होते थे, भाषा-शिक्षण की एक प्रणाली की प्रतिष्ठापना हुई थी। इस प्रणाली का वास्तविक महत्त्व चाहे जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि जिस उद्देश्य से इसका प्रादुर्भाव हुआ था उसकी इसके द्वारा पूर्ति अवश्य हुई।

## "संस्कृत का व्याकरणीय अध्ययन"

जिस प्रक्रिया से व्याकरण-विज्ञान की प्रणाली में प्रगति हुई थी, जब हम उस पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भाषा की वास्तविक प्रकृति की व्याख्या करने में असमर्थ थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत शब्दों के संज्ञा एवं क्रिया, विशेष एवं संयोजक, शब्दरूप एवं धातुरूप में विभाजन की जो पद्धति प्रचलित हुई वह सर्वथा कृत्रिम तथा सजीव भाषा के ऊपर एक प्रकार के आवरण के समान थी। डायोनिसियस-थ्रैक्स कृत ग्रीक व्याकरण में हमें मानव-वाणी के ठीक रूप में विश्लेषण करने की प्रणाली के दर्शन नहीं होते। जब हम ग्रीक तथा हिन्दुओं के व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें उनमें एक प्रकार की विचित्र अनुरूपता एवं समानता प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि व्याकरणीय प्रणाली में निश्चितरूप से कतिपय स्वाभाविक एवं शाश्वत तत्त्व हैं। संसार में हिन्दू ही एक ऐसी जाति है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में, ग्रीक लोगों से किसी प्रकार की प्रेरणा न प्राप्त करके भी व्याकरण के अध्ययन में प्रवृत्त हुई थी। फिर भी संस्कृत में भी ग्रीक कारकों की भाँति ही विभक्तियों एवं

शब्दरूप की प्रणाली, कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रूप, काल, प्रकार एवं पुरुष आदि सभी तत्त्व मिलते हैं। यह ठीक है कि दोनों में पूर्ण साम्य नहीं है फिर भी इनमें पर्याप्त मात्रा में समानता है। संस्कृत में, (अंग्रेजी) 'ग्रामर' के लिये 'व्याकरण' शब्द प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है विश्लेषण अथवा वि (विशेष प्रकार से) आकरण (खण्ड-खण्ड) करना। जिस प्रकार ग्रीक व्याकरण का समारम्भ होमर के आलोचनात्मक अध्ययन से हुआ था, उसी प्रकार संस्कृत व्याकरण का आरम्भ ब्राह्मणों द्वारा रचित छान्दस् या वेद के अध्ययन से हुआ था। वेदमंत्रों की भाषा तथा बाद की साहित्यिक संस्कृत भाषा में जो अन्तर आ गया था उसे ब्राह्मणों ने दृष्टि में रखा तथा छान्दस् की भाषा की उन्होंने धर्म की भाँति रक्षा की। ब्राह्मणों के व्याकरण-विज्ञान सम्बन्धी चिन्तन के प्रथमदर्शन हमें प्रातिशाख्यों में होते हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ छान्दस् की प्राचीन-भाषा के उच्चारण नियमों के लिये प्रामाणिक माने जाते हैं तथापि इनमें हमें व्याकरण सम्बन्धी सूक्ष्म तत्त्वों, विशेषतया व्याकरण की दृष्टि से विशिष्ट पदों तथा विविध गणों के अन्तर्गत आने वाले शब्दों की सूची भी मिलती है। इन ग्रंथों ने उस दृढ़ नींव का काम किया जिस पर बाद की पीढ़ी के विद्वानों ने क्रमशः व्याकरण के उस भव्य भवन का निर्माण किया जिसकी पूर्ण परिणति पाणिनि की कृति में हुई। संस्कृत भाषा में एक ऐसा पद—चाहे वह नियमतः सिद्ध अथवा असिद्ध हो—नहीं है जिसकी व्याख्या पाणिनि तथा उसके टीकाकारों एवं भाष्यकारों ने न की हो। पाणिनि के व्याकरण में हमें भाषा के आनुभाविक विश्लेषण की पूर्णता अपने समग्ररूप में दृष्टि-गोचर होती है। इसकी पद्धति अप्रतिम है और व्याकरण विज्ञान-क्षेत्र में आज भी विश्व की कोई जाति वहाँ तक पहुँच नहीं सकी है। इतना होने पर भी इसमें भाषा की वास्तविक प्रकृति एवं उसके स्वाभाविक विकास के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

ग्रीक एवं संस्कृत के व्याकरण तथा इन्हीं के आदर्श पर निर्मित आधुनिक भाषाओं के व्याकरणों के अध्ययन के उपरान्त भी हमें भाषा के सम्बन्ध में किस ज्ञान की उपलब्धि होती है?

## व्याकरण के तथ्य

हमें भाषा के कतिपय ऐसे पदों का ज्ञान हो जाता है जो कतिपय विचारों के अनुरूप होते हैं। हम यह जान जाते हैं कि उद्देश्य अथवा कर्ता की प्रथमा एवं कर्म की द्वितीया विभक्ति होती है। हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि

दूरस्थ कर्म को चतुर्थी तथा साधारणतया विधेय को षष्ठी का रूप दिया जा सकता है। हमें यह भी सिखाया जाता है कि जहाँ अंग्रेजी में संज्ञा के अन्त में 'स' (S=ज़) और उसके पूर्व 'आव' (of) लगाकर षष्ठी को द्योतित किया जाता है वहाँ ग्रीक में, प्रातिपदिक के बाद– 'ओस'(––os=सं० सु) तथा लैटिन में––'इस' (is=सं० सु) विभक्ति संयुक्त करके यह कार्य सम्पन्न होता है। किन्तु हमारे लिये यह बात एक पहेली सी रहती है कि ये–'ओस' एवं–'इस' वास्तव में हैं क्या और इनमें कर्ता को सम्बन्ध कारक में तथा उद्देश्य को विधेय में परिवर्तित करने की शक्ति कहाँ से आ जाती है? यह स्वयंसिद्ध है कि वास्तव में भाषा होने के लिये प्रत्येक भाषा को कर्ता एवं कर्म तथा प्रथमा एवं द्वितीया के अन्तर को स्पष्ट करना होगा। किन्तु केवल विभक्ति के परिवर्तन से इतना तात्त्विक अन्तर हो जायेगा, इस बात को समझना नितान्त कठिन है। यदि थोड़ी देर के लिये ग्रीक एवं लैटिन को छोड़कर हम विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि संसार में कुछ ही ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें इन दो प्रकार के विचार कोटियों के लिये दो अलग-अलग शब्द हैं। ग्रीक तथा लैटिन में भी नपुंसक लिंग के कर्ता एवं कर्म कारक के शब्द-रूपों में कोई अन्तर नहीं है। प्रायः यह बात प्रसिद्ध है कि चीनी भाषा का कोई व्याकरण नहीं है। दूसरे शब्दों में इसमें संज्ञा एवं क्रिया के विविध कारकों एवं कालों तथा प्रकारों में रूप नहीं चलते। इसमें शब्दभेद (Part of Speech)––संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया विशेषण आदि––का भी अभाव है। फिर भी कोई भी ऐसे सूक्ष्म विचार नहीं हैं जिन्हें चीनी के माध्यम से व्यक्त न किया जा सके। "जेम्स ने जॉन को मारा" अथवा "जॉन ने जेम्स को मारा', इन दोनों वाक्यों के भावों में जो अन्तर है उसे चीनी भाषा-भाषी भी ठीक उसी प्रकार से सहज में ही समझ लेते हैं जिस प्रकार ग्रीक, रोमन्स अथवा हम लोग समझते हैं। चीनी में, कर्मकारक (द्वितीया) की कोई विभक्ति नहीं होती किन्तु कर्ता को आदि में तथा कर्म को क्रियापद के बाद में रखकर अथवा संज्ञापद के पूर्व एवं उसके बाद स्वतंत्र शब्द का व्यवहार करके चीनी बोलने वाले कर्मकारक का भाव द्योतित कर लेते हैं।

## फिनिश व्याकरण

संसार में ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जिनमें ग्रीक एवं लैटिन की अपेक्षा अधिक विभक्तियों का प्रयोग होता है। फिनिश भाषा में कर्ता एवं कर्म के विविध सम्बन्धों को द्योतित करने वाले पन्द्रह कारक हैं, किन्तु इसमें विशुद्ध कर्म

कारक का अभाव है। अंग्रेजी तथा फ्रेंच में कर्ता एवं कर्म कारक की विभक्तियाँ घिस-पिस कर समाप्त हो गई हैं और चीनी भाषा की भाँति ही अब इन भाषाओं में कर्ता एवं कर्म को द्योतित करने के लिये स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो गया है। स्कूल में हम लोगों को पढ़ाया जाता है कि व्याकरण के व्यावहारिक नियमानुसार प्रथमा का रूप 'rex' द्वितीया में 'regem' हो जाता है। हमें यह भी ज्ञात है कि कहाँ 'rex' का तथा कहाँ 'regem' का प्रयोग विहित होता है। किन्तु कर्ता कारक में 'किंग' (king=राजा) का रूप 'rex' तथा कर्मकारक में 'regem' क्यों होता है, यह हमें ज्ञात नहीं है। इसीप्रकार हम जानते हैं कि 'amo' का अर्थ "मैं प्यार करता हूँ" तथा 'amavi' का अर्थ 'मैंने प्यार किया था' होता है, किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं है कि क्यों 'o' के 'avi' में परिवर्तित हो जाने से अतीतकाल की अभिव्यक्ति होने लगती है। इसीतरह अंग्रेजी क्रिया में '--d' के संयोजन से क्यों अतीतकाल का भाव आ जाता है, यह प्रश्न न तो किसी के सामने आता है और न कोई इसके उत्तर की ही चिन्ता करता है।

## व्याकरणीय शब्दरूपों की उत्पति

अब यदि भाषा से सम्बन्ध रखने वाला कोई विज्ञान है तो उसे ऊपर के प्रश्नों के उत्तर देने पड़ेंगे। यदि हम इन प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ हैं और केवल शब्दरूपों, धातुरूपों तथा संज्ञा एवं क्रियापदों के प्रत्ययों को नियम एवं परम्परा की वस्तु मानकर सन्तोष कर लेते हैं तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि वास्तव में भाषा से सम्बन्ध रखने वाला कोई विज्ञान है ही नहीं और तब हमें भाषा की कला अथवा भाषा के व्याकरण से ही सन्तोष करना होगा।

## भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन

किसी भी समस्या के समाधान की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक है कि उसके समाधान के मार्ग क्या हैं? अंग्रेजी से ही आरम्भ करके हमें इस समस्या के समाधान के मार्ग को ढूंढ़ निकालना है कि क्यों 'आइ लव' (I love) का यह अर्थ होता है कि "मैं अभी भी प्यार करता हूँ" तथा 'आइ लव्ड' (I loved) का यह अर्थ हो जाता है कि प्रेम की भावना बहुत पहले समाप्त हो चुकी है। इस अध्ययन के लिये हम अंग्रेजी के बदले लैटिन को ले सकते हैं जिसके शब्दरूप अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं। लैटिन में 'एमो' (amo) का अर्थ 'मैं प्यार करता हूँ', होता है किन्तु

एक 'र' (r) संयुक्त करने से 'एमोर' (amor) का अर्थ 'मुझे प्यार किया जाता है', हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठता है कि इसका कारण क्या है? क्या भाषा में शब्दरूप एवं धातुरूप उसीरूप में खिल उठते हैं जिसरूप में वृक्षों में पुष्प? क्या किसी अज्ञात शक्ति ने मानव को इन्हें प्रतिदान रूप में दिया है अथवा जिस प्रकार गणितज्ञ किसी अज्ञात राशि के लिये, बीजगणित में, किसी वर्ण की कल्पना कर लेते हैं उसीप्रकार कतिपय बुद्धिमान लोगों ने इनका आविष्कार किया था तथा विभिन्न प्रकार की विचार कोटियों की अभिव्यक्ति के लिये सुप् एवं तिङ प्रत्ययों को निर्धारित कर दिया था। स समस्या के समाधान के सन्दर्भ में हमारे सम्मुख इस विज्ञान का सबसे कठिन प्रश्न भाषा की उत्पत्ति का आ जाता है किन्तु यहाँ पर हमारे लिये, कुछ समय के लिये, सिद्धान्तों की ओर से मुँह फेरकर केवल तथ्यों पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित करना उचित होगा।

## परम्परागत सम्बन्ध

अब हम लोगों को पुनः मूल प्रश्न की ओर आना चाहिए तथा 'आइ लव' (I love) एवं 'आइ लव्ड' (I loved) का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। इसके लिये हम सम्पूर्ण अंग्रेजी व्याकरण को एक साथ नहीं ले सकते, किन्तु यदि हम एक-एक रूप का अध्ययन करते हुए आगे बढ़ते जायँ तो मूल तक पहुँचने में हम सफल हो जायेंगे। अब यदि हम इस बात का पता लगाना चाहें कि किस प्रकार केवल एक –ड (–d) के संयोजन से अर्थ में भिन्नता आ गई तो इसके लिये हमें इस बात की खोज करनी होगी कि 'आइ लव्ड' (I loved) का प्राचीनतम रूप क्या था? इस नियम अथवा विधि को प्लेटो ने भी अपने 'भाषा-दर्शन' में स्वीकार किया था किन्तु उसने स्वयं इसका बहुत कम पालन किया था। हमें यह ज्ञात है कि ध्वन्यात्मक अपभ्रष्टता (Phonetic Corruption) के कारण भाषा के व्याकरण एवं शब्दों के अर्थ में कितना घोर परिवर्तन हुआ है। अतएव जिस प्रश्न का समाधान हम केवल भाषा के इतिहास के द्वारा कर सकते हैं उसके लिये अनुमान का सहारा लेना हमारे लिये उपयुक्त न होगा। अंग्रेजी भाषा के इतिहास से थोड़ा परिचित होने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक अंग्रेजी का व्याकरण वही नहीं है जो विक्लिफ़ (Wycliffe) के युग में था। पुनः विक्लिफ़ की अंग्रेजी का स्रोत हमें उस युग की अंग्रेजी में मिलता है जिसे सर फ्रैडरिक मैडेन (Sir

Frederick Madden) के विचार से सहमत होकर हम मध्य अंग्रेजी अथवा 'मिडिल इंगलिश' के नाम से अभिहित करते हैं। मध्य अंग्रेजी का युग १५०० ई० से १३३० ई० तक था। इसीप्रकार मध्य से प्राचीन अंग्रेजी का युग सन् १३३० से १२३० ई० तक था और प्राचीन अंग्रेजी से अर्द्ध सैक्सन (Semi Saxon) का युग सन् १२३० से ११०० ई० तक था। इससे पूर्व का युग अर्द्ध सैक्सन से एंग्लो सैक्सन का था। यह स्पष्ट है कि यदि हम उस मूल अक्षर (Syllable) के उद्देश्य की खोज करना चाहते हैं जिसने 'आइ लव' (I love) को 'आइ लव्ड (I loved) में परिवर्तित कर दिया तो उस अक्षर के मूलरूप को भी हमें ढूंढ़ निकालना होगा। हम लोगों को तब तक यह बात ज्ञात न होती कि 'प्रिस्ट' (priest=पुरोहित) का मूल अर्थ 'एल्डर' (elder=ज्येष्ठ) है जब तक इसकी व्युत्पत्ति का पता लगाते हुए हम ग्रीक presbytertक न पहुँच जाते जो वास्तव में presbys 'अवस्था' का तरप् अथवा तुलनात्मक (Comparative) रूप है। यदि आधुनिक अंग्रेजी से हम इसकी व्युत्पत्ति निकालने का प्रयास करें तो हम 'praying' (=प्रार्थना) अथवा 'preaching) (उपदेश) से इसका सम्बन्ध जोड़ सकते हैं किन्तु इस रीति से हम इसकी वास्तविक व्युत्पत्ति का पता नहीं लगा सकते। इसी प्रकार आधुनिक शब्द 'गाॅस्पेल' (Gospel=ईसा के धर्मोपदेश) का अर्थ हमें बिलकुल स्पष्ट नहीं है; किन्तु जब हम इसकी उत्पति की खोज करते हुए मूल एंग्लो मैक्सन की ओंर बढ़ते हैं तों हमें godspell शब्द मिलता है। यह शब्द हमें इसी रूप में 'ओरमुलुम' में प्राप्त होता है। एंग्लो सैक्सन में इसका रूप gōd-spell था जो वास्तव में 'Evangelium',='good tidings' शुभ समाचार का अक्षरशः अनुवाद है। 'ओरमुलुम' के प्रणेता ने दीर्घ 'ओ' (=ō) को ह्रास्व में परिणत कर इसे 'इश्वर की वाणी' (God's word) मान लिया। अंग्रेजी का लॉर्ड (Lord) शब्द तब तक हमें शून्य पदवी वाचक प्रतीत होता है जब तक हमें यह ज्ञात नहीं होता कि एंग्लो सैक्सन में इसका मूल रूप ''hlāford' है जो किhlāf-weardके लिए प्रयुक्त होता है। इसका खंडार्थ हैं--hlaf=रोटी, weard=संरक्षक। इसी प्रकार यदि हम 'लेडी' शब्द के मूलरूप की छानबीन करें तो ज्ञात होगा कि यह एंग्लौ सैक्सन hlāf dīge से सम्बन्धित है जो वास्तव में hlāf-weardīge का संक्षिप्त रूप माना जा सकता है। इसका अर्थ है hlāf=रोटी, एंग्लो सैक्सन dīge गूँधने वाली।

किन्तु आधुनिक अंग्रेजी शब्दों की व्युत्पत्ति की खोज में एंग्लोसैक्सन तक पहुँच जाने पर भी यह निश्चय नहीं है कि हम मूलरूप तक पहुँच ही जायँ। अथवा हमें उस शब्द का मूल अर्थ ज्ञात ही हो जाय। वास्तव में एंग्लो-सैक्सन मूल भाषा नहीं है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह यूरप के "आंग्ल" एवं "सैक्सन" जातियों का बोधक है। अतएव मूल शब्द की खोज के लिये हमें एंग्लो सैक्सन से सैक्सन तथा निम्न जर्मन की विभिन्न बोलियों तक पहुँचना होगा। इसप्रकार से खोज करते हुए हम चौथी शताब्दि की गॉथिक भाषा तक पहुँच जायेंगे किन्तु हमारी यात्रा की समाप्ति यही नहीं होगी। यद्यपि हमें गॉथिक का स्रोत किसी प्राचीन टयूट-निक भाषा में उपलब्ध नहीं है तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि गॉथिक भी एक आधुनिक भाषा ही है और 'बिशप उल्फिलास' के मुख में आने से पूर्व यह भी अनेक अवस्थाओं से गुजर चुकी है।

## सांपार्श्विक सम्बन्ध

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि तब हमें क्या करना चाहिये ? वस्तुतः हमें वही कार्य करना चाहिये जो हम आधुनिक रोमान्स भाषाओं के सम्बन्ध में करते हैं। जब किसी फ्रेंच शब्द की व्युत्पत्ति हमें लैटिन में नहीं मिलती तब हम तदनुरूपी शब्द को इटैलियन भाषा में ढूढ़ते हैं और पुनः इस इटैलियन शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन में खोजते हैं। उदाहरणार्थ यदि हमें फ्रेंच अग्नि वाचक 'फु' (feu) शब्द की व्युत्पत्ति जाननी है तो हमें इसके अनुरूप इटैलियन शब्द 'फुको' (fuoco) को देखना होगा ताकि हमें इस बात का पता लग सके कि 'फुको' एवं 'फु' शब्द लैटिन 'फोकस' (focus) से उत्पन्न हुए हैं। हम ऐसा इसलिये करते हैं कि हमें यह ज्ञात है कि फ्रेंच एवं इटैलियन, ोनों, सजातीय बोलियाँ हैं तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध हमें ठीक ठीक ज्ञात हैं। यदि हम फ्रेंच 'फु' की व्युत्पत्ति के लिये इटैलियन भाषा के बदले जर्मन के पास जाते तो हम यथार्थ मार्ग से भटक जाते क्योंकि यद्यपि जर्मन शब्द fuoco रूप में इटैलियन 'feu' की अपेक्षा 'feu' के अधिक निकट प्रतीत होता है तथापि फ्रेंच में इसका यह रूप किमपि नहीं हो सकता।

पुनः फ्रेंच पूर्व प्रत्यय hors ( =without=बिना) की व्युत्पत्ति हमें लैटिन foris से उस समय सरलता से ज्ञात हो जाती है जब हमें यह मालूम हो जाता है कि यह इटैलियन शब्द fuora तथा स्पैनिश fuera का तदनुरूपी है। फ्रेंच शब्द fromage, 'पनीर' को लैटिन से कुछ भी प्रकाश नहीं प्राप्त होता

किन्तु जब हम इसे इटैलियन शब्द formaggio से मिलाकर देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि formaggio तथा fromage, दोनों, forma से व्युत्पन्न हैं। इटली में दूध को छोटी-छोटी डलियों में रखकर पनीर बनाते हैं। इन्हें forms कहते हैं। अंग्रेजी feeble (कमज़ोर), फ्रेंच faible शब्द स्पष्टतया लैटिन से व्युत्पन्न है किन्तु जब तक इटैलियन शब्द fievole हमारे सामने नहीं आता तब तक हमें यह स्पष्ट नहीं होता कि इसकी लैटिन flebilis (=अश्रु-पूर्ण) से उत्पत्ति हुई है। हमें फ्रेंच शब्द payer तथा अंग्रेजी " topay" की व्युत्पत्ति ज्ञात न होती, यदि हम इनके तदनुरूपी शब्दों को इटैलियन एवं फ्रेंच कोशों में न देखते। इन्हें देखने से यह ज्ञात होता है गि इटैलियन में to pay के लिये pagare एवं स्पैनिश में इसके लिये पगार (pagar) शब्द व्यवहृत होते हैं। प्रावेंशल भाषा में तो इसके लिये दो शब्द 'pagar' एवं payar मिलते हैं। 'पगार' (pagar) शब्द का सम्बन्ध स्पष्टरूप से लैटिन pacare से प्रतीत होता है। लैटिन में इसका अर्थ 'शान्त करना' एवं 'सन्तुष्ट करना' होता है। जान विले (Join Ville) payer को 'शान्त करने' और 'देने' दोनों अर्थों में प्रयोग करता है। ऋणदाता को सन्तुष्ट करने का अर्थ होता है, ऋण को चुकता कर देना। इसीप्रकार का फ्रेंच शब्द une quittance है। वास्तव में quittance अथवा receipt (रसीद) का मूलरूप quietantia है जो quietus (quiet=शान्त) से व्युत्पन्न है।

इस प्रकार यदि हमें अपने अनुसंधानमें आगे बढ़ना है और अंग्रेजी शब्दों की व्युत्पत्ति के लिये केवल गॉथिक तक जाकर ही नहीं रुक जाना है अपितु आगे भी बढ़ना है तो हमें यह निश्चित करना है कि क्या कोई ऐसी भी भाषा है जिसका गॉथिक से वही सम्बन्ध है जो इटैलियन एवं स्पैनिश का फ्रेंच से है। इसके लिये हमें विभिन्न परिवारों की भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार करना होगा। यह कार्य सम्पन्न करते हुए हम अपने विज्ञान की दूसरी अवस्था—वर्गीकरण की अवस्था—में प्रवेश करेंगे क्योंकि वंशावली ही वास्तव में वर्गीकरण का पूर्णरूप है।

## भाषाओं का वर्गीकरण

श्लेगेल (Schlegel), हम्बोल्ट (Humboldt)' प्रिकार्ड (Pritchard), बॉप्प (Bopp), बर्नाफ (Burnouf), ग्रिम्म (Grimm), पॉट (Pott), बेन्फे (Benfey), कुहन (Kuhn), कुर्टियस (Curtius), श्लेसर (Schleicher) एवं अन्य भाषा शास्त्रियों ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र

में जो कार्य किया है उसकी मीमांसा के पूर्व इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है कि विश्व की अनेक मानव बोलियों के वर्गीकरण के विषय में इनके पूर्व क्या कार्य हुआ है ?

मानववाणी अथवा विविध भाषाओं को वर्गीकृत करने का विचार कभी भी ग्रीक लोगों के सामने नहीं आया। उनके अनुसार एक ओर ग्रीक भाषा थी तो दूसरी ओर अन्य भाषाएँ। इन अन्य भाषाओं को वे बर्बर नाम से अभिहित करते थे। उन्होंने अपनी चार बोलियों का तो वर्गीकरण करने में यथासम्भव सफलता प्राप्त की किन्तु ग्रीक को दूरस्थ सम्बन्धी भाषाओं —— पेलेसगियन (Pelasgians), कैरियन (Karians), मैसेडोनियन (Macedonians), थ्रेसियन (Thracians) एवं लिरियन (Illyrians) आदि ——को भी वे बर्बर कहकर सम्बोधित करते थे। इसका परिणाम यह है कि प्राचीन लेखकों ने न भाषाओं के सम्बन्ध में जो भी बे सिर पैर के विचार व्यक्त किये हैं उनका भाषाओं के वैज्ञानिक वर्गीकरण के लिये कोई उपयोग नहीं किया जा सकता।

प्लेटो ने क्रैटीलुस (Cratylus) में इस बात की ओर संकेत किया है कि ग्रीक भाषा में कई शब्द बर्बर भाषाओं से आ गये हैं क्योंकि बर्बर भाषाएँ ग्रीक से पुरानी हैं; किन्तु अपने इस कथन का पूर्ण अर्थ वह स्वयं भी न समझ सका। उसने केवल इतना ही लिखा है कि कतिपय वस्तुओं, यथा, अग्नि, जल एवं श्वान के नाम ग्रीक में वही हैं जो फ्रिजियन भाषा में हैं। उसके अनुसार सम्भवतः ग्रीक लोगों ने इन नामों को फ्रिजियन से उधार लिया होगा। ग्रीक तथा बर्बर भाषाओं का उद्गम एक हो सकता है, यह विचार उसके मस्तिष्क में कभी भी नहीं आया। प्लेटो के बाद अरिस्टॉटल आया। वह महापंडित था तथा उसने प्रकृति के अनेक क्षेत्रों में नये नियम ढूँढ़ निकाले, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि भाषा में न तो उसे कोई व्यवस्था दिखाई दी और न वह इस सम्बन्ध में कोई नियम बनाने में ही सफल हो सका। जैसे अरिस्टॉटल ने भाषा के सम्बन्ध में कोई नियम निर्माण करने का प्रयास नहीं किया वैसे ही उसके अगले दो हजार वर्षों में किसी अन्य व्यक्ति ने भी सप्रकार का प्रयत्न नहीं किया। सभी वैज्ञानिक कार्यकलापों में रोमन्स लोग ग्रीक के अनुगामी थे। स्वयं बर्बर होते हुए भी उन्होंने अपने स्वामी ग्रीक लोगों को छोड़कर अन्य सभी लोगों को बर्बर संज्ञा से सम्बोधित करना सीख लिया था।

## बर्बर लोग

वस्तुतः बर्बर एक ऐसा शब्द है जो बहुत गम्भीर अर्थवाला प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में इसका कुछ भी अर्थ नहीं है। यह मध्ययुग के पाषण्ड (heretic) शब्द जैसा है। यदि रोमन लोगों को ग्रीक से यह बना बनाया शब्द प्राप्त न हुआ होता तो वे अपने पड़ोसी केल्ट एवं जर्मन लोगों के साथ कहीं अधिक सम्मान एवं सहानुभूति का व्यवहार करते तथा उन्हें विवेकपूर्ण दृष्टि से देखते। यदि वे ऐसा करते तो उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाता कि वाह्य भिन्नता के बावजूद भी केल्ट एवं जर्मन उनके बहुत दूर के भाई नहीं हैं। कैसर ( Caesar) ने बर्बर लोगों से गॉल एवं जर्मनी में युद्ध किया था किन्तु उसकी अपनी भाषा एवं बर्बर लोगों की भाषा में उतनी ही समानता थी जितनी उसकी तथा होमर की भाषा में थी। यदि परम्परागत वाक्-शैली का भ्रम-जाल न होता तो कैसर जैसा बुद्धिमान् व्यक्ति इसे सहज में ही समझ जाता। मैं यहाँ अतिशयोक्तिपूर्ण बातें नहीं कर रहा हूँ। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। नीचे (To have) 'होना' या 'रखना' के रूप लैटिन एवं गॉथिक में दिये जाते हैं। दोनों की समानता ष्टव्य है :—

| अंग्रेजी | लैटिन | गॉथिक |
|---|---|---|
| I have | habeo | haba |
| Thous hast | habes | habais |
| He has | habet | habaith |
| We have | habemus | habam |
| You have | habetis | habaith |
| They have | habent | haband. |

इस समानता की अनुभूति के न होने का कारण किंचित अन्धापन या बूँगापन था किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में केवल एक शब्द बर्बर था। जब तक इस शब्द का मनुष्य के कोश से निष्कासन नहीं हुआ और इसके स्थान पर भाई शब्द नहीं आया तथा जब तक विश्व में समानता एवं भ्रातृभाव की प्रतिष्ठापना नहीं हुई तब तक हमारे इस विज्ञान का समारम्भ नहीं हुआ।

## ईसाई धर्म का प्रभाव

संसार में यह परिवर्तन ईसाई धर्म के साथ आया। हिन्दुओं की दृष्टि में द्विजातियों के अतिरिक्त अन्य लोग म्लेच्छ थे, ग्रीक लोगों की दृष्टि में ग्रीक से भिन्न भाषा-भाषी बर्बर थे, यहूदियों के लिये बिना खतने का प्रत्येक व्यक्ति

विधर्मी था और मुसलमानों को दृष्टि में पैग़म्बर में विश्वास न करने वाला प्रत्येक व्यक्ति काफिर था। यह वास्तव में ईसाई धर्म ही था जो यहूदी एवं मूर्तिपूजक, ग्रीक एवं बर्बर तथा गोरे एवं काले लोगों के बीच के भेद-भाव को दूर करने में सफल हुआ। प्लेटो एवं अरिस्टॉटल में मानवता या मनुष्यता (Humanity) शब्द कहीं नहीं मिलता। सम्पूर्ण मानव समाज एक परिवार है तथा सभी लोग परमेश्वर की सन्तान हैं, यह विचार-धारा, ईसाई धर्म की प्रगति एवं उसके विस्तार के साथ ही आई और इसके पूर्व मानव-विज्ञान तथा मानव की भाषा के विज्ञान का अस्तित्व सम्भव न था। जब लोगों को यह शिक्षा मिली कि विश्व के सभी मानव भाई-भाई हैं तभी संसार में प्रचलित विविध भाषाओं की समस्या को सुलझाने का प्रश्न भी विद्वानों के सामने आया। अतएव मैं भाषाविज्ञान के समारम्भ की तिथि ईसाई धर्म के आरम्भ के प्रथम दिन से मानता हूँ। उसी दिन से विश्व में एक नूतन ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ था जिसके प्रकाश में प्राचीनकाल की गुप्त वस्तुएँ भी लोगों की दृष्टि के समक्ष आईं। तब पुराने शब्दों में नये अर्थ, पुरानी समस्याओं में नई दिलचस्पी एवं पुराने विज्ञानों में नवीन उद्देश्यों की झाँकी मिलने लगी। सप्रकार के नूतन संसार में मनुष्य की उत्पत्ति, जाति एवं भाषा सम्बन्धी अन्तर एवं मनुष्य को सर्वोत्कृष्ट संस्कृति सम्बन्धी समस्यायें वैज्ञानिक अनुसन्धान के विषय बन गईं। वास्तव में यह तर्क संगत आपत्ति नहीं है कि ईसाई धर्म के आगमन के पूर्व क्यों अनेक शताब्दियाँ यों ही व्यतीत हो गईं और क्यों उसके आगमन के बाद ही लोगों में ैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये नवीन उत्साह का संचार हुआ? सच तो यह है कि ईसाई धर्म के प्रभाव से ही लोगों में समु पार करने का साहस आया। इसी ने ईसा की मृत्यु के बारह सौ वर्ष बाद अल्बर्टुस मैगनुस (Albertus Magnus) जैसा भौतिकविज्ञानी ए केप्लर (Kepler) जैसा विद्वान् उत्पन्न किया तथा इसी के परिणामस्वरूप इस युग के अनेक उत्कृष्ट दार्शनिक उत्पन्न हुए। समस्त मानव जाति को अपना मानने की विचार दृष्टि थमतः ईसा मसीह के स्वर में प्रकाशित हुई। "संसार के वे रहस्यात्मक तथ्य जिन्हें हम सहज ही नहीं देख सकते उन्हें इस सृष्टि के अन्तर्गत ही देखा जा सकता है। इतना ही नहीं उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं में ही उसकी आदि शक्ति और ईश्वरत्व का भी दर्शन सम्भव है।"

## मिशनरियों द्वारा किया गया कार्य

किन्तु आगे चलकर हम यह देखेंगे कि भाषाविज्ञान तो ईसाई धर्म का

विशेषरूप से ऋणी है। वास्तव में हमारे इस विज्ञान के अग्रदूत वही मिशनरी लोग थे जो धर्म-प्रचार के लिये विश्व में चारों ओर गये थे। तुलनात्मक भाषाशास्त्रियों के अध्ययन के लिये, विश्व की विविध भाषाओं में अनूदित बाइ-बिल, आज भी बहुमूल्य सामग्री है। जब तक संसार की ज्ञात भाषाओं की संख्या कम थी तब तक उनके वर्गीकरण की कोई समस्या ही न थी। सच बात तो यह है कि जब ज्ञातव्य तथ्यों की संख्या अत्यधिक हो जाती है तभी उनके वर्गीकरण का प्रश्न भी मनुष्य के सामने आता है। जब तक लोग केवल ग्रीक, लैटिन एवं हिब्रू का ही अध्ययन करते रहे, तब तक साधारणतया इनके वर्गी-करण का प्रश्न भी उनके सामने पवित्र एवं अपवित्र तथा 'क्लासिकल' एवं ओरियण्टल रूप में था।

## सेमेटिक भाषाएँ

किन्तु जब धर्मवेत्ताओं को अरबी, चाल्डी एवं सीरियक भाषाओं का अध्ययन करना पड़ा तो उन्हें भाषा परिवार की प्रतिष्ठापना के लिये महत्त्व-पूर्ण कदम उठाने पड़े। उन्हें यह बात स्पष्टरूप में दिखाई देने लगी कि ये भाषाएँ एक दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित हैं तथा जिन बातों में ये ग्रीक एवं लैटिन से भिन्न हैं उन्हीं बातों में इनमें परस्पर समानता भी है। इसके परि-णामस्वरूप हम लोग सन् १६०६ ई० में ही गुइचार्ड (Guichard) को अपनी पुस्तक 'हार्मोनिए एटिमालोजिके' (Harmonie Etymolog-que) में हिब्रू, चाल्डी एवं सीरियक भाषाओं को एक पृथक् श्रेणी में रखते हुए पाते हैं और उसे रोमान्स एवं ट्यूटनिक बोलियों के पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट करते हुए देखते हैं।

## प्रारंभिक भाषा, हिब्रू

फिर भी भाषाविज्ञान एक दीर्घकाल तक प्रगति के पथ पर अग्रसर न हो सका और उसका एकमात्र कारण यह विचारधारा थी कि हिब्रू ही मानव की मूल अथवा आदि भाषा है और अन्य सभी भाषाएँ इसी से प्रादुर्भूत हुई हैं। ईसाई धर्माधिकारी इस विचारधारा से पूर्णतया सहमत थे और उन्हें उसमें किसी प्रकार का सन्देह न था। सेंट जेरोम, "दमसस" को अपने द्वारा लिखित एक पत्र में कहता है—"प्राचीनकाल से ही यह बात निश्चित है कि हिब्रू ही, जिसमें पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) का प्रणयन हुआ है, आदि मानववाणी है।" ओरिगेन ने अपनी संख्या की पुस्तक के ११वें उपदेश

में यह विश्वास व्यक्त किया था कि हिब्रू भाषा, संसार में आदम के द्वारा विश्व के उस भाग में आई थी जो परमेश्वर को प्रिय था और जिसे उसने अपने एक देवदूत को प्रदान किया था।

लोग अपने-अपने पवित्र ग्रन्थों की भाषा को या तो आदि काल की भाषा मानते हैं या मानव जाति की प्राकृतिक भाषा। ब्राह्मणों के लिए संस्कृत देवों की भाषा है; बौद्धों के द्वारा पालि या मागधी को सभी भाषाओं की आदि जननी माना गया है; बौद्धों की भाषा, और उनके पवित्र 'त्रिपिटक', संस्कृत से उसीप्रकार व्युत्पन्न हैं जिसप्रकार लैटिन से टली की भाषा। पालि के व्याकरणाचार्य, कात्यायन कहते हैं पालि "एक ऐसी भाषा है जिसे ब्राह्मण एवं अन्य लोग कल्प के प्रारम्भ में बोलते थे और इसके सिवाय उन्होंने कभी भी दूसरी वाणी को अपनी जिह्वा से उच्चरित ही नहीं किया। अतीतकाल के बुद्धों की यही वाणी मागधी है।"

अतएव जब भाषाओं के वर्गीकरण का प्रश्न सबसे पहली बार गुइचार्ड एवं थामसिन (thomassin) जैसे विद्वानों के सामने आया तो उन्होंने इस समस्या को निम्नलिखित रूप में देखा :—

'इसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुंजायश नहीं है कि आदि भाषा के रूप में हिब्रू ही सभी भाषाओं की जननी है, अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार इससे अनेक भाषाएँ एवं बोलियाँ उत्पन्न हुईं तथा किस प्रकार ग्रीक, लैटिन, काप्टिक, फारसी एवं तुर्की की उत्पत्ति इस आदि भाषा हिब्रू से सिद्ध की जाय?'

यह एक विचित्र बात है कि सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में इस प्रश्न के हल करने में व्यर्थ बहुत पाण्डित्य एवं सूक्ष्म ज्ञान का अपव्यय किया गया। इसका समानान्तर रूप हमें आरम्भिक दिनों के उन खगोलशास्त्रियों में मिलता है जो सौरमण्डल में पृथ्वी को अचल एवं स्थिर मानकर ग्रहों की गति के सम्बन्ध में अति जटिल ढंग से गणना करते थे। यद्यपि आज हम यह जानते हैं कि थामसिन जैसे पण्डितों ने इस दिशा में जो भी प्रयत्न किये थे, वे व्यर्थ सिद्ध हुए फिर भी इससे हमें हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसप्रकार के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही मानव जाति उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकी है। हमें यहाँ यह बात भी न भूलनी चाहिये कि ऐसे विद्वानों की असफलता से ही लोगों में यह सशक्त भावना आई कि मूल समस्या को ठीक-ठीक रूप में समझने में कहीं न कहीं भारी भूल हुई है और तब आगे चलकर

कोई ऐसा प्रतिभाशाली पुरुष सामने आया जिसने समस्या के हल करने के ढंग को ही उलट दिया और अन्ततोगत्वा उसका समाधान मिल गया। जब यह सिद्ध करने के लिये कि लैटिन, ग्रीक तथा अन्य सभी भाषाएँ हिब्रू से ही व्युत्पन्न हुई हैं अनेक पुस्तकें लिखी गईं और जब लोगों ने देखा कि इन सबके बावजूद भी वे अपने इष्ट को सिद्ध करने में असफल हैं तब उनके मन में स्वतः यह प्रश्न उठा कि आखिर सभी भाषाओं को हिब्रू से व्युत्पन्न मानने में क्या तुक है? और एक मात्र इस प्रश्न ने ही समस्या का समाधान कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी तथा पाँचवीं शताब्दि के धर्मवेत्ताओं ने स्वयं-सिद्धि रूप में यह बात मान ली थी कि हिब्रू विश्व की सभी भाषाओं की जननी है, यद्यपि अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त न तो ये लोग हिब्रू या अन्य भाषाएँ जानते थे और न उन्हें पुरानी या नई बाइबिल में एक भी कोई ऐसा शब्द ही मिला था जिससे उनके विश्वासों की पुष्टि होती। जहाँ तक 'आदम' की भाषा की बात है, उस सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है किन्तु यदि हिब्रू उन भाषाओं में से एक है जो 'बेबेल' की मीनार की घटना के बाद उत्पन्न हुई थी तो यह 'आदम' अथवा समस्त विश्व की भाषा नहीं हो सकती क्योंकि इसके पूर्व समस्त संसार की एक ही भाषा थी।

अतएव, यद्यपि, सातवीं शताब्दि में, सामी भाषा के पण्डितों द्वारा भाषा के वर्गीकरण के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई किन्तु यह आंशिक प्रगति कुछ अर्थों में बाधक भी सिद्ध हुई। इसका एक परिणाम यह हुआ कि भाषाओं की विशेषता के अनुसार उन्हें वर्गीकृत करने की वैज्ञानिक दृष्टि का लोप हो गया और अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हो गईं जिनमें से कुछ का निराकरण आज तक नहीं हो पाया।

## लेबनिज़

वास्तव में हिब्रू ही विश्व की सभी भाषाओं की जननी है, इस भ्रान्त धारणा पर विजय प्राप्त करने वाला प्रथम व्यक्ति लेबनिज़ (Leibniz) था। यह प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन का समसामयिक एवं उसका प्रतिद्वन्दी था। उसने घोषणा की कि हिब्रू को मानव की आदि या मूल भाषा मानना वैसा ही है जैसे गोरोपियस (Goropius) के इस कथन को स्वीकार करना कि स्वर्ग में डच भाषा का प्रचलन है। गोरोपियस ने सन् १५८० में अण्टवर्प (Antwerp) में एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि स्वर्ग में डच भाषा बोली जाती है। अपने एक

पत्र में लेबनिज़, तेनज़ेल (Tenzel) को लिखता है---हिब्रू को मूल भाषा मानना वैसा ही है जैसे किसी वृक्ष की शाखाओं को मूल शाखाएँ कहना है अथवा इस बात की परिकल्पना करना है कि किसी देश में वृक्ष का केवल तना ही उगता है। ऐसे विचार लोगों के मन में भले ही आएँ किन्तु ये प्रकृति के नियमों एवं उसकी समस्वरता के विरुद्ध हैं। दूसरे शब्दों में ये 'ईश्वरीय प्रज्ञा' के विपरीत हैं।

## लेबनिज़ की भाषा-सामग्री

किन्तु लेबनिज़ ने भाषा-विज्ञान के द्वार से अवरोध हटाने के अतिरिक्त और भी विशिष्ट कार्य किया। वह पहला व्यक्ति था जिसने भाषाविज्ञान में आगमनात्मक प्रणाली का समारम्भ किया। सके पूर्व यह विज्ञान सुचिन्तित मार्ग पर नहीं चल रहा था। उसने भाषा के सम्बन्ध में अधिक से अधिक तथ्यों को एकत्र करने की सलाह दी। उसने मिशनरियों, यात्रियों, राजदूतों, राजकुमारों एवं राजाओं से निवेदन किया कि वे उसके प्रिय कार्य में सहायता प्रदान करें। चीनके जेसुइस्ट मिशन वालों ने उसकी सहायता की। विटसेन (Witsen) नामक यात्री ने उसके पास एक बहुमूल्य उपहार भेजा। यह उपहार 'लार्ड प्रेयर' (Lord's prayers = बाइबिल के एक अंश) का हॉटेनटॉट बोली में अनुवाद था। उसे धन्यवाद देते हुए लेबनिज ने अपने एक पत्र में लिखा था–'मेरे मित्र, आप इस बात को स्मरण रखें कि मैं आप से प्रार्थना करता हूँ तथा आपके मास्को निवासी मित्रों को यह याद दिलाता हूँ कि वे खोज करके मेरे लिये सिदियन (Seythian) भाषाओं, समोयड (Samoyedes), साइबेरियन (Siberians), बशकिर, (Bashkir), कल्मुक (Kalmuks), तुंगुजियन (Thungusians) एवं अन्य बोलियों के नमूने तैयार करें।' सम्राट पीटर महान से परिचय प्राप्त करके उसने २६ अक्टूबर, सन् १७१३ में धियना से निम्नलिखित पत्र लिखा था–

"मैंने श्रीमान् के सामने अपना यह सुझाव उपस्थित किया है कि आपके राज्य में अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जो अभी तक अज्ञात हैं तथा जिनका अब तक अध्ययन नहीं हो सका है, उन्हें आप लिखित रूप देने की कृपा करें। मैंने आपसे यह भी प्रार्थना की है कि इन भाषाओं के कोश अथवा कम से कम नके शब्दों की छोटी सूची तैयार करावें तथा बाइबिल के दस आदेशों (Ten Commandments) तथा 'लार्ड प्रेयर' (Lord's prayer) एवं उसके अन्य अंशों का अनुवाद करावें। श्रीमान् की प्रजा की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन

से उनके बोलनेवाली जातियों के उद्‌गम का पता लगेगा जो सिदिया से अन्य देशों की ओर गई हैं। किन्तु इससे विशेष लाभ यह होगा कि इन लोगों में ईसाई धर्म का प्रवेश होगा। यही कारण है कि इस सम्बन्ध में, मैंने अत्यधिक श्रद्धा भाजन श्री धर्माध्यक्ष महोदय (Most Rev. Metropolitan) को भी लिखा है।"

लेबनिज़ ने अति साधारण किन्तु अति आवश्यक शब्दों की एक सूची भी तैयार की थी जिनका विविध भाषाओं में तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक था। अपने घर में, जब वह ऐतिहासिक अध्ययन में व्यस्त था तो उसने जर्मन भाषा के उद्‌गम पर प्रकाश डालने वाली प्रभूत सामग्री एकत्र की थी तथा उसने अन्य लोगों, यथा, एकर्ड (Eccard) को, इस विषय में कार्य करने के लिये उत्साहित किया था। भाषाओं के व्युत्पत्तिमूलक ढाँचे के ज्ञान के लिये उसने बोलियों तथा प्रान्तीय एवं स्थानीय शब्दों के महत्त्व की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। लेबनिज़ समग्ररूप में न तो भाषाओं के वैज्ञानिक वर्गी- करण के कार्य में कभी प्रवृत्त हुआ और न वह अपनी परिचित बोलियों को ही वर्गीकृत कर सका। वह जैफ़ेटिक तथा आर्माइक के अन्तर से परिचित था। उसके अनुसार इन दोनों भाषाओं का क्षेत्र एशिया तथा यूरप महाद्वीपों के उतर तथा दक्षिण में था। उसका यह विश्वास था कि संसार की सभी भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से प्रादुर्भूत हुई हैं तथा मानव का स्थानान्तरण पूर्व से पश्चिम की ओर हुआ है। किन्तु वह भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक रूप में समझने में असफल रहा और वह कतिपय तूरानी भाषाओं, यथा, फिनिश एवं तातारी को जैफ़ेटिक वंश का मानता था। यदि लेबनिज़ को अपने कार्यक्रम को, जो उसके उर्वर एवं प्रतिभा सम्पन्न मस्तिष्क से प्रसूत हुआ था, पूरा करने का अवसर मिला होता अथवा उस युग के पंडित उसकी सहायता किये होते तो आगमनात्मक विज्ञान के रूप में भाषाशास्त्र की प्रतिष्ठा आज से एक शताब्दि पूर्व ही हो गई होती। किन्तु लेबनिज़ जैसा व्यक्ति जो एक साथ ही प्रसिद्ध विद्वान् धर्मवेत्ता, वकील, इतिहासज्ञ एवं गणितज्ञ था भाषाओं के अध्ययन की नोति पर प्रकाश डाल सकता था। वह केवल कलन चलन (Differential Calculus) का अन्वेषक ही न था अपितु वह भू-गर्भशास्त्री तथा पृथ्वी के परत-निर्माण-कार्य का निरीक्षण करने वाला प्रथम व्यक्ति था। वह गणना करनेवाली मशीन के निर्माण में व्यस्त था। जब वह बालक था तभी उसके मन में इस प्रकार की मशीन बनाने का विचार

आया था। उसने एजिप्ट (मिस्र) पर आक्रमण करने की एक विस्तृत योजना भी बनाई थी और इसे उसने चौदहवें लुई को इसलिये समर्पित किया था ताकि उसका ध्यान जर्मन-सीमा की ओर से हटकर उधर जाय। प्रोटेस्टेंट तथा रोमन कैथलिक धर्मावलम्बियों में समझौता कराने के लिये उसने लम्बा पत्र व्यवहार किया था तथा इंगलैंड एवं फ्रांस में जो भौतिकवादी विचारधारा चल रही थी उसके विरुद्ध, सत्य एवं धर्म की रक्षा के लिये, उसने कई ग्रंथों का प्रणयन भी किया था। प्रायः यह कहा जाता है कि लेबनिज़ के अनुसन्धानों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा और बाद के लोगों को पुनः ये अनुसन्धान नये सिरे से करने पड़े। और अनुसन्धानों के सम्बन्ध में चाहे यह बात सत्य हो किन्तु भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। लेबनिज़ ने भाषा में दिलचस्पी दिखाकर उसके अध्ययन में जो प्राण फूंका था, वह मर न सका। जब एक बार मानव-भाषा के अध्ययन की वास्तविक आवश्यकता स्वीकृत हो गई तब जब कभी मिशनरी एवं यात्री लोग किसी नई भाषा के सम्पर्क में आये तो वे उसकी शब्द-सूची एवं उसके व्याकरण के प्रणयन से न चूके। इस शताब्दि के दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हर्वा (Hervas) कृत भाषाओं के कैटलग (Catalogue of Languages) एवं एडलुंग (Adelung) कृत मिथ्रिडेट्स (Mithridates) पर लेबनिज़ का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक हर्वा का सम्बन्ध है, उसने लेबनिज़ की कृतियों का सावधानी से अध्ययन किया था। यद्यपि वह कई बातों में लेबनिज़ से सहमत न था तथापि उसने भाषा के दार्शनिक अध्ययन में लेबनिज़ को महत्त्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया। एडलुंग कृत मिथ्रिडे ्स के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

हर्वा सन् १७३५ से १८०९ तक जीवित था। वह जन्मतः स्पेन का निवासी था किन्तु वह जेसुइस्ट मिशनरी बन गया था। मिशनरी के रूप में अमेरिका की बहुभाषाभाषी जातियों में काम करते हुए, भाषा के व्यवस्थित अध्ययन की ओर उसका ध्यान गया। अमेरिका से लौटने के बाद वह रोम में रहा। यहाँ उसे उन अनेक जेसुइस्ट मिशनरियों के बीच रहने का अवसर मिला जो विश्व के विभिन्न भागों से, रोम में, वापिस बुला लिये गये थे। उनसे उसे उन जातियों की बोलियों की सामग्री मिली जिनके बीच वे काम कर चुके थे। सप्रकार हर्वा को, इनसे, अपने अनुसन्धानों में अत्यधिक सहायता मिली।

हर्वा के अधिकांश ग्रंथ इटैलियन में लिखे गये थे। बाद में, ये स्पैनिश

में अनूदित हुए। हर्वा ने साहित्य के क्षेत्र में विस्तृत कार्य किया था और उसके सम्बन्ध में यहाँ सामान्यरूप में भी कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। उसका साहित्य एक प्रकार से विश्व की क्रमबद्धता के सम्बन्ध में था और उसने अपने ग्रंथ का नाम 'विश्व विचार' (idea del Universo) रखा था। इसमें, वास्तव में, वही अंश हमारे काम का है जिसका सम्बन्ध मनुष्य एवं उसकी भाषा से है। इसमें भी हमारे लिये उसका भाषा का कैटेलॉग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सन् १८०० ई० में छै भागों में, स्पेन में, प्रकाशित हुआ था।

यदि हम हर्वा की कृति का उसीप्रकार की एक दूसरी कृति से तुलना करें जिसने गत शताब्दि में अनेक लोगों का ध्यान आकर्षित किया था—मेरा तात्पर्य फ्रेंच में लिखित 'कुर्त द गेबेलिन' कृत 'पुरातन विश्व' (Monde Primitif) से है—तो हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि स्पेनवासी यह जेसुइस्ट धर्मप्रचारक, फ्रेंच दार्शनिक की अपेक्षा कितना बड़ा था। गेबेलिन के अनुसार फारसी, आर्मनीय, मलय एवं काप्टिक भाषाएँ हिब्रू की बोलियाँ मात्र हैं। इसीप्रकार बास्क भी केल्टिक की एक बोली है। गेबेलिन ने अमेरिका की बोलियों में, हिब्रू, ग्रीक, अंग्रेजी तथा फ्रेंच के शब्दों को ढूँढ़ने का प्रयास किया था। इसके विपरीत हर्वा ने अपनी भाषा-सूची में गेबेलिन द्वारा ज्ञात भाषाओं से पचगुनी भाषाओं की तालिका प्रस्तुत की है। इसके साथ ही हर्वा भाषा सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में भी बहुत सावधान है और उसने उन सिद्धान्तों को अपने ग्रंथों में कहीं भी स्थान नहीं दिया है जो तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरे हैं। आज हर्वा की कृतियों में अशुद्धियाँ निकालना सरल है किन्तु जिन लोगों ने उसकी कड़ी आलोचना की है, उन्हीं लोगों को उसका विशेष ऋणी होना चाहिए। तीन सौ से अधिक भाषाओं के नमूनों का संग्रह करना तथा उनका संक्षिप्त परिचय भी देना साधारण कार्य नहीं है। किन्तु हर्वा ने इससे भी कहीं अधिक कार्य किया। उसने स्वयं चालीस भाषाओं का व्याकरण लिखा। वास्तव में वह प्रथम व्यक्ति था जिसने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया था कि भाषाओं के साम्य के आधार उनके व्याकरण होने चाहिए, न कि उनके शब्द। उसने हिब्रू, चाल्डी, सिरियक, अरबी, इथोपियन एवं एम्हरिक भाषाओं के शब्द एवं धातु-रूपों के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् इन्हें सामी परिवार के अन्तर्गत रखा था। उसने अपने युग में प्रचलित इस विचारधारा का भी खण्डन किया था कि

विश्व की समस्त भाषाएँ हिब्रू से ही व्युत्पन्न हैं। उसने तूरानी परिवार की तीन भाषाओं--हंगेरियन, लैपोनियन एवं फिनिश--में स्पष्टरूप से एकता का अनुभव किया था। उसने उस युग की विचारधारा के विपरीत यह भी सिद्ध किया था कि बॉस्क केल्टिक की बोली नहीं है अपितु स्पेन के प्राचीन निवासियों द्वारा व्यवहृत स्वतंत्र भाषा है। उसने यह बात स्पेन के पर्वतों एवं नदियों के नामों के आधार पर सिद्ध की थी। इसके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उसने जो एक महान् एवं अद्भुत खोज की थी वह थी मेलै-पोलेनिशियन परिवार की प्रतिष्ठा। हम्बोल्ट से बहुत पहले हर्वा ने यह घोषित किया था कि इस परिवार की बोलियाँ पूर्वी अफ्रीका के मैडेगास्कर द्वीप से लेकर २०८° देशान्तर तक, अमेरिका के ईस्टर द्वीप तक फैली हुई हैं।

हर्वा को संस्कृत एवं ग्रीक के बीच के अत्यधिक साम्य का ज्ञान था। किन्तु प्रथम संस्कृत व्याकरण के प्रणेता अपने मिशनरी मित्र 'फ्रा पावलिनो द सां बार्टोलोमियो (Fra Paolino de San Bartolomeo) से उसे संस्कृत के सम्बन्ध में जो अपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई थी उसके कारण वह पूर्णरूप से तुलना में सफल न हो सका। संस्कृत का यह प्रथम व्याकरण सन् १७९० ई० में, रोम में, प्रकाशित हुआ था। हर्वा अपनी खोज में सत्य के कितना अधिक निकट था, उसके संस्कृत एवं ग्रीक शब्दों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। उसने ग्रीक शब्द 'थिओस' (Theos) का समीकरण संस्कृत 'देव' शब्द से किया है। इसीप्रकार ग्रीक सहायक क्रिया के रूप 'ए मि' (eimi), 'एइस' (eis), एस्ति (esti) का समीकरण उसने संस्कृत 'अस्मि' (asmi), 'असि' (asi) एवं 'अस्ति' (asti) से किया है। उसने यह भी इंगित किया है कि ग्रीक के तीनों लिंगों के प्रत्यय, 'ओस्' (os), 'ए' (e), ऑन् (on) संस्कृत के 'अस्' (as), आ (a) एवं अम् (am) हैं। किन्तु उसका यह विश्वास था कि जिस प्रकार ग्रीक लोगों को दर्शन एवं पौराणिक कथाएँ भारत से प्राप्त हुई थीं उसी प्रकार उन्होंने हिन्दुओं से शब्द भी लिये थे और लिंग-भेद की कला तो उन्होंने भारत से अवश्य ही प्राप्त की थी।

## एडेलुंग

भाषाविज्ञान का प्रतिनिधित्व करनेवाली जो दूसरी कृति इस शताब्दि के आरम्भ में प्रणीत हुई थी वह एडेलुंग कृत मिथ्रिडे्स थी। इस पर लेबनिज का और भी अधिक प्रभाव था। एडेलुंग की कृति कुछ अंशों में हर्वा पर एवं अन्य अंशों में उन शब्दों पर आधारित है जो रूसी सरकार के तत्त्वा-

वधान में संग्रह किये गये थे। शब्द-संग्रह का यह कार्य भी लेबनिज़ की ही प्रेरणा से हुआ था। यद्यपि पीटर महान् को भाषाविज्ञान के अध्ययन में किसी प्रकार की दिलचस्पी न थी तथापि उसकी सरकार अपने राज्य में प्रचलित भाषाओं के नमूने एकत्र करने में बराबर संलग्न थी। भाषाविज्ञान के भाग्य में अभी और भी अधिक समृद्धि होनी थी। जहाँ एक ओर रोम में उसे कैसर का आश्रय प्राप्त था वहाँ दूसरी ओर उससे भी बढ़कर उसे उत्तर की महान् ज़ारीना (Cesarina) कैथेराइन महान् ( १७६२-१७९६ ) का वरदहस्त प्राप्त हुआ। लेबनिज़ ने जो योजना बनाई थी, उसके अनुसार ही कैथेराइन एक विश्वव्यापी कोष तैयार करने में संलग्न थी। सेंट पिटर्सबर्ग के ब्रिटिश कारखाने के पादरी रेवरेंड डेनियल डुमर्क (Rev. Daniel Dumaresq) को उसने कोश सम्बन्धी कार्य को संपन्न करने के लिये उत्साहित किया था और कहा जाता है कि उसकी इच्छा के अनुसार उसने पूर्वी भाषाओं के शब्दसमूह का तुलनात्मक कोश तैयार भी किया था। यदि यह कोश कभी प्रकाशित भी हुआ था तो आज यह उपलब्ध नहीं है। इस प्रसिद्ध कोशकार की मृत्यु ८४ वर्ष की अवस्था में लन्दन में हुई थी। जब कैथेराईन गद्दी पर बैठी तो देशों को जीतने की योजना की अपेक्षा उसका अधिक समय भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में व्यतीत होने लगा और प्रायः एक वर्ष तक तो, वह, नितान्त एकान्त में रहते हुए, अपने तुलनात्मक कोश के निर्माण में व्यस्त थी। ९ मई सन् १७८५ ई० में उसने जिम्मरमैन (Zimmermann) को जो पत्र लिखा था उसमें आज के श्रोताओं को भी रस मिल सकता है। वह इसप्रकार है:—'प्रायः गत नौ महीनों तक मैं नितान्त एकान्त में रही थी और मेरे लिये उससे बाहर निकलना कठिन था। किन्तु अब आप के पत्र के मिलने के बाद मैं बाहर आ गई हूँ। आपको यह कल्पना भी न होगी कि इन दिनों मैं क्या कर रही थी। मैं आपको बताऊँगी क्योंकि जीवन में ऐसे अवसर प्रतिदिन नहीं आते। मैं उधर दो सौ से तीन सौ मौलिक रूसी शब्दों की सूची तैयार कर रही थी तथा ज्ञात सभी भाषाओं में उसका पर्याय दे रही थी। ऐसी भाषाओं की संख्या अभी तक दो सौ से अधिक हो चुकी है। मैं प्रतिदिन एक शब्द लेती हूँ तथा जितनी भाषाओं का मुझे ज्ञान है उनमें उसे अनूदित करती हूँ। इससे मुझे यह ज्ञात हुआ है कि केल्टिक भाषा, ओस्टिकियन (Ostiakian) की तरह है तथा एक भाषा में जिसे आकाश कहते हैं, उसे अन्य भाषाओं में बादल, कुहरा एवं वितानकक्ष के नाम से पुकारते

हैं। इसीप्रकार भगवान् को कतिपय भाषाओं में उत्कृष्ट एवं परमेश्वर नाम से अभिहित करते हैं तो दूसरी भाषाओं में उसे सूर्य अथवा अग्नि का नाम देते हैं। (यहाँ तक पत्र फ्रेंच में है। इसके बाद एक पंक्ति जर्मन की आई है)। जब मैंने आपकी पुस्तक एकान्तता (Solitude) पर पढ़ी तो अपने इस विशिष्ट रुचिपूर्ण कार्य से मेरा जी ऊब गया। (इसके बाद यह पत्र पुनः फ्रेंच में चलता है) मेरा कमरा जिसका मैं स्त्रियों के एकान्त कमरे के रूप में उपयोग करती हूँ, छै फीट लम्बा तथा पर्याप्त गर्म है। चूँकि जो पुष्कल सामग्री मैंने एकत्र की है उसे अग्नि को समर्पित करने में मुझे दुःख होगा अतएव मैंने प्राध्यापक पाला (Pallas) को अपनी सहायता के लिये आमंत्रित किया है। अपनी त्रुटियों को स्वीकार करते हुए अब हम लोगों ने इसे प्रकाशित करने का निश्चय किया है और इसप्रकार अब इसे हम उन लोगों के लिये उपयोगी बना रहे हैं जो दूसरों के परित्यक्त खिलौने से खेलने में अपना समय व्यतीत करना चाहते हैं। सम्प्रति हम लोग पूर्वी साइबेरिया की कतिपय और बोलियों की सामग्री की प्रतीक्षा कर रहे हैं। संसार के लोगों को विभिन्न विचारों के रूप में इस कृति से प्रकाश मिलेगा, यह उनकी मानसिक स्थिति पर निर्भर है किन्तु इस सम्बन्ध में हम तनिक भी चिन्तित नहीं हैं।"

जो वस्तु महारानी के लिये प्रिय बन जाती है उसे उपलब्ध करने में सभी लोग सहायता करते हैं। इस कोश की सामग्री एकत्र करने के लिये न केवल रूसी राजदूतों को आदेश दिये गये थे, न केवल जर्मन प्राध्यापकों ने इसके लिये व्याकरण एवं कोश-ग्रन्थों की पूर्ति की थी अपितु महारानी को प्रसन्न करने के लिये जार्ज वाशिंगटन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के गवर्नरों को यह आदेश जारी किया था कि अमरीकी बोलियों से इस कोश के शब्दों के प्रतिरूप एकत्र करके महारानी के पास रूस भेजा जाय। इस राजकीय कोश का प्रथम भाग सन् १७८७ में प्रकाशित हुआ था। इसमें २८५ शब्द थे और इनके ५१ यूरोपीय तथा १४९ एशियाई भाषाओं में पर्याय दिये गये थे। यद्यपि इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये हमें महारानी को श्रेय देना चाहिये तथापि यहाँ सौ साल पहले के उन दार्शनिकों को भी हमें स्मरण करना चाहिये जिन्होंने भाषाविज्ञान के अध्ययन का बीज वपन किया था और जो उपयुक्त भूमि पाकर पल्लवित होने लगा था।

----

अध्याय ५

# अपूर्ण वर्गीकरण

संग्रह के रूप में हर्वा, महारानी कैथेराइन एवं एडलुंग की कृतियाँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि इधर पचास वर्षों में, भाषा के वर्गीकरण के सम्बन्ध में इतनी अधिक उन्नति हो चुकी है कि अब लोग इन पुरानी कृतियों को पढ़ना भी पसन्द न करेंगे। इसके अतिरिक्त वर्गीकरण के जिन सिद्धान्तों का इन कृतियों में अनुगमन किया गया है वे वैज्ञानिक भी नहीं हैं। इनमें भौगोलिक दृष्टि से, यथा, योरप, एशिया, अफ्रीका, अमेरिका एवं पोलेनिशिया की, भाषाओं को वर्गीकृत किया गया है, किन्तु इसके साथ ही साथ स्वाभाविक रचनात्मक-सादृश्य को भी ध्यान में रखा गया है जिसके आधार पर २०८ अंश देशान्तर तक की भाषाएँ भी एक परिवार में आ गई हैं। वस्तुतः मानव-वाणी के सागर में भाषाएँ द्वीपों की तरह तैरती हुई प्रतीत होती हैं; ये एक साथ अंकुरित होकर महाद्वीपों का निर्माण नहीं करतीं। प्रत्येक विज्ञान के इतिहास में यह अत्यधिक संकटपूर्ण काल होता है और यदि ऐसा सुयोग न आता जो विद्युत्स्फुलिंग की भाँति अस्थिर तत्त्वों को नियमित रूप में स्थिर न कर देता तो इसमें सन्देह है कि हर्वा ए एडलुंग की कृतियों में परिगणित एवं वर्णित भाषाओं एवं बोलियों में, भाषाशास्त्र के अध्येताओं को कुछ रस भी मिलता। यह विद्युत्स्फुलिंग, वास्तव में, संस्कृत की खोज थी। भारत की भाषा संस्कृत प्राचीन हिन्दुओं की भाषा है।

## भारत की भाषा

भारत की भाषा और बोलियों का इतिहास इतना सरल और स्पष्ट नहीं है जितना कि समझा जाता है। इसका जितना अधिक अध्ययन किया जाता है यह उतना ही उलझा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रारम्भ, ईसा पूर्व १५०० वर्ष से, वैदिक संस्कृत के साथ-साथ होता है, यद्यपि कुछ वि ान् इसको और भी आगे ले जाने के समर्थक हैं, लेकिन मेरे विचार में इसे और अधिक पहले ले जाने से कुछ कठिनाइयाँ तो कम हो जायेंगी किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में यह संभव न होगा।

## वैदिक संस्कृत

हम वैदिक भाषा को तीन सोपानों में विभक्त कर सकते हैं। ये सोपान हैं--ऋचाएँ, ब्राह्मण, और सूत्र। वैदिक मंत्रों और ब्राह्मणों के बीच में एक पूरा अन्तराल रहा होगा। कितनी भी सावधानी से वैदिक उच्चारण की विधियों को मौखिक रूप से परम्परागत रखने का प्रयत्न किया गया हो किन्तु उसका मूलार्थ पूर्णतः इस अन्तराल के कारण एकदम बदल गया होगा। दूसरी ओर 'ब्राह्मण' एवं 'सूत्र' युगों के बीच कोई अन्तराल नहीं है इसीलिए सूत्रों की भाषा अपने मूलार्थ में सुरक्षित है तथा प्राचीन वैदिक भाषा की कतिपय विशेषताएँ पाणिनीय संस्कृत से भिन्न नहीं हैं।

वैदिक ऋचाओं की भाषा भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में, किसी समय, बोलचाल की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही होगी। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि यह केवल काव्यरूप में ही उपलब्ध है और इस काव्य का सम्बन्ध भी केवल धार्मिक कृत्यों से है। इस संबंध में स्पष्टरूप से यह निश्चित करना कठिन है कि इन ऋचाओं की किस प्रकार रचना हुई थी, ये कैसे सुरक्षित रखी गईं और इन्हें अंतिमरूप में किस प्रकार एकत्र किया गया था। यह पूर्णतया निश्चित है कि शीघ्र ही इन्होंने पवित्र रूप ग्रहण कर लिया और अत्यंत सावधानी से इनका प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के जिन विद्वानों ने इस संबंध में गहरा मनन एवं चिन्तन किया है उनका यह दृढ़ मत है कि ये ऋचाएँ तीसरी शताब्दी तक मौखिक रूप से सुरक्षित रहीं। जब मैंने अपनी पुस्तक 'प्राचीन संस्कृत के इतिहास' (हिस्ट्री आव एनशिऐन्ट संस्कृत लिटरेचर १८५९) में उपर्युक्त तथ्यों की स्थापना करने का प्रथम प्रयत्न किया था तब मुझे केवल न परिस्थितिजन्य प्रमाणों पर ही निर्भर होना पड़ा था। वास्तव में अब हमें ज्ञात हुआ है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक ने जिस लिपि का व्यवहार किया था वह वैदिक ऋचाओं को लिपिबद्ध करने में पूर्णतः असमर्थ थी। किन्तु ईस पूरी तरह लिपिबद्ध करने की असमर्थता ने ही मौखिकरूप से इन ऋचाओं को सुरक्षित रखने की परम्परा को जन्म दिया था। इस संबं में हमको पूर्ण जानकारी तब तक नहीं हो पाई, जब तक 'प्रातिशाख्य' में उस विषय की सामग्री सुरक्षित रूप में उपलब्ध न हो सकी।

प्रातिशाख्यों के विद्वान् प्रणेताओं ने इन ऋचाओं के उच्चारण के लिए जिन सूक्ष्म विधियों का उल्लेख किया है, उन्हें लिखने में आज की कोई लिपि

समर्थ नहीं है। यदि वैदिक ऋचाओं की कोई हस्तलिखित प्रति भी हमें उपलब्ध हुई होती तो उसमें भी इनका वह सूक्ष्म उच्चारण उपलब्ध न होता जो आज के जीवित श्रोत्रियों (वेदपाठियों) की मौखिक परम्परा में उपलब्ध है।

यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषा के सूक्ष्म तत्वों के संरक्षण का परिणाम यह हुआ कि इस प्राचीन भाषा के विकास में बाधा उपस्थित हो गयी। वह परम्परागत एवं अपरिवर्तनीय बन गयी। इसे केवल उच्च वर्ग के लोग ही व्याकरणीय शुद्धरूप में उच्चरित कर सकते थे। वास्तव में ये किसी भी भाषा के सहज प्रवाह के विरुद्ध हैं। सच तो यह है कि ऋचाओं की पद्यात्मक भाषा एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की गद्यात्मक भाषा में तथा ब्राह्मणों एवं सूत्रों की भाषा में, भाषा विषयक प्रगति के बहुत कम तत्व उपलब्ध होते हैं। किन्तु सूत्रों की भाषा में अपवाद स्वरूप छान्दस् के कुछ रूप अवश्य मिल जाते हैं, अन्यथा इनकी भाषा पाणिनीय व्याकरण के नियमों का ही अनुसरण करती है।

निश्चितरूप से यह कहना कठिन है कि पाणिनि कब हुए थे; सम्भवतः इनका समय ४०० ई० पू० था। पाणिनि के पश्चात् सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य की भाषा उसके द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार शासित है। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा का साहित्यिकरूप न तो विकसित हो पाया न नष्ट ही हुआ, पाणिनि के नियम इतने आवश्यक बन गए कि उनका उलंघन भारी अशुद्धि मानी जाने लगी। ये नियम कालिदास की भाषा में भी उसी रूप में लागू होते हैं जिसरूप में वे आज के संस्कृत बोलने एवं लिखने वालों की भाषा में लागू होते हैं।

## अशोक के शिलालेख

यहाँ तक संस्कृत भाषा का तिहास स्पष्ट एवं बोधगम्य प्रतीत होता है, किन्तु ईसा पूर्व ३०० से जब भारत का वास्तविक इतिहास आरम्भ होता है तो यह परिस्थिति बदल जाती है। अब हमें भाषा की दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं; नमें से एक धारा का प्रतिनिधित्व वैदिक एवं पाणिनीय संस्कृत करती है लेकिन इसके साथ ही दूसरी धारा अनगिनत जीवन्त भाषाओं से परिचालित होती हैं जो ैदिक एवं पाणिनीय संस्कृत से उतनी ही पृथक् हैं, जितनी लैटिन से रोमनी बोलियाँ। इस तथ्य में तनिक भी संदेह नहीं है कि अशोक के अभिलेख पूर्णतः ऐतिहासिक वस्तु हैं और इनमें जिन भाषाओं का प्रयोग किया गया है वे उस युग की बोलचाल की भाषा में थीं। भारत में

जहाँ प्राचीन इतिहास सम्बन्धी प्रामाणिक सामग्री का अभाव है वहाँ ये अभिलेख केवल राजनैतिक एवं वंशावलियों की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, अपितु भाषा के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। मैं इन अभिलेखों को वास्तविक भाषा के विकास के इतिहास के रूप में दो कारणों से महत्वपूर्ण मानता हूँ। इनमें से पहला कारण है कि ये अशोक के समकालिक हैं, दूसरा कारण यह है कि नकी भाषा व्याकरण के नियमों के आधार पर नहीं लिखी गई हैं।

## व्याकरणीय एवं अव्याकरणीय प्राकृतें

यदि हम समस्त भारतीय बोलियों एवं भाषाओं को संस्कृत से उद्भूत मानें तो हमें प्राकृत को दो वर्गों में विभक्त करना पड़ेगा——

(१) व्याकरण सम्मत प्राकृत (२) व्याकरण अस्सम्मत प्राकृत जिसे अपभ्रंश भी कहा जा सकता है। व्याकरण सम्मत प्राकृत से मेरा तात्पर्य उन प्राकृतों से है जो संस्कृत की भाँति ही वैयाकरणों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार निर्मित हुई हैं, यथा——बौद्ध——धर्म-ग्रंथों की प्राकृत, पालि तथा जैन धर्मग्रन्थों की जैन-मागधी एवं ब्राह्मणों द्वारा व्यवहृत महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी प्राकृतें। अन्त के प्राकृतों का प्रयोग प्रचलित एवं साहित्यिक काव्य-रचनाओं के लिए हुआ है। प्रचलित काव्य-रचना में हाल रचित 'गाथा ——सप्तसती' तथा साहित्यिक-रचना में 'सेतुबन्धु', 'गौड़ वध' (गौड़बहो) एवं विविध नाटकों में व्यवहृत प्राकृतों को लिया जा सकता है।

## व्याकरणीय प्राकृतें

प्राकृत के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने एक स्थान पर केवल महाराष्ट्री को परिनिष्ठित प्राकृत के रूप में स्वीकार किया है। महाराष्ट्री से वररुचि का क्या तात्पर्य था यह स्पष्ट नहीं है, चाहे हम इसे महाराष्ट्र प्रदेश की प्राकृत मानें अथवा हार्नले के अनुसार इसे सम्पूर्ण राष्ट्र की प्राकृत मानें। महाराष्ट्र से यहाँ गंगा-जमुना के बीच के दोआब एवं राजस्थान से तात्पर्य है। इसमें संदेह नहीं कि यह उत्कृष्टतम एवं अप्रतिम प्राकृत थी। वररुचि के अनुसार दूसरी महत्वपूर्ण प्राकृत, शूरसेन प्रदेश (मथुरा या ब्रज) की शौरसेनी प्राकृत थी। जहाँ महाराष्ट्री का प्रयोग पद्य-रचना में होता था वहाँ शौर सेनी साहित्यिक गद्य की भाषा थी। शौरसेनी वास्तव में महाराष्ट्री की ही एक उपभाषा है अतएव वररुचि ने शौरसेनी के कतिपय नियमों का उल्लेख

करके 'शेषम् महाराष्ट्रीवत्'' लिख दिया है। किन्तु हेमचन्द्र ने इसी को ''शेषम् प्राकृतवत्'' कहा है। हेमचन्द्र एवं वररुचि दोनों मागधी को शौरसेनी का परिवर्तित रूप मानते हैं और इसीलिए ये अप्रत्यक्ष रूप से महाराष्ट्री से भी संबंधित है। पैशाची जैसा कि उसके नाम से ही ज्ञात होता है, वास्तव में कोई भाषा नहीं है अपितु वह बर्बर जातियों के अशुद्ध उच्चारण के कारण प्राकृत का ही एक अपभ्रष्ट रूप है। वररुचि और हेमचन्द्र के अनुसार वह शौरसेनी का ही एक अपभ्रष्ट रूप है। वह पैशाची जिसका व्यवहार लोक-कथाओं के लिए 'वृहत-कथा'' में हुआ था, अभी तक अज्ञात है। सम्भवतः वह एक भिन्न बोली थी।

यदि हम शौरसेनी की ''श'' मागधी की ''म'' पैशाची की ''प'' विशेषताएँ मान लें तो हम सूत्र रूप में न प्राकृतों को निम्नलिखित प्रकार से लिख सकते हैं।

शौरसेनी=प्राकृत+श,

मागधी=प्राकृत+श+म,

पैशाची=प्राकृत+श+प।

इसप्रकार हम प्राकृत वैय्याकरणों के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में इस महाराष्ट्र (महान्‌देश) की, एक ही प्राकृत, महाराष्ट्री है। शेष अन्य प्राकृतें उसी प्राकृत के किंचित परिवर्तित रूप हैं जो नाटकों में व्यवहृत हुई हैं। इन प्राकृतों में सबसे प्राचीन पालि है जिसका उल्लेख न प्राकृत वैयाकरणों ने कहीं नहीं किया है क्योंकि यह केवल बौद्धों के द्वारा नास्तिक-साहित्य रचना के लिए व्यवहृत हुई हैं। सामान्य साहित्य रचना के लिए जैनों ने महाराष्ट्री का प्रयोग किया, किन्तु उनके पवित्र ग्रंथों में जिस महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ उसका रूप ४५४ ई० में वल्लभी के संगीति में निर्धारित हुआ था। इस महाराष्ट्री में भाषा के प्राचीन शब्द एवं रूप उपलब्ध होते हैं। अन्य कतिपय बातों में यह पालि के निकट की भाषा प्रतीत होती है।

जिस प्रकार संस्कृत व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है उसी प्रकार ये प्राकृतें भी व्याकरण के नियमानुसार ही निर्मित हुई हैं; उदाहरणार्थ कात्यायन ने पालि व्याकरण के लिए जो नियम बनाया है, पालि भाषा न्हीं नियमों का अनुसरण करती है। इसीप्रकार अन्य प्राकृतें वररुचि, हेमचन तथा अन्य प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निर्धारित नियमों का अनुगमन करती हैं। त्रिपिटक की पालि कात्यायन के नियमों के अनुसार है, न कि पालि के अनुसार

कात्यायन के नियम निर्मित किये गए। यही बात जैन प्राकृत एवं संस्कृत नाटकों की शौरसेनी एवं मागधी के सम्बन्ध में भी है। इसमें संदेह नहीं कि व्याकरण का आधार बोल चाल की भाषा होती है किन्तु व्याकरण बोलचाल की भाषा का नियंत्रण भी करता है और जहाँ तक प्राकृतों का सम्बन्ध है हम लोग बोलचाल की भाषा का रूप वैयाकरणों के नियमों से ही जानते हैं। पालि में हमें वैदिक संस्कृत के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। पाणिनि की सामान्य संस्कृत में ये रूप अग्राह्य हैं और बाद की प्राकृतों में भी ये ग्रहीत नहीं हुए। इससे यह प्रमाणित होता है कि त्रिपिटक की पालि का ऐतिहासिक आधार है किन्तु, जैसा कि हमें ज्ञात है, यह भी व्याकरण के कठोर नियमों से अनुशासित है। जिस भाषा का बोलचाल के रूप में अशोक व्यवहार करता था वह त्रिपिटक की वह भाषा नहीं है जिसे उसका पुत्र मिहिन्द श्रीलंका ले गया था। बौद्धों एवं जैनों के सूत्रों की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी जो एकरूपता मिलती है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि इनका अंतिम संस्करण प्राचीनतम पालि एवं प्राकृत व्याकरणों के प्रणयन के पश्चात् हुआ। कालिदास को अपने नाटकों की रचना करते समय वररुचि का उतना ही भय था जितना कि पाणिनि से और आज के संस्कृत और प्राकृत के नाटककारों की कृतियों में व्याकरण सम्बन्धी दोषों को पाना उतना ही कठिन है जितना कि प्राचीन कवियों के ग्रंथों में। यह भी उल्लेखनीय है कि इन तथाकथित साहित्यिक प्राकृतों का प्राचीन अभिलेखों में व्यवहार नहीं हुआ है।

## अव्याकरणीय प्राकृतें--अशोक के शिलालेख

अशोक के अभिलेखों तथा उसके बाद के ईस्वी प्रथम शताब्दी के उत्तरी भारत के शिलालेख और द्वितीय शताब्दी के पश्चिमी भारत के अभिलेखों में जिन बोलियों का प्रयोग हुआ है वे इस साहित्यिक प्राकृत से सर्वथा भिन्न हैं। ये अभिलेख प्राकृत वैयाकरणों ारा निर्धारित नियमों के अनुसार नहीं लिखे गए हैं अपितु ये उस समय की बोलचाल की भाषा में लिखने के प्रथम प्रयास प्रतीत होते हैं। ये किंचित् अशुद्धियों के साथ पालि एवं साहित्यिक प्राकृत के बीच की भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु ये ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणीय रूप में दोनों से भिन्न हैं।

## गाथा

उत्तरी बौद्धों ने अपने धर्म-ग्रंथों के लेखन में जिस भाषा का प्रयोग

किया है वह गाथा नाम से प्रसिद्ध है। इसी को सेनार्ट ने मिश्रित संस्कृत के नाम से अभिहित किया है। वास्तव में ये दोनों एक ही भाषा के नाम हैं। गाथा की भाषा उपलब्ध व्याकरणों के नियमों का अनुसरण नहीं करती। इसकी शैली एवं सका रूप विद्वत्तापूर्ण है। सके लेखक अशोक के अभिलेखों के लेखकों की अपेक्षा संस्कृत से अधिक परिचित प्रतीत होते हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी भाषा का उतना महत्व नहीं है जितना अशोक के अभिलेखों की भाषा का। इसका कारण यह है कि हमें आज तक यह ज्ञात नहीं है कि यह कहाँ की भाषा है तथा यह कब प्रयोग में आई थी।

## प्राचीन अपभ्रंश

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के अभिलेखों एवं उत्तरी बौद्धों के सूत्रों की भाषा को प्राचीन अपभ्रंश के अन्तर्गत रखना समीचीन होगा। प्राकृत के वैयाकरणों ने इसके शब्द-समूह के संबंध में विचार करते हुए इसमें तीन तत्वों का उल्लेख किया है। ये हैं--

(१) तत्सम,

(२) तद्भव,

(३) देशी।

तत्सम शब्दों से इन वैयाकरणों का तात्पर्य उन शब्दों से है जिनका प्राकृत एवं संस्कृत में एक ही रूप है। तद्भव उन शब्दों को मानते हैं जो संस्कृत से ग्रहीत हुए हैं किन्तु जिनमें नियमानुकूल परिवर्तन हुआ है। देशी वास्तव में आंचलिक शब्द हैं। इनमें से अधिकांश संस्कृत से ही व्युत्पन्न हैं। किन्तु इनकी उत्पत्ति का पता लगाना सरल नहीं है। ऊपर की प्राकृतों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार ये अपभ्रंश भारत के विभिन्न अंचलों की बोलचाल की भाषाएँ थीं। उन बोलियों में उल्लेखनीय थीं--आभीरी [सिन्धी, मारवाड़ी, अवन्ती, पूर्वी-राजपूतानी गौर्जरी (गुजराती)], बाहलीका, पंजाबी, शौरसेनी, पश्चिमी हिन्दी, मागधी या प्राच्या, पूर्वी-हिन्दी, औड्री (ओड़िया) गौड़ी, (बंगला) दाक्षिणात्या अथवा वैदर्भिका (मराठी) तथा पैप्पाली (नेपाली ?)।

ऊपर की सूची से स्पष्ट हो जाता है कि ये अपभ्रंश आंचलिक बोलियाँ थीं। चूंकि शौरसेनी एवं मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतों के क्षेत्र में प्रचलित थे अतएव इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि प्राकृतों ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया था और अपभ्रंश वस्तुतः साधा-

रण जनता की बोलचाल की भाषा थी। डा० हार्नले ने विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया है कि चूँकि महाराष्ट्री प्राकृत के साथ किसी अपभ्रंश का नाम जुड़ा हुआ नहीं मिलता, अतएव उसके द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त सम्पुष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्री वास्तव में आंचलिक प्राकृत न थी अपितु वह उत्तरापथ के महाजनपदों की प्राकृत थी।

प्राकृत एवं अपभ्रंश में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ प्राकृतों के व्याकरण सम्बन्धी नियम निश्चित हैं, वहाँ अपभ्रंश के ये नियम शिथिल एवं अनिश्चित हैं। अपभ्रंश सम्बन्धी प्रायः सभी नियम अपवाद स्वरूप हैं और अभिलेखों तथा गाथा की भाषाओं में भी ये लागू होते हैं। अशोक के अभिलेखों में भी दो प्रकार के अपभ्रंश हैं।

अशोक ने अपने राज्य के विभिन्न अंचलों में इन अभिलेखों को प्रतिष्ठापित किया था।

## अशोक के अभिलेखों के दो वर्ग

ये अभिलेख दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। इसमें एक वर्ग में कपुर्दगिरि एवं गिरिनार के शिलालेख आते हैं तो दूसरे वर्ग में अन्य अभिलेखों की गणना की जा सकती है। ये हैं--कालसी, धौली, जौगड़, बाभ्रू, सहसराम, रूपनाथ, बैराट, कौशाम्बी, बराबर, इलाहाबाद के स्तम्भ तथा दिल्ली के अभिलेख।

प्रथम वर्ग के अभिलेखों में 'ण' (मूर्धन्य) ए 'ञ' (तालव्य) तथा आदि 'य्' और 'र्' सुरक्षित हैं। इसीप्रकार इसमें कर्त्ताकारक, एक वचन, पुंल्लिग के रूप 'ओ' तथा अधिकरण के रूप अम्हि अथवा 'ए' युक्त होते हैं। दूसरे वर्ग के शिलालेखों में ण् एवं ञ् का तथा आदि स्थित य् का लोप हो गया है और र् ल् में परिवर्तित हो गया है। इसमें कर्त्ताकारक एक वचन, पुंल्लिग तथा अधिकांशतः नपुंसकलिंग के रूपों के अंत में ए तथा अधिकरण के रूपों के अंत में 'असि' आता है। पहले कर्त्ता-कारक पुंल्लिग की ए विभक्ति तथा र के ल में परिवर्तन को ही साहित्यिक मागधी प्राकृत की विशेषता द्योतित करने के लिए पर्याप्त माना जाता था परन्तु यह साक्ष्य अत्यंत नगण्य प्रतीत होता है। यह सच है कि इन अभिलेखों पर मगध की भाषा का यत्किंचित प्रभाव पड़ा होगा किन्तु यहाँ हमें इस तथ्य को न भूलना चाहिये कि ये अभिलेख केवल मगध के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण राज्य के लिए लिखे गये थे।

अतएव इन शिलालेखों को तैयार करते समय आंचलिक बोलियों के रूपों को स्थान न मिला होगा।

## लेखन का आरम्भ

और यहाँ हमें उन कठिनाइयों को अनुभव करने का प्रयत्न करना होगा जिन्हें जनता की भाषा में प्रथम बार इन अभिलेखों को लिखने के प्रयास में सम्राट् अशोक के मंत्रियों को हुआ होगा। इन अभिलेखों को लिखने का विचार और प्रथम बार जन-भाषा का प्रयोग उनके लिए वास्तव में नवीन बात थी। उनके समक्ष लेखन के संबंध में कोई ऐसा आदर्श न था जिसका वे अनुगमन करते। जब भी किसी व्यक्ति ने प्रथम बार किसी कथ्य भाषा को लिखने का प्रयास किया होगा तो उसे व्यक्तिगत, स्थानीय या सामान्य, मूलतः बोलीगत या साहित्यिक प्रभावों के निर्णय करने में आने वाली कठिनाइयों से परिचय रहा होगा। यह पूर्णतया संभव है कि अशोक ारा इस कार्य के लिये नियुक्त व्यक्ति न तो उच्च-शिक्षा प्राप्त थे और न वे वैदिक भाषा से ही परिचित थे। यही कारण है कि इन अभिलेखों में वर्तनी, व्याकरण, अभिव्यक्ति तथा संस्कृत-शैली के अनुकरण एवं व्याकरण के नियमों की अवहेलना संबंधी दोष मिलते हैं। आदिम जातियों में स्वतंत्ररूप से कार्य करने वाले मिशनरियों द्वारा बाइबिल के अनुवादों में भी हम ठीक यही स्थिति पाते हैं। जब किसी अंग्रेजी तथा फ्रेंच मिशनरियों द्वारा प्रथम बार किसी भा ा को लिखने का प्रयत्न किया गया तो उसके पढ़ने पर यह कठिनाई से ज्ञात हुआ कि सचमुच वह वही भाषा है। इसीप्रकार की अनेक अनियमितताएँ अशोक के शिलालेखों में हैं जिनके कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं। इनके पीछे यही तथ्य ज्ञात होता है कि जिस भाषा में अशोक ने अपने प्रजा को संबोधित किया था और संभवतः जिसे उसकी प्रजा समझती थी वह साहित्यिक संस्कृत से उतनी ही भिन्न थी जितनी कि दाँते के युग की बोल-चाल की इटालियन भाषा, साहित्यिक लैटिन से तथा प्राकृत एवं उसमें वही अन्तर था जितना साहित्यिक फ्रेंच और जन-भाषा 'प्राविन्सल' में।

यही कारण है कि अशोक के अभिलेखों की भाषा को हम छांदस्, ब्राह्मण एवं सूत्रों की भाषा से प्रादुर्भूत नहीं मान सकते। वस्तुतः यह भाषा उस विशाल भूभाग के विभिन्न राज्यों में विकसित अनेक समानान्तर प्रवहमान धाराओं में से, किसी एक का प्रतिनिधित्व करती है। इस भाषा पर किसी साहित्यिक भाषा का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु इसके विपरीत

संस्कृत भाषा अपने ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणीय रूपों में सर्वथा निश्चित एवं स्थिर दृष्टिगोचर होती है।

यह बात हमें ज्ञात है कि बौद्ध धर्मके प्रचारकों ने जनता में प्रचलित आंचलिक भाषाओं एवं बोलियों का प्रयोग किया था। बुद्ध ने स्वयं इन बोलियों के महत्व को पहिचान कर इनमें उपदेश करने का आदेश दिया था। बौद्धों के इस विश्वास में संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि बुद्ध की भाषा पालि थी। इसमें केवल इतनी ही बात और जोड़ लेने की आवश्यकता है कि बहुत प्राचीनकाल में ही संभवतः इन सूत्रों के सम्पादन के समय में ही इसे व्याकरण सम्मत भाषा बना दिया गया था। पालि में ऐसे रूप मिलते हैं जो निश्चितरूप से अशोक की भाषा से पुराने हैं। ये रूप वैयाकरणों ारा निर्मित नहीं हैं। चूँकि बाद की मागधी प्राकृत एवं पालि में अन्तर है अतएव इससे हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि पालि मगध की भाषा नहीं थी।

मगध में एक से अधिक भाषाएँ अथवा बोलियाँ रही होंगी और मागधी प्राकृत के अस्तित्व में आने से शताब्दियों पूर्व बुद्ध-वचन की भाषा, 'पालि' निर्धारित हो चुकी होगी। वेस्टरगार्ड और ई० कुहन ने पालि को अशोक के पुत्र महिंद के जन्मस्थान उज्जयिनी की बोली माना है जिसके विषय में ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके द्वारा ही पालि त्रिपिटकों को लंका ले जाने का कार्य किया गया था। डा० ओल्डेनवर्ग एवं महावंश इस उल्लेख को कि महिन्द ने ही लंकावासियों को बौद्धधर्म में दीक्षित किया था, स था सन्देहास्पद मानते हैं। उनके अनुसार पालि त्रिपिटक दक्षिण स्थित आंध्र तथा कलिंग देश से लंका गया होगा। वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि लंका में प्रचलित स्थविरवाद का मुख्य स्थान भारत का पूर्वीय अञ्चल था जो गंगा के मुहाने से प्रारम्भ होकर दक्षिण में कलिंग राज्य और द्रविड़ देश तक एवं पश्चिम में भरूकच्च तथा सौराष्ट्र तक विस्तृत था। प्राचीनकाल में, ये सभी प्रदेश लंका से सम्बद्ध थे। महिन्द द्वारा स्थापित एक मठ का उल्लेख मलाया में भी मिलता है। इन कारणों से डा० ओल्डेनवर्ग, पालि को आन्ध्र-राज्य की प्राचीन भाषा मानते हैं और उनके अनुसार, अनुमानतः पालि त्रिपिटक दक्षिण से ही लंका गया था।

यदि इस बात को हम स्वीकार भी कर लें कि आन्ध्र एवं कलिंग प्रदेश के अभिलेखों में उपलब्ध भाषा पालि से मिलती-जुलती है तो भी इससे यह

सिद्ध नहीं किया जा सकता कि पालि बोलचाल की भाषा थी। इससे इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत की भाँति ही उसका प्रयोग शिलालेखों में भी होने लगा था। बौद्धों द्वारा स्वीकृत इस तथ्य को कि पालि बुद्धवचन है और बाद के वैयाकरणों द्वारा इसका संस्कार किया गया है, मान लेना, कहीं अधिक श्रेयस्कर है। चूंकि अशोक के अभिलेखों में लंका (तम्बपन्नि) का उल्लेख मिलता है, अतएव इस बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि उसके पुत्र महिन्द ने लंका में एक उपनिवेश का निर्माण किया था, जहाँ वह उस युग में उपलब्ध बौद्ध धर्म ग्रन्थों को ले गया था। यदि लंका में मगध के इसप्रकार के उपनिवेशों का पता चलता तो वहाँ की बोलचाल की भाषा 'एळु' की उत्पत्ति का पता चल जाता और साहित्यिक पालि से उसके अन्तर को हम उसीप्रकार जान सकते जिसप्रकार बोलचाल की मागधी अथवा अभिलेखों की अपभ्रंश भाषा का अन्तर हम व्याकरण सम्मत त्रिपिटक की भाषा से देख पाते हैं।

## बोलचाल की भाषा के लेखन में कठिनाई

अशोक के ऐतिहासिक अभिलेखों तथा उनमें उपलब्ध ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणीय तत्वों पर विचार करते समय हमें यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि भारत में लेखन का यह प्रथम प्रयास था। हमें इस सम्बन्ध में कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि इन अभिलेखों के पूर्व भारत में लेखन की प्रथा थी या नहीं। और इस सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सिकन्दर महान् और उसके द्वारा पश्चिम से सम्पर्क होने के पूर्व, साहित्यिक कार्य के लिए, लेखन-क्रिया को व्यावहारिक रूप देने की बात भारतीय मस्तिष्क में आयी भी नहीं थी। अभिलेखों में अशोक द्वारा प्रयुक्त दोनों प्रकार की लिपियाँ विदेशी और सामी लिपि से व्युत्पन्न हैं। कपूर्दगिरि का अभिलेख तो दायें से बायें की ओर लिखा गया है जो स्पष्टरूप से सामी लिपि की विशेषता है। गिरनार की लिपि दाहिने से बायें ओर चलती है। इससे भी यही प्रतीत होता हे कि क्रमबद्धरूप में यह भी सामी लिपि से ही विकसित हुई है। भारत की इन दोनों लिपियों में से एक भी लिपि भावात्मक अथवा अक्षरात्मक लिपियों से स्वाभाविक रूप में विकसित नहीं हुई है। सम्भवतः यह शासकीय विद्वत् समिति द्वारा विदेशी तत्वों से निर्मित लिपि है जो बोलचाल की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये सक्षम बनायी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी पश्चिमी भारत में दायें से बायें ओर लिखी जाने

वाली लिपि अशोक के समय के पूर्व से प्रचलित थी; किन्तु बायें से दाहिनी ओर लिखी जाने वाली मगध-लिपि सम्राट् के दरबार की उपज थी। यही लिपि उसके साम्राज्य के विभिन्न अञ्चलों में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्रयुक्त हुई है। इस भिन्नता का एक यह भी कारण हो सकता है कि इस पर सम्राट द्वारा नियुक्त विद्वानों की विभिन्न समितियों का भी प्रभाव पड़ा होगा।

यदि हम इस बात को दृष्टि में रखें कि इन अभिलेखों के लेखक यद्यपि वेदों एवं पाणिनि की संस्कृत से पूर्ण परिचित थे फिर भी उनके समक्ष बोल-चाल की भाषा की वर्तनी को निश्चित करने के लिए किसी भी प्रकार के ग्रन्थ नहीं थे, तो अभिलेखों में प्रयुक्त ध्वन्यात्मक एवं ऐतिहासिक वर्तनी सम्बन्धी उनकी भूलों को समझने में हमें सहायता मिलेगी। जैसा कि एम० सेनार्ट ने निर्देश किया है, हमें यह भी समझना होगा कि शासन द्वारा नियुक्त लेखकों के माध्यम से अभिलेखों में व्यवहृत लिपि क्रमशः पूर्ण होती गयी। इसकी एक निश्चित पद्धति भी बन गयी और आगे चलकर लोगों के ध्यान में यह बात भी आ गयी कि राज्य-घोषणा तथा अभिलेखों के लिये पवित्र संस्कृत भाषा के प्रयोग में किसी प्रकार का दोष नहीं है। एम० सेनार्ट के अनुसार इसका परिणाम यह हुआ कि ईसा की प्रथम शताब्दी में, कनिष्क के राजत्वकाल में, उत्तरी भारत में, शुद्ध संस्कृत में अभिलेख लिखे जाने लगे। यही कार्य पश्चिमी भारत में, रुद्र-दामन के समय में, द्वितीय शताब्दी में सम्पन्न हुआ। इसी समय अथवा सके कुछ समय बाद एक ऐसी परिस्थिति आयी कि द्वित्व व्यंजन रहित, ऐतिहासिक प्राकृतों का अभिलेखों में प्रयोग एक दम बन्द हो गया और व्याकरणीय अथवा साहित्यिक प्राकृतों का अभिलेखों में कभी प्रयोग हुआ ही ही नहीं।

इसप्रकार हमारे समक्ष एक विचित्र परिस्थिति यह आती है कि अभिलेखों की भाषा, अपने ऐतिहासिक विकास के क्रम में, अनियमित होने के बजाय अधिक नियमित एवं संस्कृत के निकट पहुँच जाती है और अन्त में इसके स्थान पर व्याकरणीय संस्कृत आ जाती है।

## संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान

इसी समय तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में विभिन्न ब्राह्मण केन्द्रों में वह कार्य प्रारम्भ हुआ जिसे संस्कृत-साहित्य के पुनरुत्थान नाम से अभिहित किया जा सकता है। यह कार्य प्राचीन वैदिक साहित्य को छोड़कर उस सम्पूर्ण

भाषा में हुआ जिसे हम संस्कृत कहने को अभ्यस्त हैं। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त, पाणिनीय व्याकरण द्वारा सदैव के लिये निश्चित संस्कृत में प्रभूत मात्रा में पद्य तथा सम्भवतः गद्य भी रहा होगा। किन्तु भाषा अथवा जनता की बोली में रचित साहित्य समाप्त हो गया होगा, यद्यपि इसका कुछ अंश महाभारत में आज भी सुरक्षित मिल सकता है।

४०० ई० के लगभग संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान हो जाता है। स समय जनता के लिए लिखित अभिलेखों में एक मात्र संस्कृत का प्रयोग होने लगता है। अपभ्रंश अर्थात् परम्परा से चली आती हुई ऐतिहासिक अथवा अव्याकरणीय प्राकृत समाप्त हो जाती है और देश की बोलियों में चाहे वह बौद्ध एवं जैन धर्म के पवित्र ग्रन्थ हों अथवा हाल रचित शृंगारिक, सप्तसती, काव्य अथवा नाटक या सेतुबन्ध जैसे कृत्रिम काव्य हों, सभी को कात्यायन एवं वररुचि और बाद में हेमचन्द्र जैसे वैयाकरण द्वारा रचित व्याकरण नियमों को उसीरूप में पालन करना पड़ता है जैसे संस्कृत के लेखकों को पाणिनि के नियमों को स्वीकार करना पड़ता है। श्री एम० सेनार्ट प्राकृत व्याकरणों का रचनाकाल तीसरी शताब्दी में मानते हैं, और इसलिये उनके अनुसार साहित्यिक अथवा व्याकरणीय प्राकृति के सभी ग्रन्थ तीस ी शताब्दी के बाद ही के लिखे गये थे। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि इससे पूर्व की शताब्दियों में त्रिपिटक के कुछ अंश ऐसी प्राकृत में लिखित उपलब्ध थे जो व्याकरण के नियमों में बहुत कम आबद्ध थीं, तो हमें सेनार्ट की बात मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अतएव भारत में प्रचलित भाषाओं के इतिहास को हम निम्नलिखित दो शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं :

## प्रथम शाखा : संस्कृत

(१) वैदिक संस्कृत, ऋचायें, ब्राह्मण, एवं सूत्र, १५०० से ३०० ई० पू०।

(२) पाणिनीय संस्कृत, ईसा पूर्व ३०० से आज तक (संस्कृत की यह धारा अविच्छिन्नरूप में न चल सकी क्योंकि ईसा की प्रथम शताब्दि से ४०० ई० के बीच समें विच्छिन्नता आ गई थी)।

## द्वितीय शाखा : प्राकृत

(१) अव्याकरणीय प्राकृत, ईसा पूर्व २५० से २०० ई० तक के अभिलेख; उत्तरी बौद्धों के धर्मग्रन्थों की प्राकृत (अपभ्रंश)।

(२) व्याकरणीय (साहित्यिक) प्राकृतें, पालि, जैन मागधी, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी), ३०० ई० से आज तक।

## आधुनिक भाषाएँ

अब हमें भारत की उन भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करना है जो आज कल बोली जाती हैं। हार्नले, बीम्स, ग्रियर्सन तथा अन्य विद्वानों ने इन भाषाओं का तनी सावधानी से अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है कि सके आधार पर इनके उद्भव और विकास का एक स्पष्ट चित्र हमारे सामने आ जाता है। इसके पूर्व इन भाषाओं के सम्बन्ध में हमें इसप्रकार की जानकारी प्राप्त न थी। भारत में बोली जाने वाली भाषाएँ जिन्हें आज हम नव्य आर्य, नव्य संस्कृत, अथवा गौड़ीय नाम से अभिहित करते हैं, पूर्णरूप से 'प्राकृत' कहलाने की अधिकारिणी हैं। इस नामकरण से यह लाभ होगा कि एक ओर जहाँ प्राचीन प्राकृत से हम स्पष्टरूप से नका अन्तर देख सकेंगे वहाँ दूसरी ओर हमें इनके वास्तविक उद्गम की भी सूचना मिल जायगी। ये नव्य आर्य भाषाएँ संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई हैं अपितु ये प्राचीन प्राकृत से उद्भूत हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक सत्य तो यह है कि ये स्थानीय अपभ्रंशों से प्रादुर्भूत हुई हैं।

ये सजीव प्राकृत भाषायें (अथवा नव्य आर्य भाषाएँ) आज चार वर्गों में, निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सजाई गई हैं। ये शीर्षक हैं:––

पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी तथा पूर्वी। पश्चिमी वर्ग के अन्तर्गत सिन्धी, गुजराती, पंजाबी तथा पश्चिमी हि ी आती हैं;

उत्तरी वर्ग के अन्तर्गत गढ़वाली, कुमायूनी, एवं नेपाली की गणना की जाती हैं।

दक्षिणी वर्ग के अन्तर्गत मराठी आती है; और

पूर्वी वर्ग के अन्तर्गत बिहारी (अथवा पूर्वी हिन्दी) बंगला, उड़िया एवं असमिया की गणना होती है।

एक ओर उत्तरी एवं पश्चिमी वर्ग की भाषाओं में तथा दूसरी ओर दक्षिणी एवं पश्चिमी अञ्चल की भाषाओं में परस्पर कुछ समानता के चिह्न विद्यमान हैं। ऊपर की इन भाषाओं का नामकरण इनके बोलने वाले क्षेत्र के अनुसार रखा गया है। इनमें एक मात्र अपवाद केवल हिन्दी है। यह नामकरण उस भाषा का किया गया है जो उत्तरी भारत के मध्यभाग में बोली जाती है। इस नाम को अब छोड़ ही देना चाहिये, क्योंकि सके अन्तर्गत

दो प्रकार अथवा दो समूह की भाषायें आती हैं जिनमें परस्पर उतना ही अन्तर है जितना पंजाबी और बंगला में। इन बोलियों के पूर्वी वर्ग को बिहारी कहा जाता है। किन्तु, पश्चिमी वर्ग का नाम आज भी पश्चिमी हिन्दी है, जो अनुपयुक्त है। पूर्वी वर्ग के अन्तर्गत बैसवाड़ी (अवधी) भोजपुरी, मैथिली, मागधी, पश्चिमी मारवाड़ी, जयपुरी, ब्रजभाषा, तथा कनौजी बोलियाँ आती हैं। दोनों वर्गों को विभाजित करने वाली रेखा ८०° पूर्वी देशान्तर है।

जिसे, हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी अथवा उच्च हिन्दी कहा जाता है, वह वास्तव में ब्रजभाषा का ही संशोधित रूप है। पहले इसने पंजाबी एवं मारवाड़ी के सम्मिश्रण से उर्दू का रूप धारण किया। उर्दू का उद्‌भव बारहवीं सदी में, तत्कालीन मुसलमानी शासन के केन्द्र दिल्ली के आस-पास की सैनिक छावनी में हुआ था, तथा इसमें अधिकांश शब्द फ़ारसी, अरबी के ग्रहण किये गये थे। अकबर के राजत्व-काल, १६वीं शताब्दी में, उर्दू में साहित्य रचना भी होने लगी थी और भारत में इसका प्रसार भी हो चला था। किन्तु, वह कभी भी वास्तविक बोलचाल की भाषा न बन सकी। वर्तमान शताब्दी में उर्दू फ़ारसी के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त हो गई है और अंग्रेजी तथा हिन्दू प्रभाव के कारण उच्चहिन्दी में परिणत हो गयी है। वास्तव में उर्दू और उच्चहिन्दी एक ही भाषा है। इन दोनों का व्याकरण भी एक ही है। किन्तु इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि जहाँ उर्दू में विदेशी शब्द अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त होते हैं वहाँ हिन्दी में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यल्प है।

ये सभी भाषाएँ और बोलियाँ साहित्यिक संस्कृत या साहित्यिक प्राकृत से नहीं अपितु भारत के विभिन्न अंचलों में बोली जाने वाली अपभ्रंशों से प्रादूर्भूत हुई हैं। इन्हें व्याकरणीय रूप देने का श्रेय, अंशतः इस क्षेत्र के स्कूल के अध्यापकों एवं अंशतः साहित्यिकों को है। 'हार्नले' ने बारहवीं शताब्दी के कवि 'चन्द' को पश्चिमी अंचल का, तेरहवीं शताब्दी के 'नामदेव' एवं 'ज्ञानदेव' को दक्षिणी अंचल का तथा चौदहवीं या पन्द्रहवीं शताब्दी के 'विद्यापति' को पूर्वी गौड़ी का प्रतिनिधि कवि माना है। इन अंचलों में तब तक विभिन्न बोलियाँ अस्तित्व में नहीं आई थीं। इसके बाद के कवियों ने अपनी-अपनी बोलियों में काव्य-रचना करना प्रारंभ किया था, यथा—कबीर, (पन्द्रहवीं शती) पश्चिमी हिन्दी में, तुलसीदास (१५४१-१६६४) पूर्वी हिन्दी में, कवि कंकन बंगला में, उपेन्द्रभंज उड़िया में, तुकाराम मराठी में, तथा नरसिंह मेहता गुजराती में।

डा० हार्नले ने यह सिद्ध करने के लिये कि व्याकरणीय प्राकृतों से ही आधुनिक भाषाओं के दो वर्ग बने हैं, कुछ साक्ष्य एकत्र किया है। उनके अनुसार उत्तरी और पश्चिमी भाषायें शौरसेनी से तथा दक्षिणी तथा पूर्वी भाषायें मागधी से प्रादुर्भूत हुई हैं। यह प्रमाण वस्तुतः अपूर्ण एवं अल्प मात्रा में है। किन्तु, इनका इस दृष्टि से महत्व है कि इन आधुनिक भाषाओं में कुछ ऐसी विशेषताएँ एवं प्र ृत्तियाँ सुरक्षित हैं जो साहित्यिक प्राकृत में भी थीं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बोलचाल की भाषायें बोल चाल की भाषाओं से ही प्रादुर्भूत होती हैं न कि साहित्यिक भाषाओं से। और आज के भारत में बोली जाने वाली बोलियों की उत्पत्ति की खोज के लिये हमें उत्तरी-पश्चिमी तथा दक्षिणी-पश्चिमी भारत में प्रचलित बोलियों अथवा अपभ्रंशों की ओर देखना चाहिये न कि वेदों, त्रिपिटक, शकुन्तला, पाणिनि, कात्यायन, अथवा वररुचि के व्याकरणों की ओर।

## सिंहली

एक और बोलचाल की भाषा भी है जिसके संबंध में यह स्पष्टतया सिद्ध हो गया है कि यह प्राकृत भाषा है। यह सिंहल की 'सिंहली' भाषा है। यह एक विचित्र बात है कि कोलब्रुक एवं स्टीवेन्सन जैसे विद्वानों ने भी से द्रविड़ बोली कहा है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, मैं ही वह पहला व्यक्ति हूँ जिसने सन् १८५४ ईस्वी में इसे आर्य परिवार की एक भाषा माना था। मेरे इस मत को बाद में डा० डी अलविस, चाइल्डर्स तथा कोहन जैसे विद्वानों ने अपनी खोजों से संपुष्ट किया। डा० गोल्डस्मिथ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लंका की भाषा में मागधी प्राकृत की कुछ विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। किन्तु, सिंहली तथा अन्य प्राकृतों के ठीक-ठीक संबंध को प्रदर्शित करने के लिये और भी आगे खोज करने की आवश्यकता है। 'बीम्स' तथा हार्नले में से किसी ने अपने तुलनात्मक व्याकरणों में इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा है।

लंका की प्राचीनतम भाषा का नाम 'एळू' है। डा० डीं अलविस के अनुसार यह सिहल का अपभ्रंश है। लोगों का यह विश्वास हैं कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय यह भाषा मगध जिले के लाल नामक स्थान से कतिपय उपनिवेशवासियों द्वारा लंका में लायी गयी थी। चाइल्डर्स की खोजों के परिणामस्वरूप इस परम्परा की संपुष्टि इसरूप में हो जाती है कि एक

ओर जहाँ सिंहली भाषा कई बातों में पाली से मिलती-जुलती है, वहाँ दूसरी ओर पाली प्राकृतों से भिन्न है। प्राचीन सिंहली अथवा 'एळू' एवं आधुनिक सिंहली में एंग्लो-सेक्सन एवं इंग्लिश की अपेक्षा कहीं अधिक अंतर है। आधुनिक सिंहली में अनेक नवीन व्याकरणीय रूपों के साथ-साथ अत्यधिक मात्रा में संस्कृत के शब्द भी आ गये हैं।

यदि महावंश के उल्लेख को हम सत्य मान लें तो ईसा पूर्व ३०० ईस्वी में ही सिंहली भाषा पालि से पृथक् हो गयी होगी क्योंकि उसी समय महिन्द ने बौद्ध अट् कथाओं को, (त्रिपिटक को नहीं) जैसा बेवर कहते हैं, पालि से सिंहली में अनूदित किया था। ५वीं शताब्दी ईस्वी में बुद्धघोष ने इन्हें सिंहली से पालि में पुनः अनूदित किया था। उसी समय से, संभवतः महिन्द के अनुवाद की तिथि से ही, लंका की लिखित भाषा में बोलचाल की भाषा की अपेक्षा बहुत अन्तर आ गया था।

एळू में लिखित पुस्तकों की तिथि ५वीं एवं ६वीं शताब्दी ईस्वी बतायी जाती है। डा० पी० गोल्डस्मिथ एवं डा० ई० मूलर की खोजों के परिणाम स्वरूप इधर सीलोन में ई० पू० प्रथम तथा द्वितीय शती के कई अभिलेख-प्राप्त हुए हैं।

----

अध्याय ६

# भारत के बाहर संस्कृत का ज्ञान

पिछले अध्याय में भारत की भाषा (संस्कृत) एवं उसकी विभिन्न बोलियों का इतिहास दिया जा चुका है, और हम यह भी देख चुके हैं कि अन्य भाषाओं की अपेक्षा यह इतिहास कितना अधिक पूर्ण है।

किन्तु, इस भाषा (संस्कृत) की खोज तथा ग्रीस और रोम की भाषाओं से इसकी अद्‌भुत समता देखकर गत शताब्दी के यूरोप के कई विद्वानों को इतना आश्चर्य हुआ था कि उन्हें इस भाषा की ऐतिहासिक वास्तविकता के विषय में भी संदेह था और उनका यह विश्वास था कि धूर्त ब्राह्मणों ने अपने विजेताओं (अंग्रेजों) को धोखा देने के लिये कृत्रिमरूप में इस भाषा का निर्माण किया था। इस संबंध में सबसे कड़ा लेख "डुगाल स्टुअर्ट" ने लिखा था, जिसका शीर्षक था "संस्कृत की उत्पत्ति के संबंध में अनुमान" (Conjeetures concerning the origin of the Sanskrit)। आज इस वाद।विवाद में कोई रस नहीं है और इसका केवल ऐतिहासिक महत्व भर है, किन्तु फिर भी संस्कृत के अस्तित्व के संबंध में, स्वतंत्ररूप से उन लोगों का विवरण महत्वपूर्ण है जो प्राचीन युग में हिन्दुस्तान या भारत में आये थे। ये यहू ी, ग्रीक, चीनी तथा अरब लोग थे। सके अतिरिक्त यद्यपि आज यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि संस्कृत वास्तविक भाषा थी और ब्राह्मणों ने कृत्रिमरूप में से नहीं गढ़ा था, तथापि भारतीय भाषा एवं साहित्य के ऐतिहासिक विवरण के अभाव में ऊपर के लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

सर्वप्रथम में, यहाँ, यहूदियों द्वारा प्रस्तुत विवरण दूँगा। यद्यपि, यहाँ की प्राचीन पुस्तक "किंग्स" में फोनेशिया तथा पैलेस्टाइन से भारत का जो व्यापारिक संबंध था उसकी तिथि उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि ग्रीक लोगों के विवरण की अपेक्षा इनका विवरण पुराना है।

## यहूदियों द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य

यहाँ पर यह बात स्मरण रखने योग्य है कि भारत की प्राचीनतम साहित्यिक कृति ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं की रचना उत्तरी-पश्चिमी भारत

में ही हुई थी। इन ऋचाओं में समुद्र तथा उसकी तटवर्ती भूमि का वर्णन तो नहीं मिलता किन्तु, हिमच्छादित पर्वतों, पंजाब की नदियों एवं गंगा के ऊपरी काँठे का अनेक बार उल्लेख मिलता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि संस्कृत भाषा के बोलनेवाले लोग उत्तरी-पश्चिमी मार्ग से ही भारत में प्रविष्ट हुए थे और वे क्रमशः दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते गये थे। आज यह सिद्ध किया जा सकता है कि "सोलोमन" के युग में सिन्धु नदी के मुहाने तक संस्कृत भाषा बोली जाती थी।

लाल सागर के तट पर स्थित 'एडोम' प्रदेश में 'एलाथ' के निकट "एज़ियन गेबर" में सोलोमन ने जिस जहाजी बेड़े का निर्माण कराया था उसका वर्णन पुरानी बाइबिल में उपलब्ध है। इसके चालक सोलोमन एवं 'टिरे' के राजा 'हिरम' के भृत्य थे, और यह बेड़ा सोलोमन के लिये स्वर्ण लाने हेतु 'ओफिर' भेजा गया था। इस ओफिर' से हिरम ने केवल स्वर्ण ही प्राप्त नहीं किया था अपितु उसने प्रभूत मात्रा में चन्दन एवं बहुमूल्य माणिक्यों को भी मँगाया था। सोलोमन के इस समुद्री बेड़े के बन्दरगाह का नाम 'एजियनगेबर था। और, आज विद्वानों का यह मत है कि लाल सागर के उत्तरी-पूर्वीय छोर पर स्थित "अकाबा" ही उस युग का 'एज़ियनगेबर' था। इसी एजियनगेबर में थार्शिश के जहाज विनष्ट हुए थे। इन जहाजों को जेहोश्फट ने स्वर्ण लाने के लिये ओफिर भेजा था। थार्शिश के जहाजों से क्या तात्पर्य है यह निश्चितरूप से कहना कठिन है किन्तु "किंग्स" (एक प्राचीन ग्रन्थ-विशेष) में उपलब्ध सामग्री से यह ज्ञात होता है कि सोलोमन के पास, समुद्र में, थार्शिश का एक बेड़ा था जो तीन वर्ष में एक बार स्वर्ण लाने के लिये ही नहीं, अपितु चाँदी, हाथी-दाँत, वानर एवं मयूर लाने के लिये जाता था। इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सोलोमन के अधिकार में एज़ियनगेबर नामक एक बन्दरगाह था, जहाँ से स्वर्ण, चन्दन तथा बहुमूल्य माणिक्य लाने के लिये ओफिर को जहाज भेजे जाते थे।

विद्वानों ने इस बात की खोज करने का अत्यधिक प्रयत्न किया है कि यह 'ओफिर' कहाँ था? यद्यपि, निश्चितरूप से यह बतलाना कठिन है किन्तु जो साक्ष्य उपलब्ध हैं उनके आधार पर कि यह कहीं भारत अथवा अरब के दक्षिणी-पूर्वी तट पर एक बन्दरगाह था जहाँ से भारतवर्ष के साथ व्यापार होता था। चन्दन, वानर मयूर एवं हाथी-दाँत के लिये हिब्रू में जो शब्द मिलते हैं, वे विदेशी हैं। यदि हमें उस भाषा का पता चल जाय जिसमें चन्दन

शब्द का प्रतिरूप शब्द हिब्रू में उपलब्ध है तब हम सहज में ही यह समझ सकेंगे कि जिस देश में वह भाषा बोली जाती थी उसी देश से सोलोमन चन्दन मँगाता था और बाइबिल का ओफ़िर भी उसी देश में था। श्री ट्यूस्लेटन (E. T. B. Twisleton) ने अपने एक लेख में इस ओर भी इशारा किया है कि हाथी-दाँत, वानर तथा मयूर भी ओफिर से ही आये होंगे; किन्तु, स बात को स्वीकार करना इसलिये कठिन है कि बाइबिल में इन वस्तुओं का उल्लेख नहीं मिलता। इस संबंध में एक बात जो विचारणीय है वह यह है कि यदि ऊपर की वस्तुओं के नाम भी उस भाषा में मिल जायँ जो उस युग में ओफिर में बोली जाती थी तो यह अनुमान करने में कठिनाई नहीं होगी कि ये वस्तुएँ भी ओफिर से ही आई होंगी। जिस भाषा में चन्दन, वानर, एवं मयूर शब्द मिलते हैं वह वास्तव में संस्कृत भाषा ही है और यदि यह भाषा ओफिर में प्रचलित थी तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि यह स्थान भारत में ही कहीं था।

हिब्रू में चन्दन के लिये "अल्गुम" शब्द मिलता है। यही शब्द पुरानी बाइबिल में 'अल्मुग' रूप में उपलब्ध है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि यह हिब्रू का अपना शब्द नहीं है अपितु, कहीं बाहर से आया है। संस्कृत में चन्दन के लिये 'वल्गुक' शब्द मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि फोनेशियन एवं यहूदी नाविकों के मुख में पड़कर यह 'वल्गुक' शब्द ही हिब्रू में 'अल्गुम' तथा पुरानी बाइबिल में 'अल्मुग' बन गया है। भारत में मलाबार के तट पर प्रभूत मात्रा में चन्दन होता है।

केवल अल्गुम शब्द के आधार पर ही यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ओफिर की बोलचाल को भाषा संस्कृत थी। किन्तु, यदि यह सिद्ध हो जाय कि मयूर, वानर, हाथी-दाँत शब्द भी हिब्रू में विदेशी हैं और इनके लिये हिब्रू में जो शब्द हैं वे संस्कृत एवं भारतीय भाषाओं में भी उपलब्ध हैं तब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जायेगा कि ओफिर कहीं भारत में ही था।

वानर के लिये हिब्रू में 'कोफ' शब्द मिलता है। सामी भाषा में स शब्द की व्युत्पत्ति नहीं मिलती किन्तु, संस्कृत में इसके लिये 'कपि' शब्द मौजूद है। यह शब्द सातवीं शती के एक शिलालेख में मिला है और प्रो० डुमचेन (Dumichen) ने चित्रलिपि में लिखित 'कफ़' पढ़ा है।

हाथी-दाँत के लिये हिब्रू में 'शेन्' अथवा 'कारनोथ्-शेन् या 'हब्बिम्'

शब्द मिलते हैं। हब्बिम् शब्द की भी व्युत्पत्ति अज्ञात है। संभवतः यह संस्कृत 'इभ्' (हाथी) का अपभ्रंश रूप है।

अब अंतिम शब्द मयूर के सम्बन्ध में विचार करना है, इसके लिए हिब्रू में 'तुखि-इम्' शब्द मिलता है। प्राचीन तमिल में यह शब्द 'तोकेइ' रूप में मिलता है। किन्तु इसका उच्चारण 'तोगे-इ' होता है। आधुनिक तमिल में 'तोकेइ' शब्द मयूर-पुच्छ के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु प्राचीन तमिल में यह मयूर के लिए ही प्रयुक्त होता था।

ऊपर की वस्तुओं में से हाथी-दाँत, स्वर्ण तथा वानर भारत में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं यह दूसरी बात है कि अन्य देशों में भी ये होती हैं। किन्तु, चन्दन (=अल्गुम् अथवा अल्मुग) एवं मयूर के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। ये दोनों वस्तुएँ भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में पैदा नहीं होतीं। जहाँ तक 'मयूर' का प्रश्न है यह तो भारत से बेबिलन् (बावे ) में भेजा जाता था। यह बात पालि के "बावेरु जातक" में उपलब्ध है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में इसके लिए 'मोर' तथा संस्कृत में इसके लिए 'मयूर' शब्द मिलते हैं।

यदि "ओफिर" जहाँ से चंदन आता था, भारत में कहीं था और इसी प्रकार जहाँ से सोलोमन जहाज द्वारा मयूर, वानर एवं हाथी-दाँत मँगाता था वह भी भारत में ही था, तो यह स्थान स्वाभाविक रूप से सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित था, जहाँ की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी। जहाँ स्वर्ण एवं माणिक्य तो उत्तर से आते होंगे और चंदन, मयूर एवं वानर मध्य एवं दक्षिणी भारत से लाए जाते होंगे। इसी प्रदेश में 'टालमी' ने 'पत्तलेने' के ऊपर 'आबिरिया' नामक स्थान का उल्लेख किया है। इस स्थान (प्रदेश) का नाम भारतीय भूगोलविदों ने 'आभीर' दिया है। यह नामकरण यहाँ के निवासियों 'आभीरों' के नाम पर पड़ा होगा। इन 'आभीरों' की भाषा अपभ्रंश थी। इसके आसपास कच्छ प्रदेश के सम्बन्ध में विवरण देते हुए 'मैकमर्डो' (Macmurdo) ने 'अहीर' जाति का उल्लेख किया है। संभवतः ये अहीर लोग ही 'हिरम' एवं सोलोमन के साथ स्वर्ण, माणिक्य, वानर, मयूर एवं चन्दन का व्यापार करते थे। प्राचीन लोगों के अनुसार भी 'ओफिर' भारत में ही था। बाइबिल के प्राचीन अनुवादकों ने भी इसका समर्थन किया है। कॉप्टिक भाषा में भारत का नाम 'सोफिर' मिलता है और यही शब्द हिब्रू में 'ओफिर' हो गया है।

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि वैदिक युग के संस्कृत बोलने वाले लोग उत्तरी भारत में बसे हुए थे और सोलोमन के युग में उनकी भाषा कच्छ तथा मलाबार के तटवर्ती प्रदेश तक फैल गई थी तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि यह एक अत्यंत प्राचीन ऐतिहासिक भाषा थी।

## ग्रीक लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण

इसके बाद भारत के संबंध में ज्ञान रखने वाले ग्रीक लोग थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भारत के सम्बन्ध में जो कुछ सूचना प्राप्त थी वह इन्हें फ़ारस तथा एशिया माइनर के द्वारा मिली थी। 'अवेस्ता' के प्रणेता को भारत का नाम ज्ञात था। 'अवेस्ता' में एक वचन के रूप में 'हिन्दू' तथा बहुवचन के रूप में 'हप्त हिन्दू' उल्लेख मिलते हैं जो वास्तव में वैदिक 'सप्त सिन्धवः' के रूप हैं। पुनः हिन्दू शब्द हमें वाणमुख लिपि में लिखित प्रस्तर लेख में मिलता है। इसका विवरण नक्शि रुस्तम (डैरियस द्वारा लिखित प्रस्तर लेख) में मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि यह एक प्रदेश था जो मीडिया, पार्थिया, बैक्ट्रिया तथा आयोनिया की भाँति ही--डेरियस को कर देता था। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि किसप्रकार ग्रीस तथा भारत जैसे बहुत दूर स्थित देशों में भी ऐतिहासिक संबंध था। यह बात सत्य है कि होमर के काव्य में भारत के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, सिकन्दर के भारत के आक्रमण के बहुत पहले 'हेकाटोस' (Hekataeos, ई० पू० ५४९-४८६) को सिन्धु नदी का नाम ज्ञात था। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस युग में इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु नदी का संस्कृत नाम फ़ारस होते हुए हेकाटोस तक पहुँचा था, क्योंकि फ़ारसी में आदि का 'स' वर्ण 'ह' में परिवर्तित हो जाता है तथा बाद में इसका लोप भी हो जाता है। हेरोडोटस ने वैदिक संस्कृत में उपलब्ध गान्धार का नाम 'गैण्डरिओइ (Gandarioi) दिया है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि उस युग में यहाँ की भाषा संस्कृत थी। केशियास (Ktesias-४०० ई० पू०) डैरियस द्वितीय का दरबारी था। यद्यपि वह भारत नहीं आया था किन्तु उसने तथा 'अर्तकरसीज' (Artaxerxes Mnemon) मेमन ने यहाँ के लोगों का जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ की भाषा संस्कृत थी। मेगास्थनीज़ के विवरण से तो भारतीय जीवन का वास्तविक

चित्र मिलने लगता है। वह सन्द्रकोटस (सम्राट् चन्द्रगुप्त) के यहाँ ई० पू० २९५ में पलिमबोथ (=पाटलीपुत्र=पटना) में राजदूत था। यदि उसके द्वारा प्रदत्त विवरण आज उपलब्ध होता तो केवल हमें भारत की भाषा का ही ज्ञान न होता अपितु उस युग में उपलब्ध साहित्य के संबंध में भी अनेक बातें ज्ञात होतीं। किन्तु इस विवरण का अधिकांश भाग विनष्ट हो चुका है। केवल थोड़ा ही अंश बचा है।

मेगास्थनीज़ तथा अन्य ग्रीक एवं रोमन लेखकों ने भारत के व्यक्तियों, स्थानों और नदियों के जो नाम दिये हैं वे विशुद्ध संस्कृत में हैं। जर्मन विद्वान् लैसेन (Lassen) ने इनकी जिसरूप में व्याख्या की है उससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि उस युग में यहाँ संस्कृत भाषा का प्रचलन था।

## चीनी लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण

ग्रीक लोगों के बाद भारत की भाषा एवं साहित्य के संबंध में चीनी लोगों का विवरण मिलता है। यद्यपि, ई० पू० ६५ में सम्राट् मिंगती (ming-ti) के राजत्वकाल के पूर्व, चीन में बौद्ध धर्म स्वीकृत नहीं हुआ था तथापि ई० पू० २१७ से ही भारतीय भिक्षु चीन जाने लगे थे। चीन के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि ई० पू० २१७ में ही यहाँ बौद्ध भिक्षुओं का एक दल पहुँच चुका था और ई० पू० १२० में तो एक चीनी सेनानायक ने गोवी के रेगिस्तान के उत्तरी भाग के जंगली जातियों को पराजित करके भगवान् बुद्ध की एक स्वर्ण प्रतिमा भी प्राप्त की थी। बुद्ध का नाम चीनी भाषा में 'फो-तो' तथा "फो" रूप में मिलता है। वस्तुतः यह संस्कृत का ही प्रतिरूप है। जिस भाषा के अध्ययन के लिये चीनी यात्री भारत गये थे वह भी संस्कृत ही थी। उन्होंने इसका नाम 'फान्' दिया है। चीनी भाषा में संस्कृत का ब्राह्मण शब्द 'फान्-लान्-मो' हो जाता है और 'फान्' शब्द इसी का संक्षिप्त रूप है।

'हान्' वंश के सम्राट् मिंगती, ने 'त्साइ-इन (=tsai-in) तथा अपने अन्य अधिकारियों को भारत में बौद्ध-धर्म के अध्ययन के लिये भेजा था। इन लोगों ने दो बौद्ध पंडितों 'मातंग' एवं 'कु-फा-लान्' के तत्वावधान में बौद्ध-धर्म के कतिपय महत्वपूर्ण ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। एशिया के उत्तरी प्रदेशों तथा भारत के बीच बौद्धिक सम्पर्क निरन्तर कई शताब्दियों तक चलता रहा। भारत की धार्मिक, राजनैतिक, सामा-

जिक तथा भौगोलिक स्थिति के संबंध में विवरण प्रस्तुत करने के लिये चीन से यात्रियों के कई दल भेजे गये थे और हिमालय के उस पार जो लोग भी गये उनका मुख्य उद्देश्य बौद्ध-धर्म के संबंध में ज्ञान प्राप्त करना था। सम्राट् मिंगती द्वारा बौद्ध-धर्म की स्वीकृति के तीन सौ वर्ष बाद तो अनेक बौद्ध यात्री चीन से भारत आए। इन यात्रियों में फाहियान का यात्रा विवरण प्रथम एवं महत्वपूर्ण है। वह ३९९ ई० से ४१४ तक भारत में रहा। इस यात्रा विवरण का सर्वप्रथम अनुवाद फ्रेंच भाषा में--ए० रेमुसा (A. Remusat) ने किया था। फाहियान के बाद 'होइसेंग' (Hoei-Seng) तथा 'सोंगयुन' (Song-Yun) सन् ५१८ में भारत आए थे। इन्हें चीन की साम्राज्ञी ने धार्मिक ग्रन्थों तथा भगवान् बुद्ध की पवित्र धातु को लाने के लिए भेजा था। इसके बाद यहाँ ६२९ से ६४५ तक 'ह्वेनसांग' आया जिसके यात्रा-विवरण का अनुवाद श्री एम० स्टानिलस जुनियम ने किया है। ह्वेनसांग के बाद 'इत्सिंग' का यात्रा-विवरण मिलता है। वह चीन से ६७१ ई० में चलकर ६७६ में भारत पहुँचा था। पुनः यह ६९५ ई० में चीन लौट गया जहाँ कि ७१३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। इसकी यात्रा का विवरण ७०३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद ९६४ ई० में ३०० भिक्षुओं के साथ खिनिए आया था।

इन सभी विवरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस युग की साहित्यिक भाषा संस्कृत थी। 'ह्वेनसांग' की डायरी में जो विवरण उपलब्ध हुये हैं उनमें संस्कृत शब्द एवं धातुरूपों की एक तालिका भी मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'ह्वेनसांग' ने संस्कृत में एक पुस्तक भी लिखी थी।

## फ़ारस के लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण

इसके बाद भारत के साहित्य के संबंध में हमें फ़ारस से सामग्री मिलती है। ६वीं शती ई० के मध्य भाग में फ़ारस के बादशाह खुसरो नौवशेरवाँ ने सस्कृत से पहलवी में कुछ कथाओं का अनुवाद कराया था। ८वीं शती ई० में ये कथाएँ 'अब्दुल्ला इब्न अलमोकाफा' द्वारा अरबी में अनूदित हुई थीं। इस अनुवाद का शीर्षक था 'कलिला और दिमना'। यद्यपि इन कथाओं का पूर्णरूप संस्कृत में नहीं मिलता किन्तु इसका एक अंश संस्कृत में पंचतंत्र में उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ६वीं शती ई० में इसका संस्कृत में पूर्णरूप उपलब्ध था और इसीका अनुवाद 'बरज़ोई' ने पहलवी में किया था।

## अरबों द्वारा प्रस्तुत विवरण

ज्यों ही भारत में अरब के लोगों का प्रवेश हुआ, संस्कृत ग्रन्थों का फ़ारसी एवं अरबी में अनुवाद होने लगा। प्रसिद्ध है कि अब्बासी वंश के द्वितीय ख़लीफा अलमंसूर के राजत्वकाल में सन् ७७३ ई० में एक भारतीय ज्योतिषी उसके दरबार में पहुँचा था। यह अपने साथ भारतीय पंचांग भी लेता गया था जिसके द्वारा सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण के अतिरिक्त आकाश के नक्षत्रों की गति का भी ज्ञान होता था। यह पंचांग एक भारतीय राजा द्वारा प्रणीत ग्रन्थ के आधार पर बना था। अरब लेखकों के अनुसार उसका नाम 'फिग़र' (Phighar) था। खलीफा ने इसका अनुवाद अरबी में कराकर उसे प्रकाशित कराया था। यह अनुवाद कार्य 'मुहम्मद बेन इब्राहिम अल्फ़ज़ारी' ारा सम्पन्न हुआ था। इस अनूदित ज्योतिष-ग्रन्थ का नाम "सिन्द-हिन्द" अथवा "हिन्द-सिन्द" है।

इसी युग में 'तारेक' के पुत्र 'याकूब' ने 'सिन्द-हिन्द' के आधार पर एक ज्योतिष के ग्रन्थ का प्रणयन किया। हारुन-अल-रशीद (७८६-८०९) के दरबार में दो भारतीय हकीम 'मन्का' तथा 'सलेह' थे। 'मन्का' ने संस्कृत के "सुश्रुत" का तथा 'चाणक्य' कृत विष संबंधी एक अन्य ग्रन्थ को फ़ारसी में अनूदित किया था। खलीफा 'अलमामुन' के राजत्वकाल में बीजगणित की एक प्रसिद्ध पुस्तक का, संस्कृत से, अरबी में अनुवाद हुआ था। इसके अनुवादक मोहम्मद बेन मूसा थे। सन् १८३१ में इसका सम्पादन एफ० रोज़ेन ने किया था। इसीप्रकार दो भारतीय विद्वान् 'मिका' तथा 'इब्न-दहन' द्वारा लिखित औषध संबंधी ग्रन्थों से यह स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि उस युग के लोग संस्कृत से परिचित थे।

## अल्बेरूनी

अल्बेरूनी (ज० सन् ९७३ मृ० सन् १०४८) ख्वारिज़म (आजकल खीवा) का निवासी था। महमूद गजनी (मृ० १०३०) ने सन् १०१७ में खीवा को जीतकर उसे अधिकृत किया था। जब महमूद गजनी ने भारत पर आक्रमण किया तो उसके साथ अल्बेरूनी भी यहाँ आया था। 'अविचेन्ना'—(Avicenna) अर्थात् 'आबू अली इबन् सिना' को भी महमूद गज़नी अपने साथ लाना चाहता था किन्तु उसने यहाँ आना अस्वीकार कर दिया था। अल्बेरूनी ज्योतिषी, दार्शनिक एवं एक सूक्ष्म निरीक्षक था, और भारत

आने के पश्चात् उसने अपना समय भारतीय ज्योतिष, दर्शन एवं साहित्य के अध्ययन में व्यतीत किया। उसने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि उसने सौ से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इन ग्रन्थों में से जो आज भी उपलब्ध हैं, (१) 'प्राचीन जातियों का काल विभाजन' (Choronology of Ancient nation) (२) ज्योतिष संबंधी कृति, 'अल्कनून-अल्मसूदी' (३) 'तारीख-ए हिन्द' (१०३० ई०) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम का जर्मन और अंग्रेजी अनुवाद ो० 'सचाउ' (Sachau) ने सन् १८७८-७९ में प्रकाशित किया था। 'अल्बेरूनी' द्वारा लिखित 'तारीख-ए-हिन्द' अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रो० 'सचाउ' ने सका भी अनुवाद प्रस्तुत किया है। अल्बेरूनी के इतिहास के महत्व के संबंध में रेनाड (Reinand) ने फ्रेन्च में सन् १८४५ तथा १८४९ में दो लेख प्रकाशित किये थे। इन लेखों को पढ़कर लोगों की यह धारणा बन गई थी कि अल्बेरूनी संस्कृत का उद्भट विद्वान् था और उसने केवल सांख्य एवं योग संबंधी संस्कृत के दर्शन ग्रन्थों का ही अरबी में अनुवाद नहीं किया था अपितु कतिपय अरबी ग्रन्थों का भी संस्कृत में अनुवाद किया था। 'सचाउ' ने इस संबंध में जो खोजें की हैं उनसे इस धारणा में सन्देह उत्पन्न हो गया है। श्री 'सचाउ' के अनुसार अल्बेरूनी का संस्कृत ज्ञान सामान्य था। यह इतना ही था कि वह अपने पण्डितों के लेखों का निरीक्षण कर लेता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय विद्वानों की सहायता के बिना संस्कृत से अरबी, फ़ारसी एवं अरबी से संस्कृत में अनुवाद करना उसके लिये कठिन था। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि उसका संस्कृत का ज्ञान 'ह्वेनसांग' की अपेक्षा कम था जो संस्कृत लिखने में ही दक्ष नहीं था, अपितु शास्त्रार्थ में भी भाग लेता था। सन् ११५० ई० में 'आबू-सलेह' ने संस्कृत के एक राजनीति के ग्रन्थ का अरबी में अनुवाद किया था।

इसके दो सौ वर्ष बाद 'नगरकोट' पर अधिकारकरने के पश्चात् फिरोज-शाह ने मौलाना "इज्ज़ुद्दीन खलीद खानी" के द्वारा संस्कृत के अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का अनुवाद कराया था। इसीप्रकार सन् १३८१ में पशु-चिकित्सा के संबंध में संस्कृत से फ़ारसी में एक ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था। इसके प्रणेता का नाम 'सालोतर' (शालिहोत्र ?) बतलाया गया है जो 'सुश्रुत' का गुरु था। इस अनुवाद का नाम "कुरूतुल मुल्क" है जिसकी एक प्रति लखनऊ के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित थी। इसी विषय पर बगदाद में संस्कृत के

एक ग्रन्थ का अरबी में 'किताबुल वैतरत (Kitabul Baitarat) के नाम से अनुवाद हुआ था, किन्तु इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। इसका एक दूसरा अनुवाद शाहजहाँ के राजत्वकाल में सम्पन्न हुआ था।

## अकबर

दो सौ वर्ष के बाद, सन् १५५६ से १६०५ तक, अकबर का राजत्व-काल था। ऐसा अद्भुत व्यक्ति अभी तक भारत का शासक नहीं बना था। यद्यपि उसकी शिक्षा-दीक्षा इस्लाम धर्म की थी, किन्तु उसमें अनेक अंध-विश्वासों को देखकर उसने उसका परित्याग कर दिया था और सच्चे धर्म की खोज में प्रवृत्त हो गया था। वह ब्राह्मणों, अग्निपूजक पारसी लोगों तथा मुल्लाओं को अपने दरबार में आमंत्रित करता था तथा उनसे अपने-अपने धर्मों की विशेषता के संबंध में शास्त्रार्थ कराता था। जब उसने गोवा के जेसुइस्ट पादरियों का नाम सुना तो उसने उन्हें भी आमंत्रित किया। कुछ लोगों का तो यह विचार था कि कई वर्षों तक वह गुप्त रूप से ईसाई धर्म में दीक्षित के रूप में रहा था। सच बात तो यह है कि वह हेतुवादी तथा प्राकृतिक धर्मावलम्बी था और जिस बात को वह समझता न था उसमें वह विश्वास भी नहीं करता था। वह 'दीन इलाही' धर्म का संस्थापक था। यह प्राकृतिक धर्म था, जिसमें सूर्य की पूजा का अत्यधिक महत्व था। यद्यपि, अकबर स्वयं लिखा-पढ़ा व्यक्ति न था, किन्तु उसके दरबार में कई उच्च साहित्यिक थे। जो समस्यायें उसके हृदय को उद्वेलित करती थीं, उन्हें समाधान करने वाली जब किसी भाषा में उसे कोई पुस्तक उपलब्ध हो जाती थी तो वह उसका फ़ारसी में अनुवाद करा देता था। उसकी आज्ञा से बाइबिल (न्यू टेस्टामेन्ट) का फ़ारसी में अनुवाद हुआ था। इसीप्रकार संस्कृत से उसने महाभारत रामायण एवं अमरकोश का भी अनुवाद कराया था। यद्यपि, सम्राट् विभिन्न जातियों के धार्मिक ग्रन्थों को अत्यधिक मूल्यवान मानता था तथापि वह ब्राह्मणों से वेद को अनूदित कराने में सफल न हो सका। 'हाजी इब्राहिम' सरहिन्दी ने उसके लिये अथर्ववेद का अनुवाद किया था। किन्तु अन्य तीन वेदों की तरह अथर्ववेद का उतना महत्व न था। विद्वानों का विचार है कि संभवतः उपनिषद् को ही कुछ लोगों ने वेद समझ लिया था। क्योंकि सम्राट् के लिये कतिपय उपनिषद् अनूदित किये गये थे। मुगल सम्रा ों के राजत्वकाल में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन किस रूप में चलता रहा, इसके सम्बन्ध में एक कहानी है, जो नीचे ी जाती है:—

कहा जाता है कि जब अकबर शक्ति तथा प्रतिज्ञा दोनों के द्वारा ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों को जानने में असफल हो गया तो उसने एक चाल चली। उसने 'फैजी' को एक अनाथ ब्राह्मण बालक के रूप में संस्कृत पढ़ने के लिये वाराणसी भेजा। वह वाराणसी में एक पण्डित के घर रहकर संस्कृत का अध्ययन करने लगा। ब्राह्मग भी उसे पुत्रवत् मानकर संस्कृत पढ़ाने लगा। जब 'फैजी' दस वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन कर चुका तो अकबर ने उसे बुलाया। उधर 'फैजी' का अपने गु की कन्या के प्रति इतना अधिक आकर्षण हो गया था कि वह वहाँ से नहीं आना चाहता था। ब्राह्मण को यह बात ज्ञात थी और वह 'फैजी' से अपनी कन्या का विवाह करने के लिये उद्यत हो गया। 'फैजी' ने इतने दिनों तक तो अपना वास्तविक रूप छिपा रखा; किन्तु, अब उसने अपने गुरु को सच्ची बातें बतला कर उससे क्षमा माँगना ही उचित समझा। जब ब्राह्मण को उसका वास्तविक रूप ज्ञात हो गया तो उसने कृपाण निकाल कर उसे मार डालना चाहा किन्तु, 'फैजी' ने उसका हाथ पकड़ लिया, उसने अपने गु से बहुत अनुनय-विनय की तथा अपने कृत्यों के लिये प्रायश्चित्त करने का वादा किया। ब्राह्मण की आँखों में आँसू भर आये। उसने 'फैजी' को इस शर्त पर क्षमा प्रदान की, किन्तु सके साथ ही उसने यह शपथ दिलाई कि वह न तो वेदों को किसी अन्य भाषा में अनूदित करे और न ब्राह्मण धर्म के प्रतीकों का रहस्य किसी अन्य व्यक्तियों को बताए। 'फैजी' ने ऐसा करने की प्रतिज्ञा की। उसने अपनी प्रतिज्ञा का कहाँ तक निर्वाह किया, यह तो ज्ञात नहीं है, किन्तु इतना सत्य अवश्य है कि ब्राह्मण धर्म की पवित्र पुस्तकें उस युग में अनूदित न हो सकीं।

ऊपर धार्मिक एवं साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत के अस्तित्व के सम्बन्ध में, सोलोमन के समय से लेकर अकबर के राजत्व-काल तक का विवरण दिया गया है। अकबर के सौ वर्ष बाद शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र 'दारा-शिकोह' भी अपने प्रपितामह की भाँति ही भारतीय धर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ था। उसने संस्कृत का अध्ययन किया तथा उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद किया। यह कार्य उसने सन् १६५७-५८ में सम्पन्न किया था। इसके एक वर्ष बाद ही उसके धर्मान्ध भाई औरंगज़ेब ने उसे मरवा डाला। 'दारा शिकोह' के फ़ारसी अनुवाद से ही आँकेतिल दुपेरां (Anquetil Duperron) ने सन् १७९५ में इसे फ्रेन्च में अनूदित किया था।

अनेक वर्षों तक ब्राह्मणों के पवित्र साहित्य के ज्ञान के संबंध में यह अनुवाद यूरोप के विद्वानों का आधार रहा।

## यूरोप के लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण

ऊपर औरंगजेब के नाम का उल्लेख हो चुका है। इसका राजत्व-काल सन् १६५८ से १७०७ तक था। ठीक इसी समय में, फ्रांस में, चौदहवें लुई का शासन था। इस समय तक यद्यपि यूरोप के लोगों को सामान्यतया संस्कृत का ज्ञान नहीं था तथापि यूरोप के जो लोग मिशनरी के रूप में भारत में आये थे, वे संस्कृत से परिचित थे। आज यह बतलाना कठिन है कि संस्कृत का सबसे पहले ज्ञान प्राप्त करने वाला कौन यूरोपीय था? जब ९ मई सन् १४९८ में वास्को-डी-गामा अपने जहाज से कालिकट उतरा तो पादरी पैड्रो ने अपना धर्म प्रचार आरम्भ कर दिया। वास्को-डी-गामा के पोर्तुगाल लौटने के पूर्व ही उसकी मृत्यु भी हो गई थी। इसके बाद भारत में निरन्तर ईसाई धर्म-प्रचारक आते रहे किन्तु अनेक वर्षों तक इनके द्वारा भेजे हुए विवरणों में संस्कृत भाषा अथवा साहित्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

## सेण्ट फ्रांसिस ज़ैवियर

सर्वप्रथम सन् १५४२ में सेण्ट फ्रांसिस ज़ैवियर ने बाइबिल के उपदेश से संबंधित संगठन कार्य का समारम्भ किया था। वह अत्यन्त उत्साही एवं निष्ठावान व्यक्ति था। उसके मित्रों के अनुसार उसे विविध भाषाओं का अद्भुत ज्ञान था। यद्यपि उसने स्वयं इस बात को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी हमें मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म एवं भाषा तथा साहित्य के ज्ञान प्राप्त करने का सन् १५५९ से पूर्व का कोई विवरण प्राप्त नहीं है। सन् १५५९ में पहली बार हम गोवा में ईसाई धर्म में दीक्षित ब्राह्मणों से मिशनरियों को भारतीय धर्म एवं दर्शन का अध्ययन करते हुए तथा ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ करते हुए पाते हैं।

## फिलिप्पो सस्सेटी

सन् १५८१ से १५८८ तक प्रसिद्ध साहित्यिक एवं विद्वान् 'फिलिप्पो सस्सेटी', गोवा में था। यह इटली का निवासी था। उसके पत्र अभी हाल ही में फ्लोरेन्स में प्रकाशित हुए हैं। इनमें से एक पत्र में उसने यह लिखा है कि भारत का समस्त ज्ञान-विज्ञान केवल एक भाषा संस्कृत में उपलब्ध है। उसके अनुसार संस्कृत एक पूर्ण भाषा है। भारत के लोग संस्कृत का

उसीप्रकार अध्ययन करते हैं जिसप्रकार यूरोप के लोग ग्रीक तथा लैटिन पढ़ते हैं। इसका ज्ञान प्राप्त करने में छै-सात वर्ष लग जाते हैं। इस बात का किसी को ज्ञान नहीं है कि कबसे यह (संस्कृत) भाषा बोली जा रही है। इसके अनेक शब्द बोलचाल की भाषाओं में भी मिलते हैं, विशेषरूप से इटालियन भाषा में ६, ७, ८ तथा ९ के लिये वही शब्द हैं, जो संस्कृत में हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर, सर्प एवं अनेक वस्तुओं के इटैलियन नाम भी वहीं हैं जो संस्कृत में मिलते हैं। अन्त में वह अपने इस पत्र में लिखता है—'मुझे अठारह वर्ष की अवस्था में ही भारत में आना चाहिये था। तब मैं इन सुन्दर वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता।'

## राबर्टो डी नोबिली

इसके बाद एक ऐसा युग आया जिसमें यूरोप के मिशनरियों द्वारा संस्कृत भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के विवरण मिलते हैं। यह युग 'रॉबर्टो डी नोबिली' का युग (सन् १५७७ से १६५६) था। 'रॉबर्टो डी नोबिली' सन् १६०६ में भारत आया। उसका जन्म एक उच्च कुल में हुआ था। उसका चाचा 'बेलार्मिनो' एक प्रसिद्ध कार्डिनल पादरी एवं सुसंस्कृत व्यक्ति था। अतएव उसे इस तथ्य को समझने में देर नहीं लगी कि भारत के उच्चवर्ण के लोगों, विशेषतया मदुरा तथा अन्य स्थानों के ब्राह्मणों को ईसाई धर्म में दीक्षित होने में क्या कठिनाई है। इन स्थानों में अब तक जो लोग ईसाई बने थे, वे प्रायः निम्नस्तर तथा नीच जाति के लोग थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी नगण्य थी। 'रॉबर्टो डी नोबिली' ने उच्च वर्ण के लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिये एक सशक्त योजना बनाई। उसने ब्राह्मण का बाना धारण किया और इसप्रकार उच्च वर्ण के लोगों एवं विद्वानों में भी उसका प्रवेश होने लगा। कई वर्षों तक एकान्त में रहकर उसने गुप्तरूप से केवल तमिल एवं तेलुगु का ही ज्ञान प्राप्त नहीं किया अपितु उसने संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त किया। जब उसने नितान्त अध्यवसायपूर्वक ब्राह्मणों की भाषा एवं उनके साहित्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा अपने प्रतिस्पर्द्धियों से मुकाबला करने की शक्ति उसमें आ गई तब उसने जनता के बीच आकर धर्मप्रचार का कार्य प्रारंभ किया। वह यज्ञोपवीत धारणकर तथा तिलक लगाकर ब्राह्मणों के वेष में बाहर आता था। वह ब्राह्मणों के भोजन तथा जात-पाँत के नियमों का भी अनुगमन करता था। यद्यपि ब्राह्मण तथा उसके सहकर्मी, दोनों उसके कृत्यों से अप्रसन्न थे तथापि उसे अपने कार्य में सफलता

मिली। उसकी मृत्यु भारत में ही हुई थी, और अपने जीवन के अन्तिमकाल में वह अन्धा हो गया था। मिशनरियों के लिये उसके जीवनचरित का अध्ययन अत्यन्त दिलचस्प ए ं लाभप्रद है। 'रॉबर्टो डी नोबिली' को संस्कृत का प्रथम यूरोपीय विद्वान् माना जा सकता है। उसका संस्कृत का ज्ञान इतना गहरा था कि वह 'मनु', 'पुराणों' एवं आपस्तम्ब-सूत्रों से उद्धरण देता था। ब्राह्मणों की पवित्र भाषा एवं उसके साहित्य का उसे अद्भुत ज्ञान था उसने अपने धर्म-प्रचार में यह कहना प्रारंभ किया कि वह एक नये अथवा चतुर्थ वेद के प्रचार के लिये आया है जो लुप्त हो गया था। उसके इस प्रचार ही से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण धर्म के निर्बल एवं सबल पक्ष का उसे पूर्णज्ञान था। यह नितान्त आश्चर्य की बात है कि अपने को मूर्तिपूजा के अपराधों से निर्दोष सिद्ध करने के लिये तथा ब्राह्मणों के धर्म, उनके रीति-रस्म एवं साहित्य के सम्बन्ध में उसने जो पत्र रोम भेजे थे उनकी ओर विद्वानों का ध्यान ही नहीं आकर्षित हुआ। अनेक वर्षों तक रोम के कार्डिनल एवं पोप 'समन्वय के प्रश्न' (Accommodation question) में उलझे रहे, किन्तु किसी ने इस बात का अनुभव नहीं किया कि रोम के धर्म प्रचारकों को भारत में अपनी समन्वयात्मक प्रचार-नीति को कार्यान्वित करना चाहिये क्योंकि यहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता अत्यन्त प्राचीन एवं पूर्ण थी। यह वह युग था जब एक ओर यूरप के विद्वान् ग्रीक में लिखित प्राचीन पुस्तकों की प्राप्ति पर प्रसन्नता से आत्म विभोर हो उठते थे। किन्तु, दूसरी ओर एक प्राचीन भाषा में लिखित साहित्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। सत्य बात तो यह है कि अभी संस्कृत के अध्ययन के दिन दूर थे।

## हेनरिख् राथ

सत्रहवीं शती के एक अन्य जेसुइट मिशनरी ने भी संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। यह हेनरिख़ रॉथ था। आगरे में निवास करते समय उसने एक ब्राह्मण को संस्कृत का प्रारंभिक ज्ञान प्रदान करने के लिये प्रेरित किया और छै वर्षों के निरन्तर परिश्रमपूर्वक अध्ययन के पश्चात् उसने इस कठिन भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् १६६६ में वह रोम में था और इसने वहाँ संस्कृत-अक्षरों (नागरी-वर्णमाला) का एक विवरण तैयार किया जिसे सन् १६६७ में 'एथनेसियस कर्चर' ने अपने "चाइना इलसट्रेटा" में प्रकाशित किया था।

## अठारहवीं शती के विद्वान्

इसके बाद अठारहवीं शती आती है। इस युग में यूरोप के विद्वानों को संस्कृत में उपलब्ध विपुल साहित्य का पता चल जाता है, और वे उस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठते हैं। सन् १६९७ में, रिज़विक की संधि के बाद, चौदहवें लुई ने फ्रेंच जेसुइट पादरियों को भारत भेजा था। इनसे फ्रेंच संस्थान के विद्वानों से साहित्यिक पत्राचार होता रहा। संस्थान के विद्वान् सदस्य भारत की भाषा एवं साहित्य के संबंध में इनसे प्रश्न पूछते थे और ये जो उत्तर देते थे वह अकादमी के 'मेम्वायर' में प्रकाशित होते थे। सन् १७६७ में 'अबेबार्थलेमी' (Abbe' Barthelemy) ने पहले "पेरे कुर्दो" (Pere coeurdoux) एवं बाद में 'आंकेतिल दुपां' से जो पत्र-व्यवहार किया था, उसमें अत्यन्त रोचक सामग्री वर्तमान है। इन विद्वान् मिशनरियों के सम्बन्ध में आगे भी निवेदन किया जायेगा क्योंकि इन्होंने ही पहले भारत तथा यूरप की भाषाओं की समानता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था।

## पेरे कमेते

उसके एक सहकर्मी 'पेरे कमेते' ने २४ जनवरी सन् १७३३ को करनाट, के वेंकटगिरि, से एक पत्र लिखते हुए यह सूचना दी है कि उस समय जेसुइट लोगों के पास ऐसे मिशनरी थे जो संस्कृत में पूर्णतया दक्ष ही नहीं थे अपितु वे वेद के कुछ अंश को भी समझ लेते थे; उन्होंने एक प्राच्य पुस्तकालय (ओरियण्टल लाइब्रेरी) की स्थापना कर ली थी, जिससे ईसाई धर्म की अभिवृद्धि में सहायता मिल रही थी। इस पुस्तकालय के ग्रन्थों को पढ़कर ईसाई धर्म-प्रचारक ब्राह्मणों को तर्क-वितर्क में परास्त करने के लिये सामग्री प्राप्त करते थे। इस पुस्तकालय में दर्शन एवं धर्म संबंधी ग्रन्थों के अतिरिक्त चारों वेद भी थे जिन्हें भारतीय अनादिकाल से प्रमाणिक अनुलंघनीय तथा स्वयं ईश्वर के मुख से निःसृत मानते हैं। अपने एक पत्र में कमेते लिखता है:—

"जिस समय सबसे पहले मिशनरी लोग हिन्दुस्तान गए उस समय से ही वे लोग भारत के लोगों द्वारा अति सम्मानित वेद की खोज में प्रवृत हो गए, किन्तु उन्हें सफलता न मिली, और वास्तव में यदि कुछ ब्राह्मण जिन्होंने गोपनीय ढंग से ईसाई धर्म की दीक्षा ले ली थी हमारे साथ न होते तो इन वेदों को प्राप्त करना संभव न होता, क्योंकि जब ब्राह्मण लोग अपने

वर्ग के लोगों के अतिरिक्त अन्य वर्ग के लोगों को भी उसे नहीं पढ़ाते तो भला वे अपने धर्म के शत्रु यूरोपीय लोगों को इन्हें कैसे पढ़ाते? यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि जो लोग वेद के न्यासधारी हैं वे इसके एक शब्द का भी अर्थ नहीं जानते, क्योंकि इसकी भाषा बहुत प्राचीन है और जिस संस्कृत से वे परिचित हैं उसके द्वारा वे वेद में उपलब्ध ज्ञान और उसके शब्दों की व्याख्या नहीं कर सकते। वेदों का अर्थ केवल इनके भाष्य से ही जाना जाता है। जिन लोगों ने इन भाष्यों का अध्ययन किया है, वे बड़े पण्डित माने जाते हैं तथा सभी लोग इन्हें नमन करते हैं और ये लोग इन्हें आशीर्वाद देते हैं। वह पुनः लिखता है :—

"चूँकि अब वेद हम लोगों के हाथ में आ गया है अतएव इसके मंत्रों को उद्धृत करके हम प्रमाण सहित यह बतला सकते हैं कि लोगों को मूर्तिपूजा का खंडन करना चाहिये, क्योंकि ईश्वर की अद्वैतता, उसके विशिष्ट गुणों एवं स्वर्ग-नर्क का उल्लेख वेदों में मिलता है। किन्तु, ये सत्य इनमें इस रूप में बिखरे पड़े हैं—जैसे बालू के ढेर में स्वर्ण के कतिपय कण हों।"

अपने १६ सितम्बर सन् १७३७ के एक अन्य पत्र में वह पुनः लिखता है :—

"तुम्हारी ही तरह मैं भी यह सोचता हूँ कि भारतीय धर्म के मूलभूत ग्रन्थों को हमें बहुत सावधानी से पढ़ना चाहिये, किन्तु अभी तक ये ग्रन्थ हमारे हाथ नहीं आए थे और बहुत दिनों तक तो हम लोग यही विचार करते रहे कि ये, विशेषरूप से चारों वेद, हम लोगों को उपलब्ध न होंगे। किन्तु अभी पाँच-छै वर्ष हुए हैं जब हमें एक प्राच्य पुस्तकालय स्थापित करने का अवसर मिला है। इस पुस्तकालय में महत्वपूर्ण पुस्तकें एकत्र की जा रही हैं। इधर सबसे महत्वपूर्ण बात जो मुझे ज्ञात हुई है यह है कि भारतीय धर्म के संबंध में जानकारी के लिये इन चारों वेदों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

किन्तु इन वेदों को योग्य व्यक्ति भी कठिनाई से समझ पाते हैं। कुछ ब्राह्मण ऐसे हैं जो इन्हें समझते हैं, लेकिन वे अपनी जाति वालों के कारण इसे अन्य लोगों को बताने का साहस नहीं करते। हम लोगों को संस्कृत का जो कुछ ज्ञान है उसके द्वारा इसे समझने में हम असमर्थ हैं क्योंकि इसकी भाषा अति प्राचीन है। इन वेदों के कुछ मंत्रों की व्याख्या अन्य धार्मिक ग्रन्थों में मिलती है। इसके कुछ अंश, विशेषरूप से चौथे वेद के कुछ भाग

के अर्थ हम लोग समझ लेते हैं, क्योंकि इनकी रचना अन्य वेदों की अपेक्षा पाँच सौ वर्ष बाद हुई थी।

## पेरे पों

कमेते के कुछ वर्ष बाद 'पेरे पों' ने ब्राह्मणों की साहित्यिक कृतियों की एक विस्तृत सूची बनाई। उसने इस संबंध में कारिकल, (मदुराई) से २३ नवम्बर सन् १७४० को एक विवरण 'डु हाल्डे' (Du Halde) को भेजा था। यह विवरण भी प्रकाशित हुआ था। 'फादर पों' ने अत्यन्त रोचक और सही ढंग से अपने इस विवरण में संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों का परिचय दिया है। उसके इस विवरण के अन्तर्गत चारों वेदों, व्याकरण ग्रन्थों, छै दर्शन शास्त्रों एवं ज्योतिष-ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं। कई बातें तो इसने वही कही हैं जिनके सम्बन्ध में, बाद में सर विलियम जोन्स ने खोज की थी।

यद्यपि, 'फादर पों' कुर्दो कमेते तथा अन्य विद्वानों द्वारा प्रकाशित विवरणों का यह परिणाम हुआ कि यूरप के लोगों की संस्कृत के प्रति विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो गयी, तथापि इसका प्रत्यक्ष परिणाम इसलिये कुछ न हो सका क्योंकि अभी तक संस्कृत व्याकरण कोष तथा अन्य पाठ्य ग्रन्थों का यूरप में निर्माण न हो सका था, जिससे कि वहाँ के लोग संस्कृत का भी उसीरूप में अध्ययन करते जिसरूप में वे ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं का अध्ययन करते थे। 'अबे बार्थले' ने भी सन् १७६३ में ही पेरे कुर्दो को संस्कृत भाषा की एक व्याकरण की पुस्तक भेजने के लिये पत्र लिखा था। पैरिस की 'रायल लाइब्रेरी' में लैटिन भाषा के माध्यम से एक संस्कृत व्याकरण की पुस्तक उपलब्ध थी किन्तु इस पुस्तक में संस्कृत के शब्द बँगला अक्षरों में दिये गये थे। इसमें संस्कृत वाक्यों के संबंध में कुछ विचार नहीं किया गया था। अतएव पेरेकुर्दो ने इस संबंध में उसके पास सामग्री भेजी।

## पावलिनो दा एस० बार्टोलोमियो

रोम के रोमन कालेज (Collegio Romano) के पुस्तकालय में एच० राथ द्वारा लिखित संस्कृत व्याकरण की कुछ सामग्री थी। इसीप्रकार यहाँ जे० हैनलेडेन (J. Hanxleden) जिसके नाम का पावलिनो द० एस० बार्टोलोमियो बराबर उल्लेख करता है तथा हर्वा द्वारा एकत्र की हुई सामग्री भी थी। इन्हीं सामग्रियों के आधार पर पावलिनो द० एस० बार्टोलोमियो ने यूरप में, अपना संस्कृत का प्रथम व्याकरण प्रकाशित कराया। वह एक

पादरी था। वह जर्मन जाति का था तथा उसका नाम जोहन फिलिप वर्डिन (Johann Philip Werdin) था। वह सन् १७७६ से १७८९ तक भारत में रह चुका था। इसने, सन् १७९० में रोम में अपना संस्कृत का व्याकरण प्रकाशित कराया था। इसके कुछ वर्षो बाद, वह इससे एक और पूर्ण व्याकरण प्रकाशित कराया। इसीप्रकार उसने हैनलेडेन द्वारा लिखित सामग्री के आधार पर भारत के पुरावशेष, कथाओं एवं धर्म के संबंध में भी कई निबंध लिखे। पाबलिनों ने हैनलेडेन को कई स्थानों पर उद्धृत किया है जिससे यह ज्ञात होता है कि उसने गहराई के साथ संस्कृत का अध्ययन किया था। पावलिनो के व्याकरण की अत्यधिक आलोचना हुई थी और आज उसे कोई भी नहीं पढ़ता किन्तु यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि किसी भी भाषा के प्रथम व्याकरण लिखने में बड़ी कठिनाई होती है।

पावलिनों ने दो अन्य मिशनरियों—पादरी 'मार्को डेल्ला तोम्बा' एवं हैनलेडेन की हस्तलिखित सामग्री का भी अपने व्याकरण के लेखन में उपयोग किया था।

## मार्को डेल्ला तोम्बा

मार्को डेल्ला तोम्बा सन् १७५७ में भारत आया था और तिब्बत होते हुए सन् १७७४ में वह रोम लौट गया था। भारत आकर उसने ब्राह्मणों की भाषा एवं साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। उसने पंडितों की सहायता से केवल संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद ही नहीं किया था अपितु वह इस भाषा में इतना निपुण हो गया था कि वह सहजभाव से उनसे शास्त्रार्थ भी कर सकता था। वह ब्राह्मणों से संस्कृत माध्यम से शास्त्रार्थ करता था, इसमें सन्देह है। बात यह है कि उसने ब्राह्मणों की रीति-नीति एवं विश्वास आदि के संबंध में जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह संस्कृत भाषा की वास्तविक विशेषताओं से अपरिचित था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने संस्कृत के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों को देखा था किन्तु उसने वेदों की कोई हस्तलिखित प्रति नहीं देखी थी। अतएव उसे वेदों के अस्तित्व में ही सन्देह था। उसने ब्राह्मणों की अद्भुत स्मरण शक्ति का भी उल्लेख किया है जिन्हें समग्र ग्रन्थ कंठाग्र रहता है। इसके पत्रों का निश्चित रूप से विद्वानों पर प्रभाव पड़ा होगा और आज भी इन्हें पढ़ने में आनंद आता है।

## ई० हैनलेडेन

श्री अरनेस्ट हैनलेडेन (Ernestus Hanxleden) वास्तव में एक

बड़े विद्वान् थे। आपकी मृत्यु सन् १७३२ ई० में हुई थी। काउन्ट 'एंजेलो-दि गुबरनाटिस्' ने एक हस्तलिखित ग्रन्थ का विवरण दिया है, जो सम्प्रति, 'बिबिलिओटेका थिटोरियो एमानुएले' में आज भी उपलब्ध है। यह यहाँ 'कॉलेजिओ रोमानो' से लाया गया था। एंजेलो का विश्वास है कि वह हेन-लेडेन के द्वारा आया था। इसमें वेदान्त के 'वैशिष्ट्य सार' के मूल पाठ तथा अनुवाद एवं 'उपनिषद्', 'तर्कभाषा' तथा 'अष्टावक्र' गीता के अंश हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हैनलेडेन का संस्कृत-ज्ञान कितना गहरा था। 'हर्वा' का यह कथन कि हैनलेडेन ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध संस्कृत बोलता था, अतिशयोक्तिपूर्ण है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जो मिशनरी भारत से रोम वापस आये थे, उनका संस्कृत का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ था।'

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप के लोगों को संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अस्तित्व के संबंध में किसप्रकार का ज्ञान था किन्तु योरप के लोगों तथा अन्य लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं था कि जो संस्कृत-भाषा सिकन्दर तथा सोलोमन के समय अथवा उनसे शताब्दियों पूर्व-काल से बोली जाती थी उसका ग्रीक एवं लैटिन से अति निकट का संबंध था।

## कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी

यूरोपीय लोगों के संस्कृत के भाषा-शास्त्र के इतिहास का समारंभ कल-कत्ते की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना, सन् १७८४ से आरंभ होता है। यद्यपि इसके पूर्व भारत में आने वाली मिशनरियों ने संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य के संबंध में प्रचुर मात्रा में जानकारी प्राप्त कर ली थी किन्तु ब्राह्मणों की भाषा (संस्कृत) एवं उसके साहित्य को योरप तक पहुँचाने का श्रेय इस सोसायटी के सदस्यों——सरविलियम जोन्स, विलकिन्स, कैरी, फारस्टर, एवं कोलब्रुक——को है।

## संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन में समता

यह कहना नितान्त कठिन है कि भाषा और साहित्य, दोनों में से कौन अधिक प्रभावशाली है। संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन के संज्ञा तथा क्रियापदों के रूपों में जो अद्भुत समानता है, उसे देखकर कोई भी विद्वान् आश्चर्य-विभोर हो सकता है। पीछे यह लिखा जा चुका है कि सन् १५८८ में ही फिलिपो सस्सेटी संस्कृत तथा इटैलिन के संख्यावाचक तथा ईश्वर, सर्प एवं अन्य शब्दों की समता देखकर आश्चर्य चकित हो गया था। अन्य विद्वानों का

भी कदाचित् यही अनुभव हो किन्तु इसे स्पष्टरूप में व्यक्त करने का श्रेय पेरेकुर्दो को है।

## पेरे कुर्दो

'अबेबार्थेलेमी' ने पेरिस से फ्रेन्च जेसुइट पादरी को जो पांडुचेरी में रहता था इस आशय का एक पत्र लिखा था कि वह उसके पास एक संस्कृत का व्याकरण, कोष एवं भारत के इतिहास तथा साहित्य के संबंध में सामग्री भेजे। पेरेकुर्दो ने सन् १७६७ ई० में फ्रेन्च में लिखकर जवाब भेजा था। इसके इस उत्तर में कुछ रोचक तथ्य भी थे। उसने संस्कृत तथा लैटिन के तुलनात्मक रूप में कतिपय शब्दों को उद्धृत किया था जो इसप्रकार थे :—

| संस्कृत | — | लैटिन | |
|---|---|---|---|
| देव | = | देउस | (Deus) |
| मृत्यु | = | मोर्स | (Mors) |
| गणितम् | = | गेनितुम | (genitum) |
| जानु | = | गेनु | (genu) |
| विधवा | = | विडुआ | (vidua) |
| मध्य | = | मेडियस | (medius) |
| दत्तम् | = | दातुम | (datum) |
| दानम् | = | डोनुम | (donum) आदि। |

कुर्दो का यह पत्र फ्रेंच एकेडेमी के सामने प्रस्तुत किया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसके द्वारा दिये हुए कतिपय शब्दों की समानता ठीक नहीं थी, किन्तु, इस पत्र को जितना महत्व मिलना चाहिये था उतना एकेडेमी ने नहीं दिया। उसने संस्कृत एवं ग्रीक के क्रियारूपों की जो तुलना प्रस्तुत की वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसने संस्कृत के 'अस्' धातु के सामान्य तथा संदिग्ध वर्तमान के रूपों को तुलना के लिये लिया था। ये इस प्रकार हैं :—

| संस्कृत | लैटिन | | संस्कृत | लैटिन | |
|---|---|---|---|---|---|
| अस्मि | सुम् | (sum) | स्याम् | सिम | (sim) |
| असि | एस् | (es) | स्यास् | सिस् | (sis) |
| अस्ति | एस्त | (est) | स्यात् | सित् | (sit) |
| स्मस् | सुमुस | (sumus) | स्याम् | सिमुस् | (simus) |
| स्थ | एस्तिस | (estis) | स्यात | सिटिस | (sitis) |
| सन्ति | सुन्त | (sunt) | सन्तु | सिन्त् | (sint) |

इसीप्रकार उसने सर्वनाम शब्दों को भी तुलनात्मक तालिका निम्नलिखित रूप में दी है:—

| संस्कृत | लैटिन |
|---|---|
| अहम् | एगो (ego) |
| मे | मी (me) |
| मह्यम् | मिहि (mihi) |
| स्व | सुस् (sus) |
| त्वम् | तु (tu) |
| तुभ्यम् | तिबि (tibi) |
| कस् | क्विस् (quis) |
| के | क्वि (qui) |
| कम् | क्वेम् (quem) |

इसीप्रकार उसने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन के एक से सौ तक के संख्यावाची शब्दों की तुलना की है।

ऊपर की तुलना से ही संतोष न करके वह इसके कारणों पर विचार आरंभ करता है और इन कारणों की व्याख्या करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में जो समानता मिलती है उसका कारण न तो साहित्यिक समागम, न धर्म-परिवर्तन और न विजय है। उसके मतानुसार आदि मनुष्य की भाषा एक ही थी, किन्तु बैबिल की विपत्ति के बाद उसमें भिन्नता आ गई। इस भिन्नता के बावजूद भी कुछ मूल शब्द सभी भाषाओं में वर्तमान हैं जिनका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन संभव है।

जब हम यह देखते हैं कि यह निबंध आज से सौ वर्ष पूर्व लिखा गया था तो हमें यह आश्चर्य होता है कि लोगों का ध्यान इसकी ओर क्यों नहीं गया। यदि एम० माइकेल ब्रील (Michel Breal) ने फ्रेंच एकेडेमी के 'मेम्वायर' से इसे उद्धृत न किया होता और यह न लिखा होता कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र के कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्षों का श्रेय इस विनीत मिशनरी को मिलना चाहिये तो लोगों को कदाचित् इस संबंध में कुछ ज्ञात भी न होता।

## हालहेड

हालहेड ईस्ट इंडिया कम्पनी का नौकर था। वह सन् १७५१ में पैदा हुआ था तथा सन् १८३६ में उसकी मृत्यु हुई थी। उसने बंगला का एक

व्याकरण भी लिखा था जो सन् १७७८ में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका में वह लिखता है 'मैं संस्कृत, फ़ारसी-अरबी तथा लैटिन और ग्रीक शब्दों की समानता देखकर आश्चर्य चकित हूँ। यह समानता केवल पारिभाषिक तथा अन्यप्रकार के शब्दों में ही नहीं मिलती अपितु इन भाषाओं के मूल में भी यह वर्तमान है।'

## सर विलियम जोन्स

भारत आने के पूर्व से ही सर विलियम जोन्स (मृत्यु १७९४) फ़ारसी, ग्रीक एवं लैटिन की विचित्र समानता के अध्ययन में अभिरुचि लेने लगा था। १७ फरवरी सन् १७७० को प्रिंस एडम ज़ारटोरस्की (Adam Czartoryski) को अपने एक पत्र में वह लिखता है—"मुझे यह निश्चयरूप से ज्ञात नहीं है कि यूरोपीय भाषा के इतने अधिक शब्द फ़ारसी में कैसे आ गए? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, 'प्रोकोपियस' ने युद्ध एवं शान्ति में फ़ारिस तथा यूरोप के उत्तर एवं एशिया के उन निवासियों के जिन्हें प्राचीन लोगों ने सीरियन नाम से अभिहित किया है, पारस्परिक निकट संपर्क का वर्णन किया है। प्राचीनकाल के अनेक विद्वान् शोध-कर्ताओं का यह मत है कि उत्तर की जाति के लोग एक ऐसी प्राचीन भाषा का प्रयोग करते थे, जिससे केवल केल्टिक ही नहीं अपितु ग्रीक एवं लैटिन जैसी भाषाएँ भी व्युत्पन्न हुई थीं। वास्तव में ग्रीक के 'पाटेर' तथा 'पेटेर' एवं 'थुगातेर' शब्द फ़ारसी में इस रूप में मिलते हैं कि इन्हें एक मूल से व्युत्पन्न न मानना हास्यास्पद है। यहाँ हमें यह बात स्वीकार करनी चाहिये कि इस संबंध में जो खोजें हो रही हैं, वे अत्यन्त अस्पष्ट हैं।

भारत जाने के बाद ज्योंही उसका संस्कृत से संपर्क हुआ, उसने यह घोषणा कर दी कि संस्कृत की प्राचीनता चाहे जो भी हो, इसकी गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक भरपूर है तथा इन दोनों से अधिक परिष्कृत है। इसका संस्कृत तथा ग्रीक से अति निकट का संबंध है। कोई भाषा-शास्त्री संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन के निरीक्षण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि ये तीनों एक ही स्रोत से प्रादुर्भूत हुई हैं। यद्यपि उस स्रोत का आज पता नहीं है। इन्हीं कारणों से यह बात मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है कि गाँथिक एवं केल्टिक भाषाएँ भी उसी स्रोत से उद्भूत हुई हैं, जिससे संस्कृत प्रादुर्भूत हुई थी। पुरानी फ़ारसी की गणना भी इसी परिवार में की जा सकती है।

किन्तु, प्रश्न यह था कि भाषाओं की इस समानता की व्याख्या कैसे की

जाय? लोग पूर्णरूप से आश्चर्य विभूत थे। धर्माचार्य इसे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे, प्राचीन भाषाओं के विद्वानों को इसमें सन्देह था, दार्शनिक इसके एक मात्र निष्कर्ष से बचने के लिये विचित्र प्रकार के अनुभवों में व्यस्त थे, क्योंकि विश्व की रचना के इतिहास के सम्बन्ध में इनके जो विचार थे उनका एकदम खंडन हो जाता था।

## "लार्ड मोन्बोड्डो"

लार्ड मोन्बोड्डो ने अपना महान् ग्रन्थ अभी हाल में समाप्त किया था। इसमें उन्होंने यह लिखा था कि समस्त मानव सृष्टि केवल एक जोड़े बानरों से हुई है और इसीप्रकार विश्व की सभी भाषाएँ एवं बोलियाँ मूलतः कतिपय मिस्र के देवताओं द्वारा संचरित हुई हैं। इसी समय संस्कृत की खोज हुई और यह खोज मोन्बोड्डो के अन्वेषणों पर वज्रपात के समान सिद्ध हुई। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि लार्ड मोन्बोड्डो ने इस खोज के महत्व को तत्काल ही स्वीकार कर लिया।

यह सत्य है कि वे अपने प्रतिपादित सिद्धान्तों को छोड़ने के लिये तैयार न थे। किन्तु जब संस्कृत व्याकरण के प्रथम प्रणेता उनके मित्र 'विल्किन्स' ने नये तथ्य उनके सामने रखे तो इस नये साक्ष्य से निष्कर्ष निकालने में इस सूक्ष्मदर्शी स्काच जज को देर न लगी। सन् १७९५ ई० में, इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं :—

"भारत के ब्राह्मणों के पास एक ऐसी भाषा आज भी सुरक्षित है जो होमर की ग्रीक भाषा से भी अधिक पूर्ण एवं परिष्कृत है। इसका नाम संस्कृत है और भारत की अन्य भाषाओं से इसकी अत्यधिक समता है। भारत की अन्य भाषाएँ इसकी बोलियाँ हैं। इस भाषा के संबंध में मुझे निश्चितरूप से भारत से ऐसे तथ्य उपलब्ध हुए हैं कि यदि मुझे अपने 'मानव इतिहास' को अपने जीवन में पूर्ण करने का अवसर मिला तो म यह सिद्ध कर सकूँगा कि संस्कृत मिस्र देश की पुरानी भाषा थी और मिस्र से ही मिस्र के लोग इसे भारत ले गये थे। ग्रीक भाषा भी इस संस्कृत से ही व्युत्पन्न हुई थी, और मिस्र के लोग इसे अपने ग्रीस के उपनिवेश में अपने साथ ले गये थे।

इसके कुछ वर्षों के बाद सन् १७९५ में संस्कृत एवं ग्रीक के संबंध में इनके विचार और भी निश्चित हो गये थे। आप लिखते हैं :—"मिस्टर विल्किस ने ग्रीक और संस्कृत के सादृश्य को इसरूप में सिद्ध कर दिया है कि अब मुझे विश्वास हो गया है कि ग्रीक और संस्कृत में कोई एक कुछ दूसरे

की बोली हैं अथवा दोनों किसी एक भाषा से प्रादुर्भूत हुई हैं।" चूँकि निश्चित् रूप से ग्रीक संस्कृत की बोली नहीं है और न संस्कृत ही ग्रीक की बोली है, अतएव इन दोनों को किसी एक भाषा की बोलियाँ होनी चाहिए। यह एक भाषा मिस्र (इजिप्ट) की भाषा के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा नहीं हो सकती। इसे 'आसिरी' लोग भारत लाये थे। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक भाषा इसकी एक बोली है। मुझे ऐसा लगता है कि मैंने इसे सिद्ध कर दिया। लार्ड मोन्बोड्डो के इस मिस्र (इजिप्ट) एवं 'ओसिरिस' के सिद्धान्तों पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु उनका यहाँ एक उद्धरण इसलिये देना आवश्यक है ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि जब लार्ड मोन्बोड्डो के समक्ष साक्ष्य उपस्थित किये गय तो उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने में वे कितने पूर्ण दक्ष थे। आप लिखते हैं:—'संस्कृत तथा ग्रीक में जो समानता श्री विल्किंस ने ढूँढ़ निकाली है उसके लिये हमें सभी भाषाओं के मूल शब्दों का चयन करना चाहिये क्योंकि इनके द्वारा द्योतित शब्दों का सभ्यता के प्रथम चरण में ही प्रयोग होता होगा। इस युग में, जब तक एक भाषा दूसरी से व्युत्पन्न न होगी, ये शब्द उधार न लिये गये होंगे। ऐसे शब्दों में संख्यावाची, मनुष्य-शरीर के विभिन्न भाग एवं माता-पिता तथा भाई जैसे संबंधवाची शब्द आते हैं। इनमें से सर्वप्रथम संख्यावाची शब्दों को लेना चाहिये। सभ्य समाज में सर्वत्र इनका प्रयोग समसामयिक रूप में चला होगा। संस्कृत के एक से दस तक अंकों—एक, द्वि, चतुः, पञ्च, षट्, षष्ट, अष्ट, नव, दश....की ग्रीक एवं लैटिन में उपलब्ध इन्हीं शब्दों के नामों से समानता है। इसके बाद संस्कृत में बीस तक के शब्द दस तथा एक, दस तथा दो आदि रूप में चलते हैं। बीस के लिये संस्कृत में 'विंशति' शब्द है। इसी-प्रकार चलते हुए हम तीस तक पहुँचते हैं। इसके लिए संस्कृत में 'त्रिशति' शब्द है। ग्रीक एवं लैटिन में भी इसके प्रतिरूप शब्द इसीरूप में हैं। इसीप्रकार चालीस, पचास आदि के लिये संस्कृत में शब्द चलते हैं और सौ तक पहुँच जाते हैं; चालीस, पचास आदि शब्दों के ग्रीक एवं लैटिन प्रतिरूप, इसीरूप में हैं। किन्तु, संस्कृत 'शत' (सौ) के लिए ग्रीक एवं लैटिन में दूसरे शब्द हैं किन्तु, इस गणना क्रम के शब्दों में संस्कृत ग्रीक एवं लैटिन में अद्भुत समानता है।

लार्ड मोन्बोड्डो ने इसके बाद संस्कृत 'पद' ग्रीक 'पोस' (Pous), संस्कृत 'नास' लैटिन 'नासस्' (Nasus), संस्कृत 'देव' ग्रीक 'थिओस्'

(Theos), लैटिन 'देउस्' (deus), संस्कृत 'आप' लैटिन 'एक्वा' (aqua), संस्कृत 'विधवा' लैटिन 'विडुआ' (vidua) शब्दों की समानता दिखलाई हैं। लार्ड मोन्बोड्डो के अनुसार संस्कृत के 'कोण', 'केन्द्र', 'होड़ा' आदि शब्द ग्रीक से संस्कृत में आये हैं। इसके बाद आपने संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन के व्याकरणीय समानता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आपने संस्कृत के 'त्रिपद' (त्रि+पद) जैसे सामासिक शब्द की 'Tripod' से समानता दिखलाई है। इसीप्रकार इस अद्भुत तथ्य की ओर भी आपने ध्यान दिलाया है कि ग्रीक की भाँति ही संस्कृत में भी 'अ' नकारात्मक विशेषक के रूपमें प्रयुक्त होता है। अन्त में विल्किंस द्वारा प्रदत्त संस्कृत के 'अस्मि' (मैं हूँ) असि, (तू है) अस्ति, (वह है), सन्ति (वे हैं), रूपों की ग्रीक के 'एस्मि' (esmi),'एइस' (eis) तथा 'एस्ति' (esti) एवं लैटिन के 'सुन्त' (sunt) में आप समता प्रदर्शित करते हैं।

## 'डुगाल्ड स्टेवर्ट'

एक अन्य स्काटलैण्ड निवासी दार्शनिक 'डुगाल्ड स्टेवर्ट, लार्ड मोन्बोड्डो की भाँति ऊपर के तथ्यों को सरलता से स्वीकार करने के लिये तत्पर न था। यूरप के लोगों का यह विश्वास था कि ग्रीक तथा लैटिन भाषाएँ या तो मूलभूत भाषाएँ हैं या हिब्रू भाषा के परिवर्तन रूप में, अस्तित्व में आई हैं। ऐसे वातावरण में पले हुए लोगों के गले के नीचे यह क्रान्तिकारी धारणा उतारने के लिये कि ग्रीक एवं लैटिन जैसी क्लासिकल भाषाओं का संबंध जंगली लोगों (महान् मुगलों की भारतीय प्रजा को यूरप के लोग इसीरूप में मानते थे) की संस्कृत भाषा से है, अत्यधिक श्रम की आवश्यकता थी। जो हो, यदि संस्कृत के संबंध में यह बात सही थी तो भी डुगाल्ड स्टेवर्ट इसे स्वीकार करने के लिये तैयार न था। उसने संस्कृत नाम की भाषा के अस्तित्व को ही एकदम अस्वीकार किया और यह सिद्ध करने के लिये अपना प्रसिद्ध निबन्ध लिखा कि संस्कृत की संरचना महान् धूर्त एवं असत्यवादी ब्राह्मणों ने ग्रीक एवं लैटिन के आदर्श पर की है और संस्कृत का साहित्य कपटपूर्ण एवं आरोपित है। इस तथ्य का उल्लेख यहाँ यह स्पष्ट करने के लिये किया गया है ताकि लोगों को यह ज्ञात हो जाय कि संस्कृत की खोज से यूरप के शिक्षित लोगों के हृदय में स्थित पक्षपातपूर्ण धारणाओं को कितने ज़ोर से धक्का लगा था। ग्रीक तथा लैटिन भाषाएँ भारत के कृष्ण वर्ण के निवासियों की भाषा, संस्कृत की सगी बहनें हैं, इस अप्रिय निष्कर्ष से बचने के लिये, उस युग में, भद्दे से भद्दे तर्कों का उप-

योग किया जाता था। यूरोपीय विज्ञान के प्रकाश में, संस्कृत पांडित्य संबंधी तथ्यों एवं निष्कर्षों को स्वीकार करते हुए, सर्वप्रथम आगे आने वाला जर्मन कवि 'फ्रेडरिक श्लेगेल' था।

## फ्रेडरिक श्लेगेल

एमिएन्स के संधि-काल (सन् १८०१-१८०२) में फ्रेडरिक श्लेगेल इंग्लैंड में था और इसने श्री अलेक्जेण्डर हैमिल्टन से संस्कृत का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया था। कुछ समय तक पैरिस में अध्ययन करते हुए उसने सन् १८०८ में "भारतीयों की भाषा एवं उनके ज्ञान" के संबंध में एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। यद्यपि यह ग्रन्थ 'एडेलुंग कृत 'मिथ्रिडेट्स' के केवल दो वर्ष बाद ही प्रकाशित हुआ था, किन्तु इसमें तथा 'एडेलुंग' की कृति में उतना ही अन्तर था जितना 'कोपरनिकस' तथा 'टालेमी' की प्रणालियों में अन्तर है। श्लेगेल कोई बड़ा विद्वान् न था। उसके कई वक्तव्य भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं और उसके निबंध की तो सहजभाव से आलोचना की जा सकती है। किन्तु 'श्लेगेल' अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति था। सच बात तो यह है कि जब किसी नूतन विज्ञान का निर्माण होता है तो इसके लिये विद्वान् की सत्यता की अपेक्षा कवि की कल्पना की अधिक आवश्यकता होती है। भारत, फ़ारस, ग्रीस, इटैली एवं जर्मनी की भाषाओं पर एक दृष्टि डालकर तथा इन्हें भारत जर्मेनिक (इण्डो-जर्मेनिक) जैसे सहज नाम से अभिहित कर एक सूत्र में ग्रथित करने के लिये सचमुच कवि-दृष्टि आवश्यक थी। यह कार्य श्लेगेल ने सम्पन्न किया और मनुष्य के बौद्धिक इतिहास में इसे जो 'नये संसार की खोज' कहा गया है, वह वास्तव में सत्य है।

आगे हम यह देखेंगे कि श्लेगेल की यह विचारधारा जर्मनी में किस रूप में आगे बढ़ी जिसके फलस्वरूप मनुष्य की मुख्य भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण की क्रिया सम्पन्न हो सकी।

अध्याय ७

# भाषाओं का परिवारिक वर्गीकरण, तुलनात्मक भाषाशास्त्र के संस्थापक

इससे पहले के एक अध्याय में हमने सन् १८०८ तक भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में किए गये प्रयत्नों पर प्रकाश डाला है। इसी वर्ष फ्रेडरिक श्लेगेल ने अपनी एक लघु कृति "भाषा तथा भारतीयों का ज्ञान" (The Language and Wisdom of The Indians) शीर्षक प्रकाशित की थी। श्लेगेल की यह कृति जादू की छड़ी सिद्ध हुई। इसने वह स्थान बतला दिया जहाँ खान खोदनी चाहिए और शीघ्र ही उस युग के कतिपय विख्यात विद्वान् वहाँ सुरंग डालकर कच्चा लोहा निकालने लगे। कुछ समय तक प्रत्येक संस्कृत के अध्ययन करनेवाले को इंगलैंड आना पड़ता था। 'बॉप्प', श्लेगेल, लास्सेन, रोज़ेन, बर्नाफ, सभी कुछ दिनों के लिए इंगलैंड आए। ये लोग ईस्टइंडिया हाउस में प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की प्रतिलिपि तैयार करते थे और आवश्यकतानुसार इस कार्य में चिल्किस कोलब्रुक, विल्सन एवं इण्डियन सिविल सर्विस के अन्य प्रख्यात सदस्यों से सहायता लेते थे। सन् १८१६ में, फ्रैंसिस बॉप्प ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी तथा जर्मन का पाण्डित्यपूर्ण तुलनात्मक व्याकरण लिखा। इसके बाद उसने अन्य निबन्ध भी लिखे। सन् १८३३ में उसके द्वारा प्रणीत संस्कृत, ज़ेन्द, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, स्लैवोनिक, गॉथिक एवं जर्मन के तुलनात्मक व्याकरण का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ लगभग बीस वर्षों में सन् १८५२ में समाप्त हुआ था। इसके प्रकाशन से तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव सदैव के लिए मजबूत हो गयी। फ्रेडरिक श्लेगेल के भाई ऑगस्ट विलहेम वॉन श्लेगेल जर्मन भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। आप ने जर्मनी में संस्कृत भाषा को लोकप्रिय बनाने का कार्य किया। आप के "इंडिशे बिब्लियोथेक" का प्रकाशन सन् १८१९ से १८३० तक हुआ था। यद्यपि इसका उद्देश्य संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों का प्रकाशन था, फिर भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान सम्बन्धी अनेक निबन्ध उसमें प्रकाशित हुए। इसी समय इस नवीन विज्ञान को विलहेम वॉन हम्बोल्ट के रूप में एक सशक्त अभिभावक मिला। यह अलेकजेण्डर वॉन

हम्बोल्ट का योग्य भाई था। यह उस युग का, 'प्रशा' का प्रख्यात राजनीतिज्ञ था। उसके निबन्धों, विशेषरूप से भाषातत्व सम्बन्धी निबन्धों ने उसके जीवन-काल में ही सामान्यरूप से विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। उसने 'कवि' (Kawi) भाषा का विशिष्ट अध्ययन किया था जो सन् १८३६ में उसकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित हुआ था। दूसरा विद्वान् जिसकी गणना तुलनात्मक भाषाविज्ञान के संस्थापकों में होनी चाहिए प्राध्यापक पॉट (Pott) था। इसने व्युत्पत्ति सम्बन्धी शोधकार्य किया था। इसकी कृति का प्रकाशन प्रथम बार १८३३ तथा १८३६ में हुआ था। पॉट के ही सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित, किन्तु विशिष्ट उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर ग्रिम ने अपने 'टयुटनिक व्याकरण' का प्रणयन किया था। यह ग्रन्थ वास्तव में विशाल था और सन् १८१९ से १८३७ के बीच लगभग बीस वर्षों में प्रकाशित हुआ था। इसी सन्दर्भ में डेनमार्क के प्रसिद्ध विद्वान् "एरास्मस रास्क" (Erasmus Rask) का नामोल्लेख आवश्यक है जिसने योरप के उत्तर की भाषाओं के अध्ययन में अपना समस्त जीवन लगा दिया था। उसने सन् १८१६ में फ़ारस और भारत की यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। यह प्रथम व्यक्ति था जिसने ज़ेन्दअवेस्ता की भाषा ज़ेन्द का व्याकरणीय ज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु उसके विद्वतापूर्ण शोधकार्यों के निष्कर्षों के प्रकाशन के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई थी। उसने यह सिद्ध किया था कि पारसी लोगों की पवित्र भाषा एवं ब्राह्मणों की पवित्र भाषा में अतिनिकट का सम्बन्ध है और संस्कृत की भाँति ही पारसी लोगों की भाषा में ही भारोपीय के कतिपय प्राचीनतम रूप सुरक्षित हैं। इसके बाद, यूजेन बर्नाफ़ ने प्राचीन फ़ारसी भाषा के शोधकार्य को पुनः आगे बढ़ाया। यह फ्रांस का विशिष्ट विद्वान् था। यद्यपि इसके पूर्व 'ज़रथुस्त्र' के धर्मग्रन्थों का अनुवाद 'आँके-तिल दुपां' कर चुका था किन्तु उसका यह अनुवाद मूल कृति के आधुनिक फ़ारसी के अनुवाद पर आधारित था। बर्नाफ़ वह प्रथम व्यक्ति था जिसने अपने संस्कृत एवं तुलनात्मक व्याकरण के ज्ञान का सफल प्रयास, पारसी धर्म के संस्थापक के मूल शब्दों को प्रकाश में लाने के लिये किया था। इसीप्रकार वह प्रथम व्यक्ति था जिसने अपने डैरियस एवं जरकसीज़ के बाण मुखलिपि में लिखित प्रत्न लेखों को सफलतापूर्वक पढ़ने का प्रयास किया था। उसकी अकाल मृत्यु से बहुत दिनों तक केवल मेरे जैसे वही लोग दुःखी नहीं थे जिन्हें उससे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने एवं अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त

हुआ था अपितु वे सभी लोग भी चिरकाल तक दुखी रहेंगे जिनके हृदय में प्राच्य-साहित्य एवं पाण्डित्य की ओर विशेष अभिरुचि है।

यहाँ पर मैं उन सभी विद्वानों के नामों की सूची देने में असमर्थ हूँ जिन्होंने बॉप्प, श्लेगेल, हम्बोल्ट, ग्रिम्म एवं बर्नाफ़ के पथ का अनुसरण किया था। भाषा-विज्ञान किस रूप में विकसित एवं समृद्ध होता गया, यह किसी तुलनात्मक भाषाशास्त्री के पुस्तकालय में जाकर देखा जा सकता है। सन् १८५२ से ही, जर्मनी में, तुलनात्मक भाषाविज्ञान सम्बन्धी एक विशेष पत्रिका प्रकाशित हो रही है। लंदन के भाषाविज्ञान की सभा (फिलॉलोजिकल सोसाइटी) प्रतिवर्ष एक बहुमूल्य ग्रंथ के रूप में अपना विवरण प्रकाशित करती है। इसीप्रकार योरप के प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक संस्कृत का प्राचार्य (प्रोफेसर) है जो तुलनात्मक व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में भाषण देता है।

## आर्यपरिवार की भाषाओं में संस्कृत का विशिष्ट स्थान

किन्तु यह प्रश्न नितान्त सहज भाव से पूछा जा सकता है कि संस्कृत की खोज ने किस प्रकार वर्गीकरण के अध्ययन की स्थिति में पूर्णरूप से परिवर्तन ला दिया? यदि संस्कृत मनुष्य जाति की आदि बोली होती अथवा वह ग्रीक, लैटिन तथा जर्मन की ही जननी होती तो इन भाषाओं का हमें नये रूप में वर्गीकरण करना पड़ता। किन्तु संस्कृत का ग्रीक, लैटिन, टयूटनिक केल्टिक एवं स्लाविक भाषाओं से वही सम्बन्ध नहीं है जो लैटिन का फ्रेंच, इटैलियन तथा स्पैनिश से है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, संस्कृत इन भाषाओं की जननी नहीं हो सकती अपितु यह इन भाषाओं की बड़ी बहन हो सकती है। संस्कृत का योरप की क्लासिकल भाषाओं (ग्रीक, लैटिन, आदि) से वही सम्बन्ध है जो प्रावेंशल का आधुनिक रोमांस (फ्रेंच, इटैलियन, स्पैनिश आदि) भाषाओं से है। यह पूर्णतः सत्य है; परन्तु संस्कृत तथा इस परिवार की अन्य भाषाओं के स्पष्ट तथा ठीक रूप से, पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण के लिए यह अत्यावश्यक था और इसका यह महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ कि इसके कारण ध्वन्यात्मक परिवर्तन के नियम बन सके जिनके द्वारा सगोत्रीय बोलियों के सम्बन्ध की मात्रा का निश्चय हो सका और अन्त में इसके द्वारा मानव भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार हो सका। जब संस्कृत का स्थान निर्धारित हो गया तथा जब लोग इस विचार से परिचित हो गए कि ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत की जननी एक प्राचीन भाषा थी और इसी से टयूटनिक, केल्टिक तथा स्ला-

वोनिक शाखाएँ भी प्रादुर्भूत हुई थीं तो सभी भाषाएँ अपने ठीक एवं उपयुक्त स्थान पर आसीन हो गईं। भाषाविज्ञानियों के समक्ष अब तक जो जटिल समस्या थी उसे हल करने की कुंजी अब उनके हाथ आ गई और इसके आगे इस क्षेत्र में अब केवल धैर्यपूर्वक बढ़ना शेष रह गया। जिस तर्क से संस्कृत एवं ग्रीक को समकक्ष अथवा सवर्गीय भाषाएँ सिद्ध किया गया उसी तर्क का, समान शक्ति से, लैटिन एवं ग्रीक के लिये उपयोग किया गया और जब यह स्पष्ट हो गया कि कई बातों में लैटिन ग्रीक से भी पुरानी है तो यह बात सहजरूप में सिद्ध हो गई कि टयूटनिक, केल्टिक एवं स्लाव भाषाओं में से, प्रत्येक में कतिपय ऐसे रूप हैं जिनकी संस्कृत, ग्रीक अथवा लैटिन से व्युत्पत्ति देना असम्भव है। तब इस बात की प्रतीति हुई कि ये सभी भाषाएँ एक अथवा एक श्रेणी की भाषा की सवर्गीय सदस्या हैं।

अतएव भाषाओं के वर्गीकरण में, जो प्रथम महान् प्रगति मुख्यतया संस्कृत की खोज से हुई थी, यह थी कि अब विद्वान् लोग भाषाओं के सामान्य सम्बन्ध के विचार से सन्तुष्ट न थे किन्तु अब वे एक श्रेणी की भाषा के प्रत्येक सदस्य के पारस्परिक विशेष सम्बन्ध की मात्रा की भी खोज करने लगे थे। इसका यह परिणाम हुआ कि केवल वर्गों के बदले अब हमारे सामने, भलीभाँति रूप में नियमित भाषापरिवार आये।

प्रथम के बाद प्रगति का दूसरा चरण आया। जहाँ कतिपय भाषाओं के सामान्यरूप में समान उत्पत्ति सिद्ध करने के लिये उनके संख्यावाची विशेषणों, सर्वनामों, उपसर्गों, क्रियाविशेषणों एवं अत्यावश्यक संज्ञा एवं धातु-पदों की तुलना पर्याप्त मानी जाती थी, वहाँ शीघ्र ही इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि सूक्ष्मरूप में सम्बन्ध की माप के लिये और भी पूर्ण मानक आवश्यक था। यह मानक तुलनात्मक व्याकरण से प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में पारस्परिक सम्बन्धित भाषाओं के व्याकरणिक रूपों की एक दूसरे से तुलना करके विद्वानों ने इस मानक की उपलब्धि की। यह पारस्परिक तुलना उन कतिपय नियमों के आधार पर की गई जो उनके ध्वन्यात्मक परिवर्तनों को नियंत्रित करते हैं।

## रोमनिक भाषाओं में प्रावेंशल का स्थान

आधुनिक भाषाओं के इतिहास पर एक नजर डालने से यह बात स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जायेगी। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि रोमान्स भाषाएँ——इटैलियन, रूमानियन, प्रावेंशल, फ्रेंच, स्पैनिश एवं पोर्तुगीज——एक

दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस बात का अनुभव भी करता है कि ये लैटिन से व्युत्पन्न हैं। किन्तु रोमान्स भाषाओं एवं साहित्य के विशिष्ट तथा श्रेष्ठ विद्वान् रेनार्ड (Raynouard) के अनुसार लैटिन की एक मात्र पुत्री प्रावेंशल है तथा फ्रेंच, इटैलियन, स्पैनिश एवं पोर्तुगीज़ भाषाएँ प्रावेंशल की कन्यायें हैं। आपके विचारानुसार सातवीं से नवों शताब्दि के बीच लैटिन एक मध्य अवस्था से होकर गुज़री थी। इसको आपने 'रोमन' भाषा (Langue Romane) का नाम दिया है। आपने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यही दक्षिण फ्रांस की भाषा प्रावेंशल थी तथा इसे 'त्रुवेदार' लोग बोलते थे। आपके अनुसार लैटिन पहले रोमन भाषा (Langue Romane) अथवा प्रावेंशल में परिवर्तित हुई। इसके बाद यह इटली, फ्रांस, स्पेन तथा पोर्तुगाल की विविध रोमान्स बोलियों में परिवर्तित हुई। आगस्ट विल्हेल्म वॉन श्लेगेल ने इस सिद्धान्त का जोरों से खण्डन किया। तदुपरान्त सर जार्ज कार्नवाल लेविस (Sir George Cornewall Lewis) ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से इसकी आलोचना की और प्रावेंशल के व्याकरण से अन्य रोमान्स भाषाओं के व्याकरणों की तुलना करके इसका आज भी खण्डन किया जा सकता है। यदि हम सहायक क्रिया 'होना' को लें और इसके प्रावेंशल तथा फ्रेंच के रूपों की तुलना करें तो हमें तुरन्त ज्ञात होगा कि कई स्थानों में, प्रावेंशल की अपेक्षा फ्रेंच में, लैटिन के अधिक पुराने रूप सुरक्षित हैं। अतएव फ्रेंच को प्रावेंशल की पौत्री तथा लैटिन की प्रपौत्री स्वीकार करना असम्भव है। नीचे प्रावेंशल एवं फ्रेंच दोनों के रूप दिये जाते हैं :—

| प्रावेंशल | फ्रेंच |
|---|---|
| sem | nous sommes |
| etz | vous êtes |
| son | ils sont |

ऊपर के, प्रावेंशल के 'sem', 'etz' तथा 'son' जैसे विकलांग रूपों का पुनः 'sommes', 'êtes', 'sont' एवं 'sumus', 'estis', 'sunt' जैसे पूर्ण अधिक प्राचीन लैटिन रूपों में परिवर्तित होना, वस्तुतः व्याकरणीय आश्चर्य की बात होगी।

यदि हम ऊपर की कसौटी पर संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन को कसें तो हमें ज्ञात होगा कि इनके व्याकरणीय रूपों की पारस्परिक तुलना से ही एक परिवार में इनका स्थान निर्धारित किया जा सकता है और जिसरूप में फ्रेंच

को प्रावेंशल से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता उसीरूप में लैटिन को ग्रीक से तथा ग्रीक को संस्कृत से व्युत्पन्न मानना समीचीन न होगा। उदाहरणार्थ, नीचे "होना" सहायक क्रिया के रूप दिये जाते हैं :—

| संस्कृत | ग्रीक | लियुआनीय |
|---|---|---|
| अस्मि | एस्मि | एस्मि |
| (asmi) | (esmi) | (esmi) |

यहाँ संस्कृत में 'अस्' धातु तथा —'मि' तिङ प्रत्यय है।

मध्यम पुरुष का तिङ प्रत्यय—सि (—si) है और 'अस्' तथा 'एस्' के इसके निम्नलिखित रूप हैं :—

| संस्कृत | ग्रीक | लियुआनीय |
|---|---|---|
| अस्-सि | एस्-सि | एस्-सि |
| (as-si) | (es-si) | (es-si) |

किन्तु संस्कृत भाषा के इतिहास के देखने से यह ज्ञात होता है कि इसमें 'अस्सि' (as-si) रूप 'असि' (asi) में परिवर्तित हो गया है और यहाँ यह मानना समीचीन न होगा कि ग्रीक एवं लिथुआनीय के रूप 'एस्सि' (es-si) संस्कृत के विकलांग रूप 'असि' (asi) से होकर आए हैं।

संस्कृत, ग्रीक तथा लियुआनीय में, अन्यपुरुष के रूप 'अस्ति' (asti) अथवा 'एस्ति' (esti) समान हैं और अन्तिम इ (–i) के लोप से लैटिन का 'एस्त' (est), गॉथिक का 'इस्त' (ist) एवं रूसी के 'एस्त' (est') रूप सिद्ध होते हैं।

इसी सहायकक्रिया के रूपों से यह बात पूर्णतया सिद्ध की जा सकती है कि लैटिन कभी ग्रीक से व्युत्पन्न नहीं हुई अपितु लैटिन एवं ग्रीक दोनों एक ही मूल भाषा से प्रसूत हैं। लैटिन के एक वचन के रूप ग्रीक की अपेक्षा नूतन हैं क्योंकि लैटिन में 'एसुम' (esum) के रूप 'सुम' (sum), 'एसिस्' (es-is) के रूप 'एस्' (es) तथा 'एस्ति' (esti) के रूप 'एस्त' (est) हो जाते हैं। इसीप्रकार उत्तमपुरुष, बहुवचन में भी 'एसुमुस्' (es-umus) रूप, लैटिन में 'सुमुस्' (sumus), ग्रीक में 'एस्मेस्' (es-mes) तथा संस्कृत में 'स्मस्' (smas) हो जाता है। मध्यम पुरुष का 'एस्तिस्' (es-tis) रूप ग्रीक 'एस्ते' (es-te) के समान है तथा संस्कृत 'स्था' से अधिक पुराना है। किन्तु लैटिन अन्यपुरुष, बहुवचन के रूप ग्रीक की अपेक्षा पुराने हैं क्योंकि इसमें नियमित रूप 'असन्ति' (as-anti) होगा

जो संस्कृत में 'सन्ति' (santi) में परिवर्तित हो गया है। ग्रीक में आदि 'स' (s –) का लोप हो जाता है तथा एओलिक (Aeolic) ग्रीक में 'एन्ति' (enti) अन्ततोगत्वा 'एइसि' (eisi) में परिणत हो जाता है; किन्तु लैटिन में आदि 'स' (– s) मौजूद है, अतएव लैटिन 'सुन्त' (sunt) को ग्रीक 'एइसी' (eisi) से व्युत्पन्न मानना समीचीन न होगा।

यहाँ पर यह बतलाना अनावश्यक है कि आधुनिक अंग्रेजी के 'आइ एम्' (I am), 'दाउ आर्ट' (Thou art), 'हि इज़' (He is) उसी मूल क्रिया के पश्चात्‌कालीन रूप हैं। गॉथिक में हमें 'इज़्म्' (ism) के लिये 'इम्' तथा 'इस्स्' (iss) के लिये 'इज़्' (is) एवं इस्ट (ist) रूप उपलब्ध हैं।

ऐंग्लो-सैक्सन में इसके निम्नलिखित रूप उपलब्ध हैं :—

| एक वचन | बहुवचन |
|---|---|
| एओम् (eom) | सिन्द् (sind), इसिन्द् (isind) के लिये |
| एआर्ट (eart) | सिन्द् (sind) |
| इज़ (is) | सिन्द् |

भाषाविज्ञान के संस्थापकों ने, ऊपर की कसौटी पर, भाषाओं को कसकर, यूरप एवं एशिया की प्रमुख भाषाओं एवं बोलियों को कतिपय परिवारों में वर्गीकृत किया। इसप्रकार के वर्गीकरण के परिणामस्वरूप वे प्रत्येक परिवार की विभिन्न शाखाओं एवं इन शाखाओं के अन्तर्गत आनेवाली प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं एवं बोलियों की विशेषताएँ प्रदर्शित करने में सफल हो सके।

## पारिवारिक वर्गीकरण

अभी संसार में अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जो पारिवारिक वर्गीकरण की परिधि में नहीं लाई जा सकी हैं और यद्यपि इस बात में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि कुछ समय बाद इनमें से कतिपय भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण सम्पन्न हो जायेगा तथापि आरम्भ से ही हमें इस सर्वथा व्यर्थ धारणा से बचना चाहिये कि पारिवारिक वर्गीकरण के सिद्धान्त का उपयोग सभी भाषाओं के लिये किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि जितने प्रकार के वर्गीकरण हैं उनमें पारिवारिक वर्गीकरण सर्वाधिक पूर्ण है किन्तु भौतिक विज्ञान की कतिपय शाखाओं और इन शाखाओं में भी केवल आंशिक रूप से ही इसका प्रयोग किया जा सकता है। भाषाविज्ञान में पारिवारिक वर्गीकरण का आधार व्याकरणीय तत्त्व होने चाहिये जिन्हें ध्वन्यात्मक परि-

वर्तन के बाद भी केवल अविच्छिन्न परम्परा के रूप में अक्षुण्ण रखा जा सकता है। हम यह जानते हैं कि फ्रेंच, इटैलियन, स्पैनिश तथा पोर्तुगीज़ भाषाओं का मूल एक है क्योंकि इनके व्याकरणीय रूप एक प्रकार के हैं। इन रूपों को ये भाषाएँ अपने स्रोत से प्राप्त करने में न तो समर्थ ही हैं और न इनके कुछ अर्थ अथवा जीवन है। स्पैनिश के अपूर्णभूत के प्रत्यय -'बा' (–ba) तथा इटालीय -वा (–va), जिनसे 'Canto', 'मैं गाता हूँ', 'Cantaba' तथा 'Cantava' में परिवर्तित हो जाता है, का न तो पृथक् अस्तित्व है और न आधुनिक बोलियों में स्वतंत्र अर्थ ही है। इसका मूल स्रोत लैटिन का 'bam' है जो 'Cantabam' में मिलता है। यह 'bam', वास्तव में, एक स्वतंत्र सहायक क्रिया है। इसका रूप हमें संस्कृत 'भवामि' एवं एंग्लो-सेक्सन beom', 'मैं हूँ', में मिलता है। वास्तव में, पारिवारिक वर्गीकरण, ठीक तौर से, अपक्षीयमाण भाषाओं का ही होता है। ये भाषाएँ वे होती हैं जिनमें निरन्तर साहित्य-रचना का कार्य चलता रहता है और इसके परिणामस्वरूप उनकी व्याकरणीय प्रगति एक प्रकार से रुक जाती है। इन भाषाओं में किसी भी नये तत्त्व का समावेश नहीं किया जाता और जहाँ तक सम्भव होता है प्रत्येक पुराने तत्त्व की रक्षा की जाती है। इन भाषाओं के इतिहास अथवा इनकी प्रगति की जब हम चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य ध्वन्यात्मक अपभ्रष्टता से होता है। किन्तु अपक्षीयमाण होने के पूर्व, भाषाएँ प्रगति के युग से होकर गुज़र चुकी होती हैं और इस बात को लोग पूर्णतया भूल जाते हैं कि जो बोलियाँ बहुत पहले ही से पृथक् हो जाती हैं वे पारिवारिक वर्गीकरण के प्रयत्न के मार्ग में, स्वाभाविकरूप से, बाधा उपस्थित करती हैं। उदाहरण-स्वरूप यदि हम इस बात को याद करें कि चीनी एवं उन अन्य भाषाओं में, जिनकी चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं, बहुवचन के रूप किस प्रकार सम्पन्न होते हैं तो हम सहज में यह देखेंगे कि प्रत्येक बोली इसके लिये 'पुंज', 'वर्ग', 'प्रकार', 'समूह', 'धन' आदि जैसे शब्दों का प्रयोग करती है। ध्वन्यात्मक-परिवर्तन के कारण, कालान्तर में, ये बहुवचनवाची-पद घिस-पिटकर व्याकरणीय-प्रत्यय बन जाते हैं। ऐसे प्रत्ययों में समानता अथवा एकरूपता की आशा करना ही असंगत है। किन्तु दूसरी ओर इसका यह भी अर्थ नहीं है कि ये भाषाएँ किसी मूल भाषा से प्रसूत नहीं हैं। भाषाओं का मूलस्रोत एक हो सकता है, फिर भी कारक, विभक्ति, वचन, पुरुष एवं काल को द्योतित करने के लिये इनमें जिन मूल पदों का प्रयोग किया गया था, वे सर्वथा भिन्न

हो सकते हैं। इन मूल पदों से कालान्तर में जो प्रत्यय निर्मित होते हैं, उनका यदि हम तुलनात्मक व्याकरण की दृष्टि से विश्लेषण करें तो इससे कुछ भी निष्कर्ष नहीं निकलेगा। अतएव यदि हम इन भाषाओं का वर्गीकरण, मुख्य-रूप से, व्याकरणीय साक्ष्य के आधार पर करें तो असम्भव होगा।

यह भी कल्पना की जा सकती है कि इसप्रकार की भाषाएँ, यद्यपि व्याकरणीय ग्रथन में भिन्न हों, फिर भी मूल शब्दों अथवा धातुओं की समानता के कारण एक ही मूल से व्युत्पन्न हों। निस्सन्देह ऐसी भाषाओं के कई तत्वों में समानता हो सकती हैं। संख्यावाची शब्द समान हो सकते हैं। इसीप्रकार इनके कतिपय सर्वनाम पदों एवं नित्यप्रति जीवन में व्यवहृत होने वाले शब्दों में समानता हो सकती हैं। किन्तु, इस सम्बन्ध में भी हमें न तो बहुत अधिक आशा करनी चाहिये और न आशा से कम समानता मिलने पर आश्चर्य करना चाहिए। उदाहरण के लिए यहाँ यह बात स्मरण होनी चाहिए कि फ्रिज़ियन बोलियों में पिता के लिये विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता हैं। स्पैनिश भाषा में तो लैटिन में व्यवहृतfrater शब्द के स्थान पर यहाँ भ्रातृ-वाची शब्द hermono प्रयुक्त होता है। इसीप्रकार लैटिन के अग्निवाची शब्द ignis के लिये फ्रेंच में feu एवं इटैलियन में fuoco शब्दों का व्यवहार होता हैं। कोई भी व्यक्ति जर्मन तथा अंग्रेजी के एक मूल स्त्रोत से व्युत्पन्न होने में सन्देह नहीं करेगा, फिर भी अंग्रेजी संख्यावाची शब्द 'the first' जर्मन के Der Erste से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि "Furst princep" या 'Prince' में यह आज भी सुरक्षित हैं। इसी तरह अंग्रेजी के 'the second', जर्मन के Derzweite से सर्वथा भिन्न हैं और अंग्रेजी के संबंध वाची सर्वनाम its तथा जर्मन के sein में कोई समानता नहीं है। प्राचीन एवं असाहित्यिक भाषाओं की बोलियों के शब्दों में अत्यधिक विभिन्नता उपलब्ध होती हैं। जिन लोगों ने अत्यन्त सावधानी पूर्वक बोलियों के स्वाभाविक विकास का अध्ययन किया हैं उन्हें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि एक ही स्रोत से व्युत्पन्न बोलियों के केवल व्याकरणीय ढाँचे में ही अन्तर नहीं मिलता बल्कि उन शब्दों में भी भिन्नता मिलती है जो साहित्यिक भाषाओं में संबंध निरूपित करने के लिये उपयुक्त एवं प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं। इसप्रकार की बोलियों के पारस्परिक संबंध के विषय में कुछ निर्णय देना कहाँ तक संभव हैं, इस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त हैं कि पारिवारिक वर्गीकरण का सिद्धान्त आवश्यक रूप से सभी बोलियों में

क्यों नहीं लागू होता। इस संबंध में दूसरी बात यह है कि हमें ऐसी भाषाएँ भी मिल सकती हैं जिन्हें पारिवारिक रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आदिकाल से ही वे विभिन्न रही हैं। बारंबार दुहराए जानेवाला यह दावा कि चूँकि सभी भाषाओं को वर्गीकृत करना असंभव है अतएव भाषा के मूल स्रोत को भी सिद्ध करना असंभव है, वास्तव में एक प्रकार का वैज्ञानिक अंध-विश्वास है और यह स्वतंत्र शोध के मार्ग में बाधक है।

अब हमें यहाँ इस बात पर विचार करना है कि भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का कार्य कहाँ तक अग्रसर हो सका है तथा अब तक कितने परिवार स्थापित हो सके हैं। यहाँ इस बात को समझने की आवश्यकता है कि पारिवारिक वर्गीकरण की क्यों आवश्यकता पड़ी? वास्तव में हमें अंग्रेजी के कतिपय शब्दों के मूल अर्थ एवं व्याकरणीय रूपों को भली भाँति जानने की इच्छा हुई और तब हमें यह ज्ञात हुआ कि ऐसे शब्दों (यथा 'I love' मैं प्रेम करता हूँ तथा 'I loved' मैंने प्रेम किया) की व्युत्पत्ति जानने के लिए हमें इनके अत्यन्त प्राचीन रूप का ज्ञान आवश्यक है। इसीप्रकार रोमनिक (Romance) बोलियों के इतिहास के संदर्भ में हमें ज्ञात हुआ कि एक बोली में उपलब्ध शब्द, दूसरी बोली में प्रायः अपने प्राचीन रूप में सुरक्षित है अतएव यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात प्रतीत हुई कि जिसरूप में हमें फ्रेंच, इटैलियन, स्पैनिश, पोर्तुगीज़ भाषाओं को एक ही परिवार के सदस्यों के रूप में ग्रथित करते हैं उसीरूप में प्राचीन भाषाओं को भी हम पारिवारिक वर्गीकरण के सूत्र में बाँधें।

## अंग्रेजी तथा एंग्लोसैक्सन

इंग्लैण्ड की जीवन्त बोलियों से प्रारंभ करके हम किसी प्रकार की कठिनाई के बिना एंग्लोसैक्सन तक जा सकते हैं। यह एंग्लोसैक्सन भी दो शाखाओं एवं चार बोलियों में विभक्त है। इनमें से एक शाखा 'एंग्लियन' है जिसके अन्तर्गत दो बोलियाँ—(१) नार्थम्ब्रियन एवं (२) मर्सियन आती हैं तथा दूसरी दक्षिणी शाखा है जिसके अन्तर्गत दो अन्य बोलियाँ—(१) पश्चिमी सैक्सन (सैक्सन) (२) केन्टिश (जूट)—समाविष्ट हैं। इसप्रकार पीछे की ओर बढ़ते हुए हम सातवीं शताब्दी में पहुँच जाते हैं। जिस युग में प्राचीन अंग्रेजी में ब्योवुल्फ (Beowulf) महाकाव्य लिखा गया था तथा

जिसका 'केम्बेल' तथा 'थोर्पें' ने उल्लेख किया है, उसके पूर्व आंग्ल भूमि पर आंग्ल साहित्य के इतिहास का कोई अस्तित्व नहीं मिलता।

## महाद्वीपीय सैक्सन, निम्न जर्मन

किन्तु, हमें यह ज्ञात है कि जूट, सैक्सन तथा एंगिल लोग जिनकी बोलियाँ एंग्लोसैक्सन अथवा प्राचीन अंग्रेजी भाषा की मुख्य शाखाएँ थीं, यूरप के महाद्वीप से आये थे। ये लोग निम्न जर्मन की विभिन्न बोलियाँ बोलते थे। इनमें भी उत्तर में बोली जाने वाली एंगिल भाषा में उच्च-जर्मन के कुछ तत्व मिश्रित थे। जर्मनी के उत्तरी तट पर इनके वंशज आज भी निम्न जर्मन की बोलियाँ बोलते हैं जिन्हें ऐन्टवर्प, ब्रीमेन तथा हैम्बुर्ग के बन्दरगाहों में भ्रमवश लोग इन्हें अंग्रेजी बोलनेवाले नाविक मानते हैं। यह निम्न जर्मन भाषा उत्तर के या जर्मनी के निचले भाग की अनेक बोलियों पर आधारित है। यहाँ पर उसे बहुधा लोग प्लाट-डायश (Platt-Deutsch) कहते हैं। कतिपय अपवादों को छोड़कर इन बोलियों का साहित्यिक रचना में उपयोग नहीं होता। फ्रिजियन लोगों की भाषा निम्न-जर्मन है। सबसे अधिक संख्या में फ्रिजियन जाति के लोग ही इंग्लैंड में आकर बसे थे। इनके व्यंजन के उच्चारण की प्रणाली भी वही है जो यूरप महाद्वीप के लोगों की है। यही बात 'डच' और 'फ्लेमिश' के सम्बन्ध में भी है।

## फ्रिजियन

यूरप की फ्रिजियन भाषा का अपना साहित्य है और इसमें १२वीं शताब्दी तक का पुरातन इतिहास उपलब्ध है। इसमें पुरातन-साहित्य के रूप में जो सामग्री प्राप्त है वह तेरहवीं-चौदहवीं शती के बीच की है। १५वीं शती से फ्रिजियन में 'प्लाट-डायश' का प्रभाव पड़ना आरंभ हो जाता है। इधर फ्रिजियन लोगों की अपनी भाषा के प्रति जो ममता है उसके कारण अभी तक यह भाषा चल रही है। किन्तु, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आगे चलकर इसका अस्तित्व मिटने की आशंका है।

## डच, फ्लेमिश, प्राचीन फ्रैंकिश

डच वस्तुतः हालैण्ड की साहित्यिक एवं राष्ट्रीय भाषा है। मध्य तथा प्राचीन डच भाषा के रूप में इसका इतिहास उपलब्ध है। प्राचीन डच के सबसे पुरातन नमूने हमें चार्ल्स द्वारा लिखित भजनों में मिलते हैं, जो ९वीं शताब्दी के हैं। यह हेजैण्ड सैक्सन (Saxon of the Heljend) के निकट की भाषा है।

मध्य 'डच' भाषा (Middle Dutch) में कई स्थानीय बोलियाँ आती हैं। इसके १६वीं शताब्दी तक के नमूने उपलब्ध हैं। ये प्रमुख रूप में फ्रेन्च-भाषा के अनुवाद हैं। एक युग में फ्लेमिश, फ्लैण्डर्स (Flanders) एवं ब्रैबेन्ट (Brabant) के न्यायालय की भाषा थी। यद्यपि अभी तक यह भाषा समाप्त नहीं हुई है, किन्तु हालैण्ड तथा वेल्जियम की राजभाषाओं का इसमें अत्यधिक सम्मिश्रण हो गया है। कतिपय वर्षों से राष्ट्रीय भावना के जागरण के कारण 'फ्लेमिश' का पुनरुत्थान हो रहा है।

यूरप में निम्न जर्मन में प्राचीनतम लिखित साहित्यिक सामग्री ईसाई महाकाव्य (Christian epic) है। इसकी भाषा प्राचीन यूरोपीय सैक्सन है जिसे हेजैण्ड (Heljend=Heiland रोगहर या रक्षक) नाम से अभिहित किया जाता है। यह ग्रन्थ नवीं शताब्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों में सुरक्षित है। उस युग में, यह ईसाई धर्म में नूतन रूप में दीक्षित सैक्सन लोगों के लिये लिखा गया था। हमें उस युग से लेकर मध्ययुग तथा १७वीं शताब्दी तक का निम्न जर्मन में लिखित कुछ साहित्य मिलता है। किन्तु इस साहित्य का बहुत कम अंश सुरक्षित है। लूथर द्वारा उच्च जर्मन में बाइबिल के अनुवाद कार्य के बाद निम्न जर्मन में एक प्रकार से साहित्य-लेखन का कार्य समाप्त हो गया।

## उच्च जर्मन

शार्लमेन (Charlemagne) के राजत्वकाल के युग से आज तक जर्मनी की साहित्यिक भाषा उच्च जर्मन है। विभिन्न-भाषाओं के रूप में यह सम्पूर्ण जर्मनी में बोली जाती है। इसके इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है:—(१) आधुनिक अथवा नव्य उच्च जर्मन—इसका आरंभ लूथर के बाइबिल के अनुवाद से होता है। (२) मध्य उच्च-जर्मन का समय लूथर से लेकर पीछे की ओर बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक जाता है, तथा (३) प्राचीन उच्च जर्मन का समय इसके बाद से लेकर आठवीं शताब्दी तक है।

## आद्य ट्यूटनिक भाषा का अभाव

इसप्रकार हम उच्च जर्मन एवं निम्न जर्मन के रूप में ट्यूटनिक भाषा की दो शाखाओं के इतिहास का अनुसरण करते हुए ७०० ई० तक पहुँच जाते हैं। यहाँ हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि इस युग के पूर्व जर्मन लोगों द्वारा व्यवहृत कोई एक ट्यूटनिक भाषा थी, जो आगे चलकर उच्च एवं निम्न धाराओं में विभक्त हो गई। सच बात तो यह है कि ट्यूटनिक नाम की

कोई एक रूपवाली भाषा न थी। हमें इस बात के भी साक्ष्य नहीं मिलते कि किसी युग में एक रूपवाली उच्च जर्मन भाषा तथा एक रूपवाली निम्न जर्मन भाषा का अस्तित्व था जिनसे उच्च जर्मन एवं निम्न जर्मन भाषाएँ प्रादुर्भूत हुई थीं। हमलोग एंग्लोसैक्सन, फ्रिजियन, फ्लेमिश, डच एवं 'प्लाटडायश' भाषाओं को प्राचीन जर्मन से भी व्युत्पन्न नहीं मान सकते जो यूरप की नवीं शती की सैक्सन भाषा के रूप में सुरक्षित है। इस संबंध में अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि इंग्लैंड, हालैंड, फ्रिजिया तथा निम्न जर्मन की विभिन्न बोलियाँ विभिन्न युगों में समान अथवा एक ही अवस्था से होकर गुज़री थीं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि इनके व्याकरण का विकास भी समान स्तर पर ही हुआ था। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि हम जैसे-जैसे एक-एक शताब्दी पीछे की ओर जाते हैं तैसे-तैसे इन बोलियों की समविकासता का इतिहास अधिक स्पष्ट हो जाता है, किन्तु इस ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकार करने के लिये हमारे पास साक्ष्य नहीं है कि कोई प्राचीन एक रूपवाली निम्न जर्मन भाषा भी थी जिससे ये सभी भाषाएँ व्युत्पन्न हुई थीं। यह केवल उन वैयाकरणों की सृष्टि मात्र है जो बोलियों के बाहुल्य की कल्पना बिना एक सामान्य भाषा के नहीं कर सकते। इसीप्रकार वे एक प्राचीन उच्च जर्मन भाषा की भी कल्पना करते हैं जो केवल साहित्यिक प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक जर्मन की ही जननी नहीं थी अपितु जो आस्ट्रिया, बवेरिया, स्वाबिया, फ्रांकोनिया, युरिंगिया, हेस्सिया, सेक्सनी एवं साइलेशिया जैसी आंचलिक बोलियों का भी स्रोत थीं। उनका यह भी विश्वास है कि उच्च तथा निम्न जर्मन के रूप में विभक्त होने के पूर्व एक सामान्य एवं पूर्ण ट्यूटनिक भाषा थी जिसमें इन दोनों के बीज वर्तमान थे। इसप्रकार की प्रणाली की कल्पना व्याकरणीय विश्लेषण के लिये सुविधाजनक हो सकती है किन्तु इसे ऐतिहासिक तथ्य मान लेना हानिकारक है। जैसे किसी राष्ट्र के संगठन के पूर्व कुटुम्ब, कबीला, उपजाति एवं जाति का अस्तित्व रहता है वैसे ही एक शास्त्रीय--(क्लासिकल) भाषा के पूर्व अनेक बोलियाँ होती हैं। जो वैयाकरण एक प्राचीन ट्यूटनिक भाषा की कल्पना ऐतिहासिक तथ्य के रूप में करता है वह उस इतिहासज्ञ से श्रेष्ठ नहीं है जो 'हेक्टर' के पौत्र 'फ्रांकस' को 'फ्रैंक' लोगों का एवं 'ब्रुटस' को 'ब्रिटन' लोगों का पूर्वज मान लेता है। जब जर्मन जातियों का एक के बाद दूसरा समूह डेन्यूब एवं बाल्टिक की ओर से इटैली तथा रोमन प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये आया तथा जब गाँथ,

लोम्बार्डी, वैण्डाल, फ्रैंक एवं बुर्गुंडियन लोग अपने-अपने राजाओं, कानूनों एवं रीति-रिवाजों का अनुसरण करते हुए इटैली, गॉल एवं स्पेन में बस गये तो उस युग के हमारे पास ऐसे तथ्य नहीं हैं जिनके आधार पर यह तर्क किया जा सके कि ये सभी लोग कोई एक भाषा बोलते थे। यदि कतिपय नामों एवं शब्दों के स्थान पर प्राचीन जर्मन जातियों की आज हमें साहित्यिक कृतियाँ प्राप्त होतीं तो ये सभी बोलियों में होतीं और इनमें से कुछ में उच्च तथा अन्य में निम्न जर्मन भाषाओं की विशेषताएँ उपलब्ध होतीं। यह मेरा केवल अनुमान नहीं है क्योंकि सौभाग्य तथा संयोग से इन जर्मन जातियों की एक बोली गॉथिक में 'उल्फिला' कृत बाइबिल का अनुवाद आज भी प्राप्त है।

## 'उल्फिला'

उल्फिला ने केवल बाइबिल का अनुवाद किया था। उसने बुक्स आव किंग्स (The Books of Kings) का अनुवाद नहीं किया था। बाइबिल के अनुवाद में उसकी अन्य लोगों ने भी सहायता की होगी। उसने पुराने बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेन्ट) के अनुवाद के लिये "सेप्टुगिण्ट" (Septuagint) तथा नये के लिय एक ग्रीक टेक्स्ट का आधार लिया था। दुर्भाग्यवश उसके अनुवाद का अधिकांश भाग विनष्ट हो चुका है। उपलब्ध भाग में चार उपदेशों (गॉस्पेल) के बहुत कुछ अंश सुरक्षित हैं। इसीप्रकार 'एज्रा' (Ezra) एवं नेहमिआ (Nehemiah) के भजनों (Psalm) के भी कुछ अंश उपलब्ध हैं।

यद्यपि उल्फिला जन्मतः पश्चिमी गॉथ प्रदेश का था तथापि जब जर्मन जातियों ने स्पेन तथा इटली की ओर प्रस्थान किया तो ये सभी लोग उल्फिला के अनुवाद का ही उपयोग करने लगे। नवीं शताब्दी में गॉथिक समाज के विनाश के उपरान्त उल्फिला का अनुवाद भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। किन्तु, इसकी पाँचवीं शताब्दी की एक हस्तलिखित प्रति जर्मनी के वर्डेन गिरजाघर में सुरक्षित बच गई। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आर्नल्ड मरकेटर (Arnold Mercator) नामक एक व्यक्ति ने, जो हेस्सिया के जर्मन भूस्वामी, चतुर्थ विलियम की नौकरी में था, इस जीर्णशीर्ण प्रति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। यह हस्तलिखित प्रति जो कोडेक्स अर्गेण्टियस (Codex Argenteus) के नाम से विख्यात है, बाद में प्राहा (Prague) चली गई। जब सन् १६४८ में प्राहा, काउण्ट कोंजिस मार्क (Count Kongismark) के अधिकार में आ गया तो वह यह प्रति अपने साथ

उप्सला (स्वेडेन) लेता गया जहाँ यह बहुमूल्य निधि के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। इसके चर्मपत्र का रंग बैंगनी है। इसके अक्षर चाँदी के हैं तथा जिल्द भी चाँदी की ही है।

सन् १८१८ में कार्डिनल मइ(Mai) एवं काउण्ट कैस्टिलो (Castiglione) को बॉब्बिओ (Bobbio) के मठ में उल्फिला के अनुवाद के कुछ और अंश प्राप्त हुए। संभवतः थियोडोरिक महान् (Theodoric) के इटैली के गॉथिक साम्राज्य के विनष्ट होने के पश्चात् ये अंश यहाँ सुरक्षित रख दिये गये थे।

उल्फिला निश्चितरूप से एक असाधारण शक्तिवाला व्यक्ति होगा जिसके मन में सर्वप्रथम अपनी गँवारू भाषा में बाइबिल को अनूदित करने का विचार उठा था। उसके युग में कोई भी बिशप, लैटिन तथा ग्रीक भाषाओं के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में बाइबिल के अनुवाद की बात सोच भी नहीं सकता था। इन दो भाषाओं के अतिरिक्त अन्य सभी भाषाएँ उस युग में बर्बर मानी जाती थीं। इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि उल्फिला ने अपनी दिव्य दृष्टि से यह देख लिया था कि भविष्य में रोमन एवं बैजेन्टाइन साम्राज्यों के विनष्ट हो जाने के बाद इन अर्द्ध सभ्य जातियों की भाषा का भी महत्व बढ़ेगा, और तब उसकी कृति को महत्व प्राप्त होगा। उल्फिला की मृत्यु के उपरान्त शीघ्र ही कुस्तुनतुनिया में ईसाई धर्मावलम्बी गॉथ लोगों की संख्या में इतनी अभिवृद्धि हुई कि कुस्तुनतुनिया के बिशप—क्राइसोसटोम (Chrysostom) को राजधानी में सन् ३९७-४०५ में ऐसे गिर्जाघर की स्थापना करनी पड़ी जहाँ के उपदेश का माध्यम गॉथिक भाषा बनी। वह जो उपदेश देता था, वह आज भी उपलब्ध हैं। यद्यपि वह गॉथ लोगों को बर्बर मानता था फिर भी ईसाई चर्च में इन लोगों के महत्व को स्वीकार करता था। सन् ४०३ में सेण्ट जेरोम —(Jerome) को दो गॉथ लोगों—सुन्निया (Sunnia) एवं फ्रेटेला (Fretela) के पत्र प्राप्त हुए थे जिनमें इन दोनों ने वल्गेट एवं अलकजेन्ड्रिया के संस्करणों के बाइबिल के भजनों (Psalms) के अनुवाद में जो अन्तर है उस पर प्रकाश डालने के लिये प्रार्थना की थी।

## गॉथिक

उल्फिला की गॉथिक भाषा का ध्वन्यात्मक ढांचा, विशेषरूप से इसके व्यंजनों का रूप, निम्न जर्मन के समान है। किन्तु, कतिपय अपवादों को छोड़कर इसका व्याकरण एंग्लोसैक्सन में लिखित 'व्योवुल्फ' तथा शार्लमेन के प्राचीन

उच्च जर्मन भाषा से अत्यधिक पुराना है। ये अपवाद अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणीय एवं ऐतिहासिक, दोनों दृष्टियों से, एंग्लोसैक्सन अथवा उच्च जर्मन या दोनों को गॉथिक से व्युत्पन्न मानना असंभव है। उदाहरणार्थ प्राचीन उच्च जर्मन के उत्तम पुरुष के बहुवचन के रूप (nerjames) को गॉथिक के (nasjam) रूप से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि संस्कृत 'मसि' ग्रीक 'mes' एवं लैटिन 'mus' द्वारा हमें ज्ञात है कि मूलतः यह उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रत्यय था।

गॉथिक वस्तुतः जर्मन लोगों द्वारा व्यवहृत अनेक बोलियों में से एक है। इसकी कतिपय बोलियाँ तो ब्रिटिश द्वीप, हालैण्ड, फ्रिजिया एवं जर्मनी के निम्न जर्मन साहित्यिक भाषाओं की पोषक बनीं। कुछ अन्य बोलियाँ विनष्ट एवं समाप्त हो गईं और शेष साहित्य-विहीन रूप में उपेक्षित होकर शताब्दियों तक लड़खड़ाती रहीं। चूँकि इन बोलियों में से गॉथिक ही एकमात्र ऐसी बोली है जिसका चौथी शताब्दी तक का इतिहास मिलता है और चूँकि अन्य-बोलियाँ सातवीं शताब्दी में ही लुप्त हो गईं, अतएव, कुछ लोग भ्रमवश यह मान लेते हैं कि ट्यूटनिक भाषा की यही जननी है तथा इसकी व्यंजन ध्वनियाँ ट्यूटानिक की व्यंजन ध्वनियाँ हैं। जो तर्क पीछे रेनार्ड के मत का खण्डन करते हुए दिया जा चुका है कि प्रावेंशल रोमांस के छै बोलियों की जननी नहीं हो सकती वही तर्क गॉथिक के संबंध में भी समान शक्ति के साथ दिया जा सकता है और निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में गॉथिक ट्यूटनिक शाखा की सबसे बड़ी बहिन है।

## स्कैंडनेवियन

वास्तव में ट्यूटनिक भाषा की एक तीसरी शाखा भी है जो उच्च एवं निम्न जर्मन की भाँति ही स्वतंत्र है तथा जिसे गॉथिक निम्न एवं उच्च जर्मन के ही वर्ग में रखा जा सकता है। यह स्कैण्डनेवियन शाखा है। इसके अन्तर्गत वर्तमानकाल की तीन साहित्यिक भाषाएँ—स्वेडेन, डेनमार्क एवं आइसलैण्ड की भाषाएँ—आती हैं। इनके अतिरिक्त इसमें उन बोलियों का भी समावेश हो जाता है जो नार्वे की पहाड़ी घाटियों एवं समुद्र तथा पर्वत के बीच के भूभागों में बोली जाती हैं तथा जहाँ साहित्यिक भाषा के रूप में डैनिश भाषा का व्यवहार होता है।

सामान्यरूप से लोगों की यह धारणा है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक स्वेडन, नार्वे एवं डेनमार्क में एक ही भाषा बोली जाती थी। यह भाषा आइस-

लैण्ड में आज भी अपने मूलरूप में सुरक्षित हैं, किन्तु स्वेडेन एवं डेनमार्क में यह दो राष्ट्र भाषाओं के रूप में विकसित हो गई हैं। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि आइसलैण्ड के चारण नार्वे, स्वेडेन, डेनमार्क तथा इंग्लैंड में जाकर जब वीरगाथाएँ सुनाते थे तो उन्हें वे लोग सरलतया समझ लेते थे। विलियम के पूर्व तक यही स्थिति रही किन्तु इसके बाद उसने इंग्लैंड में वेल्स अर्थात् फ्रेंच का प्रचार किया और उधर पूर्व में स्लावोनिक भाषाएँ विकसित हो गईं तो इस स्थिति में परिवर्तन आ गया। किन्तु, यद्यपि एक ही भाषा (डेनमार्क अथवा नार्वे की) लोगों के लिए बोधगम्य थी तथापि, मुझे इस बात में सन्देह है कि उत्तर के लोग एक ही भाषा बोलते थे और ११वीं शताब्दी के बहुत पहले के स्केन्डेनेविया की जातियों की भाषा में स्वीडिश तथा डैनिश भाषाओं के बीज वर्तमान नहीं थे। जैसा कि स्वीडेन के विद्वानों का मत था, स्केन्डेनेवियन जाति के लोग पूर्वी तथा पश्चिमी दो शाखाओं में विभक्त थे। इनमें पूर्वी भाषा की प्रतिनिधि तो नार्वे और आइसलैण्ड की भाषा थी। किन्तु पश्चिमी भाषा का प्रतिनिधित्व स्वीडिश एवं डैनिश भाषाएँ करती थीं। उत्तरी लोगों के स्वीडेन और नार्वे में निवास के पूर्व ही स्केन्डेनेवियन जाति का यह विभाजन हो चुका था। इसमें पश्चिमी लोग तो रूस से पश्चिम की ओर बढ़ते गये और ऐलेण्ड के द्वीप से होकर महाद्वीप को पार किया और यहाँ से ये लोग प्रायः द्वीप के दक्षिणी तट पर जा बसे। पूरब के लोग बोथीनिया की खाड़ी होते हुए फिन एवं लैप लोगों के प्रदेश में जा पहुँचे और यहाँ की उत्तरी उच्च-भूमि में दक्षिण एवं पश्चिम की ओर जा बसे।

## एड्डा

स्कैन्डेनेवियन भाषा के प्राचीनतम अंश दो एड्डाओं में सुरक्षित हैं। इनमें से प्राचीन एड्डा में, गद्य में, प्राचीन आख्यान लिखे गये। दोनों एड्डे नार्वे में नहीं एकत्र किये गये थे अपितु ये आइसलैण्ड में एकत्र किये गये थे। आइसलैण्ड क्षेत्रफल में आयरलैण्ड के ही बराबर है। इसका ज्ञान कतिपय आयरलैण्ड के धर्म-प्रचारकों को था जो आठवीं शताब्दी में वहाँ जाकर बस गए थे। नवीं शताब्दी में नाडोड्ड (Naddodd), गार्डर (Gardar) तथा फ्लोक्की (Flokki) ने इसकी खोज के लिये समुद्री यात्राएँ कीं। ये यात्राएँ सन् ८६०-८७० में हुई थीं और शीघ्र ही नार्वे से ७५० मील की दूरी पर स्थित यह द्वीप स्केन्डेनेवियन प्रायद्वीप के प्यूरिटन एवं रिपब्लिकन लोगों के लिये एक प्रकार का अमेरिका बन गया। हेराल्ड हारफर (Harald Haarfagr, ८५०

से—९३३) ने नार्वे के अधिकांश राजाओं को जीत लिया था और उसके निरंकुश शासन ने उत्तर के स्वतंत्रचेता लोगों को दासता की अवस्था में पहुँचा दिया था। जो लोग उसका प्रतिरोध न कर सके तथा उसकी प्रभुता न स्वीकार कर सके, उन्होंने अपना देश छोड़ दिया और वे फ्रांस, ंग्लैण्ड और आईसलैण्ड में जा बसे (सन् ८७४ ईस्वी)। इनमें से अधिकांश कुलीन एवं स्वतंत्र विचारक थे। इन लोगों ने आइसलैण्ड में शीघ्र ही उसीप्रकार के अभिजात तांत्रिक प्रजातंत्र की स्थापना की, जिसप्रकार की हेराल्ड के पूर्व नार्वे में की थी। ये उत्तरी प्रजातंत्र विकसित एवं समृद्ध हुए तथा १००० ई० में इन्होंने ईसाई धर्म की दीक्षा ली। यहाँ स्कूल खोले गये तथा धर्म-संरक्षण के लिये दो विशप नियुक्त किये गये। लोग क्लासिकल साहित्य के अध्ययन में उसी उत्साह से प्रवृत हुए जिस उत्साह से इनके इतिहासविद् एवं विद्वान् अपने राष्ट्रीय काव्यों, नियमों के एकत्र करने एवं उनकी व्याख्या करने में प्रवृत हुए थे। आइसलैण्ड के लोग अत्यधिक यात्राप्रिय थे और यहाँ के छात्र केवल यूरप के मुख्य नगरों में ही नहीं मिलते अपितु परिभ्रमण करते हुए पूर्वी देशों के पवित्र स्थानों में भी पहुँच जाते हैं। १२वीं शताब्दी के आरंभ में आइसलैण्ड की जनसंख्या ५० हज़ार थी। उनका बौद्धिक एवं साहित्यिक कार्य-कलाप १३वीं शताब्दी के आरंभ तक अवाध गति से चलता रहा। इसी समय नार्वे के राजा छठे हेकन (Hakon VI) ने इस द्वीप पर विजय प्राप्त की। सन् १३८० में नार्वे के साथ ही आइसलण्ड डेनमार्क के साथ मिला दिया गया। पुनः जब सन् १८१४ में नार्वे, स्वेडेन के साथ संयुक्त हो गया तब भी आज की भाँति ही आइसलैण्ड डेनमार्क के शासन में ही रहा।

यदि आइसलैण्ड से बाहर गए हुए प्रवासी लोग अत्यन्त सावधानी से सुरक्षित न रखते तो नार्वे की पुरानी कविता जो वहाँ आठवीं शताब्दी में समृद्ध हुई थी तथा जो नवीं शताब्दी में चारणों द्वारा आवर्द्धित हुई थी, विनष्ट हो गई होती। उनकी परम्परागत कविता की अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा लघुगीत हिओड (hliod) अथवा क्विडा (quida) थे जिनमें देवताओं एवं वीरों के कार्य-कलाप का वर्णन था। इन गीतों के रचनाकाल का निर्धारण असंभव है। किन्तु उत्तरी लोगों के आइसलैण्ड गमन के पूर्व ये वर्तमान थे। संभवतः यह समय सातवीं शती ई० का था। इसी शती के एंग्लो सैक्सन अथवा निम्न जर्मन एवं उच्च जर्मन के भी प्राचीनतम अवशेष मिलते हैं। कतिपय विद्वान् विशेषरूप से होल्ज़मेन (Holtzmann) यह मानते हैं कि मूलतः ये जर्मन भाषा में, संभवतः,

एंग्लोसैक्सन भूमि पर लिखे गये थे। चूँकि ये बारहवीं शताब्दी में उपलब्ध थे, (यद्यपि इनकी भाषा में काफी परिवर्तन हो चुका था) अतएव सैमुंड सिगफुसन (Saemund Sigfusson जन्म १०५६, मृ० ११३३) ने इसका संग्रह किया। इसीप्रकार का एक संग्रह हस्तलिखित रूप में सन् १६४३ में मिला था। यह चौदहवीं शताब्दी का था, और यह एड्डा अथवा वृद्ध प्रपितामही के नाम से प्रकाशित हुआ था। यह संग्रह प्राचीन अथवा पद्यात्मक एड्डा के नाम से अभिहित किया जाता है। इसका यह नामकरण, इसे, बाद में लिखित एक अन्य एड्डा से पृथक् करने के लिये रखा गया है जिसकी रचना स्नोरी स्टर्लसन (११७९-१२४१) ने की थी। यह नूतन अथवा गद्यात्मक एड्डा है।

स्नोरी स्टर्लसन को आइसलैण्ड का हेरोडोटस कहा गया है। इसके प्रमुख ग्रन्थ का नाम हेमस्क्रिंगल (Heimskringla) है। यह पौराणिक युग से लेकर मैगनुस एरलिंग्सन् (Magnus Erlingsson=एक राजा) तक के युग का उत्तरी देश का इतिहास है। मैगनुस एरलिंग्सन की मृत्यु सन् ११७७ में हुई थी। संभवतः अपने इतिहास के रचनाकाल में ही कैसिडोरस (Cassiodorus), सैक्सौ ग्रैमेटिकुस (Saxo-Grammaticus), पालुस-डाइकोनुस (Paulus Dioconus) तथा इसी वर्ग के अन्य इतिहास के पंडितों की भांति स्नोरी ने भी लोक प्रचलित गीतों का संग्रह किया था, क्योंकि इसके एड्डा में प्राचीन काव्य के अंश मिलते हैं।

इन चारण-गीतों से तेरहवीं शताब्दी की कविता की अवस्था के संबंध में सूचना मिलती है, जो अत्यधिक कृत्रिम थी। इस चारण-काव्य की एक विशेषता यह थी कि इसमें किसी वस्तु का नाम सीधे नहीं लिया जाता था। इसमें जहाज को सीधे जहाज न कहकर 'जलजीव' कहा जाता था। इसीप्रकार रक्त का नाम यहाँ 'कष्ट का ओसकण' अथवा 'कृपाण जल' था। इसमें वीर को 'अस्त्रवृक्ष' अथवा 'युद्धवृक्ष' के नाम से अभिहित किया जाता था और कृपाण को 'घात शिखा' (Flame of wound) कहा जाता था। चारणों की इस काव्यात्मक व्याख्या में जर्मैनिक जाति के देवता "ओडिन (odin) के ११५ नाम मिलते हैं, और द्वीप के लिये १२० नाम उपलब्ध हैं। प्राचीन कविता के नमूने के रूप में स्नोरी ने उन्हीं चारणों की कविता को उद्धृत किया है, जिनके नाम इतिहास में मिलते हैं तथा जो १०वीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच के हैं। स्नोरी ने प्राचीन एड्डा के गीतों को कहीं भी उद्धृत नहीं किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें बहुत प्राचीनकाल की कवि-

ताओं का संग्रह था तथा इसकी शैली भी बोधगम्य थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उस युग के लोग प्राचीन शैली की कविता को कदाचित् पसन्द न करते हों।

ऊपर आधुनिक ट्यूटनिक बोलियों को चार प्रमुख शाखाओं में विभाजित किया गया है। ये हैं, उच्च जर्मन, निम्न जर्मन गॉथिक तथा स्कैन्डिनेवियन। पीछे ये कहा जा चुका है कि अन्य अनेक छोटी-मोटी बोलियों के साथ इन चारों को सवर्गीय मानना चाहिये (इन्हें समान स्थान देना चाहिये)।

हम लोग आगे देखेंगे कि ट्यूटनिक भाषा वृहत् भाषा-परिवार की एक शाखा मात्र है, किन्तु हमें यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि इस प्राचीन एक रूपवाली भाषा का कोई ऐतिहासिक अस्तित्व न था। अन्य भाषाओं की भाँति जर्मन भाषा का भी समारम्भ विभिन्न बोलियों से हुआ था जो आगे चलकर कई राष्ट्र-भाषाओं के रूप में दृष्टिगोचर हुईं। वर्गीकरण के एक अन्य सिद्धान्त का अवलम्बन करते हुए ग्रिम ने ट्युटनिक वर्ग को उत्तरी तथा दक्षिणी शाखाओं में वर्गीकृत किया है, तथा गाँथिक को स्कैण्डिनेवियन के साथ न रखकर जर्मन के साथ रखा है। इसके विपरीत मुलेनहाँफ (Mullenhoff) ने इसे पूर्वी तथा पश्चिमी शाखाओं में वर्गीकृत किया है। पूर्वी शाखा में गॉथिक तथा स्कैण्डिनेवियन एवं पश्चिमी शाखा में उच्च एवं निम्न जर्मन दोनों को रखा है। यद्यपि ऊपर के दोनों वर्गीकरण कतिपय व्याकरणीय रूपों पर आधारित हैं, किन्तु मेरे विचार में वास्तविक परिवर्तन ध्वनि-नियमों के अनुसार होना चाहिए और इन नियमों के अनुसार गॉथिक तथा स्कैण्डिनेवियन, दोनों व्याकरणीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि से, निम्न जर्मन वर्ग में आती हैं, किन्तु ट्यूटनिक वर्ग में उच्च जर्मन का एक स्वतंत्र स्थान प्रतीत होता है।

## इटैलिक वर्ग

यहाँ आर्य अथवा भारोपीय परिवार की ट्यूटनिक भाषा के संबंध में संक्षेप में विचार किया जायेगा।

इसके लिये पहले लैटिन पर विचार करना होगा। आंचलिक बोलियों को छोड़कर आज हमें लैटिन अथवा इटैली की प्राचीन भाषा के छै परिवर्तित साहित्यिकरूप उपलब्ध हैं। ये हैं :—पोर्तुगाल, स्पेन, फ्रांस, इटैली, रूमानिया, तथा स्वीटजरलैण्ड के ग्रिसिस की भाषा जिसे रोमांस अथवा रोमन नाम से अभिहित किया जाता है। प्रावेंशल भाषा जिसमें त्रुबेदार (Troubadour) की उत्कृष्ट कविता मिलती है, अब एक आंचलिक भाषा के रूप में रह गई

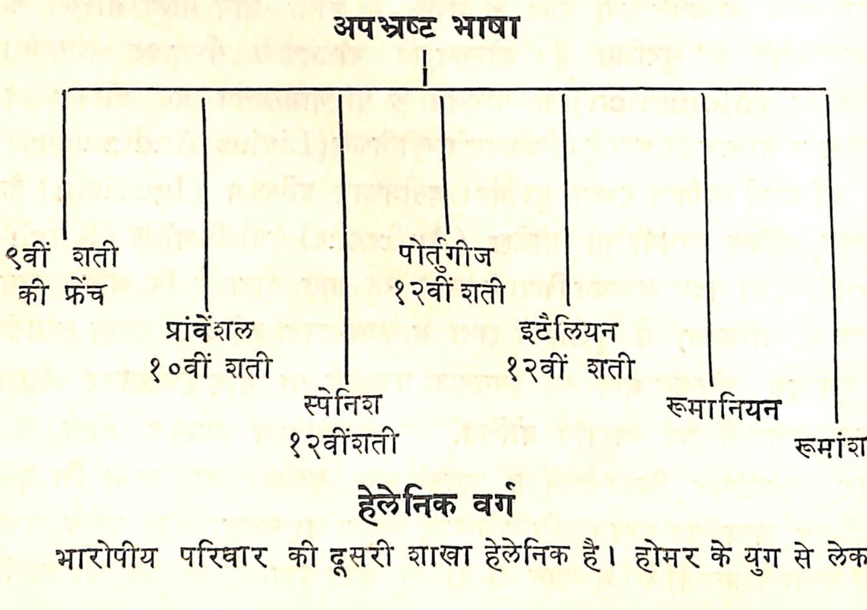
है। प्रावेंशल की प्राचीनतम कविता बोथियस (Boethius) के गीत थे। इसकी रचना १०वीं शताब्दी की बतायी जाती है। लिबफ़(Lebeuf) के अनुसार इसका रचना काल ११वीं शताब्दी है। उत्तरी फ्रेंच में इससे पहले की कुछ सामग्री प्राप्त हुई है। स्ट्रैसबर्ग (Strassburg) की शपथ का टेक्स्ट जो निथर्त (Nithart) द्वारा सुरक्षित है, सन् ८४२ का है। यह नवीं अथवा १०वीं शताब्दी के हस्तलेख के रूप में सुरक्षित हैं। इसीप्रकार 'यूलालिया (Eulal'a) के गीत नवीं शताब्दी के एक हस्तलिखित प्रतिलिपि में उपलब्ध हैं। जैसा कि डीज़ (Diez) ने कहा है, इसमें प्रावेंशल तथा उत्तरी फ्रेंच दोनों के स्पष्ट नमूने मिलते हैं। प्राचीन आर्यभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिये डीज़ कृत "छै रोमनिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन" (The Comparative Grammar of the Six Romanic Language) से श्रेष्ठ कोई अन्य कृति नहीं है।

यद्यपि सामान्यरीति से हम छै रोमनिक भाषाओं की उत्पत्ति लैटिन से मानते हैं, तथापि जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि क्लासिकल लैटिन से इनकी व्युत्पत्ति की व्याख्या करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। नव्य लैटिन बोलियों के अनेक तत्व अथवा अंश हमें इटली तथा उसके राज्यों की प्राचीन बोलियों में उपलब्ध होंगे। रोम के उत्थान के पूर्व यहाँ लैटिन की एक से अधिक बोलियाँ प्रचलित थीं और इन बोलियों के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश आज भी उत्तर में बोली जानेवाली अम्ब्रियन तथा रोम के दक्षिण में बोली जाने वाली ओस्कन के शिलालेखों में सुरक्षित हैं। ओस्कन को बोलनेवाले सैमनाइट लोग थे। मोमसेन (Mommsen) के परिश्रम के परिणामस्वरूप अब ओस्कन को समझना आसान हो गया है। लिवियस एण्ड्रोनिकस (Livius Andranicus) के पूर्व इसमें साहित्य रचना हुई थी। इसीप्रकार इग्वियम (Iguvium) के फलक लिखित सामग्री का औफ्रेख (Aufrecht) तथा किर्चाफ्फ (Kirchhoff) ने जो सूक्ष्म अध्ययन किया है उससे यह ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में, अम्ब्रियन, में पुरोहितों द्वारा साहित्य-रचना हुई थी। रोमन सम्राटों के युग तक ओस्कन भाषा का व्यवहार प्रचलित था और इसीप्रकार दक्षिण तथा उत्तर में कई स्थानीय बोलियाँ भी बोलचाल में व्यवहृत होती थीं। उधर मेस्सापियन शिला-लेखों में इतनी अल्प सामग्री उपलब्ध है कि उसे इटैलियन भाषा का स्वतंत्र प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता और उसके संज्ञा तथा क्रिया के प्रत्ययों के अध्ययन से तो यह ज्ञात होता है कि इस पर इटैली

की अपेक्षा ग्रीस का अधिक प्रभाव है। ज्योंही रोम की भाषा क्लासिकल एवं स्थिर हो गई त्यों ही उन बोलियों का भाग्योदय हुआ जो दांते (Dante) के समय तक अपभ्रष्ट मानी जाती थीं। इन आधुनिक बोलियों की अपभ्रष्टता का एक कारण यह भी है कि आठवीं शताब्दी के बाद जिसरूप में हम इन्हें जानते हैं, यह नव्य लैटिन का वह रूप है जिसे बर्बर ट्यूटन लोगों ने स्वीकार किया था। इनमें ट्यूटनिक शब्दों का ही बाहुल्य नहीं है अपितु इनकी संरचना में ट्यूटनिक भाषा के अनेक मुहावरे एवं वाक्य भी मिलते हैं। इस युग की फ्रेंच वह लैटिन है जिसे ट्यूटनिक जाति के फ्रैंक लोग बोलते थे। इसीरूप में कुछ सीमा तक सभी रोमन बोलियाँ बर्बर एवं अपभ्रष्ट थीं, किन्तु प्रारंभ से ही जिस मूलधन को लेकर नव्य लैटिन बोलियाँ प्रगति के पथ पर अग्रसर हुई थीं, वह उन्हें क्लासिकल लैटिन से प्राप्त नहीं हुआ था अपितु वह रोमन साम्राज्य के मध्य, निम्न एवं निम्नस्तर के लोगों से नितान्त सामान्य, स्थानीय एवं आंचलिक बोलियों के रूप में प्राप्त हुआ था। इटैलियन एवं फ्रेंच के शब्दसमूह में आज जो लैटिन के अनेक परिशुद्ध शब्द दृष्टिगोचर होते हैं, वे वास्तव में मध्ययुग के विद्वानों विधायकों, एवं धर्माचार्यों की देन हैं।

## इटैलिक वर्ग

सुविधा के लिये इस वर्ग की भाषाओं को निम्नलिखित तालिका में दिया जाता है :—ओस्कन, अम्ब्रियन, लैटिन आदि।




## हेलेनिक वर्ग

भारोपीय परिवार की दूसरी शाखा हेलेनिक है। होमर के युग से लेकर

इसका आज तक का इतिहास पूर्णतया ज्ञात है। इस संबंध में एक बात यह उल्लेखनीय है कि ग्रीक को लैटिन का मूलस्त्रोत मानना, अंग्रेजी को जर्मन से व्युत्पन्न मानने की अपेक्षा कहीं अधिक असंगत है, क्योंकि लैटिन में अनेक ऐसे व्याकरणीयरूप उपलब्ध हैं जो उनके ग्रीक प्रतिरूप से अधिक पुराने हैं। इसीप्रकार "प्लास्गियन्स' (Pelasgians) को ग्रीक एवं रोमन का स्रोत मानना भी असंगत है और इसे निस्सार सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

## हेलेनिक वर्ग

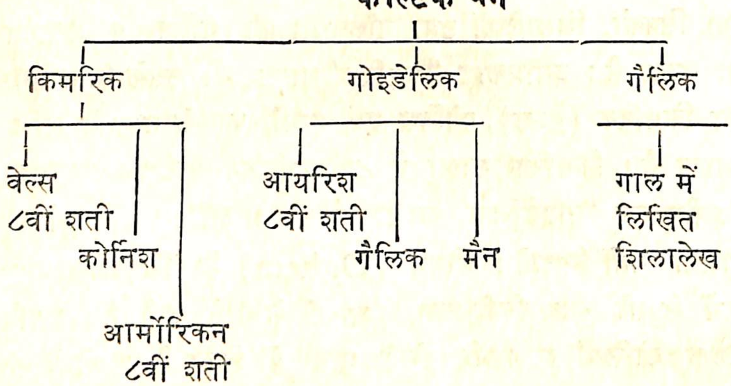
डोरिक, एओलिक, ऐटिक, आयोनिक, कोइने, आधुनिक ग्रीक।

## केल्टिक वर्ग

हमारे परिवार की चौथी शाखा केल्टिक है। विद्वानों की यह मान्यता है कि यूरप में सर्वप्रथम पहुँचने वाले आर्य केल्टिक लोग ही थे। हेकाटोस (Hekataeos) ने सातवीं शती में ही इनका उल्लेख किया है और उसने इनके एक 'नाइरेक्स' (Nyrax) नामक नगर की भी चर्चा की है जो आज के 'नोरिकम' (Noricum) नगर के रूप में पहचाना गया है। किन्तु बाद में केल्टिक लोगों का देशान्तर गमन विशेषरूप से नितान्त पश्चिम की ओर हुआ और अन्त में ये लोग अटलांटिक को पार करके आयरलैण्ड पहुँचे। केल्टिक भाषा को दो भागों--किमरिक (Cymric) एवं गोइडेलिक (Goidelic) में विभक्त किया जा सकता है। किमरिक के अन्तर्गत तीन बोलियाँ--वेल्श (Welsh), कोर्निश (cornish) एवं ब्रिटेनी आर्मोरिकन (Armorican) का समावेश है। इनमें से कोर्निश भाषा १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही विलुप्त हो गई। इसीप्रकार गोइडेलिक के अन्तर्गत भी तीन बोलियाँ--आयरिश, स्काटलैण्ड के पश्चिमी तट की गैलिक तथा मैनद्वीप की बोली हैं। कभी-कभी सिक्कों, शिलालेखों तथा गॉलनामों को गैलिक के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। इसीप्रकार 'किमरिक' शाखा को उसके निवासियों के मुख्य स्थान किमरिक (वेल्श), कोर्निश एवं आर्मोरिकन के नाम से अभिहित किया जाता है। किमरिक शाखा में ८वीं शती की साहित्यिक सामग्री मिलती है। इसीप्रकार "गोइडेलिक" शाखा में भी आठवीं शती से पूर्व की साहित्यिक सामग्री नहीं मिलती। ओघम (Ogham) के शिलालेख बहुत पुराने हैं, इनमें से तो कुछ ईस्वी प्रथम शताब्दी के माने जाते हैं। यद्यपि ऊपर की केल्टिक बोलियाँ आज भी बोली जाती हैं, किन्तु केल्ट लोगों को

आज जर्मन अथवा स्लाव की भाँति स्वतंत्र जाति नहीं माना जा सकता। प्राचीनकाल में केल्ट केवल राजनैतिक दृष्टि से ही स्वतंत्र नहीं थे, अपितु जर्मन एवं रोमन लोगों की भाँति उनकी जाति भी पृथक् थी। तब गॉल बेल्जियम एवं ब्रिटेन में केल्ट लोगों का शासन था और इटली का उत्तरी भाग उनका मुख्य निवासस्थान था। हेरोडोटस (४५० ई० पू०) के युग में हम केल्ट लोगों को स्पेन, स्विट्जरलैण्ड, टिरोल तथा डैनूब नदी के दक्षिणी प्रदेशों पर शासन करते हुए पाते हैं, किन्तु सभ्यता के क्षेत्रों में बारंबार आक्रमण करके तथा लैटिन एवं ग्रीक लेखकों को अपने राजाओं के नामों से परिचित कराकर ये पूर्वी यूरप से लुप्त हो जाते हैं। केल्टिक भाषा में 'ब्रेनस' (Brennus) संभवतः राजा को कहते थे। यही शब्द वेल्श में ब्रेनहिन (Brenhin) रूप में मिलता है। ब्रेनहिन का संबंध एक प्राचीन केल्टिक शब्द—Brigantinos से प्रतीत होता है जिसका अर्थ है—स्वतंत्र, भद्र। इसमें सन्देह है कि रोमन लोगों ने इस शब्द को Brennus रूप में सुना होगा। एक ब्रेनस ने रोम को विजित किया था (३९०)। इसी युग में केल्टिक लोगों ने एशिया में भी एक उपनिवेश बनाया और गैलेटिया (Galatia) नगर की स्थापना की। लोगों का विश्वास है सेण्ट जेरोम के समय में यहाँ गॉल भाषा बोली जाती थी। जर्मन, स्लावोनिक तथा लैटिन भाषा तक में कतिपय केल्टिक शब्द मिलते हैं, किन्तु इनकी संख्या अल्प है तथा इन भाषाओं में केल्टिक के ये शब्द विदेशी माने जाते हैं। आधुनिक केल्टिक बोलियों में आज जर्मन तथा लैटिन के अनेक शब्द आ गए हैं। केल्टिक भाषा के कुछ समर्थक भ्रमवश यह मानते हैं कि जर्मन तथा लैटिन के ये शब्द मूलतः केल्टिक भाषा के हैं और इसी से ये इन भाषाओं में गृहीत हुए हैं।

**केल्टिक वर्ग**



## विंडिक वर्ग

भारोपीय की पाँचवीं शाखा को 'स्लावोनिक' नाम से अभिहित किया जाता है। मैं इसे विंडिक नाम से पुकारता हूँ, क्योंकि यूरप के प्राचीन इतिहास के विद्वानों ने इनका विनिडोइ (Winidoe) नाम दिया है। इन जातियों को हम दो भागों—लेटिक (Lettic) एवं स्लावोनिक (Slavonic) में विभक्त कर सकते हैं। पुनः स्लावोनिक को भी हम दो भागों—दक्षिणी-पूर्वी स्लावोनिक एवं पश्चिमी स्लावोनिक में विभक्त कर सकते हैं।

स्लावोनिक भाषाओं के वर्गीकरण के लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे आज भी अस्थिर हैं। यहाँ मैंने मुख्यरूप से शैफरिक (Sehaffarik) का अनुसरण किया है। शैफरिक ने यद्यपि यह बात स्वीकार की है कि स्लाव जाति का प्राचीनतम नाम 'विनिडोइ' है, किन्तु 'लेटिक' एवं स्लाविक दोनों शाखाओं के लिए उसने इस सामान्य नाम का प्रयोग नहीं किया है। बाद के लेखकों ने इसे 'लेटो-स्लाविक' अथवा 'बाल्टो स्लाविक, नामों से अभिहित किया है।

लेटिक विभाग के अन्तर्गत जो भाषाएँ आती हैं, उनसे साहित्य के विद्यार्थी प्रायः अपरिचित हैं, किन्तु भाषा के विद्यार्थियों के लिए ये भाषाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। लेटिश भाषा आजकल 'कुरलैंड' तथा 'लिवोनिया' में बोली जाती है। इसमें १६वीं शती तक के साहित्य उपलब्ध हैं। इधर लिटुआनियन भाषा भी है जिसे पूर्वी 'प्रशा' (Prussia) के लगभग दो लाख लोग तथा इसी प्रदेश से लगे हुए रूस के एक लाख से अधिक लोग बोलते हैं। लिटुआनियन की प्राचीनतम साहित्यिक सामग्री १५४७ की है। यह एक लघु प्रश्नोत्तरी है। इसमें तथा लिटुआनीय कृषकों द्वारा व्यवहृत भाषा में कतिपय ऐसे व्याकरणीय रूप प्राप्त हैं जो संस्कृत से मिलते-जुलते हैं तथा जो इनके प्रतिरूप ग्रीक एवं लैटिन रूपों की अपेक्षा पुराने हैं।

लिटुआनियन से संबंधित प्राचीन प्रशियन (old Prussian) १७वीं शताब्दी में विलुप्त हो गई। इसमें साहित्यिक रूप में एक प्रश्नोत्तरी उपलब्ध है, यह १५-१६वीं शती की है।

लेटिश वास्तव में कुरलैण्ड तथा लिवोनिया की भाषा है। व्याकरणीय रूप में यह लिटुआनीयन की अपेक्षा आधुनिक है। यह सीधे लिटुआनीय से व्युत्पन्न नहीं है।

अब हम मुख्य स्लावोनिक भाषाओं की ओर आते हैं। इसकी पूर्वी शाखा

रूसी भाषा है। इसमें कई स्थानीय बोलियाँ समाविष्ट हैं। इनमें बुल्गेरियन एवं इलिरियन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। पूर्वी शाखा की प्राचीनतम सामग्री धार्मिक 'स्लोवोनिक' अथवा बुल्गेरियन है, जिसमें ९वीं शताब्दी के बाइबिल के अनुवाद उपलब्ध हैं। समस्त स्लावोनिक जातियों के लिये यह अनुवाद प्रमाण-स्वरूप है। जिसप्रकार जर्मन लोगों के लिये गॉथिक का महत्त्व है उसीप्रकार स्लावोनिक लोगों के लिए इस अनुवाद का महत्त्व है। स्लावोनिक भाषाओं एवं बोलियों में बुल्गारियन का व्याकरणीय रूप अपेक्षाकृत लघु है।

सर्वियन (Servian), क्रोटियन (Croation) तथा स्लोवेनियन (Slavenian) बोलियों के लिये इलिरियन (Illyrian) नाम, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है, किन्तु यह बहुत सुविधाजनक है।

सामान्यतया सर्वियन साहित्य तीन युगों में विभक्त किया जाता है। इसमें से पहले युग की सीमा चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। इसी समय मुराद प्रथम (Murad I) ने सर्विया को विजित किया था। दूसरे युग का अन्त अठारहवीं शताब्दी के मध्य में होता है। इस युग में सर्विया में राष्ट्रीय पुनर्जागरण हुआ था। इसके परिणामस्वरूप लोगों का ध्यान केवल नवीन साहित्य की ओर ही नहीं गया, अपितु लोग प्राचीन साहित्य के अध्ययन में भी प्रवृत्त हुए। प्राचीन साहित्य में जो कुछ अवशिष्ट रह गया था उसका सन् १८५८ में, मिकलोसिच (Miklosich) ने "मानुमेंटा सर्बिका" (Monumenta Serbica) में संकलन किया था। तुर्की के राजत्वकाल में, द्वितीय युग में रैगुसा तथा एड्रियाट्रिक के तटवर्ती प्रदेश में मुख्यरूप से साहित्यिक चेतना विकसित एवं समृद्ध हुई थी। तीसरे युग का समारंभ गत शताब्दी से हुआ था। इसके आरंभ करने वाले 'वुक-स्टैफनोविचकराजिच' (Vuk Stephanovitch Karajitch, १७८७-१८६४) एवं उसके मित्र थे। उसके द्वारा लिखित सर्वियन व्याकरण (१८१४) आगे चलकर भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का आधार शिला बनी। इस युग में सर्वियन चारण गीतों का भी संकलन हुआ था। यह कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण था और आज भी यह लोगों के आकर्षण का केन्द्र बिन्दु है।

स्लोवेनियन भाषा का इतिहास दसवीं शताब्दी से उपलब्ध है। "रिफार्मेशन" के युग में इसके साहित्य में पुर्ननिर्माण हुआ था तथा सन् १५८४ में 'बोहोरिक्स' (Bohorics) द्वारा इसके प्रथम व्याकरण का प्रकाशन हुआ था। स्लौवोनिक भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् मिकलोसिच (Miklosich) वास्तव में जन्मतः स्लोवोनियन हैं।

इसकी पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत पोलैण्ड, बोहेमिया एवं लुसाटिया की भाषाएँ आती हैं। पोलिश भाषा का प्राचीनतम नमूना मार्गराइट (Margarite) कृत साल्टर (Psalter) है। यह चौदहवीं शताब्दी का है। अभी हाल तक लोगों का यह ख्याल था कि बोहेमियन भाषा का नवीं शताब्दी तक का इतिहास ज्ञात है, किन्तु इधर लोगों की ऐसी धारणा है कि जिन कविताओं को प्राचीन कहा जाता था, उनमें से अधिकांश प्रक्षिप्त हैं। इनमें बाइबिल के सेण्टजान का जो अनुवाद है, वह भी संभवतः दसवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है।

लुसाटिया (Lusatia) भाषा के अन्तर्गत दो बोलियाँ उच्च एवं निम्न आती हैं। इसके बोलने वालों की संख्या डेढ़ लाख है। इन्हें जर्मन लोग वेण्ड्स (Wends) एवं सॉर्बस् (Sorbs) नामों से अभिहित करते हैं। इसमें प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य रोमन कैथोलिक की एक प्रार्थना पुस्तक है, जो सन् १५१२ ई० में मुद्रित हुई थी।

गत शताब्दी के आरंभ में ही पोलेबियन (Polabian) बोली धीरे-धीरे लुप्त हो गई थी। इसकी केवल कतिपय शब्दों की एक सूची, एक गीत तथा 'लार्ड प्रेयर' के अतिरिक्त और कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। श्लाइखर (Schleicher) ने इसे पोलिश भाषा के साथ रखा है। उसके अनुसार इसके तथा पोलिश के बीच की कड़ी कशबियन (Kashubian) है।

बिडिक अथवा लेटो-स्लाविक वर्ग

१ लेटिक
प्राचीन प्रशियन
१५वीं शती

लिटुआनियन
१६वीं शती

+

लेटिश

२ दक्षिणी पूर्वी स्लावोनिक
९वीं शती
धार्मिक स्लावोनिक
९वीं शती

रूसी (रशियन) बुल्गारियन
(महान्, लघु, श्वेत)

इलिरियन

स्लोवेनियन या कारिन्टियन १०वीं शती | सर्वियन | क्रोशियन

३. पश्चिमीस्लावोनिक

| पोलेबियन | प्राचीन बोहेमियन | |
|---|---|---|
| पोलिश + | बोहेमियन | लुसाशियन |
| १४वीं शती | १०वीं शती | वेण्डस् तथा सॉर्बस् |

## अल्बानियन

हम लोगों ने अल्बानियन को छोड़कर यूरप में बोली जाने वाली आर्य परिवार की सभी भाषाओं के संबंध में ऊपर विचार कर लिया है। अल्बानियन भाषा भी आर्य परिवार की ही है। यह ग्रीक तथा अन्य स्वीकृत भाषाओं से भिन्न है। इसका संबंध ग्रीक के पड़ोसी इलिरियन लोगों से प्रतीत होता है। यह एक मात्र ऐसी जीवन्त भाषा है जिसमें ग्रीस के आस-पास की बर्बर बोलियों के भी अवशेष मिलते हैं।

## दक्षिणी-पूर्वी वर्ग

अब हम लोग एशिया से यूरप की ओर चलें। सबसे पहले यहाँ धूर दक्षिण की भारतीय भाषाओं के संबंध में विचार करना उपयुक्त होगा।

## इंडिक (भारतीय) वर्ग

भारतीय भाषाओं—वेद से लेकर आधुनिक भाषाओं तक का विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। यहाँ इसकी एक तालिका देकर आगे इसी वर्ग की फ़ारिस की भाषाओं के संबंध में विचार किया जायेगा।

इंडिक (भारतीय) वर्ग

वैदिक भाषा
(छन्दस्)

मंत्र, १५०० ई० पू० ?
ब्राह्मण, ८०० ई० पू० ?
सूत्र, ५०० ई० पू० ?
तीसरी शती ई० पू०
लिखित रूप

साहित्यिक भाषा
(भाषा)

अपभ्रंश भाषा
(प्राकृत)

| अव्याकरणीय | व्याकरणीय | |
|---|---|---|
| | पालि | मागधी, |
| | ५००ई० पू० ? | महाराष्ट्री |

पाणिनीय व्याकरण
४००-३०० ई० पू० ?

गाथा बोली प्रियदर्शी
के अभिलेख
(बोलचाल की
भाषा)
२५० ई० पू०

कनिष्क के अभिलेख
प्रथम शताब्दी ईस्वी
रुद्रदामन के अभिलेख
द्वितीय शताब्दी ईस्वी

वैदिक भाषा (छन्दस्) — साहित्यिक भाषा (भाषा) — अपभ्रंश भाषा (प्राकृत)

संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान, ४०० ई०

लिखित ८८ ई० पू० सीलोन

लिखित ४५४ ई०

आधुनिक भाषाएँ
सिंधी, गुजराती, बिहारी
पंजाबी, हिन्दी, बंगाली
पश्चिमी, नैपाली, उड़िया
असमिया
मराठी

## इरानिक वर्ग

ज़ेन्द-अवेस्ता की भाषा जेन्द, संस्कृत, विशेषरूप से, वैदिक संस्कृत से अति निकट से संबंधित है। यह ज़रथुस्त्र अथवा अहुरमज़्दा के उपासकों की पवित्र **भाषा** है। वास्तव में संस्कृत और मुख्यरूप से तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सहायता से ही अग्निपूजकों अथवा पारसियों की बोली का अध्ययन सम्भव हो सका। बम्बई में पारसी पुरोहितों के पास अवेस्ता की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित थीं।[1] दसवीं शताब्दी में जरथुस्त्रधर्मी, पारसी लोग, ईरान से वहिर्गत हुए थे। बम्बई आकर इन लोगों ने अपना एक उपनिवेश बना लिया। यहाँ इन लोगों ने पर्याप्त धन अर्जन किया और प्रभावशाली बन गए। इनमें से कुछ लोग 'येज़्द' तथा 'करमान' के कुछ भाग में भी बस गये थे। ज़ेन्द-अवेस्ता का सर्वप्रथम अनुवाद फ्रेंच विद्वान् आँकेतिलदुपां (Anquetil Duperron) ने किया था किन्तु उसने मूल से अनुवाद न करके फ़ारसी के एक अनुवाद से फ्रेंच में किया था। ज़रथुस्त्र के मूल शब्दों को सर्वप्रथम पढ़नेवाला यूरोपीय विद्वान् रास्क था। यह डेनमार्क का निवासी था। रास्क की अकाल मृत्यु के बाद, फ्रेंच विद्वान्, बर्नाफ़ ने इस कार्य में हाथ लगाया। उसने ज़ेन्द-अवेस्ता की भाषा का उद्वाचन किया और संस्कृत के साथ इसके सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया। आधुनिक युग का यह सर्वाधिक पांडित्यपूर्ण कार्य था। अवेस्ता के समय एवं उसकी विशुद्धता के संबंध में सरविलियम जोन्स एवं प्रोफेसर विलसन द्वारा वही सन्देह उठाए गए थे जो वेद के विषय में उठाये जा चुके थे, किन्तु बर्नाफ़ के

तर्क, व्याकरणीय साक्ष्य पर आधारित होने से अकाट्य थे। बाद में डेरियस एवं ज़रकसीज़ के बाणमुख लिपि में लिखित अभिलेखों के द्वारा भी बर्नाफ़ के तर्कों की सम्पुष्टि हो गई। बर्नाफ़ के बहुत पहले लोगों को यह बात ज्ञात थी कि ज़रथुस्त्र नामक एक प्राचीन ऋषि थे। प्लेटो ने 'ज़ोरास्टर' (ज़रथुस्त्र) को ओरोमज़ (अहुरमज़्दा) का पुत्र एवं ज्ञानी बतलाया है।

ओरोमज़ का नाम महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे स्पटतया ज़रथुस्त्र धर्मावलम्बियों के देवता 'ओरमज़्दा' (अहुरमज़्द) से तात्पर्य है। डेरियस तथा ज़रकसीज़ के अभिलेखों में यह नाम 'अउरमज़्दा' के रूप में मिला है, जो प्लेटो के 'ओरोमज़' नाम के निकट का है। अपने अभिलेख की एक पंक्ति में डैरियस कहता है—'अउरमज़्दा की कृपा से ही मैं राजा बना। अउरमज़्दा ने ही मुझे राज्य दिया।' किन्तु 'अउरमज़्दा' का अर्थ क्या है? 'ऐकेमेनियन' अभिलेख में उपलब्ध एक संकेत के अनुसार 'अउरमज़्दा' एक सामाजिक शब्द है, जिसमें दो शब्दों का समास हुआ है और दोनों के व्याकरणीयरूप चलते हैं। वहाँ इसके षष्टी का रूप "अउरह्यमज़्दाह" मिलता है, किन्तु, इससे भी अर्थ-स्पष्ट नहीं होता। महान् देवता (परमात्मा) का यह नाम अवेस्ता के प्रत्येक पृष्ठ में मिलता है। कर्ताकारक में इनका रूप "अहुरो मज़्दाओ" मिलता है। यहाँ भी इन दोनों शब्दों के रूप चलते हैं। 'अहुरो मज़्दाओं' के लिए अवेस्ता में कई स्थानों में 'मज़्दाओ अहुरो' रूप भी मिलता है। 'ज़ेन्द-अवेस्ता' में 'अहुरो मज़्दाओ' को संसार का सृष्टिकर्ता एवं शासक बतलाया गया है। उसे श्रेष्ठ, पवित्र एवं ऋत कहा गया है तथा उसे पाप, अन्धकार एवं अनृत से निरन्तर युद्ध करते हुए चित्रित किया गया है। अवेस्ता में कहा गया है कि जीवन्त ज्ञानवान शक्ति की पवित्रता एवं उसके ज्ञान के द्वारा दुष्कर्मी विनष्ट हो जाते हैं। अवेस्ता के पुराने मंत्रों में 'अहुरो मज़्दाओ' की विपक्षी शक्ति 'अंधकार' का कोई नाम नहीं मिलता, किन्तु बाद में मंत्रों में उसे 'ऐंग्रो-मैन्युस' एवं 'अहरिमन' नामों से अभिहित किया गया है। इसे 'दुःख' अथवा धूर्त शक्ति भी बतलाया गया है। ज़रथुस्त्र का मुख्य सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को इन दोनों शक्तियों में से एक का चयन करना है। उनकी शिक्षा थी कि अच्छा (श्रेष्ठ) बनना चाहिए, बुरा नहीं। उनकी शिक्षा इस-प्रकार है:—

'इस प्रकार की दो आदि शक्तियाँ सृष्टि के आरंभ से ही व्युत्पन्न हैं, ये दोनों एक दूसरे से कार्य करने में स्वतंत्र हैं। इनमें से एक श्रेष्ठ है तथा दूसरी

का कार्य-कलाप दुष्टतापूर्ण हैं। इनमें से ज्ञानियों को उत्तम एवं श्रेष्ठ शक्ति का ही चयन करना चाहिए, कुमार्ग पर ले जानेवाली शक्ति का नहीं।'

पुनः ज़रथुस्त्र कहते हैं—"मैं घोषित करता हूँ कि संसार में दो आद्य-शक्तियाँ हैं। इनमें से उदारहृदया शक्ति ने अपकारी से कहा—हम दोनों के विचार, आदेश, ज्ञान, विश्वास, शब्द, कार्य चेतना एवं आत्मा एक दूसरे से भिन्न हैं।"

अब यदि हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि 'एंग्लोसैक्सन' एक वास्तविक भाषा थी और यह अंग्रेजी से पुरानी थी तो इसके लिए हमें Lord तथा hlaford एवं gospel और godspell जैसे कतिपय शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ेगा। Hlaford शब्द अर्थवान है किन्तु lord शब्द का कुछ अर्थ नहीं होता। अतएव हम यह निस्संकोचभाव से कह सकते हैं कि hlaford जैसे सामाजिक शब्द के अभाव में lord शब्द बनता ही नहीं। इसी-प्रकार यदि हम 'ज़ेन्द-अवेस्ता' की भाषा का डैरियस के अभिलेखों की भाषा से तुलना करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि 'अउरमज़्दा' शब्द वास्तव में 'अहुरो मज़्दाओं' का अपभ्रष्ट रूप है और यदि 'बेहिस्तुन' की शिलालेखीय भाषा प्रामाणिक एवं शुद्ध है तो ज़ेन्द-अवेस्ता की भाषा भी प्रामाणिक है। बर्नाफ़ ने 'साइरस' एवं डैरियस की भाषा के बहुत पहले ही इस बात को सिद्ध कर दिया था। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'अहुरो मज़्दाओं' का तब क्या अर्थ है? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें—'ज़ेन्द' भाषा से कोई सहायता नहीं मिलती किन्तु इसके उत्तर के लिए हमें संस्कृत भाषा की ओर जाना चाहिए, जो 'ज़ेन्द' की अपेक्षा अधिक पुरानी भाषा है। ध्वनि परिवर्तन संबंधी नियमों के अनुसार 'अहुरो मज़्दाओं' का संस्कृत रूप 'असुरमेधस्' या 'ज्ञानदेव' है। बर्नाफ़, ब्राखौस, स्पाइगल, वेस्टरगार्ड, डारमेस्टर, मिल्स एवं गेल्डनर ने ज़ेन्द-अवेस्ता का सम्पादन एवं उसकी टीकाएँ की हैं। फिर भी इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य करना है। डा० हाउग ने बम्बई में कुछ दिनों पारसी लोगों के बीच रहकर अवेस्ता का अध्ययन किया था। आप प्रथम विद्वान् थे, जिसने यह निर्देश किया था कि अवेस्ता के कुछ अंश बहुत प्राचीन एवं अन्य अंश बहुत बाद के हैं। आपके अनुसार इसकी गाथाएँ अति प्राचीन हैं और इसके प्रणेता स्वयं ज़रथुस्त्र थे। आपने सन् १८६१ में पूने में भाषण देते हुए कहा था—यह (गाथा) अंश अवेस्ता में अतिलघु है, किन्तु इसमें भाषा का अन्तर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। इसे गाथा कहते हैं और यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके

पाँच लघु संग्रह हैं और इनके छन्द विभिन्न हैं। ये छन्द वैदिक छन्दों के समान ही हैं और इसकी भाषा भी वैदिक भाषा के निकट की है।

## क्या ज़रथुस्त्र ऐतिहासिक पुरुष थे ?

जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि ज़रथुस्त्र कौन थे और वह किस समय में उत्पन्न हुए थे तब तक उन्हें अवेस्ता की 'गाथाओं' का प्रणेता कहना समीचीन नहीं है। अवेस्ता में ज़रथुस्त्र एक पौराणिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं और वहाँ उन्हें हम ''वेरेध्न'', 'वायु' एवं 'केरेसास्प' जैसे दुष्ट शत्रुओं से युद्ध करते हुए पाते हैं, किन्तु गाथाओं में वे एक नेता एवं ऋषि का रूप धारणकर लेते हैं और तब उन्हें इन गाथाओं के प्रणेता मानने में कोई कठिनाई नहीं होती। ज़रथुस्त्र वास्तव में मानव थे जो आगे चलकर अर्द्धदेवता बन गए अथवा आरंभ से ही उनका व्यक्तित्व पौराणिक था, यह कहना कठिन है। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्व तथा पश्चिम दोनों में ज़रथुस्त्र का नाम एक राजा अथवा एक धर्म-संस्थापक के रूप में प्रख्यात था। एक अति प्राचीन कृति के आर्मेनियन अनुवाद में बेबिलोनिया के मिडियन वंश के प्रथम राजा का नाम 'ज़ोरास्टर' (ज़रथुस्त्र) मिलता है। इसका समय ई० पू० २२३४ वर्ष बतलाया गया है और इसप्रकार वह 'निनस (Ninus) का पूर्ववर्ती है। डियोगनेस लार्टियस (Diogenes Laertius) ने जान्थुस (Xanthus ४७० ई० पू०) को उद्धृत करते हुए पैगम्बर ज़रथुस्त्र का उल्लेख ट्रोजन युद्ध (ई० पू० १८००) से छै सौ वर्ष पूर्व किया है। प्लिनी के अनुसार अरिस्टाटल तथा एउडोक्सस ने ज़रथुस्त्र का समय प्लेटो से छै हजार वर्ष पूर्व बतलाया है। हर्मोडोरस एवं थियोपोम्पस के अनुसार ज़रथुस्त्र का समय ट्रोजन युद्ध से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व है। ऊपर के विद्वानों ने ज़रथुस्त्र का जो समय दिया है, वह नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-प्रचारक एवं शिक्षक के रूप में ज़रथुस्त्र का नाम प्लेटो एवं अरिस्टॉटल को ज्ञात था। इसके साथ ही हमें यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस नाम का मूल अर्थ चाहे जो भी हो, सभी लोगों ने इसे एक पैग़म्बर के नाम के रूप में स्वीकार किया है तथा इसका समय सिकन्दर के फ़ारस विजय के पूर्व माना है।

## क्या ज़रथुस्त्र अवेस्ता के प्रणेता थे ?

यदि इस बात को हम स्वीकार कर भी लें कि प्लेटो एवं अरिस्टॉटल के पूर्व बहुत प्राचीनकाल में भी ज़रथुस्त्र का नाम लोगों को ज्ञात था तो भी यह

बात सिद्ध करने को रह जाती है कि अपने वर्तमान रूप में अवेस्ता उन्हीं की कृति है। सभी लोग परम्परा से यह मानते आए हैं कि सिकन्दर ने फ़ारस के लोगों के सम्पूर्ण वाङ्मय को विनष्ट कर दिया था। प्लिनी ने 'हर्मिपस' (ई० पू० ३००) को उद्धृत करते हुए यह दिखलाया है कि जरथुस्त्र धर्म का बीस लाख पंक्तियों का वाङ्मय था। पारसी लोगों ने स्वयं यह बात स्वीकार की है कि सिकन्दर द्वारा विनष्ट किए जाने के बाद उनका अवशिष्ट वाङ्मय अर्शादवंश के अन्तिम राजा के राजत्वकाल में एकत्र किया गया था। एम० डार्मेटर का अनुमान है कि यह 'वोलोगेसेस' (vologeses) प्रथम था जो 'नेरो' (Nero) का समसामयिक था। यह प्रसिद्ध है कि ससानियन वंश के प्रथम राजा अर्देशीर बाबगान (Ardeshir Babagan, २२६-२४० ई०) ने अवेस्ता को ईरान की धार्मिक 'किताब' घोषित की तथा मज़्दा-धर्म को राज्य-धर्म बनाया। विद्वानों के अनुसार शापुर द्वितीय (३०९-३८० ई०) के शासन-काल में अवेस्ता को अन्तिमरूप मिला था। अवेस्ता की प्राचीनतम हस्त-लिखित प्रति १३२३ ई० की है जो कोपेनहेगेन में सुरक्षित है। इससे यह ज्ञात होता है कि अवेस्ता में परिवर्तन परिवर्धन करने के लिए पर्याप्त समय था।

## पहलवी

अवेस्ता के मूलपाठ के परीक्षण एवं उसके काल-निर्धारण के लिए यह महत्वपूर्ण सहायता इसके पहलवी अनुवाद से मिलती है जो ससानीयवंश के राजत्वकाल में सम्पन्न हुआ था। ऐकेमेनियन वंश के विनष्ट हो जाने के बाद फ़ारस में जो भाषा प्रचलित हुई थी, उसका नाम पहलवी था। वाणमुख लिपि में लिखित ऐकेमेनियन वंश के अभिलेख की भाषा वस्तुतः ज़ेन्द के आगे की भाषा नहीं है। कुछ बातों में डेरियस की शिलालेखी भाषा ज़ेन्द की अपेक्षा पुरानी है, किन्तु अन्य बातों में ज़ेन्द डेरियस की अभिलेखी भाषा से पुरानी है। इसका कारण स्पष्ट है। बात यह है कि ज़ेन्द यथार्थतः मग अथवा मिडिया के पुरोहितों की पवित्र भाषा थी जो फ़ारस की भाषा के निकट तो थी, किन्तु जो उस देश की कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं रही थी। एकेमेनियन वंश के अभिलेखों की भाषा के बाद जब हम फ़ारस की भाषा पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ससानीयवंश की पहलवी भाषा ही मिलती है। जहाँ तक भाषा के इतिहास का प्रश्न है, दोनों के बीच के पाँच सौ वर्षों का अन्तराल एक प्रकार का अन्धकार का युग है। इसके बाद भाषा का जो प्रथमरूप हमें उपलब्ध होता है वह एक नई भाषा एवं एक नई लिपि है। ये

तीसरी शताब्दी के पहलवी के अभिलेख हैं। इसके अतिरिक्त जो साहित्य प्राप्त हैं, वह अवेस्ता का पहलवी में अनुवाद है। यह अनुवाद शब्दशः है, किन्तु कहीं-कहीं इसकी पहलवी में लम्बी व्याख्या भी उपलब्ध होती है। इस अनुवाद की तिथि निर्धारित करना कठिन है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छठीं शताब्दी ईस्वी के पूर्व ही यह कार्य सम्पन्न हो चुका था। इसके अतिरिक्त पहलवी में दूसरे प्रकार के ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं जो 'बुन्दहिश' दीनकर्द आदि जैसे धर्म संबंधी पहलवी टेक्स्ट हैं। ये नवीं शताब्दी के हैं। तीसरे प्रकार के फुटकल पहलवी टेक्स्ट भी उपलब्ध हैं। इनका संबंध सामाजिक नियमों, पौराणिक कथाओं आदि से है। इनमें से अधिकांश कृतियों का आकार लघु है। श्री वेस्ट (West) ने ऊपर की तीनों प्रकार की कृतियों के शब्दों की गणना की है। इनमें से प्रथम प्रकार में १,४०,१६०, दूसरे में ४,०४,३७० तथा तीसरे में ४०,८६० शब्द हैं। इसप्रकार सम्पूर्ण पहलवी साहित्य में लगभग ५,८५ ३९० शब्द हैं।

पहलवी भाषा के स्वरूप के संबंध में प्राच्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है और कतिपय विद्वानों के विचार तो एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। हाउग तथा उनके साथी कुछ अन्य विद्वान् पहलवी को ईरानी मिश्रित सामी (सेमेटिक) भाषा मानते हैं (देखो—हाउगकृत 'पहलवी' पाजन्द की ग्लासरी, पृष्ठ १३८-१४२)। अन्य विद्वानों के अनुसार पहलवी का व्याकरणीय ढाँचा तो ईरानी है, किन्तु इसमें सामी भाषा के शब्दों का अत्यधिक मिश्रण हो गया है। इनके अनुसार पहलवी ईरान तथा चाल्डिया की सीमा की बोली है और इसका उद्भव ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में हुआ था। अब यह समस्या सुलझ गयी है, और इसके लिए हाउग एवं वेस्ट की अधुनातम खोजों को देखना चाहिए।

अपने पवित्र ग्रन्थ के अनुवाद एवं उसकी व्याख्या को सभी पारसी लेखक ज़ेन्द अथवा ज़न्द कहते हैं। अपने पवित्र ग्रन्थ को तो वे 'अवेस्ता' कहते हैं, किन्तु जब उन्हें इस ग्रन्थ और इसके अनुवाद एवं इसकी व्याख्या के संबंध में कहना होता है तो वे इसे 'अवेस्ता' तथा 'ज़ेन्द' कहते हैं। ज़ेन्द-अवेस्ता नहीं। ज़ेन्द अथवा व्याख्या की भाषा पहलवी है, किन्तु इसकी अवेस्ता की भाषा में लिखित अन्य व्याख्याएँ भी हो सकती हैं। वास्तव में मध्यकालीन फ़ारसी भाषा का एक सामान्य नाम पहलवी है। सिकन्दर द्वारा विजित, ईरान के राज्य में, उसके उत्तराधिकारियों के ई० पू० ३०० के कई ऐसे सिक्के उपलब्ध

हुए हैं, जिन पर पहलवी में पौराणिक कथाएँ अंकित हैं। इसके बाद के असदि-वंश के भी इसीप्रकार के कतिपय सिक्के प्राप्त हुए हैं, किन्तु पहलवी में सबसे महत्वपूर्ण सामग्री, ससानीय वंश के अर्देशिर एवं उसके उत्तराधिकारियों के २२६-२४० के शिलालेख हैं। पहलवी ९०० ई० तक प्रचलित रही। विद्वान् लोग पहलवी को 'पर्थ्व' का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। पर्थ्व शब्द डेरियस के शिलालेखों में मिलता है। इसका संस्कृत प्रतिरूप 'पहलव' है। यद्यपि फ़ारस के पार्थियन शासकों की भाषा पहलवी न थी, किन्तु जिस समय वे शासन कर रहे थे, उस समय यहाँ की भाषा पहलवी ही मानी जाती थी।

फ़ारस में जो भाषा न तो अवेस्ता और न आधुनिक फ़ारसी (अरबी) लिपि में लिखी जाती है, वह सामान्यतया पहलवी कहलाती है। यह एक विचित्र लिपि है, जो यूरोप के लिए अत्यन्त कठिन एवं भ्रामक है। पार्थियन युग में फ़ारस के लोगों ने वाणमुख लिपि त्यागकर अपनी पड़ोसी सामी लिपि को अपनाया, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने अपनी मातृभाषा के समानार्थी सामी शब्द संकेतों को भी अपनाया। ऐसे संकेतों की संख्या ४०० है। इन शब्द संकेतों में फ़ारसी के प्रत्यय संयुक्त होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि ये सामी भाषा के रूप में लिखे जाते थे, किन्तु ये सदैव फ़ारसी रूप में उच्चरित होते थे। उदाहरणार्थ शब्द संकेत रूप में तो 'मल्कान मल्का', 'राजाओं का राजा' लिखा था, किन्तु इसका फ़ारसी में उच्चारण होता था 'शाहानशाह', क्योंकि किसी भी सामी भाषा में व्याकरणीय दृष्टि से 'मल्कान-मल्का' वाक्य खंड निर्माण करना असंभव है। यह उसीप्रकार का लेखन है जिसप्रकार अंग्रेजी में 'namely' के लिए हम viz तथा for instance के लिए e.g. लिखते हैं। आज भी पारसी लोग पहलवी साहित्य इसीप्रकार पढ़ते हैं। इन चार सौ सामी शब्द संकेतों के अतिरिक्त सौ पुरानी फ़ारसी अथवा इरानी के शब्द-संकेतों का प्रयोग भी पहलवी में प्रचलित हैं। ये उसीप्रकार के हैं जिसप्रकार 'The' के लिए अंग्रेजी में ye तथा Christmas के लिए 'Xmas' लिखा जाता है। ये ५०० शब्द-संकेत विद्वानों के उपयोग के लिए एक पुरानी शब्द-सूची में संकलित हैं। इन्हें 'ज्वारिश' अथवा 'उज्वारिश' कहते हैं। नूतन पहलवी में यह शब्द 'अउज्वारिज' रूप में मिलता है तथा इसे लोग 'हुज्वारिश' रूप में पढ़ते हैं। 'ज्वारिश' का अर्थ है अप्रयुज्यमान। 'पाज़ेन्द' किसी भाषा का नाम नहीं है, अपितु यह पहलवी टेक्स्ट का लिप्यन्तरण है। इसमें सभी सामी शब्दों के स्थान पर उनके इरानी प्रति

शब्द रखे गए हैं तथा इन्हें अवेस्ता अथवा आधुनिक फ़ारसी लिपि में लिखा गया है। विद्वानों का यह मत है कि प्रत्येक पाज़ेन्द टेक्स्ट का मूल पह्लवी में मौजूद होगा, किन्तु आधुनिक फ़ारसी के जो ग्रन्थ अवेस्ता लिपि में लिखे गये हैं उन्हें 'पाज़ेन्द' कहना समीचीन न होगा।

जब फ़ारस की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती है तो वह 'पारसी' कहलाती है। ऐसे 'पाज़ेन्द टेक्स्ट' की भाषा जिनमें इरानी शब्द होते हैं, पारसी ही कहलाती है। यूरप के विद्वानों ने भी इसे यही नाम दिया है।

प्रो० डारमेस्टर ने अपने एक लेख में 'ज़ेन्द' पहलवी—'हुज्वारिश' या 'जेवारिश' पाज़ेन्द तथा फ़ारसी को किंचित भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है। जहाँ तक ज़ेन्द का संबंध है, डारमेस्टर के विचार वही हैं जो अन्य विद्वानों के हैं। यद्यपि मूलतः व्याख्या अथवा भाष्य के अर्थ में इसका प्रयोग होता था, किन्तु बाद में इसका प्रयोग अवेस्ता की भाषा के लिए होने लगा था।

ससानवंशीय राजाओं के राजत्वकाल में फारस में जो भाषा प्रचलित थी उसका नाम पहलवी है, यद्यपि इस वंशवाले, संभवतः अपनी भाषा को 'पारसी' कहना अधिक उपयुक्त समझते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'हुज्वारिश' अथवा 'जेवारिश' डारमेस्टर के अनुसार पहलवी को लिखने का ढंग था। इसका मूल अर्थ है 'कपट-रूप' अथवा छद्मवेष।

डारमेस्टर के अनुसार पहलवी की साधारण लिपि में प्रतिलिप पाज़ेन्द है, किन्तु इस प्रतिलिपि की भाषा 'पारसी' होती है। पहलवी वर्णों की कठिनाई के कारण यह प्रतिलिपि सदैव शुद्ध नहीं, होती किन्तु आज के पारसी लोग इसे प्रामाणिक मानते हैं।

फ़िरदौसी कृत शाहनामा महाकाव्य (रचनाकाल १००० ई०) की भाषा 'पारसी' अथवा फ़ारसी अथवा नव्य फ़ारसी है। इसकी विशेषता यह है कि फ़ारस में उपलब्ध अन्य काव्य ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें अरबी का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ है। एक अर्थ में इसकी भाषा को प्राचीन फ़ारसी कह सकते हैं क्योंकि इसके बाद की फारसी में अरबी शब्दों का बाहुल्य हो चला था। इसका कारण यह था कि अरब के लोगों ने फ़ारस को जीत लिया था। वहाँ के पारसी लोगों को इस्लाम धर्म में दीक्षित कर लिया था।

## इरानिक वर्ग

| | | |
|---|---|---|
| जेन्द अथवा मिडियन भाषा | ५०० ई० पू० से ३३६ ई० पू० | ऐकेमेनियन पारसी, वाणमुख में लिखित शिलालेख |
| | | ससानीय पारसी पहलवी २२६ ई० से ९०० ई० |
| | | आधुनिक पारसी, या फ़ारसी—१००० ई०। |

कई स्थानीय बोलियों के रूप में फ़ारसी भाषा आज भी बोली जाती हैं। कहा जाता हैं 'काज़विन' के निकट 'ज़िन्जान' में चौदहवीं शताब्दी तक पहलवी प्रचलित थी तथा 'अजरबैजान' स्थित 'भर्गात' में पहलवी एवं अरबी की एक मिश्रित भाषा प्रचलित थी। कुछ लोग बोखारा की भाषा को एक पृथक भाषा मानते हैं, किन्तु वास्तव में यह बोखारा में बोली जानेवाली 'फ़ारसी' भाषा ही हैं।

## 'कुर्दिश'

यह कुर्द लोगों की भाषा है तथा इसका पुराना नाम 'कर्दुची' हैं। यह एक ईरानी बोली हैं, किन्तु यह टाइग्रिज(दजला) नदी के ऊपरी भाग में बोली जाती हैं। यह महत्वपूर्ण भाषा हैं और जस्टी (Justi) ने सन् १८८० में इसका व्याकरण एवं कोष लिखा था।

## बलूची

बलूचिस्तान की भाषा भी इरानी हैं। इसकी उत्तरी तथा दक्षिणी दो शाखाएँ हैं। इसके बीच में द्रविड़ परिवार की भाषा बोलने वाले 'ब्राहुई' लोग हैं। उत्तरी एवं दक्षिणी बलूची बोलियाँ परस्पर बोधगम्य नहीं हैं।

## अफ़गान एवं दर्द लोगों की भाषा

अफ़ागन लोगों की भाषा 'पश्तो' एवं'पख़्तो' को पहले विद्वान् लोग इरानीय शाखा की बोलियाँ मानते थे, किन्तु अब ट्रम्प ने यह सिद्ध कर दिया है कि फ़ारस की अपेक्षा भारत की बोलियों से इनका अधिक सम्बन्ध हैं। अफ़गानिस्तान के उत्तर दर्दिस्तान की बोलियों का अध्ययन डा० लेटनर (Laitner) ने किया है। उनके अनुसार पश्तो की भाँति यह भी एक मध्यवर्ती (इरान तथा भारत के बीच की) बोली है।

## आर्मेनियम

आर्मेनियन को विद्वान् लोग पहले इरान की बोली मानते थे। बॉप (Bopp), विंडिश मैन (Windischmann), एफ० मूलर (F. Muller)

आदि विद्वानों का यही मत था। इसमें सन्देह नहीं कि कई बातों में इसका व्याकरण इरानीय बोलियों के व्याकरण से मिलता-जुलता है। पॉट ने सर्व-प्रथम इस संबंध में शंका व्यक्त की तथा डी लगार्दे (de Lagarde) ने १८६६ में आर्मेनियन में उपलब्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन इरानी के दो स्तरों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। आगे चलकर प्रो० हुब्शमैन (Hubschmann) ने इसका गंभीर अध्ययन किया। आप के अनुसार आर्य परिवार में आर्मेनियन का स्वतंत्र स्थान है, तथा ध्वनि एवं इसके व्याकरण का ढाँचा फारसी से पृथक है। इसके व्याकरण की विशेषताएँ तो ऐसी हैं कि ये आर्यपरिवार की किसी भी भाषा में नहीं मिलती हैं, यद्यपि एक महत्वपूर्ण बात में लेटोस्लाविक से इसका साम्य है।

## जिप्सी

आर्य परिवार की अब एक ही भाषा के संबंध में विचार करना शेष है। यह एशिया एवं योरप दोनों की भाषा है। वास्तव में, यह जिप्सी भाषा है जो कि मूलतः भारतीय भाषा है। जिप्सी लोग सबसे पहले बारहवीं शती में यूरप पहुँचे। अपने साथ जो भाषा लेकर गए थे, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये फ़ारस, आर्मेनिया, ग्रीस, रुमानिया, हुँगरी तथा बोहेमिया से होते हुए, यूरप में, प्रविष्ट हुए थे।

## दक्षिणी पूर्वी एवं उत्तरी पश्चिमी शाखाएँ

आर्य परिवार की भाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से एक दक्षिणी-पूर्वी वर्ग होगा, जिसके अन्तर्गत इंडिक एवं इरानी शाखा की भाषाएँ आयेंगी। इसके दूसरे उत्तरी-पश्चिमी-वर्ग में अन्य भाषाओं एवं बोलियों का समावेश होगा। संस्कृत एवं जेन्द में, समानरूपी, कतिपय ऐसे शब्द एवं व्याकरणीय रूप मिलते हैं, जो अन्य आर्य भाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इससे इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि मूल स्थान छोड़ने के बाद वेद के प्रणेताओं के पूर्वज एवं 'अहुरमज़्दा' के माननेवालों के पूर्व पुरुष किसी स्थान में कुछ काल तक एक साथ रहे थे। भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। प्राचीनकाल में एक ऐसा भी युग था जब पिता, माता, पुत्री, पुत्र, कुत्ता, गाय, स्वर्ग एवं पृथ्वी के लिए आर्य भाषाओं में समान शब्द थे। जब सहायक क्रिया 'अस्', 'होना' के विविध भाषाओं में उपलब्ध रूपों का हम तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो वहाँ भी हमें समानता उपलब्ध होती है। 'अस्' धातु के साथ व्यक्तिवाची

सर्वनामों को संयुक्त करके रूप बनाने की प्रक्रिया भी प्रायः सभी आर्य भाषाओं में समान ही है। इससे सहजरूप में यह कल्पना की जा सकती है कि अति प्राचीनकाल में, आर्यों का एक परिजन मध्यएशिया की उच्चभूमि में कहीं निवास करता था तथा एक ऐसी भाषा बोलता था जो संस्कृत, ग्रीक, अथवा जर्मन न थी, किन्तु जिसमें इन सभी बोलियों के तत्त्व वर्तमान थे। ये कृषि से परिचित थे तथा इनकी भाषा में सम्बन्धों को द्योतित करने वाले शब्द थे। विवाह संबंधी नियम भी इनके यहाँ निर्धारित थे तथा प्रकाश के दाता एवं स्वर्ग के निर्माता के नाम भी इनके यहाँ समान थे। इस नाम को हम आज भी वाराणसी के मन्दिरों, रोम के गिर्जाघरों तथा आज के मठों एवं गिर्जाघरों में सुनते हैं।

आर्यों का परिजन जब विच्छिन्न हुआ तो भारतीय तथा ज़रथुस्त्रीय धर्मावलम्बियों के पूर्वज किसी उपनिवेश में कुछ समय के लिए एक साथ रहे। ऊपर की दक्षिणी एवं उत्तरी शाखाओं के अतिरिक्त क्या कोई ऐसा विभाजन सम्भव है, जिससे जर्मन के स्लाव तथा केल्ट के इटैलियन अथवा इटैलियन लोगों की ग्रीक से पृथक होने की तिथि ज्ञात हो सके? यह संदिग्ध एवं कठिन है। कई विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किया है, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली है। सम्प्रति, यही आवश्यक प्रतीत होता है कि उत्तरी वर्ग की भाषाओं का अध्ययन करते हुए हम उसकी मूल बोलियों तक पहुँचे और उनमें जो एकता उपलब्ध हो उसका संकलन करें। इस अध्ययन का आधार यह कल्पना होगी कि इनके बोलने वाले पूर्व पुरुष एक ही थे तथा इनकी बोलियों में कतिपय ऐसी विशेषताएँ थीं, जो इनके एक साथ रहते समय भी वर्तमान थीं और विच्छिन्न होने के बाद भी इनमें वर्तमान रहीं।

—

अध्याय ८

# सामी [सेमेटिक] परिवार

## सामी परिवार का तुलनात्मक अध्ययन

आर्य-भाषाओं, विशेषतः संस्कृत के अध्ययन से ही, मूलरूप से, भाषा-विज्ञान के अध्ययन का समारम्भ हुआ। भाषा की उत्पत्ति एवं उसके विकास के संबंध में सही दृष्टिकोण, व्याकरणीय तत्वों की ठीक प्रकृति, सम्भावित ध्वनि-परिवर्तन तथा शब्दार्थ-परिवर्तन के ऐतिहासिक अध्ययन, ये सभी, उन्नीसवीं शताब्दी के कार्य हैं और इसका सर्वाधिक श्रेय यूरोपीय विद्वानों द्वारा संस्कृत की खोज है।

सोलहवीं, सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों में, एक सीमित क्षेत्र में, सामी भाषाओं के अध्ययन के साथ-साथ इसीप्रकार की खोजों का प्रयास किया गया था। हिब्रू के मूलतत्व त्र्यक्षरी धातु थे, इसके व्याकरणीय प्रत्यय प्रायः सर्वनामीय थे। इसके कतिपय व्यंजन परिवर्तनीय एवं अन्य अपरिवर्तनीय थे आदि बातें यूरप के विद्वानों को तुलनात्मक भाषा विज्ञान के उदय के पूर्व ही ज्ञात थीं। किन्तु बॉप्प, पॉट एवं ग्रिम के अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप जो एक नवीन शक्ति प्रादुर्भूत हुई, उसका सामी भाषा के अध्येताओं पर सशक्त प्रभाव पड़ा और इसके फलस्वरूप हिब्रू, अरबी एवं आरमाइक भाषाओं का जो तुलनात्मक अध्ययन आरंभ हुआ, वह पूर्व पीढ़ी के अध्ययन से बहुत कुछ भिन्न था।

भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए आज भी आर्य-भाषाएँ अत्यन्त उपयोगी हैं और अपने भाषाशास्त्र संबंधी सिद्धान्तों के निर्धारण में, मैं प्रधानरूप से इन्हीं से प्राप्त सामग्री के साक्ष्य पर निर्भर हूँ, क्योंकि मैंने विशेषरूप से इन्हीं का अध्ययन भी किया है, किन्तु चूँकि सामी-भाषाओं के उल्लेख से बचना असंभव है, क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन के लिए इनकी आवश्यकता है और चूँकि आर्य भाषा के व्याकरण के पूर्व-पक्ष को समझने के लिए भी इनका ज्ञान आवश्यक है, अतएव यहाँ सामी अथवा तूरानी भाषाओं (मेक्समूलर ने इन्हें इसी नाम से अभिहित करना उपयुक्त माना है) का संक्षिप्त सर्वेक्षण किया जाता है।

## सामी परिवार का वर्गीकरण

सामी परिवार को विद्वानों ने तीन शाखाओं में वर्गीकृत किया है—ये हैं—'आरामाइक', 'हेब्राइक' तथा 'अरबिक'। कभी-कभी इसे दो शाखाओं, उत्तरी एवं दक्षिणी में भी वर्गीकृत किया गया है। इनमें उत्तरी शाखा के अन्तर्गत तो 'आरामाइक' एवं 'हेब्राइक' आती हैं और दक्षिणी के अन्तर्गत केवल 'अरबी'।

## 'आरामाइक'

यह 'अरम' प्रदेश की भाषा थी। प्राचीनकाल में इसकी 'सिरिक' एवं 'चाल्डी' दो प्रतिनिधि भाषाएँ थीं। इसका प्राचीनरूप एसिरिया एवं बेबिलोनिया की भाषाओं में मिलता है और आज वाणमुखलिपि में लिखित अभिलेख में इसके नमूने प्राप्त हुए हैं। इस भाषा को व्याकरणीय गठन स्पष्ट-रूप से सामी है, किन्तु इसमें ऐसी विशेषताएँ उपलब्ध नहीं हैं जिनमें अन्य सामी भाषाओं की अपेक्षा इसका अधिक संबंध 'आरामाइक' से प्रदर्शित किया जा सके। भौगोलिक दृष्टि से, मेसोपोटेमिया की प्राचीन भाषा को 'आरा-माइक' कहा जा सकता है। इन प्राचीन अभिलेखों की तिथि भी अभी तक ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। जैसा कि कतिपय विद्वानों का मत है, यदि इनमें से कुछ अभिलेख ईसा से चार सहस्र वर्ष पूर्व के हैं तो इनमें सामी भाषा के प्राचीनतमरूप सुरक्षित होंगे।

यदि प्राचीनतम सामी साहित्य के पूर्व, सामीतर सुमेरो ऐकेडियन सभ्यता थी जैसा कि कतिपय विद्वान् मानते हैं, तो हमें एक ऐसे साहित्य की प्राप्ति की आशा करनी चाहिए जो मिस्र (एजिप्ट) एवं चीन के प्राचीनतम साहित्य से भी प्राचीन था। ऐसा संभव है, किन्तु अभी तक भाषा एवं विचार की दृष्टि से इस कोटि के पुरातन साहित्य का आभास नहीं मिलता है। वाणमुख-लिपि में लिखित अभिलेखों की भाषा के अध्ययन एवं विश्लेषण का कार्य चल रहा है और प्रतिवर्ष कुछ नूतन सामग्री भी उपलब्ध हो रही है, किन्तु इस नवीन सामग्री के आधार पर पूर्व के इतिहास को अभी पुनर्गठित करने का प्रयास भयावह होगा।

## चाल्डी, एवं सिरियक

बेबिलन एवं निनवेह के प्राचीन राज्यों में, ऐतिहासिक युग में जो भाषा प्रचलित थी वह 'आरामाइक' थी। यहाँ से इस भाषा का प्रसार सीरिया एवं

पैलेस्टाइन की ओर हुआ था। इन देशों के राजनैतिक एवं साहित्यिक प्रभाव के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि आरामाइक कुछ समय के लिए इन देशों में माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने लगी थी और फ़ारस, सीरिया, एशियामाइनर, मिस्र तथा अरब तक इसका प्रभाव बढ़ चला था।

कैनान (Canaan) जाने के पूर्व अब्राहम एवं उनके लोग संभवतः आरामाइक भाषा ही बोलते थे, लेबान (Laban) भी यही भाषा बोलते थे, तथा, उनके एवं जैकब (Jacob) के बीच साक्षी के रूप में जो प्रस्तर राशि थी उसके लिए उन्होंने सीरियक भाषा के 'जेगर-सहदुथ' शब्द का प्रयोग किया था। जैकब ने गलीद कहा था जो स्पष्ट रूप से हिब्रू शब्द है।

यहूदी लोग जिस आरामाइक भाषा का प्रयोग करते थे वह बाद के ईसाई लेखकों द्वारा प्रयुक्त आरामाइक से भिन्न थी। इनमें से पहले को चाल्डी (Chaldee) तथा दूसरे को सिरियक नाम से अभिहित किया जाता था। यह सत्य है कि बेबिलोनिया में बन्दी अवस्था से मुक्त होकर जो यहूदी लोग पैलेस्टाइन आए थे उन्होंने भ्रम-वश यहाँ की भाषा को चाल्डी (chaldee) कहना आरंभ किया था। किन्तु यह नाम इतने दीर्घकाल तक प्रचलित रहा कि अब इसके स्थान पर पश्चिमी आरामाइक शब्द को रखना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

यहूदी चाल्डी के प्रथम नमूने हमें पुरानी बाइबिल के कुछ अंशों में उपलब्ध होते हैं। इसके बाद इसका प्रयोग 'तारगुम' अथवा व्याख्या के लिए हुआ है। ये व्याख्यायें सिनगागों में पढ़ी जाती थीं। बाद में चौथी तथा पाँचवीं शताब्दी में इनका संकलन हुआ था। जेरुसलम 'तारगुम' एवं जेरूसलम 'लालमुद', चाल्डी भाषा के वे नमूने हैं, जिन्हें यहूदी लोग जेरूसलम एवं गैलिली में बोलते थे। ईसा एवं उनके शिष्य अपने उपदेश के समय इसी आरामाइक बोली का प्रयोग करते रहे होंगे। यद्यपि वे ग्रीक भाषा का भी प्रयोग करते थे। नयी बाइबिल (New Testament) में ईसा ने अपनी मातृभाषा चाल्डी के जिन कतिपय शब्दों का प्रयोग किया है, वे हैं :—'तालिथ', 'कुमि', 'एफ्फथ' एवं 'अब्बा'। कभी-कभी लोग भ्रम-वश इन्हें हिब्रू समझ बैठते हैं। जेरुसेलम के विनष्ट हो जाने के बाद यहूदी साहित्य चाल्डी में ही लिखा जाता रहा। जेरुसेलम की चौथी शताब्दी तथा बेबिलिन की पाँचवीं शताब्दी के 'तालमद' में शिक्षित यहूदियों के बोलचाल की भाषा के नमूने मिलते हैं। यद्यपि इनमें अनेक विदेशी तत्वों (शब्दों) का सम्मिश्रण हो गया है। सातवीं

शताब्दी में अरब विजय एवं उनकी भाषा अरबी के प्रसार के परिणामस्वरूप 'चाल्डी' में साहित्य-रचना को आघात पहुँचा, किन्तु इसके बाद दसवीं शताब्दी तक यह यहूदी लोगों की साहित्य-रचना की भाषा बनी रही। पुरानी बाइबिल (old Testament) कि 'मिसोरा' एवं परम्परागत भाष्य, संभवतः इसी समय लिखे गए थे। इसके शीघ्र ही बाद यहूदी लोगों ने साहित्य-रचना के लिए अरबी को स्वीकृत किया और तेरहवीं शताब्दी तक इसमें साहित्य-रचना का कार्य होता रहा। इसके उपरान्त ये आधुनिक हिब्रू की ओर लौटे। आज भी 'रब्बिस' लोग पाण्डित्यपूर्ण वाद-विवाद में इस भाषा का प्रयोग करते हैं।

'सैमेरिटन' को भी हम 'आरामाइक' की एक बोली कह सकते हैं। यहूदी लोगों द्वारा व्यवहृत चाल्डी एवं इसमें बहुत कम अन्तर है।

मैन्डियन्स (Mandaeans) अथवा 'मैनडाइट्स' (Mendaites) तथा नैसोरियन्स (Nasoreans) जो बेबिलोनिया के मिश्रित ईसाई धर्मावलम्बी हैं तथा जो बसरा, मुख्यरूप से बसोरा (Bassora) के निकट रहते हैं, अपभ्रष्ट आरामाइक बोली बोलते एवं लिखते हैं। इस धर्म के कतिपय बचे-खुचे लोगों में आज भी यह बोली सुरक्षित है। इस बोली में लिखित आदम की किताब (Book of Adam) विख्यात है। यद्यपि इनका साहित्य दसवीं शताब्दी से पुराना नहीं है तथापि लोगों का ख्याल है कि इसमें प्राचीन बेबिलोनिया के कुछ विचार सुरक्षित हैं। ये 'मैन्डियन' लोग वास्तव में 'नबेटियन' (Nabateans) लोग हैं, जिनका दसवीं शताब्दी तक उल्लेख मिलता है तथा जो यहूदी, ईसाई एवं मुसलमानों से पृथक काफ़िर कहे गए हैं। अरबी भाषा में केवल बेबिलोनिया के लोगों को 'नबेटियन' नहीं कहा गया है, अपितु 'दजला' और 'फरात' नदियों के बीच बसे हुए सभी आरामाइक लोगों को इसी नाम से अभिहित किया गया है। ईस्वी सन् के आरंभ में भी नबेटियन लोगों का उल्लेख मिलता है तथा इन्हें ज्योतिष एवं विज्ञान में विज्ञ कहा गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये लोग प्राचीन बेबिलन एवं चाल्डी लोगों के ही वंशज हैं। अरबी में नेबेटियन (Nabatean) शीर्षक एक अनूदित पुस्तक उपलब्ध है। इसका अनुवादक 'इब्न-वहशिया' था जो चाल्डी था। यह अनुवाद ९०० ई० में हुआ था। ईसा पूर्व १३०० के आरंभ में 'कुथामी' (Kuthami) ने आर्मियन भाषा में एक पुस्तक लिखी थी। वास्तव में इब्न-वहशिया ने इसी पुस्तक को अरबी में अनूदित किया था।

रेनन ने यह स्पष्टरूप से सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में इस पुस्तक का संकलन एक 'नबेटियन' ने ४०० ई० में किया था। यद्यपि इस पुस्तक में बेबिलोनिया के राजाओं की प्राचीन परम्परा की सामग्री मिलती है, तथापि इसे आर्मियन लोगों की प्राचीन संस्कृति को प्रदर्शित करनेवाला प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

यद्यपि ईसाई धर्म के बहुत पूर्व समय से ही सिरियक भाषा बोलचाल के रूप में थी, तथापि इसमें साहित्यिक रचना करनेवाले ईसाई धर्मावलम्बी हुए। पुरानी एवं नई बाइबिलों का अनुवाद कार्य सिरियक भाषा में द्वितीय शताब्दी ईस्वी में संपन्न हुआ था। सिरिया के एडेस्सा (Edessa) तथा अन्य विद्या-केन्द्रों में इन्हीं अनुवादों का पाठ प्रचलित था। तीसरी तथा सातवीं शताब्दी के बीच इसमें पुष्कलमात्रा में साहित्य-रचना हुई तथा इसका प्रभाव फ़ारस एवं पूर्वी रोमन साम्राज्य के देशों पर भी पड़ा।' एफ्रेम सायरस' (Ephraem syrus) चौथी शती के मध्य में वर्तमान था। आठवीं एवं नवीं शताब्दी में सिरिया के 'नेस्टोरियन' ईसाई लोग अरब लोगों के शिक्षक थे, किन्तु अपनी मातृभाषा में वे साहित्यिक रचना न कर सके। इस भाषा में साहित्य-निर्माण का कार्य ग्रेगोरियस बारहेब्रस (अबुल फरज) (Gregorius-Barhebraeus= Abulfaraj) ने पुनः तेरहवीं शताब्दी में आरंभ किया था, तब से आज तक इसमें साहित्य-रचना की परम्परा चल रही है।

नूतन सिरियक बोलियाँ साहित्यिक सिरियक से व्युत्पन्न नहीं हैं, अपितु ये बोलचाल की आरामाइक भाषा के अवशेष हैं। निकटवर्ती प्रदेश के नेस्टोरियन ईसाई, मोसल के निकटवर्ती प्रदेश के नेस्टोरियन ईसाई, वान एवं उर्मिया झीलों तक के कुर्दिस्तान एवं मेसोपोटेमिया के ईसाई लोग, इसे बोलचाल में व्यवहृत करते हैं। ईसाई मिशनरियों के प्रयास के फलस्वरूप इनमें से एक बोली में साहित्य-रचना भी होने लगी है।

## हेब्राइक

सामी परिवार की द्वितीय शाखा के अन्तर्गत 'फोनेशियन' एवं 'कार्थेजिनियन' दो भाषाएँ आती हैं। फोनेशियन के संबंध में हमें उसके ई० पू० ६०० के अभिलेखों से ज्ञात है और कार्थेजिनियन सम्बन्धी हमारे ज्ञान का आधार प्राचीन बाइबिल की हिब्रू है।

मोबाइट लोग हिब्रू के समान ही भाषा बोलते थे। यह राजा मेशा के ई० पू० ९०० के अभिलेख से सिद्ध हो जाता है। 'फिलिस्तीन' लोग भी

हिब्रू की एक बोली बोलते थे। मैकाबियों के समय में हिब्रू तथा इनकी अन्य बोलियाँ जनता की बोलचाल के क्षेत्र से उठ गईं, किन्तु टाइटस द्वारा जेरुसेलम के विध्वंस किए जाने के बाद भी यह बहुत दिनों तक पंडितों एवं विद्वानों की भाषा थी। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि किसप्रकार बेबिलन एवं सिरिया के राजनैतिक प्रभाव एवं प्रभुता के कारण हिब्रू-क्षेत्र में आरमाइक का प्रवेश हो गया। इसके पश्चात् पूरब के अन्य प्रदेशों की भाँति कुछ समय के लिए ग्रीक सभ्यता एवं संस्कृति की भाषा बन गई और अन्त में सन् ६३६ में, पैलेस्टाइन एवं सिरिया की विजय के उपरान्त 'आरामाइक' एवं हिब्रू के क्षेत्र में अरबी भाषा प्रभावशाली बन गई। आज एशिया तथा यूरप में फैले हुए यहूदी लोग वार्तालाप एवं साहित्यिक कार्य के लिए एक प्रकार की अपभ्रष्ट हिब्रू भाषा का प्रयोग करते हैं।

## अरबी

सामी भाषा की तृतीय शाखा अरबी है। इसका मूल स्थान 'अरब' का प्रायद्वीप है और यहाँ के अधिकांश निवासी इसका शुद्धतम रूप बोलते हैं। मुस्लिम-विजय के साथ-साथ यहीं से अरबी का प्रसार-प्रचार एशिया, अफ्रीका एवं यूरप के विभिन्न देशों में हुआ है।

अरबी में मुहम्मद के युग के पूर्व की साहित्यिक सामग्री मिलती है। इन्हें 'मो-अल्लकात' कहते हैं। इसके इस नामकरण का कारण यह है कि ये मक्का में इनका खुलेआम प्रदर्शन किया गया है। ये पुरानी जनप्रिय कविताएँ हैं और इनमें रेगिस्तानी जीवन का वर्णन है। इनके अतिरिक्त मुहम्मद के पूर्व के अरबी के प्राचीन छै कवियों के दीवान भी उपलब्ध हैं।

हिज़ाज में ईस्वी सन् के पूर्व के अभिलेख भी उपलब्ध हैं। इन्हें सामान्य रूप से 'थामुडिक' कहा जाता है। इसीप्रकार के अरबी के अन्य अभिलेख भी मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मुहम्मद के बहुत पूर्व समय से सुसंस्कृत अरबी में जो त्रिभाषी-आरामाइक, अरबी एवं ग्रीक में लिखित अभिलेख मिला है, वह ५१३ ई० का है। इसीप्रकार हरन के द्विभाषी-अरबी एवं ग्रीक- शिलालेख की तिथि ५६८ ई० है।

मुहम्मद के उदय के साथ-साथ अरबी, विजयी धर्म एवं साहित्य की भाषा बन गई और एशिया, अफ्रीका एवं कुछ समय के लिये यूरप में भी उसका प्रवेश हो गया। कुरान की भाषा तो नूतन प्रकार की साहित्यिक श्रेष्ठता की भाषा बन गई। कुरान का प्रणयन सातवीं शताब्दी में हुआ था, किन्तु उसे आज भी

अरब के लोग पढ़ते हैं तथा समझ भी लेते हैं। मिस्र, अल्जीरिया, सिरिया एवं अरब में बोली जानेवाली अरबी भाषा में भिन्नता है। माल्टा में भी अरबी की एक बोली प्रचलित है।

## हिम्यरिटिक अभिलेख

अरब के प्रायद्वीप के दक्षिण में एक अति प्राचीन सभ्यता का अस्तित्व मिलता है। इसे कभी-कभी लोग 'सैबियन' सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं। इसके अवशेष वृहत्काय स्मारकों एवं अनेक अभिलेखों में उपलब्ध हुए हैं। इन अभिलेखों में एक विचित्र लिपि का प्रयोग किया है, जिसे हिम्यरिटिक कहते हैं। इन अभिलेखों का समय ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि से चौथी शताब्दी तक है। सैबियन अभिलेखों की भाषा में कई बोलियों के शेष चिह्न मिलते हैं, किन्तु इन सभी बोलियों का अरबी से अति निकट का संबंध है। इस्लाम के उदय के पूर्व प्रायद्वीप के, संभवतः, दक्षिण ओर सैबियन भाषाओं का प्रसार था। इसके उपरान्त समस्त 'यमन' प्रदेश में अरबी भाषा का प्रचलन हो गया।

## एथियोपिक

अत्यन्त प्राचीन काल में अरब अथवा सैबिया से सामी भाषा-भाषी लोगों का एक समूह अफ्रीका की ओर चला गया। इस समूह ने मिस्र एवं नुबिया के दक्षिण में बसकर एक उपनिवेश बना लिया। इनकी भाषा का सैबियन एवं अरबी से अति निकट का संबंध है। यह भाषा 'एथियोपिक', 'ऐबिसिनियन' अथवा 'गीज़' है। एथियोपिक भाषा में बाइबिल का जो अनुवाद उपलब्ध है, वह तीसरी-चौथी शताब्दी का है। इसके बाद का भी इसमें जो साहित्य उपलब्ध है, वह धार्मिक ही है। प्राचीन एथियोपिक भाषा के कई अभिलेख भी प्राप्त हैं। ये 'एक्सुम' (Axum) के राज्य-काल के समय के हैं और इनका समय ३५० ई० से ५०० ई० के बीच है।

प्राचीन एथियोपिक भाषा नवीं शताब्दी से बोलचाल से उठ गई थी, किन्तु साहित्य में इसका प्रयोग बहुत बाद तक चलता रहा।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के आरंभ से नव्य एथियोपिक अथवा 'एम्हरिक' का प्रचलन हुआ था। इसमें सामी भाषा का रूप बहुत कुछ बदल गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इसके बोलने वाले लोग संभवतः हैमेटिक जाति के थे। इस भाषा का आज भी प्रसार हो रहा है और इसमें नवीन साहित्य का सर्जन हो रहा है।

इसकी अन्य बोलियाँ 'टिग्रे' (Tigre), 'एखिली' (Ekhili) एवं 'हर्री' (Harrari) हैं । इनके ये नामकरण इनके बोलने के स्थानों के नाम पर किये गये हैं। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ये 'एम्हरिक' के ही भेद हैं, अथवा ये प्राचीन स्वतंत्र बोलियों से प्रादुर्भूत हैं।

## सामी भाषाओं में पारिवारिक समता

जिसप्रकार आर्य भाषाओं में पारिवारिक समता है, उसीप्रकार, अपितु उससे कहीं अधिक सामी भाषाओं में पारिवारिक समता है। इनमें कंठ्य-ध्वनियों का प्राधान्य है। इसकी धातुएँ त्र्यक्षरिक हैं तथा सर्वनामीय प्रत्ययों एवं उपसर्गों के संयोग से ये परिवर्तित होती हैं। इसकी व्याकरणीय विशेषता यह है कि इसमें स्वरों के परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन होता है और ये स्वर इस रूप में स्थिर होते हैं कि इन्हें लिखने की आवश्यकता नहीं होती। सामी भाषाओं की इस विशिष्टता का इस कठोर रूप में विकास हुआ है कि आज यह कल्पना भी नितान्त असंभव है कि सामी आर्यभाषा से प्रादुर्भूत हुई है अथवा आर्य भाषा सामी से। विद्वानों के सामने कभी-कभी यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ये दोनों परिवारों की भाषाएँ किसी एक स्रोत से व्युत्पन्न हुई हैं? इस प्रश्न का उत्तर लोग व्यक्तिगत विचारों के अनुसार देते हैं। बहुत संभव है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ये दोनों किसी एक ही स्रोत से प्रादुर्भूत हुई हों, किन्तु इसके पक्ष-विपक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं, वे इतने अल्प एवं आनुमानिक हैं कि ये व्यवहारिक भाषाशास्त्र के परिधि के भीतर नहीं आते।

## अध्याय ९

# भाषा का विश्लेषण

आर्य एवं सामी परिवार की भाषाओं के अतिरिक्त अन्य परिवारों के संबंध में विचार करने के पूर्व भाषा के विभिन्न अवयवों (विभिन्न तत्वों) के संबंध में विचार करना आवश्यक है और यह देखना है कि कितने प्रकार से इन तत्वों का संयोजन हो सकता है, क्योंकि इन तत्वों के संयोजन के सहारे ही उस सिद्धान्त को ढूँढ़ निकाला गया है, जिसके आधार पर भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण संभव है।

## मौलिक तथा औपचारिक तत्व

जैसा कि हम देख चुके हैं, आर्य तथा सामी भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार उनकी व्याकरणीय विशेषताओं का सघन तुलनात्मक अध्ययन है। बॉप्प के द्वारा प्रणीत संस्कृत, ज़ेन्द, ग्रीक, लैटिन, केल्टिक, ट्यूट-निक एवं स्लावोनिक के तुलनात्मक व्याकरण का उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना था कि इन भाषाओं का व्याकरणीय ग्रन्थन सदा के लिए निर्धारित हो चुका था और संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन के प्रत्ययों में जो वाह्य अन्तर दृष्टि-गोचर होता है, उसका कारण इन भाषाओं के ध्वनि परिवर्तन संबंधी नियम हैं। इन परिवर्तनों के कारण ही मूल भाषा से विच्छिन्न होकर आज ये स्वतंत्र रूप में दिखलाई देती हैं। जब भाषाओं का पारिवारिक संबंध निर्धारित हो गया तब तुलनात्मक व्याकरण का कार्य भी पूरा हो गया और इसके उपरान्त शब्द तथा धातुरूप, कारक, लिंग एवं वचन आदि की व्याख्या में कोई कठिनाई नहीं हुई। बॉप्प, ग्रिम, पॉट, बेन्फे, कुर्टियस, कुहन तथा अन्य विद्वानों ने आर्य परिवार की भाषाओं का परिश्रमपूर्वक गहन अध्ययन करके जिस तुलनात्मक प्रणाली की स्थापना की थी, उसका भाषा विज्ञान के अध्ययन में सदैव एक विशिष्ट स्थान रहेगा।

तुलना के अतिरिक्त तुलनात्मक व्याकरण के कुछ और भी कार्य हैं। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा आर्य परिवार की अन्य-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप उनके सुप्तिङ प्रत्ययों में समता एवं विषमता को तो

खोज निकालना सरल है, किन्तु जब ध्वनि-परिवर्तन संबंधी नियमों की सहायता से इनकी सभी बातों की व्याख्या कर लेते हैं, उसके बाद भी व्याख्या कर लेने के लिए कुछ बातें शेष रह जाती हैं। प्रायः सभी भाषाविज्ञानी सामान्यतया इस बात को स्वीकार करते हैं कि आज के व्याकरणीय प्रत्यय किसी समय स्वतंत्र शब्द थे और उनका अपना अर्थ एवं उद्देश्य भी था। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या तुलनात्मक व्याकरण के द्वारा आर्य भाषा के इन स्वतंत्र शब्दों एवं उनके मूल अर्थ को खोज निकालना संभव है? आप लोगों को यह स्मरण होगा कि इसी बिन्दु से हम लोगों ने अपने अध्ययन का आरंभ किया था। हम लोग यह जानना चाहते थे कि I loved में d प्रत्यय के संयोग से वर्तमान काल अतीतकाल में क्यों परिणत हो गया? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें अंग्रेजी से गॉथिक और गॉथिक से संस्कृत के मूल प्रत्यय की खोज करनी पड़ी थी। आर्य तथा सामी परिवारों की प्रणाली के सर्वेक्षण के पश्चात्, मैं पुनः अपने मूल प्रश्न पर लौटता हूँ। वह प्रश्न यह है कि वास्तव में भाषा है, क्या, जिसमें 'I love' को 'I loved' में परिवर्तित कर देने से इतना अधिक अन्तर आ जाता है।

अब मुझे इस संबंध में विचार करना है कि भाषा के प्रकृत (मूल) तथा उसके औपचारिक (formal) तत्त्वों में क्या भेद है? औपचारिक तत्त्व से मेरा केवल सुप्-तिङ प्रत्ययों से ही तात्पर्य नहीं है, किन्तु उन सभी अन्य व्युत्पन्न प्रत्ययों से है, जो प्रकृत के अतिरिक्त व्यवहृत होते हैं। भाषा की उत्पत्ति के संबंध में हमारा दृष्टिकोण इसी पर निर्भर है कि इन प्रकृत एवं औपचारिक तत्वों के संबंध में हमरा दृष्टिकोण क्या है? जो लोग भाषा को परम्परागत वस्तु मानते हैं, उनके तर्क मुख्यरूप से इन्हीं औपचारिक तत्वों पर निर्भर होते हैं। उनका कहना है कि शब्दों की रूप-प्रक्रिया से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि मानव ने पारस्परिक स्वीकृति से भाषा का निर्माण किया था। इनके अनुसार प्रत्यय यथार्थतः अर्थहीन वर्ण अथवा अक्षर हैं, और 'I love' में केवल 'd' के संयोग करने से अर्थ में जो परिवर्तन आ जाता है, उसका कारण यह है कि विश्व के इतिहास में अतिप्राचीनकाल में एक ऐसा युग था जब किसी वंश अथवा जाति के लोगों ने इसप्रकार के परिवर्तन को स्वीकार कर लिया था।

ऊपर की विचारधारा के प्रतिपक्षी लोगों के अनुसार भाषा एक सजीव वस्तु है और इसमें औपचारिक रूप से जो प्रत्ययादि संयुक्त होते हैं, वे इसके

विकास के कारण व्युत्पन्न होते हैं। इनके अनुसार भाषा एक विकासशील सजीव वस्तु है। जिसप्रकार फूल के पत्ते, उसकी कली में विद्यमान रहते हैं और सूर्य एवं वायु से समय पर खिल उठते हैं, उसीप्रकार आदिकालीन भाषा में भी इसके सभी तत्व पूर्ण रूप से निहित होते हैं और समय की प्रगति के साथ-साथ ये विकसित होते हैं। इस मत के सर्वप्रथम प्रतिपादक फ्रेडरिक श्लेगेल थे।

भाषा विज्ञान को ऊपर के दोनों विचार स्वीकार नहीं हैं। एकवचन, बहुवचन, कारकों के संबंध एवं कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य के निर्धारण के लिए मनुष्य कहीं एकत्र हुए होंगे और एक ऐसी भाषा में परस्पर वाद-विवाद किए होंगे, जो अपनी आद्यावस्था में थी, यह बात नितान्त अविश्वसनीय प्रतीत होती है। इसीप्रकार इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि आद्य भाषा में इसके सभी तत्व, संज्ञा, क्रिया आदि वर्तमान थे और ये क्रमशः विकसित हुए थे। भाषा की कल्पना एक निर्मित वस्तु के रूप में तो की जा सकती है, किन्तु यह ऐसी वस्तु नहीं मानी जा सकती जो स्वयं उत्पन्न हो सके।

भाषा-विज्ञान को केवल सिद्धान्त से कुछ मतलब नहीं है, चाहे वह कल्पनीय हो अथवा न हो। इसका कार्य तो तथ्य का संग्रह तथा जहाँ तक सम्भव है, इन तथ्यों के कारणों की खोज करना है। शब्दरूपों को सामान्यतया परम्परागत अथवा स्वाभाविक प्रवृद्धि स्वीकार करने की अपेक्षा भाषा-शास्त्री प्रत्येक को अलग-अलग लेकर तुलनात्मक रीति से इसके प्राचीनतम रूप की खोज करता है और तदुपरान्त इस प्राचीनतम रूप के संबंध में उतनी ही गहराई के साथ विचार करता है जितना भाषा के अन्य किसी भाग के संबंध में वह विचार करता है। यह सच है कि अभी तक हम भाषा के प्रत्येक भाग के मूल उद्देश्य के संबंध में पता लगाने में सफल नहीं हो सके हैं और न अनेक प्राचीनतम व्याकरणीय रूपों के अर्थ का ही हमें ज्ञान है, किन्तु प्रत्येक वर्ष भाषा के संबंध में नूतन खोजें हो रही हैं और इसप्रकार भाषा के रहस्य का हमें ज्ञान हो रहा है। इसमें तनिक भी सन्देह के लिए स्थान नहीं है कि भविष्य में व्याकरणीय विश्लेषण का कार्य भी उतनी ही सफलता से सम्पन्न होने लगेगा जिसप्रकार आज रसायनिक विश्लेषण का कार्य सम्पन्न हो रहा है। कभी-कभी हमें व्याकरण अति कठिन एवं जटिल प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह जितना कठिन समझा जाता है, उतना कठिन है नहीं। अन्ततोगत्वा व्याकरण में शब्द एवं धातुरूपों के अतिरिक्त और क्या है ? इसीप्रकार शब्द

रूप भी मूलतः संज्ञा के साथ वचन एवं कारक को व्यक्त करनेवाले शब्द का संयोजन हैं। हम पिछले अध्याय में यह देख चुके हैं कि वचन को किसप्रकार व्यक्त किया जाता है। इसीप्रकार की प्रक्रिया कारक को व्यक्त करने की भी है।

## सभी कारक मूलतः स्थानीय थे

चीनी भाषा में अधिकरण कारक कई प्रकार से सम्पन्न होता है। इनमें से एक 'चुङ' (Cung) 'मध्य' अथवा 'नेइ' (nei) भीतर जैसे शब्दों के संयुक्त करने से सम्पन्न होता है। इस तरह चीनी में 'कुओ-चुङ्' (Kuo-Cung) से तात्पर्य होता है 'राज्य में' तथा 'इ सुई चुङ' (isui Cung) का अर्थ होता है 'वर्ष के भीतर'। इसी प्रकार 'य्' (Y) उपसर्ग संयुक्त करके चीनी में करण कारक सम्पन्न होता है। यह चीन का पुराना धातु-शब्द है और इसका अर्थ हैं "इस्तेमाल करना या प्रयोग करना"। चीनी में 'य तिङ्' (yting) से तात्पर्य होता है 'छड़ी से'। लैटिन में जहाँ अपादान (पंचमी) का प्रयोग होता हैं वहाँ ग्रीक में सम्प्रदान (चतुर्थी) प्रयुक्त होता हैं। ग्रीक तथा लैटिन में शब्दरूप चाहे जितने भी नियमित अथवा अनियमित हों, यह निश्चित है कि मूलतः ये पूर्ण शब्दों को संयुक्त करके सम्पन्न होते थे।

मूलतः सभी आर्य-भाषाओं में एक अत्यन्त उपयोगी कारक था जो अधिकरण के नाम से अभिहित किया जाता था। यूरप के वैयाकरणों ने इसका नाम 'लोकेटिव' (Locative) रखा था, क्योंकि इसका आधार कोई स्थान विशेष होता था। संस्कृत में प्रत्येक संज्ञा के संबंध, सम्प्रदान तथा कर्म के रूप होते हैं। अंग्रेजी 'हॉर्ट' (heart) के लिए संस्कृत में 'हृद' शब्द प्रयुक्त होता हैं, किन्तु 'हृदय में' के लिए 'हृदि' शब्द आता हैं। यहाँ पर अधिकरण का प्रत्यय 'इ' हैं। इस 'इ' को निर्देशक धातु कहा जा सकता है और अंग्रेजी का पूर्व-प्रत्यय इन (in) की उत्पत्ति भी इस 'इ' से ही हुई हैं। इसप्रकार 'हृदि' मूल संस्कृत सामासिक शब्द "हृदय यहाँ" अथवा "हृदय-मध्य" का प्रतिनिधि अथवा प्रतिरूप हैं, जो कालान्तर में धीरे-धीरे व्यंजनान्त संज्ञा शब्दों का कारकीय रूप बन गया है। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि चीनी भाषा में अधिकरणकारक इसीरूप में व्यक्त किया जाता है, किन्तु वहाँ स्थान व्यक्त करने के लिए अधिक स्वतंत्रता रहती हैं। वहाँ 'राज्य में' के लिए 'कुओचुङ (Kuo-Cung) कहा जाता है, किन्तु 'वर्ष के भीतर' के लिए "इ सुई चुङ"

(i Sui cung) का व्यवहार होता है। यहाँ 'चुङ' के स्थान पर 'नेइ' शब्द भी व्यवहृत हो सकता है।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि अधिकरण जैसे प्राचीन कारक की व्याख्या तो उतनी कठिन नहीं है, किन्तु अन्य अमूर्त कारकों, कर्म, सम्प्रदान, संबंध की व्याख्या उतनी आसान नहीं हैं, किन्तु यहाँ हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये व्याकरण की वे सामान्य कोटियाँ हैं, जिनके अन्तर्गत दार्शनिकों एवं वैयाकरणों ने भाषा संबंधी तथ्यों को रखने का प्रयास किया है। जिन लोगों के मध्य भाषा, विकसित हुई थी, उन्हें सम्प्रदान एवं कर्म का बिलकुल ज्ञान न था। आज भाषा में जो कुछ अमूर्त दृष्टिगोचर होता है, वह मूलतः मूर्त था। आज कारक कर्ता, कर्म, क्रिया, करण, कारण द्वारा जो संबंध व्यक्त किए जाते हैं, वे मूलतः मूर्त एवं स्थानीय थे।

'रोम के राजा' कहने के पूर्व लोग 'रोम पर राजा' कहते थे। उनकी विचारधारा में अभी तक संबंध कारक की अमूर्त भावना नहीं आई थी। कई भाषाओं में तो संबंध कारक के स्थान पर अधिकरण कारक का ही प्रयोग प्रचलित था। अकाडियन (Accadian) भाषा में तो संबंध कारक में भी अधिकरण के ही प्रत्यय का प्रयोग होता है, यहाँ 'देवताओं के राजा' के लिए 'देवताओं में राजा' कहा जाता है। लैटिन में प्रयुक्त षष्टी विभक्ति 'oe' मूलतः 'a' थी a जो प्राचीन सप्तमी विभक्ति 'इ' का प्रतिरूप थी।

ऊपर के तथ्यों पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि व्याकरण का अध्यापन जितनी तर्कपूर्ण शैली में होना चाहिये उतना नहीं होता है। स्कूल में छात्रों को यह पढ़ाया जाता है कि यदि वह कहना चाहता है कि "मैं रोम में निवास कर रहा हूँ" (I am staying at Rome) तो उसे सप्तमी के स्थान पर षष्टी का प्रयोग करना चाहिए। वैयाकरण अथवा तार्किक अधिकरण कारक को संबंध में क्यों परिणत कर देता है, यहाँ इसकी व्याख्या करना मेरा उद्देश्य नहीं है, किन्तु जब उसके आदेशानुसार कोई व्यक्ति—'Carthage' एवं 'Athens' के षष्टी के रूपों 'Carthaginis एवं Athenarum' का प्रयोग करेगा तो वह तुरन्त कहेगा कि यहाँ आकारान्त शब्दों की भाँति षष्टी का प्रयोग न होगा। दार्शनिक दृष्टि से लिखित व्याकरण में इसप्रकार की जटिलता क्यों आई, यह हमें ज्ञात नहीं है, किन्तु जब हम तुलनात्मक व्याकरण की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं तो इसकी व्याख्या में हमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। ऊपर के कारक-रूपी

की व्याख्या यह है कि—'Carthaginis" एवं '*Athenarum*' वास्तविक संबंध कारक हैं, अतएव अधिकरण कारक को व्यक्त करने के लिए इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। विशेष स्थान में अधिकरण का भाव, संबंध व्यक्त कर सकता है, किन्तु संबंध अधिकरण का भाव व्यक्त नहीं कर सकता।

प्रो० बॉप्प एवं डा० रोज़ेन की भाँति मेरा भी यही मत है कि षष्ठी आकारान्त स्त्रीलिंग एक वचन संज्ञा का लैटिन का रूप मूलतः सप्तमी का रूप है। इसके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे मुझे अवगत हैं किन्तु बॉप्प की भाँति उनकी मैं चिन्ता नहीं करता। बॉप्प ने अपने तुलनात्मक व्याकरण के द्वितीय संस्करण में पुनः एक बार इसकी समीचीनता पर बल दिया है। यह बात निर्विवाद है कि जो संबंध षष्ठी के द्वारा व्यक्त किया जाता है, वह सप्तमी के द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि संस्कृत के द्विवचन के रूप में, षष्ठी एवं सप्तमी, दोनों के, प्रत्यय एक ही हैं। चूंकि यह सिद्ध करना कठिन है कि षष्ठी (संबंध कारक) के द्वारा आधार स्थान की व्यंजना नहीं की जा सकती, अतएव लैटिन द्विवचन षष्ठी एवं सप्तमी का ओस (–os) प्रत्यय, मूलतः सप्तमी का ही प्रत्यय था। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक की भांति ही लैटिन में भी षष्ठी के रूप स् (–s ) प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होते थे। उदाहरणार्थ यह प्रत्यय escas, monetas, 'terras' एवं fortunas, जैसे शब्दों में वर्तमान है। इसीप्रकार Pater familias में यह familias में भी सुरक्षित है। ओस्कन, अम्ब्रियन तथा सैबेलियन, भाषाओं में भी षष्ठी के ये रूप मिलते हैं। यह सत्य है कि प्राचीन शिलालेखों में उपलब्ध सामग्री—Proserpinoe के स्थान पर Prosepnais के के आधार पर रिशल (Ritschl) इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि लैटिन के षष्ठी के रूप —ais प्रत्यय से सम्पन्न होते हैं। इसके साथ ही इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है कि—aes से अन्त होने वाले Dianaes, Juliaes जैसे निर्बलरूप अधिक संख्या में मिलते हैं तथा ऐसे रूपों का प्रयोग बहुत बाद के सम्राटों के प्रयत्न लेखों से भी मिलता है। इस संबंध में इतना ही निवेदन है कि अब यह सिद्ध हो गया है कि ये रूप लैटिन के नहीं, अपितु ग्रीक के हैं और यदि ये लैटिन के रूप हों तो इन्हें वह मूलरूप नहीं स्वीकार किया जा सकता, जिनसे षष्ठी के 'आई' एवं 'अए' से अन्त होनेवाले सामान्यरूप व्युत्पन्न हुए हैं। लैटिन में अन्तिम —स् (s) का लोप

हो जाता है, किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ऐसा ह्रस्व स्वरों के बाद ही होता है। इसप्रकार 'us' के स्थान पर हमें 'a' (ह्रस्व) 'ओ', amaris के स्थान पर 'amare' एवं potis के बदले' Pote मिलता है, किन्तु 'mensis' एवं 'mensas' के स्थान पर हमें चतुर्थी एवं द्वितीया के द्विवचन में 'mensi' एवं 'mensa' रूप नहीं मिलते। दीर्घस्वर के बाद केवल एक ही स्थान पर लैटिन में स' (s) के लोप का उदाहरण मिलता है। यह कर्त्ता कारक के बहुवचन का रूप है, जहाँ प्राचीन लैटिन में magistri के साथ-साथ magistreis रूप भी मिलता है, किन्तु इसे कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सका कि 'magistri' वास्तव में 'magistris' का अपभ्रष्ट रूप है। इसके विपरीत 'magistris की अपेक्षा magistri रूप पुराना है और ऐसा प्रतीत होता है कि Magistris रूप Magistroसे नहीं, अपितु Magistri से व्युत्पन्न है। लैटिन में 'acri एवं acro' दोनों शब्द साथ-साथ मिलते हैं।

ऊपर के एक उदाहरण से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों की मूल भाषा में भी षष्टी के रूप चीनी भाषा के रूपों की तरह ही सम्पन्न होते हैं। यही बात चतुर्थी के रूप के संबंध में भी है। यदि किसी बालक से यह कहा जाय कि कर्म कारक की अपेक्षा सम्प्रदान कारक में दो वस्तुओं का पारस्परिक संबंध न्यून होता है तो उसे इसमें आश्चर्य होगा, किन्तु जब उसे यह बात ज्ञात होगी कि ग्रीक में कतिपय प्रातिपादकों में किसी स्थान पर होने के लिए सम्प्रदान कारक की विभक्ति का प्रयोग करना पड़ता है तो उसे और भी अधिक आश्चर्य होगा। मैं 'सलमिस' में ठहरा हुआ हूँ (I am staying at Salamis) के लिए ग्रीक में चतुर्थी का रूप 'salamini' प्रयुक्त होगा। यदि आप यह प्रश्न पूछें कि ऐसा क्यों होता है तो तुलनात्मक व्याकरण से यह उत्तर मिलेगा कि ग्रीक के इकारान्त शब्दों में स्थानीय प्रत्यय प्रयुक्त होता था। सप्तमी विभक्ति के द्वारा चतुर्थी का भाव तो स्पष्टरूप से प्रगट किया जा सकता है, किन्तु चतुर्थी के द्वारा सप्तमी के भाव को कभी भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऊपर के उदाहरण में तथ्य की बात यह है कि 'salamini' में चतुर्थी का रूप मूलतः सप्तमी का रूप था। जहाँ हम दूसरों को कुछ देने की बात कहते हैं, वहाँ आज सम्प्रदान कारक का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु मूलतः यहाँ भी अधिकरण का ही प्रयोग होता था।

ऊपर लैटिन एवं ग्रीक के कारकों की जो व्याख्या की गई है यदि वह अत्यन्त कृत्रिम प्रतीत होती है तो यहाँ पर यह बात भी जान लेनी चाहिए

कि विश्व में आज भी ऐसी भाषाएँ हैं, जिनमें केवल एक ही कारक है और वह है अधिकरण कारक।

अमेरिका के आदिवासियों की भाषा अल्गंकियन में केवल एक ही कारक होता है और वह है स्थानवाची अथवा अधिकरण। शैम्बल लोगों की भाषा में एक मात्र कारकीय प्रत्यय 'इ' मिलता है, जो 'भीतर', पर' अथवा 'निकट' का भाव द्योतित करता है, किन्तु ठीक यही प्रक्रिया हम अपनी भाषाओं में भी पाते हैं। षष्टी का अत्यन्त भाववाची संबंध 'आत्मा का अमरत्व' (The immortality of the soul=l'immortalite de l' ame) अथवा उदाहरणार्थ चतुर्थी के भाव 'मैं अपने को ईश्वर को सौंपता हूँ' (I trust myself to God=je me fie a Dieu) को व्यक्त करने के लिए de तथा 'ad' जैसे पूर्वसर्गों (Prepositions) का प्रयोग करना पड़ता है, जिनका लैटिन में 'नीचे से' तथा 'ओर' जैसा स्थानवाची अर्थ होता है। यही नहीं अंग्रेजी के 'of' तथा 'to' पूर्वसर्ग जो जर्मन के स् (s) एवं म् (m) प्रत्ययों के बदले प्रयुक्त होते हैं, मूलतः स्थानवाची पूर्वसर्ग हैं। हम लोगों की आधुनिक भाषाओं तथा आर्यों की प्राचीन भाषाओं के कारकीय प्रत्ययों में यही अन्तर है कि जहाँ आधुनिक भाषाओं में ये प्रत्यय पूर्व प्रत्यय अथवा पूर्वसर्ग के रूप में व्यवहृत होते हैं, वहाँ प्राचीन भाषाओं में ये अन्त में संयुक्त होते हैं।

यह प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है कि कर्ता एवं कर्म कारक अन्य कारकों से भिन्न हैं और ग्रीक भाषा में तो कर्ता को कारक ही नहीं माना जाता था, किन्तु यदि कर्ता कारक के पुलिंग में 'स्' (s) विभक्ति थी तो मूलतः यह भी स्थानवाची अथवा निर्देशक थी। इसका आरंभ 'यहाँ' (here) अथवा 'यह' (this) में हुआ था और कर्म कारक मूलतः 'वहाँ का' जैसा स्थानवाची संबंध व्यक्त करता था। यहाँ 'वृक्ष काटना' को 'वृक्ष की ओर जाकर काटना' तथा 'रोम को जाना' (Romam eo) को 'रोम की ओर जाना' कहा जाता था।

## क्रिया संबंधी प्रत्यय

जो बात संज्ञा के कारकीय प्रत्ययों की है, ठीक वही बात क्रिया के प्रत्ययों की भी है। ग्रीक एवं लैटिन के क्रियापदों में आज पुरुषवाची सर्वनामों को प्रत्यय रूप में ढूढ़ निकालना बहुत कठिन कार्य है किन्तु यह बात पूर्णतया विचार-संगत प्रतीत होती है कि मूल सभी भाषाओं के क्रियापदों के प्रत्यय रूप में पुरुषवाची सर्वनामों के रूप संयुक्त होते होंगे। आज हम लोग 'thou

lovest' (तू प्यार करता है) तथा 'he loves' (वह प्यार करता है) में क्रमशः 'st' एवं 's' प्रत्ययों को देखकर यह समझ ही नहीं पाते कि मूलतः ये दोनों 'thou' तथा he' हैं, किन्तु सभी आर्य भाषाओं को एक साथ रखकर यदि हम इनका तुलनात्मक अध्ययन करें तो अन्ततोगत्वा यही बात सिद्ध होगी।

### यस् 'र् (yes'r) तथा यस' म् (yes 'm)

इधर अंग्रेजी भाषा में जो कतिपय नूतन शब्दरूपों का निर्माण हुआ है, उनके संबंध में यहाँ विचार किया जाता है। इन रूपों में हम भाषा में नव-निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्टरूप से देख सकेंगे अथवा अच्छा होगा कि हम एक काल्पनिक उदाहरण लें और विचार करें कि भविष्य में किसप्रकार के व्याकरणीय रूप प्रादुर्भूत होंगे? थोड़ी देर के लिए कल्पना करें कि अमेरिका के दास अपने श्वेत प्रभुओं के विरुद्ध विद्रोह करके मुक्त हो गए और वे मध्य अफ्रीका के अपने पुरातन स्थान में चले गए। यह भी कल्पना करें कि अमेरिका में दास की अवस्था में रहते हुए, उन्होंने जिस संस्कृति को प्राप्त किया था, उसी के अनुसार उन्होंने अपने अफ्रीका के इस स्थान में भी नूतन संस्कृति का निर्माण किया। अब संयोग से कई शताब्दियों बाद कोई अभिनव 'लिविंग स्टोन' वहाँ जा पहुँचा तो इन दासों की भाषा, इनके साहित्य एवं इनके रहन-सहन में उसे अमेरिका की छाप मिलेगी। भविष्य के इतिहासकार एवं नृ-विज्ञानी को इसमें कितनी आश्चर्यजनक एवं रुचिकर सामग्री मिलेगी, इसे प्रत्येक विद्वान् सोच सकता है। विश्व के इतिहास में इसप्रकार की अनेक घटनाएँ समस्या का रूप धारण कर चुकी हैं, जिन्हें भाषाशास्त्र के विद्यार्थी ही हल कर सकते हैं।

ऊपर जिन दासों के इतिहास एवं साहित्य का उल्लेख किया गया है, उसमें उनके विद्रोह एवं उनकी मुक्ति का भी यदि उल्लेख हो तो उनकी सन्तान की भाषा के सावधानीपूर्वक अध्ययन से ही सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। बहुत संभव है कि प्रारंभ में उनके इतिहास का सूत्र बहुत उलझा हुआ हो और यहाँ पहुँचकर कोई मिशनरी एक नवीन अफ्रीका की भाषा का उल्लेख करे और यह बतावे कि यह एक विचित्र एवं अपूर्ण भाषा है और इसमें एक ही शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। इसीप्रकार उसमें उच्चारण भी बहुत शिथिल है और अंग्रेजी के राइट (right rite, wright तथा write) शब्द

सभी 'रैट' (Rait) रूप में उच्चरित होते हैं। वह इस बात का भी उल्लेख कर सकता है कि यह बोली चीनी भाषा की भाँति ही निर्बल एवं निर्धन है तथा इसमें सुप्-तिङ् प्रत्ययों का अभाव है। इसके शब्दसमूह में पुंलिग एवं स्त्रीलिंग बतलाना कठिन है। केवल इसमें युद्धप्रिय व्यक्ति एवं रेलवे एंजिन स्त्रीलिंग रूप में व्यवहृत होते हैं, किन्तु इसमें सबसे विचित्र एवं उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें स्वीकारात्मक शब्द यस् में 'र्' एवं 'म्' संयुक्त करके इसके पुलिंग एवं स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में जब इन दास वंशजों को किसी पुरुष के सम्मुख यस्' (yes) कहना होता है तो ये यस् र् (yes'r) कहते हैं और इसीप्रकार किसी स्त्री के सम्मुख ये 'यस्म्' (yes'm) कहते हैं।

ऊपर की बातें असंगत प्रतीत होंगी, किन्तु मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि मिशनरियों तथा यात्रियों ने बर्बर जातियों की भाषा का जो विवरण दिया है, वह इससे भी कहीं अधिक विचित्र है; किन्तु यहाँ हमें इस बात पर विचार करना है कि जब भाषा-शास्त्र के विद्यार्थी के सामने 'यस' र्' एवं 'यस'म्' जैसे रूप प्रथम बार आएँगे तो वह क्या करेगा? सबसे पहले वह इसके मूलरूप की खोज करेगा और वह इन दोनों का संबंध 'यस् सर्' (yes sir) तथा 'यस, मै म' (yes, ma, m) से ढूँढ़ निकालेगा। इसके उपरान्त वह इस बात को स्पष्ट करेगा कि किसप्रकार ये शब्द जनसाधारण की गँवारू बोली में प्रादुर्भूत हुए होंगे। इसप्रकार दासता से मुक्त हब्शी लोगों द्वारा प्रयुक्त इन शब्दों की व्युत्पत्ति का पता लगाते हुए, वह अन्त में यह बतावेगा कि किसप्रकार अमेरिका में हब्शी दासों ने 'यस सर' तथा 'यस मैडम' का प्रयोग अपने मालिकों एवं उनकी पत्नियों को संबोधित करने के लिए किया होगा और इन्हीं से इनके संक्षिप्त रूप 'यस्' र्' एवं 'यस' म्' निर्मित हुए होंगे।

अमेरिका के आदिवासियों की बोली में इसप्रकार के शब्दों को न पाकर भाषाशास्त्री यूरप की भाषाओं में इन शब्दों की खोज करेगा और यहाँ भी वह सर्वप्रथम इंग्लैंड में प्रचलित भाषा में इन्हें ढूँढ़ेगा। यदि इस संबंध में उसे कोई पुराने कागज-पत्र न मिलेंगे तो भी भाषा के साक्ष्य के आधार पर उसे यह ज्ञात हो जावेगा कि इसे हब्शी लोगों के श्वेत प्रभु इंग्लैंड से अमेरिका ले गए होंगे और इसके बाद ही यह भी पता चल जायेगा कि अमेरिका में अंग्रेजी भाषा कब गई? अमेरिका के नए महाद्वीप जाने के पूर्व इन शब्दों

का प्रयोग अंग्रेजी के आदि कवि चासर के युग के लोगों ने भी किया होगा। चासर ने वस्तुतः दो शब्दों 'यस्' (yes) एवं 'या' (yea) का प्रयोग किया है, किन्तु इनके प्रयोग में उसने किंचित अन्तर रखा है। वह 'यस्' का प्रयोग केवल नकारात्मक प्रश्नों के उत्तर में करता है। उदाहरण स्वरूप जब उसे 'क्या वह नहीं जा रहा है?' का उत्तर देना होगा तो वह 'यस्' का प्रयोग करेगा, किन्तु अन्य स्थानों में वह 'या' का प्रयोग करेगा। उदाहरणार्थ 'क्या वह जाता है?' के उत्तर में वह 'या' कहेगा। वह नो (No) एवं 'ने' (Nay) का प्रयोग भी इसीरूप में करेगा। इन दोनों में से नकारात्मक उत्तर में तो वह 'नो' का प्रयोग करेगा, किन्तु अन्य स्थानों में वह 'न' का व्यवहार करेगा। सर टामस मोर के कुछ ही दिनों बाद इन शब्दों का यह अर्थ विभेद लुप्त हो गया था।

किन्तु, ऊपर के दो शब्दों से अभी और भी ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगाना है। ऐंग्लो सैक्सन का 'या' (yea) शब्द यथार्थतः जर्मन 'या' (ja) है। इससे इस बात का पता चलता है कि अफ्रीका के नीग्रो लोगों के श्वेत 'प्रभु' अपनी पितृभूमि को छोड़कर चॉसर के युग के थोड़े दिनों बाद ही अमेरिका गए थे। 'सर (sir) तथा मैडम (madam)' शब्दों से तो थोड़े और इतिहास का पता चलता है। वास्तव में ये 'नार्मन' शब्द हैं और ब्रिटेन में नार्मन विजय के बाद ये शब्द आए होंगे। जब इन शब्दों के इतिहास का पता लगाने के लिए हम और आगे बढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि ये 'नार्मन अथवा 'नार्थ मैन' लोग मूलतः ट्यूटनिक बोलते थे और उनकी बोली में 'सर' एवं मैडम' शब्द नहीं थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रिटेन के नार्मन विजय के पूर्व उत्तर के निवासी ट्यूटनिक लोग पर्याप्त समय तक किसी रोमन प्रदेश में रहे होंगे तथा वहाँ की भाषा से उन्होंने इन शब्दों को ग्रहण किया होगा।

अब नार्मन के 'मैडम' (madam) शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना है। यह शब्द यहाँ फ्रेंच के मदाम (madame) शब्द से आया है। जो मूलतः लैटिन के 'मैडोमिना' (meadomina)—मेरी गृहस्वामिनी का अपभ्रष्ट रूप है। यह 'डोमिना' शब्द ही समयानुसार 'डोम्ना' (domna), 'डोना' (donna) एवं 'डेम' (dame) में परिवर्तित हुआ था। पुंल्लिगरूप में यह 'डेम' शब्द 'स्वामी' के अर्थ में व्यवहृत होता था। इस अर्थ में यह यथार्थतः 'डोमिना' (domina), 'डोम्नो' (domno) एवं 'डोन्नो' (donno) का

अपभ्रष्ट रूप था। बिशप के अधीनस्थ उसकी चल-अचल सम्पत्ति की देख-रेख करनेवाला भूस्वामी 'विडेम' (vidame) कहलाता था। फ्रेंच के विस्मयादिबोधक डेम (dame) शब्द का इसीप्रकार के अंग्रेजी विस्मयादि बोधक शब्द से कोई संबंध नहीं है, अपितु उसका अर्थ 'प्रभु' है। पुरानी फ्रेंच भाषा में 'डेमड्यू' (dame-dieu) शब्द का अर्थ है—प्रभु परमेश्वर। डोमिना (domina) 'गृहस्वामिनी' शब्द से ही डोमिनिसेल्ला (domin-icella) शब्द बना है तथा इसी से डेमोसेल्ले (Demoiselle) तथा डैमसेल (damsel) शब्द निर्मित हुए हैं। 'डोमिनो' प्रभु से व्युत्पन्न 'डेम' शब्द के स्थान पर बाद में लैटिन शब्द 'सीनियर' का प्रयोग होने लगा। जो संभवतः 'एल्डर' (elder) शब्द का अनुवाद है। 'एल्डर' शब्द वास्तव में प्रतिष्ठा सूचक था। यही हम आल्डर मैन (alderman) तथा एंग्लो-सैक्सन 'एल्डोर' (ealdor) में देखते हैं; 'सीनियर' का मूल अर्थ 'एल्डर' था। इस प्रतिष्ठासूचक शब्द का प्रयोग स्त्रियों के लिए नहीं होता था। सीनियर (एम) [senior (em)] शब्द बाद में—'Seigneur' एवं 'Seigneur' और अन्त में 'सिउर' (Sieur) बन गया। कर्ता का 'सिनियर' (senior) रूप बाद में 'सेन्ड्रे' (sendre) बन गया, जो नवीं शताब्दि के शपथ स्ट्रासवर्ग में Carlos meos sendra में मिलता है। यही सेन्ड्रे निम्नलिखित रूप में परिवर्तित होते हुए 'सायर' (sire) बन गया sendre>sindre>sidre>sire। बार्श (Bartsch) ने इसकी व्युत्पत्ति se (n) ior से मानी है।

इसप्रकार इन दो लघु शब्दों....येसर् एवं.....'ये सम्'....से युगों का इतिहास ज्ञात हो जाता है। जैसे सम्राट् 'थिन-चि-होंग-ति' (Thsin-chi-hoang-ti) के शासन-काल में चीन में सभी ऐतिहासिक कागज-पत्र एवं ग्रन्थ विनष्ट कर डाले गए थे, वैसे ही यदि किसी भाषा की समस्त पुस्तकें नष्ट कर दी जायँ तो भी भाषा से ही अतीत के कतिपय रहस्य ज्ञात हो जायेंगे और अगली पीढ़ी के लोगों को यह तथ्य अवगत हो जायेगा कि उनका मूल स्थान कहाँ था और उनके पूर्वज किस प्रकार 'ईस्ट इंडीज' से वेस्टइंडीज' की ओर गए थे।

## ईस्ट इंडीज़ और वेस्ट इंडीज़

आर्यों के स्थानान्तरण के दो छोरों, 'ईस्ट इंडीज़' और 'वेस्ट इंडीज़' के एक अथवा समान नामों को सुनकर लोग अत्यन्त आश्चर्य चकित होंगे,

किन्तु इन दोनों नामों का ऐतिहासिक अर्थ है। इनसे ज्ञात होता है कि आर्य-परिवार की सर्वाधिक शक्तिशाली एवं साहसी ट्यूटनिक जाति ने किसप्रकार संसार की खोज करते हुए, एक देश को 'इंडिया' समझ लिया था और बाद में जब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई तो उन्होंने अन्तर प्रदर्शित करने के लिए, इसका नामकरण 'वेस्ट इंडीज' कर दिया। इसके साथ ही उन्हें यह भी ज्ञात होगा कि किसप्रकार उन्होंने पश्चिम में नये राज्यों का निर्माण किया तथा किसप्रकार से ईसाई धर्म का प्रचार करते हुए तथा स्वयं सच्चे ईसाई का जीवन व्यतीत करते हुए, उन्होंने पश्चिम एवं पूरब के लोगों को शारीरिक एवं मानसिक दासता से मुक्त किया और अन्त में वे उस मूल स्थान पर पहुँच गये, जहाँ से आर्य जाति अपनी विजय-यात्रा पर निकली थी। यदि ऐतिहासिक पुरालेखों के रूप में सुरक्षित अनन्त भाषाओं का हम अध्ययन करें तो ऊपर के तथ्यों एवं इनके अतिरिक्त और भी अनेक तथ्य हमें ज्ञात होंगे। इंडिया नाम में ही अनेक अन्तर्कथाएँ हैं और यह देशपरक नाम के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। हम लोगों ने यह नाम रोमन लोगों से, रोमन लोगों ने ग्रीक से तथा ग्रीक ने पारसीक लोगों से प्राप्त किया था। अब यहाँ प्रश्न यह है कि पारसीक लोगों से यह नाम किस प्रकार चारों ओर प्रसारित हुआ था? पारसीक भाषा में आदि में आगत 'स' 'ह' में परिणत हो जाता है, किन्तु ग्रीक में इसका लोप हो जाता है। पारसीक लोगों की भाषा में 'सिन्धु प्रदेश' (सिन्धु वस्तुतः उत्तरी भारत की एक नदी का नाम है) अथवा सप्त सिन्धु प्रदेश का नाम 'हफ्त हिन्दु' हो गया था। इसप्रकार सिन्धु से हिन्दु (=हिंडु) और इससे हिंडिया अथवा इंडिया बन गया। यदि ज़रथुस्त्र के धर्म के अनुयायी (अनुगामी) 'स' को 'ह' में उच्चरित न करते तो आज हम 'वेस्ट-इंडीज' का नाम ही नहीं सुनते।

## व्याकरणीय प्रत्यय

ऊपर एक काल्पनिक उदाहरण लेकर हम लोगों ने यह देख लिया कि भाषा का विकास किस रूप में होता है, किन्तु यदि हम वास्तविक रूप में प्राचीन भाषाओं के व्याकरणीयरूपों का विश्लेषण करें तो हम ठीक इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। उदाहरणार्थ अन्य पुरुष एकवचन क्रियापद '(He loves)' में जो -s प्रत्यय उपलब्ध है, वह वास्तव में निकटवर्ती सर्वनाम अन्य पुरुष का रूप है। संस्कृत में एक वचन अन्य पुरुष वर्तमानकाल में –'ति' प्रत्यय संयुक्त होता है। यथा,

संस्कृत 'दा', 'देना' से 'वह देता है' का रूप 'ददाति' हो जाता है। इसीप्रकार 'धा' धारण करना अथवा रखना का रूप 'दधाति' होता है।

ग्रीक में यह -ति प्रत्यय सि (si) में परिवर्तित हो जाता है यथा, संस्कृत, त्वम् लैटिन 'तु' (tu) 'तू' ग्रीक में 'स्य्' (sy) हो जाता है। इसप्रकार ग्रीक 'डिडोसि' (didosi), संस्कृत में 'ददाति' (dadati) एवं ग्रीक टिथेसि (tithesi), संस्कृत में 'दधाति' हो जाता है। यह स्वर मध्यग -स-(s) वास्तव में मूल -त (t) का प्रतिरूप है और नियमतः इसका ग्रीक में लोप नहीं होना चाहिए, किन्तु ग्रीक में अनेक ऐसे शब्द हैं, जहाँ नियमतः स्वर-मध्यग-स- का लोप हो जाता है। इसी सादृश्य के आधार पर त्यप्तेति>त्यप्तेसि>त्यप्तेइ' (typtei) जैसे, (genesi>genei)। कई विद्वान् इन अभिनव रूपों की अन्य व्याख्या करते हैं। लैटिन में अन्त -इ (-i) का लोप हो जाता है और ti>t, यथा, amat – dicit आदि।

एक ध्वनि संबंधी नियम भी है, जो 'ग्रिम नियम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस नियम के अनुसार लैटिन का प्रत्येक अल्पप्राण वर्ण गॉथिक में महाप्राण में परिणत हो जाता है। इसप्रकार लैटिन 'त' (t) के स्थान पर गॉथिक में 'थ' हो जाता है; यथा, लैटिन हैबेत (habet) गॉथिक हैबेथ habaith में परिणत हो जाता है। एंग्लो सैक्सन में भी यही महाप्राण वर्ण दृष्टिगोचर होता है और वहाँ he loves>lufath। बाइबिल में यही he loveth रूप में दिखाई देता है। केवल आधुनिक अंग्रेजी में यह स (-s) में परि-वर्तित हो गया है। He loves का -स (-s) प्रत्यय वस्तुतः निकटवर्ती सर्व-नाम का रूप, है जो love धातुपद में संयुक्त हुआ है और यह -s वास्तव में संस्कृत का -ति- प्रत्यय है। यह 'ति' मूलतः संस्कृत में 'त' का रूप है, जो निकटवर्ती सर्वनाम 'तद्' ग्रीक 'तो' (to), गॉथिक 'thata', अंग्रेजी 'that' में मिलता है तथा जो लैटिन 'talis,, tantus, tune, एवं tam में मौजूद हैं तथा 'men' के पुराने अधिकरण कारक के रूप 'tamen' में उपलब्ध हैं।

इसप्रकार हम ऊपर यह स्पष्टरूप से देख चुके हैं कि जिसे हम अन्य पुरुष एक वचन वर्तमानकाल का रूप मानते हैं, वह मूलतः क्रियापद के रूप में, धातु एवं निकटवर्ती सर्वनाम के रूप का समास है। यह अन्य सामासिक पदों की भाँति होता है और इसमें दूसरा पद निकटवर्ती सर्वनाम का रूप होता है। उदाहरणार्थ संस्कृत 'ददा-ति' से यथार्थतः तात्पर्य है—'देता-वह'

और यही आगे चलकर अन्यपुरुष, एक वचन, वर्तमानकाल, कर्तृवाच्य का रूप बन गया है।

अब हम तुलनात्मक व्याकरण के इस मूल सिद्धान्त को किस भाँति समझ सकते हैं कि भाषा में किसी रूप को मूल एवं सिद्धरूप तब तक नहीं मानना चाहिए जब तक उस रूप की व्युत्पत्ति एवं विश्लेषण से यह पूर्णतया सिद्ध न हो जाय। हम लोग यह मानते हैं कि व्याकरणीय प्रत्ययों के अनुसार शब्द का अर्थ परिवर्तित होता है, किन्तु किसी शब्द का अर्थ केवल शब्द के द्वारा ही परिवर्तित होता है। यद्यपि आज भाषा-विज्ञान की जो स्थिति है, उसमें सभी प्रत्ययों के मूलरूप स्वतंत्र शब्दों को ढूँढ़ निकालना कठिन है, क्योंकि कहीं-कहीं तो ये प्रत्यय केवल एक वर्ण के रूप में ही हैं तथापि यहाँ हमें सिद्धान्त रूप में यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए कि मूलतः भाषा के सभी प्रत्यय स्वतंत्र शब्द थे। यदि अंग्रेजी भाषा का प्राचीन लिखित रूप उपलब्ध न होता तो आज 'I may not' के लिए 'I midden' एवं 'I could not' के लिए 'I cooden' जैसे ग्रामीण शब्दों की व्याख्या करना कठिन हो जाता। जब हम इस बात को ध्यान में रखते हुए संस्कृत शब्द के रूपों के संबंध में विचार करते हैं तो हमें यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि संस्कृत के लिखित रूप में आने के बहुत पूर्व ही उसमें इसप्रकार के अनेक परिवर्तन हो चुके थे।

## रोमनिक का भविष्यत्काल

अब यहाँ फ्रेंच तथा इटैलियन भाषाओं से उदाहरण देकर विचार किया जाता है। इन भाषाओं के प्रत्यय प्रायः वही हैं, जो लैटिन के हैं, किन्तु इनमें किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुआ है। यथा फ्रेंच j' aime मूलतः लैटिन का ego amo है, इसीप्रकार tu aimes लैटिन का tu amas एवं il aime लैटिन का ille amat है। फ्रेंच के il aime के अन्त में 't' रहता था और 'aime-t-il ?' में यह 't' आज भी मौजूद है। इसप्रकार फ्रेंच के अपूर्ण एवं पूर्णभूत के रूप वास्तव में वही हैं, जो लैटिन के रूप हैं, किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि फ्रेंच के भविष्यत्काल के रूप की क्या व्युत्पत्ति है? लैटिन के भविष्यत्काल के रूप amabo तथा फ्रेंच के "J'aimerai" में कुछ समानता नहीं है। तब, जहाँ तक भविष्यत्काल का सम्बन्ध है, एक अभिनव व्याकरणीयरूप उत्पन्न हो गया है। तो क्या फ्रेंच का rai प्रत्यय स्वतः उत्पन्न हो गया अथवा कतिपय बुद्धिमान लोगों ने एकत्र होकर यह निर्णय

किया कि पुराने प्रत्यय 'bo' के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाय। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। विचारपूर्वक देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सभी रोमान्स भाषाओं में भविष्यत् का रूप वही है, जो अंग्रेजी की सहायक क्रिया to have का है। फ्रेंच में हम निम्नलिखित रूप पाते हैं :—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| J'ai | तथा | je chanter-ai | nous avons | तथा | nous chantenors |
| tu as | ,, | tu chanter-as | vous avez | ,, | vous chanterez |
| il a | ,, | il chanter-a | ils ont | ,, | ils chanteront. |

किन्तु इसके अतिरिक्त स्पैनिश एवं प्रावेंशल में हम भविष्यत्काल का प्रत्यय स्वतंत्र शब्द के रूप में पाते हैं और वह क्रियापद से संयुक्त नहीं होता है, अपितु वह पृथक रहता है। इसप्रकार स्पेनिश में 'lo hare' 'मैं यह करूँगा' के लिए पुराना रूप 'hacer lo he' अर्थात् facere id habeo मिलता है। इसी तरह प्रावेंशल में je vous dirai के स्थान पर dirvos ai तथा nous vous dirons के स्थान पर 'dir vos em' मिलता है। अब इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि रोमान्स भाषाओं का भविष्यत्काल, क्रिया में सहायक क्रिया के to have का रूप संयुक्त करके सम्पन्न होता है और इस तरह 'I have to say' 'मुझे कहना है' वाक्य ने 'I shall say' 'मैं कहूँगा' का अर्थ ग्रहण कर लिया है।

ऊपर हमने यह स्पष्टरूप में देख लिया कि व्याकरणीयरूप किसप्रकार निर्मित होते हैं। एक साधारण फ्रेंच भाषा-भाषी अपनी भाषा के भविष्यत्-काल को केवल व्याकरणीयरूप मानता है। जब तक वह विद्वान् नहीं है तब तक वह इस तथ्य को बिल्कुल नहीं जानता कि उसके भविष्यत्काल का प्रत्यय—यथार्थतः सहायक क्रिया 'avoir' है। इसीप्रकार रोमन भाषा-भाषी को भी यह सन्देह नहीं है कि—'amabo' वास्तव में एक सामासिक पद है; किन्तु अब तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि फ्रेंच की तरह इसमें भी सहायकक्रिया का रूप संयुक्त है। ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण लैटिन के भविष्यत्काल के रूप में अत्यधिक परिवर्तन आ गया। इसके अन्तिम वर्ण का उच्चारण जब अस्पष्ट होने लगा तो इसके अपूर्णकाल के रूप 'amabam' को भविष्यत्काल के रूप 'amabo' से पृथक रखना असंभव हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भविष्यत् के लिए 'habeo' संयुक्त करके एक नये रूप का निर्माण हुआ। लैटिन में 'habeo dicrere'

का मूल अर्थ था 'मुझे कहना है,' किन्तु धीरे-धीरे इसका अर्थ हो गया 'मैं कहूँगा'। सच बात तो यह है कि जहाँ भी हम ध्यानपूर्वक देखते हैं, इस भविष्यत्काल के रूप को सामासिक पाते है। अंग्रेजी में हम I shall तथा thou wilt कहते हैं। इसका मूल अर्थ है 'मैं बाध्य हूँ 'तथा' तुम्हारा इरादा है।' जर्मन में हम 'werden' तथा गॉथिक में vairthan का प्रयोग करते हैं जिनका मूल अर्थ है 'जाना'। आधुनिक ग्रीक में भविष्यत् के लिए thelo का प्रयोग होता है और thelo dosein का अर्थ 'मैं दूँगा' होता है। रोमांस भाषा में भविष्यत् के लिए vegnir 'आना' प्रयुक्त होता है और veng a vegnir का अर्थ होता है—मैं जाऊँगा। फ्रेंच में 'je viens de dire' का मूल अर्थ है—'मैं कहने को आ रहा हूँ,' किन्तु अब इसका अर्थ है 'मैंने अभी कहा है।' फ्रेंच में "je vais dire" भविष्यत्काल को द्योतित करता है, किन्तु मूलतः यह vado dicere था और इसका अर्थ था 'मैं कहने जा रहा हूँ।' इसमें किसीप्रकार के सन्देह की बात नहीं है कि 'amabo' का 'bo' प्राचीन सहायक क्रिया, संस्कृत 'भू,' 'होना' है तथा ग्रीक sa 'अस्' का प्रतिरूप है।

## ट्यूटनिक में निर्बल अतीतकाल

अब मैं आगे बढ़ता हूँ और यह प्रश्न पूछता हूँ कि 'I love' "मैं प्यार करता हूँ" के 'love' में केवल 'd' संयुक्त करके 'loved' रूप बनाने से इसके अर्थ में इतना अधिक परिवर्तन कैसे हो गया ? हम यह अन्यत्र देख चुके हैं कि अंग्रेजी 'एंग्लो सैक्सन' से व्युत्पन्न है और महाद्वीपीय सैक्सन एवं गॉथिक से इसका घनिष्ट संबंध है, अतएव इस समस्या के समाधान के लिए हमें गॉथिक के अपूर्णकाल के रूपों को देखना चाहिए और इस बात का पता लगाना चाहिए कि क्या उसमें मूल सामासिकता के कुछ अवशिष्ट रूप उपलब्ध हैं ? जैसा कि हम अन्य रूपों में देख चुके हैं, यहाँ भी हम व्याकरणीय प्रत्ययों को स्वतंत्र शब्दों के अवशेष के रूप में प्राप्त करने की आशा रखते हैं :—

गॉथिक में एक nasjan धातु पद है, जिसका अर्थ है 'पोषण करना'। इसके अतीतकाल के रूप निम्नलिखित हैं :—

| ए० व० | द्वि० व० | ब० व० |
|---|---|---|
| nas-i-da | nas-i-dēdu | nas-i-dēdum |
| nas-i-dēs | nas-i-dēduts | nas-i-dēdēdeth |
| nas-i-da | — | nas-i-dedun |

इसके संदिग्धअतीत के रूप निम्नलिखित हैं :—

| | | |
|---|---|---|
| nas-i-dēdjau | nas-i-dedeiva | nas-i-dēdeima |
| nas-i-dēdeis | nas-i-dēdeits | nas-i-dēdeith |
| nas-i-dēdi | —— | nas-i-dēdeina |

एंग्लोसैक्सन में इसके रूप इस प्रकार हो जाते हैं :—

| ए० व० | ब० व० |
|---|---|
| ner-e-de | ner-e-don |
| ner-e-des(t) | ner-e-don |
| ner-e-de | ner-e-don |

सन्दिग्ध के रूप :—

| | |
|---|---|
| ner-e-de | ner-e-den |
| ner-e-de | ner-e-den |
| ner-e-de | ner-e-den |

सहायक क्रिया 'to do' 'करना' के एंग्लोसैक्सन में निम्नलिखित रूप हैं:—

| ए० व० | ब० व० |
|---|---|
| dyde | dydon |
| dydes(t) | dydon |
| dyde | dydon |

यदि हमें केवल एंग्लोसैक्सन के अतीत के रूप nerede एवं dyde ही मिलते तो इन दोनों रूपों में 'de' की वास्तविक स्थिति स्पष्टतया ज्ञात न हो सकती, किन्तु सौभाग्य से हम तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण के लिए गॉथिक के रूप भी उपलब्ध हैं। केवल गॉथिक और वहाँ भी इसके बहुवचन में प्रत्यय के पूर्ण रूप dēdum, dēduth एवं dēdun पूर्णतया सुरक्षित हैं। गॉथिक के एक वचन के रूप nasida, nasidēs एवं nasida मूलरूप हैं, किन्तु ये वास्तव में—*nasideda एवं *nasidedēs, *nasideda से प्रसूत हैं। ठीक यही बात एंग्लोसैक्सन के एक वचन एवं बहुवचन में हुई है। इस तरह गॉथिक तथा एंग्लोसैक्सन में इतनी अधिक समानता है कि किसी व्यक्ति को यह शंका नहीं हो सकती कि दोनों के अतीतकाल के रूप एक ही भाँति से सम्पन्न हुए हैं। यदि आगमनात्मक तर्क सत्य है तो मूलतः एंग्लोसैक्सन के अतीतकाल के रूप निम्नलिखित रहे होंगे :—

| ए० व० | ब० व० |
|---|---|
| ner-e-dyde | ner-e-dydon |
| ner-e-dydest | ner-e-dydon |
| ner-e-dyde | ner-e-dydon |

यदि ner-e-dydeपरिवर्तित होकर nerede बन सकता तो यह nerede भी आधुनिक अंग्रेजी भाषा में nered का रूप धारण कर सकता था। अतएव अतीतकाल को सम्पन्न करने वाला 'd' जिससे 'I love', I loved बन जाता है, मूलतः सहायक क्रिया to do का रूप है और I love did अथवा I did love है। अंग्रेजी की बोलियों में अतीतकाल I did से ही सम्पन्न होता है।

यहाँ यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि did तथा एंग्लो सैक्सन dide किसप्रकार बना तथा वह किस तरह अतीत का अर्थ देने लगा। यथार्थतः dide में अन्त का 'de' प्रत्यय नहीं है, अपितु यह धातुपद है और पहिला अक्षर di धातु का द्वित्व (reduplication) है। संस्कृत एवं ग्रीक दोनों में अतीत के रूप द्वित्व के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। एंग्लोसैक्सन का धातुपद do वही है जो ग्रीक में 'thē' तथा संस्कृत में 'धा' है। इन्हीं से ग्रीक तथा संस्कृत के tithēmi एवं 'दधामि' रूप सम्पन्न होते हैं। एंग्लो सैक्सन dydeका प्रतिरूप संस्कृत में 'दधे' होगा। बॉप्प ने यही व्याख्या प्रस्तुत की थी, किन्तु बाद के भाषाशास्त्रियों ने इस पर आपत्ति उठाई है, जिसका अभी तक निराकरण नहीं हो सका है।

इसप्रकार आर्य अथवा भारोपीय भाषाओं के अधिकांश व्याकरणीय रूपों की व्युत्पत्ति मूलतः स्वतंत्र शब्दों से सिद्ध की जा चुकी है और foot का बहुवचन रूप feetक्यों हो गया तथा find के अतीतकाल का रूप found कैसे बन गया, आदि बातों की भी पूर्णरूप से व्याख्या कर दी गई है। यही तुलनात्मक व्याकरण अथवा भाषा के रूपों का वैज्ञानिक अध्ययन है। इस पद्धति से हम एक-एक शब्दरूप लेकर यह देखते हैं कि विभिन्न आर्य भाषाओं एवं बोलियों में इसके रूप क्या हैं और इस तुलना के पश्चात् निष्कर्ष निकालते हैं। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा गॉथिक भाषाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ज़ेन्द, केल्टिक एवं स्लावोनिक भाषाओं से भी कभी-कभी कतिपय नूतन रूपों की व्याख्या के लिए सहायता मिलती है। बॉप्प कृत आर्य भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण का निष्कर्ष संक्षेप में यह है :—

पृथक् होने के पूर्व ही आर्य परिवार की भाषाओं के व्याकरण की सामान्य रूपरेखा (प्रत्यय, सुप्, तिङ आदि) निश्चित हो चुकी थी। अतएव संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गॉथिक तथा अन्य भाषाओं के व्याकरण का ढाँचा समान है। प्रत्यक्ष रूप में इनमें जहाँ भी कहीं कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह विकास या ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण है, क्योंकि प्रत्येक जाति के उच्चारण में देश एवं काल के अनुसार कुछ विशेषताएँ होती हैं। जब इन भाषाओं के व्याकरणीयरूपों के मूल का पता चल जावेगा तो इनका मूल अर्थ भी ज्ञात हो जायेगा।

हम यह नहीं कह सकते कि '–मि' –'मस' –'ति' या –'न्ति' सीधे 'मद्' या 'तद्' से व्युत्पन्न हुए हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये समानान्तर सर्वनामीय रूप हैं। यह सच है कि इन रूपों की व्याख्या करते समय कई स्थानों पर हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है, किन्तु यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि इस अनुमान की भी सीमा है।

## आर्य सभ्यता

हम लोग एक क़दम और आगे जा सकते हैं। कल्पना कीजिये कि हमें लैटिन भाषा का कुछ भी अवशेष प्राप्त नहीं है। यह भी मान लिया कि रोम तथा लैटिन ये दोनों हमें अज्ञात हैं; फिर भी छै रोमनिक बोलियों के साक्ष्य के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि एक समय रहा होगा, जब इन बोलियों के बोलनेवाले एक ही बोली बोलते होंगे तथा एक ही स्थान पर साथ-साथ रहते होंगे। यही नहीं, इन छै बोलियों में जो शब्द समानरूप में बोले जाते हैं, उन्हें हम एकत्र कर सकते हैं तथा इनके आधार पर उस मूल भाषा का पुनर्निर्माण कर सकते हैं, जिससे ये प्रादुर्भूत हुई हैं। इन समान शब्दों से हम प्राचीनकाल की सभ्यता एवं संस्कृति का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ठीक यही कार्य हम संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गॉथिक, केल्टिक एवं स्लावोनिक का तुलनात्मक अध्ययन करके सम्पन्न कर सकते हैं। जो शब्द सभी भाषाओं में यथासंभव समानअर्थ एवं समानरूप वाले हैं, वे इन भाषाओं के पृथक होने के पूर्व, मूल आर्य भाषा में रहे होंगे और यदि गंभीरता एवं सावधानी से इन शब्दों की व्याख्या की जाय तो इससे भी हम मूल आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

भाषा के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि मूल स्थान से पृथक् होने के पूर्व आर्य लोग घुमन्तू कृषक थे। टैक्टियस के अनुसार प्राचीन

जर्मन लोग भी ठीक ऐसे ही थे। ये लोग हल चलाना तथा सड़क बनाना जानते थे। इसीप्रकार नौका एवं गृह-निर्माण तथा वस्त्र बुनने एवं सीने की कला में भी ये निपुण थे। इन्हें सौ तक गिनना आता था। ये पशु-पालन में भी विज्ञ थे तथा गाय, घोड़े, भेंड़ें एवं कुत्ते इनके पालतू पशु थे। ये लोग महत्व-पूर्ण धातुओं से परिचित थे और युद्ध एवं घर में 'परशु' (कुल्हाड़ी) का प्रयोग करते थे। रक्त संबंधी पारस्परिक संबंध एवं वैवाहिक नियम इनके यहाँ प्रच-लित थे। अपने नेताओं एवं राजाओं की आज्ञा का ये पालन करते थे तथा इनके विधि-निषेध विषयक अधिनियम परम्परा पर आधारित थे। परम पिता परमेश्वर में उनकी आस्था थी और कई नामों से वे उसे पुकारते थे। ये सभी बातें भाषा के साक्ष्य के आधार पर सिद्ध की जा सकती हैं। जब ग्रीक, लैटिन, गॉथिक, केल्टिक तथा स्लावोनिक भाषाओं में धातु विषयक वही शब्द मिले, जो संस्कृत जैसी असंपृक्त भाषा में होंगे, तब यह बात सहज में ही समझ में आ जाती है कि यह वह मूल शब्द है, जो इन भाषाओं के पार्थक्य के पूर्व उपलब्ध था। लोहा के लिए आज गॉथिक में 'ऐस' (ais), लैटिन में 'ऐस्' (aes), एंग्लो सैक्सन में अर्' (ar) तथा संस्कृत में 'अयस्' शब्द प्राप्य हैं। यह शब्द भारतीय जन को न तो जर्मन से और न जर्मन लोगों को भारतीय जन से प्राप्त हुआ होगा, अपितु यह पार्थक्य के पूर्व की मूल भाषा से दोनों को प्राप्त हुआ होगा। 'घर' के लिए भी हमें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन एवं केल्टिक में इसीप्रकार के शब्द उपलब्ध हैं—यथा, सस्कृत—'दम', ग्रीक—'डोमास', लैटिन—'डोमुस', स्लाव —'डोमु' केल्टिक—'दैम्ह" (daimh)। इसप्रकार हम उस युग का इतिहास तैयार कर सकते हैं, जिस युग में वास्तविक इतिहास-लेखन की सामग्री का अभाव है।

## हॉर्ने टुके (Harne Tooke)

यह सच है कि भाषा की उस वास्तविक प्रकृति का ज्ञान हमें तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन के परिणामस्वरूप उपलब्ध हुआ है और इस अध्ययन का आरंभ भी संस्कृत की खोज के बाद ही हुआ है, किन्तु जो दार्शनिक एवं विचारक संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ थे तथा उसका नाम तक कभी नहीं सुने थे, उनकी भी यह धारणा थी कि आज भाषाओं में जो प्रत्यय हैं, वे मूलतः स्वतंत्र शब्द थे तथा भाषा का निर्माण आरंभ में कतिपय सीमित शब्दों के आधार पर हुआ था। हार्ने टुके ने १७८६ में व्याकरणीय तत्वों के संबंध में एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में उसने जो विचार व्यक्त किए थे उन सबसे

सहमत होना आज कठिन है, किन्तु इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि वह व्याकरणीय तत्वों की वास्तविक प्रकृति से परिचित था। प्रत्ययों के संबंध में उसके विचार निम्नलिखित थे —

मेरे पास यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि सभी प्रत्ययों के मूल की खोज की जा सकती है। आज ये प्रत्यय अत्यन्त कृत्रिम प्रतीत होते हैं और ऐसा लगता है कि बहुत विचार के बाद ये कलात्मक ढंग से संयुक्त किए गए हैं, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मूलतः ये शब्द थे और अपभ्रष्ट होकर तथा घिस-पिटकर इन्होंने आज यह रूप धारण किया है। इनके मूल की खोज के लिए अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता है। प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि) में तो ये इतने पुराने पड़ गए हैं कि इनकी खोज का कार्य भी अत्यन्त जटिल है।

जब हमें यह तथ्य ज्ञात हो गया कि व्याकरणीय प्रत्यय मूलतः स्वतंत्र शब्द थे और इनकी खोज की जा सकती है तो इसके साथ ही हमें इस बात का भी ज्ञान हो गया कि पूर्णरूप से व्याकरणीय विश्लेषण के बाद अन्त में केवल दो ही रूप मिलेंगे (१) प्रकृति अथवा मूल धातु पद (Roots predicative), (२) प्रत्यय (Roots demonstrative)।

किसी भाषा-विशेष अथवा किसी परिवार की भाषाओं के मूल धातुपद अथवा प्रकृत का जब हम उल्लेख करते हैं तो हमारा तात्पर्य उन शब्दों से होता है, जिन्हें आगे विश्लेषित न किया जा सके। इस रूप में हम इन्हें भाषा का अन्तिम एवं न्यूनतम रूप कह सकते हैं। इस संबंध में बड़ा विवाद है कि ये धातुपद कभी वास्तव में शब्द भी थे? इसका उत्तर बहुत सरल है। तर्क की दृष्टि से जब कोई धातुपद संज्ञा अथवा क्रियापद के रूप में प्रयुक्त होने लगता है तो इसे धातु नहीं कहा जा सकता। यद्यपि ध्वन्यात्मक दृष्टि से वह संज्ञा के समान ही होता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे भी धातुपद हैं कि जब ये संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होते हैं तो ये अपरिवर्तित रहते हैं।

संस्कृत धातुओं के संबंध में एक और जो विवाद है, वह यह है कि इन्हें एकाक्षरिक अथवा द्वयाक्षरिक माना जाय, इन्हें व्यंजनान्तरूप में रखा जाय या स्वरान्त माना जाय? यदि हम धातु की परिभाषा यह स्वीकार करते हैं कि यह वह न्यूनतम तत्व है जिसे और आगे विश्लेषित न किया जा सके तो 'जनन' के अर्थ में हमें 'जन्' धातु मानना चाहिए, न कि 'जन'। हम एक क़दम और आगे बढ़कर यह भी कह सकते हैं कि वास्तव में हमें 'ज्ञ्' को धातु

मानना चाहिए, किन्तु इसमें एक कठिनाई यह है कि इसका उच्चारण करना सम्भव नहीं है। इसी तर्क के आधार पर संस्कृत 'बुध्' (ग्रीक, पुथ्) को धातु रूप में स्वीकार करना चाहिए, न कि 'बेउध्' अथवा 'भेउध्' (ग्रीक. पेउथ्) को, क्योंकि धातु के रूप को परिवर्तित किए बिना ही 'ए' स्वर का परित्याग किया जा सकता है।

फिर भी ये प्रश्न अति सामान्य हैं और इनका निपटारा विद्वान् लोग सुविधानुसार कर सकते हैं। यहाँ महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय बात यह है कि ये धातुएँ हमें व्याकरणीय विश्लेषण के अन्त में अवशेषरूप में प्राप्त होती हैं तथा ये भाषा के परमतत्व हैं।

ऊपर की बात को सिद्ध करने के लिए या तो संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन धातुपदों का तुलनात्मक अध्ययन करके मूल धातु की खोज की जा सकती है अथवा किसी एक धातु को लेकर यह देखा जा सकता है कि विभिन्न भाषाओं में यह किस रूप में वर्तमान है। इनमें से दूसरे प्रकार का अध्ययन अधिक लाभदायक है। इस अध्ययन के द्वारा हम यह स्पष्टरूप में देख सकते हैं कि आर्य भाषा की ये धातुएँ इस परिवार की अन्य भाषाओं में किस रूप में विकसित हुई हैं।

## अर् धातु

'अर्' धातु का अर्थ है 'भूमि कर्षण' करना, हल चलाना। इसके लैटिन में 'ar-are' ग्रीक में 'ar-oun', आयरिश में ar, लिथुआनीय में 'ar-ti', रूसी में 'ora-ti', गॉथिक में 'ar-jan', एंग्लो-सैक्सन में er-ian तथा आधुनिक अंग्रेजी में 'to ear' रूप मिलते हैं। शेक्सपियर ने अपने नाटक रिचर्ड (II-iii-2) में इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है (to ear the land that has some hope to grow)।

इसीसे हल का नाम लैटिन में 'ara-trum', ग्रीक में 'aro-tron', बोहेमियन में 'ora-dlo', लिथुआनीय में 'arkla-s', कोर्निश में 'aradar, वेल्श में 'arad' एवं प्राचीन नार्स में 'ardhr मिलता है। प्राचीन नार्स में 'ardhr' का एक अर्थ 'धन-अर्जन करना' भी होता है, किन्तु यह अर्थ भी मूल-शब्द हल से ही आया है, क्योंकि प्राचीनकाल में हल ही धन-धान्य उत्पादन करने का साधन था। लैटिन में सम्पत्ति (रुपये पैसे) के अर्थ में 'Pecunia' शब्द व्यवहृत होता है। **इसी प्रकार लैटिन का** pecunia शब्द 'pecus' (संस्कृत पशुः) से प्रादुर्भूत हुआ है। आज हम fee (फीस) शब्द का प्रयोग

डाक्टरों तथा वकीलों के देय धन के लिए करते हैं। पुरानी अंग्रेजी में इसका रूप 'feh' तथा एंग्लोसैक्सन में इसका रूप 'feoh' था। एंग्लोसैक्सन में इसका अर्थ पशु तथा धन था। यही शब्द गॉथिक में 'faihu' तथा जर्मन में 'vieh' हो गया। वास्तव में ये सभी प्रश्न लैटिन 'pecus' (संस्कृत पशुः) से व्युत्पन्न हुए हैं।

हलकर्षण के कार्य को लैटिन में 'aratio तथा ग्रीक में 'arosis' कहते हैं। मेरी मान्यता है कि 'सुगन्ध' अर्थ में 'arōma' शब्द का मूल स्रोत भी यही है। वास्तव में 'arōma' को संस्कृत 'घ्रा' (घ्राण् करना, सूँघना) से व्युत्पन्न मानने में कठिनाई है, क्योंकि ग्रीक में 'घ' के 'अ' में परिवर्तित होने के उदाहरण नहीं मिलते। इस 'arōma' शब्द का प्रयोग केवल मधुर फल वाले वनस्पति के लिए ही नहीं हुआ है, अपितु 'जौ' आदि जैसे खेतों से व्युत्पन्न अन्न के लिए भी हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, जिस तरह मूल शब्द espéces से spices का अर्थ सीमित हो गया है। उसी तरह arōmata से arōma शब्द का अर्थ भी सीमित हो गया है। वस्तुतः arō-mata एक प्रकार का मधुर वनस्पति था, जिसका प्रयोग यज्ञ में होता था।

'अर्' धातु एक प्राचीनरूप ग्रीक era, संस्कृत 'इरा' और 'इडा', प्राचीन उच्च जर्मन 'ëro' तथा गैलिक 'ire', 'irionn' में मिलता है। मूलतः इसका अर्थ था 'हल कर्षित भूमि' और बाद में इसका अर्थ 'भूमि' हो गया। जहाँ तक अंग्रेजी के earth, गॉथिक airtha एंग्लोसैक्सन eorthe शब्द का संबंध है, मूलतः इसका भी अर्थ 'हलकर्षित भूमि' ही रहा होगा। इससे व्युत्पन्न तथा ju-mentum के आधार पर निर्मित शब्द ar-mentum शब्द का अर्थ 'घोड़ा' अथवा 'बैल' या कोई भी ऐसा पशु है, जो हल में जोता जा सके।

बेन्फे ने लैटिन 'arvus' 'जोता हुआ' एवं arvum खेत तथा ग्रीक 'aroura' शब्दों को इसी धातु से व्युत्पन्न माना है। यह 'ar-vus' शब्द पच्, पक्, 'पकाना,' से 'पक्व' की भाँति निर्मित होता है। एक अन्य प्रत्यय 'वर' (जैसा कि पी-वर एवं पी-वन में दृष्टिगोचर होता है) से 'ar-vara' शब्द निर्मित होगा। जिसप्रकार वरुन (varuna) तथा ouranos से aroura बन गया उसीप्रकार यहाँ 'va', 'ou' में परर्वातित हो गया है।

चूँकि समाज की आरम्भिक अवस्था में कृषि मुख्य व्यवसाय था, अतएव इससे सम्बन्धित अनेक शब्द भी थे। उदाहरणार्थ जो शब्द पहले कृषि के श्रम के लिए प्रयुक्त होते थे, वे बाद में केवल श्रम का भाव द्योतित करने लगे।

शब्दों के अर्थ-विकास का क्रम विशेष से सामान्य की ओर होता है। इसप्रकार regere एवं gubernare का प्रयोग मूलतः 'जहाज को संचालित करने' के अर्थ में होता था, किन्तु बाद में ये 'शासन करने' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। इसीप्रकार 'to equip' का मूल अर्थ 'जहाज को सजाना' था। फ्रेंच 'équiper तथा esquif<schifo= ship, किन्तु आगे चलकर इसका सामान्यअर्थ 'सजाना' हो गया। नव्य जर्मन में arbeit का अर्थ है 'श्रम' तथा arbeitsam से 'परिश्रमी' से तात्पर्य है। गॉथिक में arbaiths शब्द का प्रयोग सामान्यरूप से 'श्रम एवं कष्ट' के लिए किया जाता है, किन्तु प्राचीन नॉर्स में 'erfidhi' का मुख्य अर्थ 'हल चलाना' तथा सामान्य अर्थ श्रम होता है। एंग्लोसैक्सन में यही शब्द earfoth अथवा earfethe हो जाता है और वहाँ इसका अर्थ 'श्रम' हो जाता है। यहाँ हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि labourer का सामान्यअर्थ पहले श्रम (labour) करने वाला था और बाद में यह विशेष अर्थ में कृषि करने वाले 'श्रमिक' के लिए प्रयुक्त होने लगा। इसीप्रकार arbeit शब्द पहले सामान्यअर्थ में 'काम करने के लिए' में प्रयुक्त होता था, किन्तु बाद में प्राचीन नॉर्स में 'हल चलाने' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, किन्तु, चूँकि 'erfithi' में स्पष्टरूप से 'ar' धातु है, अतएव प्रथम व्याख्या ही अधिक युक्ति संगत प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त प्राचीन नॉर्स में 'ar' का अर्थ 'हलकर्षण' एवं 'श्रम' है और प्राचीन उच्च-जर्मन में 'art' का अर्थ भी 'हल चलाना' ही है।

और चूंकि, 'हलकर्षण' केवल एक प्रकार का आरम्भिक श्रम ही नहीं था, अपितु यह एक प्राचीन कला भी था, अतएव मैं एक क़दम और आगे बढ़कर यह कहूँगा कि लैटिन 'ars' शब्द भी इसी धातु से व्युत्पन्न है। 'हल-कर्षण' एवं कृषि कर्म वास्तव में मानव जाति की प्राचीनतम कला है और ग्रीक लोगों के अनुसार इसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती थी।

प्राचीन उच्च जर्मन में ārunti तथा एंग्लोसैक्सन में aerende का साधारण अर्थ कार्य है, किन्तु इनका भी मूल अर्थ कृषि सम्बन्धी कार्य रहा होगा और अंग्रेजी में तो errand तथा errand-boy आज भी मौजूद हैं।

'अर्' (ar) का अर्थ केवल 'हलकर्षण' अथवा 'जमीन तोड़ना' ही न था, अपितु बहुत प्राचीनकाल में ही इसका एक अर्थ 'समुद्र को जोतना' अथवा 'समुद्र में नौका चलाना' हो गया था।

लैटिन एवं फ्रेंच में भी ऊपर के अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है। इसी-

प्रकार 'अर्' धातु से संस्कृत में एक संज्ञा पद 'अरित्र' सिद्ध होता है, जिसका अर्थ 'हल' नहीं, अपितु 'पतवार' होता है। प्रो० स्कीट ने 'अर्' की तुलना एंग्लोसैक्सन 'oar' से की है, किन्तु यह समीकरण सन्देहात्मक है। ग्रीक लोगों ने भी 'अर्' धातु का प्रयोग 'नौका चलाने' के अर्थ में किया है। ग्रीक में eretēs का अर्थ 'नौका चालक' होता है और tri-ēr-ēs' का मूल अर्थ 'तीन पतवार वाली नौका' होता है।

पृथ्वी पर हल चलाने तथा समुद्र में नाव चलाने की तुलना प्राचीन भाषाओं में बराबर मिलती है। अंग्रेजी के plough तथा स्लावोनिक के ploug की तुलना संस्कृत के 'प्लव' एवं ग्रीक ploion (जहाज़) से की गई है। इस-प्रकार हम देखते हैं कि आर्य लोग समुद्र में नौका तथा पृथ्वी पर हल चलाने के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करते थे। अंग्रेजी की बोलियों में plough या Plow का प्रयोग आज भी 'वाहन' के अर्थ में होता है।

अर् धातु से व्युत्पन्न और भी अनेक शब्द हैं, जिन पर विचार किया जा सकता है, किन्तु यहाँ जितने शब्दों पर विचार किया जा चुका है, वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि इस धातु का वास्तविक रूप क्या है और उससे कितने शब्द प्रादुर्भूत हो सकते हैं। ऊपर 'अर्' धातु से निर्मित जिन शब्दों का उल्लेख किया गया है, उनमें 'अर्' तो 'प्रकृत' है और अन्य तत्व 'प्रत्यय' हैं। 'अर्' धातु को विधेयक इसलिए कहा गया है कि चाहे इससे जो शब्द निर्मित हों वे केवल 'विचार', 'हल', 'पतवार', 'बैल' एवं 'क्षेत्र' का विधान करते हैं। यहाँ तक कि artistic जैसे शब्द के निर्माण में भी 'अर्' धातु की विधायक शक्ति वर्तमान है। यह दूसरी बात है कि इसकी खोज के लिए गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। जो ब्राह्मण अपने को 'आर्य' कहते हैं तथा जो कला-कार अपने को artist कहते हैं, उन दोनों को यह ज्ञात नहीं है कि ये शब्द वास्तव में 'अर्' धातु से व्युत्पन्न हैं, जिसका मूल अर्थ 'हल चलाना' था।

## स्पश् धातु

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि जो प्रकृत तत्व है, उसे आरम्भ में किस प्रकार प्राप्त किया गया था। इसके लिए एक अन्य परिवार के शब्दों पर विचार करना होगा।

उदाहरणार्थ मैं respectable शब्द लेता हूँ। यह मूलतः लैटिन का शब्द है, सैक्सन का नहीं। लैटिन के respectabilis शब्द में हम स्पष्ट-रूप से respecta-re क्रियापद तथा bilis प्रत्यय देखते हैं। इसके उपरान्त

re उपसर्ग को पृथक करके हम spectare शब्द प्राप्त करते हैं। इस spectare शब्द का मूल हम लैटिन के specere या spicere क्रिया में देखते हैं। इसका अर्थ भी 'देखना' है। इस specere में भी हम दो तत्वों Spec एवं ere का समावेश पाते हैं। इनमें spec तो मूल धातु पद है, जो अपरिवर्तनीय रहता है, किन्तु ere प्रत्यय है, जो परिवर्तित होता रहता है। यह धातु संस्कृत तथा अन्य आर्य भाषाओं में भी वर्तमान है। संस्कृत में 'पश्' का अर्थ है 'देखना', किन्तु इसके अतिरिक्त संस्कृत में 'स्पश्' धातु भी मिलती है, जिससे 'स्पष्ट' एवं 'वि-स्पष्ट' शब्द सिद्ध होते हैं। वैदिक संस्कृत में 'स्पश्' का अर्थ अभिभावक होता है। ट्यूटनिक परिवार के प्राचीन उच्च जर्मन में हमें spëhōn शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है 'देखना', 'गुप्तचर का काम करना' तथा 'ध्यान अथवा विचार करना।' जर्मन में spëha शब्द उपलब्ध है और इसका अर्थ 'गुप्तचर' है। ग्रीक में 'Spek' धातु, वर्ण-विपर्यय से 'Skep' में परिणत हो गई है और यहाँ skeptomai का अर्थ है, 'मैं देखता हूँ', 'मैं परीक्षण करता हूँ'। इसी से ग्रीक शब्द 'skeptikos' निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है, 'परीक्षक' या 'अन्वेषक'। धर्म की भाषा में 'sceptic' शब्द भी मिलता है और 'episkopos' शब्द का अर्थ 'धर्माध्यक्ष' या 'बिशप' होता है।

अब हमें इस धातु में निर्मित विविध शब्दों के संबंध में विचार करना है। हम सर्वप्रथम 'respectable' शब्द को ही लें। इसका मूल अर्थ है, respect 'प्रतिष्ठा के लिए योग्य', पुनः 'respect' शब्द का अर्थ है, 'पीछे देखना'। संसार में हम साधारण वस्तुओं एवं साधारण पुरुषों को तो छोड़ देते हैं किन्तु जो हमारी श्रद्धा के पात्र होते हैं, उनकी ओर हम मुड़कर पीछे की ओर देखते हैं। यही respect एवं respectable का मूल अर्थ है। यही बात हम लैटिन के nobilie एवं nobls शब्दों में देखते हैं, जिसका मूल अर्थ है 'जानने योग्य व्यक्ति।' वास्तव में 'nobilis' शब्द 'gnobilis' से उसी-रूप में निर्मित हुआ है, जिस रूप में 'gnomen' एवं 'gnatus' से 'nomen' एवं 'natus' शब्द बने हैं।

अंग्रेजी में आज 'with respect to' वाक्यांश, उपसर्ग (preposition) बन गया है। जब हम अंग्रेजी में कहते हैं कि 'With respect to this point I have no more to say' 'इस सम्बन्ध में मुझे कुछ भी नहीं कहना है' तो हमारा तात्पर्य होता है कि 'I have no more to say on this point' वास्तव में अंग्रेजी में दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है।

जिसप्रकार अंग्रेजी में respect का मूल अर्थ 'पीछे की ओर देखना है', उसी प्रकार respective विशेषण एवं respectively क्रिया-विशेषण का अर्थ है, 'किसी व्यक्ति को पृथक् करके देखना'।

अंग्रेजी का respite शब्द वस्तुतः नार्मन प्रभाव से परिवर्तित resprctus का रूप है। फ्रेंच में इसका रूप 'répit' है, जिसका मूल अर्थ है, 'पीछे देखना', 'कुल साक्ष्य पर पुनः विचार करना।' अपराधी को उसके अपराधों की पुनः जाँच के लिए कई दिन ad respectum के मिलते थे। इसके बाद यह कहा जाने लगा कि कैदी को 'respite' मिला है अर्थात् उसके विषय में पुनः जाँच हुई है। आगे चलकर यह 'respite' शब्द क्रिया रूप में भी प्रयुक्त होने लगा और यह कहा जाने लगा कि 'एक व्यक्ति की जाँच', हुई 'a person had been respited'.

जिसप्रकार 're' उपसर्ग के साथ specere के संयोग से 'प्रतिष्ठा-वाची' शब्द का निर्माण हुआ था, उसीप्रकार 'de' के संयोग से despicere 'घृणावाची' शब्द का निर्माण हुआ। इसी से अंग्रेजी का 'despise' शब्द निर्मित हुआ था। फ्रेंच dépit (प्राचीन फ्रेंच despit) यद्यपि लैटिन despectus शब्द से व्युत्पन्न हुआ है, किन्तु इसका अर्थ 'घृणा नहीं', अपितु 'क्रोध एवं खीझ' है। फ्रेंच के se dépiter, 'en depit de lui' का मूल अर्थ है, 'उससे क्रोधित होना' और बाद का अर्थ है 'उसके रहते हुए।' अँग्रेजी के spite, in spite of, spiteful शब्द वस्तुतः despite, in despite of तथा despiteful के संक्षिप्तरूप हैं।

जिस प्रकार अंग्रेजी 'de' का अर्थ ऊपर से नीचे आना होता है, उसी प्रकार sub का अर्थ नीचे से ऊपर जाना होता है और जब हम इस 'sub' को specere शब्द से संयुक्त करते हैं, तब 'suspicere' एवं suspicari जैसे शब्द सिद्ध होते हैं, जिनका मूलअर्थ 'ऊपर देखना' और बाद का अर्थ है, 'सन्देह करना'। इसी से अंग्रेजी के suspicion एवं suspicious तथा फ्रेंच के soupcon जैसे शब्द निर्मित होते हैं।

अंग्रेजी में 'circum' शब्द का अर्थ है 'गोला' या 'चक्करदार'। इसी से circumspect शब्द बना है, जिसका अर्थ 'सावधान' है।

जब हम 'specere' में 'in' उपसर्ग संयुक्त करते हैं, तब 'inspicere 'निरीक्षण करना' शब्द सिद्ध होता है। इसी से 'inspection' निरीक्षण एवं inspector 'निरीक्षक' जैसे शब्द निर्मित होते हैं।

जब 'specere' में 'ad' उपसर्ग संयुक्त होता है तब adspicere शब्द बनता है और उसका अर्थ 'किसी वस्तु का देखना या निरीक्षण करना होता है, इसी से जब adspectus शब्द बनता है तो उसका अर्थ 'किसी वस्तु का रूप' हो जाता है।

इसीप्रकार specere में pro 'आगे' उपसर्ग संयुक्त करके prospicere, prospectus तथा prospective आदि शब्द निर्मित होते हैं। इसी तरह spicere में 'con' उपसर्ग संयुक्त करके 'conspicere' एक साथ देखना, 'conspectus' एवं 'conspicuous' जैसे शब्द बनते हैं। हम लोग 'respectable शब्द में ऊपर यह देख चुके हैं कि spicere कृदन्तीयरूप से 'spectare' शब्द निर्मित होता है। इसमें 'ex' उपसर्ग संयुक्त करके लैटिन expectare तथा अंग्रेजी के expect 'आशा करना' जैसे शब्द सिद्ध होते हैं।

इस संवंध में एक दूसरा शब्द auspicious भी दृष्टव्य है, जिसके दूसरे भाग में इस धातु का रूप वर्तमान है। लैटिन शब्द auspicium वास्तव में avispicium का प्रतिरूप है। इसका अर्थ है, किसी 'शुभ पक्षी के दर्शन की प्रतीक्षा करना'। बाद में इसका अर्थ 'भाग्यवान' हो गया।Haru-spex उस व्यक्ति को कहते थे, जो पशुओं की अँतड़ियों की भविष्यवाणी करता था। vestispica की भाँति इसका स्त्रीलिंग रूप haruspica है, जिसका अर्थ है, 'वस्त्र-मंजूषा रखने वाली स्त्री'।

इस धातु से और भी अनेक शब्द निर्मित होते हैं, उदाहरणार्थ लैटिन speculum 'दर्पण' इटैलियन में specchio हो गया है और यही शब्द फ्रेंच के विशेषण रूप में espiègle 'मसखरा' हो गया है। इस फ्रेंच शब्द की उत्पत्ति की कथा विचित्र है। जर्मन भाषा में प्रवंचनापूर्ण एक प्रसिद्ध कथा चक्र है, जिसका नायक एक अर्द्ध ऐतिहासिक एवं अर्द्ध पौराणिक व्यक्ति—Eulenspiegel अथवा Owl-glass माना जाता है। ये कथाएँ फ्रेंच में अनूदित हुईं और इसका नायक ulespiègle नाम से अभिहित किया जाने लगा। यही नाम अपने संक्षिप्त रूप में Espiègle बन गया और बाद में यह 'मसखरा' वाची बन गया।

चूंकि फ्रेंच में केवल लैटिन से ही शब्द नहीं आए, अपितु ट्यूटनिक भाषाओं से भी शब्द लिए गए हैं, अतएव इसमें हमें लैटिन specere से व्युत्पन्न शब्दों के साथ-साथ प्राचीन उच्च जर्मन spëhōn से प्रादुर्भूत èpier "गुप्तचर

का काम करना" तथा इटैलियन 'spiare' जैसे शब्द भी मिलते हैं। जर्मन में 'गुप्तचर' के लिए 'spëha' शब्द था और यही शब्द प्राचीन फ्रेंच में espie तथा आधुनिक फ्रेंच में espion बन गया।

इसी धातु से लैटिन का 'species' शब्द व्युत्पन्न हुआ है, जिससे अनेक शब्द प्रादुर्भूत हुए हैं। यह शब्द ग्रीक 'eidos' का अक्षरशः अनुवाद है तथा genos या 'genus' का विपरीत्यर्थक है। ग्रीक लोग मूलतः वस्तुओं का वर्गीकरण जाति या वंश तथा रूप के आधार पर करते थे। बाद में पारिभाषिक शब्द के रूप में अरिस्टॉटल ने इनकी परिभाषा भी दी थी। वस्तुएँ या तो जाति या वंश के अनुसार वर्गीकृत की जा सकती हैं अथवा इन्हें रूप के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है। इसी से भाषाओं के दो प्रकार के वर्गीकरण—वंशानुक्रम अथवा पारिवारिक तथा रूपानुक्रम अथवा रूपात्मक किए गए हैं। अरिस्टॉटल की परिभाषा का अनुगमन करते हुए ही ग्रीक शब्द 'eidos' लैटिन में 'species' के रूप में अनूदित किया गया है। इसलिए फ्रेंच espèce का अर्थ 'जाति' तथा अंग्रेजी special का अर्थ सामान्य के विपरीत विशेष है। अंग्रेजी के 'special train' तथा special messenger के 'special में 'स्पश्' धातु का रूप बिल्कुल दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु इनमें भी अप्रत्यक्ष संबंध प्रदर्शित किया जा सकता है। हम लोग अंग्रेजी में 'specify' शब्द बराबर सुनते हैं। इसका अर्थ क्या है? मध्यकालीन लैटिन का specificus शब्द ग्रीक के eidop-oios का अक्षरशः अनुवाद है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि eidos अथवा species का क्या अर्थ है? एक ही प्रजाति या genus से उत्पन्न कई विभिन्न वंश या species होते हैं, किन्तु इन वंशों में भी पारस्परिक भेद या अन्तर होता है। इसप्रकार species से प्रसूत शब्द specific शब्द भेदक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और specify का अर्थ "स्पष्टरूप से ब्यौरा से बताना" हो गया।

फ्रेंच में épicier शब्द का प्रयोग 'प्रतिष्ठित पंसारी' के अर्थ में होता है, किन्तु इसका मूल अर्थ 'औषध' या 'जड़ी-बूटी' बेचनेवाला था। इसी जड़ी-बूटी को भी स्पष्टरूप से drug न कहकर फ्रेंच लोगों ने विशिष्टता प्रदान करने के लिए इसे species अथवा 'विशिष्ट जड़ी-बूटी' कहा। इसीलिए औषध बिक्रेता को इटैलियन में 'speziale' एवं उसकी दूकान को 'spezierai' कहा जाता है। फ्रेंच में species शब्द espèce का रूप

धारण कर लिया और इसी से जड़ी-बूटी के अर्थ में, épices' शब्द बन गया। अंग्रेजी एवं जर्मन में यह शब्द क्रमशः spices एवं spezereien हो गया। इसीसे मसालेदार वस्तु को spicy अथवा well-spiced कहा जाने लगा। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि एक ही धातु से अनेक शब्द निर्मित होते हैं और इससे भाषा की अद्भुत शक्ति एवं क्षमता का पता चलता है।

## धातुओं के वर्ग

विलियम वॉन हम्बोल्ट के अनुसार सभी धातुएँ आवश्यकरूप से एकाक्षरिक होनी चाहिए और यह सत्य है कि आर्य परिवार की एक से अधिक अक्षर वाली धातुएँ द्वितीय स्तर की अथवा गौण धातुएँ हैं।

नीचे 'मुख्य' अथवा सिद्ध या प्रथम स्तर (Primary) गौण अथवा साधित या द्वितीय स्तर (Secondary) एवं तृतीय स्तर (Tertiary) धातुओं के संबंध में विचार किया जाता है :—

(क) प्रथम स्तर की अथवा मुख्य या सिद्ध धातुएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) एक स्वरवाली धातुएँ; यथा 'इ' जाना।

(२) एक स्वर तथा एक व्यंजनवाली धातुएँ—यथा 'अद्', 'खाना'।

(३) एक व्यंजन तथा एक स्वर वाली धातुएँ; यथा—'दा' देना।

(ख) द्वितीय स्तर की अथवा गौण या साधित धातुएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) एक व्यंजन, स्वर तथा व्यंजन वाली धातुएँ; यथा 'तुद्' मारना इन धातुओं के प्रथम अथवा अन्तिम व्यजन में परिवर्तन होता है।

(ग) तृतीय स्तर की धातुएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) एक व्यंजन, व्यंजन एवं स्वरवाली धातुएँ; यथा 'प्लु' 'प्रवाहित होना'।

(२) एक स्वर, व्यंजन तथा व्यंजन वाली धातुएँ; यथा 'अर्द्' 'चोट पहुँचाना'।

(३) एक व्यंजन, व्यंजन, स्वर तथा व्यंजनवाली धातुएँ; यथा 'स्पश्' 'देखना'।

(४) एक व्यंजन, व्यंजन, स्वर व्यंजन तथा व्यंजन वाली धातुएँ; यथा 'स्पन्द्' 'विकम्पित होना'।

द्वितीय स्तर की अथवा गौण धातुओं में, एक व्यंजन विशेषरूप से अन्तिम व्यंजन, परिवर्तित हो जाता है। धातु का सामान्य अर्थ तो अक्षुण्ण

रहता है, किन्तु अन्तिम व्यंजन के परिवर्तन के कारण किंचित अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसप्रकार 'तुद्' (तुदति) के अतिरिक्त संस्कृत में तुप् धातु के रूप 'तोपति' 'तुपति' एवं 'तुम्पति' हो जाते हैं। संस्कृत में इस धातु का अर्थ है 'चोट पहुँचाना', ग्रीक में इसका रूप 'typ-tō' मिलता है। इसी अर्थ में संस्कृत की 'तुभ्' धातु है जिसका रूप 'तुभ्नाति', 'तुभ्यति' एवं 'तोभते' होता है। इसीप्रकार 'तुफ्' धातु का रूप 'तोफति', 'तुफति' एवं 'तुम्फति' चलता है। पुनः एक धातु 'तुग्' 'चोट पहुँचाना' है जिसके रूप 'तुङगति', तोगति होते हैं। इसी अर्थ में अन्य दो धातु 'तुर्' एवं 'तूर्' मिलती हैं और इनके रूप क्रमशः 'तुतोर्ति' एवं 'तूर्यते' होते हैं। पुनः इसीरूप से व्युत्पन्न 'तुर्व' धातु है जिसका रूप 'तूर्वति' है। इसी अर्थ में दो अन्य धातुएँ 'तुह्' एवं 'तुस्' भी हैं जिनके रूप 'तोहति' एवं 'तोसते' होते हैं।

तीसरे वर्ग में वे धातुएँ आती हैं जिनमें दो व्यंजनों में से एक व्यंजन अर्द्ध-स्वर (य्, व्) अथवा 'शिन्-ध्वनि' वाला होता है। अन्य व्यंजनों की अपेक्षा इनमें अधिक परिवर्तन होता है। इसप्रकार की धातुओं में व्युत्पत्ति की दृष्टि से, दो व्यंजनों में से एक व्यंजन बाद का होता है। इस बाद वाले व्यंजन के संयोग के कारण धातु के अर्थ में विशिष्टता आ जाती है। यही कारण है कि 'स्पश्' के अतिरिक्त हमें संस्कृत में 'पश्' धातु भी मिलती है और पॉट के अनुसार इसी अर्थ में एक प्राचीन धातु 'अश्' भी उपलब्ध है। नासिक्य ध्वनिवाली धातुएँ 'वन्द्' एवं 'मन्द्' हैं जो मूलतः 'वद्' एवं 'मद्' से व्युत्पन्न हैं। इसीप्रकार 'युग्' से 'यु-न-ग्' एवं 'यु-ङ-ग्' धातुएँ निर्मित हुई हैं। 'युग्' जोड़ना तथा 'युध्' लड़ना दोनों वस्तुतः 'यु' 'मिश्रण करना या मिलाना' धातु से व्युत्पन्न हुई हैं और यह धातु संस्कृत में सुरक्षित है। यह उल्लेखनीय है कि 'यु' धातु मूलतः मिलने या मिलाने (मिश्रित) होने के अर्थ में, मित्र भाव से मिलने तथा शत्रु भाव से मिलने दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुई है। यही कारण है कि आगे चलकर इसके दो रूप 'युग्' एवं 'युध्' दो अर्थों को स्पष्ट रूप से द्योतित करने के लिए हो गए।

धातुओं के जो ऊपर तीन वर्ग किए गए हैं वे उसरूप में स्पष्ट नहीं हैं जिसरूप में ये सामी (सैमेटिक) भाषाओं में हैं। सैमेटिक भाषा की सभी त्र्यक्षरात्मक धातुओं का मूल द्व्यक्षरात्मक धातुओं में मिल जाता है, संस्कृत की भी अनेक धातुओं का मूल भी इसीप्रकार मिल जाता है। आर्य एवं सैमेटिक परिवार की धातुओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कुछ सीमा

तक दोनों समानान्तररूप में विकसित हुई हैं, किन्तु आर्य परिवार की भाषाओं में ऐसी धातुएँ भी सुरक्षित हैं जो विभिन्न अर्थों का द्योतन करती हैं और इन सभी की नियमित रूप से व्युत्पत्ति देना संभव नहीं है।

## धातुओं की संख्या

संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार संस्कृत भाषा में कुल १७०६ धातुएँ हैं और इन्हीं से संज्ञा, क्रिया, विशेषण, सर्वनाम, उपसर्ग, अव्यय एवं संयोजक के रूप व्युत्पन्न हुए हैं। हमने धातु की ऊपर जो व्याख्या की है उसके अनुसार यह संख्या और भी कम हो सकती है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस सूची में कतिपय नई धातुएँ जोड़नी पड़ेंगी। इसप्रकार यह संख्या ८५० से अधिक नहीं हो सकती। इस संख्या में और भी कमी की जा सकती है। ज्यों-ज्यों भाषा प्रगति एवं विकास के पथ पर अग्रसर होती है त्यों-त्यों प्राचीन धातुओं से व्युत्पन्न शब्द लुप्त होते जाते हैं और उनका स्थान नये शब्द लेते जाते हैं। प्रो० स्कीट के अनुसार अँग्रेजी भाषा की सम्पूर्ण शब्द-सम्पत्ति केवल ४६१ धातुओं से व्युत्पन्न है। बेनलोवे (Benloew) के अनुसार गॉथिक भाषा की धातुओं की संख्या ६०० तथा आधुनिक जर्मन की २५० है। ग्रिम्म ने ट्यूटनिक परिवार की भाषाओं की धातुओं की संख्या ४६२ दी है। डोब्रोवस्की (Dobrowsky) के अनुसार स्लावोनिक भाषा में १६०५ धातुएँ हैं। हिब्रू भाषा की धातुओं की संख्या ५०० है और चीनी भाषा में यह संख्या ४५० हो गई है। इन्हीं ४५० धातुओं से चीनी भाषा में, सुर एवं तान के कारण १२६३ धातुएँ व्युत्पन्न हो गई हैं जिनसे चीनी भाषा-कोष के ४० से ५० हजार शब्द निर्मित हुए हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भाषाओं में धातुओं की संख्या कम करने के लिए कितना अधिक प्रयत्न किया गया है, क्योंकि इन भाषाओं में नये विचारों को प्रगट करने के लिए सदैव नई धातुओं के निर्माण की आवश्यकता होती है। एक बात और है; यदि हम भाषा में वर्णों की संख्या केवल २४ ही मान लें तो द्वयक्षरात्मक एवं त्र्यक्षरात्मक धातुओं की संख्या १४४०० हो जायेगी।

## निर्देशक धातुएँ

इन विधयेक अथवा मूलधातुओं (Predicative roots) के अतिरिक्त हमें एक अन्य वर्ग के धातुओं की आवश्यकता है, जो भाषा के पूर्ण विकास में सहायक सिद्ध हो सके। केवल ४०० अथवा ५०० धातुएँ ही यदि भाषा

में हैं तो भी इनकी सहायता से नये विचारों को प्रकट करने के लिए शब्दों के निर्माण में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। गृहिणी की भाँति भाषा भी बहुत कृपण होती है। पीछे हम यह देख चुके हैं कि केवल एक धातु 'स्पश्' की सहायता से कितने विभिन्न प्रकार के विचारों को प्रकट किया जा सकता है। यदि ५०० इसप्रकार की धातु किसी भाषा में उपलब्ध हों तो उनसे मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनंत शब्द बनाये जा सकते हैं। यदि एक धातु से केवल ५० शब्दों का ही निर्माण हो सके तो उन पाँच सौ धातुओं से पच्चीस हजार शब्द निर्मित हो जावेंगे। कतिपय ग्रामीण मिशनरियों का विचार है कि उनके अनुगामी धर्मावलम्बी अपने दैनिक जीवन में ३०० से अधिक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। बिहिश्तुन की बाणमुखलिपि में लिखित अभिलेखों में ३७९ शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें १३१ शब्द व्यक्तियों के नाम हैं। एजिप्ट की चित्रलिपि में लिखित पुरालेखों में, प्राचीन सन्तों की जो वाणी उपलब्ध हुई है उनमें केवल ६५८ शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इंग्लैंड का एक प्रशिक्षित व्यक्ति जिसने वहाँ के पब्लिक स्कूल एवं विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है तथा जो बाइबिल, शेक्सपियर, समाचार-पत्रों एवं पुस्तकालयों की पुस्तकों को पढ़ता रहता है, वास्तव में ३००० से ४००० तक शब्दों का प्रयोग करता है। विचारक, तार्किक तथा नित्य भाषण के अभ्यस्त विद्वान् अधिक से अधिक १० हजार शब्दों का प्रयोग करते हैं। आक्सफोर्ड के नवीन कोष में २ लाख ५० हजार शब्दों को प्रकाशित करने की सूचना दी गई है। हिब्रू में लिखित बाइबिल में ५,६४२ शब्द हैं। मिल्टन ने अपने काव्य में ८००० शब्दों का प्रयोग किया है। शेक्सपियर के संबंध में लोगों का यह विचार है कि उसने विविध प्रकार के विचारों को द्योतित करने के लिए अनेक नए शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग किया है। यह होते हुए भी जब हम उसके सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य के शब्दों को लेते हैं, तो उनकी संख्या १५,००० होती है।

यदि हमारे पास केवल ५०० धातुएँ ही होतीं तो भी हम इनकी सहायता से अपनी आज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक शब्द निर्मित कर लेते।

यहाँ पर एक और बात विचारणीय है--यह सर्वनामों के सम्बन्ध में है। जहाँ तक संज्ञा-पदों के निर्माण का प्रश्न है वे तो धातुओं से निर्मित हो जाते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यह, वह, क्या, कौन, मैं, तू आदि सर्वनामों की उत्पत्ति

इन धातुओं से कैसे हुई। विद्वानों ने इन सर्वनामों की व्युत्पत्ति भी धातुओं से खोज निकालने का प्रयत्न किया है।

यहाँ इस संबंध में चीनी भाषा से उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। चीनी भाषा में विधेयक अथवा मूलधातु संज्ञा, क्रिया, विशेषण अथवा अव्यय के रूप में प्रयुक्त हो सकती हैं। इसप्रकार चीनी ध्वनि 'ta' (ता) का अर्थ चीनी भाषा में महान, महत्तर एवं 'महान होना' होता है। जब 'ता' किसी संज्ञा के पूर्व आता है तब यह विशेषण होता है; यथा 'ताजिन'—(tajin) का अर्थ है—महान् पुरुष। जब 'ता' किसी संज्ञा के बाद आता है तो यह क्रिया हो जाता है; यथा —'जिन् ता' अथवा 'जिन् ता ये' (jin ta ye) का अर्थ है, 'वह पुरुष महान है', अथवा 'जिन् न्गो ये, लि पु न्गो' (jin ngo˘ ye, li pu˘ ngo˘) का अर्थ है "पुरुष बुरा, कानून नहीं बुरा"। यहाँ पर यह स्पष्टतया हम देखते हैं कि धातु एवं शब्द में कोई अन्तर नहीं है और वाक्य में प्रयोग के अनुसार ही एक शब्द संज्ञा एवं क्रिया दोनों हो जाता है।

अन्य भाषाओं और विशेषरूप से आर्य-परिवार की भाषाओं में कोई भी विधेयक धातु शब्द नहीं बन सकती। लैटिन में एक धातु है—लुक् (luc) "प्रकाश करना"। इससे संज्ञा बनाने के लिए (प्रकाश का भाव द्योतित करने के लिए) इसमें सर्वनामीय प्रत्यय का संयुक्त करना आवश्यक है। इस प्रकार इसमें सर्वनामीय प्रत्यय स् (s) जोड़कर तथा इसे लुक्-स् (luc-s) बनाकर 'प्रकाश' का अर्थ द्योतित किया जा सकता है। 'लुक्-स्' का शब्दार्थ है प्रकाशमान-वहाँ। अब पुनः लुसे luce' में पुरुषवाची सर्वनामीय प्रत्यय संयुक्त करके हम लुक्-ए-स् (luc-e-s) 'प्रकाशमान्-तू' अथवा 'तू प्रकाशमान् है' रूप बना सकते हैं। इसमें अन्य सर्वनामीय प्रत्ययों को संयुक्त करके हम संज्ञा एवं विशेषण के 'Lucidus'—'Luculentus' Lucerna आदि रूप बना सकते हैं।

## संरचना

यदि हम यही बात मानते हैं कि विधेयक धातु के साथ केवल सर्वनामीय शब्द ही प्रत्यय रूप में संयुक्त होते हैं तो हमारी यह धारणा भ्रान्त होगी। इस सम्बन्ध में आधुनिक भाषाओं के प्रत्ययों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि आज के अनेक प्रत्यय मूलतः विधेयक धातु ही थे। आरम्भ में ये मूल, विधेयक धातु के साथ संयुक्त हुए थे और बाद में इन्होंने प्रत्यय का रूप धारण कर लिया था। इसप्रकार अंग्रेजी Landscape के scape तथा

hardship का ship शब्द वास्तव में उसी धातु से व्युत्पन्न हुए थे जिसे हम गॉथिक में skapa, skōp, skōpum 'सृष्टि करना' तथा एंग्लो सैक्सन में scape, scōp एवं scōpon रूप में पाते हैं। यह वही धातु है जो जर्मन भाषा में हमें 'schaft' रूप, यथा Gesellschaft' में प्राप्त होती है। इसीप्रकार wisdom अथवा Christendom का dom वास्तव में उसी धातु से प्रसूत है जो हमें 'to do' में मिलती है। यह मूलतः वही धातु है जो जर्मन thum, यथा, Christenthum एवं एंग्लो-सैक्सन dōm, यथा, Cyning-dom, Königthum में उपलब्ध होती है। अँग्रेजी के 'hood' शब्द एंग्लोसैक्सन में 'hād' रूप में मिलता है और इसका अर्थ 'अवस्था' या 'दर्जा' है, किन्तु man-hood, child-hood, brother-hood तथा neighbour-hood में यह प्रत्यय का रूप धारण कर लेता है।

यही बात हमें प्राचीन भाषाओं में भी उपलब्ध होती है। संस्कृत में 'मय' शब्द प्रत्यय रूप में प्रयुक्त होता है, यथा, 'अश्मन्मय' 'पत्थर से निर्मित', 'मृन्मय' 'मिट्टी से निर्मित', किन्तु इसका मूल अर्थ लुप्त हो गया है। किन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि 'मय' मूलतः 'मा' (मीयते) धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'नापना' या 'बनाना'। मूलतः यह 'मित' या 'विमित' की भाँति स्वतंत्र शब्द था। यही शब्द स्पष्टरूप में 'गोमय' में मिलता है जिसका अर्थ केवल 'गो-निर्मित' नहीं है, अपितु 'गोबर' है। ग्रीक में भी यह प्रत्यय 'meos' यथा, 'andro-meos' में मिलता है जिसका मूल अर्थ 'मानव से निर्मित्त' है, किन्तु यह 'मानवीय' अर्थ में व्यवहृत होता है।

ऊपर केवल आर्य-परिवार की भाषाओं एवं संस्कृत (संस्कृत आर्य परिवार की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है) से ही उदाहरण दिए गए हैं। किन्तु जो बात आर्यपरिवार की भाषाओं के सम्बन्ध में लागू है वह विश्व की सभी भाषाओं में लागू है। अभी तक जिन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है उन सभी में ये दो तत्व, विधेयक (Predicative) एवं निर्देशक (Demonstrative) धातु-पद मिले हैं। संस्कृत एवं ग्रीक की अपेक्षा सामी भाषाओं में ये दोनों तत्व और भी स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत की खोज एवं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व सामी-विद्वानों ने हिब्रू एवं अरबी कोष के सभी शब्दों की उत्पत्ति अल्पसंख्यक धातुओं से ढूँढ़ निकाली थी। चूँकि इन भाषाओं की धातुओं में तीन व्यंजन मिलते हैं, अतएव सामी भाषाओं को लोग त्र्यक्षरात्मक नाम से अभिहित करने लगे।

तुरानियन परिवार की भाषाओं में तो ये दोनों तत्व और भी स्पष्टरूप में उपलब्ध होते हैं। इस परिवार की भाषाओं की यह विशेषता है कि इनमें धातुपद सदैव अपने पूर्णरूप में वर्तमान रहता है और प्रत्ययों के कारण उसमें किसीप्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता।

एक भाषा चीनी भी है, जिसमें उसके विभिन्न अंगों अथवा उपादानों की उपलब्धि के लिए किसी प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं होती। यह एक ऐसी भाषा है जिसमें धातु एवं प्रत्यय का किसीप्रकार का संयोग ही नहीं होता। इसमें प्रत्येक शब्द धातु है और प्रत्येक धातु शब्द है। यह भाषा अत्यन्त आदि-अवस्था में है। ऐसी ही प्रकृत अवस्था में किसी समय अन्य भाषाएँ भी रही होंगी।

एशिया, अफ्रीका, अमेरिका एवं पालिनेशिया में ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जिनका अभी तक व्याकरणीय विश्लेषण नहीं हो सका है, किन्तु हमें इस नकारात्मक साक्ष्य से संतोष करना चाहिए कि अभी तक जिन भाषाओं का व्याकरणीय विश्लेषण हुआ है, उनमें कोई भी ऐसी भाषा नहीं मिली है जिसमें उपर्युल्लिखित दो तत्व न मिले हों।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की उत्पत्ति की समस्या अब उतनी जटिल एवं रहस्यात्मक नहीं रह गई है जितनी वह प्राचीन-युग के दार्शनिकों एवं विचारकों के लिए थी। अब हमें यह स्पष्टरूप से ज्ञात हो गया है कि भाषा के निर्माण करने वाले कौन तत्व हैं। आज हम यह जान गए हैं कि धातु के अतिरिक्त भाषा के अन्य तत्वों की पूरी व्याख्या की जा सकती है। चीनी भाषा से लेकर अंग्रेजी तक जिन-जिन भाषाओं से हमारा परिचय है उनमें हमें भाषा के निर्माण के दो तत्वों, विधेयक एवं निर्देशक धातु-पद मिलते हैं। संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रो० पॉट ने लिखा है कि आज चीनी तथा अन्य एकाक्षर परिवार की भाषाओं की जो अवस्था है वही किसी समय संस्कृत की भी रही होगी। उस युग की संस्कृत में न तो इतनी संश्लिष्टता रही होगी और न उसमें धातुओं एवं प्रत्ययों के परिवर्तन का इतना झमेला ही रहा होगा। वह अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य रही होगी। मैं पॉट के इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ। इसके विपरीत कुछ होना ही असम्भव है।

———

## अध्याय १०

# रूपात्मक वर्गीकरण

## भाषाओं के परिवार एवं वर्ग

पिछले अध्याय में मानव-वाणी का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम यह कि पारिवारिक वर्गीकरण में कतिपय भाषाओं का एक दूसरे से अति निकट का संबंध हो सकता है, किन्तु इनमें से कुछ भाषाओं का अति दूरस्थ का भी संबंध संभव है। दूसरा, यह कि जिन भाषाओं में पारिवारिक संबंध नहीं है उन्हें भी रूपात्मक दृष्टि से वर्गीकृत किया जा सकता है। इस दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के आधार भी इन भाषाओं के व्याकरणीय तत्व हो सकते हैं। आर्य तथा सामी परिवार के भाषाओं के अतिरिक्त अन्य परिवारों की भाषाओं के अध्ययन में ये दोनों निष्कर्ष अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे।

जहाँ तक भाषाओं के लिए परिवार शब्द के प्रयोग का संबंध है, यथार्थतः इसे आर्य एवं सामी के लिए ही प्रयुक्त करना समीचीन है। इस बात की सहज कल्पना की जा सकती है कि बोलियों के रूप में पृथक होने के पूर्व इन दोनों के व्याकरण पूर्ण थे। आरंभ से ही इनका इतिहास वास्तव में, विकास की अपेक्षा ह्रास का इतिहास है। यही कारण है कि इनसे प्रसूत नव्य भाषाओं में भी पारिवारिक एकता स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है। आज के अंग्रेज सैनिकों तथा भारत के सिपाहियों की भाषा, एक अर्थ में, एक एवं समान भाषा है। इन दोनों की भाषाओं का निर्माण उन तत्वों से हुआ है जो ट्यूटनिक एवं इंडिक शाखाओं के पार्थक्य के पूर्व वर्तमान थे। पार्थक्य के बाद इन दोनों में कोई अभिनव तत्व नहीं आए हैं। यदि अंग्रेजी एवं हिन्दुस्तानी के नवविकसित रूपों की हम गम्भीरता से परीक्षा करें तो हमें ज्ञात होगा कि इनमें से जो भी संयोजन के तत्व हैं, वे आर्य बोलियों में आरंभ से ही वर्तमान हैं। इस बात के स्पष्टीकरण के लिए हम अंग्रेजी तथा फ्रेंच के दो वाक्यों—'he is' तथा 'il est' को ले सकते हैं। इन दोनों भाषाओं के क्रिया पदों में उल्लेख सूचक -ति-प्रत्यय वर्तमान है, जो आरंभ से आज तक अक्षुण्ण रूप में चला आ रहा है।

नेबुछेद्नेजर के यहाँ यह प्रथा थी कि उसके राजत्व काल में जो भी विशाल भवन निर्मित होंगे उनकी ईंटों पर उसका नाम अंकित रहेगा। काल की कुटिल गति के कारण ये विशाल भवन ध्वस्त हो गए और इनके भग्नावशेष से नये नगरों का निर्माण हुआ। फ़रात (टायग्रिस) नदी के तट पर स्थित आधुनिक बग़दाद की दीवारों की ईंटों की जाँच कर सर हेनरी राॅलिन्सन (Rawlinson) ने सम्राट् के हस्ताक्षर को प्राप्त किया था। यदि हम नव्य भाषाओं की गठन का अध्ययन करें तो हमें भी इसीप्रकार की उपलब्धि होगी। ये नव्य भाषाएँ भी प्राचीन भाषाओं के भग्नावशेष से ही निर्मित हुई हैं और इन पर प्राचीन आर्य एवं सामी भाषाओं की छाप स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है।

## दूरस्थ सम्बन्ध

भाषाओं का पारस्परिक संबंध सदैव अति निकट का नहीं होता। फिर भी पारिवारिक दृष्टि से उनका संबंध निर्धारित करना पड़ता है। उदाहरणार्थ-अल्बेनियन भाषा स्पष्टरूप से आर्य परिवार की है, किन्तु इसकी व्याकरणीय सामग्री के आधार पर आज यह निर्धारित करना कठिन है कि इसका ग्रीक भाषा से निकट का संबंध है अथवा यह आर्यशाखा की एक स्वतंत्र भाषा है। बहुत दिनों तक सीलोन की भाषा आर्यपरिवार की नहीं मानी जाती थी, किन्तु जब मैंने इसके क्रियापदों के प्रत्ययों का अध्ययन किया तो मुझे इसके संस्कृत से व्युत्पन्न होने में किसीप्रकार का सन्देह न रह गया। ध्वन्यात्मकह्रास तथा बोलियों के विकास के कारण उनके मूल की खोज करने में बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्याकरणीय प्रणाली की पूर्ण प्रतिष्ठा के पूर्व ही भाषाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं। इस स्थिति में उनमें उसप्रकार की समानता उपलब्ध नहीं होती है जिसप्रकार नव्य लैटिन की फ्रेंच इटैलियन एवं स्पेनिश भाषाओं में मिलती है। इन भाषाओं एवं बोलियों में अनेक समानता संबंधी तत्व मिलते हैं, किन्तु प्रत्येक में कतिपय विचित्र एवं असमान रूप भी मिल सकते हैं। असमान रूपों का कारण बाद का विकास होता है। उदाहरणार्थ रोमान्स की छै बोलियों में परस्पर अति निकट का संबंध है, किन्तु कई अतिसाधारण शब्दों के संबंध में इनमें भिन्नता है। लैटिन frater, फ्रेंच frère के लिए स्पैनिश में hermano शब्द मिलता है। इस परिवर्तन का कारण है। लैटिन का frater शब्द परिवर्तित होकर fray एवं frayle बन गया तथा भाई अथवा 'फ्रायर' (friar) अर्थ में प्रयुक्त

होने लगा। चूँकि, एक ही frater शब्द दो अर्थों को द्योतित करने लगा अतएव असुविधा निवारण के लिए स्पैनिश में 'भाई' के अर्थ में इसका प्रयोग अप्रचलित हो गया और इसके स्थान पर लैटिन का germanus शब्द प्रचलित हो गया। इसीप्रकार 'मेषपालक' के अर्थ में लैटिन शब्द pastor का प्रयोग जब क्लर्जी वर्ग के लिए होने लगा तब वास्तविक मेषपालक के लिए किसी अन्य शब्द का प्रयोग आवश्यक हो गया। इसके लिए berbex या vervex 'मेष' से व्युत्पन्न berbicarius शब्द प्रयुक्त होने लगा। यही शब्द फ्रेंच में berger बन गया। स्पैनिश के enfermo 'रोग' के लिए हमें फ्रेंच में malade एवं इटैलियन में malato शब्द मिलते हैं। ग्रीक एवं लैटिन जैसी अति निकट की भाषाओं तक में 'पुत्र,' कन्या, भाई, स्त्री, मनुष्य, आकाश, पृथ्वी, चन्द्र, हाथ, मुख, वृक्ष एवं पक्षी आदि के लिए विभिन्न शब्द मिलते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आर्य परिवार की अनेक भाषाओं द्वारा प्रदत्त-पर्यायवाची शब्दों में से ग्रीक ने एक शब्द को ग्रहण किया तो रोमान्स भाषाओं ने दूसरे को स्वीकार किया। इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि स्वाभाविकरूप में चयन के सिद्धान्त को स्वीकृत करते हुए एक ही मूल स्रोत से व्युत्पन्न भाषाएँ सामान्य वस्तुओं के लिए भी विभिन्न नाम स्वीकृत कर लेती हैं। वास्तविक पर्यायवाची शब्दों की संख्या कभी-कभी बहुत अधिक बतलाई जाती है और यदि आइसलैंडिक भाषा में 'द्वीप' के लिये १२० नाम अरबी में 'सिंह' के लिए ५०० नाम तथा 'तलवार' के लिए १००० नाम अथवा जर्मन में Primula elatior के लिए ६० नाम तथा colchicum के ५० नाम उपलब्ध हैं तो इनमें से अनेक नाम काव्यात्मक एवं तकनीकी हैं। किन्तु यदि किसी भाषा में एक ही वस्तु के चार नाम उपलब्ध हैं तो यह स्पष्ट है कि इस भाषा से चार भाषाएँ प्रादुर्भूत हैं और इन चारों की रूपरेखा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है।

यही बात व्याकरण के संबंध में भी है। उदाहरणार्थ जब रोमान्स भाषाएँ, क्रिया के सामान्यरूप के बाद सहायक क्रिया habere 'रखना' का प्रयोग करके भविष्यत्काल का नया रूप बनाने लगीं तो उनके समक्ष भविष्यत्काल के निर्माण के लिए अन्य उपाय भी थे। फ्रेंच लोग 'je dirai' के बदले 'je vais dire' अथवा 'je dirvais' कह सकते थे और तब फ्रेंच का भविष्यत्काल इटैलियन से सर्वथा भिन्न होता। अंग्रेजी का 'wisdom' शब्द ठीक वही है जो जर्मन का 'weis-heit', अंतर केवल इतना ही है कि

अंग्रेजी में —dom तथा जर्मन में —heit प्रत्यय संयुक्त हुआ है। यदि इसप्रकार के परिवर्तन फ्रेंच, इटैलियन, जर्मन एवं अंग्रेजी जैसी प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में संभव हैं तो जो भाषाएँ स्थिर होने के पूर्व ही विच्छिन्न हो गईं उनके व्याकरण एवं कोष में हमें और भी अधिक परिवर्तन की आशा करनी चाहिए। लोगों को इस बात में संदेह है कि तुर्की तथा फिनिश में यथार्थतः कोई सम्बन्ध है, किन्तु दोनों में कतिपय ऐसी समान विशेषताएँ हैं जिनका कारण केवल संयोग नहीं हो सकता। अफ्रीका के पूर्वीतट की कतिपय बान्टू बोलियाँ पारस्परिक बोधगम्य नहीं हैं, किन्तु इनमें जो व्याकरणीय साम्य है तथा इनके महत्वपूर्ण शब्दों में जो समानता है उन्हें देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता कि ये एक ही परिवार की नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है जब स्पष्ट निर्णय देना नितांत कठिन होता है। मिस्र की चित्र-लिपि में लिखित प्रत्नलेखों की भाषा व्याकरणीय गठन की दृष्टि से सामी भाषा के समान है, किन्तु आर्य भाषा से भी यह कई बातों में समानता रखती है। इन समानताओं के कारण कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली थी कि मिस्र की भाषा उस अवस्था की है जब आर्य एवं सामी भाषाओं का पार्थक्यन नहीं हुआ था।

डा० लॉटनर (Lottner) ने सन् १८६१ की 'फिलालॉजिकल सोसाइटी' के विवरण मे कतिपय मूल्यवान लेख लिखे थे। ये लेख सामी परिवार तथा उससे सम्बन्धित परिवारों के संबंध में थे। इन लेखों में आपने यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि उत्तरी अफ्रीका की बर्बर बोलियाँ पहले मिस्र से लेकर अटलांटिक के तटवर्ती भू-भाग में प्रचलित थीं, किन्तु अरब लोगों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप ये अफ्रीका के भीतरी भूभाग में चली गईं। आपके अनुसार ये बर्बर बोलियाँ सामी भाषा की ही एक समानान्तर शाखा थीं। इस सम्बन्ध में स्पष्टरूप से निर्णय देना कठिन है, क्योंकि एक ओर उत्तरी अफ्रीका की बोलियों तथा दूसरी ओर सिरियक, हिब्रू एवं अरबी में जो समानताएँ प्रदर्शित की गई हैं उनके आधार पर निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

## रूपात्मक वर्ग

पारिवारिक वर्गीकरण की पृष्ठभूमि में जहाँ एक मूल स्रोत से भाषाओं के प्रादुर्भूत होने का भाव रहता है, वहाँ रूपात्मक वर्गीकरण में इसप्रकार

का कोई भाव नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि कई भाषाएँ पारिवारिक वर्गीकरण की दृष्टि से एक दूसरे से सम्बन्धित हों, किन्तु रूपात्मक वर्गीकरण की दृष्टि से वे विभिन्न वर्ग की हों। ऐसा प्रायः होता है कि कई भाषाएँ रूपात्मक दृष्टि से तो एक वर्ग की होती हैं, किन्तु उनमें किसीप्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध नहीं होता।

हम यह देख चुके हैं कि सभी भाषाओं को अन्ततोगत्वा विधेयक (प्रकृत) एवं उल्लेखसूचक (प्रत्यय) धातुओं तक घटित किया जा सकता है। इन प्रकृत प्रत्ययों का संयोजन तीन प्रकार से किया जा सकता है। इस तरह तीन प्रकार की भाषाएँ हो सकती हैं। इन्हें हम भाषा-निर्माण की तीन अवस्थाएँ भी कह सकते हैं। ये इस प्रकार हैं––

(१) अनेक धातुपद (प्रकृत एवं प्रत्यय) स्वतंत्र शब्दों के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं।

(२) दो धातुपद सामासिक रूप में आकर शब्दों का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में इनमें एक पद की स्वतंत्र सत्ता लुप्त हो सकती है।

(३) दो धातुपद सामासिक रूप में संयुक्त होकर शब्दों का निर्माण कर सकते हैं तथा इस प्रक्रिया में दोनों की स्वतंत्र सत्ता लुप्त हो सकती है।

जो बात दो धातुपदों के सम्बन्ध में कही गई है वही बात तीन-चार अथवा इनसे अधिक धातुपदों के संबंध में भी कही जा सकती है। ये तीन अवस्थाएँ, प्रकृत (Radical), अन्त्यवर्णिक (Terminational), तथा रूप युक्त (Inflectional) हैं। प्रथमावस्था में धातुपद स्वतंत्र होते हैं और धातुपद एवं शब्द में कोई अंतर नहीं होता। इस अवस्था का नामकरण मैंने 'प्रकृत' किया है। इस अवस्था को 'एकाक्षरिक' अथवा 'अयोगात्मक' भी कहा गया है।

दूसरी अवस्था में दो या दो से अधिक धातुपद-संयुक्त होकर एक शब्द का निर्माण करते हैं। इनमें से एक पद की सत्ता अक्षुण्ण रहती है, किन्तु दूसरा पद अन्त्यवर्णिक बन जाता है। इस अवस्था का नामकरण मैंने अन्त्यवर्णिक किया है। इस अवस्था को योगात्मक भी कहा गया है।

तीसरी अवस्था में धातुपद एक दूसरे से इस रूप में संयुक्त हो जाते हैं कि दोनों की स्वतंत्र सत्ता लुप्त हो जाती है। इस अवस्था का नामकरण मैंने अन्त्यवर्णिक किया है। इसे संश्लिष्टावस्था भी कहा गया है।

प्रथम अवस्था में ध्वन्यात्मक विकार बिलकुल नहीं होता।

दूसरी अवस्था में मुख्य धातुपद में तो कोई ध्वन्यात्मक विकार नहीं होता, किन्तु गौण धातुपद में विकार होता है।

तीसरी अवस्था में मुख्य धातुपद एवं गौग धातुपद, दोनों में ध्वन्यात्मक-विकार होता है।

## एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण

भाषाओं के इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कोई भी भाषा सदैव ऊपर की अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में नहीं रहती। जैसा कि डा० एडकिन्स (Edkins) ने स्पष्टरूप से प्रदर्शित किया है, नव्य चीनी भाषा में आरंभिक संयोगावस्था के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे हैं। उग्रिक भाषाओं में तो स्पष्टरूप से ध्वन्यात्मक परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और स्पष्टयता यह प्रतीत होता है कि ये भाषाएँ संश्लिष्टावस्था की ओर अग्रसर हो रही हैं। इधर फ्रेंच एवं अंग्रेजी जैसी आधुनिक आर्य भाषाओं में नवीन व्याकरणीय रूपों का संयोजन होने लगा है। मैं प्रो० हुन्फैल्वी (Hunfalvy) के इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ कि भाषाओं के रूपात्मक वर्गीकरण का परित्याग कर केवल पारिवारिक वर्गीकरण को ग्रहण करना समीचीन नहीं है। इसप्रकार के प्रतिस्थापन की बात कभी सोची भी नहीं गई थी। दोनों प्रकार के वर्गीकरण लाभदायक एवं महत्वपूर्ण माने जाते थे। हाँ, यह बात अवश्य उल्लेखनीय हैं कि पारिवारिक वर्गीकरण सदैव अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था।

प्रो० हुन्फैल्वी ने एक अभिनव रूपात्मक वर्गीकरण का प्रस्ताव किया है। यह बहुत सुन्दर है, किन्तु इस वर्गीकरण की भी वही सीमा है जो अन्य वर्गीकरण की है। आप ने अपने वर्गीकरण में निम्नलिखित चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं:—

(१) अयोगात्मक—यह ठीक वही है जैसा कि मैंने अपने वर्गीकरण में दिया है।

(२) वे भाषाएँ जिनके संज्ञा एवं क्रियापदों के स्वर अपरिवर्तित रहते हैं तथा इनके अनुसार ही प्रत्ययों के स्वर होते हैं। ऐसी भाषाएँ फिनिश एवं तुर्की आदि हैं।

(३) वे भाषाएँ जिनके संज्ञा एवं क्रियापदों के स्वर, प्रत्ययों के स्वरों के अनुसार होते हैं। यथा—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, स्लावोनिक एवं जर्मन आदि।

(४) वे भाषाएँ जिनके संज्ञा एवं क्रियापदों में स्वरों का अभाव होता है, किन्तु क्रिया एवं संज्ञा पदों के वर्गों को निर्धारित करने के लिए स्वरों का प्रयोग करना पड़ता है। यथा—हिब्रू, अरबी आदि।

यद्यपि ऊपर का वर्गीकरण बहुत अच्छा है, किन्तु इसमें भी वही कठिनाई है जो मेरे वर्गीकरण में है अर्थात् कभी-कभी एक ही भाषा दो अवस्थाओं के अन्तर्गत आती है।

अब यहाँ मैं अपने वर्गीकरण का उदाहरण देते हुए उसे स्पष्ट करूँगा।

## प्रकृत अवस्था

यह प्रथम अवस्था है और इसकी प्रतिनिधि भाषा चीनी है, जिसमें प्रत्येक धातुपद स्वतंत्र एवं सार्थक होता है। चीनी भाषा में संज्ञा, क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि का कोई भेद नहीं होता। वाक्य में स्थान के अनुसार एक ही धातुपद का अर्थ इसमें 'महान्', 'महत्व', 'महत्वपूर्ण', 'महान् होना' हो जायेगा। वास्तव में, चीनी भाषा में, वाक्य में, शब्द के स्थान पर ही अर्थ निर्भर करता है। इसप्रकार इसमें 'न्गोतानि' का अर्थ है 'मैं मुझे मारता हूँ,' किन्तु, 'नितान्गो' का अर्थ है—तुम मुझे मारते हो। चीनी में 'न्गोगिन्' का अर्थ है 'बुरा आदमी', किन्तु 'गिन्न्गो' का अर्थ है—आदमी बुरा है।

लैटिन में हम 'डंडे से' के लिए 'बकुलो' (baculo) कहते हैं। चीनी में इसी के लिए हम 'य चाङ' कहते हैं। यहाँ हम 'य' को 'से' परसर्ग के अर्थ में लेते हैं, किन्तु चीनी में 'य' यथार्थतः एक स्वतंत्र धातुपद है और इसका अर्थ है—'उपयोग में लाना'। इसप्रकार चीनी में 'य चाङ' का अर्थ है—"उपयोग करो डंडे का"। पुनः जिसे हम अंग्रेजी में at home 'घर पर' अथवा 'घर में' तथा लैटिन में 'domi' कहते हैं उसे चीनी में 'उ-ओ-लि' कहा जाता है। यहाँ 'उ-ओ' का अर्थ है 'घर' तथा 'लि' का मूल अर्थ है 'भीतर'। आधुनिक चीनी में 'दिन' के अर्थ में 'गि-त्से' का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है 'सूर्य का पुत्र'।

जब तक प्रत्येक शब्द अपने प्रकृत अर्थ को व्यक्त करता है, तब तक भाषा प्रथम अथवा प्रकृत अवस्था में रहती है, किन्तु जब 'गि-त्से' दिन का 'त्से', 'उओ-लि', 'घर में' का 'लि' तथा 'य चाङ'—'डंडे से' का 'य' अपने प्रकृत अर्थ को खो बैठते हैं तथा कारक-चिह्न बन जाते हैं, तब भाषा दूसरी अवस्था, अन्त्यवर्णिक में पहुँच जाती है। किन्तु, जैसा कि प्रो० हुन्फाल्वी ने

कहा है—इस संस्क्रमण का हमारे विभाजन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत ऐतिहासिक दृष्टि से विभाजन की क्रिया को सम्पुष्टि ही प्राप्त होती है।

चित्रलिपि में प्रत्नलेखों में उपलब्ध प्राचीन मिस्र की भाषा को भी एक दृष्टि से चीनी भाषा के साथ वर्गीकृत किया जा सकता है। दोनों में मुख्यरूप से नकारात्मक समानता है। दोनों के प्रकृत (=धातु) पद, संज्ञा, विशेषण, क्रिया एवं अव्यय रूप में व्यवहृत होते हैं और उनके रूप परिवर्तित रहते हैं; किन्तु चीनी तथा मिस्र की भाषा में यथार्थतः और किसीप्रकार का संबंध नहीं है।

चीनी भाषा के जो प्राचीनतम नमूने उपलब्ध हुए हैं उनके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें अत्यल्प परिवर्तन हुआ है। इस दृष्टि से संसार की भाषाओं में चीनी का अपना अलग स्थान है। कतिपय विद्वानों का यह मत है कि इसके प्रारम्भिक अवस्था में भी ध्वन्यात्मक अपभ्रष्टता के कुछ चिह्न मिलते हैं। यह हो सकता है और इसकी स्थानीय बोलियों के अध्ययन से इस बात की सम्पुष्टि भी होती है, किन्तु इसप्रकार अनावश्यक तत्वों के परित्याग से अंग्रेजी में सरलता आई है। उसीप्रकार इसके व्याकरण में भी सरलता आई, यह कहना कठिन है। इस संबंध में वस्तुतः अनुसंधान की आवश्यकता है। चीनी भाषा का प्राचीन साहित्य कितना पुराना है, आज इस संबंध में निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है। यदि हम यह बात स्वीकार कर लें कि जिस प्राचीन चीनी साहित्य के अधिकांश भाग को 'खिन्' के सम्राट् शि-ह्वांग्-ति ने ईस्वी पूर्व २१३ में विनष्ट करवा दिया था, यदि मौखिक परम्परा तथा हस्तलिखित पुस्तकों के रूप में वह मिल भी जाती तो भी हम 'कन्फ्यूशस्' तथा 'लाओ-त्से' की कृतियों को उनके संकलन की तिथि से बहुत पहले नहीं ले जा सकते। इनमें बहुत प्राचीन सामग्री हो सकती है, किन्तु ये हमें ई० पू० ६०० में प्राप्त हुई हैं। यह सम्भव है कि खिन के सम्राट् ने जो साहित्य जलवा दिया था उसके प्रभाव से यह सामग्री भी न बची हो।

## अन्त्यवर्णिक-अवस्था

चीन के पश्चिम, विस्तृत भूभाग में भाषाओं का एक ऐसा समूह उपलब्ध है जो प्राकृत अवस्था का परित्याग कर पूर्ण संयोगावस्था की ओर जा रहा है और जिसमें कहीं-कहीं संश्लेषणावस्था के व्याकरण के रूप भी मिल

जाते हैं। इन्हें 'यूरल-अल्टाइक' अथवा 'उग्रो-तातारिक' के नाम से अभिहित किया गया है। अपने सन् १८५४ के एक पुराने निबन्ध में मैंने इन भाषाओं को 'तुरानी' कहा था। मैंने उस समय 'उत्तरी' तथा 'दक्षिणी तुरानी' भाषाओं के नाम से दो वर्गों का उल्लेख किया था तथा दक्षिणी तुरानी के अन्तर्गत 'तामुलिक' (तमिल), ताइक, गैंजेटिक, 'लोहितिक' एवं 'मलाइक' को रखा था। गत तीस वर्षों में भाषा-विज्ञान का अध्ययन इतना आगे बढ़ चुका है और इनमें से कतिपय भाषाओं के अध्ययन में इतनी अधिक प्रगति हो चुकी है कि आज 'तामुलिक', 'ताइक', 'गैंजेटिक', लोहितिक, एवं मलाइक के संबंध में विशेष प्रामाणिकता के साथ कुछ कहना कठिन है।

किन्तु, उत्तरी तुरानियन भाषाओं की स्थिति इससे किंचित भिन्न है। इनमें पारस्परिक रूपात्मक समानता ही नहीं है, अपितु इनमें वास्तविक पारिवारिक संबंध भी है, यद्यपि यह सम्बन्ध उतना घनिष्ठ नहीं जितना आर्य एवं सामी परिवार की भाषाओं में है।

## रास्क तथा प्रिकार्ड का वर्गीकरण

यद्यपि सर्व प्रथम मैंने ही तुरानी नामकरण एवं तुरानी भाषाओं का वर्गीकरण किया था, तथापि आर्य एवं सामी परिवारेतर एशिया एवं यूरप की भाषाओं को एक नाम देने तथा उन्हें वर्गीकृत करने के लिए बहुत पहले अन्य विद्वानों ने भी प्रयत्न किया था। ऐसे विद्वानों में रास्क एवं प्रिकार्ड के नाम उल्लेखनीय हैं। रास्क ने तीन परिवारों में भाषाओं को वर्गीकृत किया था। ये थे—थ्रेशियन (आर्य), सेमेटिक (सामी) तथा सिथियन। इस सिथियन के अन्तर्गत वे सभी भाषाएँ समाविष्ट थीं जिन्हें मैंने तुरानियन के नाम से अभिहित किया है। अपनी भारत-यात्रा के समय, रास्क ने अपने ३० जुलाई सन् १८२१ के एक पत्र में तमिल, तेलुगु आदि द्रविड़ भाषाओं को स्पष्टरूप से सिथियन परिवार का माना है।

प्रिकार्ड ने इनका नामकरण 'एलोफीलियन' किया है। यह नाम कई दृष्टियों से बेहतर है।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि यूरप तथा एशिया में आर्यों तथा सेमेटिक लोगों के पूर्व 'सिथियन' अथवा 'एलोफीलियन' जाति के लोग निवास करते थे। इधर हाल ही में 'वेस्टर गार्ड', 'नोरिस', 'लेनोमण्ट' तथा 'ओपर्ट' ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि बेबिलन तथा निनेवेह की सामी सभ्यता

के पूर्व यूरप एवं एशिया में तुरानी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार था। इन विद्वानों का यह भी मत है कि 'बाणमुख लिपि' के मूल आविष्कर्ता तुरानी जाति के लोग ही थे और इनके साहित्य का अवशेष द्वितीय श्रेणी के बाणमुख लिपि में लिखित प्रत्न लेखों में आज भी सुरक्षित है। इन प्रत्न लेखों को लोग कभी 'सिथियन', कभी 'मिडियन', कभी 'सुमेरियन' या 'अकेडियन' नामों से अभिहित करते हैं।

ऊपर के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विद्वानों के चाहे जो भी विचार हों, किन्तु इस बात में किसी को सन्देह नहीं है कि 'मंगोलिक' एवं 'तुर्किक' में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुनः इन दोनों का 'तुंगुजिक' से तनिक दूर का सम्बन्ध है तथा इन तीनों का 'फिन्निक' एवं 'समोयेडिक' से तनिक और दूर का रिश्ता है। इसीलिए 'मंगोलिक', 'तुर्किक' एवं 'तुंगुजिक' भाषाओं को 'अल्टाइक' एवं 'फिन्निक' (इसके अन्तर्गत हुंगेरियन भी है) को 'उग्रिक' के अन्तर्गत रखा गया है। कतिपय विद्वानों के अनुसार 'समोयेडिक' एक स्वतंत्र केन्द्रीय भाषा है। वास्तव में पाँचों समूह मिलकर 'यूरल अल्टाइक' परिवार का निर्माण करते हैं।

## स्वर सामञ्जस्य

यूरल-अल्टाइक परिवार की अधिकांश भाषाओं में जो एक विशेषता उपलब्ध होती है वह स्वर सामंजस्य अथवा स्वरसाम्य सम्बन्धी है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्य स्वर मुख्य स्वर के अनुसार होने चाहिए। यह नियम 'तुंगुजिक', 'मंगोलिका', 'तुर्किक' 'समोयेडिक,' एवं फिन्निक वर्ग की भाषाओं से बोलियों तक में लागू होता है। यही नियम द्रविड़ परिवार की 'तामुलिक' भाषाओं, विशेषरूप से 'तेलुगु' में दृष्टिगोचर होता है। भाषाओं में केवल प्रत्यय का स्वर ही प्रकृत के स्वर का अनुगमन नहीं करता, अपितु प्रत्यय का स्वर भी प्रकृत को प्रभावित करता है। तुर्की भाषा के स्वर दो वर्गों, उच्च (sharp) एवं 'समतल' (flat) में विभक्त हैं। यदि क्रिया-पद का स्वर उच्च है तो प्रत्यय का स्वर भी उच्च होगा, किन्तु जब यही प्रत्यय समतल स्वर का अनुगमन करेगा तो इसका स्वर समतल हो जायेगा। उदाहरणार्थ तुर्की में 'सेव्-मेक्' (sev-mek) 'प्यार करना' तथा 'बैक-मैक्' (bak-mak) 'श्रद्धा करना' होगा। यहाँ 'मेक' एवं 'मैक' दोनों प्रत्यय हैं। इसीप्रकार यहाँ 'एव्-लेर्' (ev-ler) 'घरों' तथा 'एट्-लार' (at-lar)' 'घोड़ों' होगा। यहाँ 'लेर' तथा 'लार' दोनों बहुवचनीय प्रत्यय हैं।

स्वर सामंजस्य का यह नियम आर्य अथवा सामी परिवार की भाषाओं में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु तुरानियन परिवार की दूरस्थ हुंगेरियन, मंगोलियन, तुर्की, साइबेरिया की भाषा याकूत, तेलुगु, तुळु एवं भारत की पूर्वी अंचल की भाषाओं में स्वरसाम्य की प्रक्रिया मिलती है।

## घुमन्तू जातियों की भाषाएँ

ऊपर जिन भाषाओं का उल्लेख किया गया है, यदि इनमें हम उसी साम्य का दर्शन करना चाहें जो हमें आर्य तथा सामी परिवार की भाषाओं में उपलब्ध होता है, तो हमें निराश होना पड़ेगा। वास्तव में इस साम्य का अभाव ही तुरानियन परिवार की भाषाओं की एक विशेषता है। आर्य एवं सामी परिवार की भाषाओं से इनकी तुलना करते समय हमें इस तथ्य को स्मरण रखना चाहिए कि ये घुमन्तू जातियों की भाषाएँ हैं। जहाँ तक संस्कृत एवं सामी परिवार की भाषाओं का सम्बन्ध है, ये उन जातियों की भाषाएँ हैं जिनके धर्म, नीति, संस्कृति एवं साहित्य की धारा अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान रही है और इन भाषाओं पर इनके साहित्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इसके विपरीत प्राचीन तुरानी जाति के लोग घुमन्तू थे तथा उनमें राजनैतिक, सामाजिक, तथा साहित्य एवं संस्कृति की दृष्टि से कभी केन्द्रीकरण ही नहीं हो सका था। इनके यहाँ साम्राज्य तो बनते थे, किन्तु बालू के बवंडर के समान उनके विनष्ट होने में देर नहीं लगती थी। इनके कानून, गीतों एवं कथाओं का जीवन भी अत्यल्प ही था। बोलियों के विकास के सम्बन्ध में विचार करते समय यह हम देख चुके हैं कि यदि भाषाओं में साहित्यिक मानदण्ड न हो तो कितनी शीघ्रता से वे परिवर्तित हो जाती हैं। भाषा के पिता, माता, कन्या एवं पुत्र जैसे आवश्यक संज्ञा शब्दों के रूप भी सभी तुरानियन भाषाओं में एक नहीं हैं और व्याकरणीय प्रत्ययों का भी यही हाल है। इतने पर भी तुरानी भाषाओं के कतिपय संख्यावाची विशेषण, सर्वनाम एवं धातुपदों में समानता मिलती है और इसकी दूरस्थ शाखाओं में भी जो शब्द साम्य है, उससे यही ज्ञात होता है कि ये भाषाएँ एक ही मूल से प्रादुर्भूत हुई हैं तथा इनमें पारस्परिक सम्बन्ध है।

## संयोगात्मक एवं संश्लिष्टता

तुरानी भाषाओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि ये संयोगावस्था की भाषाएँ हैं। यहाँ संयोगात्मकता से यह तात्पर्य नहीं है कि यहाँ क्रियापदों के

रूप में सर्वनाम संयुक्त कर दिए जाते हैं अथवा संज्ञापदों के रूप में उपसर्ग संयुक्त कर दिए जाते हैं। वास्तव में यह प्रक्रिया तुरानी भाषाओं की विशेषता नहीं है, क्योंकि हिब्रू एवं संस्कृत में भी क्रिया एवं संज्ञा के रूप उसीप्रकार संपन्न होते हैं। वास्तव में तुरानी भाषाओं की यह विशेषता है कि इनमें क्रिया एवं संज्ञा रूपों को इनके प्रत्ययों से स्पष्टरूप से पृथक् किया जा सकता है और यद्यपि यहाँ प्रत्यय स्वतंत्र शब्दों के रूप में नहीं हैं, तथापि मूल शब्दों के साथ उनका संबंध शिथिल है।

आर्य-भाषाओं में भी आरंभ में इसीप्रकार की संयोगात्मकता रही होगी, किन्तु समय के प्रवाह में, धातु अथवा प्रकृत-शब्द एवं प्रत्यय-रूप, एक दूसरे से संयुक्त हो गए तथा प्रत्ययों में इतनी अधिक ध्वन्यात्मक अपभ्रष्ठता आ गई कि धातु एवं प्रत्यय को पृथक् करना भी कठिन हो गया। आर्य एवं तुरानी भाषाओं में वही अन्तर है जो अच्छे तथा बुरे भोज़इक में होता है। आर्य भाषा के शब्द वस्तुतः भोज़इक के नमूने हैं। इनमें प्रकृत एवं प्रत्यय दोनों इस रूप में संयुक्त हो गए हैं कि वे समग्ररूप में एक ज्ञात होते हैं, किन्तु इसके विपरीत तुरानी भाषा के शब्द बुरे भोज़इक के नमूने हैं क्योंकि इनमें प्रकृत एवं प्रत्यय इस रूप में संयुक्त हुए हैं कि इनमें स्पष्टरूप से दरारें दृष्टिगोचर होती हैं।

चूँकि तूरानी भाषाएँ घुमन्तू जाति की भाषाएँ हैं, अतएव यह आवश्यक था कि ये संयोगावस्था में ही बहुत दिनों तक रहें। इन भाषाओं में यह आवश्यक समझा गया कि इनके प्रकृत एवं प्रत्यय पृथक्-पृथक् रहें और ये भाषाएँ संश्लिष्ट न बनें।

संश्लिष्ट भाषाओं में प्रकृत एवं प्रत्यय किसप्रकार परस्पर संयुक्त होकर एक हो जाते हैं, इसके लिये फ्रेंच का 'âge' शब्द लिया जा सकता है। आज यह शब्द एक प्रत्यय मात्र रह गया है। प्राचीन फ्रेंच में 'âge' का रूप eage एवं edage था। वास्तव में यह edage शब्द लैटिन aetaticum का अपभ्रष्ट रूप है। यह aetaticum शब्द भी aetas से प्रादुर्भूत हुआ है तथा aetas भी aevitas का संक्षिप्तरूप है। यह aevitas भी aevum से प्रसूत है और इस aevum में भी केवल 'ae' मात्र प्रकृत अथवा मूल है। यही संस्कृत के 'आयुस्' 'जीवन' के 'आयु' में वर्तमान है तथा इसी मूल से ऊपर के सभी शब्द प्रसूत हुए हैं। इसी aevum से रोमान्स का aeviternus शब्द निर्मित हुआ है जिसका संक्षिप्त रूप aeternus हो गया है।

इसी से 'age' एवं eternity शब्द प्रसूत हुए हैं। अब यदि विचार कर देखा जाय तो ae या aevum या aevitas अथवा aetas का कौन अंश फ्रेंच āge में वर्तमान है? तुरानी भाषाओं के कोष में āge जैसे शब्द नहीं मिलेंगे। घुमन्तू जाति की भाषा के लिए यह आवश्यक है कि इनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिसे सभी लोग समझ सकें। जिन शब्दों का सहज विश्लेषण संभव नहीं है वे ऐसी ही भाषाओं में उपलब्ध होते हैं जिनकी सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा प्राचीन है। ऐसे शब्दों के लिये घुमन्तू जाति की भाषाओं में स्थान नहीं है और यदि ऐसे शब्द निर्मित भी होते हैं तो वे एक ही पीढ़ी में समाप्त भी हो जाते हैं।

आर्य भाषाओं के क्रिया-पदों में ऐसे अनेक रूप मिलते हैं जिनमें पुरुषवाची सर्वनाम स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, फिर भी परम्परा, प्रथा एवं साहित्य के कारण ऐसे रूपों का परित्याग लोगों को सहन नहीं होता, किन्तु घुमन्तू जातियों के पर्यटनशील समाज में ऐसे रूपों के लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि इन जातियों की भाषाएँ संयोगावस्था में है और इनमें अव्यवस्थित रूपों का अभाव है।

तुरानी भाषा-भाषी संस्कृत तथा लैटिन के निम्नलिखित रूपों को सहन कर लेगा।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| अस्-मि | अ-सि | अस्-ति | स्-मस् | स्-थ | स्-अन्ति |
| मैं हूँ | तू है | वह है | हम हैं | तुम हो | वे हैं |

लैटिन

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 's-um | e-s | es-t | 'su-mus | es-tis | 'sunt |

कतिपय रूपों को छोड़कर ऊपर के उदाहरण में धातु एवं प्रत्यय इतने पृथक् एवं स्पष्ट हैं जितने तुर्की के निम्नलिखित उदाहरण में हैं:—

| | | |
|---|---|---|
| bakar-im | bakar-sin | bakar |
| मैं श्रद्धा करता हूँ | तुम श्रद्धा करते हो | वह श्रद्धा करता है |
| bakar-iz | bakar-siniz | bakar-lar |
| हम श्रद्धा करते हैं | तुम लोग श्रद्धा करते हो | वे श्रद्धा करते हैं |

किन्तु नव्य आर्यभाषा हिन्दुस्तानी के क्रियारूपों—हूँ, है, है, हैं, हो, हैं को समझना तुरानी भाषा-भाषी के लिए नितान्त कठिन एवं दुरूह है क्योंकि ये रूप उसके घुमन्तू जीवन के सामंजस्य में नहीं हैं। तुरानी भाषाओं में या तो

प्रत्यय व्यवहृत ही नहीं होते, जैसा कि तुंगुजिक बोली मंडशु में हम देखते हैं, अथवा यदि होते भी हैं तो वे सर्वथा बोधगम्य होते हैं, जैसा कि हम एक अन्य तुंगुजिक बोली नयर्रचिस्क (Nyertchinsk) में पाते हैं। जिन तुरानी भाषाओं में साहित्य नहीं है उनके व्याकरणीय रूपों में प्रभेदक तत्वों का अभाव होता है और इनमें उत्तम पुरुष, एक वचन एवं बहुवचन तथा अन्य पुरुष, बहुवचन के प्रत्यय एक ही रहते हैं। इसीप्रकार इनमें मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष, एक वचन तथा उत्तम पुरुष एवं अन्य पुरुष के बहुवचन के रूपों में भी कुछ अन्तर नहीं होता। इन भाषाओं में अन्तर को स्पष्ट करने के लिए नये सर्वनाम पदों का प्रयोग करना पड़ता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि तुरानी भाषाओं अथवा संयोगावस्था की अन्य भाषाओं के शब्दरूपों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन के परिणामस्वरूप संस्कृत तथा सामी-भाषाओं की भाँति क्यों नहीं परिवर्तन होता और इन भाषाओं में बोलियों से कैसे नये रूप आकर पुराने रूपों का स्थान ले लेते हैं। बात यह है कि तुरानी भाषा-भाषी को अपनी भाषा एवं उसके व्याकरण दोनों का पूर्ण अवबोध होता है। उदाहरणार्थ—बहुवचन के भाव को द्योतित करने के लिए वह संज्ञा के बाद बहुवचनवाची शब्द का प्रयोग करता है। इसीप्रकार कर्मवाच्य के भाव को प्रगट करने के लिए वह प्रत्यय रूप में अन्य शब्द का प्रयोग करता है। विभिन्न व्याकरणीय भावों को प्रकट करने वाले ऐसे अनेक शब्द होते हैं और जब एक ही भाषा के बोलने वाले घुमन्तू लोग विभिन्न समूहों में अलग-अलग बँट जाते हैं तो वे अपने सुविधानुसार बहुवचन, कर्मवाच्य एवं कारकीय भावों को द्योतित करने के लिए विभिन्न शब्दों का भी प्रयोग करने लगते हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्री जब इनके व्याकरणीय रूपों का अध्ययन करने लगता है तो उसे दो अति निकट सम्पर्क की भाषाओं में भी सम्बन्ध प्रदर्शित करने में कठिनाई होती है। फिनिश एवं हुंगेरियन तथा तमिल और तेलुगु भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में हमें इसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

हमें यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि तुरानी अथवा संयोगात्मक भाषाओं में यही व्याकरणीय प्रक्रिया चलती रहती है। जब घुमन्तू जातियाँ कहीं **स्थिर** रूप से बस जती हैं और उनमें राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन का समारम्भ हो जाता है तब उनकी भाषाएँ भी संस्कृत एवं हिब्रू की भाँति

ही हो जाती हैं। तुरानी परिवार की तुर्की, हुंगेरियन, फिनिश, तमिल एवं तेलुगु जैसी साहित्य सम्पन्न भाषाओं का यही हाल है। ध्वन्यात्मक अपभ्रष्टता के कारण इनके व्याकरणीय प्रत्ययों में अत्यधिक परिवर्तन हो गया है। किन्तु इनके स्थान पर नवीन प्रत्यय व्यवहृत नहीं हुए हैं। तेलुगु में बहुवचनीय प्रत्यय 'लु' है और ऐसा समझा जाता है कि यह तमिल के बहुवचन के प्रत्यय "गल" का अपभ्रष्ट रूप है। तुरानी भाषा की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि इसके धातु पद अपरिवर्तनीय रहते हैं।

---

अध्याय ११

# यूरल अल्टाइक परिवार

यहाँ यूरल अल्टाइक परिवार की प्रमुख भाषाओं के संबंध में विचार किया जाता है।

इस परिवार के अन्तर्गत समोयेडिक (Samoyedic), तुंगुजिक (Tungusic), मंगोलिक (Mongolic), तुर्किक (Turkic) या तातारी एवं फिन्नोउग्रिक भाषाएँ आती हैं। इनमें स्पष्ट रूप से तीन केन्द्र हैं। ये इस प्रकार हैं :—

(१) समोयेडिक (२) अल्टाइक, जिसके अन्तर्गत 'तुंगुजिक', मंगोलिक एवं तुर्किक या तातारी (३) फिन्नोउग्रिक।

## समोयेडिक

समोयेडिक बोलियों के बोलने वाले लोग 'येनेसेइ' (yenisei) तथा 'ओब' (Ob) नदियों की तटवर्ती भूमि में बसे हुए हैं। मंगोल लोगों के दबाव के कारण धीरे-धीरे इन लोगों को उत्तर की ओर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इनकी जनसंख्या धीरे-धीरे क्षीण होती गई हैं और अब केवल सोलह हज़ार रह गई है। कास्ट्रेन (Castren) ने इनमें प्रचलित पाँच बोलियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जो ये हैं :—

युराकियन (Yurakian), तवग्यन (tawgyan), येनिसियन (yeniseian), ओस्टजाको-समोयेडे (Ostjako-Samoyede) तथा कई आंचलिक बोलियों के साथ 'कमसिनियन' (Kamassinian)। कमसिनियन बोली में अत्यन्त सावधानी से स्वरसंगति सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले सभी बोलियों में इसप्रकार की स्वर-संगति थीं। समोयेडिक के संज्ञा-पदों में लिंग का अभाव है, किन्तु इसमें एक वचन, द्विवचन एवं बहुवचन तथा आठ कारकों के रूप मिलते हैं। इसमें केवल दो कालों, वर्तमान (वर्तमान एवं भविष्य) एवं अतीत के रूप उपलब्ध हैं। सामान्यप्रकार के अतिरिक्त इसमें संदिग्ध एवं विधि प्रकारों के रूप भी मिलते हैं।

## अल्टाइक भाषाएँ

इसके अन्तर्गत 'तुंगुजिक', 'मंगोलिक' एवं तुर्की या तातारी भाषाएँ आती हैं। ये सभी योगात्मक भाषाएँ हैं। इनमें से कतिपय बोलियों में तो योगात्मकता अपने निम्नतम धरातल में हैं। इनमें प्रकृत एवं प्रत्यय का संयोग नितान्त साधारणरूप में हुआ है, किन्तु तुर्की में योगात्मकता का धरातल ऊँचा है और वह विभक्तियुक्त स्तर का हो गया है। इन सभी भाषाओं में स्वर संगति मिलती है।

## तुंगुजिक वर्ग

इस वर्ग की बोलियाँ उत्तर में चीन से लेकर दक्षिण में साइबेरिया तक ११३ अक्षांश तक फैली हुई हैं। इधर तुंगुस्का नदी इसकी सीमा का निर्माण करती है। पूर्वी साइबेरिया के तुंगुज जाति के लोग रूसी शासन के अधिकार में हैं। इनकी जनसंख्या सत्तर हज़ार है। इनमें से कुछ 'चापोगिर' (tchapogir) तथा दूसरे ओरोटोंग (orotong) कहलाते हैं। अन्य तुंगुज जाति के लोग चीन राज्य में रहते हैं और मंचू (Mandshu) नाम से अभिहित किए जाते हैं। सन् १६४४ में चीन विजय के पश्चात् इनका यह नाम पड़ा था। इनके देश का नाम 'मंचूरिया' है।

## मंगोलिक वर्ग

मंगोल लोगों का मूल स्थान पूर्वी साइबेरिया में, बैकाल झील के पास था। ९०० ई० में ये लोग यहीं रहते थे। ये लोग तीन वर्गों—मंगोल, बुरियत, (Buriat) तथा 'ओलोत' में विभक्त थे। चिंगिज खाँ ने सन् १२२७ में इन्हें जातीयता के एक सूत्र में बाँधकर मंगोल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसके अन्तर्गत केवल मंगोल जातियाँ ही नहीं थीं, अपितु इनके अतिरिक्त 'तुंगुज' एवं 'तुर्की' लोग भी आ गए थे।

तुर्किक लोगों को भ्रमवश तातार भी कहते हैं। एक ऐसा समय था जब यूरप तथा एशिया के लोग 'तातार' शब्द ही सुनकर विकम्पित हो जाते थे। यूरप के लोगों ने तो तातार शब्द को 'तारतार' में बदल दिया था, जैसे वह 'तार्तारुस' (tartarus) से व्युत्पन्न हो। उस युग में एशिया से जो भी घुमन्तू युद्धप्रिय लोग आए, उन्हें इसी नाम से अभिहित किया गया था। मूलतः तातार शब्द का प्रयोग मंगोल जातियों के लिए किया जाता था, किन्तु चिंगिज़ खाँ की विजय के बाद जब मंगोलों का राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ा तो

इनके अधीनस्त सब जातियों के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा। भाषा के अर्थ में 'तातार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। मध्ययुग के लेखकों का अनुसरण करते हुए 'सिथियन' एवं 'ग्रीक' की भाँति एक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सामान्यतया एशिया की घुमन्तू जातियों की भाषाओं के लिए किया जाता है। दूसरे अर्थ में 'तातार' का प्रयोग उस वर्ग की सभी भाषाओं के लिए किया जाता है जिसका तुर्की एक प्रमुख सदस्य है। वास्तव में मंगोलवर्ग की भाषाओं के लिए यह नाम सही और उपयुक्त था किन्तु यह एक विचित्र बात है कि इस वर्ग के लिए यह नाम व्यवहृत न कर यूरल-अल्टाइक की तुर्की शाखा के लिए इसका व्यवहार किया जाता है और इस शाखा की जातियों ने भी अपने लिए यह नाम स्वीकार कर लिया है।

ये तुर्की अथवा तातारी जातियाँ कैस्पियन तथा काले सागर के उत्तरी भाग में बस गई थीं तथा ये कोमान (Koman), पेचेनेग (Pecheneg) तथा बुल्गार (Bulgar) नाम से विख्यात थीं। चिंगिज़ खाँ के पुत्र ने इन्हें पराजित करके कैपचेकियन साम्राज्य की स्थापना की थी जो डिनिस्टर नदी से येम्बा तथा किरगिस्तान के घास के मैदान तक विस्तृत था। दो शताब्दियों तक रूस इन्हीं के शासन में था। ये लोग स्वर्ण-संघ (Golden Horde) के खान के नाम से विख्यात थे। पन्द्रहवीं शताब्दि के अन्त में इनका साम्राज्य समाप्त हो गया और इसके भग्नावशेष पर कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। इनमें 'क्रिम' (Krim), कसान (Kasan) तथा अस्त्राखान (Astrachan) के राज्य अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इन राज्यों के राजकुमारों को चिंगिज़ खाँ के वंशज होने का अभिमान था और इसप्रकार 'मंगोल' एवं 'तातार' उनके लिए यथार्थ एवं गौरवास्पद उपाधियाँ थीं। किन्तु उनकी फौज एवं प्रजा वर्ग के लोग भी मंगोल अथवा तातार नाम से ही अभिहित किए जाते थे, यद्यपि ये मंगोल नहीं, अपितु तुर्क थे। मंगोल राज्यों के विध्वंस के अनन्तर तथा रूसी शासन के प्रचलन के बाद भी इनकी भाषा 'तातारी' कहलाती थी। अतएव यह आवश्यक है कि यूरल अल्टाइक परिवार के उत्तरी वर्ग की तीसरी शाखा का जब हम उल्लेख करें तो तातारी के बदले उसे तुर्किक कहें। इनकी भाषा तातारी नहीं है तथा ये लोग मंगोल-वंश के नहीं हैं, इसे 'कसान' एवं 'अस्त्राखान' के निवासी जानते हैं। यदि कोई उनसे यह पूछे कि क्या तुम तातार हो तो वे तुरन्त उत्तर देते हैं कि नहीं। वे अपनी भाषा को भी तुर्की कहते हैं, तातारी नहीं। वे तातार शब्द को निंदात्मक तथा डाकू एवं लुटेरा

आदि का पर्ययवाची मानते हैं। उन्हें यह स्मरण है कि किसी युग में इन्हीं मंगोल अर्थात् तातार जाति के लोगों ने उनके पूर्वजों को विजित करके उन्हें दास बनाया था। ये सब बातें मैं 'क्लाप्रोथ' (Klaproth) के विवरण के आधार पर बतला रहा हूँ जो रूस गये थे और कुछ दिनों तक इस क्षेत्र में रहे थे।

मंगोल अथवा चिंगिज़ खाँ के उत्तराधिकारियों ने केवल तुर्क लोगों को ही नहीं विजित किया था। उन्होंने पूर्व में चीन को भी जीता था तथा वहाँ मंगोलों के 'युआन' वंश का राज्य स्थापित किया था। पश्चिम में बग़दाद के ख़लीफा तथा इकोनियम के सुल्तान को पराजित करते हुए इन्होंने मास्को को भी जीत लिया था और रूस के अधिकांश भाग को भी रौंद डाला था।

सन् १२४० में इन्होंने पोलैंड तथा सन् १२४१ में साइलेशिया पर आक्रमण किया था। यहाँ जर्मनी पोलैण्ड एवं साइलेशिया के संयुक्त मोर्चे के सामने उन्हें पीछे हटना पड़ा था। वे यहाँ से 'मोरेविया' की ओर मुड़ पड़े और उसे अधीनस्थ कर हुंगरी पर विजय प्राप्त की।

इस समय उन्हें एक नये खान का चयन करना था। यह कार्य मंगोल साम्राज्य की राजधानी 'कराकोरम' में ही सम्पन्न हो सकता था। अतएव यहाँ से वे सम्राट् के चुनाव के लिए राजधानी लौटे जो उनके चीन से पोलेण्ड तथा भारत से साइबेरिया तक के विस्तृत साम्राज्य पर अपना अधिकार रख सके। किन्तु इतने बड़े साम्राज्य को एक सम्राट् के लिए सँभालना कठिन था, अतएव तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मंगोल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और मंगोलों के कई छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए। इसप्रकार चीन, तुर्किस्तान, साइबेरिया, दक्षिणी रूस एवं फ़ारस में नये स्वतंत्र मंगोल राज्यों की स्थापना हुई।

सन् १३६० में चीन से मंगोल वंश का राज्य समाप्त हो गया तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में रूस भी उनके हाथ से निकल गया। सन् १३६९ में एक बार ये पुनः तैमूर के अधिनायकत्व में संगठित हुए और कराकोरम से फ़ारस तथा अनातोलिया तक इनका प्रभुत्व बढ़ा। किन्तु सन् १४६८ में, चिंगिज़ खाँ तथा तैमूर जैसे शक्तिशाली शासकों के अभाव में यह साम्राज्य पुनः अपने भार से ही दब गया। अब केवल चग़ताई प्रदेश—अराल झील से हिन्दुकुश पर्वत तथा जेहूँ-सेहूँ नदियों के बीच के देश—पर ही चिंगिज़ खाँ के वंशजों, मंगोलों का अधिकार रहा। यहीं से तैमूर के वंशज बाबर ने भारत पर

आक्रमण किया था और भारत में मुग़ल-राज्य की स्थापना की थी जो बहुत दिनों तक चला था। अब अधिकांश मंगोल जाति के लोग उन्हीं के अधीन हैं जिन्हें उन्होंने किसी युग में जीता था।

यद्यपि मंगोल भाषा चीन से लेकर वोल्गा के तट तक बोली जाती है, तथापि इनकी बहुत कम बोलियाँ हैं। तुगुंज्रिक के बाद मंगोलिक, यूरल-अल्टाई परिवार की निर्धनतम भाषा है और इसकी व्याकरणीय प्रत्ययों की न्यूनता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसके रूप में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। फिर भी इसकी पूर्वी, पश्चिमी एवं उत्तरी जातियों की बोलियों में अन्तर है। अभी हाल ही में स्वेडेन के महान् यात्री एवं तूरानी भाषा-शास्त्र के विशेषज्ञ कास्ट्रेन ने बुरियट की बोलचाल की भाषा में व्याकरणीय रूपों के प्रारम्भिक शेष चिह्नों की खोज की है। इसमें क्रिया के लिंग, प्रत्ययों के अनुसार परिवर्तित होते हैं। अन्य मंगोल बोलियों में इस प्रक्रिया का अभाव है।

यूरप में रहने वाले मंगोलों ने वोल्गा एवं कैस्पियन सागर के तटों पर, अस्त्राखान के निकट अपने खेमे लगाए हैं। इनका दूसरा उपनिवेश सेम्ब्रिस्क के दक्षिण-पूर्व में है। ये पश्चिमी-शाखा के 'ओलोना' अथवा 'काल्मुक' लोग हैं। ये लोग अपने स्थान 'कोकोनुर' से सन् १६६२ में यूरप आए थे। इनके 'दुरबेत्त' तथा 'तारगोद' कबीले ही इधर गये थे, किन्तु अधिकांश 'तारगोद' लोग सन् १७७० में लौट आये और अब इनके वंशज किरगिस्तान के घास के मैदानों में रहते हैं।

कुछ मंगोल जाति के 'ऐमाक' एवं 'हज़ारा' लोग हेरात और क़ाबुल के बीच रहते हैं।

## तुर्किक वर्ग

मंगोल भाषा की अपेक्षा तुर्किक भाषाएँ कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी कुस्तुनतुनिया की 'तुर्की' अथवा 'ओस्मानली' भाषा तो और भी महत्वपूर्ण है। यूरप में तुर्क लोगों की संख्या बीस लाख बताई जाती है, किन्तु 'शफरिक' के अनुसार यह सात लाख से अधिक नहीं है। विभिन्न बोलियों, जिनमें ओस्मानली मुख्य है, का क्षेत्र लेना तथा ध्रुव समुद्र (पोलरसी) से लेकर एड्रियाटिक तक है।

मध्य एशिया की तुर्किक जातियों का प्राचीनतम नाम चीनी लोगों के अनुसार, 'हिउङ-नु' था। ई० पू० २०६ में इन 'हिउङ-नु' लोगों ने चीन के पश्चिम में एशिया के एक बड़े भूभाग में, साम्राज्य की स्थापना की थी।

चीनी लोगों से इनका निरंतर युद्ध चलता रहता था, किन्तु अन्ततोगत्वा प्रथम शताब्दी ईस्वी के मध्य में इन्हें चीनियों से परास्त होना पड़ा था। इसके पश्चात् ये उत्तरी तथा दक्षिणी, दो राज्यों में विभक्त हो गए। जब दक्षिणी 'हिउङ-नु' लोग चीनियों से पराजित होकर उनकी प्रजा बन गए तो चीनी लोगों के साथ इन्होंने उत्तरी हिउङ-नु पर आक्रमण किया और उन्हें उनके 'आमुर' एवं 'सेलांग' नदियों तथा अल्टाई पर्वत के स्थान से बहिष्कृत करके पश्चिम की ओर बढ़ने के लिए वाध्य किया। इसप्रकार बर्बर जातियों का प्रवेश यूरप में हुआ था। तीसरी शताब्दी के आरम्भ में मंगोलिक एवं तुंगुज़िक जाति के लोग जो उत्तरी 'हिउङ नु' में परिणत हो चुके थे, अत्यंत शक्तिशाली हो उठे और उन्होंने दक्षिणी 'हिउङ-नु' लोगों को उनके स्थान से निष्कासित कर दिया। यह एशिया की जातियों का पश्चिम की ओर दूसरा हस्तान्तरण था और यह अत्तिला (Attila, मृत्यु ४५३ ई०) के अधिनायकत्व में सम्पन्न हुआ था।

इन 'हिउङ नु' अथवा तुर्की जाति के लोगों को चीनी लोग एक अन्य नाम से भी अभिहित करते थे। यह नाम 'तु-किउ' था; यह 'तु-किउ' वस्तुतः तुर्क ही है। यद्यपि मूलतः इस जाति के लोग कम संख्या में थे, तथापि इनकी संख्या में अभिवृद्धि हुई और छठीं शताब्दी में ये अल्टाई से कास्पियन सागर तक फैल गए। संभवतः इन्हीं के यहाँ सम्राट् जस्टिनियन ने सेमरखोस (Semarchos) को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। आठवीं शताब्दी में 'तु-किउ' का साम्राज्य 'हुइ-हे' (चीनी कओ-चे) द्वारा विनष्ट कर दिया गया था। तुर्की जाति के लोग इधर एक शताब्दी तक और रहे और अन्त में चीनियों द्वारा पराजित होकर इन्हें चीन की उत्तरी सीमा से हटना पड़ा। कुछ 'हुइ-हे' लोगों ने 'तैन्गुत' (Tangut) को अधिकृत कर लिया और सन् १२५७ में मंगोलों द्वारा द्वितीय बार पराजित होकर इनके बचे-खुचे लोग और पश्चिम की ओर चले गए तथा 'उइगुर' (uigur) लोगों से जा मिले, जिनके खेमे 'तुर्फान', 'काशगर', 'खामिल' एवं 'अक्सु' नगरों में पड़े थे।

भारत के इंडोसिदियन-विजेता यु-चि (yueh-chi) लोग भी इसी प्रजाति के थे और उन लोगों को अक्सर श्वेत हूण के नाम से भी अभिहित किया जाता है। हिउङ-नु लोगों से आक्रान्त होकर इन्होंने ई० पू० १२८ में बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया था जो उस समय तोखारी लोगों के कब्जे में था। पुनः तोखारी लोगों को साथ लेकर इन्होंने प्रथम शताब्दी में भारत पर आक्रमण

किया था। ग्रीक इन्हें 'एफथलिताइ' तथा फारसी लेखक 'हयथलाह' या 'हैथल' कहते थे।

ऊपर के तथ्य चीन के इतिहास के पंडितों से उपलब्ध हुए हैं। इनसे यही ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही तुर्की लोग पश्चिमाभिमुख थे। ५६८ ई० में तुर्क लोगों ने वोल्गा तथा 'एज़ोव' सागर के बीच के प्रदेश को अधिकृत कर लिया और तब से वे इधर बराबर शक्तिमान होते गए।

फ़ारस के उत्तरी भाग में, कैस्पियन सागर के पश्चिम, आर्मेनिया जार्जिया के दक्षिण, शिरवान एवं डागेस्तान में जो तुर्क लोग जा बसे, वे 'तुर्कमान' अथवा 'किज़िल-बाश' (काज़ल-बाशी=लाल टोपी वाले) के सामान्य नाम से अभिहित किए गए। ये घुमन्तू डाकू हैं और इन देशों में ये ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में गए थे।

कास्पियन सागर के पूर्व के तुर्कमान, खीवा, फरग़ना एवं बोखारा के उज़बेक खान लोगों के अधीनस्थ व्यक्ति हैं, किन्तु ये लोग अपने को इन खानों की प्रजा नहीं, अपितु अतिथि मानते हैं। इससे पूरब के तुर्कमान चीन के आधीन हैं और दक्षिण-पश्चिम में तो ये लोग खुरासान तथा फ़ारस के अन्य प्रदेशों तक में बसे हुए हैं।

हुइ-हे' तथा 'उइगुर' के वंशज उज़बेक लोगों का मूल-स्थान, खोतन, काशगर, तुर्फान त ा खामिल था। सोलहवीं शताब्दी में इन लोगों ने याक्सर्टेस नदी को पार किया और कई सफल आक्रमणों के पश्चात् इन्होंने बलख खारिजम (खीवा), बोखारा एवं फरग़ना को अधिकृत कर लिया। इन देशों तथा बलख में वे कृषिकर्मी बन गए हैं, किन्तु सामान्यतया ये घुमन्तू एवं युद्धप्रिय लोग हैं और इन्हें पशुपालक कहना भी समीचीन नहीं हैं।

एक अन्य तुर्की प्रजाति के लोग 'नोगाइ' हैं। ये लोग कास्पियन के पश्चिम तथा काले सागर के उत्तर में बसे हुए हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में ये कास्पियन सागर के उत्तर-पूरब तथा इर्टिश के दक्षिण के घास के मैदानों में रहते थे, किन्तु मंगोल प्रजाति के 'काल्मुक' लोगों के दबाव के कारण 'नोगाइ' जाति को पश्चिम की ओर अस्त्राखान जाना पड़ा। प्रथम पीटर ने उन्हें यहाँ से काकेशस पर्वत के उत्तर की ओर भेज दिया, जहाँ 'कुबान' एवं 'कुमा' नदियों के तट पर वे अपने पशुओं को चराने लगे। इनका एक समूह 'कुंडुर', वोल्गा के तट पर ही रह गया। ये लोग काल्मुक की प्रजा हैं।

काकेशस पर तुर्क प्रजाति की एक अन्य जाति 'बैज़ियान' भी हैं। सम्प्रति

ये लोग कुबान नदी के उद्‌गम स्थल पर रहते हैं, किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व ये 'कुमा' नदी पर स्थित 'मजारी' नगर में रहते थे।

तुर्क लोगों की एक तीसरी जाति 'कुमुक' काकेशस में 'सुंजा', 'अकासी' तथा 'कोइसु' नदियों के तट पर रहते हैं। ये लोग रूसी प्रजा हैं।

यूराल पर्वत के दक्षिण में 'बशकिर' लोगों का निवास है। ये मिश्रित जाति के लोग हैं और इनमें मंगोल रक्त भी है। ये लोग निरक्षर एवं जंगली हैं। ये इस्लाम धर्मावलम्बी तथा रूस की प्रजा हैं। इनकी भूमि चार मार्गों में विभाजित है जो कामा नदी के तट पर स्थित साइबेरिया 'कसान', 'नोगाई' एवं ओसा मार्गों के नाम से प्रसिद्ध है। बशकिर लोगों के बीच उफा के गाँवों में आजकल एक तुर्की जाति के लोग बस गए हैं। ये 'मेशचेरक्स' लोग हैं। पहले ये लोग वोल्गा नदी के निकटवर्त्ती प्रदेश में रहते थे।

अराल झील के पास की जातियों को 'कराकल्पक' के नाम से अभिहित किया जाता है। इनमें से कुछ लोग रूसी प्रजा हैं तथा अन्य लोग 'खीवा' के खान की प्रजा हैं।

साइबेरिया के तुर्क लोग सामान्यतया 'तातार' कहलाते हैं। इनमें से कुछ लोग तो यहाँ के मूल निवासी हैं। ये लोग यूराल पर्वत लाँघकर इधर गए थे। यहाँ के अन्य लोग बाद में जाकर यहाँ बसे। इनके मुख्य नगर 'तोबोलस्क', 'एनीसेइस्क' एवं 'तोमस्क' हैं। दो और मित्र जातियाँ 'उरनहट' एवं 'बारबस' हैं, इनमें से पहली जाति के लोग तो 'चुल्यम' के तट पर तथा दूसरी जाति के लोग 'ईर्टिस' एवं 'ओब' के बीच घास के मैदानों में निवास करते हैं।

इन साइबेरिया के तुर्क लोगों की बोलियाँ अत्यधिक मिश्रित हैं। इनमें मंगोल, सोमेयेडी एवं रूसी बोली के अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं। फिर भी इनकी बोलियों में अत्यधिक साम्य है और ये मूल तुर्की भाषा से प्रसूत हैं।

एशिया के उत्तर-पूर्व में 'लेना' नदी के दोनों तटों पर तुर्की भाषाओं में याकूत लोगों की भाषा एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इनमें पुरुषों की संख्या सम्प्रति एक लाख है, किन्तु, १७९५ में यह पचास हजार के लगभग थी। रूसी लोग सर्वप्रथम इनसे सन् १६२० में परिचित हुए थे। ये अपने को 'साखा' कहते हैं, और इनमें से अधिकांश काफिर हैं। ये धीरे-धीरे ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे हैं। परम्परा के अनुसार उनके पूर्वज सुदीर्घ-काल तक मंगोल जाति के लोगों के साथ रहे थे। इसके चिह्न इनकी भाषा में मिलते हैं। पड़ोसियों से आक्रान्त होकर इन लोगों ने नावें बनाईं और लेना नदी के बहाव के साथ

बहते हुए 'याकुतजक' के आसपास बस गये। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः ये लोग बेकाल झील के उत्तर-पश्चिम के निवासी थे। अन्य तुर्क तातार बोलियों की अपेक्षा इनकी भाषा तुर्की से बहुत मिलती-जुलती है। मूल तुर्की जाति से अत्यन्त प्राचीनकाल में विच्छिन्न हो जाने तथा अन्य बोलियों की अपेक्षा बाहरी प्रभाव से रहित होने के कारण याकूत लोगों की बोली में तातार भाषा के आज भी इतने रूप उपलब्ध हैं कि ओस्मनाली तथा अन्य साहित्यिक तुर्की बोलियों की व्याकरण संबंधी कठिनाइयों को इनके द्वारा हल किया जा सकता है।

दक्षिणी साइबेरिया—किरगिज़ लोगों की मातृभूमि है। तुर्क तातार परिवार की बोलियों के बोलनेवालों में इनकी संख्या अधिक है। मूलतः किरगिज़ लोग 'ओब' तथा 'येनिसेई' नदियों के बीच में रहते थे। इनके बीच मंगोल लोग भी आ बसे। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'येनिसेई' नदी के किनारे रहने वाले पूर्वी किरगिज़ लोगों से रूसी लोगों का साक्षात्कार हुआ। १६०६ ईस्वी में ये लोग रूस के करदाता बन गए और पड़ोस की दो जातियों से आक्रान्त होने के कारण इन लोगों को दक्षिण-पश्चिम की ओर जाने के लिये बाध्य होना पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में इन्होंने अन्ततोगत्वा साइबेरिया छोड़ दिया। अब ये लोग काशगर के पास चीनी तुर्किस्तान के 'बुरुत' नगर में अन्य किरगिज़ लोगों के साथ रहते हैं। ये लोग उत्तर में 'इर्टिश' तक फैले हुए हैं।

किरगिज़ लोगों की एक पश्चिमी शाखा भी है। इन्हें 'किरगिज़—कसक' भी कहते हैं। इनमें से कुछ लोग स्वतंत्र हैं तथा अन्य लोग रूस एवं चीन को कर देते हैं।

किरगिज़ के तीन दल या समूह बतलाये जाते हैं। ये समूह कैस्पियन सागर से पूर्व में 'तेंगिज़' झील तक बसे हुए हैं। इनमें से छोटा समूह पश्चिम की ओर 'येम्बा' तथा यूराल नदियों की बीच में है, बड़े समूह ने पूरब को अपना निवास-स्थान बनाया है, किन्तु सबसे शक्तिशाली समूह केन्द्र में सरसू एवं येम्बा-नदियों के बीच में है। यह मध्यवाला समूह कहलाता है। सन् १८१९ से शक्तिशाली समूह रूस के अधीन है। अन्य किरगिज़ जातियाँ केवल नाम-मात्र के लिए रूस के अधीन हैं और कभी-कभी उससे भयानक शत्रुवत व्यवहार करती हैं।

एशिया माइनर तथा सीरिया के तुर्क खुरासान तथा पूर्वी फ़ारस से आए

थे। ये 'तुर्कमान' अथवा 'सेल्जुक' के अवशेष हैं, जो मध्ययुग में फ़ारस के शासक थे। यहीं पर, तुर्की में, फ़ारसी शब्दों एवं मुहावरों का अत्यधिक सम्मिश्रण हुआ था। 'ओस्मनाल' लोग सर्वश्रेष्ठ तुर्क माने जाते हैं और तुर्की साम्राज्य के ये लोग शासक हैं। मूलतः ये यहीं से आए थे। ये लोग 'सेल्जुक' हैं और सेल्जुक लोग 'उइगुर' की ही एक शाखा हैं। सम्प्रति ये लोग एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका में, सम्पूर्ण तुर्की साम्राज्य में, फैले हुए हैं तथा इनकी संख्या एक करोड़ दस लाख एवं एक करोड़ बीस लाख के बीच है। ये लोग तुर्की के जमींदार, उच्च एवं शासक वर्ग के लोग हैं। इनकी 'ओस्मनालि' भाषा ही उच्चवर्ग के लोगों द्वारा व्यवहृत होती है तथा यह सीरिया, एजिप्ट, ट्यूनिस एवं त्रिपोली के सरकारी कार्यालयों की भाषा है। तेहरान की कचहरियों तक यह भाषा प्रचलित है और फ़ारस के राज्य कर्मचारियों के लिए यह सहज बोधगम्य है। ओस्मनालि, 'कार्स' एवं 'बातूम' के पड़ोस एवं सामान्यतया 'लैजिस्तान' के तुर्कों द्वारा भी व्यवहृत होती है। यह पूरब में अलेक्जेन्डरोंपोल (तुर्की, गुम्रो) से आरंभ होती हैं तथा सीधे मजानदारन (Mazandaran) गिलन एवं अज़रबिजान तक चली जाती है। अज़रबिजान बोली में निजी साहित्य है और इसमें समाचार-पत्र भी प्रकाशित होते हैं। शुद्ध 'ओस्मानलि' एवं अज़र-बिजान की बोली में अत्यधिक अन्तर है।

शक्तिशाली ओस्मान जाति का अभ्युदय एवं तुर्की बोली के प्रसार का इतिहास कुख्याति का इतिहास है। इसके लिए न तो हमें चीनी इतिहासकारों से ही कुछ सामग्री प्राप्त करनी है और न अरब के इतिहास के पण्डितों से ही सहायता की आवश्यकता है। ओस्मान तुर्क के पूर्वजों के संबंध में यूरोपीय इतिहासज्ञों को उतना ही विस्तृत-ज्ञान है जितना शार्लमेन एवं अल्फ्रेड के संबंध में उन्हें ज्ञान है। मंगोल लोगों के दबाव के कारण सन् १२२४ में सोलिमन-शाह को अपनी जातिवालों के साथ खुरासान छोड़ना पड़ा था। यहाँ से ये लोग पश्चिम की ओर सीरिया, आर्मेनियाँ एवं एशिया माइनर की ओर बढ़े। सोलिमन के पुत्र, 'एर्तोग्रुल' ने 'इकोनियम' (कोनिये) के सेल्जुक सुल्तान अलादीन के यहाँ नौकरी कर ली तथा ग्रीक एवं मंगोलों के विरुद्ध सफल आक्रमण करके उसने फ्रिजिया के कुछ भाग को अपने अधिकार में कर लिया। इसी को केन्द्र बनाकर उसने ओस्मान साम्राज्य की नींव डाली। तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इकोनियम के सुल्तान की शक्ति क्षीण हो गई और उसके सरदारों ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली। ओस्मान एशिया

में अपना हिस्सा प्राप्त कर 'ओलिम्पिक' दर्रे से बिथिनिया की ओर बढ़ा और उसने 'बाइजैन्टियम' के सम्राट् की सेना को परास्त करके सफलता प्राप्त की। इसके बाद से ओस्मान उसकी जाति के लोगों का राष्ट्रीय नाम बन गया। उसके पुत्र 'ओर्खान' ने जिसकी राजधानी प्रुसा (बुर्सा) थी निकोमेडिया (१३२७) तथा निका (Nicaea १३३०) को विजित कर 'हेलेसपांट' की ओर बढ़ा। उसने 'पादशाह' की पदवी भी धारण की थी। उसके पुत्र सोलिमन ने सन् १३५७ में हेलेसपांट को पार कर लिया और गैलिपोलि एवं सेस्टास को अपने अधिकार में कर लिया। इसप्रकार वह दानियाल दर्रे (डार्डेनल्ज़) का मालिक बन गया। मुराद प्रथम ने सन १३६२ में एड्रियानोपुल को अधिकृत किया और इसे अपनी राजधानी बनायी। उसने मेसेडोनिया को भी अपने अधिकार में कर लिया तथा बहुत घनघोर युद्ध के पश्चात् उसने डैन्यूब के दक्षिण की स्लावोनिक जाति के बुलगारियन, सर्वियन तथा क्रोशियन लोगों को संयुक्त मोर्चे में, सन् १३८९ में, कोस्सोवापोलिए के युद्ध में पराजित किया। इस युद्ध में वह मारा गया था, किन्तु उसके उतराधिकारी बैयज़ेथ ने उसके पदचिह्नों पर ही चलकर येसेली और थर्मोपोली को अपदस्थ करके पेले-पोनेसस को उजाड़ डाला। जर्मन सम्राट् सिगिसमण्ड, फ्रेंच, जर्मन एवं स्लावोनिक वीरों की संयुक्त फौज लेकर उससे लड़ने के लिए डैन्यूब की ओर आया, किन्तु सनू १३९९ में निकोपोलिस के युद्ध में 'बैयज़ेथ' ने उसे पराजित कर दिया। बैयज़ेथ ने बोसेनिया को भी अधिकृत कर लिया। वह कुस्तुन-तुनिया को भी अधिकृत कर लेता, किन्तु इसी समय मंगोल लोगों ने उसके नूतन जीते हुए प्रदेशों पर आक्रमण कर दिया, अतएव वह इसमें कृतकार्य न हो सका। चिंगिज़ खाँ के बाद तैमूर ने मंगोलों का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। बैय-ज़ेथ को उसका सामना करने के लिये बाध्य होना पड़ा और सन् १४०२ में तैमूर से वह अंगोरा (अंकारा) के युद्ध में परास्त हो गया।

यूरप को थोड़े दिनों के लिए विश्राम मिला, किन्तु यह बहुत समय तक न चल सका। तैमूर की मृत्यु हो गयी और इसके साथ ही उसका साम्राज्य भी विनष्ट हो गया। ओस्मानी सेना ने पुनः महमूद प्रथम (१४१३) के अधि-नायकत्व में शक्ति संचय किया तथा मुराद द्वितीय के १४२१ के शासनकाल तक अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर ली। एशिया में सफलता प्राप्त करके मुराद ने अपनी सेना डैन्यूब की ओर भेजी। सुदीर्घ काल तक युद्ध के पश्चात् उसने हुन्याड (Hunyad) के तत्वावधान में हुंगेरियन एवं 'स्लाव' लोगों

की सेनाओं को दो युद्धों—सन् १४४४ में बर्ना एवं सन् १४४८ में कोस्सोवा-में पराजित किया। कुस्तुन्तुनिया की रक्षा न हो सकी और पश्चिमी यूरप के लोगों को पोप ने तुर्कों से धर्म-युद्ध करने के लिए जो उकसाया था उसमें उसे सफलता न मिल सकी। मुहम्मद द्वितीय सन् १४५१ में तुर्कों का बादशाह हुआ और २६ मई सन् १४५३ को उसने कुस्तुन्तुनियाँ पर विजय प्राप्त की और इस प्रकार कुस्तुन्तुनिया तुर्की साम्राज्य की राजधानी बन गई।

## तुर्की-व्याकरण

व्यावहारिक दृष्टि से अर्जन करने की इच्छा न रखते हुए भी तुर्की व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त रोचक एवं आनंददायक है। जिस चमत्कारपूर्ण ढंग से इसके व्याकरणीयरूप निर्मित होते हैं, इसके शब्द एवं धातुरूपों में सर्वत्र जो नियमितता दृष्टिगोचर होती है तथा इसकी संरचना जिसरूप में सहज बोध-गम्य एवं स्पष्ट है, उसे देखकर कोई भी व्यक्ति मानव मस्तिष्क की आश्चर्य-पूर्ण शक्ति से अभिभूत हुए बिना रह नहीं सकता। यद्यपि तुर्की भाषा में सूक्ष्म भावों एवं अनुभूतियों को प्रगट करने वाले धातु-पदों की संख्या अल्प है तथा विविध कालों एवं प्रकारों (Moods) का भी अभाव है, तथापि इसके अनियमित व्याकरणीयरूपों को ऐसा समन्वयात्मक एवं सामंजस्यात्मक रूप दिया गया है कि यह एक आश्चर्यजनक भाषा बन गई है। विश्व की अधिकांश भाषाओं में भाषा का यह आरंभिक संरचनात्मक रूप दृष्टिगत नहीं होता। ये भाषाएँ हमारे समक्ष शिलाखंड की भाँति हैं और जिन जीवन्त रूपों से इनका निर्माण हुआ है उन्हें देखने के लिए वास्तव में हमें भाषाविज्ञान के सूक्ष्मदर्शी यंत्र की आवश्यकता होती है।

इसके विपरीत तुर्की परिवार की भाषाओं के व्याकरण में हम इनकी संरचना के सभी तत्वों को इसीप्रकार के स्पष्टरूप से देख सकते हैं जिस प्रकार शीशे में मधुमक्खी के छत्ते में अंडों से बनते हुए बच्चों को देख सकते हैं। किसी समय एक प्रसिद्ध प्राच्य-विद्यानुरागी ने कहा था—"तुर्की भाषा को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी समय प्रसिद्ध विद्वानों की गोष्ठी में वाद-विवाद के पश्चात् इसका निर्माण हुआ होगा," किन्तु यथार्थ बात यह है कि तातार प्रदेश के घास के मैदानों में विचरण करते हुए लोगों ने नितांत स्वाभाविक ढंग से जिस भाषा का विकास एवं निर्माण किया था, वह प्रकृति की एक अद्भुत वस्तु थी।

अब यहाँ तुर्की के कतिपय व्याकरणीय रूपों पर विचार किया जाता है। 'प्रेम करना' के लिए तुर्की में 'सेव्' (sev) धातु है, किन्तु इसका अर्थ यथार्थतः 'प्रेम करना' नहीं है। इस अर्थ द्योतन के लिए यह शब्द सेव्-मेक (sevmek) बन जायेगा। इसके संज्ञा रूप 'सेव्-गु' (sevgu) एवं 'सेवि' (sevi) बनेंगे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसके धातुरूप में किसीप्रकार के परिवर्तन की संभावना नहीं है। अर्थ परिवर्तन के लिए चाहे इसमें जो भी प्रत्यय संयुक्त किए जायँ, किन्तु इसका धातुरूप सदैव अपरिवर्तनीय ही रहेगा। अंग्रेजी में जैसे 'to fall' गिरना' तथा to take' लेना के वर्तमान एवं अतीत में 'I fall', 'I fell', 'I take', I took रूप बन जाते हैं वैसे रूप तुर्की में कभी भी नहीं बन सकते।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुर्की में क्रियापदों का निर्माण उसरूप में नहीं होता जिसरूप में अंग्रेजी में होता है। तब प्रश्न उठता है कि आखिर तुर्की में 'मैं प्यार करता हूँ', 'तुम प्यार करते हो', आदि भावों को किसप्रकार द्योतित किया जाता है? इसके लिए तुर्की में सर्वप्रथम नितांत स्वाभाविक रूप में एक कृदन्तीयरूप 'प्यार करते हुए', 'loving' का निर्माण किया जाता है और तदुपरान्त 'I loving', you loving' भाव द्योतित किया जाता है। तुर्की में इस कृदन्तीयरूप का निर्माण 'एर्' (er) संयुक्त करके सम्पन्न होता है। यथा—सेव्-एर् (sev-er)=lov+er अथवा lov+ing। 'तू' सर्वनाम के लिए तुर्की में 'सेन्' शब्द प्रयुक्त होता है और प्रत्यय रूप में यह सदैव अन्त में संयुक्त होता है। इसप्रकार 'तू प्यार करता है' का रूप तुर्की में 'सेव-एर्-सेन्' (sev-er-sen) हो जाता है। इसीप्रकार तुर्की में 'तुम' के लिये 'सिज्' (siz) शब्द आता है और 'तुम प्यार करते हो' का रूप 'सेव्-एर्-सिज्' (sev-er-siz) हो जाता है। इन रूपों में वास्तव में, सर्वनाम के रूप ही, लिङ्ग-प्रत्यय के रूप बन जाते हैं। अन्य पुरुषों में ठीक यही स्थिति नहीं है और सर्वनामीय रूपों में किंचित परिवर्तन हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तुर्की के सेवू-एर् (sev-er) कृदन्तीय रूप में उत्तम एवं मध्यम पुरुष के सर्वनामीय रूप संयुक्त करके ही वर्तमान काल को द्योतित किया जाता है। इसप्रकार तुर्की में वास्तव में, हम कहते तो हैं 'प्रेमी-मैं'', 'प्रेमी -तू' किन्तु इसका अर्थ होता है—'मैं प्रेम करता हूँ', 'तू प्रेम करता है।'

अपूर्णभूत में सर्वनामीय प्रत्यय का वही रूप नहीं मिलता है जो वर्तमान काल में उपलब्ध होता है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

| वर्तमान | अपूर्णभूत |
|---|---|
| सेवेर्-इम् (sever-im) | सेवेर्-डि-म् (sever-di-m) |
| मैं प्यार करता हूँ | मैंने प्यार किया |
| सेवेर्-सेन् (sever-sen) | सेवेर्-डि-ङ (sever-di-ṅ) |
| सेवेर् (sever) | सेवेर्-डि (sever-di) |
| सेवेर्-इज़् (sever-iz) | सेवेर्-डि-क (मिज़्) sever-di-k(miz) |
| सेवेर्-सिज़् (sever-siz) | सेवेर्-डि-ङिज़् (sever-di-niz) |
| सेवेर्-लेर् (sever-ler) | सेवेर्-डि-लेर् (sever-di-ler) |

अभी यहाँ इस बात की व्याख्या आवश्यक नहीं है कि अपूर्णभूत में जो 'डि' (di) प्रत्यय संयुक्त हो जाता है उसकी युत्पत्ति क्या है? किन्तु यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि उत्तमपुरुष बहुवचन के रूपों में अन्य तातारी बोलियों में विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं और वहाँ 'क्' (k) प्रत्यय के स्थान में 'मिज़' (miz) का प्रयोग होता है। जब हम ऊपर के 'म्', 'ङ', 'इ', 'मिज्' ङिज़् एवं लेर् प्रत्ययों के विषय में विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये यथार्थतः संज्ञा के बाद प्रयुक्त होने वाले संबंधवाची सर्वनाम हैं। जिस-प्रकार इटैलियन में 'मेरा भाई' के लिए 'फ्रेटेल-मो' (fratel-mo) तथा हिब्रू में 'मेरा-ईश्वर' के लिए 'एल-इ' (El-i) कहा जाता है उसीप्रकार तातारी भाषा में भी 'मेरा घर', 'तुम्हारा घर' 'उसका घर' में 'घर' के बाद संबंधवाची सर्वनाम संयुक्त किया जाता है।

उदाहरणार्थ :—

| | | | |
|---|---|---|---|
| बाबा | पिता | बाबा-म् | मेरा पिता |
| आगा | मालिक | आगा-ङ | तुम्हारा मालिक |
| एल् | हाथ | एल्-इ | उसका हाथ |
| ओगलु | पुत्र | ओगलु-मुज़् | हमारा पुत्र |
| अना | माता | अना-निज़ | उसकी माता |
| किताब् | पुस्तक | किताब्-लेरि | उनकी पुस्तक |

ऊपर के तथ्यों में यह निष्कर्ष निकलता है कि अपूर्णभूत में ये सर्वनामीय प्रत्यय, मूलतः संबंधार्थ में लिए गए थे। यदि इन प्रत्ययों को पृथक् कर दें तो अवशेष रूप में केवल 'सेवेर्—डि' (sever-di) रह जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि व्याकरण की दृष्टि से यह 'सेवेर्-डि' क्या है? यदि विचार पूर्वक

देखा जाय तो यह 'सेवेर्-डि' न तो विशेषण हो सकता है और न कृदन्तीयरूप ही। वास्तव में यह संज्ञा है और इस संज्ञा में ही सबंधवाची सर्वनाम के रूप प्रत्यय-रूप में प्रयुक्त होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस भाषा में भूतकाल को किसप्रकार व्यक्त किया जाता है। इस संबंध में तनिक अपनी भाषा की ओर मुड़कर देखना होगा। जब हमें घटमान वर्तमान को द्योतित करना होता है तब हम अंग्रेजी में कहते हैं—'आइ हैव लव्ड्' 'I have loved' तथा फ्रेन्च में j' ai aimè। अंग्रेजी 'आइ हैव' का मूल अर्थ था 'आइ पज़ेस्' I possess; लैटिन में यह amicus quem amatum habeo' था। लैटिन में इसका अर्थ था—वह मित्र जिसके प्रति मेरा स्नेह है, किन्तु जिसे अभी तक प्रेम करने का अवसर नहीं मिला है। कालान्तर में 'आइ-हैव-लव्ड' वाक्य ने घटमान वर्तमान एवं भूतकाल का रूप धारण कर लिया और इसप्रकार "आइ-हैव-लव्ड"—'आइ-लव्ड' बन गया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अंग्रेजी में जहाँ संबंधवाची सहायक क्रिया (Auxiliary possessive) का प्रयोग होता है, वहाँ तुर्की में सहायक-प्रत्यय-रूप में संबंधवाची सर्वनाम का प्रयोग होने लगा।

तुर्की के सर्वाधिक सुकल्पित एवं पटुतापूर्ण उसके क्रिया पद हैं। ग्रीक एवं संस्कृत की भांति ही इसमें विभिन्न प्रकार के ऐसे निर्देशक (Moods) एवं काल-उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा सूक्ष्म एवं गहन विचारों की भी प्राप्ति सहज भाव से हो जाती है। इसमें क्रिया का धातुपद निरन्तर अपरिवर्तनीय रहता है और पुरुष, वचन, निर्देशक एवं काल के कारण इसमें किसीप्रकार का परिवर्तन नहीं आता है, किन्तु तुर्की क्रियापदों में एक ऐसी विशिष्टता है जिसका अन्य भाषाओं में प्राय: अभाव है। वह विशेषता यह है कि इसके मूल क्रियापदों में कतिपय अक्षर संयुक्त करके नये क्रियापद निर्मित कर लिए जाते हैं और इसप्रकार नकारात्मक, प्रेरणार्थक आदि भाव इनके द्वारा व्यक्त किए जाते हैं।

उदाहरण के लिए हम तुर्की का 'सेव्-मेक् (Sev-mek) धातु रूप ले सकते हैं। इसका अर्थ है 'प्यार करना।' अब इसमें इन् (in) संयुक्त करके हम एक नया क्रियापद बना सकते हैं। इस प्रक्रिया से बने हुए—'सेव्-इन्-मेक्' (sev-in-mek) धातु पद का अर्थ होगा 'स्वयं (अपने को) प्यार करना' अथवा 'आनन्द मनाना' या 'प्रसन्न होना'। इस तरह जैसे 'सेव्-मेक्' का रूप सभी निर्देशकों एवं कालों में चलता है, उसी प्रकार इस नये धातु पद "सेव्-इन्" का रूप भी चलने लगेगा। इसीप्रकार हम इसमें 'इश्' (ish) संयुक्त करके

'सेव-इश्-मेक्' (sev-ish-mek) क्रिया पद बना सकते हैं जिसका अर्थ होगा —'एक दूसरे को प्यारकरना'। इन तीनों रूपों में 'डिर्' (dir) संयुक्त करके इनके प्रेरणार्थक रूप भी सम्पन्न किए जा सकते हैं। ये रूप नीचे दिए जाते हैं :—

१. सेव्—मेक्, 'प्यार करना' > ४. सेव्-डिर्-मेक् 'प्यार कराना'।

२. सेव्-इन्-मेक्, 'आनन्द मनाना'> ५. सेव्-इन्-डिर्-मेक्, 'आनन्द मनवाना'।

३. सेव्-इश्-मेक्, 'एक दूसरे को प्यार करना' > ६. सेव्-इश्-डिर्-मेक्, 'एक दूसरे को प्यार करवाना'।

ऊपर के छै रूपों को पुनः इल् (il) संयुक्त करके कर्मवाच्यीय रूपों में परिणत किया जा सकता है। ये रूप नीचे दिए जाते हैं:—

१. सेव्-मेक्, 'प्यार करना' > ७. सेव्-इल्-मेक्, 'प्यार किया जाना'।

२. सेव्-इन्-मेक्, 'आनन्द मनाना'> ८. सेव्-इन्-इल्-मेक्, 'आनन्द मनाया जाना'।

३. सेव्-इश्-मेक्, 'एक दूसरे को प्यार करना' > ९. सेव्-इश्-इल्-मेक्, 'किसी के द्वारा एक दूसरे को प्यार कराया जाना।'

४. सेव्-डिर्-मेक्, 'प्यार करवाना' > १०. सेव्-डिर्-इल्-मेक् 'किसी के द्वारा प्यार करवाया जाना।'

५. सेव्-इन्-डिर्-मेक्, 'आनन्द मनवाना' > ११. सेव्-इन्-डिर्-इल्—मेक्, 'किसी के द्वारा आनन्द मनवाना।'

६. सेव्-इश्-डिर्-मेक्, 'दो व्यक्तियों को परस्पर प्यार करवाना' > १२. सेव्-इश्-डिर्-इल्-मेक्, 'किसी के द्वारा दो व्यक्तियों को परस्पर प्यार करवाना'।

तुर्की व्याकरण के क्रिया के सम्पूर्ण रूप इतने ही नहीं हैं। ऊपर के बारह रूपों म 'में'(me) संयुक्त करके इन्हें नकारात्मक में परिणत किया जा सकता है। इसप्रकार 'सेव्-मेक्' —'प्यार करना' को 'प्यार न करने' के अर्थ में—'सेव्-मे-मेक्' बनाया जा सकता है। इसी तरह यदि प्रेम की असम्भाव्य अवस्था को व्यक्त करने की आवश्यकता है तो उसके लिए भी तुर्की में धातुपद का निर्माण

किया जा सकता है; यथा—'सेव्-मे-मेक्' से जहाँ प्रेम की नकारात्मक भावना का द्योतन होगा वहाँ 'सेव्-एमे-मेक्' से उसकी 'असम्भाव्य अवस्था' व्यक्त होगी। इन दोनों अक्षरों के संयोग से इनसे व्युत्पन्न धातु-पदों की संख्या ३६ हो जायेगी यथा :—

१. सेव्-मेक्, 'प्यार करना'>१३. सेव्-मे-मेक्, 'प्यार न करना'।

२. सेव्-इन्-मेक्, 'आनन्द मनाना'>१४. सेव्-इन्-मे-मेक्, 'आनन्द न मनाना'।

३. सेव्-इश्-मेक् 'परस्पर प्रेम करना'>१५. सेव्-इश्-मे-मेक्, 'परस्पर प्रेम न करना।

४. सेव्-दिर्-मेक्, 'प्रेम कराना'>१६. सेव्-दिर्-मे-मेक्, 'प्रम न करना।

५. सेव्-इन्-दिर्-मेक, 'आनन्द मनवाना'>१७. सेव-इन्-दिर्-मे-मेक् 'आनन्द न मनवाना'।

६. सेव्-इश्-दिर्-मेक्, 'परस्पर प्रेम करवाना>१८. सेव्-इश्-दिर्-मे-मेक् 'परस्पर प्रेम न करवाना'।

७. सेव्-इल्-मेक्, 'प्रेम किया जाना>१९. सेव्-इल्-मे-मेक्, 'प्रेम न किया जाना'।

८. सेव् -इन्-इल्-मेक, 'आनन्द मनाया जाना'।>२० सेव्-इन्-इश्-मे-मेक्, 'आनन्द न मनाया जाना'।

९. सेव्-इश्-इल्-मेक्>२१. सेव्-इश्-इल्-मे-मेक।

१०. सेव्-दिर्-इल्-मेक् 'प्रेम करने की स्थिति में लाया जाना'>२२.सेव्-दिर्-इल्-मे-मेक् 'प्रेम करने की स्थिति में न लाया जाना'।

११. सेव्-इन्-दिर्-इल्-मेक् 'आनन्द मनाये जाने की स्थिति में लाना>२३. सेव्-इन्-दिर्-इल्-मे-मेक् 'आनन्द मनाये जाने की स्थिति में न ले आना'।

१२. सेव्-इश्-दिर्-इल्-मेक् 'परस्पर प्रेम करने की स्थिति में लाना>२४. सेव्-इश्-दिर्-इल्-मे-मेक्, 'परस्पर प्रेम करने की स्थिति में न लाना'।

ऊपर के क्रिया रूपों में से कतिपय रूपों का प्रयोग बहुत कम होता है। व्याकरण की दृष्टि से कई अन्य रूप तो संगत हैं किन्तु तर्क एवं प्रयोग की दृष्टि से ये असंगत हैं।

## फिन्नो-उग्रिक वर्ग

अब आगे फिन्निक अथवा फिन्नो-उग्रिक वर्ग की भाषाओं के संबंध में विचार

किया जाता है। विद्वानों का विचार है कि फिन-जाति का मूल स्थान यूराल पर्वत था। इसीलिए कतिपय विद्वान् कभी-कभी इनकी भाषा को यूरालिक नाम से भी अभिहित करते हैं। प्राचीनकाल में, इसी केन्द्र से इस जाति के लोग पूरब पश्चिम एवं दक्षिण की ओर काले सागर तक गए थे, जहाँ मंगोल एवं तुर्क लोगों से इनका सम्पर्क हुआ था। इन तीनों जातियों को ग्रीक लोग केवल एक नाम 'सिथियन' से अभिहित करते थे। चूँकि इन घुमन्तू जातियों का हमें कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है, अतएव जहाँ ग्रीक लोगों ने उनके बर्बर नामों का उल्लेख किया है उनके आधार पर भी इनका वर्गीकरण करना असंभव है। ईसा के पूर्वकाल से लेकर मध्ययुग तथा आज तक संभवतः इनके जीवन-यापन का ढंग एक समान था। इनका एक कबीला कभी किसी एक भूमि खण्ड को अधिकृत कर लेता था और इसके घास के मैदानों तथा नदियों का नामकरण अपने इच्छानुसार कर देता था। यदि भूमि उर्बर हुई तो कोई दूसरा कबीला उस पर आक्रमण कर देता था। इसके उपरान्त युद्ध का दौर चलता था और जब मूल कबीला मुकाबले में असमर्थ हो जाता था तब उसके हजारों परिवारों को अपना पैतृक आवास छोड़कर कई पीढ़ियों तक इधर-उधर भटकना पड़ता था, और पुनः बहुत समय के बाद खोज करने पर कहीं हजारों मील की दूरी पर उस कबीले के नाम का पता चलता था। कभी-कभी दो कबीलों में युगों तक युद्ध का दौर चलता रहता था। अन्त में संख्या एवं शक्ति में क्षीण होकर ये दोनों एक दूसरे से समझौता भी कर लेते थे, और जब कोई तीसरा कबीला इन पर आक्रमण करता था तो ये दोनों उसका सामना करते थे।

निरन्तर युद्धों के कारण इनके कबीलों के जितने लोग मारे जाते थे उतने ही इनकी भाषाओं के शब्द भी विनष्ट हो जाते थे। जब एक कबीले के लोग दूसरे कबीले के लोगों को कैद कर लेते थे तो उनके साथ नये शब्द भी जाते थे किन्तु, जब शान्ति के समय कैदियों का अदला-बदला होता था तब शब्द भी अपनी पुरानी स्थिति में आ जाते थे। इसके अतिरिक्त कभी-कभी विवादग्रस्त प्रश्नों को निपटाने के लिए सन्धि वार्ताएँ भी होती थीं तथा यदा-कदा युद्ध की ललकार के लिए भी लोग एकत्र होते थे। इन संगोष्टियों के परिणामस्वरूप एक बोली का निर्माण हो जाता था जिसे 'उर्दू-ज़बान' अथवा कैम्प या छावनी की बोली कहा जा सकता है। भारत में भी मुगल सिपाहियों के कारण एक ऐसी ही हिन्दुस्तानी बोली का निर्माण हुआ था। सच बात तो यह है कि ऐसी व्याकरणहीन बोली के जीवन्त तथा मृतक शब्दों की खोज करना किसी भी भाषा-शास्त्री के

लिए कठिन कार्य है। जिसप्रकार एक प्रबल झंझावात के कारण सागर में तरंगें उठती हैं, उसीप्रकार एक चिंगिज़ खाँ तथा एक तैमूर के आह्वान पर मंगोल सेनाओं के अनेक दल उमड़ पड़े होंगे। ऐसी ही सेनाओं के एक तरंग ने कारा-कोरम पर्वत से लेकर लाइगनिज़ (Liegnitz) तक की समस्त भूमि को किसी युग में रौंद डाला होगा, और समस्त ऐतिहासिक चिह्नों को मिटाने का प्रयत्न किया होगा। किन्तु, जिसप्रकार नदी की बाढ़ के पश्चात् नीचे एक पुरानी पतली पर्त रह जाती है उसीप्रकार बचे-खुचे लोगों में भी भाषाओं के कुछ पुराने अवशेष मिल जाते हैं।

## कास्ट्रेन का वर्गीकरण

भाषाओं के साक्ष्य के आधार पर कास्ट्रेन ने फिन्नो-उग्रिक-परिवार को चार-शाखाओं में विभक्त किया है। ये इसप्रकार हैं:—

(१) उग्रिक—इसके अन्तर्गत ओस्टजकियन (ostjakian) वोगुलियन एवं हुंगेरियन का समावेश है।

(२) बुल्गारिक—इसके अन्तर्गत चेरेमिसियन (Tcheremissian) तथा मोर्डिवियन का समावेश है।

(३) पर्मिक—इसके अन्तर्गत सिर्जनियन, पर्मियन एवं वोत्जकियन भाषाएँ आती हैं।

(४) फिन्निक-(या चुडिक)—इसके अन्तर्गत फिन्निश, एस्टोनियन, लैप्पो-नियन, लिवोनियन एवं वोतियन का समावेश है।

## हुनफाल्वी का वर्गीकरण

बाद की खोजों के आधार पर पी० हुनफाल्वी ने कास्ट्रेन के वर्गीकरण में परिवर्तन किया और ऊपर की सभी भाषाओं को दो शाखाओं में विभाजित किया जो इसप्रकार हैं:—

(१) पश्चिमी अथवा फिन्निक शाखा जिसके अन्तर्गत फिन्निश एवं लैप्पो-नियन का समावेश है।

(२) पूर्वी अथवा उग्रियन शाखा जिसके अन्तर्गत अन्य तीन शाखाओं की भाषाएँ आती हैं। बाद में उन्होंने फिन्निश, एस्टोनियन, कारेलियन, वोतियन, वेप्सियन एवं लिवोनियन को वास्तविक फिन्निक माना; और पर्मियन, सिर्ज-नियन, वोत्जकियन, वोगुलियन, ओस्टजकियन, मगयार, तेरेमिसियन तथा

मोर्डिवियन को उग्रिक के अन्तर्गत रखा। आपके अनुसार लैप्पोनियन भाषा का स्थान इन शाखाओं के बीच में था।

## बुदेन्ज़ का वर्गीकरण

इधर १८७९ में बुदेंज़ ने एक नूतन वर्गीकरण का प्रस्ताव किया और उन्होंने इन भाषाओं को दो शाखाओं––उत्तरी उग्रियन एवं दक्षिणी उग्रियन––में विभक्त किया। (१) उत्तरी उग्रियन शाखा के अन्तर्गत लैप्पोनियन, सिर्ज-नियन, वोत्जिकियन वोगुल––ओस्टजकियन एवं मगयार, तथा––

(२) दक्षिणी उग्रियन शाखा के अन्तर्गत उन्होंने फिन्निश––मोर्डिवियन एवं तेरेमिसियन को वर्गीकृत किया।

इन दो शाखाओं में मुख्य अन्तर यह है कि आदि स्थित 'न्' जहाँ उत्तरी-शाखा की भाषाओं में तालव्य है वहाँ वह दक्षिणी शाखा की भाषाओं में यह दन्त्य है।

समय की प्रगति से जो ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुआ उसके परिणामस्वरूप लैप्पोनियन उत्तरी शाखा की अन्य भाषाओं से तथा मार्डिवियन एवं चेरेमिसि-यन दक्षिणी शाखा से पृथक् हो गई।

## डोन्नर का वर्गीकरण

प्रमुख फिन्नो-उग्रिक भाषाओं की व्याकरणीय संरचना एवं ध्वन्यात्मक प्रणाली के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप प्रो० डोन्नर ने अपने सन् १८७९ के एक लेख में पुनः एक अभिनव वर्गीकरण का सुझाव हमारे सामने रखा है। उन्होंने इनकी दो शाखाओं––फिन्निक एवं उग्रिक के विभाजन को स्वीकार किया है। पुनः आपने उग्रिक के अन्तर्गत ओस्टजकियन, वोगुलियन एवं मगयार का समावेश किया है और शेष भाषाओं को फिन्निक के अन्तर्गत रखा है। इसके उपरान्त आपने प्रत्येक शाखा की भाषाओं को उनकी विशेषता के अनुसार वर्गी-कृत किया है जो इसप्रकार है:––

## फिन्नो-उग्रिक परिवार

I. उग्रिक शाखा––इसके अन्तर्गत निम्नलिखित भाषाओं का समावेश है:––

१. इर्टिश तथा सुर्गुट-ओस्ट्जाक तथा उत्तरी ओस्टजाक।

२. सोस्वा अथवा उत्तरी वोगुल तथा कोण्डा वोगुल।

३. मगयार।

II. फिन्निक शाखा—

(क) पर्मियन वर्ग

(१) सिर्जन, पर्मियन।

(२) वोत्जक।

(ख) वोल्गा-वाल्टिक वर्ग

(अ) वोल्गा समूह।

(१) चेरेमिसियन

(२) एर्सा तथा मोक्शा-मार्डिविन

(आ) पश्चिमी फिन्निक समूह

(१) रशियन, नार्वेजियन तथा स्वेडिश लैप।

(२) लाइव

(३) वेप्स

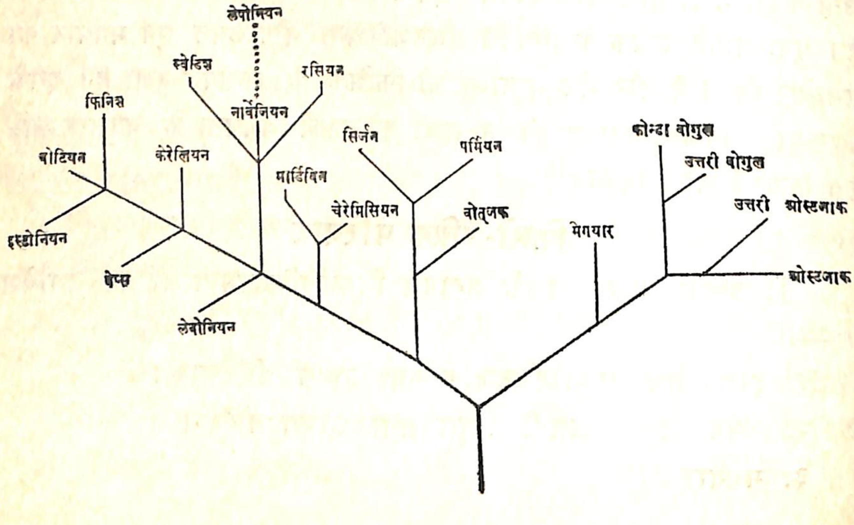
(४) एस्ट

(५) वोत्

(६) फिन

इस परिवार का प्रसार निम्नलिखित वृक्ष में प्रदर्शित किया गया है:—

फिन्नो-उग्रिक परिवार



## फिन्नो उग्रिक भाषाओं का प्रसार

केवल भाषा सम्बन्धी साक्ष्य के आधार पर प्रो० डोनर ने फिन्नो-उग्रिक परिवार के क्रमशः प्रसार की व्याख्या इसप्रकार की है।

अपने मूल स्थान से फिन्निक शाखा की भाषाएँ क्रमशः यूरुप की ओर प्रसरित हुई होंगी और इस अभियान में पश्चिम की ओर वह अपने अधिवासों को छोड़ती गई होंगी। आज हमें यह ज्ञात नहीं है कि वोल्गा-बाल्टिक एवं पर्मिक वर्गों के पार्थक्य का क्या कारण है? सम्भवतः तातार लोगों के दबाव के कारण पर्मियन जाति के लोगों को उत्तर की ओर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। पर्मियन भाषा के संख्यावाची शब्दों के विकास पर तातार का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। वोल्गा-बाल्टिक जाति के लोग कुछ काल तक जर्मन लोगों के सम्पर्क में रहे होंगे। इन्हीं से उन्हें गणना की दाशमिक प्रणाली एवं उच्च संस्कृति के कतिपय शब्द प्राप्त हुए होंगे। नूतन ऐतिहासिक घटनाओं ने पश्चिमी फिन्निक लोगों को और अधिक पश्चिम एवं उत्तर की ओर फैलने के लिए बाध्य किया होगा। इस युग में इन लोगों पर जर्मन जाति का विशेष प्रभाव पड़ा होगा। इन भाषाओं में जर्मन भाषा से आगत शब्दों के ध्वन्यात्मक रूपों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये प्राचीन नार्स एवं गॉथिक के शब्दों की अपेक्षा प्राचीन हैं। इससे यह सहजरूप में कल्पना की जा सकती है कि ये तीसरी शती ईस्वी के पूर्व के हैं।

इस युग में लैप लोग पूर्वी सीमावर्त्ती प्रदेशों में अन्य समूहों के साथ रहे होंगे और चेरेमिसियन लोगों से इनका अतिनिकट का संबंध रहा होगा। इसी समय 'लिटुयानियन' का प्रभाव पड़ा होगा। 'लैप्पोनियन' भाषा में 'लिटु-आनियन' से आगत शब्दों की मात्रा कम ही है, किन्तु जब लैप जाति के लोग उत्तर की ओर और आगे बढ़ गए तब बाल्टिक तट के 'फिन' लोग, लिटुआनियन एवं स्कैण्डिनेवियन लोगों के अति निकट सम्पर्क में आए।

इसी समय मगयार लोगों ने वहिर्गमन आरम्भ किया। वस्तुतः अतिला द्वारा संस्थापित हूण साम्राज्य के विनष्ट हो जाने के बाद 'उग्रियन' जाति के लोग यूरप पहुँचे। उस युग में इन्हें 'ओनगुर' 'सरगुर' एवं उरोग नामों से अभिहित किया जाता था। बाद में रूसी इतिहास में इन्हें 'उग्री' तथा 'हुंगेरियन' लोगों का पुरखा बतलाया गया।

भाषा-सम्बन्धी साक्ष्यों पर आधारित ऊपर के निष्कर्षों की ऐतिहासिक तथ्यों से भी सम्पुष्टि होती है।

## भौगोलिक वितरण

**I उग्रिक शाखा**

(१) ओस्टजाक लोग तोबोलस्क एवं तोमस्क संभागों में रहते हैं तथा उनकी जनसंख्या तेईस हज़ार है।

(२) वोगुल लोगों का निवास-स्थान उत्तरी यूराल पर्वतों में 'कोण्डा' एवं 'सोस्वा' नदियों के तट पर है। इनकी जनसंख्या सात हज़ार है।

(३) मगयार लोगों का निवास-स्थान 'हुंगरी' तथा साइबेन-बुर्गेन का कुछ भाग है।

**II फिन्निक शाखा (क) पर्मियन वर्ग**

(१) 'सिर्जन' लोग आर्केञ्जेल एवं वोलोग्डा संभागों में निवास करते हैं। इनकी जनसंख्या नब्बे हज़ार है। इनके दक्षिणी पड़ोसी पर्मियन लोग हैं जो 'पर्म' एवं 'वल्जक' संभागों में निवास करते हैं। इनकी जनसंख्या साठ हज़ार है। इस प्रदेश का ज्ञान स्कैंडिनेवियन लोगों को था। वे इस प्रदेश को 'बजर्म' एवं यहाँ के निवासियों को 'कारेलियनफिन्' कहते थे।

(२) वोल्जक् लोग 'वल्जक' 'कसान' 'उफा' एवं 'ओरेनवर्ग' में बसे हुए हैं। इनकी जनसंख्या दो लाख तीस हजार है।

**ख—वोलगाबाल्टिक वर्ग**

**अ—वोल्गा समूह**

(१) चेरेमिसियन लोग इनकी संख्या लगभग दो लाख है तथा ये 'कसान' एवं वजत्क संभागों एवं 'वोल्गानदी' के दक्षिणी तट पर बसे हुए हैं।

(२) मोर्डविन लोग, 'नोवागोर्ड' 'टैम्बो' 'पेन्सा', 'सिम्बर्स्क', 'सराटो' तथा 'समारा' संभागों के अतिरिक्त ओरेनबर्ग एवं अस्त्राखान तक बसे हुए हैं। इनकी जनसंख्या सात लाख के लगभग है।

## फिन्न लोग एवं उनका साहित्य

फिन्नो-उग्रिक जातियों में सबसे दिलचस्प 'फिन' लोग हैं। ये अपने को 'सुमलाइसेट' (Suomalaiset) अर्थात् फेन्स् के निवासी बताते हैं। इनके 'कारेलियन' एवं 'तवास्तियन' दो वर्ग हैं। इनमें से कारेलियन लोग पूर्वी फिनलैंड, आर्केञ्जिल के पश्चिमी भाग एवं 'ओलोनेत्ज' तथा 'इंगरमेन लैण्ड' सम्भागों

के उत्तरी पश्चिमी भाग में निवास करते हैं। स्कैण्डिनेवियन लोग जिन्हें प्राचीन काल में 'बजर्मर' नाम से अभिहित करते थे, वास्तव में कारेलियन लोग ही थे।

तवास्तियन लोग भी, फिनलैण्ड में ही, कारेलियन लोगों के पश्चिम की ओर निवास करते हैं। वेप्स अथवा उत्तरी 'चुद' लोग एवं 'वोत्' अथवा दक्षिणी 'चुद' लोग यथार्थतः तवास्तियन ही हैं। इनके साहित्य एवं जनकाव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ही ये संस्कृति के उच्च स्तर पर पहुँच चुके थे। इनके प्राचीन गीतों में छन्द के पूर्णरूप विद्यमान हैं और इनकी भाषा अत्यन्त प्राचीन है। रूसी आधिपत्य में रहते हुए भी 'फिन' लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत हो रही है। इधर 'सोगर्न' (Sjogern), लोनरॉट (Lonnrat) कास्ट्रेन, केलग्रेन, क्रोहन, एवं 'डोनर' जैसे विद्वानों ने जो परिश्रम-पूर्वक इनका अध्ययन किया है उसका भी आश्चर्यजनक शुभ परिणाम हुआ है। वृद्धों के मुख से इधर एक महाकाव्य का ही संकलन किया गया है। पूर्णता एवं परिमाण में यह होमरकृत 'इलियड' के ही समान है। यह अत्यन्त सुन्दर एवं सरस है। इसका नाम 'कलेवल' (Kalevala) है। 'इलियड', 'महाभारत', 'शाहनामा' एवं 'निबेलुंग' की श्रेणी में रखते हुए इसे विश्व का पाँचवाँ महा-काव्य कहना ही उचित है। यदि हम उन अवस्थाओं का अध्ययन करना चाहते हैं जिनमें एक लघु गाथा, वृहद् गाथा का रूप धारण कर लेती है तो हमें 'कलेवल' के संकलन के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार मौखिक परम्परा में कुछ कथाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा अन्य कथाएँ विकसित होकर उनका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। इसीप्रकार किस प्रकार कतिपय कथाएँ एवं उनके वीरनायक नितान्त जनप्रिय बन जाते हैं और इन नायकों में उन्हीं गुणों की कल्पना कर ली जाती है जो किसी युग में इसीप्रकार के अन्य नायकों में की गई थी। 'लोनरॉट' ने इसके संकलन-काल में इस बात का अनुभव किया था कि मौखिक-परम्परा में कुछ गायकों की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी तथा अन्य की साधारण होती है। अन्त में, इसका सम्पादन करते समय 'लोनरॉट' ने भी अपने अनुभव से काम लिया और स्वतंत्रतापूर्वक कथाओं को यथास्थान संयोजित किया। यह अनुभव भी उसने अपने वृद्ध-गायकों से ही प्राप्त किया था।

इस प्राचीन साहित्य-रचना का भाषा पर भी अनिवार्यरूप से प्रभाव पड़ा था। इसके कारण भाषा के रूपों में एक प्रकार की ऐसी स्थिरता आ गई कि कभी-कभी इस बात में सन्देह होने लगा कि यह संयोगावस्था वाली भाषा

भी है अथवा नहीं ? किन्तु, गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'फिन' भाषा भी 'तुर्की' एवं 'हुंगेरियन' की भाँति ही संयोगात्मक भाषा है। तुर्की की भांति ही हमें इसमें 'स्वरसंगिति' के दर्शन होते हैं। इसी स्वर साम्य के कारण इसके काव्य में अद्भुत माधुर्य की अनुभूति होती है। 'कारेलियन' एवं 'तवास्तियन', वास्तव में, 'फिनिश' भाषा की बोलियाँ हैं।

## एस्ट एवं उनका साहित्य

फिन लोगों के पड़ोस में ही एस्ट लोगों का निवास-स्थान है। ये लोग 'एस्टोनिया' तथा 'लिवोनिया' में रहते हैं तथा इनकी भाषा का भी फिन भाषा से अतिनिकट का सम्पर्क है। इनकी जनसंख्या एक लाख के लगभग है। फिन लोगों की भाँति ही इनकी भाषा में भी प्राचीन काव्य के अवशेष वर्तमान हैं। डा० कुर्ज़वाल्ड (Kreutzwald) ने एक प्राचीन महाकाव्य का संकलन किया है। इसका नाम 'कलेविपोग' (Kalewipoeg) है, जो 'कलेवल', का पुत्र है। यह 'कलेवल' की भाँति वृहद् एवं पूर्ण नहीं है, किन्तु यह पर्याप्त मात्रा में मधुर एवं रुचिकर है। 'एस्टोनियन' भाषा की दो बोलियाँ हैं। इनमें से एक है—'लिवोनिया' की 'दोरपैट' (Dorpat) बोली तथा दूसरी 'रेवेल' (Revel) की बोली है।

इनकी जनसंख्या दो हजार के लगभग है। ये लोग कुरलैण्ड के तटवर्ती स्थानों में लिज़ेरार्ट से लेकर रीगा की खाड़ी तक रहते हैं।

एस्टोनिया, लिवोनिया एवं कुरलैण्ड वास्तव में रूस के तीन बाल्टिक प्रदेश हैं। फिनलैण्ड की खाड़ी के आसपास अधिकांशतः एस्टोनियन लोग रहते हैं। समाज के उच्च स्तर के लोग 'एस्टोनियन' भाषा का कभी भी व्यवहार नहीं करते।

## फिन्नो-उग्रिक भाषाशास्त्र

वोल्गा के पूरब में बोली जानेवाली फिनिक परिवार की बोलियों एवं हुंगेरियन में जो समानता है वह वास्तव में कोई नई खोज की बात नहीं है। सन् १२५३ में विल्हेल्म रुइज़ब्रॉक (Wilhelm Ruysbroeck) ने जो एक मिशनरी था, वोल्गा के उस पार की ओर यात्रा की थी। उसने यह लिखा है कि "याइक' (yaik) के तट के रहने वाले 'पास्कटिर' (Pascatir) लोग वही भाषा बोलते हैं, जो हुंगेरियन लोग बोलते हैं। उस युग में ये लोग अभी भी प्राचीन बुल्गारियन राज्य की राजधानी 'बोल्गारी' में रहते थे। यह 'बोल्गारी' वोल्गा के दक्षिणी तट पर स्थित था और 'स्पास्क' (Spask) के

ध्वंसावशेष में आज भी इसकी खोज की जा सकती है। भाषाशास्त्री की दृष्टि से हुंगेरियन एवं उग्रोफिनिक बोलियों की समानता सर्वप्रथम सन् १७९९ में गिरमाथि (Gyarmathi) ने सिद्ध की थी। तब तक अभी आर्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन-प्रक्रिया का आरंभ भी नहीं हुआ था। आज भी इस संबंध में वाद-विवाद जारी है। सन् १८८२ में वाम्बेरी (vambery) ने हुंगेरियन एवं तुर्की में घनिष्ट संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उसके सिद्धान्त को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया।

यहाँ स्पष्टीकरण के लिए कतिपय संज्ञा एवं धातुरूप दिए जाते हैं :—

| हुंगेरियन | चेरेमेशियन | हिन्दी |
|---|---|---|
| Atyá-m | ätyä-m | मेरे पिता |
| Atyá-d | ätyä-t | तेरे पिता |
| Aty-ja | ätyä-ze | उसके पिता |
| Atyá-nk | ätyä-nä | हमारे पिता |
| Atyá-tok | ätyä-dä | तुम्हारे पिता |
| Atya-jok | ätyä-st | उनके पिता |

### संज्ञा के रूप

| | हुंगेरियन | एस्टोनियन | हिन्दी |
|---|---|---|---|
| प्रथमा | vér | werri | रक्त |
| षष्टी | véré | werre | रक्त का |
| चतुर्थी | vérnek | werrele | रक्त के लिए |
| द्वितीया | vért | werd | रक्त |
| पंचमी | verestöl | werrist | रक्त से |

### क्रिया के रूप

| हुंगेरियन | एस्टोनियन | हिन्दी |
|---|---|---|
| Lelek | leian | मैं पाता हूँ। |
| Lelsz | leiad | तू पाता है। |
| Lel | leiab | वह पाता है। |
| Leljük | leiame | हम पाते हैं। |
| Lelitek | leiate | तुम पाते हो। |
| Lelik | leiawad | वे पाते हैं। |

———

अध्याय १२

# भाषाओं का सर्वेक्षण

## तुरानियन वर्ग की भाषाओं का उत्तरी एवं दक्षिणी विभाग

पिछले अध्याय में हम लोग यूरल-अल्टाइक परिवार की पाँच भाषाओं, समोयेडिक, तुंगुज़िक, मंगोलिक, तुर्किक एवं फिनिक के संबंध में विचार कर चुके हैं। इनमें तुंगुज़िक भाषा व्याकरण की दृष्टि से निम्नतम स्तर की है। इसका व्याकरण चीनी की अपेक्षा कम समृद्ध है और इसकी गठन में उस विशिष्टता का अभाव है जो हमें चीनी भाषा में उपलब्ध होता है। यही बात 'मन्दशु' भाषा के संबंध में भी है। मन्दशु भाषा वास्तव में तुंगुजिक की ही एक बोली है। यह चीन में नहीं बोली जाती, अपितु मन्दशु लोगों के मूलस्थान में ही इसका व्यवहार प्रचलित है। इसमें अब व्याकरणीय रूपों का विकास आरंभ हुआ है।

मंगोलिक बोलियाँ व्याकरण की दृष्टि से, तुंगुज़िक की अपेक्षा ऊँचे धरातल पर हैं, किन्तु अभी भी इनमें व्याकरण के विभिन्न अवयवों का विकास नहीं हुआ है। मंगोलियन एवं तुंगुज़िक बोलियाँ आज स्पष्टरूप से और अधिक पूर्ण बनने के लिए संघर्ष कर रही हैं। इस संबंध में कास्ट्रेन ने 'बुरियत' लोगों की भाषा एवं नाइरचिन्स्क (Nyertchinsk) के निकट की तुंगुज़िक भाषा से जो साक्ष्य एवं प्रमाण दिए हैं, वे द्रष्टव्य हैं।

इनके बाद जब हम तुर्की भाषा को लेते हैं तब उसमें व्याकरणीयरूपों को पुष्कल मात्रा में निर्मित करने की अद्भुत क्षमता पाते हैं। जिस प्रकार के क्रिया रूप तुर्किक भाषाओं में उपलब्ध हैं, उस प्रकार के किसी भी अन्य भाषा में प्राप्त नहीं हैं। इसके क्रियारूप वृक्ष की उस शाखा के समान हैं जो अपने ही फूलों एवं फलों के भार से टूट जाती है। फिनिक भाषाओं की यह विशेषता है कि तुर्किक की अपेक्षा, इसके क्रियारूप किंचित न्यून-मात्रा में हैं। चेरेमिशियन एवं मोर्डिवियन भाषाओं का व्याकरण अत्यधिक कृत्रिम है। इनके क्रियाओं में सर्वनाम के रूप, प्रत्यय की भाँति संयुक्त होते हैं। यही बात किंचित् अधिक मात्रा में बास्क, काकेशियन एवं अरिकन के आदिवासियों की भाषाओं में मिलती है जो यथार्थतः

अति संश्लिष्ट भाषाएँ मानी जाती हैं। जहाँ तक क्रियारूपों का संबंध है, तुर्की की अपेक्षा फिनिश भाषा अधिक समृद्ध है।

ऊपर के पाँचों वर्गों के अन्तर्गत तुरानियन परिवार की उत्तरी अथवा यूरल-अल्टाइक भाषा-समूह का विवरण दिया गया है।

## दक्षिणी तुरानियन भाषाएँ

जिन भाषाओं को मैंने पहले दक्षिण तूरानी भाषा के नाम से अभिहित किया था, उन्हें अब स्वतंत्र शाखा की भाषाएँ मानना ही उचित होगा। आज से पैंतीस वर्ष पूर्व मैंने इस संबंध में जो कुछ कहा था वे मेरे प्रारंभिक विचार थे, किन्तु उन्हें मैंने साहसपूर्वक विद्वानों के सम्मुख रखा था। उस समय मेरे पास तथ्यों का प्रायः अभाव था और जो तथ्य थे भी वे नितान्त अविश्वसनीय थे। तब से हम लोग अधिक सावधान हो गए हैं। अब हमें यह भली-भाँति ज्ञात हो गया है कि हमें केवल भाषाओं की समानता के कारणों पर ही विचार करना नहीं है, अपितु इन भाषाओं में जो असमानता है, उसके कारणों पर भी विचार करना आवश्यक है। इन दोनों प्रकार के कारणों पर विचार किये बिना हम भाषाओं के पारिवारिक संबंध के विषय में प्रामाणिकरूप से कुछ भी नहीं निर्णय कर सकते। यहाँ पर मेरे इस कथन से यह तात्पर्य नहीं है कि मोटे तौर पर मैंने दक्षिणी तूरानी भाषाओं का जो वर्गीकरण किया था वह सर्वथा अशुद्ध सिद्ध हो गया है, किन्तु आज मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि जिस बात को सिद्ध नहीं किया जा सका है उसे भाषा-विज्ञान में स्थान नहीं मिलना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो इस बात की आशंका है कि लोग शीघ्र निष्कर्ष निकालने लगेंगे और तब वैज्ञानिक खोज का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। उदाहरणार्थ आज भी मेरी यह धारणा है कि 'तिब्बती' एवं 'बर्मी' भाषाएँ जिन्हें मैं 'गैंजेटिक' एवं 'लोहिटिक' भाषाएँ भी कहता हूँ, परस्पर सम्बन्धता के सूत्र में बँधी हुई हैं और इसी कारण इन्हें मैंने एक नाम 'भोटिया' से अभिहित करना उपयुक्त समझा है। इसीप्रकार मेरी यह भी धारणा है कि 'स्यामी' एवं 'ताइक' (थाई ?) भाषाओं का चीनी से अति निकट का संबंध है और 'भोटिया' एवं 'ताइक' दोनों 'चीनी' के साथ अति प्राचीन-काल में किसी एक ही मूल भाषा से प्रादुर्भूत हुई होंगी। यह तो भविष्य ही बता सकेगा कि मेरा यह अनुमान सत्य है अथवा मिथ्या, क्योंकि मैंने इन भाषाओं का जो वर्गीकरण किया है उसे मैं अभी प्रकल्पनात्मक ही मानता हूँ। इधर विद्वानों ने चीनी, स्यामी, तिब्बती एवं बर्मी भाषाओं का विशेष अध्ययन किया है।

उनकी उपस्थिति में इस संबंध में मुझे अन्तिम निष्कर्ष के रूप में कुछ कहना उचित न होगा। मैं इस प्रश्न का निर्णय इन्हीं युवक विद्वानों के बलिष्ट हाथों में सौंपता हूँ।

आज हमें इस बात की आवश्यकता भी नहीं है कि यूरप एवं एशिया के बाहर भी भाषाओं का हम सर्वेक्षण करें। आज हम भाषाविज्ञान के केवल सिद्धान्तों पर विचार कर रहे हैं और ये सिद्धान्त आर्य, सामी, चीनी, यूरल-अल्टाइक एवं मैलेयोपालिनिशियन भाषाओं के अध्ययन पर ही आधारित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह वास्तव में अपूर्णता है, किन्तु इसप्रकार की अपूर्णता अन्य विज्ञानों में भी मिलती है। विज्ञान एक-एक पद से आगे बढ़ता है और भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है। जब अन्य नूतन भाषाओं की खोज हो जायेगी और उनका पारिवारिक वर्गीकरण भी सम्पन्न हो जायेगा तब भी किसी एक व्यक्ति के लिए भाषा के सुविस्तृत एवं वर्द्धमान क्षेत्र को पूर्णरूप से अधिकृत करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

हमारे अपने कार्य के लिए उन कतिपय भाषाओं की यहाँ सूची देना उपयुक्त होगा जिनका अध्ययन एवं वर्गीकरण हो चुका है क्योंकि उदाहरण के लिए हमें स्थान-स्थान पर इस पुस्तक में उनका उल्लेख करना पड़ेगा।

## तामुलिक भाषाएँ

तमिल, तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयालम भाषाओं का एक पृथक् परिवार है। इसी परिवार के अन्तर्गत तुलू, टोडा, गोंड, ओराँव-कोल, राजमहल पर्वत की बोलियों एवं ब्राहुई को भी लिया जा सकता है। ये भाषाएँ प्रायः सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीप में फैली हुई हैं। इनमें से गोंड, ओराँव कोल एवं राजमहल की भाषाओं ने तो जंगलों एवं पर्वतों में अपने लिए स्थान बनाया है, किन्तु ब्राहुई उत्तर में एक सीमित क्षेत्र की बोली है। उत्तर में ब्राहुई की स्थिति से यह प्रतीत होता है कि किसी युग में तमिल अथवा द्रविड़ जातियाँ उत्तर में भी रहती थीं और जब इधर आर्य आए तो उनके दबाव के कारण इन्हें दक्षिण की ओर जाना पड़ा। काडवेल ने इन भाषाओं का अपने 'द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण' में बहुत अच्छा विश्लेषण किया है।

## मुण्डा भाषाएँ

सन्थाल, कोल एवं भूमिज लोगों की बोलियों को पहले तमिल परिवार के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया था, किन्तु जैसा कि मैंने सन् १८५४ में कहा था, इन्हें

एक स्वतंत्र परिवार की भाषाएँ मानना ही समीचीन होगा। जैसा कि मैं अन्यत्र कह चुका हूँ, इन भाषाओं को एक सामान्यनाम मुण्डा से अभिहित करना ही मैं उपयुक्त समझता हूँ। सर जी० कैम्बेल ने मेरी इस खोज को स्वीकार करते हुए इनका 'कोलारियन' नामकरण किया है। यह नाम सीमित होकर केवल 'कोल' जाति की भाषा का द्योतन करता है। इससे संयुक्त 'आरियन' शब्द या तो निरर्थक है अथवा यह 'आर्य' शब्द का भ्रम उत्पन्न करता है।

## ताइक भाषाएँ

इसके अन्तर्गत 'स्यामी' एवं इसकी सगोत्री भाषाएँ, 'लाओस', 'शान', 'अहोम', 'खाम्टी' एवं 'खसिया' का समावेश है। अब यह बात स्वीकार की जाने लगी है कि चीनी के साथ इन भाषाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

## भोटिया भाषाएँ

'गैंजेटिक' एवं 'लोहिटिक' भाषाएँ जिनका 'तिब्बती' एवं 'बर्मी' क्रमशः प्रतिनिधित्व करती हैं, परस्पर निकट संबंधवाली भाषाएँ प्रतीत होती हैं। 'तिब्बती' भाषा के साथ हमें 'लेप्चा', 'मर्मी', 'भागर' एवं 'गुर्मुग' तथा 'बर्मी' के साथ 'बोडो', 'गारो', 'नागा', 'सिंगफो' एवं इसीप्रकार की अन्य बोलियों को वर्गीकृत करना पड़ेगा।

भोटिया एवं ताइक भाषाओं का चीनी से दूर का संबंध है अथवा नहीं, यह अभी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु कई योग्य विद्वान् इस बात को अब स्वीकार करने लगे हैं।

## सुदूर भारत की भाषाएँ

अनाम, पेगू एवं कम्बोडिया में जो भाषाएँ बोली जाती हैं उन्हें अभी तक अवर्गीकृत भाषा समूह के अन्तर्गत रखा गया है। इधर इन पर भी प्रकाश पड़ने लगा है और इन सबको सर्वथा स्वतंत्र न मानकर इनमें भी बोलियों के समूह रूप में मानने को बाध्य होना पड़ रहा है। श्री भेसन ने मुण्डा तथा मॉन या 'तलाङ्' भाषाओं में जो पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया था वह बाद की खोजों से प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सका है और अभी तक 'खासी' एवं 'जाम' '(Tjam) जैसी भाषाएँ अवर्गीकृत की श्रेणी में ही हैं।

## काकेशस की भाषाएँ

काकेशस में बोली जानेवाली जार्जियन, लेज़ियन, सुआनियन, मिंग्रेलियन, एबचेसियन, सरकासियन, थुश एवं चेत्चेन्जियन (Tchetchenzian)

लेसघियन, अवारियन, कसिकुमुकियन आदि भाषाओं की ऊपर की जैसी ही स्थिति है और अभी तक ये भी अवर्गीकृत ही हैं। इनमें से कतिपय भाषाओं का सावधानी से अध्ययन किया गया है और इनकी उत्पत्ति संबंधी खोजें भी की गई हैं, किन्तु अभी तक विद्वानों को इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है।

काकेशस की 'ओसेटियन' (ossetion) भाषा आर्य परिवार की है।

## एजिप्ट

एजिप्ट की प्राचीन भाषा का एक पृथक् ही वर्ग है। जैसा कि इस सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है, कतिपय विद्वान् यहाँ की भाषा को अति प्राचीन मानते हैं। वे इसे न तो आर्य-भाषा और न सामी के अन्तर्गत ही रखना समीचीन मानते हैं। उनके अनुसार इसमें इन दोनों परिवारों की विशेषताओं का मूल बीज वर्तमान है। यह बात यदि भविष्य में सिद्ध भी हुई तो इसके लिए अत्यधिक साक्ष्यों की आवश्यकता होगी।

## उप सामीभाषाएँ

यही बात बर्बर या लिबियन (कबील, सिल्हे, तुअरेग या तामशेग) एवं अबिसीनिया एथोपिया की भाषाओं (सोमाली, गाला, बेजा या बिहारी, अगाऊ एवं डंकाली आदि) के सम्बन्ध में भी है। कुछ विद्वानों का विचार है कि मूलतः इस क्षेत्र में हेमेटिक परिवार की भाषा प्रचलित थी। अब यहाँ सामी अथवा सेमेटिक परिवार की भाषाएँ प्रचलित हो गई हैं, किन्तु अन्य विद्वान् इससे सर्वथा विपरीत बात का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ये सेमेटिक सवंलित हेमेटिक भाषाएँ हैं। इसका निर्णय भविष्य में ही हो सकेगा। सच बात तो यह है कि इन बातों को सिद्ध करने के लिए पुष्कल मात्रा में प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

## अफ्रीका की भाषाएँ

अफ्रीका की कतिपय भाषाओं का इधर गंभीर अध्ययन हुआ है और इसका परिणाम यह हुआ है कि इनके वर्गीकरण की प्रक्रिया भी अत्यधिक अग्रसर हुई है।

(१) दक्षिण में 'हॉटेनटॉट' एवं बुशमैन द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में अब परस्पर संबंध सिद्ध हो गया है, किन्तु अभी तक विद्वान् यह नहीं सिद्ध कर पाये हैं कि इनका प्राचीन एजिप्ट की भाषा से भी कुछ संबंध था। ये

भाषाएँ 'क्लिक' भाषाएँ हैं, क्योंकि इनके उच्चारण में क्लिक का पूर्णतया उपयोग होता है। बान्टू में भी हॉटेनटॉट की भाँति ही, उच्चारण में, क्लिक का प्रयोग होता है।

(२) बाँ-टू अथवा काफिर लोग अफ्रीका के पूर्वीतट पर भूमध्य-रेखा के उत्तर से नीचे की ओर, हॉटेनटॉट तक तथा पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण महाद्वीप में बसे हुए हैं। ये कई भाषाएँ बोलते हैं जिनका एक दूसरे से निकट का संबंध है।

(३) हब्शी (नीग्रो) जाति के लोग अफ्रीका के पश्चिमी तट से लेकर इसके भीतर तक बसे हुए हैं।

अभी तक लोगों की यही धारणा थी कि ये लोग एक ही भाषा बोलते हैं, किन्तु इधर जो खोजें हुईं हैं उनसे स्पष्ट हो गया है कि इनकी भाषाओं के भी कई पृथक् वर्ग हैं।

अफ्रीका की भाषाओं का अभी तक सामान्यरूप से सर्वेक्षण नहीं हो सका है और अभी इस क्षेत्र में बहुत कार्य करने को शेष है। इधर श्री लौप्सियस ने यहाँ के निवासियों को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है। ये वर्ग हैं--

(१) उत्तरी प्रदेश के हब्शी।

(२) दक्षिणी प्रदेश के अथवा बान्टू हब्शी।

(३) खाड़ी (केप) के प्रदेश के हब्शी।

यह वर्गीकरण वास्तव में अपूर्ण ही है, किन्तु श्री लैप्सियस ने इसी के आधार पर यहाँ की भाषाओं को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया। ये इसप्रकार हैं--

(१) दक्षिणी क्षेत्र की अथवा भूमध्यरेखा के दक्षिण की बान्टू भाषाएँ --ये भाषाएँ प्रमुखरूप से पश्चिमी एवं पूर्वी तटों पर किन्तु सामान्यरूप से सम्पूर्ण अफ्रीका में फैली हुई हैं तथा इनके अन्तर्गत--हेरेरो, पोंगू, फर्नेण्डो पो, काफिर (ओसा एवं ज़ुलू), शुआना (सोटों एवं रोलोन) एवं 'स्वाहिली' आदि भाषाओं का समावेश है।

(२) उत्तरी क्षेत्र की भाषाएँ--इनका क्षेत्र भूमध्य रेखा तथा सहारा के रेगिस्तान के बीच पूरब में नील नदी तक है। इनके अन्तर्गत एफिक, इबो, योरुबा, एवे, अक्रा अथवा गा, ओटी, क्रु, वेइ (मांडे), टेम्ने, बुल्लोम, वोलोफ, फुला, सोनहैई, कनुरी, टेडा (टिबु), लोगोन, वांडला, बागिर्मी, माबा, कोंजार, उमाले, डिंका, शिल्लुक, बोंगा, बरी, आइगोब, नुबा एवं बरेआ हैं।

(३) हेमेटिक क्षेत्र--इसके अन्तर्गत मिस्र (एजिप्ट) की प्राचीन लुप्त भाषा एवं काप्टिक तथा लिबियन बोलियों का समावेश है। लिबियन के अन्तर्गत

'तुअरेग (कबील एवं तमशेग), हौसा एवं कुशिटिक अथवा एथोपिया की भाषाएँ आती हैं। एथोपिया की भाषाओं के अन्तर्गत 'बेज बोलियाँ, सोहो, फलश, अगउ, गाला, डंकाली एवं सोमाली का समावेश है। श्री लैप्सियस ने 'हॉटेनटॉट' एवं 'बुशमैन' भाषाओं तक को इसी क्षेत्र का माना है।

श्री लैप्सियस के अनुसार इस तीसरे क्षेत्र की भाषाएँ विदेशी हैं और ये पूरब से विभिन्न मार्गों से अफ्रीका में आ पहुँची हैं। आपके अनुसार अफ्रीका की भाषाओं की केन्द्रीय एवं मूलभूत भाषा बान्टू ही है और उत्तरी क्षेत्र की भाषाएँ इसी बान्टू के ही परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप हैं। ये परिवर्तन हेमेटिक-सेमेटिक क्षेत्र की भाषाओं के संघर्ष के कारण हुए हैं।

यदि श्री लेप्सियस का ऊपर का वक्तव्य सत्य है तो अफ्रीका का भाषा संबंधी मानचित्र बहुत सरल है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या भविष्य की खोजों के परिणाम-स्वरूप इसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा?

## अमेरिका

अमेरिका की भाषाओं के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कतिपय विद्वानों को यहाँ की भाषाओं में विभिन्नता ही विाभन्नता दिखाई देती है, किन्तु अन्य विद्वान् इनके गठन में एकता एवं समानता का ही अनुभव करते हैं। भविष्य की खोजों की चिन्ता किए बिना ही इन भाषाओं के स्पष्टरूप से चार विभिन्न केन्द्र दृष्टिगोचर होते हैं। ये हैं :—

(१) उत्तर के रेड इंडियन लोगों की अनेक बोलियों युक्त भाषाएँ।
(२) मेक्सिको की भाषाएँ।
(३) मध्य अमेरिका की भाषाएँ।
(४) पेरू की भाषाएँ।

अमेरिका के भाषा समुद्र में ये चार केन्द्र चार द्वीपों की भाँति हैं। ये द्वीप भाषा के अन्य द्वीपों से घिरे हुए हैं जो प्राचीनकाल में भाषा के महाद्वीप रहे होंगे, किन्तु जो आज एक दूसरे से विच्छिन्न हो गये हैं। आर्कटिक अथवा 'हाइ-परबोरियन', स्किमो एवं धूर उत्तर के ग्रीनलैण्ड के निवासी दक्षिणी अमेरिका के उत्तर एवं 'एण्टिलेज' टापू के 'ऐरोवेक' एवं 'कैरिब', ब्राज़िल के आदिवासी 'एबिपोन', 'पैटागोनियन' एवं टियराडेल फ्युगो के लोगों की भाषाएँ इसीप्रकार की हैं।

अमेरिका की इन भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भविष्य में अत्य-

धिक श्रम की अपेक्षा होगी। अमेरिका के आदिवासियों का आज हब्शी फोनेशियन चीनी अथवा केल्ट लोगों से संबंध स्थापित करने का प्रयत्न मुझे व्यर्थ ही एवं वैज्ञानिक अध्ययन की परिधि से बाहर का प्रतीत होता है।

## समुद्रतटवर्ती भाषाएँ

अफ्रीका के पूर्वीतट मैडागास्कर से लेकर अमेरिका के पश्चिम में स्थित सेण्डविच द्वीप तक स्थित जो तटवर्ती भाषाएँ बोली जाती हैं उनके अध्ययन एवं वर्गीकरण में पर्याप्त मात्रा में प्रगति हुई है।

मलाया, पालिनोशियन तथा मेलेनिशियन (माइक्रोनेशियन) बोलियों में मूलतः किन्तु बहुत दूर तक का पारस्परिक संबंध है। ये वास्तव में एक ही शाखा की प्रशाखाएँ हैं। आस्ट्रेलिया की बोलियाँ तीन समूहों में विभक्त हैं; इनमें से न्यूगानिया में पपुआ लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा का अभी तक भलीभाँति वर्गीकरण सम्पन्न नहीं हुआ है, यद्यपि न्यूगानिया में बोली जाने वाली कतिपय बोलियाँ यथा—मोटू, स्पष्टरूप से मेलेनेशियन परिवार की हैं।

ऊपर विश्व की भाषाओं का जो संक्षिप्त सर्वेक्षण किया गया है, वह वास्तव में बहुत ही अपूर्ण है क्योंकि इन भाषाओं का अभी तक जो अध्ययन हुआ है उसी पर यह आधारित है। इस सर्वेक्षण को प्रस्तुत करने में मेरा मुख्य उद्देश्य केवल उन भाषा संबंधी केन्द्रों का दिग्दर्शन कराना था जहाँ सजीव भाषाओं के अध्ययन का कार्य वैज्ञानिक पद्धति से चल रहा है। आज कतिपय भाषाओं का वर्गीकरण तो पूर्ण एवं स्पष्ट है, किन्तु अन्य कई भाषाओं में यह कार्य सुचारुरूप से संपन्न नहीं हो पाया है। यूरोप एवं एशिया की कई भाषाएँ तो आज भी पृथक् एवं एकलरूप में हैं। ऐसी भाषाओं में बास्क, यूट्रस्कन, लीसियन, जापानी, कोरियन एवं अंडमान तथा निकोबार के आदि वासियों की बोलियाँ उल्लेखनीय हैं। यह संभव है कि अब तक विश्व का भाषा संबंधी जो मानचित्र बना है उस पर अगली पीढ़ी के लोग हँसे, किन्तु अलिखित भाषाओं के अध्ययन संबंधी कठिनाइयों पर ध्यान देते हुए तथा 'लेबनिज़', हम्बोल्ट, बॉप्प, ग्रिम, एवं पॉट, जैसे भाषाशास्त्र को मार्ग दिखानेवाले प्रतिभाशाली विद्वानों के बाद के लघुकाल को दृष्टि में रखते हुए यदि इस संबंध में हम गंभीरता से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इधर जो कुछ भी कार्य सम्पन्न हुआ है वह अन्य विज्ञानों की अपेक्षा न्यून नहीं है।

## संयोगावस्था

भाषा की संयोगावस्था के उल्लेख के बीच ऊपर जो भाषा-सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है उससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि ये सभी भाषाएँ संयोगावस्था (Agglutinative) की हैं। इनके संबंध में इतना ही कहा जा सका है कि ये आरंभिक अवस्था से प्रगति करके आगे बढ़ गई हैं, किन्तु अभी तक संश्लेषणात्मक (Inflectional) अवस्था तक नहीं पहुची हैं, किन्तु यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भाषा की ये तीन अवस्थायें स्वाभाविक हैं। संश्लेषणात्मक अवस्था के पूर्व संयोगावस्था और उसके पूर्व भाषा की वह अवस्था होती है जिसमें प्रकृत एवं प्रत्यय अत्यन्त शिथिलरूप में संयुक्त रहते हैं और प्रत्यय भी अपने लघु रूप की अपेक्षा अपने पूर्ण पद के रूप में होते हैं। संयोगावस्था एवं संश्लेषणावस्था में मूल अन्तर यह होता है कि संयोगावस्था के बोलनेवालों को भाषा के धातुपदों का पूर्ण ध्यान रहता है और वे उसमें किसी प्रकार का ध्वन्यात्मक परिवर्तन स्वीकार नहीं करते; जब वे प्रत्ययों का अर्थ भी भूल जाते हैं तब भी उनके मन में मूलधातु एवं उसमें परिवर्तन लाने वाले प्रत्यय के भेद की चेतना रहती है। किन्तु भाषा की संश्लेषणावस्था में इसप्रकार की चेतना बिलकुल नहीं रहती; वहाँ धातु एवं प्रत्यय दोनों में इतना अधिक ध्वन्यात्मक परिवर्तन हो जाता है तथा दोनों एक दूसरे से इसप्रकार संयुक्त हो जाते हैं कि वैयाकरणों एवं भाषाविदों के तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को उनके पार्थक्य का बोध ही नहीं हो पाता।

---

## अध्याय १३

# भाषाओं की उत्पत्ति का प्रश्न —रूपात्मक वर्गीकरण की विशेषताएँ

जब आप भाषा के रूपात्मक वर्गीकरण की विशेषताओं के संबंध में विचार करेंगे तब आपको यह ज्ञात होगा कि यह वर्गीकरण पारिवारिक वर्गीकरण से भिन्न है तथा इसके आधार-भूत सिद्धान्त सभी भाषाओं में लागू होते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि यह वर्गीकरण, वर्गीकरण संबंधी सभी संभावनाओं का निःशेष कर देता है। यदि भाषा के उपांश तत्व, विधेयक एवं निर्देशक धातु पद हैं तो इनसे केवल तीन प्रकार की संरचनाएँ ही संभव हैं; प्रथम, किसी प्रकार के परिवर्तन के बिना ही धातुएँ, पद अथवा शब्द बन जाएँगी अथवा द्वितीय, ये धातुएँ अपने मूलरूप में ही किसी प्रत्यय को संयुक्त करके पद का निर्माण करेंगी और इसप्रकार वे अपना स्वतंत्र अर्थ खो बैठेंगी या तृतीय—ये धातुएँ प्रत्यय से इस रूप में संयुक्त हो जायेंगी कि धातु एवं प्रत्यय दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व ही लुप्त हो जायेगा।

कतिपय विद्वान् अमेरिका के आदिवासी लोगों की भाषा को दृष्टि में रखते हुए एक चौथी अवस्था—बहुसंश्लेषणात्मक—की भी कल्पना करते हैं। किन्तु यह सर्वथा अनावश्यक है। इसप्रकार के संश्लेषण अथवा सामासिकता में जब तक धातुपद अपरिवर्तितरूप में रहेगा तब तक उसे संयोगावस्था अथवा योगात्मक अवस्था कहना ही समीचीन होगा, किन्तु जब वह परिवर्तित होकर प्रत्यय से संयुक्त होगा तब उसे संश्लेषणात्मक अवस्था कहना उपयुक्त होगा।

इस संबंध में जो एक सामान्य भ्रम होने की आशंका है उससे हमें बचना चाहिये। बहु-संश्लेषणात्मक भाषा में प्रायः ऐसा होता है कि जब शब्द स्वतंत्ररूप में अकेला होता है तब वह अपने पूर्णरूप में होता है, किन्तु जब उसमें प्रत्यय संयुक्त हो जाते हैं और वह संश्लिष्ट पद बन जाता है तब उसका आकार पहले की अपेक्षा लघुतर हो जाता है। विद्वान् लोग कभी-कभी इस लघुतर रूप को ही लघुतम मान बैठते हैं; यह भारी भूल है।

इसीप्रकार संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक भेद करके प्रथम के अन्तर्गत प्राचीन (ग्रीक, लैटिन, संस्कृत) तथा द्वितीय के अन्तर्गत आधुनिक (फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, हिन्दी) भाषाओं को भी रखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यदि उदाहरण के लिए किसी भी आधुनिक भाषा का हम एक वाक्य अथवा वाक्यांश लें तो हमें ज्ञात होगा कि रूपात्मक दृष्टि से इसमें संश्लेषणात्मक प्रक्रिया चल रही है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि ऐसे वाक्य अथवा वाक्यांश की संरचना में हमें अनेक प्राचीन व्याकरणीय तत्व लुप्त मिलेंगे। फिर भी कतिपय व्याकरणीय तत्वों के अवशेष इसमें हमें अवश्य प्राप्त हो जावेंगे। तुरानियन भाषाओं में व्याकरणीय रूप दो धातु-पदों को संयुक्त करके निर्मित किए जाते हैं और जब उनका स्थान नए प्रत्यय ले लेते हैं, तो पुराने लुप्त हो जाते हैं।

## भाषाओं के मूल की खोज

यदि हम भाषाओं का केवल पारिवारिक वर्गीकरण ही सम्पन्न करना चाहते हैं तब तो हमारी एक सीमा है, किन्तु रूपात्मक वर्गीकरण के बाद ऐसी कोई सीमा नहीं है। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण के पश्चात् हमें इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ता है कि अभी विश्व की कतिपय भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण में ही हम कृतकार्य हो सके हैं अतएव अभी हमारे सम्मुख यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि अन्ततोगत्वा इन सभी भाषाओं की उत्पत्ति कहाँ से हुई है? यदि उत्पत्ति विषयक खोज के लिए हम किसी एक परिवार की विविध भाषाओं के धातु-पदों को एकत्र करके उनका तुलनात्मक अध्ययन करें तो भी इससे कुछ काम नहीं बनता। यह सत्य है कि आर्य भाषाओं में हमें, कतिपय ऐसे धातुपद मिल सकते हैं जो रूप एवं अर्थ में सामी, यूरल-अल्टाइक, बान्टू तथा समुद्र-तटवर्ती भाषाओं के धातु-पदों के समान हों, किन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो जायेगा कि इन सभी परिवारों की भाषाओं का उत्पत्ति स्रोत भी एक ही है। आर्य-भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण संबंधी हमारा जो ज्ञान है उसके बल पर उनके एक मूल स्रोत का पता लगाना नितान्त दुष्कर है।

किन्तु रूपात्मक वर्गीकरण के संबंध में ऐसी बात नहीं है। यद्यपि अभी तक हम विश्व की सभी भाषाओं के परीक्षण में कृत-कार्य नहीं हो सके हैं, किन्तु यह तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि उन्हें तीन श्रेणियों--अयोगात्मक, योगात्मक एवं संश्लेषणात्मक में वर्गीकृत किया जा सकता है। अन्त में भाषाओं की उत्पत्ति संबंधी समस्या के विषय में हम यही कह सकते हैं कि इसके समाधान में

अनेक कठिनाइयाँ हैं, किन्तु भाषा-विज्ञान की यह एक वास्तविक समस्या है, अतएव हम इसे छोड़ नहीं सकते।

## भाषा और जाति

हमें सर्वप्रथम मूल समस्या को स्पष्टरीति से समझना चाहिए। सच तो यह है कि भाषाओं की उत्पत्ति विषयक समस्या का मनुष्य की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं है। यदि यह सिद्ध हो भी जाय कि विभिन्न परिवारों की भाषाओं के मूल स्रोत भी भिन्न-भिन्न हैं तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि मनुष्य जाति की उत्पत्ति के स्रोत भी भिन्न-भिन्न हैं। यदि हम भाषा को मानव की प्रकृति की देन मानते हैं तो हमें इस बात को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि मानव के एक जोड़े से उत्पन्न, उसके वंशजों में, देशकाल एवं पात्रानुसार भाषा में अवश्य भिन्नता आ गई होगी। किन्तु इसके विपरीत यदि हम यह मानते हैं कि मानव ने स्वयं अपने लिए भाषा का ईजाद किया तब तो हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि मानव की प्रत्येक पीढ़ी ने अपने लिए भाषाएँ बना ली होंगी।

यदि हम यह सिद्ध करने में सफल हो जायँ कि विश्व की सभी भाषाएँ एवं बोलियाँ किसी एक ही मूल स्रोत से प्रादुर्भूत हुई हैं तो भी हम यह सिद्ध करने में कृतकार्य नहीं हो सकते कि मानव जाति की उत्पत्ति मूलतः उसके एक जोड़े से हुई है क्योंकि यह भी संभव है कि मूलतः भाषा किसी एक जाति को प्राप्त हुई हो और बाद में उस जाति ने उसे अन्य जातियों में वितरित कर दिया हो।

## तुलनात्मक भाषा-विज्ञान

भाषा विज्ञान एवं नृ-विज्ञान दोनों को पृथक् दृष्टियों से न देखने से दोनों विज्ञानों को क्षति पहुँची है। जातियों एवं भाषाओं का वर्गीकरण एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र होना चाहिए। जातियाँ अपनी भाषाओं का परिवर्तन कर सकती हैं और इतिहास में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब एक जाति ने दूसरी जाति की भाषा को स्वीकार कर लिया है। इसप्रकार एक ही जाति के लोग विभिन्न भाषाएँ बोल सकते हैं और इसके विपरीत एक ही भाषा को कई विभिन्न जातियों के लोग बोल सकते हैं। अन्त में इस संबंध में निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि न तो भाषा के आधार पर जातियों का वर्गीकरण समीचीन है और न जातियों के आधार पर भाषा का वर्गीकरण उपयुक्त है।

## बाइबिल की वंशावलियाँ

दूसरी एक बात यह है कि पुरानी बाइबिल में मनुष्य की उत्पत्ति एवं उसकी जो वंशावलियां दी गई हैं उससे भाषाओं की उत्पत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाइबिल में उपलब्ध विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से मनोरंजक अवश्य हैं, किन्तु इधर चित्रलिपि में लिखित प्रत्न लेखों में जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है, उससे ये विवरण अधिक प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। किन्तु जो लोग ऐतिहासिक दृष्टि से बाइबिल को अधिक प्रामाणिक मानते हैं उन्हें भी इस संबंध में गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि यदि हमारी खोजों के परिणामस्वरूप यह सिद्ध भी हो जाता कि मानव भाषा विभिन्न स्रोतों से प्रादुर्भूत हुई है तो इससे बाइबिल के विचारों को कुछ क्षति नहीं पहुँचती क्योंकि इसके विरुद्ध बाइबिल में कुछ भी नहीं कहा गया है। यद्यपि यहुदी लोगों का यह विश्वास है कि मानव-इतिहास में एक ऐसा समय था जब एक ही भाषा थी और सभी मानव उसी का व्यवहार करते थे, तथापि अमेरिका, के आदिवासियों की भाषाओं को देखकर कई सन्तों ने यह विचार प्रकट किया था कि ये अभिनव भाषाएँ बाद में उत्पन्न हुई होंगी। इसके विपरीत, यदि अपनी खोजों के परिणामस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विश्व की सभी भाषाएँ एक ही स्रोत से प्रादुर्भूत हुई हैं तो हमें बाइबिल में प्राप्त वंशावलियों के अनुसार इन भाषाओं का वर्गीकरण एवं नामकरण नहीं करना चाहिए। पुरानी बाइबिल की वंशावलियों का वस्तुतः रक्त से संबंध है, भाषा से नहीं। हमें यह ज्ञात है कि लोग बिना अपने नाम बदले हुए ही अपनी भाषा बदल देते हैं, अतएव बाइबिल की वंशावलियों एवं भाषाओं का नाम एक ही होना असंभव है। भ्रम-निवारण के लिए यही श्रेयस्कर है कि बाइबिल में जो नाम रक्त की एकता प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं उन्हें हम भाषाओं के लिए प्रयुक्त न करें। पहले हम 'जैफ़ेटिक', 'हैमेटिक' एवं 'सेमेटिक' भाषाएँ कहते थे, किन्तु अब जैफ़ेटिक के लिए आर्य तथा हैमेटिक के लिए 'अफ्रिकन' शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। हाँ, सेमेटिक का प्रयोग आज भी भाषा के लिए हो रहा है, किन्तु आज इसका वही अर्थ नहीं है जो बाइबिल में इसका अर्थ है। जो लोग बाइबिल पर आक्रमण करने में रत हैं तथा जो लोग उसकी प्रतिरक्षा में व्यस्त हैं, उन दोनों प्रकार के लोगों को ऊपर के तथ्यों को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर उन्हें इसकी प्रगति में बाधक नहीं बनना चाहिए।

## भाषाओं का रूपात्मक सम्बन्ध

अब हमें भाषा संबंधी समस्या पर निरपेक्ष ढंग से विचार करना है। विश्व की सभी भाषाओं की उत्पत्ति किसी एक स्रोत से हुई है, इस समस्या के दो भाग हैं :—(१) तथ्यात्मक (२) रूपात्मक। यहाँ पर हमें इसके रूपात्मक भाग पर ही विचार करना है। पिछले अध्याय में हम लोगों ने भाषा के सभी रूपों का परीक्षण किया है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या इसके तीनों रूपों—अयोगात्मक, योगात्मक एवं संश्लेषणात्मक को देखते हुए यह बात स्वीकार कर सकते हैं कि मानव-भाषा किसी एक स्रोत से प्रादुर्भूत हुई है? इस प्रश्न का मेरा उत्तर हाँ है।

सभी भाषाएँ एक मूल स्रोत से उत्पन्न हुई हैं, इसके विरुद्ध मुख्य तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि आज तक कोई भी अयोगात्मक अथवा एकाक्षरी भाषा योगात्मक अथवा प्रत्ययवाली अवस्था में प्रविष्ट होते हुए नहीं देखी गई है और इसीप्रकार किसी योगात्मक भाषा को संश्लेषणात्मक अवस्था में जाते हुए भी हम नहीं देख रहे हैं। उदाहरणार्थ चीनी भाषा आरंभ से ही अपने इसी रूप में है और इसमें योगात्मक एवं संश्लेषणात्मक रूपों का सर्वथा अभाव है। इसीप्रकार जब हम किसी योगात्मक भाषा के संबंध में विचार करते हैं तो उसके धातु-रूपों में हमें कुछ भी परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता और इसके ये पद उसी रूप में हमें स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनीय मिलते हैं।

ऊपर की समस्या के समाधान में यही कहा जा सकता है कि जब कोई भाषा स्वतंत्ररूप धारण कर लेती है तो उसकी रूपात्मक प्रकृति बहुत कुछ स्थिर हो जाती है, किन्तु यह होते हुए भी नवीन व्याकरणीय रूपों को उत्पन्न करने की उसकी शक्ति बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती। चीनी, विशेषरूप से चीनी बोलियों में हमें योगात्मकता के आरंभिक रूप उपलब्ध होते हैं। चीनी में लि (li) जिसे मैंने अधिकरण कारक का चिह्न कहा है, अब केवल परसर्ग बन गया है, और आज किसी भी चीनी को ज्ञात नहीं है कि मूलतः इसका अर्थ भीतर था। चीन की बोलचाल की भाषा में संयुक्त होनेवाले रूप प्रायः मिलते हैं। उदाहरणार्थ शंघाई की बोली में बोलने के अर्थ में 'वो' (wo) पद प्रयुक्त होता है। इससे 'वोदा' (woda) बनता है, जिसका अर्थ 'शब्द' है। संबंधकारक में इसका रूप 'वोदा-का' (woda-ka), सम्प्रदान में 'पेलवोदा' (Pela-woda) तथा कर्म में 'टैङवोदा' (tang woda) हो जाता है। योगात्मक भाषाओं में भी हमें आरंभिक संश्लेषण के चिह्न मिलते हैं। उदाहरण के लिए तमिल

क्रियापद 'तुंगु' (tungu) 'सोना' में संज्ञा-पद 'तुक्कम्', 'नींद' बन जाता है। इस बाद के रूप में मूलक्रिया का रूप अपने पूर्णरूप में सुरक्षित नहीं रहता। पुनः 'तुंगु' क्रियापद का रूप तमिल में 'तु' (tu) भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है 'लेटना'।

इसप्रकार के अनेक अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। इन उदाहरणों से मेरा तात्पर्य यह सिद्ध करने का है कि जब एक बार किसी भाषा का रूप स्थिर हो जाता है तब उसमें परिवर्तन होता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। जब कोई परिवार, जाति अथवा राष्ट्र अपने विचारों को एक प्रकार से व्यक्त करने का अभ्यस्त हो जाता है तब यह परम्परा आगे की पीढ़ियों में और भी अधिक दृढ़ होती जाती है। जहाँ एक ओर चीनी भाषा आरंभ में ही परम्परागत एवं बहुत कुछ स्थिर होकर अयोगात्मक बन गई वहाँ अन्य भाषाएँ अपने परिवर्तन की शक्ति के कारण आगे की अवस्थाओं में प्रगति करती गईं। ये भाषाएँ न तो परम्परागत ही बन पाईं और न इनके परिवर्तन की गति ही अवरुद्ध हो सकी। ऐसी भाषाएँ अयोगात्मक से योगात्मक अवस्था में इसलिए पहुँच गईं कि इनके बोलनेवालों को इसमें सरलता एवं सुविधा हुई। इसप्रकार की योगात्मकता से ज्योंही कतिपय रूप सम्पन्न हुए त्योंही उनके सादृश्य पर अन्य रूप भी बनने लगे और इसप्रकार भाषा प्रगति के पथ पर आगे बढ़ गई। सच बात तो यह है कि इसप्रकार की भाषाओं में योगात्मकता की एक परम्परा ही चल पड़ी। इस परम्परा का ही यह परिणाम है कि एक चीनी यह समझता है कि जब तक भाषा का प्रत्येक अक्षर (syllable) पृथक् एवं महत्वपूर्ण न हो तब तक वह भाषा ही नहीं है। इसीप्रकार तूरानी भाषा-भाषी के अनुसार भाषा में प्रकृत एवं प्रत्यय दोनों अपने पूर्ण रूप में पृथक्-पृथक् होने ही चाहिए। किन्तु जो लोग संश्लिष्ट भाषा के प्रयोग में अभ्यस्त हैं उन्हें अपने व्याकरण पर अत्यधिक अभिमान है और वे उसे ही महत्वपूर्ण मानते हैं। यदि ऐसे व्याकरण के सम्बन्ध में चीनी एवं तूरानी लोगों से विचार-विमर्श किया जाय तो इसके प्रति घृणा प्रदर्शित करते हुए वे यही कहेंगे कि यह भी कोई व्याकरण है?

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि भाषा में स्थिरता आ गई है तो उसके कारण मैंने भाषा संबंधी जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है वह सिद्धान्त ही असिद्ध है, ऐसी बात नहीं है। मेरा तो यह मत है कि आज की प्रत्येक संश्लिष्ट भाषा किसी पूर्वकाल में योगात्मक

थी और उसके पूर्व वह अयोगात्मक रही थी। मैं इसे सिद्धान्त कहता हूँ, किन्तु वास्तव में यह सिद्धान्त से भी बढ़कर तथ्य है क्योंकि इसी के द्वारा संस्कृत एवं उसी प्रकार की अन्य संश्लिष्ट भाषाओं की व्याख्या संभव है। जहाँ तक भाषा के रूपात्मक भाग का सम्बन्ध है वहाँ हम इस निष्कर्ष के अतिरिक्त किसी अन्य परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि आज जो भाषा संश्लिष्ट है वह पूर्वकाल में योगात्मक थी और आज जो योगात्मक है वह किसी युग में अयोगात्मक थी। भाषा की महान् धारा अनेक बोलियों में प्रवाहित होती रही है और उसका व्याकरणीय रंग समय की गति के साथ-साथ बदलता गया। मुख्य धारा से विच्छिन्न होने वाले जलाशय स्थिर एवं प्रवाहहीन हो गए, परम्परावादी एवं साहित्यिक बन गए और इसप्रकार उनमें मुख्य धारा का वही रंग सुरक्षित रह गया जो विच्छिन्न होते समय उसमें था। यदि हम भाषा की अयोगात्मक अवस्था को उज्ज्वल जलवाला, योगात्मक को रक्तवर्ण वाला एवं संश्लिष्टात्मक को नील वर्ण का जलाशय मान लें तो हमें उज्ज्वल जलवाले जलाशय में तो रक्त एवं नील रंगों के दर्शन नहीं होंगे, किन्तु रक्त-वर्ण वाले जलाशय में हमें नीलिमा के दर्शन अवश्य होंगे।

## भाषाओं के मूल स्रोत की समस्या एवं उसका अर्थ

मूल स्रोत के संबंध में ऊपर जो विचार व्यक्त किए गए हैं उससे यह आशय नहीं ग्रहण करना चाहिए कि मूल स्रोत आवश्यक है, हाँ, इसकी सम्भावना अवश्य है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषाओं के एक स्रोत से उत्पन्न होने तथा मानव के इस विश्व में उत्पन्न होने में कोई समवाय सम्बन्ध नहीं है। इन दोनों समस्याओं को पृथक् रखना ही अच्छा है। आज हम अपने इन्द्रिय-ज्ञान के साक्ष्य पर यह नहीं कह सकते कि पृथ्वी की भाँति ही अन्य ग्रह-पिंडों पर भी जीवधारी रहते हैं, किन्तु यदि इस बात को असिद्ध करना ही है तो हमें स्पष्टरूप से यह दिखाना होगा कि इन ग्रह-पिंडों पर जीवधारी का रहना ही असंभव है। जब तक हम इन दोनों बातों में से किसी एक बात को सिद्ध नहीं कर देते तब तक यह समस्या इसीरूप में चलती रहेगी। भाषा के सम्बन्ध में भी ग्रह-पिंडों वाली ही बात है। भाषा के मूल स्रोत के सम्बन्ध में मैं निराश नहीं हूँ। इस संबंध में मैं इतना सावधान अवश्य कर देना चाहता हूँ कि किन्हीं पूर्वाग्रहों के आधार पर इस समस्या का हल नहीं होना चाहिए।

आजकल विद्वानों की यह स्पष्ट धारणा हो रही है कि चूँकि, आर्य एवं सामी परिवार की भाषाओं का गंभीर अध्ययन हो चुका है और इसके परिणामस्वरूप यह भी सिद्ध हो चुका कि ये दोनों दो पृथक् परिवार की भाषाएँ हैं, अतएव इनकी तथा अन्य परिवारों की पृथक् स्थिति स्पष्ट हो जाने के बाद अब भाषाओं के एक स्रोत से उत्पन्न होने की बात ही असंभव है। मेरे विचार में इसप्रकार की धारणा नितांत अतिशयोक्तिपूर्ण है।

यदि इस समस्या को ठीक ढंग से ही रखना है तो इसे यों रखा जा सकता है—"यदि यह सिद्ध करना है कि भाषा की उत्पत्ति एक स्रोत से न होकर विभिन्न स्रोतों से हुई है तो इसके लिए यह सिद्ध करना होगा कि किसी एक स्रोत से वास्तव में, भाषा की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।"

आर्य एवं सेमेटिक भाषाओं का एक स्रोत से उत्पन्न होना असंभव है, ऐसा किसी ने अभी तक सिद्ध नहीं किया है। इसके विपरीत इन दोनों परिवारों की भाषाओं के व्याकरणीय रूपों के विश्लेषण से अनेक कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं और अब यह बात स्पष्टरूप से समझ में आने लगी है कि दोनों भाषाओं में सम-रूपी तथ्यों के उपलब्ध होने पर भी दो जातियों ने हिब्रू एवं संस्कृत जैसी दो सर्वथा भिन्न भाषाओं को कैसे उत्पन्न किया था?

किन्तु जब संस्कृत अथवा हिब्रू से असंबद्ध अन्य बोलियों का अध्ययन हुआ तब भाषा के निर्माणात्मक एवं परिवर्तनशील क्रिया-कलापों पर और भी अधिक-प्रकाश पड़ा और तब हम उन व्याकरणीय रूपों को सजीव रूप में देख सके जो इन प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, हिब्रू आदि) में परम्परागत एवं मृतक हो चुके थे। इन अन्य बोलियों से मेरा तात्पर्य यूरल, अल्टाइक, बान्टू, समद्रतटवर्त्ती आदि बोलियों से है। जिन चिह्नों से ये बोलियाँ अपना मूल संबंध प्रदर्शित करती हैं वे सेमेटिक एवं आर्य परिवार की बोलियों की अपेक्षा अधिक अस्पष्ट हैं, किन्तु हैं ये आवश्यक। आर्य एवं सामी परिवार की भाषाओं में योगात्मक प्रक्रिया से ही व्याकरणीय रूप सम्पन्न होते हैं, किन्तु अब यह प्रक्रिया स्थिर हो गई है और इस स्थिरता के कारण भी सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक प्रभाव हैं। जिस प्रक्रिया एवं शक्ति के द्वारा कोई वर्धनशील सभ्यता एवं संस्कृति अनेक बोलियों को आत्मसात् करके एक परिनिष्ठित भाषा का निर्माण करती है उसी शक्ति एवं प्रक्रिया ने आरंभ के राजनैतिक एवं धार्मिक केन्द्रीकरण के युग में योगात्मक बहुला भाषाओं की अस्थिरता में अवरोध उत्पन्न किया होगा।

व्यवहारिक रूप में यह कार्य इस रूप में सम्पन्न हुआ होगा। कई व्याकरणीय रूपों में से कोई एक रूप जनप्रिय बन गया होगा। आगे चलकर इस शब्द का रूप स्थिर हो गया होगा और जब काव्य एवं कानून के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ होगा तो इसका अर्थ परम्परागत एवं और भी अधिक स्थिर हो गया होगा। इसप्रकार इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन परिवर्द्धन की गुंजाइश न रही होगी। आर्य एवं सामी परिवार की भाषाओं में बहुत प्राचीनकाल में ही यह प्रक्रिया सम्पन्न हो गई होगी। संस्कृत एवं ग्रीक प्रत्ययों में जो समानता पाई जाती है उससे यही सिद्ध होता है। ये प्रत्यय न तो ग्रीक से संस्कृत में आये हैं और न संस्कृत से ग्रीक में गये हैं, किन्तु दोनों में अद्‌भुत समानता है। इसी अर्थ में मैं इन भाषाओं को राजनैतिक अथवा राज्य भाषा कहता हूँ और इनके संबंध में यह ठीक ही कहा गया है कि इस परिवार की भाषाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और ये किसी एक मूल स्रोत से प्रादुर्भूत हुई हैं।

यदि राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारणों के परिणामस्वरूप भाषाओं में केन्द्रीयकरण न हो तो मूलतः एक स्रोत से उत्पन्न समान भाषाएँ भी विभिन्न बोलियों में विभक्त हो जायँ। यहाँ बोली शब्द उस अर्थ में नहीं लेना चाहिए जिस अर्थ में बाद में इसका प्रयोग होने लगा था। इन बोलियों में संयोगात्मकता की प्रक्रिया चलती रहेगी और बोधगम्यता के अनुसार इनमें अभिनव व्याकरणीय रूप बनते जायेंगे। यदि इन बोलियों में परसर्गों द्वारा कारक प्रकट किये जाते होंगे तो समयानुसार पुराने परसर्ग लुप्त होते जायेंगे और उनके स्थान पर नये परसर्ग आते जायेंगे। यदि क्रियापदों में सर्वनाम-पद संयुक्त होते होंगे तो पुराने सर्वनामों के बदले नये सर्वनाम संयुक्त होने लगेंगे।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि संयोगात्मक बोलियों में कौन ऐसे आकस्मिक संघटन हैं जो पृथक् हो गये हैं तथा जो धीरे-धीरे स्थिर हो गये हैं? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें हमें उन्हीं संघटनों की उपलब्धि की आशा रखनी चाहिए जिन्हें 'कास्ट्रेन' एवं स्काट (Schott) ने समयोडिक, 'तुंगुजिक', 'मंगोलिक', 'तुर्किक' एवं 'फिन्नोउग्रिक' में ढूँढ़ निकाला है। ऐसे ही संघटकों की ओर 'तामुलिक' (तमिल), 'ताइक', 'गैन्जेटिक', 'लोहिटिक' एवं 'मलाइक' भाषाओं में हाग्सन (Hodgson), काल्डवेल, लोगन तथा मैंने भी इंगित किया है। अधिकांशतः ये वही व्याकरणीय अवयव हैं जिनका पुनरुत्पादन कठिन होता है। ये हैं, सर्वनाम, संख्यावाची शब्द एवं उपसर्ग। ये भाषाएँ उन व्याकरणीय तत्वों को कभी भी स्वीकार नहीं करतीं जो असंगत एवं विजातीय हैं तथा जो औपचारिक एवं

अबोधगम्य बन गये हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इन भाषाओं में परम्परागत अर्थ वाले शब्द सामूहिक सम्पत्ति के रूप में उपलब्ध नहीं होते और इनके अधिकांश शब्द अपने निजी व्याकरणों के नियमानुसार निर्मित होते हैं। जो लोग भाषा को एक मूल स्रोत से व्युत्पन्न नहीं मानते उन्हें इन आकस्मिक संघटनों के कारणों की व्याख्या करनी चाहिए। हम इनकी व्याख्या करते हुए या तो इन्हें आकस्मिक रूप में व्युत्पन्न मान सकते हैं या इन्हें अनुकरणात्मक आधार पर निर्मित मान सकते हैं। ये बात उल्लेखनीय है कि अनुकरणात्मक शब्द प्रायः अनेक भाषाओं में, समानरूप में, उपलब्ध होते हैं। जो हो, इस सम्बन्ध में विशेषरूप से अध्ययन की आवश्यकता है।

मैंने तो आर्य एवं सामी भाषाओं का अध्ययन ही इस उद्देश्य से किया था ताकि मैं इनके समान स्रोत की खोज करते हुए यह जान सकूँ कि समाज की प्रगति से ये किस प्रकार विच्छिन्न होकर विभिन्न भाषाएँ बन गईं।

सन् १८५४ में मैंने अपने मित्र स्वर्गीय 'बैरन बन्सेन' को एक पत्र लिखा था जो बाद में 'आउट लाइन आव द् फिलासफी आव् यूनिवर्सल हिस्ट्री' में प्रकाशित हुआ था। इस पत्र में मैंने उन सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया था जिनके आधार पर योगात्मक भाषाओं की संरचना होती है तथा आगे चलकर इनके व्याकरण एवं शब्द-समूह तो भिन्न हो जाते हैं, किन्तु इस विभिन्नता के बावजूद भी यें भाषाएँ सजातीय ही रहती हैं। लोगों की इस धारणा को कि यह सर्वथा असंभव है, असिद्ध करते हुए मैंने अपने उस पत्र के चौथे, पाँचवें, छठे अनुभागों में यह स्पष्ट किया था कि किस प्रकार एक स्थान से प्रस्थान करके 'मंडशु', 'फिनिश', 'चीनी' एवं 'स्यामी' जैसी विभिन्न भाषाएँ आज की स्थिति में आ गई हैं और इस पर भी ये सजातीय भाषाएँ हैं। मैं इस प्रकार की संयोगात्मकता की प्रक्रियाओं को एकमात्र ऐसी सुगम एवं बोधगम्य प्रक्रिया मानता हूँ जिसके द्वारा भाषाओं में व्याकरणीय संरचना संभव होती है तथा जिसके द्वारा चीनी भाषा के उन अवरोधों की व्याख्या की जा सकती है जिनके कारण उसकी प्रगति स्थिर हो गई है। संयोगात्मक भाषाओं के निर्माण में मुझे जो सिद्धान्त उपलब्ध हुए हैं उन्हें मैंने आर्य एवं सामी भाषाओं पर भी लागू करके देखा। ये भाषाएँ भी किसी युग में संयोगात्मक अवस्था से होकर गुजरी होंगी और इसी युग में ये धीरे-धीरे एक दूसरे से पृथक् हुई होंगी तथा इसके उपरान्त ये अपने वर्तमान रूप में आर्य एवं सामी भाषाएँ बनी होंगी। 'मंडशु' तथा 'फिनिश्' में जो अंतर है यदि उसके कारणों का

हम स्पष्टीकरण कर सकते हैं तो हिब्रू एवं संस्कृत में जो पार्थक्य एवं दूरी है उसकी भी हम व्याख्या कर सकते हैं। यह बात सच है कि आर्य भाषा के विशुद्ध संयोगावस्था के रूप का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, किन्तु जब हम फिनिश् एवं तुर्की जैसी भाषाओं को आर्य भाषा के मार्ग पर धीरे-धीरे बढ़ते हुए देखते हैं तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि किसी युग में आर्य-भाषा भी इन्हीं भाषाओं की भांति संयोगावस्था में रही होगी और धीरे-धीरे वह अपने वर्तमान संश्लिष्टावस्था में आई होगी। तुर्की भाषा संश्लिष्टावस्था की ओर इतना आगे बढ़ चुकी है कि प्रो० एवाल्ड (Ewald) ने इसे भी संस्कृत एवं सामी भाषाओं की तरह संश्लिष्टावस्था की भाषा ही माना। आप अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं--तुर्की के कई व्याकरणीय अवयव, जो अन्य भाषाओं की भाँति ही मूलतः स्वतंत्र थे, अब या तो स्वर में परिणत हो गए हैं अथवा ये सर्वथा लुप्त हो गये हैं। इससे परिवर्तन की प्रक्रिया तो स्पष्ट ही हो जाती है। तुर्की में 'गोज़' का अर्थ आँख है, किन्तु 'गोर्' का अर्थ देखना हो जाता है। इसीप्रकार यहाँ 'इश्' एवं 'ईछ्' का अर्थ 'कार्य' एवं 'आभ्यन्तर', होता है, किन्तु 'इत्' एवं 'गीर' का अर्थ 'करना' एवं 'प्रवेश करना' हो जाता है। एवाल्ड इस सम्बन्ध में विचार करते हुए और आगे बढ़कर यह भी कहते हैं कि तुर्की एवं आर्य भाषा में कतिपय ऐसे समान तत्व भी हैं जो उस युग के हैं जब ये दोनों भाषाएँ संयोगावस्था में थीं। आपके अनुसार अतीतकाल एवं वर्तमान कृदन्तीय प्रत्यय के रूप में इन दोनों भाषाओं में 'दि' एवं 'त' प्रत्यय मिलते हैं। यही बात विशेषण द्योतित करने वाले 'लु' प्रत्यय में भी है। इन दोनों परिवारों की एकता सिद्ध करने के लिए इस बिन्दु तक जाने का मेरा साहस नहीं होता।

भाषाएँ आभ्यन्तरिक विकास के परिणामस्वरूप विकसित नहीं होती अपितु वे संयोगावस्था से धीरे-धीरे अग्रसर होते हुए विकसित होती हैं, जब इस दृष्टिकोण से मैंने 'तुरानियन' भाषाओं के लिए 'परिवार' शब्द का प्रयोग किया था तो वहाँ इस शब्द से मेरा वही तत्पर्य न था जो 'आर्य' एवं 'सामी' भाषाओं के साथ 'परिवार' शब्द जोड़ने से होता है। 'तुरानियन' भाषाओं के सम्बन्ध में मैंने अपने एक प्रकाशित पत्र में जो विचार व्यक्त किया था उसकी विद्वानों ने कड़ी आलोचना की थी। जो लोग विभिन्न भाषा-परिवारों की उत्पत्ति का स्रोत भी भिन्न-भिन्न मानते हैं, उन विद्वानों की आलोचनाएँ तो विशेष रूप से उग्र थीं। उस पत्र में मैंने स्पष्टरूप से बारंबार यह विचार व्यक्त

किया था कि 'तुरानियन' भाषाओं के लिए 'परिवार' शब्द का प्रयोग न करके 'समूह' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'तुर्की' एवं 'मंडशु' एवं 'तमिल' तथा 'फिनिश्' भाषाओं में जो पारस्परिक संबंध है, वह उस संबंध से भिन्न है जो संस्कृत एवं ग्रीक में है। मैंने अपने उस पत्र में यह स्पष्टरूप से लिखा है कि इन 'तुरानियन' भाषाओं में पारस्परिक वही संबंध नहीं है जो सामी परिवार की हिब्रू एवं अरबी तथा आर्य परिवार की संस्कृत एवं ग्रीक भाषाओं में है। 'तुरानियन' समूह की भाषाएँ वास्तव में एक ही केन्द्र से विकीर्ण हुई हैं किन्तु सामी एवं आर्य परिवार की ऊपर की भाषाएँ तो एक ही माता-पिता से व्युत्पन्न सहोदरा कन्याएँ हैं। इतने पर भी तुरानियन समूह की भाषाएँ एक दूसरे से इतनी दूर नहीं हैं जितनी हिब्रू एवं संस्कृत हैं, क्योंकि इस समूह की भाषाएँ एक दूसरे से पृथक् होकर इस रूप में स्थिर नहीं हुई हैं, जिस रूप में सामी एवं आर्य परिवार की भाषाएँ एक दूसरे से पृथक् एवं एकान्तिक बनकर राष्ट्रीय रूप में प्रतिष्ठापित एवं स्थिर हो चुकी हैं।

मैंने पत्र रूप में जो निबंध प्रकाशित कराया था उसका मुख्य उद्देश्य प्रतिरक्षात्मक था। इसे मैंने यह सिद्ध करने के उद्देश्य से लिखा था कि मानव-वाणी के इतिहास में यह कितनी अविवेकपूर्ण बात होगी कि इसका प्रादुर्भाव विभिन्न स्रोतों से स्वीकार किया जाय? यह बात इसलिए भी स्वीकार्य नहीं होनी चाहिए कि इसे सिद्ध करने के लिए आज एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अभी तक कोई भी विद्वान् इस बात को सिद्ध करने में कृत-कार्य नहीं हो सका है कि विभिन्न परिवारों की भाषाओं का किसी एक स्रोत से उत्पन्न होना असंभव है। इसके विपरीत मैंने अपने तुरानियन भाषा-संबंधी लेख में यह प्रतिपादित करने का यत्न किया है कि भाषाओं का एक स्रोत से व्युत्पन्न होना संभव है। अपने इस निबंध में मैंने यह स्पष्ट किया है कि तुरानियन समूह की धूर उत्तर में प्राप्त 'फिन्निक' एवं धूर दक्षिण में उपलब्ध तामुलिक (तमिल) भाषाओं में किस रूप में व्याकरणीय संरचना के समान सूत्र सुरक्षित हैं जिससे सुदूर अतीत में इनकी एकता प्रमाणित हो जाती है। यदि मेरे कतिपय दृढ़ संकल्प प्रतिपक्षी इस बात को स्वीकार करते हैं कि तमिल प्रदेश के अब्राह्मण निवासियों का तुरानियन परिवार के लोगों से संबंध स्थापित करने में मैं कृतकार्य हो सका हूँ—मेरे इस विचार को काल्डवेल कृत "द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण" से और भी अधिक सम्पुष्टि मिली

है—तो उन्हें मेरी अन्य बातों को तो आवश्यकरूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

फिर भी, अपने निबंध के अन्तिम परिच्छेद का शीर्षक मैंने "समान-स्रोत की आवश्यकता" न देकर "समान स्रोत की संभावना" दिया है। अपने प्रतिपक्षियों को इस निबंध में मैंने जो उत्तर दिया है उसे यहाँ नीचे, संक्षेप में, दो अनुच्छेदों में दे रहा हूँ—

(१) विभिन्न परिवार की भाषाओं की विभिन्न स्रोतों से व्युत्पन्न होने की बात को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तुरानियन, सामी, एवं आर्य परिवार की भाषाओं में ऐसे व्याकरणीय तत्व उपलब्ध हैं जो अत्यधिक परिवर्तन के पश्चात् भी इस लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं कि ये भाषाएँ सुदूर अतीतकाल में एक दूसरे से विच्छिन्न हुई होंगी।

(२) तुरानियन, सामी एवं आर्य परिवार की भाषाओं को विभिन्न स्रोतों से व्युत्पन्न मानने की बात को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि आज आर्य भाषाओं के व्याकरण को सामी भाषाओं के व्याकरण अथवा सामी भाषाओं को आर्य भाषाओं के व्याकरण से व्युत्पन्न सिद्ध करना असंभव है, तथापि यह बात स्पष्टतः विदित होती है कि एक के व्याकरण ने दूसरे को प्रभावित किया है। यह प्रभाव एशिया एवं यूरप की विभिन्न प्रणालियों के व्याकरणों को देखने से स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है।

ऊपर के मेरे दोनों अनुच्छेदों के शब्दों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मेरा मूल उद्देश्य भाषाओं को विभिन्न स्रोतों से व्युत्पन्न मानने के सिद्धान्त का खंडन करना था और इन्हें एक स्रोत से व्युत्पन्न होने की सम्भावना की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना था।

विद्वानों का मेरे ऊपर यह भी आक्षेप है कि मैंने अपनी खोजों द्वारा जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानव-जाति का प्रादुर्भाव भी एक ही स्रोत से हुआ है, वास्तव में यह मेरे रूढ़िवादी विश्वासों का प्रतीक है। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि सचमुच मेरा यह विश्वास है और यदि इसके सम्पुष्टि की आवश्यकता है तो डारविन की खोजों ने इसे स्पष्टरूप से सिद्ध कर दिया है, किन्तु इस सम्बन्ध में मैं अपने प्रतिपक्षियों को उत्तर देते हुए कहूँगा कि वे मेरे निबन्ध में कोई ऐसा वाक्य भी दिखला दें जहाँ मैंने वैज्ञानिक एवं धर्म सम्बन्धी तर्कों का सम्मिश्रण किया है। यदि मुझसे यह कहा जाय कि बिना बाइबिल के पढ़े किसी भी शांतिपूर्वक विश्व को निरीक्षण करने वाले व्यक्ति के

मन में यह बात ही नहीं आ सकती कि इस विश्व के सम्पूर्ण मानव की उत्पत्ति आदम और हौवा से हुई है तो इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा कि इसप्रकार की धारणा मनुष्य की तर्क-शक्ति के सर्वथा स्वाभाविक एवं अनुकूल है और मैं विश्व की किसी ऐसी जाति को नहीं जानता जिसके साहित्य एवं परम्परा में सम्पूर्ण मानव की उत्पत्ति एक नहीं तो दो व्यक्तियों (पुरुष एवं स्त्री) से न मानी गई हो। बाइबिल का प्रणेता आज के भौतिक विज्ञान वेत्ताओं के सम्मुख भले ही ऋषिकल्प कवि हो, किन्तु उसे शांतिपूर्वक इस विश्व का द्रष्टा तो हमें स्वीकार ही करना पड़ेगा।

और उसकी यदि मानव जाति की भौतिक एकता की धारणा असिद्ध हो जाती है तो उसकी भाँति ही 'हम्बोल्ट', 'बन्सेन', 'प्रिकार्ड', 'ओवेन' एवं डारविन के विचारों एवं धारणाओं को भी हमें असिद्ध मानना पड़ेगा।

अब केवल एक ही प्रश्न का उत्तर देना शेष रह जाता है और वह यह है कि क्या एक और एक ही जल-समूह से भाषा के सभी स्त्रोत उत्पन्न हुए? अथवा इस रूपक का परित्याग करके हम यह प्रश्न पूछें कि क्या एक ही एवं समान मूलधातुओं में ही प्रत्यय संयुक्त करके विश्व की समस्त भाषाओं की रूप प्रक्रिया चली? इस प्रश्न के उत्तर देने का एक ही ढंग है और वह यह है कि हम इन धातुओं की प्रकृति एवं उत्पत्ति का अध्ययन करें और तब हम आगमनात्मक तथ्यों के द्वारा अपनी खोजों में आगे बढ़ते हुए मानव-वाणी की उत्पत्ति के रहस्य को समझने में समर्थ हो सकेंगे।

---

अध्याय १४

# सैद्धान्तिक अवस्था

## भाषा की उत्पत्ति की समस्या

'जब हम मानव-इतिहास और साथ ही सम्पूर्ण भौतिक संसार का परीक्षण करने के लिये उद्यत होते हैं और किसी ऐसी प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त नहीं कर पाते जिससे कोई विशिष्ट घटना घटित होने का अनुमान लगाया जा सके तो हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम संबंधित घटना को घटित होने देने वाले प्राकृतिक कारणों की खोज करें। यद्यपि पूर्ण निश्चय के साथ यह बताना असंभव है कि कोई भाषा किस प्रकार अस्तित्व में आई तो भी, ज्ञात सिद्धान्तों के आधार पर यदि हम यह बता सकें कि भाषा के विभिन्न अंग धीरे-धीरे किस प्रकार अस्तित्व में आए तो इससे न केवल मस्तिष्क को किसी खास सीमा तक संतुष्टि ही मिलेगी बल्कि हम उस आलस्यपूर्ण विचार-धारा को भी नियंत्रित कर सकेंगे जिसके वशीभूत होकर हम कतिपय प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या नहीं कर पाते और उन्हें ईश्वर का चमत्कार अथवा अव्याकृत कहना प्रारम्भ कर देते हैं।'

यह एक सुप्रसिद्ध 'स्काच' दार्शनिक का मत है जिसे भाषा की उत्पत्ति की खोज करने वाले प्रत्येक शोध-कर्ता को सदैव स्मरण रखना चाहिए। प्राचीन समय में भाषा जिन कारणों से दार्शनिकों के समक्ष एक हौआ पैदा करती थी उन सभी जटिल एवं रहस्यमय आवरणों से मुक्त होने का प्रयास हमने किया है, किन्तु इसके बाद भी जो सीधा रास्ता हमारे सम्मुख है वह भी मानव-बुद्धि के पहुँच के बाहर की चीज लगती है।

'हर्डर' ने यह बात सत्य ही कही है कि यदि हममें से कोई इस पहेली को जानना चाहे कि आँखों के प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होने वाली विषय ध्वनियों में सार्थक रूप से किस प्रकार प्रगट किए जाते होंगे तथा ये विषय ध्वनि से किस प्रकार संबद्ध होकर ग्रथित किए जाते होंगे और अनेक विचारों को ये किस प्रकार उत्तेजना प्रदान करते होंगे, तो संभव है, हम इन्हें पागल मनुष्य के प्रश्न मानकर छोड़ दें, क्योंकि दृश्य पदार्थों का आँखों के भीतर चित्र बनना और मानस-पटल पर चित्रित रंग को ध्वनि में तथा ध्वनि

का विचारों में परिवर्तित होना आदि इस पहेली के ऐसे आयाम हैं जिन्हें हल करने में ही जिज्ञासा का समुचित समाधान हो सकता है।

हमें कोई भी ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो भाषा की उत्पत्ति के आधारों की खोज करने में सहायक हो और हम इस घटना की व्याख्या करके यह समझा सकें कि यह किस विशिष्ट स्थान पर किन विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हुई। इतिहास का प्रारंभ तब तक न हुआ होगा जब तक कि मनुष्य ने भाषा-शक्ति को प्राप्त न कर लिया होगा। इस बात को बताने के लिए पुरातन परम्पराएँ भी मौन हैं कि आदि मानव ने अपने विचारों और शब्दों पर किस प्रकार अधिकार प्राप्त किया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि हम किसी ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा यह ज्ञात कर सकते कि मनुष्य ने प्रथमतः अपने ओठों से किस प्रकार अक्षरोच्चार किया होगा तो हम भाषा की उत्पत्ति संबंधी नाना प्रकार के सिद्धान्तों से मुक्ति पा जाते। किन्तु हमें अभी तक इस प्रकार की जानकारी मिली नहीं है। यदि यह बात दूसरे प्रकार की होती तो हम शायद मानव मस्तिष्क का पूर्ण पुरातन इतिहास समझ सकने में सक्षम होते। हमको बताया गया है कि पहला मनुष्य ईश्वर-पुत्र था। ईश्वर ने उसे अपने जैसा आकार दिया तथा उसके शरीर की रचना मृत्तिका से की और उसकी नासिका में जीवनी शक्ति फूँक दी। ये सब सामान्य प्राकृतिक विचार हैं और इन्हें जैसे का तैसा ही स्वीकार कर लिया गया है। यदि हम इन विश्वासों पर विचार करें तो मनुष्य की बुद्धि कुंठित हो जाती है और हम निराधार होकर यहाँ-वहाँ भटकने लगते हैं। इस मानव मस्तिष्क का निर्माण ही ऐसा हुआ है कि वह किसी वस्तु का नितान्त प्रारंभ और नितान्त अन्त समझने में जिज्ञासु और सक्षम है। यदि हम यह मानने का प्रयत्न करें कि सृष्टि का प्रथम मानव बालक-रूप में उत्पन्न हुआ था और धीरे-धीरे अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास करने लगा, तो हम यह नहीं समझ पाते कि वह प्रकृति के किसी शक्ति-सम्पन्न-सहायक के बिना किस प्रकार एक दिन भी जीवित रह सका होगा। इसके विपरीत यदि हम यह कल्पना करें कि प्रथम मानव पूर्ण वयस्क रूप में उत्पन्न हुआ होगा जिसका मस्तिष्क एवं शरीर पूर्णरूप से विकसित रहा होगा, तो यह बात कार्य-कारण की संगति के बिना हमारी विचार-शक्ति के बाहर की हो जाती है और इसीप्रकार निम्नश्रेणी के पशु और मनुष्य के बीच आन्तरिक रूप से विकासोन्मुख स्थितियों को स्वीकार करने से भी हमें कोई लाभ न होगा।

भाषा की आरंभिक उद्‌भव-स्थिति के संबंध में भी यही बात है। धर्म-भीरु परंपरावादी लोगों के अनुसार भाषा का प्रणेता ईश्वर है; किन्तु इस कथन के साथ ही वे भयानक चक्रवात में फँस जाते हैं क्योंकि वे जब इस बात को विस्तृत रूप से पुष्ट करने के लिए उद्यत होते हैं तो उन्हें यह बताने को बाध्य होना पड़ता है कि ईश्वर ने मनुष्यों को सिखाने के लिए कोषों और व्याकरणों की रचना की होगी। और ईश्वर ने ही प्रथमतः बहरे-गूँगों के स्कूलों में क्रियाशील अध्यापक की तरह आदमी को भाषा सिखाई होगी। ये धर्म-भीरु यह नहीं समझते कि यदि हम इनके मत को स्वीकार भी कर लें तो भी केवल समस्या का इतना ही हल निकलता है कि आदि मानव ने भाषा किस प्रकार सीखी होगी। किन्तु यह तभी संभव हुआ होगा जबकि एक भाषा पूर्णरूप से निर्मित होकर तैयार रही होगी और तब इसी के साथ यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह भाषा ईश्वर द्वारा किस रूप में निर्मित की गई थी? मूल प्रश्न इस प्रकार अभी तक बिना सुलझा हुआ शेष रह जाता है। ये धार्मिक विचारक इस बात को भी मानते हैं कि प्रथमतः मानव अपने ही बल-बूते पर आगे बढ़कर गूँगेपन से धीरे-धीरे मुक्त हुआ तथा उसने ही पदार्थ या विचार जो उनके मस्तिष्क में पैदा हुए, को प्रतिनिधित्व देने वाले शब्दों का आविष्कार किया। वे यह विस्मृत कर जाते हैं कि वास्तव में मनुष्य ने ही अपनी स्वतः की शक्ति से वाणी की महिमा को पाया जो उसका विशेष गुण है तथा जिसे अनेक गूँगे रहने वाले जीव-जन्तुओं ने अभी तक प्राप्त नहीं किया। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि ये विचारक यह भी नहीं समझ पाये कि वास्तव में हमारे सामने कौन सी समस्या उपस्थित है क्योंकि ये लोग वाणीहीन नवजात शिशु और क्रमशः उसमें वाक्-शक्ति के विकास की बात को महत्व प्रदान नहीं करते। हम यह अच्छी तरह जानते है कि पक्षियों के बच्चे जो प्रारंभ में उड़ना नहीं जानते, समय आने पर उड़ने लगते हैं। यह कथन अनावश्यक है कि बच्चों की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ उन्हें धीरे-धीरे किस प्रकार प्राप्त हो जाती हैं। मैं केवल बच्चों के मूलरूप से उनके मन से प्रसूत होनेवाली वाक्-शक्ति की बात कर रहा हूँ, किन्तु मुझे भय है कि हम इसे बच्चों की तुतलाने की अवस्था का अध्ययन न समझने लगें, क्योंकि इससे हम उस प्रकार की समस्या में उलझ जायेंगे जिसे हल करने के लिये मिस्र देश के एक राजा ने दो नवजात्-शिशुओं को गड़रियों को यह कहकर सौंपा था कि वह उन्हें बकरियों का दूध पिलाये तथा अपनी ओर से उनके सामने एक भी शब्द न बोले और देखे कि वे किन शब्दों का उच्चारण

करते हैं। उपर्युक्त प्रयोग के जिज्ञासापूर्ण संभावित परिणाम का अनुभव करने के लिए स्लाविया के सम्राट् फ्रेडरिक-द्वितीय, स्काटलेंड के राजा जेम्स चतुर्थ एवं भारत के सम्राट् अकबर ने भी लगभग इसीप्रकार के प्रयोग किये थे। किन्तु इन प्रयोगों से आदि-मानव की पुरातन-भाषा क्या थी या भाषा प्राकृतिक रूप से मनुष्य के कितने निकट है आदि प्रश्नों पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। बच्चे भाषा सीखने के लिए उसका आविष्कार नहीं करते, अपितु भाषा उन्हें पूर्ण तैयार रूप में प्राप्त होती है और यही क्रम हजारों-वर्षों से इसीप्रकार चला आ रहा है। बच्चे भाषा का उपयोग करना सीख लेते हैं और उम्र तथा योग्यता के बढ़ने के साथ-साथ सुविधानुसार वे दूसरी और तीसरी भाषा में भी दक्ष हो जाते हैं। इसप्रकार की जानकारी अनुपयोगी है कि यदि बच्चे किसी स्थान पर अकेले छोड़ दिये जायँ तो वे किस प्रकार स्वतः अपनी भाषा का आविष्कार करेंगे। ऐसे प्रयोग असंभव, प्रकृति-विरुद्ध और कानून के प्रतिकूल हैं तथा भाषा के आविष्कार के कुछ तथ्यों पर पहुँचने के लिए उन्हें दुहरा-दुहरा कर करने की आवश्यकता होगी और जब इन प्रयोगों के लिए ऐसे दो दलों के लोगों की आवश्यकता है जो एक दूसरे के विपरीत बच्चों द्वारा आविष्कृत भाषा पर विश्वास या अविश्वास रखते हैं तो ऐसी स्थिति में उनके खंडन-मंडन के चक्कर में पड़ना कुछ लाभदायक प्रतीत नहीं होगा। हम इतना निश्चित रूप से जानते हैं कि यदि कोई अंग्रेज बच्चा अकेला छोड़ दिया जाता तो अँग्रेजी-भाषा कभी नहीं सीखता। इस तथ्य से संबंधित इतिहास एक भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता कि कोई भी भाषा इस रीति से आविष्कृत हुई हो।

## मनुष्य और पशु

यदि हम पक्षियों के उड़ने की शक्ति को जानना चाहें तो सबसे पहले हमारा यह कार्य होगा कि हम पक्षियों की शारीरिक बनावट की तुलना उन जीवों के शरीर की बनावट से करें जिनके पंख नहीं होते। दूसरा कार्य यह होगा कि हम उस स्थिति का अध्ययन करें जिसकी उपस्थिति से ही उड़ पाना संभव होता है। ऐसे ही विचारणीय प्रश्न हमें भाषा की समस्या को हल करने में सहयोग प्रदान करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, भाषा-शक्ति ही मनुष्य की वह विशिष्ट शक्ति हैं, जो उसे अन्य जीव-जंतुओं से पृथक् करती है। यदि हम मनुष्य की भाषण-शक्ति के संबंध में अधिक सही और निर्णयपूर्ण जानकारी चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम मनुष्य की तुलना ऐसे प्राणियों से करें जो वाणी के संदर्भ में

अन्य प्राणियों से निकटतर हैं और फिर हम इन दोनों के बीच यह जानने का प्रयत्न करें कि मनुष्य और उनके बीच किन थोड़ी सी बातों की समानता है तथा मनुष्य इन प्राणियों से किन-किन बातों में अलगाव रखता है। यह सब खोज कर लेने के बाद शायद हम उन स्थितियों को जान सकें जिनमें वाणी की प्राप्ति संभव हो सकती है और तब हम वह सब करेंगे जो हमारी शक्ति और सामर्थ्य के अन्दर है, क्योंकि हमारे पास ज्ञान-प्राप्ति के साधन कितने ही सूक्ष्म और आश्चर्य में डाल देने वाले ही क्यों न हों, हमारी कल्पना-शक्ति के बल पर फैलती हुई ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने में वे कितने दुर्बल हैं ?

अन्य जीवों के साथ मनुष्य की तुलना करते समय हमें यहाँ इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम मानव-शरीर की बनावट से बन्दर के शरीर की बनावट की न्यूनाधिक भिन्नता या उसके प्रकार में भेद स्थापित करें। इस प्रश्न पर शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं ने जिस प्रकार भी प्रकाश डाला हो, हमें उससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। यदि तुच्छ-तुच्छ कीड़ों की बनावट को देखकर हमें अवाक् रह जाना पड़ता है, यदि उनके शरीर की रचना सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर भी अपने आप में पूर्ण है तो इससे इतना तो ज्ञात हो ही जाता कि ऐसी कोई महान् शक्ति है जो हमारी अपनी योग्यता की सीमा से बाहर की वस्तु है। जीव जगत की यह विचित्र स्थिति हमें सृष्टिकर्त्ता के अनंत एवं पूर्ण ज्ञान का परिचय देती है। इसके साथ यह भी स्पष्ट होता है कि हम उसकी सृष्टि के सबसे अधिक सुसंगठित अंग मानव की आलोचना कैसे कर सकते हैं ? भला हम इसप्रकार की उच्चतम सृष्टि की अवहेलना कैसे कर सकते हैं जो हमारे ही समान आश्चर्यजनक रीति से रचित हुई है। क्या इस संसार में ऐसे भी अनेक जीव नहीं हैं जिनकी शरीर-रचना मानव शरीर से भी अधिक सूक्ष्म और सुसंगठित रूप से हुई है ? क्या हम व्याघ्र की शक्ति, चील की दृष्टि और पक्षी के उड़ते हुए पंखों को चाव से नहीं देखते ? यदि कुछ पशु भी अपने शरीर और अंगों की बनावट में न केवल मनुष्य जैसे होते, बल्कि उससे भी कहीं श्रेष्ठ होते तो क्या इससे मनुष्य व्याकुल न हो उठता ? यथार्थतः मनुष्य की श्रेष्ठता बहुत ही भिन्न कारणों पर आधारित है। सिडनी स्मिथ का कथन है कि "मुझे मानव जाति की श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास है तथा बैबून (एक प्रकार के बंदर) की बुद्धि पर निश्चितरूप से घृणा होती है और इसीलिए मुझे इस बात का भी पूर्ण विश्वास है कि बिना पूँछ का नीला बंदर हमसे कविता, चित्रकारी और संगीत में कभी भी प्रतियोगिता नहीं कर सकता। मैं नहीं समझ पाता कि रचनाकार ने यह

न्याय सभी छोटे बड़े देहधारियों की एक समान आत्माओं के साथ क्यों नहीं किया।" इधर विद्वानों ने सिडनी स्मिथ की अत्यधिक आलोचना की है कि वह गंभीर विषयों को भी हँसी-मज़ाक की शैली में प्रस्तुत करता है। किन्तु यह निश्चित है कि इसप्रकार का हास्य भी विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद ही किया जा सकता है जिसमें गंभीरता के साथ-साथ सुरक्षा का ख्याल रखा गया हो।

हमारी अपनी समस्या के सम्बन्ध में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता कि कुछ विशेष पशु शारीरिक दृष्टि से वे सभी अंग रखते हैं जो वाणी की मुखरता के लिए अनिवार्य माने जाते हैं। अंग्रेजी वर्णमाला में ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है जिसका उच्चारण तोता न कर सके, किन्तु इसके बाद भी तोता-पक्षियों का समाज अपनी स्वतः की किसी भी भाषा का आविष्कार न कर सका। यदि हम इसके कारण की खोज करें तो मालूम होगा कि उच्चारण-अवयवों की संस्थिति के बावजूद भाषा का निर्माण न कर सकना तोते के मस्तिष्क में ऐसे किसी अंग की कमी का प्रतिफलन है जो मानव-मस्तिष्क में वर्तमान है। इस प्रकार, हम मनुष्य और पशुओं में इस मस्तिष्क-जन्य भिन्नता को पाकर भाषा की उत्पत्ति के संदर्भ में कुछ सोच सकते हैं। भाषा के लिए जिन मानसिक शक्तियों की आवश्यकता है वे केवल मानव मस्तिष्क में ही प्राप्य हैं, अन्य प्राणियों में नहीं।

यहाँ मैं 'मानसिक-शक्ति' का नाम ले रहा हूँ, जिससे मेरा प्रयोजन यह आग्रह-पूर्वक कहने का है कि इस शक्ति का अधिकांश भाग उच्चस्तरीय जीवों में पाया जाता है। इन प्राणियों में अनुभव-जन्य-ज्ञान, स्मृति, इच्छा-शक्ति, एवं मेधा भी पाई जाती है। यहाँ पर हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि मानव बुद्धि तुलना करने और नाना अंग-रूप पदार्थों को, उनके अंगों को, अलग अलग रूप में नहीं, बल्कि उनकी एकता के अस्तित्व को समझ सकने और उसे पूर्ण-ग्रहण करने की शक्ति में निहित है। विद्वान् एम० पी० फ्लोरेन्स ने भी अपने-श्रेष्ठ ग्रंथ ('De la Raison, du Gènie, et de la Folie—प्रतिभा तथा पागलपन के कारण) में इसी प्रश्न पर विचार किया है। इसमें संदेह नहीं कि कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो इस बात को सुनकर घबड़ा जायँगे कि बिना पूँछ के नीले बन्दर की भी आत्मा है और वह सोचने की शक्ति रखता है, किन्तु यह घबड़ाहट उसकी अपनी ही निर्मित और कमज़ोरी है। मनुष्य जब 'आत्मा' और 'विचार' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है जिन्हें वह स्वयं ही स्पष्टरूप से नहीं समझता तथा न दूसरों को ही समझा सकता है, तब ऐसी स्थिति में दूसरे उसका क्या अर्थ

लगायें ? स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में ये शब्द उसके लिए हौवा बन जायेंगे जिनसे उसे निश्चितरूप से कष्ट ही होगा। यदि हम एक बार प्रश्न पूछें कि क्या पशुओं की भी आत्मा है, तो हम कभी भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेंगे। 'आत्मा' शब्द अरस्तू से लेकर हीगल तक अनेक दार्शनिकों द्वारा बार बार परिभाषित किया गया है, जिसके अर्थ को लेकर हम कह सकते हैं कि वह 'सब कुछ' और 'कुछ-भी' नहीं है। मनोविज्ञान में इस आत्मा शब्द के अनपेक्षित प्रयोग से उलझन में डालनेवाली परिभाषाएँ निर्मित की गई हैं। डेकार्टे के अनुसार पशुओं को जीवित मशीन कहना चाहिए तथा लाइबनित्स के अनुसार पशु आध्यात्मिक जीव हैं तथा उनकी आत्मायें अमर हैं। डेकार्टे का कथन है "परमात्मा पर विश्वास न करना ही सबसे बड़ा भ्रम है और इससे बड़ी भूल कोई और नहीं है कि पुण्य के पवित्र पथ से दुर्बल बुद्धि वालों को कोई भी वस्तु बहका नहीं सकती, जैसे कि यह सोचना कि पशुओं की आत्मा उसी प्रकार की प्रकृति है जैसे कि हमारी अपनी और इसी के परिणामस्वरूप हमें मृत्यु के बाद का भय या आशा नहीं है। जीवन के बाद न भय है और न आशा, ठीक उसी प्रकार जैसे मक्खियों और चींटियों को नहीं और हम यह जानते हैं कि ये मक्खियाँ और चीटियाँ हमसे कितनी अधिक भिन्न हैं। हम यह अधिक अच्छी तरह से समझते हैं कि हमारी आत्मा शरीर से बिलकुल स्वतंत्र है। यही कारण है कि वह शरीर के साथ मृत नहीं होती, अमर है।"

इसप्रकार की भावना की अभिव्यक्ति उत्तम कही जा सकती है, किन्तु जिन तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है वे अत्यधिक दुर्बल हैं। इससे इस बात की पुष्टि नहीं होती कि पशुओं की अपनी आत्मा नहीं होती, भले ही वह मानव-आत्मा से भिन्न हो। इससे यह पुष्ट नहीं होता कि मानव आत्मा अमर नहीं है, क्योंकि पशुओं की आत्मा अमर नहीं है और न यह किसी दार्शनिक द्वारा सिद्ध करके दिखाया गया है कि पशुओं के मरने के साथ उनकी आत्मा भी मर जाती है अथवा हमेशा के लिए नष्ट हो जाती है। लाइबनित्स् ने डेकार्टे से भी अधिक तर्कसम्मत युक्तियों द्वारा मानव-आत्मा की अमरता का पक्ष ग्रहण किया है। वह लिखता है "मैंने प्रयोगों के अंत में पाया है कि पशुओं की आत्मा और उनकी संवेदनाएँ मानव आत्मा की अमरता के रास्ते में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करतीं, बल्कि तथ्य इसके विपरीत है। हम यदि प्राकृतिक अमरता की अपेक्षा इस बात में विश्वास करें कि सभी आत्माएँ अमर हैं तो अच्छा होगा।"

इन उलझनों में, जो कि सही-सही परिभाषा या उससे सम्बन्धित उचित अर्थ न हो सकने के कारण उठ खड़ी होती हैं—प्रवेश करने की अपेक्षा हमें सामान्यरूप से उन तथ्यों की ओर ध्यान देना श्रेयस्कर होगा जो प्रत्येक पक्ष-पात रहित आत्म-शोधी व्यक्ति को स्वीकार होंगे—

(१) पशुओं के पास देखने-सुनने, स्वाद लेने, सूँघने और अनुभव करने की शक्तियाँ हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके पास न अधिक न ज्यादा, कुल पाँच इन्द्रियाँ हमारे ही समान हैं। इनमें चेतना एवं पदार्थ-ज्ञान की शक्तियाँ भी मौजूद हैं। इसी तथ्य को 'फ्लोरेन्स' महोदय ने अत्यंत मनोरंजक प्रयोग द्वारा प्रस्तुत किया है। यदि पक्षी की आँख से दृष्टि-संवेदन की वह मांसपेशी निकाल दी जावे जिससे वह देखता है तो वह अंधा हो जायगा क्योंकि जहाँ वस्तुओं के चित्र बनते हैं, वहाँ दृष्टि-संवेदन का वह अंग उसने खो दिया। इसके विपरीत मस्तिष्क तक जिस ज्ञान-तंतु द्वारा संवेदन पहुँचता है, यदि उसे किसी प्रकार हानि पहुँचाई जाय तो ऐसी स्थिति में आँख के पट पर वस्तुओं के चित्र तो बराबर बनेंगे, किन्तु पट की दृष्टि-संवेदना मस्तिष्क तक न पहुँच पाने के कारण पक्षी वस्तु को देखने में असमर्थ रहेगा।

(२) पशुओं को सुख-दुख का अनुभव भी होता है। एक पीटा गया कुत्ता उसी प्रकार का व्यवहार करता है जैसे एक पीटा गया बच्चा। इसीप्रकार एक कुत्ता जिसको आप खाना खिलायेंगे और प्यार करेंगे वैसा ही संतोषपूर्ण व्यवहार करता हुआ दृष्टिगोचर होगा जैसे कि इसीप्रकार की स्थितियों में रहने वाला एक बच्चा करेगा। अर्थात् हमें इस तथ्य पर विश्वास करना पड़ेगा कि उस कुत्ते के साथ किये गये अपने व्यवहार से उसका आचरण बदल गया; दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि उसका हृदय परिवर्तित हो गया। यह सब उसी प्रकार हुआ जैसे कि किये गये व्यवहारों के अनुसार एक बच्चा अपने को सुधार या बिगाड़ लेता है। उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में केवल संकेतों के आधार पर लिए गये निर्णय प्राप्त करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई प्रमाण उप-लब्ध नहीं हैं।

(३) पशुओं की भी अपनी स्मृति होती है क्योंकि वे अपने मालिक तथा घर को कभी नहीं भूलते। वे उन लोगों के प्रति आनंद या कृतज्ञता का भाव भी प्रकट करते हैं जो उनके प्रति दयालु होते हैं। जो व्यक्ति इन पशुओं के साथ दुर्व्यवहार या उनका अपमान करते हैं वे उनके प्रति अपने मन में वर्षों तक घृणा और द्वेष के भाव छिपाये रहते हैं। 'ओडेसी' महाकाव्य में वर्णित 'आर्गोस'

नामक कुत्ते को कौन भूल सकता है जो अनेक वर्षों के अन्तराल पर भी 'यूलिसिस' को, मिलने पर, तुरंत पहिचान लेता है।

(४) पशु पदार्थों की विभिन्नता को पहिचान लेते हैं तथा उनकी आपस में तुलना करने की शक्ति रखते हैं। तोता अखरोट या अन्य इसीप्रकार के किसी फल को बहुत ऊँचे ले जाकर, उसे तोड़ने के लिए नीचे गिरा देता है। शायद तोते ने यह तोड़ने का उपाय अनेक अनुभवों की तुलना के बाद प्राप्त किया होगा। अन्य नरम फलों को भी वह पहिचान लेता है और बिना छिलका उतारे ही उन्हें खाने लगता है।

(५) पशुओं की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति भी होती है। इस बात को वे घुड़सवार अधिक अच्छी तरह जानते हैं जिन्हें अड़ियल घोड़े पर सवार होने का मौका मिला है।

(६) पशुओं में लज्जा और अभिमान के जैसे भाव भी मिलते हैं। इस संदर्भ में वह व्यक्ति जिसने कुत्तों के साथ व्यवहार किया है, भली प्रकार जानता है कि जब शिकार की हुई चिड़िया को झाड़ियों में से ढूँढ़ कर शिकारी कुत्ता अपने शिकारी मालिक के पैरों पर रख देता है तो उसके शरीर की चेष्टाओं में आदर और संकोच के भाव स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। जब वह अपने शिकारी मालिक के बुलाने पर अपनी पूँछ को टाँगों में दबाये हुए उपस्थित होता है तो भी उसके शरीर की चेष्टाएँ देखने योग्य होती हैं, किन्तु जब हम इन सब बातों को दार्शनिक भाषा में प्रस्तुत करने लगते हैं तो कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं। अर्थात् जब हम पशुओं के संदर्भ में आचार-विचार, अनाचार, सद असद्, विवेक आदि प्रश्नों को उठाने लगते हैं तो गड़बड़ी उपस्थित हो जाती है और यही कारण है कि हमें इन सभी तथ्यों को बरबस यहीं छोड़कर आगे बढ़ जाना उचित जान पड़ता है।

(७) पशुओं में प्यार और घृणा के भाव भी परिलक्षित होते हैं। कुत्तों की ऐसी अनेक प्रामाणिक कहानियाँ हैं, जिनमें वह अपने स्वामी की मृत्यु पर अपनी मृत्यु का वरण करता है और किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा भोजन दिये जाने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता। इसके सिवाय इनमें प्रतिशोध की भावना भी प्रबल रूप में विद्यमान रहती है। ये प्रतिशोध लेने के लिए अनेक दिनों तक शत्रु की घात लगाकर बैठते हैं और प्रतिशोध पूरा करते हैं।

इन सब तथ्यों के बाद भी यदि हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि पशुओं में संवेदना, विचार-शक्ति, स्मृति, इच्छा-शक्ति एवं बुद्धि है तो हमें

चाहिए कि हम इसके विरोध में आगे बढ़कर पशुओं और मनुष्यों के बीच देखे गये असामान्य संकेतों को अधिक शक्ति के साथ स्पष्ट कर उनकी व्याख्या करें।

कुछ दार्शनिक सोचते हैं कि पशुओं में बुद्धि के स्थान पर सहज-प्रवृति की बात कहकर वे विवाद से मुक्ति पा जाते हैं, किन्तु यदि हम इन्हीं दो शब्दों को उनके द्वारा बताये गये अर्थों में ग्रहण करें तो निश्चितरूप से वे एक दूसरे से अलग अर्थों में प्रयुक्त न होकर एक ही अर्थ को द्योतित करते हैं। सहज-प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशु दोनों में हैं। शिशु अपनी माँ का स्तन सहज प्रवृत्ति से ही ग्रहण करता है; इसीप्रकार मकड़ी अपना जाला बुनने का कार्य एवं मधुमक्खी अपना सुन्दर छत्ता बनाने का कार्य सहज प्रवृत्तियों से ही सम्पन्न करती हैं। इसे कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता कि शिशु को शरीरशास्त्र का ज्ञान है और इसलिए वह माँ के स्तन की आवश्यक माँस पेशियों को दबा कर दूध चूसता है और इसीप्रकार कोई भी विद्वान् यह आग्रह नहीं करेगा कि मकड़ी ने जाला बुनने का काम सीखा है तथा मधुमक्खी छत्ता बनाने के कारण रेखागणित का ज्ञान रखती है। इसका कारण यही है कि ये कार्य हम संबंधित विज्ञान के अध्ययन के बिना नहीं कर सकते। यदि हम मकड़ी के जाले को किंचित नष्ट कर देवें तो ऐसी स्थिति में या तो मकड़ी उतने ही हिस्से को ठीक कर लेती है या जाले को अधिक क्षत-विक्षत हो जाने पर वह उसका परित्याग करके नवीन जाले का निर्माण करने में अग्रसर होती है। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है कि मकड़ी ने नया जाला बुनने का कार्य निरीक्षण, तुलना तथा विचार शक्ति से निर्णय लेने के बाद ही प्रारम्भ किया। अतएव यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि पशुओं में सहज-प्रवृत्ति द्वारा जो यांत्रिक या आचार का ज्ञान पाया जाता है वह मनुष्यों में उतना प्रबल नहीं होता, किन्तु सहज-प्रवृत्तियाँ पशुओं और मनुष्यों—दोनों में ही वर्तमान रहती हैं।

तब मनुष्यों और पशुओं में क्या अंतर है? ऐसा क्या है जो मनुष्य करता है और जिसका हम पशु-जगत में कोई संकेत नहीं पाते। इस प्रश्न का उत्तर मैं बिना किसी हिचकिचाहट के यही दूंगा कि मनुष्य और पशुओं के बीच, एक सबसे बड़ी विभिन्नता भाषा की है। मनुष्य बोलता है और हमेशा शब्दोच्चारण नहीं करता। यह भाषा ही मनुष्य की विजय है जिसको नष्ट करने का कोई भी पशु दुस्साहस नहीं कर सकता। यह एक ऐसा तथ्य है जिसके आधार पर कम से कम उन विकासवादियों को तो उत्तर दिया ही जा सकता है जो बंदर से ही मानव के विकास की बात मानते हैं तथा जो इस संभावना पर अपना पूरा

मत व्यक्त करते हैं कि मनुष्य भी जानवर ही है, जिसने जीवन की दौड़ में कुछ ऐसी विशेष शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं जिनके बल पर ही प्रारंभिक युगों में वह पशुओं पर विजय कर सका था। उन विद्वानों को यह सोचना चाहिए कि मनुष्य और पशुओं के बीच विभिन्नता को प्रकट करने वाला सबसे अधिक ठोस तथ्य भाषा है जो मनुष्य की अपनी बनावट का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। आप भाषा के विषय को लेकर आलोचना नहीं कर सकते और पक्षियों की चहचहाहट या पशुओं के चीत्कार से खींचतान करके कोई शब्द निकालने का प्रयत्न आप करें तो इसमें असफलता ही आपके हाथ लगेगी।

## मनुष्य एवं पशु के मध्य भाषा ही अवरोधक है

भाषा केवल वाह्य संकेत मात्र है। हम अपनी तर्क शक्ति को लेकर भाषा के संदर्भ में विरोधी विद्वानों को यह कहकर ललकार सकते हैं कि पशु जगत द्वारा व्यवहृत ध्वनियों के बीच वे कोई ऐसी वस्तु दिखावें जो भाषा के बराबर का स्थान पा सकती है ? इस तथ्य के संदर्भ में, हमारा कथन केवल यहीं तक सीमित नहीं है कि हममें उत्पन्न अनेक प्रभावों की अभिव्यक्ति दूसरों तक कर सकने के लिए हम विशिष्ट उच्चारण युक्त ध्वनियों का उपयोग करते हैं। यदि इसके लिए ही हम अपने को सृष्टि में श्रेष्ठ मानने का दावा करने लगें तो गुरिल्ला बंदर में अनेक गुणों को देखकर अपनी स्थिति के संबंध में हम असमंजस में पड़ जायेंगे।

इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यद्यपि पशुओं के पास अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट उच्चारण युक्त ध्वनियाँ नहीं हैं तो भी उनकी अपनी अभिव्यक्ति एक दूसरे तक पहुँचाने के लिए उनके अपने साधन हैं। जब ह्वेल मछली पर शिकारी अपना शस्त्र प्रहार करता है तो अन्य मछलियाँ चाहे कितनी ही दूर क्यों न हों उनको तथा उनके सारे गिरोह को न केवल इस बात का समाचार मिल जाता है बल्कि उन्हें शत्रु-स्थान का ज्ञान भी हो जाता है। उसी प्रकार भूमि में मृत गड़े हुए कीड़ों की लाशों को खोदकर खाने वाला गुबरैला कीड़ा, जब अपनी खोज से किसी मृत कीड़े के शरीर को पाता है तो वह अपने कुछ साथियों को तत्क्षण एकत्र करके आक्रमण बोल देता है और अपने साथियों के साथ भोजन प्राप्ति कर लौट आता है। इस बात का प्रमाण है कि कुत्ते यद्यपि बोलते नहीं तो भी बात को समझने की शक्ति उनमें पूर्णरूप से विद्यमान रहती है। जब उसका स्वामी उसका नाम लेकर पुकारता है तो वह अनुकूल प्रतिक्रिया करता

है। उसीप्रकार तोता जैसे अन्य पशु-पक्षी भी बोली गई ध्वनियों का ठीक उच्चारण करने में सफल होते दिखाई देते हैं और इसप्रकार, यद्यपि दार्शनिक तर्क-वितर्क के लिए भाषा का बोलना एक बाह्य स्थिति से संबद्ध होगा, तो भी यह स्वाभाविक है कि हम अपने संतोष के लिए उन स्थितियों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करें जो इस संबंध में यथार्थता के निकट हैं। दूसरे शब्दों में हमें अपनी अन्तस्तल की उस शक्ति की खोजकर उसको पूरी तरह समझने का प्रयत्न करना चाहिए जिसके प्रतिफलन में वाह्यसंकेत रूप में भाषा है।

अपने उद्देश्य के लिए आवश्यक होगा कि हम उन विद्वानों के कथनों का परीक्षण करें जो हमारी समस्या को दूसरे प्रकार से देखने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिए यह उत्तम होगा कि जो विद्वान् हमारी समस्या को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं हम उनके मतों का परीक्षण करें। ये लोग भाषा के वाह्य एवं यथार्थ तथ्यों की ओर से आँख मूँदकर पशु और मनुष्य के बीच की, 'भाषा की संभावित आंतरिक शक्ति' की ओर ध्यान देते हैं, जिससे भाषा का आविर्भाव संभव है तथा जो पशु-बुद्धि के वश की बात नहीं। यदि वास्तविक रूप से इस समस्या का समाधान कारक कोई निर्णय हम ले सकें और भाषोत्पत्ति के संबंध में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच सकें तो इसे हम अपने उद्देश्य की सफलता मानेंगे।

यहाँ पर मैं लॉक के निबंध का वह भाग पढ़ूँगा जो मनुष्य की सूझ-बूझ के संबंध में कुछ कहता है। "सामूहिक विचारों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, मन किस प्रकार खड़िया, हिम तथा दूध में प्रतिबिंबित हो रहे अलग अलग रंग-विचारों को एक ही सामान्य विचार 'सफेदी' या 'धवलता' में बाँधता है, इस विषय में, लॉक अपना मत व्यक्त करते हुए लिखता है "भले ही इस सम्बन्ध से संदेह किया जाय कि पशु अपने विचारों को सुसंबद्ध करके अपने ढंग से उनको किसी मात्रा तक विस्तार देते हैं, किन्तु मैं सोचता हूँ कि इतना तो असंदिग्धरूप से कहा जा सकता है कि पशुओं में विचारों को पृथक् करने की शक्ति नहीं है और इसीलिए सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि पशु और मनुष्य के बीच का बिलकुल सही अन्तर उनकी मानसिक शक्ति की पहुँच ही है।"

यदि पशु और मनुष्य के बीच उनकी मानसिक शक्ति को लेकर भिन्नत्व स्थापित करने के लॉक के सामान्य विचार सही हैं और उन्हीं आधारों पर मनुष्य और पशुओं के बीच की भिन्नता का दिग्दर्शन कराने वाली वस्तु भाषा है तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि भाषा उस मानसिक शक्ति का प्रत्यक्षीकरण तथा बाहरी संकेत है जो पदार्थों को अनुभूत्य गुणानुसार पृथकत्व प्रदान करती है। सामान्य

भाषा में इसे कार्य-कारण का संबंध स्थापित करने वाली शक्ति कहा जा सकता है।

## धातुएँ (Roots)

अब हम अपने पहले के भाषण के परिणामों की ओर दृष्टिपात करेंगे और वह परिणाम यह था कि भाषा के विकास की प्रत्येक क्रिया को समझ लेने के बाद एक ऐसी वस्तु प्राप्त होती है जिसकी हम किसी भी प्रकार से व्याख्या नहीं कर सकते। इसी को मूलरूप या धातु का नाम दिया गया है। इन्हीं धातुओं द्वारा प्रत्येक भाषा का निर्माण हुआ है। भाषा की उत्पत्ति की कठिन समस्या को धातु की खोज ने पर्याप्त हल कर दिया है। इस खोज ने उन लोगों के मतों को भी महत्त्वहीन बनाकर उनका दिवाला निकाल दिया है जो भाषा को ईश्वरीय शक्ति द्वारा निर्मित मानते थे और इसीलिए अब हमारे सम्मुख उन आश्चर्यजनक बातों का कोई महत्व नहीं रह गया है जिनमें कहा जाता था कि हम जो कुछ देखते, सुनते, चखते, स्पर्श करते अथवा सूँघते हैं एवं जो इन सभी को आधार देने वाली प्राणमय शक्ति है, जो हमारी कल्पित भावनाओं को साकार करती है तथा जो कल्पना की असीम ऊँचाई तक पहुँचाने की शक्ति देती है, जिसके कारण ही हम भूत, भविष्य एवं वर्तमान के चित्रों को दृष्टिगत रख सकते हैं और जो विभिन्न प्रकार की आकस्मिक घटनाओं को उत्पन्न करती है। इसप्रकार के विचारक अलिफ-लैला की मोहनी शक्ति के समान ईश्वर कृत भाषा की मोहनी शक्ति की बातें करते थे परन्तु अब ये बातें हवा हो गई हैं। डा० फरग्युसन कहता है कि "भाषा के प्रथम एवं अंतिम सोपानों पर विचार करते समय मनुष्य की स्थिति उस प्राणी के समान हो जाती है जो धीरे-धीरे ऊँचाई पर चढ़ते-चढ़ते पर्वत के शिखर पर जा पहुँचता है और फिर वहाँ से पहाड़ की खड़ी दीवार के ऊपर अपने आप को पाकर अपनी शक्ति पर अविश्वास करता हुआ इसे भगवान् की कृपा का प्रसाद समझता है।" कुछ विद्वानों के लिए भाषा को इस चोटी से नीचे उतरने के कारण निराशा हुई है क्योंकि इससे उनकी बहुत सी पूर्व-निर्मित धारणाएँ खंडित हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि इस उतरते रास्ते से हम इतिहास और परम्पराओं के माध्यम से पीछे जाते हैं जिससे हमारे ईश्वर के प्रति कल्पित विश्वास खत्म हो जाते हैं। ऐसे लोग उन्हीं तथ्यों को स्वीकार करते हैं जो उनकी समझ से परे हों और उन्हें आश्चर्यचकित आनंद प्रदान करें। किन्तु प्रत्येक परिपक्व बुद्धि वाले

मनुष्य को कपोल कल्पना की अपेक्षा यथार्थ ही प्रिय होगा और उलझाव की अपेक्षा सहजता ही ग्रहणीय होगी। भाषा की धातुएँ गेटे की कविता की तुलना में नीरस हैं, किन्तु इसके बावजूद भी धातुओं में सारे संसार के गीतों की अपेक्षा कुछ अधिक आश्चर्यजनक तत्व विद्यमान हैं।

तब धातुएँ क्या हैं? हमारी आधुनिक भाषा में धातुओं की खोज वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही की जा सकती है। संस्कृत भाषा के आधार पर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि कोई भी धातु न तो क्रिया-वाचक और न नामवाचक रूप में ही प्रयुक्त होती थी। सौभाग्य से चीनी भाषा में धातु की उस प्रारंभिक अवस्था के रूप उसीप्रकार सुरक्षित हैं जिस प्रकार पृथ्वी के नीचे सभी जगह 'ग्रेनाइट' नामक पत्थर की तह पाई जाती है। आर्य-भाषा की धातु 'दा' (देना) संस्कृत शब्द 'दानम्' या इसी अर्थ में प्रयुक्त होने वाले लैटिन शब्द 'डोनुम्' में वर्तमान है। इन दोनों का अर्थबोधक संज्ञा शब्द 'दान' है। ग्रीक में यह धातु 'डो' है। संस्कृत में 'ददामि' और ग्रीक में 'डिडोमि' (di-domi) 'मैं देता हूँ' क्रिया वाचक धातु है। किन्तु 'दा' धातु भी स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त नहीं होती। इसके विपरीत चीनी भाषा में 'ता' (Ta) धातु महानता के अर्थ में भाववाचक संज्ञा है जो क्रिया-वाचक बनने पर महान् होने का अर्थ देती है तथा क्रिया-विशेषण का रूप ग्रहण करने पर 'महानता से' या 'बहुत सा' अर्थ देती है। ये धातुएँ वास्तविक मूलरूप नहीं हैं। प्रारंभिक अवस्था में ये रूप वास्तविक शब्दों की भाँति प्रयोग में लाये जाते थे। अब हम यथार्थरूप से यह ज्ञात करना चाहते हैं कि हमारे मन की वह कौन सी अवस्था है जिसकी अभिव्यक्ति इन धातुओं के माध्यम से होती है? और इनका वह कौन सा रूप होगा जिसमें ये धातुएँ भाषा-जीवाणुओं के रूप में विद्यमान रहती हैं।

## "बाउ-वाउ और पुह-पुह सिद्धांत"

उपर्युक्त समस्या को हल करने के लिए दो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं जिनको मैं संक्षिप्त रूप में बाउ-वाउ और पुह-पुह सिद्धान्त के नाम से पुकारूँगा।

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार किसी भाषा की धातु, ध्वनि के अनुकरण के आधार पर है तथा द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार ये धातुएँ अकस्मात मुँह से निकली हुई विस्मय-युक्त ध्वनियाँ हैं। प्रथम सिद्धान्त १८वीं शती के विद्वानों द्वारा बहुमान्य था अतएव इसका परीक्षण अत्यधिक सावधानी के साथ किया जायेगा।

इसके अनुसार ऐसा सोचा जाता है कि वाणी प्राप्ति की पूर्वावस्था में मनुष्य ने पक्षियों, कुत्तों और गायों आदि की ध्वनियों को सुना। बादलों में विद्युत् की तड़तड़ाहट, समुद्र की गर्जना, जंगल के पत्तों की खड़खड़ाहट, नदी-नालों की घरघराती ध्वनि तथा सीटी बजाती हुई हवा को भी सुना और उसने इन ध्वनियों की नक़ल करने का प्रयत्न और उन विशिष्ट संकेतों के लिये उनका प्रयोग करते करते उसने भाषा को उत्पन्न कर लिया। इस सिद्धान्त के पक्ष में हर्डर ने अपने तथ्यों को अत्यधिक योग्यता-पूर्वक प्रस्तुत किया है। वह कहता है—"आदमी अपनी चेतन विचारधारा का प्रमाण तब देता है जबकि उसकी आत्मा स्वाधीनतापूर्वक सजगता के साथ कार्यरत होकर इन्द्रियजन्य विषयों के महासागर में उठती हुई अनन्त लहरों में से किसी एक लहर की ओर आकर्षित होकर उसमें समाहित उन भावों को पृथक्-पृथक् करने की शक्ति उत्पन्न कर लेती है। मनुष्य अपनी चेतन विचार-धारा को तभी व्यक्त कर पाता है जब वह कल्पना के स्वप्न-लोक से होकर अपने भावों को भोगता है। ऐसी स्थिति में वह स्वतः की अनुभूतियों को एक करके एक क्षण के लिए जागृत होकर किसी ऐसी वस्तु को आविष्कृत करता है जिसके माध्यम से वह सम्पूर्ण प्रभावोत्तेजक झलक उसके समक्ष उपस्थित हो सके जो सही रूप से उसी का प्रतिनिधित्व करे तथा उन निश्चित चिह्नों की खोज में वह यह कह सके कि इसको अभिव्यक्त करने के लिए इस मूर्त्ति के सिवा और कुछ उपयुक्त नहीं है। मनुष्य की चेतना उस समय व्यक्त होती है जब वह न केवल वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं को और उनमें भिन्नता स्थापित करने वाले विभिन्न अंगों को देखता है, बल्कि उनको पृथक्-पृथक् कर उनमें से एकाधिक का विशिष्ट परिचय प्राप्त कर तदनुसार उन्हें व्यक्त करता है। उदाहरणस्वरूप—"आदमी मेमना देखता है पर वह उसे नृशंस भेड़िये के रूप में नहीं देखता। वह किसी असंतुलित बुद्धि के प्रभाव से आतंकित नहीं होता। वह उसे जानना चाहता है, किन्तु उसकी इंद्रियाँ न तो उसे मेमने की ओर आकर्षित करती हैं और न ही उसे दूर हट जाने के लिए कुछ कहती हैं। उस मेमने का चित्र उसके मनस्तल पर उसी प्रकार खिचता है जैसा कि उसकी संवेदनाओं ने सफेद कोमल ऊन से आच्छादित रहनेवाले रूप में खींच रखा है। मनुष्य की चेतना और विचारयुक्त आत्मा हर पदार्थ में ऐसे चिह्न खोजने का प्रयास करती है जिनके आधार पर वह विशिष्ट पदार्थ, अन्य पदार्थों से अलग देखा और समझा जा सके। मेमने ने मिमियाने के द्वारा मनुष्य की आत्मा पर सर्वाधिक प्रभाव छोड़ा जो कि दृष्टि एवं स्पर्श से अत्यधिक प्रभावशाली और वैभिन्य को व्यक्त करनेवाला है,

इसीलिए आत्मा के पास वही प्रभाव जीवित रह सका। वही मेमना आत्मा के समक्ष फिर आता है, जो कि सफेद कोमल ऊन से आच्छादित है और जिसको आत्मा अपने स्पर्शादि से पहिचानने का प्रयत्न करती है। यही कारण है कि उसके मिमियाते ही वह तत्क्षण पहिचान कर बोल उठता है—"अरे तुम वही मिमियाने वाले जानवर हो" और यही मिमियाना सर्वदा के लिए अन्य जानवरों से पृथक् करके उसकी व्यक्तिगत पहिचान का रास्ता खोल देता है, तथा मेमने शब्द का अर्थ हमें स्पष्ट हो जाता है। हमारी सम्पूर्ण भाषा क्या है ? क्या वह और कुछ न होकर ऐसे ही शब्दों का एक भंडार है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि भाषा में ध्वनियों के आधार पर बने हुए नाम हैं किन्तु इसप्रकार के शब्द हमारे वृहत् शब्द-कोष के एक छोटे से भाग की सम्पत्ति हैं और इसीलिए हम उन्हें भाषा के यन्त्र या साधन कहकर खिलौने कह सकते हैं। हम प्रयत्न करके यदि किसी भी भाषा में साधारणतया प्रयोग में आने वाले आवश्यक शब्दों की धातुएँ, ध्वनि अनुकरण को दृष्टि में रखकर प्राप्त करना चाहें तो हमारे हाथ केवल असफलता ही आयेगी। स्वयं हर्डर ने अत्यधिक परिश्रम एवं प्रयत्न से अनुकरण-मूलकता का सिद्धान्त स्थापित किया था जिस पर बर्लिन 'अकादमी' 'द्वारा भाषा की उत्पत्ति का सर्वोत्तम निबंध' कहकर उसे पुरष्कृत किया गया था किन्तु उसने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में स्वतः इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था और अपने आप को ऐसे लोगों के अँधेरे हाथ में छोड़ दिया था जो भाषा की उत्पत्ति को ध्वनि के अनुकरण पर बनाये जाने की बात करते थे। मैं इस बात की संभावना को अस्वीकार नहीं करता कि भाषा शायद अनुकरण के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित हुई हो। मैं तो केवल यह कहता हूँ कि अभी तक इस सिद्धान्त के आधार पर बनी ऐसी कोई भी भाषा खोजी नहीं जा सकी है। एक अंग्रेज यात्री के सामने चीन में जब भोजन की थाली रखी गई तो उसे सन्देह हुआ कि क्या यह बतख का मांस है और इसीलिए उसने आश्चर्यपूर्वक 'क्वैक-क्वैक' कहा। इसका उसे स्पष्ट और सीधा उत्तर "बाउ-वाउ" में मिला। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर पूर्णतः सार्थक और स्पष्ट था। यदि एक अंग्रेज यात्री की फ्रेंच भोजनालय में सेवक के साथ कोई वार्ता होती तो वह भी इससे अधिक सार्थक न होती किन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि इसप्रकार के वार्तालाप को हम भाषा का नाम दें। कुत्ते को हम 'बाउ-वाउ' नहीं कहते किन्तु कुत्ता कहते हैं। हम 'मू-मू' बोलने के आधार पर भी गाय को गाय ही कहते

हैं मू नहीं। उसी प्रकार भेड़ के बच्चे के "बा" बोलने पर भी उसे 'बा' न कहकर मेमना कहते हैं। ग्रीक, संस्कृत और लैटिन जैसी प्राचीन भाषाओं में यही नियम है। ध्वनि अनुकरण पर नाम रखने का सिद्धान्त यदि कहीं लागू हो सकता है तो वह पशुओं के नामकरण तक ही सीमित रखा जा सकता है। हम (यहाँ सभी उदाहरण अंग्रेजी भाषा से लिए गए हैं) 'गूज' (हंस) की ध्वनि को 'कैकलिंग्', 'हेन' (मुर्गी) की ध्वनि को 'क्लकिंग', 'डक' (बतख़) की ध्वनि को 'क्वेकिंग', स्पैरो (गोरैया) की ध्वनि को 'चर्पिंग', 'डोभ्' (फाख़्ता) की ध्वनि को 'कूइंग', "हॉग" (सुअर) की ध्वनि को 'ग्रटिंग' "कैट" (बिल्ली) की ध्वनि को 'म्युइंग', तथा 'डॉग' (कुत्ते) की ध्वनि को 'बार्किंग', 'येल्पिंग', स्नार्लिंग, या ग्राउलिंग कहते हैं। किन्तु इन ध्वनियों तथा इनसे सम्बन्धित नामों में को समवाय सम्बन्ध नहीं है।कुछ ऐसे नाम अवश्य हैं जो पशु-पक्षियों की ध्वनियों पर आधारित हैं--जैसे 'कक्कू' (कोयल) लेकिन इसप्रकार के शब्द बनावटी कागज के फूलों के समान हैं तथा उनमें कोई और नये शब्द बनाने की शक्ति नहीं है। इसीलिए इनकी प्रथम निर्माण के साथ ही समाप्ति भी हो जाती है, दूसरे शब्दों का निर्माण उनसे नहीं हो पाता। यदि आपको, 'स्पश्' देखना, धातु से व्युत्पन्न २५-३० शब्दों का स्मरण हो तो आपको यह ज्ञात होते तनिक भी विलम्ब न होगा कि एक ही धातु से अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में आपको निश्चितरूप से ज्ञात हो जायेगा कि 'कुक्कू' जैसे शब्दों की शक्ति सीमा क्या है। अर्थात् इसप्रकार के शब्दों में एक से अधिक शब्दों को व्युत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रहती।

यहाँ पर हम परस्पर दो शब्दों कुक्कू (कोयल) और रैवेन (कौआ) शब्दों की तुलना करें। अंग्रेजी में कुक्कू एक ऐसा शब्द है जो उस पक्षी की ध्वनि के आधार पर अनुकरणात्मक रीति से व्युत्पन्न हुआ है। इसके समरूपी शब्द संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में भी प्राप्त होते हैं। इन भाषाओं में ध्वनि के अनुकरण पर जो शब्द प्राप्त होते हैं उसमें वे प्रत्यय भी संयुक्त कर दिये गये हैं जिनसे इन शब्दों का निर्माण होता है। संस्कृत में इस पक्षी का नाम 'कोकिला' है। ग्रीक में इसे 'कोकिक्स' (kokkyx) और लैटिन में 'कुकुलुस्' (cuculus) कहते हैं। कुक्कू वास्तव में नया शब्द है जो 'एंग्लोसेक्सन' के गेअक् (Geac) के स्थान पर आया है। यही शब्द जर्मन में गौख़ (Gauch) है। कोयल का यह नाम उसकी ध्वनि के विशुद्ध अनुकरण पर निर्मित किया गया है। इसीलिए, यह व्याकरण के नियमों के अनुकूल नहीं है। यही कारण है कि

इस शब्द पर ग्रिम नियम लागू नहीं होता। कुक्कू शब्द से हमें एक विशिष्ट पक्षी के बोलने की ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ सूचित नहीं होता। इससे किसी ऐसे सामान्य गुण का भी अर्थ नहीं निकलता जो अन्य पशु-पक्षियों में भी विद्यमान पाया जाता हो। यहाँ नियम कॉक् (मुर्गा) और संस्कृत के 'कुक्कुट' शब्द के साथ लागू होता है। परिणाम यह है कि इन दोनों शब्दों पर भी ग्रिम नियम लागू नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ये दोनों शब्द मुर्गे की ध्वनि के अनुकरण पर निर्मित हुए हैं। इन शब्दों में यह सावधानी रखी गई है कि पक्षी की ध्वनि के आधार पर ही इनका अस्तित्व रहे। यही कारण है कि इन नामों में आज भी कोई विशेष परिवर्तन संभव नहीं हो सका है। संस्कृत का 'कुक्कुट' किसी धातु से व्युत्पन्न न होकर सामान्यरूप से पक्षी द्वारा बोली गई ध्वनि की पुनरावृत्ति मात्र है और इससे जो अन्य शब्द व्युत्पन्न हुए हैं वे सभी लाक्षणिक हैं। उदाहरण के लिए फ्रेंच शब्द 'कोकेट्' (coquet) जिसका मूल अर्थ मुर्गे की तरह इतराना था, से ही 'कोकेट्री' (Coquetteric) शब्द व्युत्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ 'नज़ाकत से कपड़े पहिनना है'। इसी का एक अन्य रूप 'कौकार्द' (Cocarde) है। जिसका अर्थ 'नज़ाकत से सजा-धजा' है। इसी का एक और रूप 'कोकलिको' (Coquelicot) है जिसका मूल अर्थ मुर्गे की कलँगी था। पश्चात् अर्थ परिवर्तित हुआ और इसका अर्थ 'अफीम का लाल फूल' हुआ। ये दोनों ही अर्थ मुर्गे की लाल कलँगी से समानता रखते हैं।

अब हम 'कौआ' (raven) शब्द का परीक्षण करेंगे। कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का निर्माण भी कदाचित् ध्वनि अनुकरण के आधार पर हुआ हैं। कुछ विद्वान् रैवेन् और उसकी ध्वनि में समानता के गुण भी पाते हैं। यह तथ्य उस समय और भी स्पष्ट होने लगता है जब हम 'एंग्लोसेक्सन' के 'ह्राफ्न' (hrafn), जर्मन रूप 'राबे' (rabe), प्राचीन उच्च जर्मन 'ह्राबोन' (hraban) से इसकी तुलना करते हैं। संस्कृत में यह शब्द 'कारब' है और लैटिन में इसका 'कोरवुस्' (corvus) रूप है। जब हम ग्रीक में 'कोरोने' (Korone) रूप को देखते हैं तो यह तथ्य और भी स्पष्ट होता दिखाई देता है। फ्रेंच में इस पक्षी को 'कार्बो' (corveau) कहते हैं, किन्तु इस शब्द की सूक्ष्म परख करने के लिए, काट-छाँट करने के साथ ही 'कुक्कू' और 'काक' शब्दों की बनावट से इसकी भिन्नता स्पष्ट दिखती है। वास्तव में यह शब्द जिस धातु रूप से व्युत्पन्न हुआ है उसमें क्रियावाचक शक्ति की सम्पन्नता ही है। धातु 'रू' और 'क्रू' केवल 'कौआ' (raven) के बोलने की ध्वनि का अनुकरण नहीं है, यह तो

सर्वाधिक कर्कश और सर्वाधिक कोमल ध्वनि का वाचक है और यह कदाचित् जितना बुलबुल के लिए प्रयुक्त होता है उतना ही raven के लिए। संस्कृत में इस धातु का रूप 'रु' है और इस क्रिया का प्रयोग नदियों की 'मर्मर' ध्वनि से लेकर कुत्तों के 'भूकने' और गायों के 'रंभाने' तक के अर्थ में हुआ है। संस्कृत में इस धातु से अगणित शब्द निकाले गए हैं। इसका एक रूप लैटिन में—'रउकुस्' (raucus) मिलता है जिसका अर्थ है—'कर्कश' शब्द। जर्मन में 'रुनेन' (runen) का अर्थ है "धीमी आवाज में बोलना" और 'रुना' (runa) का अर्थ है "रहस्य—भेद"। लैटिन भाषा में 'लामेन्तुम' (Lamentum) जिसका मूल रूप कभी 'राविमेन्तुम' (ravimentum) या 'क्राविमेन्तुम' (Cravimenttm) था, उसका अर्थ भी 'रोना' है। इस 'रु' धातु के कई गौणरूप भी मिलते हैं—जैसे संस्कृत में 'रुद्' धातु 'चिल्लाना, धाड़ मारना'; लैटिन में यह धातु 'रुग्' हो जाती है और इसी का रूप 'रुगिर' (rugire) बनता है—जिसका अर्थ है 'रोना'।

ग्रीक भाषा में 'क्रु' (Kru) या 'क्लु' (Klu) धातु है जिनके रूप 'क्लेओ' (Klaio) और 'क्लौसोमाई' (Klausomai) हैं। इस धातु का अर्थ है—'मैं रोता हूँ'। संस्कृत में 'क्रुश' धातु है जिसका अर्थ है 'जोर से चिल्लाना'। जर्मन में इस 'रु' का एक रूप 'रूफन' (rufen)—'पुकारना' है। सुनने के लिए सभी आर्य भाषाओं में एक शब्द है, वह भी इस शब्द से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। संस्कृत में इसी धातु का रूप 'श्रु' है। ग्रीक भाषा में यह रूप 'क्लुओ' (Kluo) 'मैं सुनता हूँ' है। लैटिन में इसका रूप 'क्लुओ' (Cluo) है, जिसका अर्थ सुनना होने से पहले 'ध्वनि करना-बजाना' था। जब बहुत दूर खड़े हुए व्यक्ति ने किसी अन्य व्यक्ति की पुकार या ध्वनि सुनी होगी तो उसने प्रारंभिक अवस्था में कहा होगा—'मेरे कान बजते हैं',—और यही क्रिया जब सकर्मकरूप से उपयोग में आई होगी तो इसका अर्थ हुआ होगा—"मैं ध्वनि सुनता हूँ" "मेरे कान बजते हैं।"

अब यह भलीप्रकार आपकी समझ में आ गया होगा कि संस्कृत शब्द 'कारव' (कौआ) अंग्रेजी 'क्रो' संस्कृत 'कुक्कुट' या अंग्रेजी के 'कॉक' शब्द से बिलकुल भिन्न प्रकृति का है। 'कारव' का अर्थ है 'हंकारने वाला,' 'पुकारनेवाला' तथा 'चिल्लानेवाला', इसीलिए इस नाम से अनेक पक्षी सुशोभित किए जा सकते हैं, किन्तु यह केवल 'कौआ' के लिए ही रूढ़ हो गया है। अंग्रेजी 'कुक्कू' (कोयल) संस्कृत कुक्कुट (मुर्गा) शब्द केवल एक ही अर्थ में काम में आ रहे हैं, क्योंकि

वे उन पक्षियों द्वारा बोली गई विशिष्ट ध्वनियों से निर्मित हुए हैं। किन्तु 'रेवेन' शब्द जो 'रु' या 'क्रु' धातु से उत्पन्न हुआ है और यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने की क्षमता रखता है। यह 'कानाफूसी' से लेकर 'झगड़ा-फ़साद' आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है और दूसरी ओर 'कुक्कू' शब्द सूखे काठ की तरह एकाकी बनकर बैठा है।

यह आश्चर्य की बात है कि हम भाषा की धातुओं को पक्षियों की ध्वनियों पर आधारित मानें। ऐसा करके हम स्वयं अपने को एक भ्रम के घेरे में फँसा लेते हैं। कौन यह नहीं जानता कि 'थंडर' (thunder) शब्द (जो कि गर्जन-तर्जन से कड़कती आवाज का अनुकरण है) पर ही जर्मन लोगों ने अपने प्राचीन देवता को 'थोर' (thor) का नाम दिया जो कि नौ पिनों से खेला करता है? तो भी 'थंडर', 'एंग्लोसेक्सन' 'थुनोर' की वही व्युत्पत्ति है जो लैटिन शब्द 'टोनिट्रु' (tonitru) की। इन शब्दों की मूल धातु 'तन्' है। इसी धातु से ग्रीक भाषा के 'तोनोस' (tonos) और अंग्रेजी के 'टोन' शब्द निर्मित हुए हैं, तथा इनका संबंध शायद तन्तुओं के हिलने से जो ध्वनि फैलती है, उससे होगा और जो लैटिन में 'तोंनारे' (tonare) रूप में है। संस्कृत में भी 'तन्' का अर्थ गर्जन (thunder) है किन्तु इस धातु से व्युत्पन्न शब्द 'तन्यु' 'तन्यतु' और 'तनयित्नु' हैं जिनका संबंध गर्जन-तर्जन से उस प्रकार नहीं जुड़ता जैसा कि हम लैटिन के 'तोनित्रु' (tontru) और अंग्रेजी के 'थंडर' में देखते हैं। इसी 'तन्' धातु से 'तानना', 'फैलाना' आदि अनेक शब्द निकले, जिनमें गर्जन-तर्जन का कोई अर्थ नहीं मिलता। अंग्रेजी शब्द 'टेन्डर' (tender), फ्रेंच 'टेन्ड्रे' (tendre), लैटिन 'टेनेर' (tener) इसी से निकले हैं, जिनका अर्थ है 'कोमल', 'मुलायम'।

लैटिन शब्द 'तेनुइस' (tenuis) के समान ही संस्कृत 'तनु' और अंग्रेजी 'थिन्' (पतला) है। "टेन्डर" (tener) का अर्थ मूलरूप से लम्बे चौड़े धरातल पर दूर तक तानना था और बाद में इसका अर्थ "थिन्" (thin) 'पतला करना' और इसके बाद डेलिकेट' (delicate) हो गया। इसप्रकार यदि हमारे पास 'तन्' धातु न होती और हम प्रारंभिक रूप से कड़कती आवाज— (rumbling noise) को स्मृति में रखकर चलते तो हमें tender तथा (thunder) में संबंध स्थापित करना कठिन हो जाता।

अब फ्रेंच शब्द 'सुक्रे' (sucre) पर विचार किया जाता है। यह शब्द भारत से आया है जहाँ मीठी वस्तु के लिए 'शर्करा' कहा जाता है। यह 'शर्करा' शब्द "शुगर" ही है जो लैटिन में "सक्खरुम" (saccharun) (शक्कर) है। हम

अभी भी अंग्रेजी में saccharine juice कहते हैं जो कि शक्कर का रस है।

अंग्रेजी शब्द (गिलहरी) Squirrel में अनेक विद्वान् गिलहरी की फुर्ती से दौड़ने की गूँज सुनते हैं, किन्तु यदि हम इसे पुराने ग्रीक शब्द Skiouros (स्कूरोस=गिलहरी) को देखें तो पता चलेगा कि यह दो भिन्न शब्दों को संयुक्त करने से बना है जिसमें पहले का अर्थ छाया और दूसरे का 'पुच्छ' है अर्थात् छाया-पुच्छ।

जर्मन शब्द Katze (काट्ज़े) को बिल्ली के थूकने की ध्वनि के आधार पर बना मानते हैं, किन्तु लैटिन में यह शब्द कैटुस् (catus) है, जिसमें बिल्ली के थूकने की ध्वनि का इससे कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता और इसीप्रकार इसका सम्बन्ध अंग्रेजी कैट् (cat) व जर्मन कैटर् (Kater) में भी नहीं है। संस्कृत में बिल्ली के लिए "मार्जार" शब्द है जिससे शायद कल्पना की जा सकती है कि यह बिल्ली के गुर्राने की ध्वनि के अनुकरण पर निर्मित हुआ होगा। किन्तु, 'मार्जार' शब्द संस्कृत धातु 'मृज' (स्वच्छ करना, माँजना) से उत्पन्न हुआ है। अर्थात् 'मार्जार' का अर्थ हुआ ऐसा जीव जो अपने आपको स्वच्छ करता हो। इस संदर्भ से ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह सहज ही सिद्ध हो जायेगा कि हम किसप्रकार शब्द और उससे निकलने वाली ध्वनि के धोखे में आकर यह समझने लगते हैं कि शायद ध्वनिमूलक आधार पर इस शब्द का अर्थ यही होगा और इस ध्वनि में ही हमें अर्थ के संबंध सूत्र मिल सकते हैं। हम समझ लेते हैं कि विशिष्ट शब्द में हमारी इन्द्रियों को उसके अर्थ में ध्वनि की प्रतिध्वनि सी ज्ञात होती है। हम जैसे ही अंग्रेजी भाषा के ध्वनि-मूलक शब्दों को 'एंग्लोसेक्सन' तथा गॉथिक रूपों के निकट ले जाते हैं या उनकी तुलना, उनकी सगोत्री भाषा ग्रीक, लैटिन या संस्कृत से करते हैं तो हमारा सारा का सारा भ्रम कपूर की तरह हवा में उड़ जाता है।

जब तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के विद्वानों ने ध्वनिमूलक शब्दों की छान-बीन की तो उनकी शोध से स्पष्ट हो गया कि सभी भाषाओं में इसप्रकार के शब्दों की संख्या अत्यल्प है। इन सबका परीक्षण करने के पश्चात् अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि बहुत से शब्द गर्जन-तर्जन, फुस-फुस, फुफकार, सन-सन, सर-सर, बड़-बड़, टर-टर, जैसे ध्वनि संकेतों पर प्राप्त होने वाले शब्दों से व्युत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु इन शब्दों को भाषा में

हम जिस स्तर पर प्राप्त करते हैं वहाँ इन सबकी व्युत्पत्ति ध्वनिमूलक आधार से न होकर अन्य प्रकार से ही मिलती है।

यही कारण है कि अनेक विद्वान् जिनमें 'कान्डिलैक' जैसे फ्रेंच विद्वान् भी सम्मिलित हैं, शब्दों की ध्वनिमूलक उत्पत्ति के घोर विरोधी हैं, क्योंकि इससे मनुष्य की स्थिति पशु-पक्षियों से भी हेय हो जाती है। इन विद्वानों का कथन है कि इसप्रकार की कल्पना ही क्यों की जाती है कि मनुष्य ने पशु-पक्षियों से पाठ सीखा? क्या वह रो, सिसक और चिल्ला नहीं सकता जबकि वह भय, कष्ट और प्रसन्नता से संवेदित होता है। ये ध्वनियाँ और विस्मय ही मनुष्य की भाषा के प्रारंभिक रूप हैं। इसके बाद की जो भाषा की शब्द-सम्पत्ति है, धीरे-धीरे भाषा के ढांचे में ढलती गई। मैं इसी सिद्धान्त को विस्मयादिबोधक शब्दमूलक या पूह-पूह सिद्धान्त कहता हूँ।

इस सिद्धान्त के लिए भी मेरा वही उत्तर होगा जो प्रथम सिद्धान्त के लिए था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक भाषा में विस्मयादिबोधक शब्द थे और इनमें से कतिपय परम्परा से विविध भाषाओं में गृहीत हुए, किन्तु ये विस्मयादिबोधक शब्द वास्तविक रूप से भाषा की बाहरी सीमा मात्र हैं। हमें अपनी भाषा का प्रारंभ उसी स्थान से मानना होगा जहाँ से इन विस्मयादिबोधक शब्दों का अन्त होता है। एक विस्मयवाचक शब्द हा, हा! और वास्तविक शब्द 'हँसना' का अन्तर अपने आप में कितना स्पष्ट है। यही जमीन-आसमान का अन्तर 'ओह'! के उच्चारण और "मैं कष्ट सह रहा हूँ" के उच्चारण में देखा जा सकता है। उसीप्रकार का अन्तर अकस्मात् 'छींक आने में' और "मैं छींक रहा हूँ" में भी आपको मिलेगा। हम ठीक उसी-प्रकार छींकते, खाँसते, चीखते और हँसते हैं जिसप्रकार कि सभी जीवजन्तु, किन्तु जब ग्रीक दार्शनिक 'एपीक्यूरस' कहता है कि हम उसीप्रकार बोलते हैं जैसे कुत्ता भोंकता है, क्योंकि प्रकृति हमें या कुत्ते को बोलने या भोंकने के लिए प्रेरित करती है, तो हमारा अपना स्वतः का अनुभव इस तथ्य को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ होता है कि उपर्युक्त कथन सत्य नहीं है।

मुँह से अचानक निकल जाने वाले संबोधनों से भाषा के निर्माण की बात का उत्तर 'हॉर्नटूक' ने भलीप्रकार से दिया है। वह कहता है :—"भाषा-राज्य की स्थापना संबोधनशब्द-राज्य के पतन पर होती है। भाषा की अवस्था एवं कला-पूर्ण योजना के बिना मनुष्य के पास संबोधनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता जिससे वह मौखिकरूप से अपने अनुभव दूसरों तक व्यक्त करता है।

घोड़े का हिनहिनाना, गाय का रंभाना, कुत्ते का भौंकना, बिल्ली का गुरगुराना, किसी जीव का छींकना, खांसना, कराहना, चीखना और शरीर की हर एक हलचल जो सुख या दुख को जन्म देती है, सभी विस्मयसूचक शब्दों के समान भाषा के अंग माने जा सकते हैं। जब हमें प्रेम, स्नेह या किसी विषय जनित वासना की अधिकता का अनुभव होता है तभी हम इन विस्मयसूचक शब्दों को स्वेच्छा से प्रयुक्त करने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम शीघ्रतावश भाषा रहित एवं मूक बनकर ऐसे विस्मयकारक शब्दों के माध्यम से ही प्रायः अभिव्यक्ति करते हैं।

जैसा कि ध्वनिमूलक शब्दों के विषय में कहा जा चुका है, ठीक वही बात यहाँ पर भी सही उतरती है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि विस्मयसूचक शब्दों के द्वारा भी एक प्रकार की भाषा अस्तित्व में आई होगी, किन्तु यह भी निश्चित है कि वह भाषा आज की भाषा के समान न रही होगी। सच तो यह है कि एक छोटा सा विस्मयवाचक शब्द भावाभिव्यक्ति में किसी एक लम्बे भाषण से भी अधिक शक्तिमान हो सकता है। वास्तव में विस्मयवाचक शब्द भाव-संवेदनों, मुँह की मांस पेशियों तथा नेत्र भंगिमाओं से मिलकर मनुष्य की उन उद्देश्यों की पूर्ति करने में सहायक होते हैं जिसके लिए समस्त मनुष्य-जाति भाषा का प्रयोग करती है। लूशियन ने अपने नाट्य-शास्त्र पर लिखित ग्रन्थ में एक ऐसे राजा का वर्णन किया है जिसके राज्य की सीमा अत्यधिक दूर तक थी। वह नीरो के शासन-काल में रोम पहुँचा और उसने एक ऐसा अभिनय देखा जिसमें केवल संकेतों आदि से, बिना भाषा के, अपने मन के भावों को व्यक्त किया गया था। उसने नीरो से ऐसे व्यक्ति को अपने लिए उपहार में माँगा जिसे वह उस व्यक्ति को दुभाषिये के रूप में नियुक्त करके अपने उन पड़ोसी राज्यों से संबंध स्थापित करवाने में सफल हो जाय, जिनसे भाषा की विभिन्नता के कारण अभी तक सम्पर्क-स्थापित न कर सका था। पौटोमाइम (Pautomime) का मतलब उस व्यक्ति से होता है जो हर वस्तु का अनुकरण करता है और उसके लिए शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसे वह समझ न सके। हम लोगों ने भाषा पर अधिकार करके इसप्रकार की मौन-अभिव्यक्ति की कला की उपेक्षा की, किन्तु दक्षिणी योरप में यह कला अभी भी सुरक्षित है। यदि यह सत्य है कि एक विशिष्ट दृष्टि से अवलोकन कर मौन रहते हुए भी हम बहुत कुछ कह सकते हैं तो इसके साथ यह भी सत्य है कि इस प्रक्रिया के द्वारा हम उन उलझनों से बच जाते हैं जो भाषा के प्रयोग से होती हैं।

तो भी हमें यह न भूलना चाहिए कि 'हुम्', 'उघ्', 'टुट्', 'पूह्' आदि ऐसी ही विस्मयादिबोधक ध्वनियाँ हैं जिन्हें शब्द की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो विद्वान् भाषा के कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति विस्मयसूचक शब्दों से निकालने का प्रयत्न करते हैं उनकी भूल तथा हमारी भूल जो हम शब्दों में उनकी ध्वनि संबंधी विशेषता की कल्पना करते हैं, एक सी ही है। कुछ व्यक्तियों के अनुसार अरुचि की उत्पत्ति मन में रुचि के अभाव की सूचक है। आरंभ में इसका मुख्य कारण संभवतः दुर्गन्ध तक ही सीमित रहा होगा। जब हम कोई बुरी गन्ध सूँघते हैं तो नाक बन्द करके हम उससे अपनी रक्षा करते हैं और अपने मुँह या ओठों को सिकोड़कर दीर्घ वायु को बाहर छोड़ते हुए छिः छिः करने लगते हैं। अंग्रेजी में इन शब्दों के स्थान पर फाह्, फोह्, फाइ शब्द आते हैं। अनेक विद्वान् इन्हीं शब्दों से 'फाउल्' एवं 'फिल्थे की व्युत्पत्ति ही नहीं निकालते बल्कि इनके स्वाभाविक अर्थों को नैतिक-क्षेत्र में ले जाकर इससे अंग्रेजी शब्द fiend और जर्मन शब्द feind (=शत्रु) शब्द भी सिद्ध करते हैं। यदि व्युत्पत्ति का यही तरीका सही माना जाय तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेजी में घृणा के भाव 'F' से व्यक्त किये जाते हैं। यह महा-घोष वर्ण अध-खुले होंठों द्वारा जोर की हवा निकलने से उच्चरित होता है, किन्तु वास्तव में यह बात सही नहीं है। fiend शब्द fian धातु से निकला हुआ कृदन्त रूप है। यह धातु गॉथिक 'fijan' है। कुछ विद्वानों ने यह समझ रखा था कि 'फ्' घृणा-सूचक वर्ण है, संस्कृत में जाकर वह 'प' हो जाता है और अपनी घृणासूचक शक्ति खो देता है। 'फिअन' धातु का संस्कृत रूप 'पी' मिलता है, जिसका अर्थ है 'घृणा करना, उजाड़ना'। यह ठीक ऐसा ही है जैसा कि 'friend' शब्द है जो संस्कृत के मूलरूप 'प्री' प्यार करना से निकला है।

मुझे उपर्युक्त भाषा के विस्मय-सूचक शब्दों या पशु-पक्षियों की ध्वनि-अनुकरण-मूलक शब्द-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यह और कहना है कि यदि मनुष्य की भाषा का निर्माण करने वाले तत्व, आश्चर्यबोधक चीखें या प्रकृति के पशु-पक्षियों के मुंह से निकलने वाली ध्वनियाँ हैं तो इस आधार पर यह समझ पाना असंभव हो जाता है कि स्वयं पशुओं में भाषा का आविर्भाव क्यों न हुआ? हमें तोते और शब्दों की नक़ल कर चिढ़ानेवाली चिड़ियों के नाम ज्ञात हैं जो हमारी शब्द-ध्वनियों का अनुकरण करने में समर्थ हैं और शायद ही कोई जानवर हो जो हुफ़, हुस, बा, में-में, म्याऊँ आदि ध्वनियाँ अपने मुँह से नहीं

निकालता हो; किन्तु हम इसे भाषा की संज्ञा नहीं दे सकते। अस्तु, यह बात पूर्णतः स्पष्ट है कि मनुष्य और पशुओं के बीच भेद स्थापित करने वाली वस्तु उसकी विचार करने की शक्ति है।

विस्मयवाचक शब्दों और ध्वनि-अनुकरण मूलक शब्दों से निकली हुई भाषा मनुष्य की बुद्धि-सजगता के प्रतिफलित रूप में बाह्यारोपित भाषा बनने का दावा नहीं कर सकती। सभी शब्द वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्तियों के मन पर पड़ी बाहर के पदार्थों के प्रभाव की छाप हैं और इसीलिए वे व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त ज्ञान-संकेत हैं जो क्रम से आपस में अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के सिवाय सभी की अभिव्यक्ति के माध्यम हेतु योग्यतापूर्वक गढ़े गए हैं।

भाषा की व्याख्या करने के लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के परीक्षण के अनुसार हम निष्कर्ष रूप में, जिस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं वह उपर्युक्त सिद्धान्तों के बिलकुल प्रतिकूल बैठता है। भाषा की खोज में परीक्षण करते-करते अंत में हम धातुओं पर पहुँचते हैं। ये धातुएँ किसी के व्यक्तिगत विचार न होकर सामान्य विचार प्रकट करती हैं। यदि हम व्याख्या करें तो हमें इसके अन्तर्गत एक क्रिया- वाचक धातु प्राप्त होती है जो बतलाती है कि किस विशेष विचार के कारण नाम या संज्ञा-रूप में वह निर्मित हुई।

अत्यन्त प्राचीनकाल से दार्शनिक इस विषय पर एकमत नहीं हो सके हैं कि प्रारंभिक काल में पहले व्यक्तिवाचक नामों की उत्पत्ति हुई या जातिवाचक नामों की। इस प्रश्न पर सम्यकरूप से विचार करने से हमें शायद धातु की सही प्रकृति का ज्ञान हो जाय।

## एडमस्मिथ

कुछ दार्शनिकों ने जिनमें मैं लॉके, कान्डिलाक, एडमस्मिथ, डा० ब्राउन और डुगाल्ड स्टेवार्ट को रखता हूँ, इस बात का दावा किया है कि सभी नाम प्रथमतः व्यक्तिगत विषयों का बोध कराने वाले हैं। यहाँ पर मैं एडमस्मिथ को उद्धृत करना चाहूँगा। वह कहता है कि 'विशेष पदार्थों को विशेष नाम देने का कार्य संभवतः भाषा उत्पत्ति के इतिहास का प्रथम-सोपान रहा होगा। दो आदिम मनुष्य जिन्होंने आपस में कभी भी बोलने की बात न सोची होगी और जो समाज से बहुत दूर रहकर अपना पेट भरते होंगे कदाचित् प्राकृतिक रूप में वे मुँह से कुछ अस्पष्ट ध्वनि संकेत निकाल कर परस्पर एक दूसरे के विचारों का आदान प्रदान करने का प्रयत्न करते होंगे। इस स्थिति

में वे सर्वप्रथम उन्हीं पदार्थों का नामकरण और नामोच्चारण करेंगे जो उन्हें सर्वाधिक ज्ञात हैं तथा जिनकी उन्हें अत्यधिक आवश्यकता होती है। वह विशिष्ट गुफा जो उनकी मौसम से रक्षा करती है, वह विशेष वृक्ष जो उनकी भूख दूर करते हैं, वे विशिष्ट झरने जो प्यास को तृप्त करते हैं—संभवतः सबसे पहले नामांकित हुए होंगे।

इन्हें वे क्रमशः गुफा, वृक्ष, स्रोत के नाम, से अथवा अन्य कोई पर्यायवाची शब्दों से जिन्हें वे आदिम अवस्था में उपयुक्त समझते होंगे पुकारते होंगे। इसके पश्चात् उनके अनुभव बढ़ते गए, उन्हें विशिष्ट रूप से वस्तुओं को दृष्टिगत करने के अवसर मिलते गए तथा आवश्यक अवसरों पर उन्हें इन विशिष्ट पदार्थों को वाणी द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसके कारण उन्होंने उन्हीं शब्दों या नाम-रूपों में उन्हें पुकारा होगा जिन्हें वे पूर्व ही गुफा, वृक्ष और झरना कहकर पुकार चुके थे। उनमें से नवीन पदार्थों के भी कोई स्वतंत्र नाम नहीं थे; किन्तु उन नवीन पदार्थों को भी पुराने के समान दृष्टिगत होने के कारण पुराने नामों से ही अभिहित किया गया। यह तो असंभव ही था कि ये मनुष्य प्रायः एक ही प्रकार के नये-नये पदार्थ देखते और उन्हें उसीप्रकार के पुराने देखे गए पदार्थों का नाम याद न आता और इसीलिए समय उपस्थित होने पर इन व्यक्तियों ने नई वस्तुओं को भी पुराने नाम देकर अपनी स्मृति को मजबूत और पुनरावृत्ति के कारण सहज स्मरणीय बनाया। इसीप्रकार वे नाम जो मूलतः व्यक्तिवाचक थे समूहगत अभिव्यक्ति के कारण जातिवाचक रूप धारण कर बैठे। एक शिशु जो बोलना सीखता है घर में आने वाले प्रत्येक पुरुष को 'पापा' और स्त्री को 'माँ' नाम से पुकारता है और इन दोनों नामों में ही समस्त संसार के पुरुष-नारी को बाँट देता है। मूलतः ये दो नाम दो विशेष व्यक्तियों के ही थे। मैं एक मसखरे को जानता हूँ जो अपने घर के सामने दरवाजे के पास बहने वाली नदी का व्यक्तिवाचक नाम नह। जानता था। वह उसे नदी कहता था और उसने उस नदी के लिए कोई दूसरा नाम कभी नहीं सुना। उसका अनुभव बतलाता है कि उसने कहीं भी कोई अन्य नदी नहीं देखी। सामान्य शब्द नदी इसीलिए साक्षी रूप में उसे व्यक्तिवाचक रूप में स्वीकार था। यदि इस मनुष्य को किसी दूसरी नदी तक ले जाया जाता तो क्या मनुष्य तत्क्षण उसे भी नदी न बोलता?

क्या हम यह मान सकेंगे कि कोई भी व्यक्ति जो 'टेम्स' के किनारे पर रहता है और नदी जैसे सामान्य जातिवाचक शब्द को नहीं जानता बल्कि

केवल 'टेम्स' शब्द से ही नदी के अस्तित्व को स्वीकार करता है उस ऐसे पुरुष को यदि हम किसी अन्य नदी के पास ले जायँ तो क्या वह इस नदी को भी टेम्स नहीं कहेगा? यही बात वास्तव में उन पर भी लागू होती है जो जातिवाचक या साधारण शब्द से परिचित हैं। कोई भी विदेश-यात्रा कर रहा अँग्रेज किसी लम्बी नदी को देखकर स्वाभाविक रूप से दूसरी टेम्स कह देता है... इसी रीति से कभी कोई व्यक्ति वाचक नाम सामान्य नाम बन जाता है। इसका कारण यह है कि ये पदार्थ किसी विशेष पदार्थ से बहुत ही मिले-जुले होते हैं और इसीलिए इनका नाम भी व्यक्तिवाचक से जातिवाचक बन जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि इसीलिए सामान्य या व्यक्तिवाचक नाम बन गए हैं और इन्हें विद्यार्थी व्याकरण विषय के अन्तर्गत जातिवाचक कहकर सीखते हैं।

## लाइबनिज़

एडमस्मिथ का यह उदाहरण हमारे समक्ष भाषा की उत्पत्ति के संदर्भ में एक स्पष्ट विचार और दृष्टि प्रदान करता है। अब मैं एक दूसरा उद्धरण पढ़ूँगा जो इसके बिलकुल विपरीत है तथा जो लाइबनिज़ का है जिसमें उसने प्रथमतः भाषा के किसी भी विधान में साधारण या जातिवाचक शब्दों की अनिवार्य स्थिति मानी है। वह भी बच्चों का ही उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहता है—"बच्चे और विशेषकर वे बच्चे जिन्हें नाममात्र का ही भाषाज्ञान होता है तथा जो बातचीत करने के इच्छित विषय का भी सीमित ज्ञान रखते हैं, अज्ञानवश वे व्यक्तिवाचक नामों वाले शब्दों का प्रयोग तो नहीं करते बल्कि उनके स्थान पर जातिवाचक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं; यथा, वस्तु, पेड़, पौधे पशु आदि; और यह निश्चित है कि व्यक्तिवाचक या विशेष विशेष वस्तुओं के नाम आदिकाल में साधारण या जातिवाचक थे।" वह और आगे कहता है कि "इसप्रकार मुझे यह कहने का साहस होता है कि प्रायः सभी शब्द मौलिकरूप से जातिवाचक थे क्योंकि ऐसे बहुत कम अवसर मिलते होंगे जब मनुष्य अकारण वस्तु विशेष अथवा व्यक्ति का नामकरण किया होगा। इसलिए हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि व्यक्तिवाचक वस्तुओं के नाम प्रारम्भ में जातिवाचक ही थे जो किसी विशिष्टता के कारण व्यक्तिवाचक रूप में परिवर्तित हुए। उदाहरणार्थ नगर में 'ग्रेट् हेड्' नाम उसे दिया गया जो सभी में बड़ा सिर वाला था या बड़े सिर वालों ने उसे सम्मानित करने के लिए 'बड़ा सिर'=(बुद्धिमान) 'व्यक्तिवाचक' नाम दिया।

लाइबनिज़ और एडमस्मिथ जैसे दार्शनिकों के विवाद का निर्णय करना महान् साहस का काम है, विशेषतः उस स्थिति में जब दोनों विद्वान् अपने-अपने पक्ष को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत कर रहे हों। किन्तु इन विद्वानों के मतों पर निर्णय देने के लिए दो रास्ते हैं—प्रथम यह कि जिस स्थान पर ये विद्वान् हमसे मतभेद रखते हैं वहाँ हमें इनकी भ्रमपूर्ण बात को स्पष्ट करना चाहिए और इनके मत को एकदम अलग में रख देना चाहिए। प्राचीन ज्ञान के अध्ययन करने का यह रास्ता अधिक संतोषजनक नहीं है। द्वितीय रास्ता यह है कि जिन विद्वानों से हमारा मतभेद है,उनके उस मत में हम पूर्णरूप से प्रवेश पाने का प्रयत्न करें। उस स्थिति पर पहुँचकर हम एक दार्शनिक की भाँति उन तथ्यों की खोज करें तथा उस ज्योति को प्राप्त करें जिसके प्रकाश में उन्होंने अपना मत रखा है। तब हमें ज्ञात हो सकेगा कि ज्ञान के इतिहास में वैसी भद्दी भूलें नहीं होतीं जैसी कि हम उन्हें मान बैठते हैं। इतना ही नहीं, यदि हम उस भ्रम को जो सचाई को चारों ओर से घेरे है, ठीक समझ लेते हैं तो हम उस केन्द्र में स्थित सत्य को भी समझ लेने में पूर्ण समर्थ हो सकेंगे।

अब हमारे समक्ष जो स्थिति है इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि एडमस्मिथ ठीक कह रहा है कि प्रथम व्यक्तिगत गुफा ने ही सभी दूसरी गुफाओं का नामकरण किया, इसी तरह प्रथम नगर ने दूसरे नगरों का भी नामकरण किया। प्रथम सम्राट् के वास्ते जो राजभवन (=palace) रोम नगर में 'पालाटीन' नामक पहाड़ी पर बनाया गया था, इस पालाटीन पर बने महल के नाम पर ही सारे योरोप में महलों का 'पैलेस' नामकरण हुआ। गुफाओं, नगरों और महलों का नाममात्र का अन्तर धीरे-धीरे समाप्त होता गया और प्रथम व्यक्तिगत नाम अधिकाधिक सामान्य होकर नये व्यक्तिवाचक के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। जहाँ तक एडमस्मिथ का मत है वह सही है और उसके पक्ष में प्रत्येक पदार्थवाचक संज्ञा का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु लाइबनिज़ भी उतना ही सही है। जब पहले पहल गुफा, नगर या राजभवन जैसे शब्द प्रयोग में आने लगे तो ऐसे नाम किसप्रकार अस्तित्व में आए होंगे ? इसलिए अच्छा हो हम लैटिन में गुफा के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द को लें। लैटिन में गुफा के लिए 'अन्त्रूम' Antrum 'Cavea' और 'Spelunca' शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'अन्त्रुम' शब्द का अर्थ वही है जो 'internum' शब्द का है। यह शब्द संस्कृत शब्द 'अन्तर' से निकला है जिसका

अर्थ 'बीच में', 'भीतर' है। 'अन्तरुम' का इसलिए मौलिक अर्थ हुआ कि जो पृथ्वी के भीतर या उसके बीच में है, या किसी अन्य चीज के भीतर है। इसलिए यह स्पष्ट है कि ऐसा नाम किसी व्यक्तिगत गुफा को तब तक नहीं दिया जा सकता था जब तक कि यह सामान्य विचार 'भीतर' या 'बीच' के अर्थ में, मनुष्य के मन में उपस्थित न हुआ था। यह सामान्य विचार एकबार जब मन में बैठ गया और उन 'अन्त्रुम' या 'अन्तर' शब्दों से हमने इस शब्द का निर्माण कर लिया तो हमें स्पष्टरूप से समझ में आ गया कि नामकरण की प्रक्रिया किस बुद्धिमत्ता पूर्ण ढंग से आगे बढ़ी। वह स्थान, जो चट्टानों का खोखला स्थान था और जहाँ वर्षा एवं जंगली जानवरों के आकस्मिक आक्रमण से आदिम मनुष्य सुरक्षित रह सका, उसे उन्होंने 'भीतर' या 'बीच में' कहा होगा और बाद में सभी ऐसे स्थानों को वह चाहे पृथ्वी में खोदा गया हो या वृक्ष में कटकर बना हो, गुफा नाम दे दिया गया। यही सामान्य विचार किसी न किसी प्रकार दूसरे नामों के लिए भी लागू किया गया होगा। इसीलिए हम पाते हैं कि पेट के भीतर की अँतड़ियों को भी 'अन्त्र' कहते हैं। यदि भाषा में अँतड़ियों को 'entrails' कहते हैं तो इनका मूल अर्थ है भीतर के पदार्थ।

अब हम गुफा के लिए दूसरे प्रयोग में आने वाले शब्द केव् '(cavea)' या केवर्ना '(caverna)' पर विचार करते हैं। यहाँ पर फिर से एडिमस्मिथ पूरी तरह सही है कि यह नाम प्रथमतः किसी खास गुफा को दिया गया और बाद में यह अन्य गुफाओं के लिए प्रयुक्त हुआ, किन्तु लेवनिज़ भी उतना ही सही है कि पहले खोखले स्थान को केव् '(cavea)' नाम उसके खोखलेपन के कारण दिया गया। जब मनुष्य के दिमाग ने अच्छी तरह से 'खोखलापन' को समझ लिया तब मौखिक रूप से भी उसने उसको 'खोखला' कहा। हम इसके भी आगे एक कदम जाकर कह सकते हैं कि केव् '(cavea)' या 'खोखला' दूसरा कदम है न कि प्रथम विचार। गुफा को खोखली वस्तु कहने के पहले बहुत सी खोखली वस्तुएँ आदमी के सामने से गुज़री होंगी। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या खोखली चीज या खोखला स्थान 'काव्' '(cav)' धातु से निकला है क्योंकि जो खोखला स्थान था वह पहले पहल बचाव और सुरक्षा का स्थान बना। वस्तु को ढकने से जिसप्रकार रक्षा होती है वैसे ही आदिम मनुष्य ने अपने शरीर को ढककर अपनी रक्षा की। यह शब्द 'कु' या 'स्कु' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है अपने को ढकना। अतः हम समझ सकते हैं कि अपने ढकने का सामान्य विचार मनुष्य के मन में पहले से रहा होगा और

इसीलिए जहाँ वह अपने को ढक सका उन स्थानों को उसने 'केव्' '(cave)' या गुफा कहा, चाहे वे चट्टानों के खोखले स्थान हों या वृक्षों के।

गुफा के लिए दूसरा शब्द कोइलॉस '(Koilos)' था, जिसका अर्थ भी खोखला ही है। इस शब्द के भीतर भी जो विचार है वह 'गुफा' शब्द से मिलता-जुलता है। कोइलॉस एक खोखले स्थान को कहा जाता था क्योंकि वह छतदार रहता था। 'कोइलोन' शब्द जब इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ तो 'कोइलोन' का नाम भी छतदार गुफा अथवा गुफा हो गया। इसी कारण स्वयं आकाश का नाम भी (काइलुम) 'caelum' पड़ गया क्योंकि उसे पृथ्वी की छत के रूप में स्वीकार किया गया।

यही बात सभी संज्ञा शब्दों के विषय में भी कहीं जा सकती है। सभी नाम अपने जन्म के समय एक पदार्थ की अनेक विशेषताओं में से एक मुख्य विशेषता का आभास देते हैं। यह विशेषता चाहे उस पदार्थ का कोई गुण हो या उसकी कोई क्रिया हो, इतना तो स्पष्ट है कि उस गुण या क्रिया से शब्द के भीतर से प्रकट होने वाला एक साधारण विचार व्यक्त होता है। इस सामान्य विचार से बना हुआ एक-एक शब्द मूल में एक ही पदार्थ के काम में लाया गया होगा भले ही वह बनने के बाद तुरंत ही उस प्रकार की अनेक वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होने लगा हो। जब एक शब्द, जैसे रिवुस् '(rivus)', नदी के लिए प्रयुक्त किया गया होगा तो निस्सन्देह यह किसी विशिष्ट नदी के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। यह 'रिवुस' शब्द 'रु' या 'स्रु' धातु से व्युत्पन्न हुआ—जिसका अर्थ प्रवाहित जल होता है। आरम्भ में रिवुस् किसी एक खास नदी का नाम था किन्तु बाद में यह नदी का साधारण नाम बन गया! इसी आधार पर लैटिन 'रिवुस्' और उसके जर्मन रूप 'रेनुस्' (Rhenus) का अर्थ ही 'बहनेवाली' 'आगे बढ़ने वाली' है। किन्तु राइन् नदी का ही नाम बनकर रह गया और दूसरी नदियों का साधारण नाम न बन सका। संस्कृत में जिस नदी को 'गंगा' कहते हैं वह 'गम्' धातु का दो बार प्रयोग करने से बनी है और जिसका आशय 'तीव्र चलने वाली' है, तथा जो किसी भी तीव्रगामी नदी के लिए प्रयुक्त हो सकता था किन्तु यह शब्द सामान्य नदी के अर्थ का द्योतक न बन कर एक ही पवित्र नदी का सूचक नाम बन गया। सिन्धु नदी का नाम संस्कृत की 'स्यन्द्' धातु से बना है जिसका अर्थ है बहना या सींचना। भले ही आज यह एक विशिष्ट नदी का नाम रह गया हो किन्तु वैदिक काल में यह बड़ी नदियों के लिए प्रयुक्त होता था।

इसप्रकार हमने देखा कि पदार्थ के नामकरण अथवा उनकी पहली और प्रारंभिक पहचान का क्या अर्थ है? प्रथम वस्तु जिसे हम यथार्थ रूप में जानते हैं, सामान्य होती है। इसी के माध्यम से हम एक विशिष्ट की जानकारी प्राप्त कर उसे व्यक्तिवाचक नाम देते हैं। वह सामान्य विचारों में से किसी एक का प्रतिनिधित्व करती है। तीसरे स्तर पर, व्यक्तिवाचक वस्तुएँ जिनको हम जानते और नाम दे चुके होते हैं, फिर से जातिवाचक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करने लगती हैं और तब उनके नाम या व्यक्तिवाचक नाम जातिवाचक रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

भाषा में अनेक ऐसी बातें होती हैं जो हमें आश्चर्यचकित कर देती हैं। हम एक पुरातन 'नामन्' (naman) शब्द का परीक्षण करते हैं। संस्कृत का यह शब्द लैटिन में 'नोमेन' (nomen) और गॉथिक में 'नामो' (namo) है। कदाचित् संस्कृत का यह नामन् शब्द पहले कभी 'ग्नामन' (gnaman) या ज्ञामन् रहा होगा, क्योंकि यह रूप लैटिन में (co-gnomen) के रूप में अभी तक सुरक्षित है। यह (gnaman) का 'ग' धीरे-धीरे उसी प्रकार घिसकर 'नामन्' रह गया जैसे कि लैटिन में '(gnatus)' से 'ग' घिसकर (natus=पुत्र) रह गया। इसलिए अब हमें स्पष्ट हो गया है कि यह शब्द 'नामन्,' ग्नामन् (gnaman), (ज्ञा=जानना) से निकला है जिसका अर्थ मूल रूप में था—'जिसके द्वारा हम किसी पदार्थ को जानते हैं।'

अब प्रश्न यह है कि हम वस्तुओं को कैसे जानते हैं? हम वस्तुओं को अपनी संवेदना द्वारा पहिचानते हैं किन्तु हमारी संवेदना हमें केवल एक ही वस्तु के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रेषित करती है। इसीलिये किसी वस्तु का जानना, उसके अनुभव करने, बुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने, स्मरण करने और तुलना करने की अपेक्षा भिन्न बात है। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि हम शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग न करके उनका दुरुपयोग करते हैं। हम कहते हैं कि कुत्ता अपने स्वामी को 'जानता है', बच्चा अपनी माँ को 'जानता है'। इसप्रकार के जानने का अर्थ पहिचानना ही है। हम यथार्थ में किसी पदार्थ को तभी जानते हैं जब उसका नाम लेते ही उसके साधारण गुणों के अन्तर्गत उस वस्तु को या उसके किसी अंग को उपस्थित कर सकें। तब हम यह नहीं कह सकते कि हमने बुद्धि से ज्ञान प्राप्त किया बल्कि हम यह कहेंगे कि हमें उस वस्तु के सम्बन्ध में, एक विचार-चित्र या सामान्यज्ञान है।

प्रकृति के तथ्यों को हमारी संवेदना बुद्धिगम्य बनाती है। प्रकृति के

विचार 'ओरेस्टेड' के शब्दों में हमारी संवेदनाओं से ही हमें प्राप्त होते हैं। वह कहता है कि प्रकृति के विचार हमारी बुद्धि ही ग्रहण कर सकते हैं। ज्ञान की यह प्रथम सीढ़ी जो देखने में भले ही छोटी सी लगती हो, सभी अन्य प्राणियों से मनुष्य को अलग कर देती है। यह वस्तुओं को नाम दे सकने की क्षमता या वस्तुओं को जानने की शक्ति मनुष्य को प्रदान करती है। किसी भी वस्तु का नामकरण, विशिष्ट को सामान्य के अन्तर्गत लाना और जो भी हम जानते हैं चाहे हम उसे वैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से या साधारण प्रयोगों के माध्यम से जानते हों, अपने सामान्य विचारों द्वारा ही जान पाते हैं। अन्य प्राणियों में संवेदना अनुभव, स्मृति और एक विशिष्ट स्थिति तक बुद्धि भी होती है परन्तु ये सभी बातें प्राणियों को एक बार में एक का ही ज्ञान दे पाती हैं। मनुष्य के पास भी संवेदना, अनुभव ज्ञान, स्मृति, बुद्धि और विवेक हैं और यही विवेक साधारण विचारों के ज्ञान का मूल है।

इस विवेक के द्वारा ही हम पशुओं से एक कदम आगे ही नहीं बढ़ जाते बल्कि एक ऐसी दुनियाँ में आ जाते हैं जहाँ अन्य प्राणियों की पहुँच नहीं है।

हम अपने पशु स्वभाव से प्राप्त संवेदन, अनुभव ज्ञान, स्मृति और बुद्धि की उपेक्षा करते हैं, किन्तु इससे हमारे आंतरिक स्वभाव तत्त्व की उपेक्षा नहीं हो पाती। हमारी संवेदना, स्मृति, बुद्धि, दूरदर्शक यंत्र के लेन्स के समान हैं। हमारे भीतर एक ऐसी दृष्टि है जिसके माध्यम से हम बाहरी दुनियाँ के यथार्थ का अनुभव करते हैं। यही दृष्टि हमारी स्वयं की सचेतन तर्कशील आत्मा है। यह एक शक्ति है जो हमारे स्वयं के अनुभव से परे है। यह हमसे ठीक उसी प्रकार दूर है जैसे सूर्य है। जिसप्रकार सूर्य हमें प्रकाश, ताप और जीवनदान देता है, उसी प्रकार यह हमारी चेतना का केन्द्र है।

## चेतना और भाषा

हमारे अपने अन्तर्गत विद्यमान विवेक बुद्धि के कारण ही हम पशु जगत से एक अलग संसार में रहने वाले साबित होते हैं और इसी स्थिति में भाषा की उत्पत्ति के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। यदि आप किसी शब्द का परीक्षण करें तो आपकी समझ में आ जायेगा कि उस विशिष्ट शब्द में साधारण विचारों का एक अंश सुरक्षित है। इन विचारों में किसी विशिष्ट पदार्थ का अपना विशिष्ट गुण है और उसके आधार पर ही वस्तु का नामकरण हुआ है। चन्द्रमा का अर्थ क्या है? उत्तर है 'माप करने वाला'। सूर्य का अर्थ क्या है? इसका अर्थ

है 'प्रसव करने वाला' या 'जन्म-दाता'। अँग्रेजी के 'अर्थ' (earth) शब्द का मूल अर्थ 'जोती हुई भूमि' है। गाय, भेड़ आदि अनेक पशुओं का पुरातन समय में 'पशु' नामकरण किया गया था। इस शब्द का लैटिन रूप 'पेकुस्' (Pecus) है, जिसका अर्थ होता है 'भोजन कराने वाला'! अँग्रेजी शब्द 'animal' बहुत बाद में प्रचलित हुआ जो कि 'एनिमा' 'anima' से उद्‌भूत है और जिसका अर्थ होता है प्राण या आत्मा। इस एनिमा का भी मूल अर्थ 'हवा का लहराना' या 'श्वास लेना' था जो 'अन्'=(वायु का लहरना या साँस लेना) धातु से व्युत्पन्न है। संस्कृत-भाषा में इसी 'अन्' धातु से प्रसूत एक और शब्द 'अनिल' है जिसका अर्थ 'वायु' होता है। ग्रीक-भाषा में वायु को 'anemos' कहते हैं। अँग्रेजी शब्द 'ghost' जिसे जर्मन geist कहते हैं, ऐसे ही विचारों के आधार पर निर्मित हुआ है। यह अँग्रेजी के 'gust' (हवा का झोंका) 'yeast'=खमीर) तथा 'gass' आदि शब्दों से भी सम्बन्धित है। आइसलैण्ड की भाषा में इससे सम्बन्धित एक शब्द मिलता है जिसका अर्थ होता है—"जमीन से निकलने वाली गरम जल की ऊपर उठने वाली धार।" संस्कृत में प्रेम करने के लिए 'स्मर' शब्द उपलब्ध है, जोकि 'स्मर्' धातु से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ याद करना होता है। परन्तु हमें यहाँ ज्ञात होना चाहिए कि जर्मन का 'Schmerz' (=कष्ट) तथा अँग्रेजी का 'Smart' (दुःख प्राप्त करना) शब्द इसी के रूप हैं।

यदि अँग्रेजी के 'Serpent' को संस्कृत में 'सर्प' कहा जाता है तो इसका कारण यही है कि वह पाँव के बल न चलकर पेट के बल सरकता है। यह संस्कृत के 'सृप्' धातु से व्युत्पन्न है। किन्तु संस्कृत में सर्प को 'अहि' भी कहते हैं और इसी का रूप ग्रीक भाषा में 'echis' या echidna' हो गया। लैटिन में साँप को 'anguis' कहते हैं। यह नाम संस्कृत की 'अह्' 'अम्ह्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ अपने को दबाना या सिकोड़ना होता है, अर्थात् यह नाम् एक अलग गुण के आधार पर बना है। यह 'अह्' अनेक आधुनिक शब्दों में देखा जा सकता है। लैटिन भाषा के 'ango' anxi और 'anctum' शब्दों में, जिनका अर्थ 'गला दबाना' होता है—भी यही शब्द है। इसी से लैटिन का 'angor' (=गला घोंटना) और 'angustus' (=तंग या संकुचित' भी संबंधित है। ग्रीक भाषा में इस धातु से प्रसूत दो शब्द हैं—'eggys' (एगुस=निकट) और 'echis'=साँप अर्थात् सिकुड़कर कुंडली बनाने वाला। संस्कृत में इसी का एक धातु रूप 'पाप' के अर्थ में प्रयुक्त

हुआ है। तात्पर्य यह कि इस एक धातु से मानव मस्तिष्क में नाना-विचार उठे जिनमें एक ही अर्थ में प्राप्त होने वाले अनेक पक्ष सामने आते गये। संस्कृत में 'पाप' के लिए। अन्हस् शब्द प्रयुक्त होता है, यह इसलिए कि 'अम्ह्' धातु का अर्थ गला घोंटना भी है और उस समय, मनुष्यों के अनुसार पाप एक प्रकार से मनुष्य का गला ही घोंटता है। इसमें संदेह नहीं कि जिन व्यक्तियों ने 'लओकून' और उसके पुत्र की ऐसी प्रस्तर मूर्ति जिसको साँप ने सिर से पाँव तक जकड़ लिया था देखी होगी वे पाप के इस गलाघोंटी रूप को अवश्य समझ गए होंगे। ग्रीक भाषा में यही 'agos' (आगोस) हो गया जिसका अर्थ पाप है। गॉथिक में यही शब्द अपने agis रूप में पाया जाता है जिसका अर्थ 'भय' हो गया है। यही शब्द वहाँ से अंग्रेजी में आकर 'awe' (ऑ) है जो 'awful' डरावना और भयावक अर्थ में हमें प्राप्त हो जाता है। इसका एक रूप अँग्रेजी के 'ugly' का "अग" 'ug' भी है। अँग्रेजी का 'anguish' फ्रेंच के 'angoiss ' से ही निकला है, जिसका इटालियन रूप 'angoscia' है। ये सभी रूप लैटिन भाषा के 'angustiae' से निकले हैं जिसका अर्थ है 'सीधा'।

अब हमें देखना चाहिए कि प्राचीन विचारकों और भाषा का निर्माण करने वाले व्यक्तियों ने मनुष्य तथा पशुओं के बीच किस प्रकार भेद स्थापित किया? उन्होंने किस साधारण विचार को आधार मानकर अपनी स्वयं की कल्पना की? लैटिन में मनुष्य के लिए 'homo' शब्द प्रयुक्त होता है। यही शब्द फ्रेंच में 'l' homme' है जिसका एक रूप 'ondit' में 'on' रूप से उद्भूत है। उसी धातु से बना हुआ 'humus' (=भूमि), 'humilis' आदि में भी यह वर्तमान है। अर्थात् 'होमों' शब्द का अर्थ हुआ "वह जीव जो भूमि की धूल से बना है।"

संस्कृत में मनुष्य के लिए प्रयुक्त होने वाला दूसरा नाम 'मर्त्य' है। ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के कारण ग्रीक में यही 'brotos' हो गया। लैटिन में इसी का प्रतिरूप 'mortalis' तथा अँग्रेजी में 'mortal' बन गया। 'मर्त्य' का अर्थ है जो मरता है।' यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ प्रत्येक वस्तु मरने और रूप बदलने तथा परिवर्तित होने वाली है, वहाँ केवल मनुष्य को सभी प्राणियों से अलग करके यह 'मर्त्य, नाम दिया गया है। वे पुरातन मनीषी, मनुष्य को 'मर्त्य' नाम तभी दे पाये होंगे जबकि उन्होंने देवताओं के अमर होने पर विश्वास कर लिया होगा।

उस समय मनुष्य के लिए एक तीसरे शब्द 'thinker' का निर्माण हुआ जिसका अर्थ है विचारक या मनन् करने वाला। यह नाम मनुष्य के लिए एक उपाधि ही है जो आज भी 'man' शब्द में विद्यमान है। 'मा' शब्द का संस्कृत अर्थ 'माप करना है'। आपको स्मरण होगा कि मैंने इसी धातु से 'मून' शब्द की रचना की बात कही थी। संस्कृत में 'मन्' धातु का अर्थ मनन करना है जिससे आगे चलकर 'मनु' शब्द की रचना हुई जिसका मूल अर्थ मनन करने वाला या विचारक हुआ और बाद में फिर धीरे-धीरे मनुष्य भी हो गया। बाद में इस 'मन्' धातु से अनेक शब्द जैसे––मानव, मनुष्य, मानुष आदि बनाये गये। ये सभी शब्द भी मनन् करनेवाले का अर्थ रखते हैं। गॉथिक में हम 'man' तथा इसका 'mannisks' रूप में पाते हैं तथा आधुनिक जर्मन भाषा में भी 'mann' और इसका एक और रूप 'mensch' भी मिलता है।

पुरातन भाषा में जैसे अन्य सभी वस्तुओं के बहुत से नाम थे उसी प्रकार मनुष्य के लिए भी अनेक नाम मिलते हैं। किसी भी नाम रखने की भावना के पीछे यही दृष्टि रहती है कि उस विशिष्ट गुण को उस नाम विशेष में आबद्ध किया जा सके। सूर्य के विशेष गुणों को लेकर उसे चमकीला, गर्म, सुनहरा, रक्षक, ध्वंसक, भेड़िया, सिंह, स्वर्ग की आँख, प्रकाश और जीवन के पिता आदि नामों से सम्बोधित किया गया। यही कारण है कि हमें किसी भी वस्तु के लिए पार्यायवाची शब्द अधिक संख्या में मिलते हैं। और इसके साथ यह भी स्पष्ट लगता है कि इन शब्दों को अपने अस्तित्व रक्षण के लिए आपस में अधिक संघर्ष करना पड़ा होगा जिससे कमजोर शब्द नष्ट हो गये होंगे और शक्तिशाली, सार्थक, अधिक उपजाऊ शब्द विशिष्ट अर्थ के द्योतक होकर भाषा में स्थापित हो गये होंगे। उसी स्तर पर नामों या शब्दों के 'प्राकृतिक चयन' की यह प्रक्रिया लघु-रूप में आज भी आधुनिक भाषाओं में, यहाँ तक कि अँग्रेजी और फ्रेंच जैसी भाषाओं में क्रियाशील देखी जा सकती है। बोलियों के प्रथम विस्फोट के समय शब्दों की संख्या अथवा उनके पर्यायवाची रूपों की कल्पना 'वॉहेमर' के इस कथन से की जा सकती है कि अरबी की प्राचीन बोलियों में 'ऊँट' तथा उससे संबंधित अन्य शब्दों की संख्या ५७४४ थी।

यह तथ्य कि प्रत्येक शब्द मूलरूप में क्रियावाचक है तथा व्यक्तिगत धारणा का अर्थ-संकेत देने वाले शब्द साधारण विचारों से ही प्रसूत हैं, बिना किसी अपवाद के स्वीकार किया जा सकता है और यही बात भाषा-

विज्ञान के लिए एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। यह बात हमें पहले से ही ज्ञात है कि भाषा ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है। यह भी पहले से जाना जाता है कि सामान्य विचार को किसी विशिष्ट एवं सही भिन्नता के साथ अलग-अलग बाँटना ही मनुष्य और पशुओं की योग्यताओं को अलग-अलग बाँट देता है। किन्तु ये दोनों बातें एक तथ्य की दो अभिव्यक्तियाँ हैं, जिसे उस समय तक ज्ञात नहीं किया जा सका जब तक कि धातु सिद्धान्त को पूर्णरूप से 'ध्वनि नामकरण सिद्धान्त' एवं 'विस्मयसूचक ध्वनि सिद्धान्त' से अधिक महत्व नहीं दिया गया। इस बात से आधुनिक विद्वान् भले ही अपरिचित रहे हों पर इसे प्राचीन भाषा निर्माण करने वाले को जानना पड़ा था क्योंकि ग्रीक में भाषा का नाम 'logos' (लोगौस) है किन्तु लोगौस का अर्थ विवेकयुक्त बुद्धि भी है और इसीलिए पशुओं का नामकरण 'alogon (अ+लौगौन=विवेक बुद्धि रहित) चुना गया। मनुष्य के सिवाय न कोई जानवर विचार करता है और न बोलता है। भाषा और विचार आपस में अभिन्न वस्तुएँ हैं। बिना विचार शक्ति के शब्द मृत ध्वनियों के सिवाय कुछ नहीं हैं। विचारों का भी शब्दों के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। विचार करने का अर्थ मन में मौन रूप से बोलना ही है तथा बोलने का अर्थ ऊँचे स्वरमय शब्दों में विचार करना ही है। शब्द को हम विचार की मूर्ति कह सकते हैं।

और अब मुझे कम समय में अपनी पूरी बात कहने का भय हो रहा है। इसका कारण यह हैं कि इस सीमित समय में मुझे भाषा-विज्ञान के अंतिम प्रश्न को स्पष्ट करना है। प्रश्न यह है कि ध्वनियाँ विचार कैसे व्यक्त करती हैं ? धातुएँ किस प्रकार सामान्य विचारों की प्रतीक बन ? किस प्रकार माप करने का अमूर्त सूक्ष्म विचार 'माँ' धातु के आधार पर आकर मनुष्य के लिए 'मनन करने वाले' के अर्थ में आया और मनुष्य को 'man' कहा जाने लगा ? किस प्रकार ग-जाना, स्थॉ—खड़े रहना, सद्—बैठना, द्—देना, मर्—मरना, चर्—चलना, और कर्—करना—विचार व्यक्त करने में समर्थ हुए।

## ध्वन्यात्मक वर्ग के रूप में धातु

मैं उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर जितना कम संभव होगा उतने शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न करूँगा। विभिन्न भाषा परिवारों की भाषा के आधारगत तत्व-रूपों में ४०० या ५०० धातुएँ हैं जो न तो पशु-पक्षियों की ध्वनियों के अनुकरण से और न विस्मयसूचक ध्वनियों से उत्पन्न हुई हैं। ये ध्वनि-मूलक शब्द हैं जो मनुष्य की प्रकृति में निहित किसी शक्ति-स्रोत से उद्भूत हुए हैं।

प्लेटो के अनुसार ये धातुएँ प्रकृति की देन हैं, यद्यपि प्लेटो के अनुसार प्रकृति का अर्थ ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हैं। यह एक प्रकार का प्राकृतिक नियम है जो सर्वत्र लागू होता है कि किसी भी धातु में चोट करने से वह विभिन्न ध्वनियों के साथ झंकृत होती है। हम धातु के पोले या ठोस बर्तन को उस पर चोट करने से निकली हुई ध्वनि के आधार पर बता सकते हैं। इसे हमें स्वयं धातु द्वारा ध्वनि-रूप में दिया गया उत्तर समझना चाहिये। सोने की ध्वनि टीन की ध्वनि से भिन्नता रखती है, उसी प्रकार लकड़ी और पत्थर की ध्वनि में भी अंतर होता है और इसप्रकार विभिन्न ध्वनियाँ विभिन्न पदार्थ के दबाव पर निर्भर होती हैं। मनुष्य के विषय में भी यही बात कही जा सकती है जिसे प्रकृति ने सर्वोत्तम रीति से संगठित किया है। मनुष्य अपनी असभ्य एवं प्राकृतिक अवस्था में भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति पशुओं के समान न केवल विस्मय-सूचक शब्दावली के आधार पर और पशु-पक्षियों की ध्वनि के अनुकरण के आधार पर करता था बल्कि उस समय उसमें विवेक-बुद्धि जनित शक्ति भी थी जिसके आधार पर वह अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ था, यद्यपि यह शक्ति उसने स्वयं उत्पन्न नहीं की थी। प्रथमतः वह प्रकृति प्रदत्त थी और बाद में सहज प्रवृत्ति के रूप में वह मानव-मस्तिष्क में विकसित होने लगी जिसे किसी भी प्रकार से रोकना असंभव हो गया। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है वह इसी प्रवृत्ति से प्रादुर्भूत हुई। प्रकृत्ति के नियमों के अनुसार भाषा की उत्पत्ति के बाद उसे जन्म देने वाली कतिपय प्रवृत्तियाँ अनावश्यक होने के कारण अपने आप निःशेष हो गई ? इसप्रकार हमारे मस्तिष्क का रचनात्मक शक्ति-स्रोत जिसने अनेक धाराओं को ध्वनि-रूप में व्यक्त किया, वही ध्वनि अपनी उद्देश्य-पूर्ति के बाद मृत हो गई।

प्रारंभ में इसप्रकार की असंख्य ध्वनियाँ थीं लेकिन अपने संघर्ष कालोपरान्त अनेक असमर्थ ध्वनियों का अस्तित्व ही न रहा। यह ठीक उसीप्रकार हुआ जैसे कि प्रारंभ में प्रत्येक गुण का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक वस्तु के लिए अनेक शब्द आये और अपने अस्तित्व-रक्षण के संघर्ष में गत हो गये। इसीप्रकार ये धातुएँ पारस्परिक संघर्ष में अपनी-अपनी दुर्बलताओं से नष्ट हो गईं, केवल शक्तिमान या स्पष्टविचार व्यक्त करने की क्षमता रखने वाली धातु का ही अस्तित्व शेष रहा। डा० मरे ने नौ धातुओं से ही सम्पूर्ण भाषा-निर्माण की बात कही है जबकि डा० स्मिथ ने इसी बात के संदर्भ में केवल एक धातु के अस्तित्व की बात कह डाली। इन विद्वानों से सहमत न होकर हमें यह मानना चाहिए

कि आरम्भ में धातुओं का निर्माण बिना किसी अड़चन के होता रहा और इसके बाद धातुओं के आपसी संघर्ष में शक्तिशाली धातुएँ ही शेष रह पाईं और शेष गत हो गईं। कटी-छँटी धातुएँ धीरे-धीरे स्थिर हो गईं। दूसरे शब्दों में कुछ समय तक तो ये धातुएँ फलती-फूलती हुई अपने जीवन के बसंत में पहुँचीं और उसके बाद निरर्थक धातुएँ पतझड़ के समान झड़ गईं, केवल सार्थक धातुएँ ही स्थिर होकर सुरक्षित रह पाईं।

इन सार्थक ध्वनियों के अस्तित्व-रक्षण के बाद ही भाषा-विज्ञान में ऐतिहासिक तत्व का प्रादुर्भाव होता है। चीनी भाषा की तुलना प्रत्ययों एवं रूपावलियों वाली भाषा से करने पर, चाहे वह कितनी ही पुरातन क्यों न हो, किन्तु यह निश्चय है कि इस भाषा का रूप स्थिर होने से पूर्व इसकी धातुओं और शब्दों में परस्पर बड़ा संघर्ष रहा होगा, जिसके कारण ही इस भाषा के शब्द घिस मँज गये होंगे, यद्यपि चीनी भाषा में अनेक बातें केवल परम्परागत रूप से पाई जाती हैं। साधारण वाक्य का यह नियम कि, "प्रथम शब्द कर्त्ताकारक, द्वितीय क्रियासूचक एवं तृतीय कर्म होगा", परम्परागत है। यह केवल परम्परा ही है कि चीनी भाषा में 'ngo˘ gin' (न्गो जिन) का अर्थ बुरा आदमी है और जब यह रूप 'gin ngo' हो जाता है तो उसका अर्थ 'आदमी बुरा है', हो जाता है। चीनी लोग स्वयं पूर्ण एवं अपूर्ण धातुओं में भेद स्थापित करते हैं। पूर्ण धातुएँ क्रियावाचक शब्दों के विषय में होती हैं और अपूर्ण धातुएँ वे हैं जो उन शब्दांशों के विषय में होती हैं जिनके द्वारा पूर्ण धातुओं का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। वे उनके परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करती हैं। धातुओं का अपूर्ण या रिक्त रूप केवल परम्परा-बद्ध है जो रूढ़ होकर शेष रह गया है। चीनी भाषा की समस्त धातुएँ आरंभ में पूर्ण थीं चाहे वे क्रियावाचक हों या निर्देशक-सर्वनाम-वाचक। प्रगति की नाना अवस्थाओं को पारकर चीनी भाषा के आगे बढ़ने की बात को यह तथ्य स्पष्ट कर देता है कि इस भाषा की अपूर्ण या रिक्त धातुओं का मूल एवं उनका सम्बन्ध खोज निकालना आज असंभव है। चीनी के विद्वान् और साहित्य के टीकाकार हमें बताते हैं कि सभी अपूर्ण या रिक्त वाचक शब्द आरंभ में पूर्णरूप में थे, ठीक उसीप्रकार जैसे कि संस्कृत के वैयाकरणों का कथन है कि व्याकरण में अब जो रूढ़ हो गया है प्रारम्भ में वह सार्थक था। इस अवसर पर हमें इस सामान्य सिद्धान्त के आंशिक प्रमाणों पर ही संतोष करना पड़ेगा तथा चीनी के उसी प्रकार और उतने ही मनमाने व्युत्पत्तिजन्य शब्दों से भी संतोष करना पड़ेगा। एक तथ्य और दृष्टव्य है कि इस समय चीनी भाषा में हम

सभी धातुओं को अपनी इच्छानुसार पदार्थ वाचक या क्रियावाचक अथवा विशेषण रूप से प्रयुक्त नहीं कर सकते। साक्षीरूप में यह एक और प्रमाण है कि इसका कोई प्राचीनरूप भी रहा होगा जो प्रगति की नाना-स्थितियों से टकराता हुआ आज इस रूप में सुरक्षित है। चीनी भाषा में पिता को फु (fu) और माता को 'मु' (mu) कहते हैं और 'फुमु' का अर्थ माता-पिता हो जाता है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट है कि इसमें न तो 'फु' या 'मु' ही मूलगत धातु रूप से क्रियावाचक रूप में प्रयुक्त हुआ। यह एक जीता जागता उदाहरण है कि चीनी भाषा ने किस प्रकार विभिन्न स्थितियों से गुजरकर इस सीधे-साधे रूप को प्राप्त किया होगा, जहाँ आकर कुछ धातुएँ ही निश्चित अर्थ की सूचक बन गईं। यह तभी संभव हुआ होगा जब अनेक धातुओं के संघर्ष के बीच कुछ योग्यतम धातुएँ ही शेष बच रहीं जिन्होंने अपने अस्तित्व के लिए एक गहरे संघर्ष से निकल कर विजय पाई।

किन्तु धातुओं की यह परिचालित अवस्था और इससे भी अधिक इन धातुओं के मेल से बनी अनेक नवीन धातुएँ, प्रकृति या प्राकृतिक चयन का फल न थीं बल्कि वे सुविचारित और सुनिश्चित कला के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुईं जैसा कि हम पिछले भाषण में बता चुके हैं। इस बात के उदाहरण के लिए चाहे हम 'रफाएल' का एक सुन्दर चित्र ले लें या 'बीथोवेन' का एक स्वरबद्ध संगीत। मान लें कि हमें एक ऐसी धातु प्राप्त है जिससे हम उड़ना या पक्षी शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर सकते हैं और दूसरी ऐसी धातु है जिससे 'समूह' के अर्थ को संविहित कर सकते हैं, अब यह मनुष्य की बुद्धि की अपनी क्षमता ही होगी कि वह इन दो धातुओं के सम्मिलन से 'चिड़ियों के समाज' का बोध करा दे। इसी बात को हम अपनी घरेलू भाषा में व्यक्त करना चाहें तो कहेंगे कि दो और दो मिलकर चार होते हैं। कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि इस प्रकार के तथ्यों से कोई भी बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाती, बल्कि इस संदर्भ में यह रहस्य स्पष्ट करना अधिक आवश्यक है कि हमारा मन पदार्थों को किस प्रकार एकाकार करने की बात सोचता है या स्वीकृत पदार्थ को इकाई के रूप में देखने का प्रयत्न करता है। इस अवसर पर अधिक गहराई में जाकर बात को स्पष्ट करने का हमारा उद्देश्य नहीं है। प्रो० हेसे का मत है कि 'भाषा विकास के नाना रूपों का स्पष्टीकरण इस कथन के आधार पर ही किया जा सकता है कि ये भाषा के विकास की अवश्यम्भावी प्रगति के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुए और ये रूप मनुष्य की वाणी के भीतर स्थित सार-तत्व पर निर्भर

थे।' किन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। हम भाषा की प्रगति का परीक्षण कर सकते हैं और उसके विकास के स्वरूप को समझ और समझा सकने को स्थिति में भी हैं, किन्तु हम यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि जो कुछ भी है वह सभी आवश्यकता के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुआ और इस पर अन्य किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ा। यदि चीनी भाषा के समान हमारे पास भी समुदाय एवं परिमाण को द्योतित करनेवाले 'किआइ' एवं "तु" जैसे शब्द होते तो हम पूरी तरह से समझ जाते कि इनमें से पहला या दूसरा बहुवचन बनाने के लिए क्यों प्रयुक्त हुआ? जब इन दोनों में से कोई एक अपनी सीमाओं में रूढ़ हो जाता है और दूसरा शब्द लुप्त हो जाता है तो हम इसे ऐतिहासिक रूप में सुरक्षित भी कर सकते हैं, किन्तु संसार का कोई भी विज्ञान इस तथ्य की नितांत आवश्यकता की व्याख्या नहीं कर सकता।

हम यह भी भलीभाँति समझ सकते हैं कि कैसे दो धातुएँ, जैसे कि 'kuo' (=साम्राज्य) और 'cung' (=मध्य) को जोड़कर चीनी भाषा में 'kuo cung'='साम्राज्य में' बन जाता है। किन्तु यह कहना कि चीनी भाषा में इसीप्रकार से अधिकरण का रूप व्यक्त किया जाता है तथा यही सामान्य नियम है, तथ्य एवं तर्क दोनों के विपरीत हैं। हमें ऐसे बहुत से नियम ज्ञात हैं जो भविष्यत्काल के रूपों का निर्माण करते हैं। वे सभी बुद्धिगम्य और संभव हैं किन्तु उनमें से कोई भी अत्यंत आवश्यक नहीं कहा जा सकता। चीनी भाषा में 'Yao' (याओ) का अर्थ है 'इच्छा करना' और 'ngo' (न्गो) का अर्थ 'मैं' है अर्थात् 'नगो याओ' का अर्थ हुआ 'मैं चाहूँगा।' यही 'yao' धातु जब 'kiu' (किउ) में जोड़ी जाती है तो इसका रूप ngo yao kiu हो जाता है जिसका अर्थ होगा 'मैं जाऊँगा'। यही हमारे भविष्यत्काल का प्रथम रूप है। अब यह कहना कि ngo yao kiu भविष्यत्काल का एक आवश्यक रूप था--यह उसीप्रकार होगा जैसे भाषा में भी हम भाग्यवाद की सत्ता स्वीकार कर लें, जिसके लिये हमारे पास किन्हीं तथ्यों का आधार नहीं होगा। भाषा का निर्माण मधुमक्खियों के छत्तों के कमरों के निर्माण की तरह नहीं है और न यह सेन्टपीटर के गिरजे के निर्माण करने के समान ही है। यह तो असंख्य माध्यमों को अपनाकर किए गए कार्यों के परिणामस्वरूप है और ये माध्यम अपने-अपने निजी नियमों के आधार पर क्रियाशील होते हैं और अंत में जाकर ऐसे परिणाम हमारे हाथ आ जाते हैं जिनमें से निर्जीव और दुर्बल बातें लुप्त होकर शक्तिमान और

सार्थक तत्वों का ही अस्तित्व रहता है। चीनो भाषा के 'gin' (जिन=आदमी) और kiai (किआइ=बहुत) को मिलाकर 'gin kiai' बन गया जिसका अर्थ हुआ 'बहुत से आदमी'। हमने अपने द्वितीय भाषण में जिन दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनके अनुसार ग्रीक तथा संस्कृत भाषा के समस्त शुद्ध व्याकरणिक एवं प्रगति के सभी नियम हमारी समझ में आ जाते हैं। धातुओं के आगमन से पहले का सभी कार्य प्रकृति द्वारा प्रेरित ही माना जायगा किन्तु धातुओं के प्रवेश के बाद का समस्त कार्य, मनुष्य की अपनी क्रियाशीलता एवं विवेक-बुद्धि का फल ही है। यह कार्य वास्तव में किसी एक मनुष्य का न होकर उस सारे समाज की सम्मिलित क्रियाओं के सामूहिक विवेक की उपलब्धि ही है।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि संस्कृत और ग्रीक के सभी रूपों की व्याख्या हो गई है और वे समझा दिये गये हैं। ग्रीक लैटिन तथा अँग्रेजी भाषा में कुछ ऐसे रूप हैं जिनका परीक्षण एवं निरीक्षण करने के बाद भी विद्वान् अब तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। कुछ रूप तो अभी ऐसे रह गये हैं जैसे ग्रीक भाषा का 'वृद्धि' (augment) और हिब्रू भाषा में तीन अक्षर की धातुओं के स्वर का बदलना एवं टयूटानिक भाषाओं में स्वरपरिवर्तन आदि, जिनको देखकर हमारा मन यह सोचने को वाध्य होता है कि भाषा में विचारधारा के अनुरूप ही ध्वनि या संगीत के स्वरों का भेद भी स्थान पा गया होगा। किन्तु ये विचार तर्कशास्त्र की किसी आगमन पद्धति पर आधारित नहीं हैं। जर्मनभाषा में 'ब्रुडर' (bruder) शब्द का बहुवचन (brüder) होता है, अँग्रेजी में ब्रदर (Brother) का बहुवचन (Brethren होता है। ये रूप भाषा में कैसे प्रवेश पा गये, यह अब तक एक रहस्य की ही बात है। किन्तु आधुनिक भाषाओं के जिन रूपों की हम तर्कपूर्ण व्याख्या नहीं कर पाते तथा जो हमें कृत्रिम से लगते हैं, उन सभी के पुराने रूपों को जब हम देखते हैं तो इनके नये रूप हमारी समझ में धीरे-धीरे आने लगते हैं। 'u' (यु) जब अपना रूप 'ü' (यूह) में परिवर्तित कर देता है, जैसा कि (brüder) में हुआ है, तो यह किसी के सोच-विचार की क्रिया का परिणाम नहीं है और न यह बहुवचन को व्यक्त करने के लिए आविष्कृत ही किया गया है। इसे हम ध्वनि-परिवर्तन का ही प्रभाव मानते हैं जिसका कारण बहुवचन बनाने के लिए टयूटानिक भाषाओं के नामों के अंत में जोड़े जाने वाले i तथा j का प्रभाव ही है। इतना ही नहीं उसका

प्रभाव आज भी देखा जा सकता है। आज i या j जोड़कर बनने वाले बहुवचन के रूप लुप्त हो गए हैं। भाषाविज्ञान के एक नियम के अनुसार आज नये रूप अन्य रूपों के अनुकरण पर बन जाते हैं। जब हम प्राचीन नियमों को विस्मृत कर देते हैं और भूल जाते हैं कि अनेक रूप अनुकरण से बनते हैं तो कुछ शब्दों के संबंध में ऐसा लगता है कि इन्हें शायद भाषा न जानने वाले व्यक्तियों ने मनमाने तरीकों से बिना किसी तथ्य के आधार पर बनाया होगा। किन्तु तुलना-मूलक भाषा-विज्ञान का पंडित ऐसी बातें भी प्रकाश में ला सकता है और अकारण भ्रमपूर्ण रूपों की सही स्थितियों पर भी वह प्रकाश डालने में सक्षम होता है। इस बात पर विश्वास करने में कठिनाई होती है कि ग्रीक-भाषा में, प्रारंभिक काल में, वृद्धि, स्वतंत्र सार्थक शब्द था परन्तु सभी नियम इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। थोड़ी देर के लिये हम मान लें कि अँग्रेजी भाषा विक्लिफ से पहले लिपिबद्ध न की गई थी। ऐसी स्थिति में हमें कई ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ 'अ' जोड़ने से पूर्णभूत सम्पन्न होता था। विक्लिफ ने यही कहा और लिखा—I knowlech to a felid and seid thus इसका अर्थ है "मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे ऐसा लगा और मैंने यह कहा। इसी तरह आगे हमारे पढ़ने में आता है कि—"it should a fallen, जबकि होना चाहिये था—'It should have fallen। इँगलैण्ड के अनेक भागों में वहाँ का जनमानस आज भी इस 'a' का व्यवहार करता है—I should a done it. देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुछ पुरानी अँग्रेजी की पुस्तकों में यह 'a' क्रिया के साथ ही मिल जाता है तथा प्रायः इसे क्रिया के साथ मिलाकर प्रकाशित कर दिया जाता है। इसके आधार पर बनी व्याकरण में हम कहेंगे कि वर्तमानकाल का साधारणरूप to fall और भूतकाल का साधारण रूप to a fallen—कहा जाना चाहिये। मैं तो क्षणभर के लिए भी यह न चाहूँगा कि आप इस 'a' को जो कि have के स्थान पर पुरातन अँग्रेजी में उपयोग किया जाता था तथा ग्रीक वृद्धि के 'अ' (a) को, जो कि ग्रीक में भूतकाल के पहले लगाया जाता है, किसी प्रकार से संबद्ध मानें। इन सबके पीछे मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रीक-भाषा में भूतकाल में संयुक्त होने वाले 'अ' वृद्धि का यद्यपि अभी कोई संतोषजनक कारण नहीं मिला तो भी इससे हमें निराश होकर यह स्वीकार न कर लेना चाहिए कि शब्दों के रूपों के आरम्भ में कोई व्यंजन या स्वर अकारण ही जुड़ गया जोकि बीज-गणित के

अक्षरों के समान किसी के द्वारा वहाँ प्रस्थापित किया गया अथवा समाज ने आपस के परामर्श से इन वृद्धियों को शब्दारंभ में संयुक्त कर दिया जिससे यह ज्ञात हो कि कोई वृद्धि वर्तमानकाल तथा भूतकाल में परस्पर भेदस्थापित करने के लिए की गई है।

## भाषाओं की उत्पत्ति एवं भिन्नता

यदि तर्कशास्त्र की आगमन पद्धति का वास्तव में कोई महत्व है तो हम विश्वास करने के अधिकारी हैं कि जो तथ्य विस्तृत क्षेत्र में प्रमाणित हो चुके हैं एवं विशेष कर ऐसे स्थानों पर उनके प्रमाण अर्जित किये जा चके हैं जहाँ इनके मिलने की कोई भी संभावना नहीं की जा सकती थी तो भाषा के संबंध में हमारी बात सामान्यरूप से सत्य सिद्ध होती है। भाषा के यथार्थ स्वरूप को प्रमाणित करने के लिये हमें न तो किसी नैसर्गिक शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता है और न किसी पुरातन ऋषि अथवा महर्षियों की सभा बुलाकर परामर्श लेने की आवश्यकता है, क्योंकि हम जानते हैं कि भाषा में जो कुछ सहज स्वीकार्य है वह नाना जातियों की एकरूपता, उनकी क्रियाशीलता और मनुष्य के मस्तिष्क का बौद्धिक प्रतिफलन ही है। प्रारंभिक काल में प्रकृति की प्रेरणा से या मानव-प्रवृत्तियों के कारण जो वाणी अस्तित्व में आई वह उस समय के नाना-जातिकुलों में अल्पाधिक मात्रा में भिन्नता के साथ उच्चरित हुई और यदि इस तथ्य की पूर्ण खोज की जा सके तो उस स्थिति में हम यह कह सकने योग्य होंगे कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। वैसी स्थिति में हम न केवल भाषा की उत्पत्ति का मूल स्रोत ही प्राप्त कर सकेंगे बल्कि उसके साथ यह भी ज्ञात कर सकेंगे कि एक ही भाषा अपने आवश्यक भिन्नताओं से उत्पन्न बोलियों के बहुत से रूपों में कैसे फैली। तब हम इस बात का अनुभव भी कर सकेंगे कि एक ही भाषा की शब्द-सम्पत्ति में तथा व्याकरण में कितना ही वैभिन्न्य क्यों न हो, एक भाषा-परिवार की मूल-भाषा समान ही रही होगी।

इसप्रकार भाषा-विज्ञान हमें उस ऊँची चोटी पर पहुँचा देता है जहाँ से हम पृथ्वी पर मनुष्य जीवन के उषाकाल के दर्शन करने में अपने आपको समर्थ पाते हैं और जहाँ हमें यह बात पहले की अपेक्षा अधिक नैसर्गिक एवं बोधगम्य प्रतीत होने लगती है कि पुरातनयुग में एक ही भाषा प्रचलित थी।

----

# परिशिष्ट १

मूल पुस्तक में अनेक ऐसी पादटिप्पाणियाँ हैं जो हिन्दीपाठकों के लिए अनावश्यक एवं अनुपयोगी हैं। इन्हें छोड़ दिया गया है। केवल आवश्यक टिप्पाणियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

## अध्याय १

पृ०१८ पं० २९ १ मिथ्रिडेट्स, यह प्रसिद्ध विद्वान् 'आडलुंग' की कृति है। इसमें संसार की प्रायः सभी ज्ञात भाषाओं के समान अर्थ वाले शब्द संग्रहीत किए गए हैं।

'मेज़ोफान्ति' एक प्रसिद्ध बहुभाषाविद् हैं।

पृ०१९ पं० २६ २ मैक्समूलर ने संसार की भाषाओं की संख्या नौ सौ दी है किन्तु इस सम्बन्ध में इधर जो अनुसन्धान हुए हैं उनसे ज्ञात हुआ है कि उपभाषाओं अथवा बोलियों को छोड़कर यह संख्या दो सहस्र के लगभग है। इनमें से प्रसिद्ध तथा प्रधान भाषाओं का तो थोड़ा बहुत अध्ययन अवश्य हुआ है किन्तु आज भी एशिया, अमेरिका, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के दुर्गम प्रदेशों एवं द्वीपों की अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जिनका नाम मात्र का ही अध्ययन हुआ है।

## अध्याय २

पृ०२२ पं० ६. डा० ह्वेवेल ने भाषाविज्ञान को आदिकाल के (Palaitiological) विज्ञानों के अन्तर्गत स्थान दिया है, किन्तु आप ने आदिकाल के विज्ञानों को भी दो श्रेणियों में विभक्त करते हुए, इनमें, अन्तर दिखलाया है। इनमें से प्रथम श्रेणी में भूविज्ञान (जिआलोजी) एवं अन्य विज्ञानों का स्थान है और इनका सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से है। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे विज्ञान आते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य की कल्पना एवं सामाजिक उपलब्धियों से है। भाषाविज्ञान का स्थान वस्तुतः इस दूसरी श्रेणी में है। आपने दूसरी श्रेणी के विज्ञानों को भौतिक विज्ञानों की परिधि से बाहर रखा है किन्तु इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य व्यक्त

करते हुए आप लिखते हैं— हमने अपने शोध का आरम्भ इस विश्वास से किया है कि भौतिक विज्ञानों के विषय में सत्य का हम जो स्वरूप प्राप्त कर सकेंगे तथा इस स्वरूप को प्राप्त करने में जिस पद्धति का अवलम्बन करेंगे उसे दूसरे प्रकार के विज्ञानों में भी लागू कर सकेंगे। दूसरे शब्दों में यह पद्धति सदाचार, राजनीति एवं भाषाविज्ञान-विषयक खोजों में भी उपयोगी सिद्ध होगी। हमने पूर्ण विश्वास के साथ यह आशा व्यक्त की थी और इन विज्ञानों की उन्नति देखते हुए हमारी यह आशा सही सबित हो रही है। हमने यह अनुभव किया है कि इस पद्धति का अनुसरण करते हुए हम जीवविज्ञान से मनोविज्ञान की ओर गए हैं और इसप्रकार भौतिक विज्ञान की ओर से अभौतिक विज्ञान के पथ पर अग्रसर होने के कार्य का समारम्भ हो गया है। अब हम स्पष्ट रूप से यह अनुभव करने लगे हैं कि मनुष्य की अपार्थिव प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो उन्हीं नियमों से शासित होते हैं जिनसे भौतिक विज्ञान शासित होता है। यहाँ पर हम भविष्य की उन सम्भावनाओं पर विचार करना उचित नहीं समझते जिनका द्वार हमारे सिद्धान्तों के कारण उन्मुक्त हुआ है, किन्तु भौतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों पर विचार करते हुए हम अपनी यात्रा के उस पड़ाव पर पहुँच चुके हैं जहाँ उत्साह एवं प्रेरणा की किरणों का प्रकाश पड़ रहा है, भले ही यह प्रकाश मन्द हो, किन्तु यह उच्चतर तथा अधिक प्रकाशमान प्रदेश से आ रहा है।—

Indications of the Creator P. 146.

पृ०६३ पं० १२ मार्श ने अपने अंग्रेजी भाषा सम्बन्धी भाषण (लेक्चर्स ऑन द इंगलिश लैंग्वेज पृ०१२०,१८१) में अंग्रेजी लेखकों के साहित्य में उपलब्ध सैक्सन तथा लैटिन शब्दों के अनुपात के विषय में गहराई से विचार किया है। डा० जे० एम० वेस्से ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित आँकड़े प्रस्तुत किया है।

नोहा द्वारा सम्पादित वेब्सूटर डिक्शनरी (सन् १८६१) के आधार पर यह शब्द संख्या इसप्रकार है:—

| | |
|---|---|
| ग्रीक-लैटिन शब्द | ५५,५२४ |
| गॉथिक-जर्मेनिक | २२,२२० |
| (अधिकांश एंग्लो सैक्सन शब्द) | |
| केल्टिक | ४४३ |
| स्लावानिक | ९८ |
| सामी (हिब्रू तथा अरबी) | १७२४ |
| | ८०००९ |

वाकरकृत उच्चारण कोष (प्रोनाउन्सिंग डिक्शनरी, १८५२) के अनुसार यह संख्या इसप्रकार है:—

| | |
|---|---|
| ग्रीक-लैटिन शब्द | ५६,१०८ |
| गॉथिक-जर्मेनिक " | २१७७७ |
| केल्टिक " | ७६१ |
| सामी " | ७६८ |

टॉमस शा (आउट लाइन्स आव इंगलिश लिटरेचर पृ० ४४के अनुसार अंग्रेजी में ३८००० शब्द हैं। एक अन्य लेखक के अनुसार अंग्रेजी भाषा में शब्दों का अनुपात निम्नलिखित है :—

| | |
|---|---|
| संज्ञा | २०,५०० |
| सर्वनाम | ४० |
| विशेषण | ९२०० |
| क्रिया | ८००० |
| अव्यय | २६०० |
| उपसर्ग | ६९ |
| संयोजक | १९ |
| विस्मयादिबोधक | ६८ |
| आर्टिकिल | २ |
| | ४०४९८ |

ऊपर के आँकड़े बहुत पुराने हैं। आज तो अंग्रेजी की शब्दसम्पदा बहुत अधिक है।

## अध्याय ३

पृ० ७० पं० १४ इस कथन से यह स्वीकार करना तो कठिन ही हो जाता है कि ग्रीक दर्शन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव पड़ा होगा। कहा जाता हैकि सिकन्दर के साथ प्रसिद्ध दार्शनिक एवं इतिहास का पंडित पिर्हॉन (Pyrrhon) भी आया था और उसके दर्शन पर बौद्धक्षणिकवाद-दर्शन का प्रभाव पड़ा था, किन्तु भाषा की अबोधगम्यता देखते हुए इसे सहजरूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं प्रतीत होता

पृ० ७६ पंक्ति २७, इस सम्बन्ध में देखिए मौम्सेन कृत "रोमिशे गेशिश्ते" (Romische Geschichte) पृ०१९७ लैटिन वर्णमाला सिसली की आधुनिक वर्णमाला के समान ही है। इसीप्रकार एट्रुस्कन (इटली के एक क्षेत्र की लिपि जो अब लुप्त हो गई है) वर्णमाला प्राचीन ऐटिक (ग्रीस के एक प्रदेश) वर्णमाला के समान है। लैटिन में 'अक्षर' के लिए 'एपिस्टोला' 'कागज' के लिए

'कार्टा' तथा 'लेखनी' के लिए 'स्टिलुस्' शब्द व्यवहृत होते हैं। ये सभी शब्द ग्रीक से लिए गए हैं।

ग्रीक के कई शब्द इटली की भाषा लैटिन में आ गए हैं। इसका भी उल्लेख मौम्सेन ने किया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं :—

| ग्रीक | लैटिन | अर्थ |
| --- | --- | --- |
| स्तातेर | स्तातेर | तराज़ू |
| मेकानै | माखिना | मशीन |
| नोमौस | नुमुस | चाँदी का सिक्का |
| ग्नोमा | ग्रोमा | गज़ |

पृ० ७७ पं० २५ 'सायबिला' या 'सिबुल्ला' लैटिन के 'साबुस्' या 'साबिउस' शब्द का लघुरूप है। यद्यपि यह शब्द प्राचीन लेखकों के ग्रन्थों में कहीं उपलब्ध नहीं होता तथापि इटली की बोलियों में यह शब्द अवश्य रहा होगा। फ्रेंच शब्द 'साज़' (sage) की व्युत्पत्ति न तो लैटिन के 'सापिएन्स' (sapiens) से मानी जा सकती है और न 'सापिउस्' (sapius) से ही। यह शब्द इटली की बोली के 'साबुस' या 'साबिउस' से ही व्युत्पन्न होगा। डिएज़ ने अपने प्रसिद्ध व्युत्पत्ति कोश Lexicon Etymologicum के पृष्ठ ३०० पर 'सापिउस्' शब्द दिया है। यह शब्द 'नेसापिउस्' में वर्तमान है। यहाँ 'ने' नकारार्थक उपसर्ग है और 'नेसापिउस' का अर्थ है 'अ-विद्वान्' या मूर्ख। 'ने' को पृथक् कर देने पर 'सापिउस्' का अर्थ स्पष्टरूप से विद्वान् होगा। 'साबिला' या 'सिबुल्ला' का सम्बन्ध इसी शब्द से है अतएव इसका अर्थ "एक ज्ञानी बूढ़ी स्त्री" था।

पृ० ८० पं० ८ मौम्सेन कृत ऊपर का ग्रंथ खण्ड १ पृ०८४३, १९४। कई विद्वानों को इस बात में सन्देह है कि 'एनियस' की कृति 'एपिचैमुस' या 'एपिकैमुस' की कृति का अनुवाद है।

## अध्याय ४

पृ०९७पं०१४ हेरोडोटस के अनुसार एओलिअन तथा अयोनियन जातिओं का पुराना नाम पेलास्गी था। उसने पेलोपोनिसस् एवं उसके द्वीपों के निवासी एओलिअन तथा अयोनिअन को पेलास्गी नाम से अभिहित किया है। उसने यह भी बताया है कि उस युग में क्रेस्टोन, प्लाकिआ और स्काइलाके के लोग बर्बर भाषा बोलते थे। उसके अनुसार ऐटिक लोग भी पेलास्गी जाति के ही थे, किन्तु चूँकि उनकी मातृभाषा बर्बर थी इसलिए उन्होंने इसका परित्याग कर दिया था।

देखो Diefenbach, Origines Europaeae P 59. Dionysius Halicar nassus ) 1—17 । हेली कार्नस् इस कठिनाई से अपने को बचाने के लिए कहता है कि पेलास्गी आदि से यूनानी जाति थी, किन्तु यह उसका अपना सिद्धान्त है। होमर के अनुसार पेलास्गी लोग बर्बर थे, किन्तु इसके विपरीत स्ट्राबो बहुत सावधानी से कहता है कि इन लोगों को बर्बर की श्रेणी में नहीं गिनना चाहिए।

पृ० ९९ पं० २२ बौलस्टात का काउण्ट अलबर्ट (सामान्य रूप से वह अल्बर्टुस मैगनुस् के नाम से विख्यात है) आधुनिक विज्ञान का उन्नायक था। वह लिखता है—"परमात्मा ने मनुष्य को आत्मा दी है और इसके साथ-साथ उसे बुद्धि भी प्रदान की है जिससे मनुष्य परमात्मा को पहिचानने के लिए इसका उपयोग करे। परमात्मा आत्मा द्वारा पहिचाना जाता है और उसकी पहिचान का उपाय इसके साथ ही बाइबिल पर विश्वास है।" पुनः वह एक अन्य स्थान पर लिखता है—"परमात्मा की महिमा और उसके यशोगान के लिए तथा अपने भाइयों के हित के लिए हम भगवान् की सृष्टि की प्रकृति का अध्ययन करते हैं। समस्त प्रकृति में तथा सभी जीवों में हम जो रचना-कौशल या सामंजस्यपूर्ण संग्रथन देखते हैं उससे भगवान् के बनाये नाना रूपों की महिमा का गान कर सकते हैं और हमें यह करना भी चाहिए।'

पृ० ९९ पं० २३. केप्लर द्वारा लिखित "Harmony of the world" के अन्त के शब्द इस प्रकार हैं— "हे भगवन्! तूने प्रकृति की ज्योति से हमारी आत्मा के भीतर अपनी करूणा का दीपक जलाया है, ताकि हम उठ खड़े हों तथा तेरी महिमा की ज्योति का दर्शन करें। तुझको बार-बार धन्यवाद है। हे सृष्टिकर्ता तथा प्रभो! तू मुझे अपनी सृष्टि से आनन्द प्राप्त करने का अवसर दे रहा है। सब भाइयो देखो! मैंने भगवान् द्वारा प्रदत्त बुद्धि की शक्ति से अपने जीवन का काम पूरा कर लिया है। हे परमात्मन्! मैंने मनुष्य के सम्मुख तेरी सृष्टि की महिमा का गान किया है और जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, मैंने तेरी अनन्त महानता का यशोगान किया है। मैंने अपने आचरण की शुद्धता तथा आत्मा के विश्वास के साथ, अपनी इन्द्रियों को सजग रखकर जहाँ तक मेरी शक्ति थी, वहाँ तक शोध करने का प्रयत्न किया है। यदि मैंने जो तेरे महान् नेत्रों के सम्मुख एक क्षुद्र कीट हूँ तथा पापपूर्ण अस्थियों के साथ जन्म लिया हूँ, कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न की हो, जो तेरे आदेशों के विरुद्ध हो तो मुझे अपने तेज से प्रेरित कर कि मैं ऐसी अशुद्धि को शुद्ध कर सकूँ। यदि तेरी सृष्टि की आश्चर्यमय सुन्दरता से प्रभावित होकर मुझमें यह साहस आया

कि मैं कुछ कार्य करूँ तथा यदि मैंने मनुष्यों के बीच आदर प्राप्त करने की इच्छा की तथा मैं उस कार्य में आगे बढ़ा, जिसका परिणाम तेरी ही पूजा करना था, तो हे भगवन्! अपनी करुणा एवं मुक्तहस्तता के कारण मुझे क्षमा कर और अपनी दया से मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर कि तेरी कृपा से मेरा ज्ञान तेरे यशोगान में भाग ले और सब मनुष्यों की भलाई करने में सफल हो। हे स्वर्गीय सामंजस्य और समन्वय! हे मनुष्यो! जो इस नूतन सामंजस्य को समझने लगे हो तो भगवान् की महिमा गाओ। हे मेरी आत्मा! केवल भगवान् का गुणगान कर और जब तक मैं जीवित हूँ तब तक केवल उसी का गान कर। उस ईश्वर के भीतर ही सब कुछ है, भले ही वह भौतिक पदार्थ हो या आध्यात्मिक। हमारा सब ज्ञान, जिसे हम जानते हैं और हमारा वह ज्ञान, जिसे हम अब तक नहीं जानते, उसके भीतर ही है, क्योंकि अभी बहुत ऐसे काम करने शेष हैं जिन्हें हम अभी तक नहीं कर सके।"

ऊपर के शब्द इस कारण महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं कि ये उस व्यक्ति द्वारा लिखे गए हैं जिसको ईसाई पादरियों ने जन्मभर नास्तिक समझकर महान् कष्ट दिया। इस पर भी इस वीर ने अपने को ईसाई धर्म का पक्षपाती बताने में कभी लज्जा न की।

पृ० १०० पं० १० सोलहवीं शताब्दि में भाषाविज्ञान पर लिखे गए निम्नलिखित ग्रंथों के नामों का उल्लेख पादरी हर्वास ने अपने कैटलाग (i,37) में उद्धृत किया है—Introductio in chaldaicam Linguam, Siriacam, atque Armenicam, et decem alias, a Theseo Ambrosio, Papiae, 1539, 4 to. De Ratione communi omnium Linguarum et Litterarum commentarius, á Theodoro Bilbliandro, Tiguri, 1548, 4 to. इसमें ईसाइयों के प्रभु की प्रार्थना (लार्ड्स प्रेयर) को चौदह भिन्न भाषाओं में अनूदित किया गया है। बिबलैंडर ने वेल्श तथा कोर्निश भाषा को ग्रीक से व्युत्पन्न बताया है। उसके अनुसार इन देशों में, ग्रीक भाषा, फ्रान्स के मारसेल्स नगर से होकर आई थी। उसका कथन है कि आर्मीनियन और चाल्डी (खल्दी) भाषा में बहुत कम अन्तर है। उसने पोस्टेल नामक एक लेखक का उद्धरण दिया है जिसमें तुर्कों को आर्मीनियनों का इसलिए वंशज बताया गया है क्योंकि आर्मीनिया में तुर्की भाषा बोली जाती है। उसके अनुसार ईरानी लोग सैम के वंशज हैं और फारसी का सम्बन्ध सीरियक एवं हिब्रू भाषाओं से है। वह सर्वियन तथा जार्जियन भाषाओं को भी ग्रीक से प्रसूत मानता है।

सोलहवीं शताब्दि में भाषाविज्ञान सम्बन्धी जो ग्रंथ प्रकाशित हुए थे उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—Periom, Dialogorum de Linguae Gallical Origine ejusque cum Graeca cognatione, libri quatuor, Parisiis, 1554. लेखक का कथन है कि बाइबिल में उल्लिखित बुर्ज़ (मीनार) से जो बहत्तर भाषाएँ निकलीं उनमें फ्रेंच भाषा का नाम नहीं मिलता अतएव वह ग्रीक से प्रादुर्भूत होगी। वह सीज़र के ग्रंथ De Bello Gallico vi, 14 से उद्धरण देते हुए लिखता है कि द्रुइद लोग ग्रीक बोलते थे और इनकी भाषा से ही फ्रेंच प्रसूत हुई थी।

फ्रेंच विद्वान् आँरी एस्तीएन (1528-1598) ने एक अत्यधिक प्रामाणिक ग्रंथ का प्रणयन किया है। उसके ऊपर यह मिथ्या आरोप लगाया गया है कि उसने फ्रेंच को ग्रीक से व्युत्पन्न बताया है। देखिए उसकी पुस्तक Traictê de la Confermitê du Langage Francais avec le grec यह पुस्तक सन् 1566 ई० में प्रकाशित हुई थी। यह मुख्यतया रचना एवं व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथ है। इसमें ग्रीक तथा फेंच वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा यह प्रमाणित किया गया है कि एक ओर जहाँ ग्रीक के वाक्य जटिल एवं दुरूह हैं वहाँ उन्हीं के फ्रेंच प्रतिरूप नितान्त सरल हैं।

बिबलैंडर ने सन् १५४८ ई० में, ईसाई धर्म की 'प्रभु की प्रार्थना' को चौदह विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित कराया। सन् १५९१ ई० में रांखा (Roccha) नामक पादरी ने उसे छब्बीस भाषाओं में प्रकाशित किया (Bileliotheca Apostolica vaticana, á Frate Angelo Roccha, Romae, 1591, 4 to) सन् १५९२ ई० में "प्रभु की यह प्रार्थना" मेगीसेरुस नामक पादरी ने चालीस विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित कराई। (Specimen XL Linguarum et Dialectorum ale Hieronymo Megisero á diversis auctoribus collectarum quibus Coratio Dominica est expressa, Trancofurte', 1592); इसी पादरी ने सन् १५९३ ई० में प्रभु की यह प्रार्थना पचास विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित कराई। (Coratio Dominica L. diversis Linguis, cura H. Megiseri, Francofurti, 1593, 8 vo)।

पृ० १०० पं० १६-सत्रहवीं शताब्दि के आरम्भ (सन् १६१९ई०) में क्लाड ड्यूरे ने अपने Tresor de l' Histoire des Langues de cet Univers. ग्रंथ का प्रकाशन किया था। हर्वास के अनुसार अपनी इस

कृति में भाषाओं के सम्बन्ध में वही भूल की है जो सोलहवी शताब्दि के पोस्टेल बिबलैंडर एवं अन्य विद्वानों ने की थी।

ड्यूरे के पूर्व एस्तिनेगिशार (Guichad) ने अपना L' Harmonie Etymologique des Langues hebraique, chaldaique, syriaque—greque—latine, Francoise, italienne, espagnole—allemande, Flamende angloise etc, Paris, 1606 ग्रंथ प्रकाशित किया था।

हर्वास ने इसके द्वितीय संस्करण को देखा था। यह पैरिस से सन् १६१८ ई० में प्रकाशित हुआ था। हर्वास का अनुमान है कि इसका प्रथम संस्करण सन् १६०८ ई० में हुआ था। पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि आज जिन भाषाओं को हम सेमेटिक 'हेलेनिक' (ग्रीक) इटैलिक तथा केल्टिक नामों से अभिहित करते हैं ये चारों गिशार को ज्ञात थीं तथा इनमें जो पारस्परिक अन्तर था उससे भी वह परिचित था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वह ग्रीक को हिब्रू से व्युत्पन्न मानता था।

पृ० १०० पं० २५ आइ० स्कैलिगर ने अपनी पुस्तक Diatriba de Europaeorum Linguis opuscula varia, Parisiis, 1610।

पृ० ११९ में ग्यारह भाषाओं के नाम का उल्लेख किया है। ये हैं—लैटिन, ग्रीक, ट्यूटनिक, स्लावोनिक, एपिरोटिक या अल्बैनियन, तातारिक, हुंगेरियन, फिन्निक, आयरिश, वेल्श तथा ब्रिटेनी की वेल्श तथा बास्क या कैण्टेबेरियन।

## अध्याय ५

पृ० ११९ पं० ६ पालि को 'जिनवचन' अथवा 'बुद्धवचन' भी कहा जाता है। इसे मगध की भाषा अथवा मागधी के नाम से भी अभिहित किया जाता है (देखो महावंस पृ० २५१—२५३) क्योंकि लोगों का विश्वास है कि महिन्द मगध से ही मूल त्रिपिटक सीलोन ले गया था। बौद्ध धर्मावलम्बी इसे 'मूल भाषा' भी कहते हैं। इनके अनुसार संसार की अन्य भाषाएँ इसीसे प्रसूत हुई हैं। पालि शब्द का प्रयोग ये भाषा के अर्थ में नहीं अपितु 'बुद्धवचन' अथवा त्रिपिटक के लिए करते हैं। इसी अर्थ में ये 'तन्ति' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। (देखो, D' Alwis, Pali Grammar, P. V)। पुनः देखो, Barthelemy St. Hilaire, in his report on Grumblot's collection of Buddhist MSS., published in the gournal des Savants, 1886; p. 26 of the seperate edition

## अध्याय ६

पृ० १३० पं० ५. मिलाओ, काल्डवेलकृत "द्रविड़ भाषाओं का व्याकरण" (ड्रैविडियन ग्रामर, द्वितीय संस्करण, पृ० ९१)। इस विद्वान् के मतानुसार 'तोकेइ' संस्कृत के 'शिखिन' शब्द का अपभ्रष्ट रूप नहीं हो सकता क्योंकि 'शिखिन' के लिए तमिल में 'सिगि' शब्द उपलब्ध है। 'तोगेइ' शब्द का प्रयोग कन्नड, तेलुगु या मलयालम में नहीं मिलता। द्रविड़ भाषाओं के पंडित डा० गुण्डर के अनुसार 'तोगेइ' शब्द 'तो' या 'तू' धातु से व्युत्पन्न है। इसमें 'न्गु' प्रत्यय जोड़कर तमिळ में 'तोन्गु' शब्द निर्मित होता है जिसका अर्थ है 'लटकना'। इसी से तमिळ में 'तोन्गल' शब्द बनता है जिसका अर्थ है, 'मयूर-पुच्छ'। मलयालम में 'तोन्गल' शब्द 'पंख' अथवा 'कर्णाभूषण' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसमें 'केइ' या 'गेइ' प्रत्यय जोड़कर 'तोगेइ' शब्द बनता है जिसका अर्थ है, 'लटकनेवाला' अथवा 'पुच्छ'। यदि यह व्युत्पत्ति सही है तो इससे तमिल की प्राचीनता की सम्पुष्टि होती है जो आर्यो के आगमन के पूर्व भारत में प्रचलित थी। डा०गुण्डर ने मयूर के लिए तमिळ के 'मयित' (=नीलगृह) शब्द की ओर इंगित किया है और इसी से 'मयूर' की सम्भावित उत्पत्ति बतलाई है। 'मयूर' शब्द वेद में भी प्रयुक्त हुआ है।

पृ० १३४ पं०१० बेन-अल्-अदमी के अनुसार सिंद हिंद का अर्थ संक्रांति-काल है। कोलब्रुक का अनुमान है कि यह संस्कृत शब्द सिद्धान्त है तथा उसके कथनानुसार इसके संस्कृत मूल ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धान्त रहा होगा। मो० रेनो ने अपने ग्रंथ Memoire Sur L. inde के पृष्ठ ३१२ में तारीख-अल-हुकमा से निम्नलिखित उद्धरण दिया है— 'भारत से १५६ हिजरी (७७३ ई०) में एक परम पंडित बगदाद पहुँचा। वह अपने देश के ज्योतिष-सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित था। उसे तारों की गति का पूर्ण ज्ञान था। गणित से ग्रहण निकालना भी वह जानता था तथा उसे राशिचक्र का भी ज्ञान था। उसने एक ज्योतिषग्रंथ का संक्षिप्त रूप तैयार कर रखा था। मूल ग्रंथ राजा फिगार का लिखा था। इसमें मिनटों के हिसाब से 'क्रमज्या' का अनुमान लगाया गया था। खलीफा ने आज्ञा दी कि इस ग्रंथ का अनुवाद अरबी में किया जाय ताकि अरब के मुसलमान आकाशीय पिण्डों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकें। अनुवादकार्य इब्राहीम-अल-फजारी के पुत्र मुहम्मद को सौंपा गया। यह पहला मुसलमान था जिसने गणित ज्योतिष के प्रगाढ़ अध्ययन में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। कुछ समय के बाद इस पुस्तक का नाम बदलकर वृहत् सिद-

हिंद (वृहत सिद्धान्त ?) रखा गया। अल्बेरूनी के अनुसार यह अनुवाद सन् ७७१ ई० में हुआ था।

पृ० १३५ पं० २९ इस विषय के ग्रंथ के लेखक का 'सालोतर' नाम कहीं नहीं मिलता। राजा राधानाथ कृत "शब्द कल्पद्रुम" में सालोतरीय नाम मिलता है जो सम्भवतः शालातुरीय के स्थान पर आया है, किन्तु शालातुरीय पाणिनि का एक नाम है और सुश्रुत के गुरु दिवोदास का भी यही नाम बताया जाता है। प्रो० वेबर ने अपने "कैटलाग आव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट" पृ० २९८ में बताया है कि यह सालोतर वास्तव में शालिहोत्र होगा। यह नाम 'पंचतंत्र' में आया है और इसे पशु चिकित्सा का एक प्रसिद्ध वैद्य बतलाया गया है। इस पशु चिकित्सक के नाम का उल्लेख गर्ग ने अपने अश्वायुर्वेद में भी किया है। औफरेष्ट ने एक पुस्तकालय में शालिहोत्र द्वारा लिखित एक वैद्यक की पुस्तक का पता लगाया है। शालि नाथ द्वारा रचित एक आयुर्वेद की पुस्तक का नाम फोर्ट विलियम कालेज की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की सूची के पृष्ठ २४ पर पाया जाता है। पशुचिकित्सा पर चाणक्य द्वारा लिखित एक ग्रंथ का उल्लेख हाजी खलीफा ने पृष्ठ ५९ पर किया है। अरबी ग्रंथों की एक सूची में जो सन् ९८७ ई० में तैयार की गई थी, एक अरबी अनुवाद के नाम का उल्लेख है जो चरकसंहिता के फारसी अनुवाद का अरबी तर्जुमा था। इसका उल्लेख अल्बेरूनी ने भी किया है और बताया है कि यह अनुवाद बर्मिकिडीज़ के लिए किया गया था। जिन विद्वानों द्वारा इस ग्रंथ में उपलब्ध ज्ञान परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ था उनके नाम अल्बेरूनी ने इस प्रकार गिनाये हैं —ब्रह्मन्, प्रजापति, अश्विनौ, इन्द्र, अत्रि ऋषि के पुत्र और अग्निवेश। इस विषय में विलसन द्वारा सम्पादित 'अष्टांगहृदय' की भूमिका का पृष्ठ २९८ देखिए।

पृष्ठ १३६ पं० २० बाइबिल (न्यूटेस्टामेण्ट) के अनुवाद के विषय में देखें इलियट कृत हिस्टोरियन्स आव इंडिया पृ० २४९।

पृष्ठ १३६ पं० २१ देखो, इलियट कृत हिस्टोरियन्स आव इंडिया पृ० २५९, २६० बदायूं के शाह मुल्ला अब्दुल कादिर मलूक ने 'तारीख़े बदायूनी' या 'मुन्तख़बुत तवारीख़' नामक अपना ग्रंथ सन् १५५५ई० में समाप्त किया। यह ग्रंथ गज़नवी के समय से लेकर अकबर के राजत्वकाल के चालीसवें वर्ष का इतिहास है। लेखक अन्धविश्वासी कट्टर मुसलमान था और यद्यपि अकबर के उपकारों के लिए वह उसका अत्यधिक ऋणी था तथापि उसने अकबर की अत्यधिक कटु आलोचना की है। अकबर ने उसे अरबी और संस्कृत ग्रंथों के फारसी में अनूदित करने के कार्य पर नियुक्त किया था। उसने वाल्मीकि-

रामायण का फारसी अनुवाद सम्पन्न किया था। इसीप्रकार उसने महाभारत के अठारह पर्वों में से आदि के दो पर्वों को फारसी में अनूदित किया था तथा कश्मीर के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा भी तैयार की थी। किन्तु यह कहना कठिन है कि यह अनुवाद- कार्य किसने तथा कैसे सम्पन्न किया था। अब्दुल क़ादिर ने लिखा है कि उसकी सहायता के लिए विद्वान् ब्राह्मण नियुक्त किए गए थे। (देखो, इलियट कृत हिस्टोरियन्स आव इंडिया भाग ५ पृष्ठ ५३७)। इस बात के सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि अकबर के दरबारियों में से किसी को संस्कृत अथवा साहित्यिक या बोल-चाल की हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। (देखो, अल्बेरूनी का भारत, सम्पादक सचाउ पृष्ठ XXII)। चूँकि जिन लोगों के नाम संस्कृत ग्रंथों के अनुवादक के रूप में दिए गए हैं वे कतिपय संस्कृत पंडितों के आश्रयदाता थे तथा ये अरबी-फारसी अनुवाद के लिए ज़िम्मेदार थे अतएव यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्यों एक ग्रंथ के अनुवादक के रूप में तीन-चार व्यक्तियों के नामों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार महाभारत के अनुवादकों में अब्दुल क़ादिर, नकीब खाँ, शेख मुहम्मद सुल्तान थानेसरी तथा अकबर के मंत्री अबुलफज़ल के भाई फैजी के नाम मिलते हैं। हर्वास ग्रंथावली, खण्ड २ पृष्ठ १३६ में लिखा हुआ है—"अकबर का मंत्री अबुल फज़ल अमरसिंह (कोश) तथा महाभारत का बड़ा मान करता था और सन् १५८६ ई० में उसने इनका फारसी में अनुवाद कराया था।"

पृष्ठ १३६ पं०२४ हाजी इब्राहिम सरहिन्दी के विषय में देखो, मैक्समूलर कृत हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर पृ०३२७।

पृष्ठ १३७ पर फैज़ी के संस्कृत-अध्ययन के सम्बन्ध में जो कहानी दी गई है उसके लिए देखो, अबेबर्नाल द्वारा फ्रेंच में लिखित पुस्तक का जे० जुस्टामों द्वारा किया हुआ अनुवाद "पूर्वी भारत तथा वेस्ट इंडीज़ में यूरोपियनों की बस्तियों का इतिहास"। यह अनुवाद डबलिन में सन् १७७६ में मुद्रित हुआ था। देखो खंड १, पृष्ठ ३४।

पृ० १४० पं०७ यह नया या चतुर्थवेद (यजुर्वेद) राबर्टो डी० नोबिली द्वारा लिखित नहीं है। इसका लेखक सम्भवतः उसके द्वारा ईसाई धर्म में दीक्षित कोई हिन्दू है। यह संस्कृत में, पुराणों के रूप में, श्लोक-बद्ध है। इसमें हिन्दू एवं ईसाई धर्मों के विचारों का सम्मिश्रण है। इसका फ्रेंच अनुवाद वॉलटेयर के पास भेजा गया था और उसने सन् १७७८ ई० में इसे पेरिस से प्रकाशित कराया था। इसका नाम रखा गया था, "ल'एजुर् वेदम्' एक ब्राह्मण द्वारा संस्कृत से अनूदित।" वॉलटेयर ने इसकी भूमिका में लिखा है कि सिकन्दर

के भारत आक्रमण के चार सौ वर्ष पूर्व इसकी रचना हुई थी। यह वह अनमोल रत्न है जिसके लिए यूरप भारत का चिर ऋणी रहेगा। इसकी मूल संस्कृत प्रति श्री एलिस को पांडीचेरी में मिली थी। (देखो, एशियाटिक रिसर्चेज़, खंड १४)। इसे रॉबर्ट द्वारा लिखित बताने का कोई कारण नहीं है और न इसका उल्लेख ही उसकी ग्रंथावली में है।

पृ०१४१ अठारहवीं शती के संस्कृत के ज्ञाता योरोपीय विद्वानों में श्री मार्शल (सन्१६७७ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। यह अंग्रेज था तथा इसने संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया था। (देखो, इलियट कृत हिस्टोरियन्स आव इंडिया पृ० २६५)।

पृ० १४५ कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के निम्नलिखित प्रकाशन उल्लेखनीय हैं :—

विलकिन्स द्वारा भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद सन् १७८५; उन्हीं द्वारा हितोपदेश का अनुवाद सन् १७८७; विलियम जोन्स द्वारा शकुन्तला का अंग्रेजी अनुवाद सन् १७८९ ई०; एस० बार्टोलोमियो द्वारा प्रकाशित मूल संस्कृत व्याकरण, सन् १७९० ई० तथा सन् १८०४ ई०; कोलब्रुक द्वारा प्रकाशित मूल संस्कृत व्याकरण सन् १८०५ ई०; केरी द्वारा प्रकाशित व्याकरण, सन् १८०६ ई०; विलकिन्स कृत १८०८ ई०; फौर्स्टर कृत सन् १८१० ई०; येट्स कृत सन् १८२० ई० तथा विलसन कृत संस्कृत-व्याकरण का प्रकाशन सन् १८४१ई० में सम्पन्न हुआ था। इसी प्रकार जर्मनी में, बॉप्प ने अपना संस्कृत-व्याकरण सन् १८२७, १८३२एवं १८३४ में तथा बेन्फे ने सन् १८५२ एवं सन् १८५५ में प्रकाशित कराया था।

पृ०१४७ हालहेड ने सन् १७७६ ई० में "द कोड आव जेन्टू लाज़" (The code of Gentoo Laws) नामक ग्रंथ प्रकाशित किया था। यह संस्कृत में लिखित स्मृतियों का अंग्रेजी अनुवाद है। इस ग्रंथ के संकलन में ग्यारह पंडितों से सहायता ली गयी थी। यह कार्य वारेन् हेस्टिंग्स के आदेश से सम्पन्न हुआ था।

पृ० १४९ लार्ड मोन्बोड्डो के अनुसार भाषा के आविष्कर्ता मिस्र देश के असुर राजा थे। अपने ग्रंथ Ancient Metaphysics भाग ४ पृ० ९७ में लिखते हैं:—

"मेरी यह मान्यता है कि बिना दैवी शक्ति के भाषा उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव मैंने यह स्वीकार किया है कि यह मिश्र के असुर राजाओं द्वारा उत्पन्न की गयी क्योंकि वे मानव से अधिक शक्तिमान थे। उन्होंने सर्व प्रथम स्वयं

बोलना सीखा और तदुपरांत उन्होंने अन्य मनुष्यों को इसे सिखाया। किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उन राजाओं में भी भाषण-कला का स्फुरण शनैःशनैः हुआ और संस्कृत जैसी भाषा तत्काल उत्पन्न नहीं हुई।

## अध्याय ७

पृ० १५३. पं० १३ फ्रैंसिस बॉप्प के इस तुलनात्मक व्याकरण का नाम 'कंजुगेशन सिस्टम' था तथा सन् १८१६ ई० में यह फ्रैंकफुर्ट से प्रकाशित हुआ था।

पृ० १५३ पं०१७. इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण सन् १८५६ में प्रकाशित हुआ था। यह अभिनव संस्करण प्रथम की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध था। यह अपने युग का महान् ग्रंथ था। यद्यपि बॉप्प की अनेक प्रतिज्ञाएँ एवं व्युत्पत्तियाँ बाद में अशुद्ध सिद्ध हो गईं तथापि इस ग्रंथ का आज भी ऐतिहासिक महत्त्व है। ज्ञान के क्षेत्र में यह प्रक्रिया इसी रूप में क्रियाशील रहती है।

पृ० १५४ पं० ८. पॉट की कृति का दूसरा संस्करण १८५९ से १८७३ तक हुआ। उसकी अन्य कृति 'जिप्सी लोगों की भाषा' (The Language of Gipsies) का प्रकाशन सन् १८४६ में तथा 'व्यक्तिवाची नामों' (Proper Names) का प्रकाशन सन् १८५६ में हुआ था।

पृ० १६३ पं० १८. यद्यपि फ्रिजियन भाषा के प्राचीन हस्तलिखित कागज-पत्र एवं ग्रंथ प्राचीन जर्मन की अपेक्षा मध्यकालीन जर्मन भाषा से अधिक मिलते हैं तथापि इन पत्रों और ग्रंथों से फ्रिजियन भाषा और पुरानी लगती है क्योंकि यह प्राचीन उच्च जर्मन भाषा से मिलती जुलती है। फ्रिजियन लोग अपने राजनैतिक इतिहास में और जातियों से अलग रहे तथा उन्होंने बड़ी ही उदारता के साथ अपने परम्परागत रीति रिवाजों से प्रेम रखा। इस कारण उनकी भाषा में प्राचीनता की यथेष्ट सुरक्षा हुई है। चौदहवीं शती के बाद फ्रिजियन भाषा की प्राचीन शब्द रूपावली बहुत विकृत होने लगी थी किन्तु हम देखते हैं कि बारहवीं तथा तेरहवीं शती में जो फ्रिजियन भाषा लिखी जाती थी वह नवीं और दसवीं शती की ऐंग्लोसेक्सन भाषा के टक्कर की है।

देखो, Grimm German Grammar (1st ed) Vol. i. p. ixviii.

निस्सेन (Nissen) ने अपने Friske Findling शीर्षक लेख

(प्रकाशन १८७३) में उत्तरी तथा पश्चिमी फ्रिजियन की सात बोलियों के मुहावरों का संग्रह किया है। ये सात उत्तरी फ्रिजियन बोलियाँ हैं —

Karrharder, Moringer; Wiedinger, Sylter, Amrumer, Hattstedter, Brecklumer। बाद में उसने इसमें एक आठवीं बोली को भी सम्मिलित कर लिया था जो Ockholmer नाम से अभिहित की जाती थी। लेखक ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इनमें से कतिपय बोलियाँ अति शीघ्रता से समाप्त हो रही हैं।

पृ० १७२ पं० २९ जिस जाति को 'वल्लाख़ियन' नाम से अभिहित किया गया है वह स्वयं अपने को रोमानीय कहती है तथा उसकी भाषा रोमानियन कहलाती है। यह रोमान्स भाषा बल्लाख़िया, मौल्दाविया, हुंगरी के कुछ भागों, ट्रान्सिलवानियाँ तथा बेस्साराबिया में बोली जाती है। डैन्यूब नदी इस बोली को दो भागों में विभक्त करती है। इनमें से एक भाग का नाम है उत्तरी अथवा डेको रोमानी तथा दूसरे भाग का नाम है दक्षिणी अथवा मैकेडो रोमानी। इनमें से प्रथम में अन्य भाषाओं का कम मिश्रण है और यह साहित्यिक रूप में भी प्रयुक्त होती है। दूसरी में अल्बानीय तथा ग्रीक भाषाओं के अनेक शब्द प्रविष्ट हो गए हैं तथा इसका व्याकरणीय रूप भी अस्थिर ही है।

आधुनिक रोमानियन भाषा रोमन राज्य के डाकिया प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा की पुत्री है। डाकिया प्रदेश के मूल निवासियों को थ्रैकियन नाम से अभिहित किया जाता था। इनकी भाषा इलिरियन थी। किन्तु आज हमें प्राचीन इलिरियन के ऐसे नमूने प्राप्त नहीं हैं जिनसे हम इस बात का पता लग सकें कि ग्रीक अल्बानीय अथवा अन्य भाषाओं से इसका क्या सम्बन्ध था?

ईस्वी सन् २२९ वर्ष पूर्व में, रोमन लोगों ने इलिरिया को अधिकृत कर लिया। ईसा के ३० वर्ष पूर्व इन्होंने मोएसिआ को जीता तथा सन् १०७ ई० में त्रायन नामक राजा ने डाकिया को रोमन राज्य का एक प्रान्त बना लिया। इस समय थ्राकियन लोग सर्माशियन, विशेष रूप से यजीग जाति के लोगों के आक्रमण के कारण अपने देश से बाहर चले गए। रोमन उपनिवेशवादियों ने यहाँ अपनी भाषा लैटिन का भी प्रचार किया तथा २७२ ई० तक डाकिया रोमन राज्य का एक प्रान्त बना रहा। इसी समय यहाँ गॉथ लोगों का आक्रमण हुआ और तब रोमन सम्राट् औरेलियन इसे उन्हें समर्पित कर दिया। ४८९ ई० में स्लावोनिक जातियाँ मोएसिया और थ्राकिया में जा बसीं। ६७८ ई० तक में ये मोएसिया में भलीभाँति बस गईं। इसके अस्सी वर्ष बाद

मैसेडोनिया में एक प्रान्त बनाया गया तथा इसका नाम स्लाविनिया रखा गया। यही आज का स्लोवेनिया है।

पृ० १७५ पं० ९ 'केल्ट' केल्टिक भाषा का शब्द है। ग्रीक में इसके लिए 'केल्ताई' एवं 'केल्तोई' दो शब्द मिलते हैं। 'केल्तोस्' प्राचीन गाल भाषा का शब्द है और इसके अर्थ हैं– उच्च, सीधा, अभिमानी। लैटिन में इसी अर्थ में 'केल्सुस्' तथा 'एक्सकेल्सुस्' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

देखो Gliick in Kuhn's Beiträge Vol. V. P. 97.

वही पं० १८ वेल्श के लोग अपने को 'किम्री' तथा आपनी भाषा को 'किमरैग' कहते हैं।

वही पं० २२—पुरानी आयरिश भाषा में आयरिश लोग अपने को 'गैडिल' या 'गोइडिल' नाम से अभिहित करते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें 'गाल' तथा इनकी भाषा को 'गैलिक' नाम से भी संबोधित करते हैं।

पृ० १८१ चाकनी तथा अन्य मुसलमान लेखकों ने ज़ेन्द-अवेस्ता नाम दिया है जिसे अब बदलना कठिन है। पारसी लोग स्वयं अवेस्ता तथा ज़ेन्द शब्दों का प्रयोग करते हैं। इनमें से अवेस्ता पहलवी 'अवस्ताक्' से प्रसूत है और यह 'टेक्स्ट' के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार ज़ेन्द या जन्द शब्द इस टेक्स्ट के पहलवी भाष्य के लिए प्रयोग में आता है।'

जे० मूलर के अनुसार अवेस्ता या अवस्ताक् शब्द उसी धातु से प्रसूत है जिससे संस्कृत का अवस्था शब्द प्रादुर्भूत हुआ है और इसका कृदन्तीय रूप अवस्थित है। इसकी व्युत्पत्ति के अनुसार अवेस्ता शब्द का अर्थ 'निश्चित टेक्स्ट' अथवा पवित्र धर्मग्रन्थ होगा। प्रो० हाउग ने इसे 'आ-विद' शब्द से व्युत्पन्न माना है तब इसका अर्थ संस्कृत शब्द वेद की भांति 'ज्ञान' होगा। किन्तु 'अविस्ता' तथा 'अवेस्ता' का वास्तविक अर्थ होगा 'घोषित' ज़ेन्द शब्द वास्तव में 'ज़ैन्ति' का अपभ्रष्ट रूप है और यह 'ज्ञाति' ग्रीक 'गुवतिस्' का प्रतिरूप है। यह शब्द ज़ेन्द में आज़ैन्ति तथा पुरानी फारसी में आज़न्दा के रूप में सुरक्षित है। इसका अर्थ व्याख्या अथवा भाष्य है और यह जिस भाषा में लिखा गया है उसके लिए प्रयुक्त नहीं होता। बाद में जब अवेस्ता को पहलवी में अनूदित किया गया तो ज़ेन्द शब्द का प्रयोग उस अनुवाद के लिए होने लगा और पहलवी शब्द का प्रयोग उस भाषा के लिए होने लगा जिसमें यह अनुवाद प्रस्तुत किया गया था (देखो हाउग कृत पहलवी पाज़ेन्द डिक्सनरी पृ० २३९)। जे० ओपट ने १८७२ के जुनाल एसियातिक के पृ० २५३ में अवेस्ता शब्द का सम्बन्ध फारसी के आवस्ता (=नियम) से जोड़ा है। उनके अनुसार यह

शब्द 'आ+ बक्स' से प्रादुर्भूत हुआ है। इस प्रकार उनके अनुसार आवस्ता का अर्थ होगा--वह जो निश्चित किया जा चुका है। उन्होंने यह भी दिखलाया है कि आवस्ता शब्द बेहिस्तुन के शिलालेख में नियम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु अभी तक अवेस्ता के अर्थ में इसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता। ज़ेन्द शब्द को उन्होंने 'ज़ैद' या 'ज़ैन्द' धातु से प्रसूत माना है और इसका अर्थ, -प्रार्थना करना है। यह भी बेहिस्तुन की पट्टिकाओं में मिला है अतएव इस शब्द का अर्थ हुआ प्रार्थना। किन्तु वास्तव में इस शब्द से हमारे ज़ेन्द शब्द से तात्पर्य नहीं है जिसका अर्थ 'भाष्य' है न कि 'प्रार्थना'--(देखो डारमेस्टर--Erudes Iraniennes ii. P. 9) ओपट ने अवेस्ता और ज़ेन्द शब्दों को नियम तथा प्रार्थना के अर्थों में ही ग्रहण किया था। अब जैसा कि डॉ०वेस्ट ने (Sacred Books of the East, V. P. X.) स्पष्ट किया है पहलवी अविस्ताक् शब्द आविद (=जानना) से ही प्रसूत है और ज़ेन्द शब्द पहलवी 'ज़ैन्ति' से निकला है। इसकी धातु 'जन्' है जिसका अर्थ ज्ञान अथवा जानना होता है। मैंने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'छन्दस्' से दी थी, किन्तु अब मुझे अपनी इस व्युत्पत्ति के प्रति कोई आग्रह नहीं है।

पृ०१८१ पं० १. किस्सए संजान, नामक पारसी ग्रंथ में, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अविश्वसनीय है, लिखा है कि पारसियों के संवत् यज्दगर्द के आरम्भ होने से ४९ वर्ष पूर्व (६३२ ई० या सन् ५८३ के आस पास) पारसी लोगों ने खुरासान में शरण ली और यहाँ ये लोग प्रायः सौ वर्षों (सन् ६८३ ई०) तक रहे। यहाँ से ये फारस की खाड़ी के निकटवर्ती नगर होरमज़ (=ओर्मुज़) चले गए जहाँ इनके निवास का काल पन्द्रह वर्षों का रहा। तदनन्तर सन् ६९८ में य बम्बई के निकट ड्यू नामक स्थान पर चले आए। यह काठियावाड़ के दक्षिणी-पश्चिम की ओर एक छोटा सा प्रायद्वीप है। यहाँ ये उन्नीस वर्षों अर्थात् सन् ७१७ ई० तक रहे और इसके बाद ये संजान नामक स्थान को गये। यह स्थान डामन से चौबीस मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ ये तीन सौ वर्षों तक रहे और इसके उपरान्त गुजरात के भिन्न-भिन्न स्थानों में फैलने लगे और अपनी पवित्र अग्नि के मन्दिर बलसाड़, सूरत के निकट नवसारी तथा बम्बई नगर में स्थापित किये। Bombay Quarterly Review, 1856, No. VIII p. 67

पृ० वही. आँकेतिल दुपाँ का जन्म सन् १७३१ ई० में पैरिस में हुआ था। वह सन् १७५५ ई० सें पाँडेचेरी आया था तथा सन् १७६२ ई० में पुनः

पैरिस लौट गया। सन् १८०५ ई० में उसका निधन हुआ था। उसने सन् १७७१ ई० में ज़ेन्दा-अवेस्ता का अनुवाद किया था।

पृ०१८३ पं० २२. यह मज़दाओ शब्द की बेन्फे की व्याख्या है। वर्नाफ़ के अनुसार यह दो शब्दो मज़ तथा दाओ का सामासिक शब्द है। इनमें मज़ का अर्थ महान् तथा दाओ का अर्थ है–ज्ञान। इस मत को स्पाईगल ने भी स्वीकार किया है (देखो––Commeatar iiher das Avesta Vol. I.P. 3) ऋग्वेद VIII. 20,17 में "यथा रुद्रस्य सूनवः दिवः वसन्ति असुरस्य बेधसः" मिलता है। क्या यहाँ मूलपाठ 'असुरस्यमेधसः' था ?

## आर्य शब्द की व्युत्पत्ति

आर्य शब्द संस्कृत भाषा का है और बाद की संस्कृत में इसका अर्थ श्रेष्ठ तथा श्रेष्ठवंश का व्यक्ति है। गुरु को सम्बोधित करते समय भी इस शब्द का प्रयोग होता है। मूलतः यह राष्ट्रीयवाची नाम था और इसीलिए मानव धर्म-शास्त्र में भारत को आर्यावर्त कहा गया है। पुरानी संस्कृत तथा वैदिक मंत्रों में राष्ट्रीय अर्थ में ही आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ उन लोगों के लिए आर्य कहा गया है जो वैदिक देवताओं की पूजा किया करते थे। इनके शत्रुओं को दस्यु नाम से अभिहित किया गया है। ऋग्वेद के इन्द्रसूक्त में इन्द्र को बारम्बार आर्य कहकर सम्बोधित किया गया है।

परवर्ती वैदिक साहित्य में आर्य शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों के लिए हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टरूप से कहा गया है कि ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य आर्य हैं क्योंकि उन्हें यज्ञ का अधिकार है। उन्हें केवल परस्पर ही वार्तालाप करना चाहिए।

आर्य शब्द वास्तव में अर्य शब्द से व्युत्पन्न है और परवर्ती संस्कृत में अर्य शब्द का प्रयोग वैश्यों के लिए होने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त बहुसंख्यक लोग अर्य ही थे और ये वैश्य कर्मी थे। ऐसा लगता है कि मूलतः इस शब्द का प्रयोग कृषकों तथा गृहस्थों के लिए होता था, किन्तु शनैःशनैः यह सामान्य अर्थ में राष्ट्रीय बन गया। गृहस्थों के लिए इस शब्द का प्रयोग क्यों होता था, इसकी व्याख्या कठिन है। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि यह शब्द संस्कृत के अर्-अरे धातु से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है––जो भूमि का कर्षण करता है। आर्य लोगों ने अपने को तुरस् लोगों से पृथक् करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया था। तुरस् का अर्थ है–– तेज घुड़सवार। इसी से तुरानियन शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, परवर्ती काल में आर्य शब्द का प्रयोग लोग प्रायः भूल से गए हैं और राष्ट्रीय नाम के रूप में इसका प्रयोग हमें "आर्यावर्त्त" में मिलता है, किन्तु ज़ेन्द-अवेस्ता के मानने वाले ज़रथुस्त्रीय धर्मावलम्बियों के ग्रन्थों में यह शब्द पूर्णरूप में सुरक्षित है, ज़ेन्द में 'अइर्‌य' शब्द का अर्थ एक ओर जहाँ पूजनीय है वहाँ दूसरी ओर यह एक जाति के लिए भी प्रयुक्त होता है। वेन्दिदाद के प्रथम अध्याय में अहुरमज़्दा ने जरथुस्त्र को यह बतलाया है कि किस प्रकर उन्होंने सोलह पवित्र देशों को 'एंग्रोमैन्युस' या 'अहरिमन्' ने अपवित्र बना दिया, इन देशों में प्रथम "अइर्‌यनेम बाएगो" मूल भूमि है। विद्वानों के अनुसार इस देश की सीमा पूरब में बेलुर्तग तथा मुस्तग पर्वतों की पश्चिमी ढाल है। यह मध्य एशिया का सबसे ऊँचा भाग है तथा यहीं से 'आक्सस' एवं 'याक्सर्टेज' नदियाँ निकली हैं। यह 'अर्यस' लोगों का मूल स्थान अथवा 'बीज-भूमि' है, यहां से 'अर्यस' दक्षिण तथा पश्चिम की ओर गए और ज़ेन्द-अवेस्ता के अनुसार इनके द्वारा अधिकृत सम्पूर्ण देश 'अइर्या' कहलाया। यदि भारत से पूरब, पारोपामिसुस तथा काकेसुस इडिकुस को लेते हुए एक रेखा उत्तर में आक्सस एवं याक्सर्टेज के बीच से खींची जाय और यह आगे कैस्पियन समुद्र की ओर बढ़ती हुई 'हिर्कानिया' एवं 'राघा' को अन्तर्भूत करे तथा पुनः यह दक्षिण-पूरब म 'निसाएरिया' (=हरिआ) तथा एटिमाण्ड्रुस और अराखोटस नदियों द्वारा प्रक्षालित प्रदेश को समाविष्ट कर ले तो यह सम्पूर्ण भूमि ज़रथुस्त्र वर्णित अयस् देश (=आर्य देश) की सीमा होगी। ज़ेन्द-अवेस्ता में आर्य-देश के विपरीत अनार्य देश का भी उल्लेख है, यह देश 'हिर्कानिआ' की सीमा पर स्थित है, ग्रीक भूगोलवेत्ता तो अरियाना (=आर्य प्रदेश) की सीमा और भी विस्तृत मानते हैं।

स्ट्रैबो के अनुसार दक्षिण में हिन्द महासागर पूरब में इंडस (= सिन्धु) उत्तर में हिन्दुकुश और पारोपामिसुस तथा पश्चिम कैस्पियन सागर का द्वार, करमानिया एवं फारस की खाड़ी का मुहाना वास्तव में अरियाना (=आर्य प्रदेश) की सीमा है और बैक्ट्रिया तो इसका मुकुटमणि है। जैसे-जैसे ज़रथुस्त्रीय धर्म पश्चिम में फारस, एलिमायिस तथा मिडिया की ओर बढ़ता गया, इन प्रदेशों के लोग भी अपने को आर्य कहने लगे। हिरोडोटस के पूर्व हेलानिकुसन ने फारस को अरिया कहा है, हिरोडोटस (VII६२) ने यह स्वीकार किया है कि 'मिडियन' लोग "अरी" नाम से अभिहित किये जाते थे। स्टेफनुस बाइज़ान्टिनुस ने तो मिडिया के सबसे उत्तरी भाग एट्रोपाटेन 'अरिआनिया' नाम दिया है। एलिमायिस् की व्युत्पत्ति विद्वान् 'अइलामा' से बताते हैं जो

'अइर्यामा' का अपभ्रष्ट रूप है। स्ट्रैबो के समय तक फारस, मिडिया, बैक्ट्रिया तथा सोग्डिया के लोग प्रायः एक ही भाषा बोलते थे अतएव अपनी शत्रु जाति के 'तुरानी' लोगों के विरुद्ध यदि ये अपने को एक ही नाम से अभिहित करते हैं तो यह बात सहज में ही आ जाती है।

डैरियस के वाणमुख के शिलालेखों से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि फारस के राज्य 'आर्यन्' शब्द गौरव के अर्थ में प्रयुक्त होता था, डैरियस ने अपने को 'अरिया' एवं 'अरियकित्र', अर्थात् आर्य एवं 'आर्यवंशी' कहा है। बिहिश्तुन के शिलालेख में 'अहुरमज़दा' को आर्यों का देवता बताया गया है। फारस के अनेक ऐतिहासिक नामों में आर्य शब्द प्रयुक्त हुआ है; डेरियस के वृद्ध प्रपितामह को इस शिलालेख में 'अरियरम्ना' कहा गया है। 'अरियो बर ज़ाने' (=Euergetes) 'अरियोमानेस' (=Eurmenes) एवं अरियोम-देसि में 'अरिय' (= आर्य) शब्द मौजूद है।

जिस युग में ये शिलालेख लिखे गये थे, उसी युग में, डामाकिउस के एक उद्धरण के अनुसार अरिस्टाटेल के एक शिष्य एउडेमास ने 'मगी' तथा सम्पूर्ण आर्य जाति के लोगों के विषय में विवरण प्रस्तुत किया है। यह विवरण ज़ेन्द-अवेस्ता के आर्य देश के विवरण के समान ही है।

और एक बार पुनः जब वर्षों के विदेशी आक्रमण एवं अधिकार से मुक्त होने के पश्चात् फारस में ससानीय राज्य-वंश की प्रभुता स्थापित होती है तब हम शिलालेखों में 'मस्दन' के पूजकों को, आर्य तथा अनार्य देश का सम्राट् घोषित करते हुए पाते हैं।

फ़ारस का आधुनिक नाम इरान आज भी इसके पुराने नाम 'आर्यान' का स्मरण दिलाता है।

स्थानीय नाम आर्मेनिया में भी 'आर्य' शब्द मौजूद है, ज़ेन्द भाषा में आर्मे-निया शब्द मिलता है और बिहिश्तुन शिलालेख में जो 'आर्मिना' शब्द मिलता है उसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। आर्मेनिया की भाषा में 'अरि' शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है और इससे आर्य एवं इरानी दोनों लोगों का बोध होता है। इसका एक अर्थ 'वीर' भी होता है और यह विशेष अर्थ में मिडियन लोगों के लिए भी प्रयुक्त होता है, यद्यपि आर्य शब्द 'आर्मेनिया' नाम में समाविष्ट नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय एवं प्रतिष्ठित अर्थ में यह कभी आर्मेनियन भाषा में अवश्य रहा होगा।

आर्मेनिया के पश्चिम कैस्पियन सागर की सीमा पर हमें 'अल्बानिया' का प्राचीन नाम मिलता है। आर्मेनियन लोग अल्बानिया वालों को 'अघोवन'

नाम से अभिहित करते हैं। बोरे का अनुमान है कि आर्मेनियन में 'र' या 'ल' के स्थान में 'घ' प्रयुक्त हुआ है, इसप्रकार 'अघोवन' में 'अरिया' शब्द समाविष्ट है। यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है, किन्तु काकेशस पर्वत की तराई में आर्यभाषा 'ओसेति' के बोलने वाली एक 'ओस' जाति मिलती है और ये अपने को 'इरान' नाम से अभिहित करते हैं।

कैस्पियन के तटवर्ती एवं आक्सस और यक्सर्टेज नदियों से सिंचित प्रदेश में आर्य एवं अनार्य लोग शताब्दियों से साथ-साथ रहते आये थे, यद्यपि आर्य एवं तुरस् लोगों में शत्रुता थी और जैसा कि फ़ारसी के प्रसिद्ध महाकाव्य शाहनामा में वर्णित है। इनमें निरन्तर युद्ध भी होते रहते थे तथापि इससे यह तात्पर्य नहीं है कि आर्य प्रदेश में भी घुमन्तू जातियाँ निवास करती थीं वे सभी तातार रक्त एवं तातार भाषा भाषी थीं। तूरानी लोगों के प्रतिनिधि 'तुर्वस्' एवं उनके वंशजों को भारतीय महाकाव्यों में अभिशप्त एवं वहिष्कृत माना गया है, किन्तु वेदों में तुर्वस् लोगों को आर्य देवताओं का पूजक बतलाया गया है। शाहनामा के अनुसार भी कभी-कभी फ़ारस के वीर तूरानी लोगों के पक्ष में जाकर उन्हें इरानी लोगों पर आक्रमण करने के लिए उसी प्रकार उकसाते थे जैसे कोरियोलानुस ने सैमनाइट लोगों को रोम पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीक लेखकों ने जिन अनेक तूरानी एवं सिदियन नामों का उल्लेख किया है उनमें क्यों आर्य भाषा के तत्व वर्तमान हैं। अश्व के लिए फारसी में 'अस्प' शब्द मिलता है और यह सीदियन नामों 'अस्पबोत', 'अस्पकार' एवं 'अस्परथ' में मौजूद है। सीदिया के 'अस्पसियन' पर्वत के नाम में भी जिसका टालेमी ने उल्लेख किया है, 'अस्प' शब्द उपलब्ध है। आक्सस नदी के उस पार भी 'आर्य' शब्द अप्रचलित नहीं है, उधर की दो जातियों के नाम 'अरियका' तथा 'अन्तरियानी' मिलते हैं। डैरियस के युग में एक सीदियन राजा का नाम 'अरिअन्वेस' मिलता है। जरकसीज़ के एक समसामयिक राजा का नाम अरिपिथेस (=संस्कृत आर्यपति तथा ज़ेन्द 'अइर्यपइति') मिलता है और 'स्पर्गपिथेस' का सम्बन्ध संस्कृत 'स्वर्गपति' से हो सकता है।

इसप्रकार आर्य नाम भारत के आर्यावर्त से लेकर अरिआन, फारस, मिडिया तथा सम्भवतः आर्मेनिया, अल्बेनिया, काकेनास के इरीन तथा ट्रान्सोखानिया के कतिपय घुमन्तू जातियों तक के नामों में मिलता है। जैसे-जैसे हम यूरप की ओर बढ़ते हैं आर्य नाम कम मिलता जाता है, किन्तु यह बिल्कुल नहीं मिलता, ऐसी बात नहीं है।

एशिया के 'अर्यस' लोगों के पश्चिम वहिर्गमन के दो मार्ग थे। इनमें से एक मार्ग, उत्तर में, खोरासन एवं रूस होते हुए कालेसागर के तट एवं थ्रेस को जाता था। दूसरा मार्ग काकेशस अथवा कालासागर होते हुए डैन्यूब नदी के मार्ग से जर्मनी की ओर जाता था। प्रथम मार्ग पर थ्रेस का पुराना नाम 'अरिया,' आर्यों के स्थानान्तरण का स्मरण दिलाता है। दूसरे मार्ग पर जर्मनी के पूर्व भाग में 'विश्चुला' के निकट 'अरी' नामक जर्मन जाति मिलती है और फ़ारस की भाँति जर्मनी में ऐसे अनेक नाम मिलते हैं जिनका आर्य शब्द से सम्बन्ध है। ऐसे ही नामों मे एक "अरियोविस्टुस "नाम भी है।

ग्रीक एवं रोमन लोगों के नामों में इस प्रा ीन राष्ट्रीय नाम का अवशेष नहीं मिलता। कुछ विद्वानों के अनुसार आर्यों के दूर पश्चिम के स्थानान्तरण के रूप में 'आयरलैण्ड' में यह नाम-तत्व वर्तमान है। एरिन (Erin) शब्द की सामान्य व्युत्पत्ति यह है कि यह पश्चिमी इअरिनिस् (iarinnis) अथवा इअरिन् का एक द्वीप है, किन्तु जहाँ तक इस के द्वितीय भाग इअरिनिस् अथवा 'इअरिन्' का सम्बन्ध है, यह व्युत्पत्ति स्पष्टतया अशुद्ध है। आयरलैण्ड का पुराना नाम 'एरिउ' (Eriu) कर्ताकारक का रूप है और इसका आधुनिक नाम 'एइरे' (Eire) है। केवल तिर्यक कारकों में ही लैटिन के 'regio', 'regionis' रूपों की भाँति अन्त में यहाँ 'न' (n) प्रयुक्त होता है। अतएव 'एरिन्' (Erin) वास्तव में 'एर्' (Er) अथवा 'एरि' (Eri) से ही प्रसूत है। यह आयरलैण्ड के पुराने केल्ट जाति का नाम है तथा यह एंग्लोसैक्सन में आयरलैण्ड बन गया है। श्री ओ'रेली (O' Reilly) के अनुसार एर् (er) शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है जो संस्कृत आर्य शब्द का भी है। कई विद्वान् श्री रेली की इस व्युत्पत्ति से सहमत नहीं हैं।

ऊपर प्रमाण-स्वरूप जो साक्ष्य दिये गए हैं उनमें से कई नितान्त निर्बल हैं और इनमें से सबसे निर्बल 'इंडिया' एवं 'आयरलैण्ड' शब्दों की एकरूपता सम्बन्धी है, किन्तु इस सम्बन्ध में मूल-भूत साक्ष्य ठीक ही हैं। देशों, जातियों, नदियों एवं पर्वतों के नाम अत्यधिक शक्तिशाली एवं सजीव होते हैं, अतएव ये चलते रहते हैं, किन्तु नगरों, राज्यों एवं राष्ट्रों के नाम परिवर्तित हो जाते हैं। रोम को प्राचीन लैटिन तथा सैबाइन अधिवासियों ने जो नाम दिया था वह आज भी प्रचलित है। इस 'रोम' नाम का तत्व रोमानिया रोमांश, रोमान्स भाषाओं एवं अरब लोगों द्वारा ग्रीक लोगों को प्रदत्त नाम 'रोमा' तथा रोमेलिया में मौजूद है। इन नाम सूत्रों के आधार पर हम यह तथ्य तत्काल जान सकते हैं कि लैटियम प्रदेश के दो वीरों, 'रोमुलुस' एवं 'रेमुस' के नामों के आधार पर

ही 'रोम' नाम रखा गया था और यही ऊपर के नामों में है। ज़ॅब नदी के ऊपरी मुहाने पर स्थित ध्वंस नगर आज 'निम्‌रुद' के नाम से अभिहित किया जाता है। अरब के भूगोलवेत्ताओं ने इसे 'अथुरा' नाम से अभिहित किया है। वास्तव में यह 'अथुर' प्राचीन 'असीरिया' का ही नाम है। डिओ कैसियस ने इसे 'अटीरिया' लिखते हुए यह टिप्पणी दी है कि बर्बर लोगों ने 'स' वर्ण को 'ट' में परिवर्तित कर दिया है; डैरियस के शिलालेख में 'असीरिया' को 'अथुरा' कहा गया है। हम लोग सतलज के युद्ध का नाम सुनते हैं, किन्तु हम यह नहीं जानते कि यह वही स्थान है जहाँ सिकन्दर ने पंजाब के राजाओं से युद्ध किया था। वास्तव में यह सतलज नदी ही सिकन्दर की हेसुड्रस तथा वैदिक युग की 'शतद्रु' है जिसके दोनों किनारों पर ईसा पूर्व में युद्ध हुआ था तथा जिसका वर्णन आज भी वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध है।

केवल समता के आधार पर ही भौगोलिक नामों को ठीक मान लेना उचित नहीं है। ग्रिम के अनुसार टैकिटस (Tacitus) का 'अरी' मूलतः 'हरी' था और इसका आर्य से कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु इस सम्बन्ध के दोनों पक्षों के साक्ष्यों का आधार अनुमान ही है अतएव अन्तिमरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस विषय में प्रत्येक भाषा के ध्वनि सम्बन्धी नियमों पर विचार करके ही निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ 'ग्रिम' ने अपने 'जर्मन भाषा के इतिहास' 'हिस्ट्री आवद जर्मन लैंग्वेज) पृष्ठ २२८ में 'हरिवा' को 'हेरात' का प्राचीनरूप माना है तथा इसका सम्बन्ध वाणमुख लिपि में लिखित शिलालेख में 'उपलब्ध' 'अरी' से जोड़ा है। हिरोडोटस के अनुसार यह 'अरी' ही मेडेस लोगों को दानरूप में दिया गया था, किन्तु 'हरिवा' का 'आर्य' के साथ समीकरण युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि 'हरिवा' के आदि में जो 'ह' है उसके लिए संस्कृत में 'स' वर्ण होना चाहिए न कि 'आर्य' का 'अ'। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य है :—

'हेरात' का एक नाम 'हेरात' तथा दूसरा 'हेरि' मिलता है तथा जिस नदी पर यह स्थित है उसे 'हेरि-रूद' के नाम से अभिहित किया जाता है। टालेमी ने 'हेरि' नदी का नाम 'अरेइअस' तथा अन्य लेखकों ने इसका नाम 'अरिउस' दिया है। वास्तव में 'अरिआ' पार्थिया में स्थित पश्चिम का वह देश है जिसके उत्तर में 'मार्गिआना' '(मर्धुना)' पूरब में बैक्ट्रिया (वखत्रिश) एवं अर्कोसिया (हरुवाटिश) तथा दक्षिण में ड्रागिआना (ज़र्का) है। स्ट्रैबो ने इसे 'अरियाना' नाम दिया है, किन्तु वास्तव में अरियाना इस राज्य का एक स्वतंत्र प्रदेश है, इस राज्य का नाम सम्भवतः 'हरैवा' (हरिवा) था जिसका

उल्लेख वाणमुख लिपि में लिखित अभिलेख में हुआ है। ज़ेन्द-अवेस्ता में 'हरोयु' नामक देश का नाम मिलता है। यह वह 'छठाँ' देश था जिसे अहुरमज़दा ने उत्पन्न किया था। इस नाम के उल्लेख करनेवाले ज़रथुस्त्र के अनुगामी कुछ समय तक उन लोगों के पूर्वजों के साथ भी रहे जिनके मंत्र वेदों में सुरक्षित हैं। बाद में ज़रथुस्त्रीय लोग 'अर्कोसिया' मीडिया एवं फारस की ओर स्थानान्तरण कर गये, किन्तु वैदिक लोग दक्षिण एवं पश्चिम की ओर बढ़ते गए। अपने स्थानान्तरण के समय ज़रथुस्त्रीय लोगों ने भी वही कार्य किया था जो बाद में ग्रीक लोगों ने किया था। जिसप्रकार ग्रीक एवं अमरीकी लोगों ने अपने उपनिवेशों तथा नये नगरों का वही नामकरण किया जहाँ वे पहले रह चुके थे, उसीप्रकार ज़रथुस्त्रीय लोगों ने भी अपने मार्ग के नगरों एवं नदियों का वही नामकरण किया जिनसे वे पहले से परिचित थे। चूँकि फारसी के 'ह' का रूप संस्कृत में 'स' होता है अतएव 'हरोयु' का संस्कृत रूप 'सरोयु' होगा। यह 'सरोयु' नाम वेदों में नहीं मिलता, किन्तु वैदिक युग के भारत की एक नदी का नाम 'सरयू' मिलता है जिसके तटपर 'अयोध्या' नगरी बसी थी और जो प्राचीन भारत की राजधानी थी। आज के अवध प्रदेश में इस नदी को 'सरजू' नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृत में 'जल' का एक पर्यायवाची शब्द 'सरस्' है। यह 'सर्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ सरकना, 'आगे बढ़ना' एवं दौड़ना है। इसी से 'सरित्' तथा 'सरिता' शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ नदी है। सम्भवतः 'सरयू' नदी के नाम के आधार पर ही 'हरोयु' का नामकरण हुआ था। इसी से 'अरिउस' या 'हरिरुद' एवं 'अरिया' या 'हेरात' नाम भी प्रसूत हुए होंगे। जो भी हो 'हेरात' के 'अरिया' नाम का आर्यों के देश से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आर्य शब्द को केवल भारत एवं फ़ारस की भाषाओं के लिए ही सीमित करना उचित नहीं है, भारत तथा फ़ारस की भाषाओं को 'इंडिक', 'इरानिक' या 'पर्सोएरियन' अथवा 'इंडोएरियन' के नाम से अभिहित किया जा सकता है, किन्तु आर्यवंश की समग्र भाषाओं के लिए लघुनाम के रूप 'आर्य' का प्रयोग ही युक्ति-युक्त है।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान की सहायता से प्राचीन नाम 'आर्य' की व्युत्पत्ति देते हुए हम लोग भारत से यूरप तक भ्रमण कर चुके। यह सर्वथा उपयुक्त है कि आर्यों की मूलभाषा को इंडोजर्मेनिक, इंडोयोरोपियन, काकेशियन तथा जैफेटिक न कहकर हम 'आर्य' ही कहें।

## आगस्ट फ्रेडरिक पॉट

भाषाविज्ञान के तीन संस्थापकों—बॉप, ग्रिम तथा पॉट—में पॉट अन्तिम व्यक्ति था। पॉट का निधन ५ जुलाई सन् १८८६ ई० में, पच्चासी वर्ष की अवस्था में, हाले में हुआ था। मेरे पास सम्प्रति ऐसा कोई भी सन्दर्भ ग्रंथ नहीं है जिससे मैं यह बता सकूं कि उसका जन्म कहाँ हुआ था, उसकी शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई थी, वह कब प्रोफेसर नियुक्त हुआ था तथा उसने कौन उपाधियाँ प्राप्त की थी। यद्यपि मैंने उनके सभी ग्रन्थों को पढ़ा है, किन्तु मैं उनका नाम देने में भी आज असमर्थ हूँ। किन्तु फिर भी मैं उसके प्रति अपना श्रद्धा संवलित आभार प्रदर्शित करना कर्तव्य मानता हूँ क्योंकि वह अपने सम्पूर्ण जीवन में एक पवित्र कार्य में संलग्न था और उसका यह कार्य था मानव प्राणी के क्षेत्र में शुद्ध एवं निश्चित ज्ञान की उपलब्धि। उसने अपने जीवन का आरम्भ हाले विश्व-विद्यालय में किया था और अन्त तक यहीं रहा। उसने जीवन भर ईमानदारी से कठिन श्रम किया था। उसका वेतन अल्प ही था, किन्तु उसके लिए वह पर्याप्त था। उसके समकालीन उसके कई सहयोगियों की पदोन्नति एवं वेतन वृद्धि हुई, किन्तु इसकी उसने कभी शिकायत नहीं की और न इससे विचलित ही हुआ; उसके अन्य मित्रों को उपाधियाँ मिलीं किन्तु उसके लिए केवल एक योग्यता की उपाधि ही (The order pourle Merite) थी जो गत वर्ष बहुत देर में मिली। उसके आस-पास न तो उसके सुयश की दुन्दुभी बजाने वाले मित्र एवं शिष्य थे और न उसने किसी स्कूल की ही स्थापना की जो प्रायः 'गुट' या तिकड़म का ही एक रूप होता है। उसे यह विश्वास था कि मित्रों एवं शिष्यों के जयघोष तथा शत्रुओं की कटु आलोचनाओं के बावजूद उसके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ ही उसके सर्वोत्कृष्ट स्मारक रहेंगे। वह अत्यन्त कर्मठ व्यक्ति था और उसके जीवन का एक मात्र मंत्र था—कर्म एवं कर्म। जीवन के अन्तिम क्षणों तक वह घोर परिश्रम करता रहा और अपने जीवन में उसने ज्ञान सम्बन्धी जो सामग्री एकत्र की थी उसे वितरित करता रहा।

भाषाविज्ञान जैसे प्रगतिशील विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाला विद्वान् पच्चासी वर्ष तक एक रस एवं रूप में नहीं रह सकता। इस सुदीर्घ काल में उसकी कई खोजें एवं पुस्तकें निश्चितरूप से पुरानी एवं अतीत की वस्तु बन जायँगी; किन्तु हमें अतीत तथा ऐतिहासिक वस्तुओं के अन्तर को भी स्पष्टतया हृदयंगम कर लेना चाहिए। पॉट द्वारा प्रणीत Elymologische Forschungen के प्रथम संस्करण में अनेक ऐसी अशुद्धियाँ हैं जिसे भाषा विज्ञान

के आरम्भिक अध्येता भी आज सहज में ही समझ जाते हैं, किन्तु ये अध्येता इस बात को प्रायः भूल जाते हैं कि ये अशुद्धियाँ अनिवार्य ही न थीं अपितु प्रशंसनीय भी थीं। चित्रलिपि के शिलालेख के प्रारम्भिक गूढ़ वाचकों को हम इसलिए दोष नहीं देते कि उनकी कई आरम्भिक व्याख्याएँ अशुद्ध अनुमानों पर आधारित थीं। हम उनके सही अनुमानों की प्रशंसा करते हैं और उनकी अशुद्धियाँ भी हमारे लिए अत्यन्त शिक्षाप्रद होती हैं। जो लोग पॉट के आरम्भिक ग्रन्थों को पुराना एवं त्याज्य समझते हैं उन्हें मैं Etymologische Forschungen के प्रथम संस्करण को ही पढ़ने की सलाह देता हूँ, मेरा विश्वास है कि इसके अध्येताओं को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के मूल उद्देश्य का वास्तविक ज्ञान जितना अधिक इससे होगा उतना किसी भी अधुनातम पुस्तक के अवलोकन से सम्भव न हो सकेगा। ये अध्येता पॉट की अनेक अभिनव खोजों पर केवल मुग्ध ही नहीं होंगे अपितु आश्चर्य चकित भी हो जायेंगे। पॉट के युग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य सामग्री का संकलन था। आज जिसे हम सामान्य तथ्य स्वीकार करते हैं उसे सिद्ध करने के लिए उस युग में प्रभूत मात्रा में तथ्यों की आवश्यकता थी। उस समय कोई यह स्वीकार करने के लिए तैयार न था कि ग्रीक, लैटिन, ट्यूटनिक, केल्टिक स्लावोनिक एवं संस्कृत परस्पर सम्बद्ध भाषाएँ हैं। वास्तव में पॉट ही वह व्यक्ति था जिसने इसे सिद्ध करने के लिए प्रभूत मात्रा में सामग्री का संकलन किया और अन्त में उसके समक्ष उसके सभी शंकालु विरोधियों को सदा के लिए झुकना पड़ा। यह बात बिल्कुल सही है कि उसके द्वारा प्रणीत ग्रंथ वृहत्काय हैं, किन्तु भाषा विज्ञान जैसे नूतन विज्ञान की स्थापना के लिए इसप्रकार के ग्रंथ आवश्यक थे। उसके सम्बन्ध में यह बात भी सही है कि उसकी शैली अत्यन्त अपूर्ण थी और उसे शैली कहना भी ठीक नहीं है। अपने ग्रंथों में वह ज्ञान को उँड़ेलता गया, किन्तु उसे वैज्ञानिक क्रम देने का उसने यत्न नहीं किया। किन्तु अन्त में वह भाषाविज्ञान की सुदृढ़ नींव देने में सफल हुआ। उस युग में जो अत्यधिक मात्रा में व्यर्थ की सामग्री संकलित हो गई थी उसे उसने तथा अन्य विद्वानों ने पृथक् किया और तब ऐसी अवशेष सामग्री उपलब्ध हुई जो सदैव उपयोगी रहेगी। यहाँ पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि पॉट वह पहला व्यक्ति था जिसने ध्वनि नियमों की सत्यता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। पॉट के युग में संस्कृत एवं ग्रीक के ध्वनि-समीकरण विषयक नियम काफी विवादास्पद थे। पॉट के Etymologische Forschungen में इन विवादों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है और यह एक प्रकार से ध्वनि-समीकरण सम्बन्धी

नियमों का खजाना है। जिप्सी जाति, व्यक्तिवाचक नामों एवं संख्यावाची शब्दों के सम्बन्ध में उसके खोजपूर्ण निबन्ध भी अत्यधिक उपादेय हैं; यही बात उसके द्वारा लिखित पुरातन कथाओं सम्बन्धी अनेक निबन्धों, अफ्रीका की भाषाओं एवं 'सामान्य व्याकरण' विषयक लेखों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन्हीं सभी खोजपूर्ण निबन्धों में एक ओर जहाँ सामग्री का प्राचुर्य है वहाँ दूसरी ओर पॉट का परिश्रम एवं उसकी लगन भी द्रष्टव्य है।

अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में प्रो० पॉट निन्दात्मक आलोचना करने में बहुत रस लेते थे और कुर्टियस तथा अन्य विद्वानों की आलोचना में जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह उनकी मर्यादा के अनुकूल न थी, किन्तु इसमें उस युग के वातावरण का भी दोष था। उस युग में दृढ़ तर्क के लिए लोग कटु भाषा तथा दृढ़ विश्वास के लिए कटु वाक्यों का प्रयोग अनिवार्य मानते थे। लैचमैन (Lachmann) एवं हॉप्ट (Haupt) के युग में जब तक कोई व्यक्ति विदूषकवत् भाषा का व्यवहार नहीं करता था तब तक वह वास्तविक विद्वान् नहीं माना जाता था। पॉट भी इस संक्रामक रोग से किंचित् आक्रान्त था, किन्तु वह औचित्य की सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। वह षड्यंत्र का दास नहीं बना और न कभी उसने मिथ्याचरण का ही आश्रय लिया। गेटे की भाँति उसने यह अनुभव किया होगा कि वास्तव में जिन वृक्षों को उसने आरोपित किया था उन्हीं पर उसने ठोकरें मारीं। नई पीढ़ी के प्रति उसके व्यवहार मृदु थे और अपने जीवन के अन्त तक वह अभिनवज्ञान की उपलब्धि के लिए आतुर था। भाषाविज्ञान के प्रति उसका प्रगाढ प्रेम था। जब वह प्रभूत तथ्यों के बवण्डर में आकण्ठ मग्न रहता था इस समय भी इस विज्ञान का उच्च उद्देश्य उसके सम्मुख रहता था। अपनी युवावस्था में वह विलियमवॉन हम्बोल्ट से प्रभावित था और इस महान् विद्वान् से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले अन्य विद्वानों की भाँति उसका भी यह विश्वास था कि भाषा से हमें ध्वनि सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त अन्य उपलब्धियाँ भी मिलती हैं। तुलनात्मक भाषा विज्ञान के संस्थापकों के इतिहास में पॉट का नाम सदैव गौरव के साथ लिया जायेगा। उस युग की भाषा सम्बन्धी विस्मृत उपलब्धियों,का जो लोग ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें बेन्फे कृत तुलनात्मक भाषा के इतिहास (The History of Comparative Philology) को पढ़ना चाहिए।

## अध्याय ८

पृ० १९४ पं० १९ 'तरगुम' वस्तुतः अरबी का 'तर्जुम' शब्द है जिससे

उर्दू का 'तर्जुमा' (=अनुवाद) शब्द बना है अरबी में इसका अर्थ व्याख्या है।

पृ० वही, पं० २२ में प्रूफ की अशुद्धि से 'तालमुद' की जगह 'लालमुद' छप गया है। 'तालमुद' के दो भाग हैं। इनमें से एक को 'मिश्ना' तथा दूसरे को 'गेमरा' कहते हैं। 'मिश्ना' का अर्थ है धर्म (='लॉ' या नियम) का पुनर्कथन या शिक्षण। 'गेमरा' वस्तुतः 'मिश्ना' का ही आगे का भाग एवं उसका भाष्य है।

पृ० १९५ पं० २८ इब्नवहशिया मुसलमान था, किन्तु उसके पूर्वजों ने केवल तीन पीढ़ी पूर्व ही अपने धर्म का परिवर्तन किया था। उसने अरबी में कई ग्रंथों को अनूदित किया था जिनमें से तीन आज भी सुरक्षित हैं। ये हैं–– (१) कृषि सम्बन्धी ग्रंथ (२) विष विषयक ग्रंथ तथा (३) सूर्य एवं चन्द्र सम्बन्धी ग्रंथ।

## अध्याय ९

पृ० २०२ पं० ६. वैयाकरणों की यह धारणा है कि प्रत्ययों के संयोग से जो परिवर्तन होता है वह एक अज्ञात प्रक्रिया के द्वारा संज्ञा से ही प्रसूत होता है, यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसे किसी वृक्ष के तने से शाखाएँ प्रस्फुटित होती हैं, ये प्रत्यय ऐसे तत्व हैं जो स्वतः अर्थ हीन हैं, किन्तु यादृच्छिक रूप से अर्थ परिवर्तन के लिए शब्दों से संयुक्त किये जाते हैं। श्लेगेल के अनुसार शब्द रूपावली (यहाँ जिन भाषाओं के संज्ञा एवं क्रिया के रूप चलते हैं उन भाषाओं से तात्पर्य है) वाली भाषाएँ सजीव भाषाएँ हैं क्योंकि इनके विकास की सजीव प्रक्रिया है जिससे जीवन्त तत्त्व प्रसूत होते हैं। इन भाषाओं में नवीन शब्दों के निर्माण की अद्भुत क्षमता है। ये शब्द वस्तुतः प्रत्ययों द्वारा निर्मित होते हैं जिनके स्वतः कुछ अर्थ नहीं होते, किन्तु शब्दों के साथ संयुक्त होते ही वे विभिन्न अर्थों को द्योतित करने लगते हैं। प्रकृत अथवा शब्दों के कुछ वर्णों को परिवर्तित करके अथवा धातु-पदों में कुछ अक्षरों को संयुक्त करके तथा पुनः इनमें भी कतिपय नवीन प्रत्ययों (यथा, कृत एवं तद्धित प्रत्ययों) को जोड़कर इन भाषाओं में अनेक नये शब्दों का निर्माण कार्य सम्पन्न होता है। कई विभिन्न धातुओं से निर्मित शब्दों को सामासिक रूप देकर जटिल से जटिल विचारों को प्रकट करने की क्रिया यहाँ सहजरूप में चलती है। अन्त में इन भाषाओं में संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम के लिंग, वचन तथा कारक के अनुसार रूप चलते हैं; इसी-प्रकार यहाँ क्रियाओं के भी विभिन्न वाच्यों, प्रकारों, कालों, वचनों तथा पुरुषों

के अनुसार प्रत्यय-संयुक्त करके रूप बनते हैं। ये प्रत्यय स्वतः कुछ भी रूप द्योतित नहीं करते। इसप्रकार से निर्मित एक शब्द ही जटिल से जटिल मुख्य विचार को द्योतित करने में समर्थ होता है, Transactions of the Philological Society, Vol II p. 39.

पृ० २०५ पं० ३१ तथा पृ० २०६ पं०१. मैं अपने विद्वान् मित्र, बर्लिन के प्रो०कुहन की उस व्याख्या को स्वीकार नहीं करता जो उन्होंने सन् १८६६ में प्रकाशित अपने "Veber einige Genetiv und Dativ Bildungen" शीर्षक निबन्ध में दिया है। इस व्याख्या को स्वीकार करने से ध्वनि सम्बन्धी नियमों में निम्नलिखित तीन व्यतिरेक उत्पन्न होते हैं––

(१) संस्कृत में अघोष व्यंजन वर्णों के पूर्व 'स्' का लोप नहीं होता।

(२) दीर्घस्वर के पश्चात् लैटिन में, जब अन्त में 'स्' आता है तो उसका लोप नहीं होता।

(३) 'य्' के पूर्व मध्य में आनेवाले 'स्' का भी लोप नहीं होता।

'ओगायते' क्रिया पद में ध्वनिसम्बन्धी नियम का इसलिए अतिक्रमण नहीं होता कि इसमें मूल शब्द 'ओग' है, 'ओगस्' नहीं।

पृ० २२३ पं०८ मैं ने इस ग्रंथ के पिछले संस्करणों में यह विचार व्यक्त किया था कि "अरोम" शब्द का मूल अर्थ "जोते हुए खेत की गंध" है। इधर इस सम्बन्ध में मेरे विचारों में किंचित् परिवर्तन हुआ है जिसे यहाँ व्यक्त करना आवश्यक है। प्राचीन काल में जोते हुए खेत की गंध से लोगों को सुख मिलता था। यह विचार जैकब ने बाइबिल (Genesis xxvii 7) में व्यक्त किया है––"The smell of my son is as the sm ll of a field which the Lord has blessed"। वास्तव में 'अरोमत' शब्द का मूल अर्थ 'वस्तु' था, किन्तु बाद में इसका अर्थ 'गंध' हो गया। देखो Greek The––saurus by Stephanus ed. Didot, sv.

पृ० वही, पं० १३. ग्रिम के अनुसार अइर्थ (airtha) शब्द को "अर्जन" से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों के स्वरों में अन्तर है। किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि "अइर्थ" शब्द अति प्राचीन है और यह 'अर्' धातु से व्युत्पन्न है। इस 'अर्' धातु का भी मूल रूप 'रि' या 'इर्' था। (देखो, Benfey, Kurze Gr. p. 27)। इस प्राचीन रूप 'रि' या 'इर्' से ही संस्कृत का 'इरा' या 'इडा' शब्द प्रादुर्भूत हुआ है। ग्रीक में इसका रूप 'एरा' (era), प्राचीन उच्च जर्मन में ëro तथा ër––daएवं गॉथिक में इसका रूप 'अइर्थं' मिलता है। 'अइर्थं' का संस्कृत रूप 'रित', 'अर्त' होगा। संस्कृत

में 'इडा' का अर्थ पृथ्वी है। ब्राह्मणों में इसका अर्थ 'प्रार्थना' मिलता है, किन्तु यह इसका मूल अर्थ नहीं है।

पृ० २३२ पं० ५ यहाँ संस्कृत-धातुओं की संख्या जो १७०६ बताई गई हैं उनका विवरण बेन्फे ने इस प्रकार दिया है :—

Benfey Kurze Grammatik, § 151

| | |
|---|---|
| २, ३, ५, ७, ८ एवं ९ गणों के धातुओं की संख्या .. .. .. | २२६ |
| १, ४, ६, तथा १०वें गणों के धातुओं की संख्या .. .. .. | १४८० |
| | १७०६ |

इनमें १०वें गण की १४३ धातुएँ भी सम्मिलित हैं।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित ग्रंथ भी द्रष्टव्य हैं :—
§ 61; Pott, Etym. Forsch(₋ ed), ii. p. 283; Bopp, vergl. Gr. § $109^a$, 3; $109^b$, note.

पृ० वही पं० १८, देखो Renan, Histoire des Langues Semitiques p. 138 लुस्डेन की गणना के अनुसार पुरानी बाइबिल में हिब्रू एवं चाल्डी शब्दों की संख्या ५६४२ है।

पृ० वही, पं०, वही, मारिसन के अनुसार चीनी भाषा की धातुओं की संख्या ४११ तथा एड्किन्स के अनुसार यह संख्या ५३२ है। मारिसन ने अल्पप्राण वर्ण वाली धातुओं में ही महाप्राण वर्ण वाली धातुओं को समाविष्ट कर लिया था, इसीलिए उनकी संख्या में कमी आगई। यदि अन्त्य 'म्' तथा ग्, द्, व् मृदुलव्यंजनों से आरम्भ होने वाली धातुओं को भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो यह संख्या ७०० हो जायेगी। बात यह है कि तेरहवीं शताब्दि में, मंगोल-वंश के शासनकाल में, लेखन में ये ध्वनियाँ मौजूद थीं। देखो Edkins Mandarin Grammar, pp. 4‐-45.

पृ० वही, पं० २० खांग-हि द्वारा प्रणीत इम्पीरियल डिक्शनरी में शब्दों कि संख्या ४२,७१८ है। इनमें से चतुर्थांश शब्द अब प्रयोग में नहीं आते तथा इनमें से आधे शब्दों का प्रयोग यदाकदा ही होता है। इसप्रकार व्यवहार में आनेवाले शब्दों की संख्या पन्द्रह हजार है। क्लासिकल लिपि में उपलब्ध शब्दों की संख्या ४२७१८ है। इनमें से अधिकांश शब्द अब व्यवहृत नहीं होते किन्तु धार्मिक एवं प्राचीन ग्रंथों में इनका प्रयोग मिलता है। कभी-कभी सरकारी कागज-पत्रों में भी इनका प्रयोग मिलता है क्योंकि यहाँ प्राचीन शैली के अनुकरण का प्रयत्न किया जाता है। इन शब्दों में से अधिकांश व्यक्तियों, स्थानों, पर्वतों

एवं नदियों के नाम हैं। राजकीय इतिहास के पंडित की प्रतियोगिता के लिए नौ हजार शब्दों का ज्ञान आवश्यक था। इन शब्दों को ग्रंथ रूप में अलग प्रकाशित किया गया है।—Stanislas Julien.

## अध्याय १०

पृ० २४६ पं० ६, डोनर के अनुसार अकेडियन (अक्कादीय) तथा सुमेरियन (सुमेरीय) का फिन्नोउग्रिक से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु होमेल के अनुसार अल्टाइक भाषाओं से इनका सहज सम्बन्ध है। देखो, Die Sumero-Akkaden, ein altaisches volk', in correspondez-Blatt der deutschen ges. für Anthropologie xv. jahrg. No, 8, 1884, p. 63,

## अध्याय ११

पृ० २५९ पं० ५. यहाँ बशकिर तथा अन्य उग्रो-अल्ताइक जातियों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह आज से तीस वर्ष पूर्व प्रकाशित पुस्तकों से लिया गया है। इसमें समय-समय पर संशोधन की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मेरे पाठकों ने जो सामग्री बाद में भेजी थी उसे इस संस्करण में समाविष्ट कर लिया गया है। ब्रिटिश एवं फारेन बाइबिल सोसाइटी के प्रतिनिधि श्री एम० ए० मारिसन ने, अप्रैल सन् १८८९ में मुझे बशकिर लोगों के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा है। श्रीमारिसन बाइबिल सोसाइटी के दक्षिणी रूस, काकेशस तथा तुर्किस्तान के प्रतिनिधि हैं। श्री मारिसन के अनुसार बशकिर लोग बर्बर एवं निरक्षर नहीं हैं अपितु इसके विपरीत ये लोग मृदुल एवं अनाक्रामक स्वभाव के हैं। इनमें से अधिकांश कृषि करते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नेपोलियन के युद्ध के समय के जर्मन लेखकों ने बशकिर लोगों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें सत्य का बहुत कम अंश है। सम्प्रति बशकिर लोग अल्ताई पहाड़ में नहीं अपितु यूराल पर्वत पर निवास करते हैं।

पृ० २६८ में, १ से १२ तक में, तुर्की क्रिया-पद के निर्माण की विधि दी गई है। प्रो० पॉट ने अपने Etymologische Forschungen, ii S. 118 (द्वितीय संस्करण) में 'गाला' की अरबी भाषा में, इसी प्रकार के क्रिया-पद के निर्माण का उल्लेख किया है। डा० गुण्डर के अनुसार तुलु भाषा में

भी इसप्रकार के क्रियारूप मिलते हैं किन्तु तुर्की के क्रियापदों गी भांति इनका अभी तक विश्लेषण नहीं हुआ है।

पृ० २७० पं० १३ डैन्यूब नदी पर स्थित बुल्गारिया से बुल्गारिक नाम आदान के रूप में प्राप्त नहीं किया गया है अपितु यह नाम उन बुल्गारिक सैनिकों का दिया हुआ है जिन्होंने इसे सातवीं शताब्दि में जीता था। बुल्गार जाति के लोग बोल्गा नदी से डॉन नदी की ओर गए और वहाँ डॉन तथा डिनीपर के तटों पर स्थित 'अवार' लोगों के शासन में कुछ दिनों तक रहे। तदुपरान्त सन् ६३५ ई० में ये लोग डैन्यूब की ओर बढ़े और वहाँ पर इन्होंने बुल्गारीय राज्य की स्थापना की। यही नाम आज भी चल रहा है, यद्यपि मूल बुल्गारीय लोग स्लाव लोगों में मिश्रित हो गये हैं। सन् १३९२ ई० से यह राज्य तुर्की राज्य का एक भाग बन गया किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह स्वतंत्र हो गया।

## अध्याय १२

पृ० २८३ पं० १ कतिपय विद्वानों के अनुसार भूमध्य रेखा के उत्तर में बोली जाने वाली 'गाला', कैकासुस की सरकैसियन तथा गौतमाला में प्रचलित 'केचुआ' तक में क्लिक ध्वनि उपलब्ध होती है। देखो Bleek, Compar. Gr. § 67, Hahn, Sparche der Nama, pp. 15 seq

## अध्याय १३

पृ० २८९ पं० २१. इस सम्बन्ध में प्रो० हक्सले का Fortnightly Review 1866 में महत्त्वपूर्ण लेख तथा मेरा लेख Turanian Languages, 1856 pp. 89—92 देखें।

## अध्याय १४

पृ० ३०३-३०४ मिस्र देश के जिस राजा ने यह प्रयोग किया था उसका नाम सैमेटिकुस था। कहा जाता है कि उन दोनों बालकों ने 'बेकोस' शब्द को उच्चरित किया था जिसका फ्रिजियन भाषा में रोटी अर्थ होता है। इस प्रयोग के द्वारा सैमेटिकुस यह सिद्ध करना चाहता था कि वास्तव में फिजियन ही वह मूल भाषा है जिससे विश्व की अन्य भाषाएँ प्रसूत हुई हैं। मैक्समूलर के अनुमान के अनुसार यह 'बेकोस' शब्द भी आर्य भाषा के उस शब्द से व्युत्पन्न है जिसके लिए अंग्रेजी में 'बेक' (To bake) धातु उपलब्ध है। यह आश्चर्य

की बात है कि मिस्र देश के प्राचीन विद्वानों के मन में यह बात क्यों नहीं आई कि उन बालकों नें 'पकी रोटी' के लिए 'बेकोस' शब्द को तो उच्चरित किया किन्तु उन्हें रोटी पकाने के उपकरणों अनाज, आटा, चूल्हा, आग आदि का बिल्कुल ध्यान न रहा। क्विंटिलियन ने कतिपय शब्दों को उच्चरित करने की शक्ति तथा भाषा को बोलने की क्षमता में स्पष्ट अन्तर दिखलाया है।

अकबर के प्रयोग के सम्बन्ध में देखें Hervas, Origine delg' idiomi (1785) pp. 147 seq "अकबर ने जेरोम जैवियर से कहा था कि उसने तीस बच्चों को ऐसे एकान्त स्थान में कड़े पहरे के अन्दर रखा था कि उनके सामने कोई एक शब्द भी उच्चरित न करे। यह प्रयोग उसने इस उद्देश्य से किया था कि बड़े होने पर ये बालक जिस देश की भाषा बोलेंगे उसी देश के अधिनियमों (कानूनों) एवं रीति-रिवाज का वह अनुगमन करेगा। जब बड़े होने पर ये बालक कोई भी भाषा न बोल सके तो उसने अपने ही अधिनियमों को मानना उचित समझा।"

इस सम्बन्ध में पुनः देखें Beveridge, in Journal of the Asiat. Soc. of Bengal, 1888 p. 38. बदायूनी ने भी ऊपर की बात का समर्थन किया है। उसके अनुसार यह प्रयोग सन् १५८० ई० में सम्पन्न हुआ था। उसने लिखा है कि तीन-चार वर्षों के बाद जो भी बालक बचे थे, वे सभी गूँगे थे।

पृ० ३१५ पं०६ भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हर्डर एवं अन्य विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किये हैं उसकी पूर्ण विवेचना स्टिंथल ने अपनी पुस्तक Der Ursprung der sprache में की है। इस पुस्तक का प्रथम प्रकाशन सन् १८५८ ई० में हुआ था।

पृष्ठ ३३५ पं० २८ देखो, Farrar, Origin of Languge, p. 85. 'Das Kamel,' Extrait des Mem. de l' Acad. de Vienne, classe de phil. et d' hist. tom vii. अरबी में एक ऐसा ग्रंथ उपलब्ध है जिसमें 'सिंह' के लिए ५०० पर्यायवाची शब्द हैं। एक दूसरे ग्रंथ में 'सर्प' के २०० पर्यायवाची शब्द मिलते है। 'कैमुस' के लेखक फिरुजाबादी ने 'मधु' के लिए ८० पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया था। इसी लेखक के अनुसार अरबी में 'तलवार' के लिए १००० पर्यायवाची शब्द उपलब्ध हैं। एक अन्य लेखक के अनुसार अरबी में 'दुर्भाग्य' के लिए ४०० पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। Hervas (Dell' Otigine delle Lingue § 233) के अनुसार मंडशुतातार भाषा में विभिन्न

अवस्थाओं एवं विटिष्ताओं को दृष्टि में रखते हुए घोड़े के १०० प्रकार हैं। देखो, Supra. p. 329. इन कथनों में अतिशयोक्ति की मात्रा ही अधिक प्रतीत होती है। देखो, Renan' His toire des Langues Semiti ques, p. 377, Sayee, Principles,p, 208.

# परिशिष्ट २

## अध्याय १

प्रथम अध्याय के आरम्भ में ही मैक्समूलर ने इस विज्ञान के नाम के सम्बन्ध में विचार किया है। अंग्रेजी में इस विज्ञान के कई नाम--'फिलॉलोजी,' 'कम्पैरेटिव फिलॉलोजी' (तुलनात्मक भाषाशास्त्र), 'सायंटफिक एटिमॉलोजी' (वैज्ञानिक व्युत्पत्तिशास्त्र), फोनॉलोजी' (ध्वनिशास्त्र), 'ग्लॉसालोजी' (शब्दशास्त्र) तथा 'सायंस आव लैंग्वेज' --प्रचलित हैं। मैक्समूलर के अनुसार इसका एक नाम 'लोगोलौजी' (वाणीशास्त्र) भी हो सकता है किन्तु ग्रीक भाषा के पंडितों के लिए यह कर्णकटु होगा। फ्रान्स में लोग इसे लांगिस्तीक, (अंग्रेजी लिंग्विस्टिक्स) तथा जर्मनी में "स्प्राख़ विशेन शैफ्ट" नाम से अभिहित करते हैं। मैक्समूलर को फ्रेंच नाम 'लांगिस्तीक' (= लिंग्विस्टिक्स) पसन्द नहीं है और उन्होंने इसे असंस्कृत अथवा बर्बर कहा है। अन्ततोगत्वा आपने 'सायंस आव लैंग्वेज' नाम को ही पसन्द किया है और इसी पर अपनी मुहर लगाई है।

आज वस्तुस्थिति यह है कि इस विज्ञान के तीन नाम ही सर्वाधिक प्रचलित हैं। ये हैं:--

'फिलॉलोजी', "सायन्स आव लैंग्वेज" एवं "लिंग्विस्टिक्स"। ये नाम भी ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स एवं अमेरिका में किंचित भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। ब्रिटेन में आज भी 'फिलॉलोजी' का कम्पैरेटिव फिलॉलोजी (तुलनात्मक भाषा विज्ञान) के अर्थ में प्रयोग होता है तथा इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान (हिस्टारिकल लिंग्विस्टिक्स) का भी समावेश हो जाता है।

फ्रान्स एवं जर्मनी में फिलॉलोजी शब्द 'फिलॉलोजिए' (Philologie) रूप में व्यवहृत होता है। जर्मनी में तो यह ग्रीक, लैटिन एवं इनके द्वारा

प्राचीन संस्कृति के अध्ययन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसे ब्रिटेन में कम्पैरेटिव फिलॉलोजी (तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहा जाता है उसे जर्मनी में Vergleichende Sprachwissenschaf के नाम से अभिहित किया जाता है।

हिन्दी में सम्प्रति 'फिलॉलोजी' तथा 'सायन्स आव लैंग्वेज' के लिए 'भाषा-विज्ञान' शब्द प्रचलित हैं। लिंग्विस्टिक्स के लिए कुछ लोगों ने 'भाषाशास्त्र' शब्द को प्रचलित करने का यत्न किया किन्तु यह सर्वमान्य न हो सका। जो हो, द्वितीयमहायुद्ध के पश्चात् भाषा के अध्ययन-क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसके परिणाम स्वरूप 'फिलॉलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स', दो अलग-अलग विषय बन गए हैं तथा आज ये दोनों, दो भिन्न अर्थों के द्योतक हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व ज्ञान-विज्ञान एवं भाषा के अध्ययन का केन्द्र यूरप था, किन्तु इसके बाद इसमें परिवर्तन हुआ। अमेरिका ने जन एवं धन, दोनों से, हिटलर को पराजित करने में मित्र राष्ट्रो की सहायता की थी। अतएव धीरे-धीरे राजनीति के साथ-साथ, अमेरिका, ज्ञान-विज्ञान एवं भाषा के अध्ययन-क्षेत्र में भी अग्रणी स्थान ग्रहण करने लगा। जहाँ तक भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन का प्रश्न है, इस क्षेत्र में तो द्वितीय महासमर के बाद अमेरिका ने अभूतपूर्व उन्नति की। यूरप की आर्थिक विपन्नता ने भी इसमें अमेरिका की कम सहायता न की, क्योंकि धीरे-धीरे यहाँ के विद्वान् अमेरिका चले गए। आज प्राहा स्कूल के संस्थापक, प्रसिद्ध भाषाविद्, 'रोमन याकोब्सन, तो एक प्रकार से सदा के लिए अमेरिका में जा बसे हैं तथा फ्रान्स के प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् समार्तिने ने भी वर्ष में छै महीने के लिए अमेरिका को अपना निवास-स्थान बना लिया है। इधर अमेरिका में, यहाँ के मूलनिवासियों की भाषाओं एवं बोलियों के अध्ययन के लिए जो अभिनव वर्णनात्मक पद्धति प्रचलित हुई है, इस कारण भी 'फिलॉलोजी' एवं 'लिंग्विस्टिक्स' शब्दों के अर्थ एवं भाव में अन्तर आ गया है। अब यहाँ भी जर्मनी की भाँति ही फिलॉलोजी (भाषा-विज्ञान) शब्द का व्यवहार प्राचीन भाषा तथा साहित्य एवं शिलालेखों की भाषा के अध्ययन सन्दर्भ में किया जाता है और 'लिंग्विस्टिक्स' के अन्तर्गत आधुनिक जीवित भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत केवल कथ्य भाषा की ही व्याख्या की जाती है। साहित्य की लिखित भाषासामग्री की व्याख्या प्रस्तुत करना इसकी सीमा के बाहर की वस्तु है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लिंग्विस्टिक्स भाषा के यथातथ्य रूप का अध्ययन करता है, आदर्शरूप का नहीं।

एक बात यहाँ और उल्लेखनीय है। भौतिक समृद्धि तथा वैज्ञानिक उन्नति के कारण आज का मानव, अतीत की अपेक्षा, वर्तमान के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक है। सम्प्रति मनुष्य ने प्रकृति पर जो विजय प्राप्त की है उसके कारण विश्व के विभिन्न भूभाग एक दूसरे के अति निकट आ गए हैं। इसके साथ ही विदेशी भाषाओं को अल्प समय में सीखने की समस्या भी सामने आई है। सच बात तो यह है कि आज भाषा की समस्या केवल मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों की समस्या न रहकर समग्र राष्ट्र की समस्या बन गई है। आज भाषाविज्ञानियों से इस बात की आशा की जाती है कि वे अपने सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ भाषा-विषयक समस्याओं के सुलझाने में भी राष्ट्र एवं विश्व की सहायता करें। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि आज भाषातत्त्ववेत्ता, भाषाविज्ञान की अपेक्षा लिंग्विस्टिक्स के अध्ययन में अधिक प्रवृत्त हैं। आज विश्व के विश्व-विद्यालयों — विशेष रूप से अमेरिका—में, लिंग्विस्टिक्स का अध्ययन एवं अध्यापन तीव्र गति से हो रहा है तथा इस विषय की अनेक प्रामाणिक पुस्तकों का भी यहाँ प्रणयन हुआ है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ब्रिटेन में 'फिलॉलोजी' एवं 'कम्परैटिव फिलॉलोजी' का प्रयोग आज भी प्रचलित है। इधर कतिपय भाषाविद् इस विज्ञान के लिए 'कम्परैटिव फिलॉलोजी नाम अनुपयुक्त मानने लगे हैं। उनके अनुसार यह नाम विविध भाषाओं के केवल समानतत्त्वों की तुलना पर ही विशेष बल देता है जो युक्तियुक्त नहीं है। वास्तव में वैज्ञानिक अध्ययन के लिए असमानता अथवा विभिन्नता भी, समानता की भाँति ही महत्त्वपूर्ण है। इन सभी वाद-विवादों का परिणाम यह हुआ है कि अब इस विज्ञान का फ्रेंच नाम 'लिंग्विस्टिक्स' ही सर्वाधिक प्रचालित हो रहा है।

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत हम कई सम्बन्धित विषयों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसके मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं:—

(१) वर्णनात्मक लिंग्विस्टिक्स।
(२) ऐतिहासिक लिंग्विस्टिक्स।
(३) तुलनात्मक लिंग्विस्टिक्स।

यहाँ सर्वप्रथम वर्णनात्मक लिंग्विस्टिक्स के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। किसी विशेष भाषा को उसके बोलने वाले, एक निर्धारित समय पर जिस रूप में प्रयुक्त करते हैं उसके वर्णन एवं विश्लेषण का कार्य वर्णनात्मक लिंग्विस्टिक्स का विषय होता है। यह निर्धारित समय वर्तमान एवं अतीत दोनों हो सकता है। आज भी विश्व में अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जिन्हें किसी लिपि में

लिखने का प्रयास तक नहीं किया गया है तथा जो केवल बोलचाल के रूप में ही उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं जिन्हें अभी हाल में ही लिखित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसी भाषाओं की पूर्वावस्था के कतिपय तत्वों को यद्यपि पुनर्निर्माण से हम जान सकते हैं तथापि सामान्यरूप से हम वर्तमान में ही इनका विश्लेषण एवं अध्ययन कर सकते हैं। इनके विपरीत विश्व में 'संस्कृत', 'ग्रीक', 'लैटिन' 'एवं' 'लिथुआनीय' जैसी भाषाएँ भी हैं जिनमें अति प्राचीनकाल से, साहित्य के रूप में, लिखित सामग्री उपलब्ध है। इन भाषाओं का भी वर्णनात्मक विश्लेषण एवं अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के अध्ययनों की विभाजक रेखा को ढूँढ़ निकालना नितान्त कठिन है। इस संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि चाहे हमारा अध्ययन वर्तमान का हो अथवा यह अतीत का हो, यह निर्धारित समय का होना चाहिए और यह पूर्वापर निर्पेक्ष होना चाहिए। हमें वर्णनात्मक अध्ययन करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि यह भाषा विशेष का ही हो और अन्य भाषाओं से इसका संबंध न हो।

यहाँ पर और एक बात उल्लेखनीय है कि वर्णनात्मक लिंग्विस्टिक्स सदैव इस बात पर बल देता है कि भाषाओं का विश्लेषण उनकी गठन के अनुसार किया जाय और यह अन्य भाषाओं के ढाँचे में न हो अन्यथा यह अवैज्ञानिक हो जायेगा। 'संस्कृत', 'ग्रीक' एवं 'लैटिन' भाषाओं के वर्णनात्मक अध्ययन के लिए, प्राचीनकाल में, जो ढंग अपनाए गए थे वे उन भाषाओं के लिए वे उस युग में उपयुक्त थे। आज नव्य भाषाओं के अध्ययन के लिए इन प्राचीन भाषाओं की अध्ययन पद्धति का अनुगमन करना न तो आवश्यक है और न वैज्ञानिक ही।

वर्णनात्मक लिंग्विस्टिक्स भाषा-विज्ञान का इस अर्थ में प्रमुख एवं महत्वपूर्ण अंग है कि इसी के आधार पर आगे ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन संभव हैं।

ऐतिहासिक लिंग्विस्टिक्स, लिंग्विस्टिक्स की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत भाषाओं के विकास का अध्ययन किया जाता है। समयानुसार भाषाओं में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के कुछ बाह्य एवं कतिपय आभ्यन्तर कारण होते हैं। इसप्रकार का अध्ययन सामान्यरूप से किसी एक विशेष भाषा की दो विभिन्न अवस्थाओं को लेकर किया जाता है; उदाहरणार्थ हम हिन्दी का अध्ययन अपभ्रंश से लेकर इसकी आज तक की अवस्था तक का कर सकते हैं। इसीप्रकार 'वैदिक-संस्कृत', 'संस्कृत', 'पालि' एवं 'प्राकृत' एक ही भाषा की

विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐतिहासिक लिंग्विस्टिक्स में इन विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन प्रस्तुत करना ही इष्ट होता है।

यहाँ दो अन्य पारिभाषिक शब्दों को भी स्पष्टरूप से समझ लेना आवश्यक है। इनमें से एक है "संकालिक" तथा दूसरा है "द्वैकालिक"। जब हम किसी निश्चित समय की भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं तो इसप्रकार के अध्ययन को "संकालिक अध्ययन" कहते हैं। इसप्रकार के अध्ययन करते समय, हम भाषा को, उस समय के लिए, सर्वथा स्थिर, परिवर्तन रहित, एवं विचार संवहन की स्वतःपूर्ण इकाई के रूप में कल्पना कर लेते हैं। द्वैकालिक अध्ययन में, ठीक इसीप्रकार की कल्पना किसी भाषा की दो अवस्थाओं के अध्ययन के संबंध में की जाती है।

अब हम अपने अध्ययन के तीसरे भाग "तुलनात्मक लिंग्विस्टिक्स" पर आते हैं। वास्तव में, एक दृष्टि से, यह ऐतिहासिक लिंग्विस्टिक्स का ही एक विशिष्टरूप है। तुलनात्मक लिंग्विस्टिक्स में एक या एक से अधिक दृष्टियों से दो या दो से अधिक विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस तुलनात्मक अध्ययन की भी अपनी प्रक्रिया होती है। इस तरह का तुलनात्मक अध्ययन कभी तो किसी परिवार की विविध भाषाओं के ऐतिहासिक संबंध के ज्ञान के लिए किया जाता है तथा कभी-कभी, तो यह विभिन्न भाषाओं की समरूपता को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इस दूसरे प्रकार के, तुलनात्मक अध्ययन में, ऐतिहासिक दृष्टि का प्रायः अभाव रहता है।

## विज्ञान के रूप में लिंग्विस्टिक्स का स्थान एवं स्वरूप

विज्ञान के रूप में लिंग्विस्टिक्स के स्थान एवं स्वरूप के संबंध में भी लोगों में पर्याप्त भ्रम है। कुछ विद्वान् तो इसे किसी भी तरह विज्ञान की पंक्ति में स्थान देने के लिए ही तैयार नहीं हैं किन्तु अन्य विद्वान् बहुत साहस करके इसे अर्द्धविज्ञान (सुडो सायन्स) कहने को तत्पर हैं। इस दूसरी कोटि के विद्वानों के अनुसार लिंग्विस्टिक्स के सिद्धान्त उसीप्रकार से अकाटच नहीं हैं जिस-प्रकार गणित अथवा भौतिकविज्ञान के हैं। इस संबंध में इस तथ्य को स्पष्टरूप से हृदयंगम करने की आवश्यकता है कि जहाँ तक सिद्धान्तों की अकाट्चता का प्रश्न है, इस विषय में हम केवल सापेक्षिक दृष्टि से ही विचार कर सकते हैं। सच बात तो यह है कि इस परिवर्तनशील विश्व में किसी भी विज्ञान के सिद्धान्त पूर्णरूप से अकाट्च एवं स्थिर नहीं हैं। आज से कुछ वर्ष पूर्व भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में, प्रकाश के संबंध में, न्यूटन के विचार मान्य थे किन्तु नवीन आविष्कारों

के प्रकाश में अब उन विचारों का कोई स्थान नहीं है; किन्तु इसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि न्यूटन के युग का भौतिक-विज्ञान, विज्ञान नहीं था। वास्तविक बात तो यह है कि ज्ञान अनन्त एवं असीम है तथा जब अभिनव आविष्कारों के परिणामस्वरूप नूतन ज्ञान की उपलब्धि होती है तो पुरातन विचारों एवं सिद्धान्तों में संशोधन कर लिया जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि लिंग्विस्टिक्स को विज्ञान मानना कहाँ तक समीचीन है। आज के भाषाविज्ञानी इसकी दो रूपों में व्याख्या करते हैं। इसकी एक व्याख्या तो यह है कि सामान्यरूप से भाषा तथा विशेष रूप से भाषाओं का अध्ययन सम्प्रति इतना अधिक व्यवस्थित हो चुका है कि इसके आधार पर सिद्धान्त निर्मित हो चुके हैं। इसकी दूसरी व्याख्या के लिए हमें आज के भाषा तत्वविदों की प्रवृत्ति का अध्ययन करना पड़ेगा। आज वास्तविक स्थिति यह है कि बीसवीं शताब्दी के भाषाविज्ञानी इसे विज्ञान ही मानते हैं।

जो लोग लिंग्विस्टिक्स को वास्तविक अर्थ में विज्ञान मानते हैं उनका यह भी कथन है कि यह कथ्य एवं लिखित भाषा के निश्चित तथ्यों पर आधारित है तथा यह ऐसी विश्लेषण प्रक्रिया का अनुगमन करता है जिसे स्थिर सिद्धान्तों के संदर्भ में प्रत्यक्षरूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में भाषा-विज्ञानी भाषा-विषयक विविध प्रकार के विषतत्वों का विश्लेषण करते हुए उन्हें निश्चित एवं स्थिर नियमों में बाँधता है। भाषा-सामग्री की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया एवं तत्संबंधी नियमों के निर्धारण में, भाषा-विज्ञानी, विज्ञान के निम्नलिखित तीन विशिष्ट नियमों का अनुसरण करता है :—

(१) व्यापकता (वह सभी संगत एवं संबद्ध तथ्यों पर व्यापक एवं पूर्ण दृष्टि से विचार करता है।)

(२) स्थिरता ( उसके द्वारा व्यक्त विचारों में पूर्णरूप से स्थिरता होती है और उनमें किसीप्रकार का अन्तर्विरोध नहीं होता)।

(३) संक्षिप्तता ( उसके द्वारा निर्मित नियम संक्षिप्त एवं सूत्र रूप में होते हैं )।

ऊपर के तथ्यों के प्रकाश में जब हम लिंग्विस्टिक्स के संबंध में विचार करते हैं तो विज्ञानों में, इसके स्थान के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं होती। यह स्पष्टरूप से "प्रयोगसिद्ध विज्ञान" है, क्योंकि इसके तथ्य इन्द्रियानुभूत हैं—हम उच्चरित ध्वनियों को कान से सुनते हैं तथा मुखविवर के भीतर के उच्चारणोपयोगी स्थानों एवं उच्चारण में सहायक जिह्वा, दन्त आदि को प्रत्यक्ष एवं यंत्रों की सहायता से देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनि-यंत्रों की सहा-

यता से हम उच्चरित ध्वनियों का सूक्ष्म एवं विज्ञानसम्मत विश्लेषण भी कर सकते हैं। प्रयोग-सिद्ध विज्ञानों में भी लिंग्विस्टिक्स को सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गतही रखना समीचीन है क्योंकि इसके अध्ययन विषयक तथ्यों का संबंध, प्रत्यक्षरूप से, स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक एवं अपने सहयोगियों के संलापसंबंधी आचरण से है। इस तथ्य को हम यह कह कर अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकते कि कभी-कभी भावातिरेक की स्थिति में मनुष्य अपने आप से, पशुओं (खग-मृग) से अथवा निर्जीव वस्तुओं से भी संलाप करने लगता है। इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक् रह कर वह एकाकी रह नहीं सकता। जहाँ तक पारस्परिक संलाप का संबंध है, सामाजिक दृष्टि से इसके लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति आवश्यक हैं।

कतिपय विद्वानों के अनुसार लिंग्विस्टिक्स को इस लिए विज्ञान की पंक्ति से बाहर रखना चाहिए कि इसकी आधारभूता, भाषा को ग्रहण करते समय मानव अपनी अर्न्तदृष्टि अथवा अन्तःप्रेरणा से सहायता प्राप्त करता है। इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति उसे उस समय होती है जब भाषा-सर्वेक्षण के समय, सूचक अपनी अर्न्तदृष्टि अथवा सहजबोध के आधार पर भाषा के किसी उच्चारण अथवा रूप के संबंध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तथा उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है। इसमें संदेह नहीं कि भाषा के उच्चारण उसके वाक्यों के निर्माण एवं अर्थबोध की क्रिया में मानव की अर्न्तदृष्टि सहज रूप में सहायक होती है किन्तु इस कारण ही हम लिंग्विस्टिक्स को विज्ञान की परिधि से बाहर नहीं रख सकते। विज्ञान की चाहे जिस शाखा को हम लें उसमें जो भी उन्नति हुई है उसका एकमात्र कारण शोधकर्ता की व्यक्तिगत अन्तःप्रेरणा होती है। इस संबंध में वास्तविक बात यह है कि वैज्ञानिक अनुसंधान में अन्तःप्रेरणा का योग आपत्तिजनक नहीं है। किन्तु विश्लेषण की पद्धति एवं इष्ट की प्राप्ति अन्तःप्रेरणा के आधार पर नहीं होनी चाहिए। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर जब हम भाषाविज्ञानी की विश्लेषण-पद्धति एवं प्रक्रिया पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शोध के समय भाषा विज्ञानी जो कुछ अपनी अन्तःप्रेरणा से प्राप्त करता है वह उसकी व्यक्तिगत अनुभूति नहीं होती अपितु उसके मार्ग के अनुसरण करने वाले अन्य शोधकर्त्ताओं की भी ठीक वही अनुभूति होती है। यह सत्य है कि अन्तःप्रेरणा व्यक्तिगत वस्तु है और विज्ञान की पद्धति सार्वजनिक एवं प्रयोग सिद्ध होती है किन्तु भाषाविज्ञान के क्षेत्र में शोध करने वालों की पद्धति भी प्रयोग सिद्ध होती है तथा उनकी अनुभूति भी

व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होती है। इन सभी तत्वों पर गहराई से विचार करने के उपरान्त लिंग्विस्टिक्स को विज्ञान मानना ही समीचीन है।

आजकल विज्ञान एवं मानवशास्त्र (ह्यूमैनिटीज़) दो प्रकार के सर्वथा भिन्न अध्ययन बन गए हैं, अतएव कुछ लोग स्वाभाविकरूप से यह तर्क कर सकते हैं कि चूँकि लिंग्विस्टिक्स विज्ञान है अतएव साहित्य से इसका विरोध आवश्यक है। जहाँ तक वास्तविक व्यवहार का प्रश्न है यूरोप में लिंग्विस्टिक्स एवं साहित्य के अनुगामियों में विरोध हुआ भी है इसका कारण यह भी है कि यूरप में पुनर्जागरण के उपरान्त साहित्य को लिंग्विस्टिक्स की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहन मिला था और उसकी परम्परा आज भी यूरोप में उसी रूप में है। जहाँ तक भारत का संबंध है इस विषय में इसकी परम्परा यूरोप से सर्वथा भिन्न है, यहाँ ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व, वैज्ञानिक रूप में, संस्कृत व्याकरण की प्रतिष्ठापना हुई थी। उस समय से लेकर आज तक यहाँ साहित्य एवं व्याकरण में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं हुआ। यहाँ साहित्य का प्रत्येक अध्येता साहित्य के अध्ययन के पूर्व सम्यकरूप से व्याकरण का भी ज्ञान प्राप्त करता है। यूरप में भी आज साहित्य एवं लिंग्विस्टिक्स दोनों के विद्वान् इस तथ्य का अनुभव करने लगे हैं कि वास्तव में इन दोनों में, अन्तर्विरोध की अपेक्षा, नैकट्य ही अधिक है और एक प्रकार से ये दोनों एक दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं। इस संबंध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि लिंग्विस्टिक्स, विज्ञान एवं मानवशास्त्र दोनों के बीच का सेतु है। विज्ञान और लिंग्विस्टिक्स में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ विज्ञान को अपनी परिभाषाओं को ठीक और स्थिर रूप देने के लिए, भाषा की आवश्यकता पड़ती है वहाँ दूसरी ओर लिंग्विस्टिक्स भाषा का प्रयोग तो करता ही है इसके अतिरिक्त भाषा ही उसके अध्ययन का विषय है। इसप्रकार जैसा कि डेनमार्क के प्रसिद्ध भाषातत्वज्ञ हेमसेव ने कहा है, "लिंग्विस्टिक्स का स्थान विज्ञान एवं मानवशास्त्र के मध्य में है।"

अब यहाँ भाषाविज्ञान के विभिन्न अंगों अथवा शाखाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

## भाषाविज्ञान की शाखाएँ

वस्तुतः भाषाविद् का कार्य संसार की भाषाओं तथा बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत करना है। भाषा का अध्ययन चाहे वह वर्णनात्मक, ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक हो, उसे विश्लेषणात्मक रूप में ही प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि

हम भाषा का अध्ययन करना चाहें तो ज्ञात होगा कि वह वाक्यों का समूह है। वाक्यों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वह कुछ सार्थक शब्दों का समूह है। इन सार्थक शब्दों का विश्लेषण करें तो 'ध्वनिग्राम 'की प्राप्ति होती है जिनका अंतिम विश्लेषण 'ध्वनि' रूप में किया जा सकता है।

किसी भी भाषा का अध्ययन सुगमता के लिए इन्हीं चार तत्त्वों ध्वनि', ध्वनिग्राम, पद, वाक्य के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है; इसीलिए भाषाविद् इन्हें क्रमशः ध्वनिविज्ञान, ध्वनिग्रामविज्ञान, पदविज्ञान एवं वाक्यविज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। इन चारों से भाषा का कार्य 'अर्थ-उद्‌बोधन' सम्पन्न होता है, अतः इसे 'अर्थविज्ञान' के अन्तर्गत परिगणित करते हैं। ये समस्त शाखाएँ एक दूसरे से पृथक् किन्तु सम्बन्धित होती हैं। यहाँ पर अतिसंक्षिप्त में प्रत्येक शाखा का परिचय दिया जाता है।

## ध्वनिविज्ञान

इस शाखा के अन्तर्गत वाग्ध्वनियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। भाषा के निर्माण में ध्वनि को आधारभूत सामग्री कहा जा सकता है। इसीलिए इस शाखा को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। सामान्यतः इस शाखा के अन्तर्गत किसी भाषा की ध्वनियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। ध्वनियों को दो वर्गों में --स्वर एवं व्यंजन रूप में अध्ययन करने के अतिरिक्त इस शाखा के अन्तर्गत ध्वनियों के अन्यगुणों बलाघात, सुर, लहर, मात्रा का भी विवेचन किया जाता है।

## ध्वनिग्रामविज्ञान

यह भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत किसी भी भाषा के सार्थक ध्वनितत्वों --ध्वनिग्रामों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः किसी भाषा की न्यूनतम सार्थक इकाई ध्वनि न होकर ध्वनिग्राम ही होते हैं जिनको ध्वन्यात्मक समानता तथा परिपूरक वितरण के आधार पर छोटा जाता है।

इस शाखा के अन्तर्गत ध्वनिग्रामों के क्रम तथा उनके वितरण आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इस शाखा का पृथक् अस्तित्व बीसवीं शताब्दि से ही माना जाने लगा है। इसके पूर्व ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ही इसका समावेश किया जाता था।

## पदविज्ञान

यह भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत पदग्रामों को छांटने की विधि, उनका शब्दों में क्रम, गठन एवं विभिन्न व्याकरणीय रूपों में परिवर्तित रूप का अध्ययन किया जाता है।

## वाक्यविज्ञान

इस शाखा के अन्तर्गत शब्दों का वाक्यों में प्रयोग एवं उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के निर्मित रूपों (वाक्यों) का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इस शाखा का अध्ययन स्वतंत्ररूप से अभी अधिक नहीं हो पाया है। हिन्दी-क्षेत्र में तो इसका अध्ययन अभी अछूता सा है।

## अर्थ विज्ञान

इस शाखा के अन्तर्गत वाक्य के द्वारा उद्बोधित अर्थ का अध्ययन होता है। वस्तुतः उपर्युक्त रूपों––ध्वनि, ध्वनिग्राम, पदग्राम, वाक्य––का महत्व उसी समय होता है जबकि उनसे एक अर्थ प्रकट हो। अतः इस अर्थ का अध्ययन करना आवश्यक है। भाषाविज्ञान की जिस शाखा में 'अर्थ' पर विचार किया जाता है उसे अर्थविज्ञान (Semantics) की संज्ञा प्रदान की जाती है।

इन शाखाओं के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की कुछ अन्य शाखाएँ भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

## संधि-विचार विज्ञान

कभी-कभी दो पदों के सन्निकर्ष में आने पर उनके ध्वनिग्रामीय आकारों में परिवर्तन हो जाता है। इसप्रकार से परिवर्तित रूपों का अध्ययन प्रस्तुत करने वाली शाखा 'संधिविचार विज्ञान' कहलाती है। वस्तुतः इस शाखा का अध्ययन पहले पदविज्ञान के अन्तर्गत ही किया जाता था किन्तु आधुनिक भाषाशास्त्री सर्वथा पृथक् रूप में इसका अध्ययन प्रस्तुत करने लगे हैं, अतः इसे पृथक् शाखा का नाम ही दे दिया गया है।

## कोशरचना विज्ञान

इस शाखा के अन्तर्गत भाषा के समस्त अर्थवान तत्त्वों को वर्णों के अनुसार सूचीबद्ध किया जाता है। इस शाखा के अन्तर्गत आजकल परम्परागत कोशों की तरह केवल शब्दों को ही नहीं पदग्रामों को भी सूचीबद्ध किया जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग व्युत्पत्ति-विज्ञान को भी एक स्वतंत्र शाखा मानते हैं जिसके अन्तर्गत शब्दों की व्युत्पत्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

## अध्याय २

इस अध्याय के पूरक रूप में सर्वप्रथम भाषा की परिभाषा एवं उसके स्वरूप का ज्ञान परमावश्यक है।

## परिभाषा

साधारण बोलचाल में 'भाषा' शब्द का अर्थ लिखित भाषा होता है। साधारणतः मनुष्य भाषा तथा लेखनकला को प्रायः एक ही समझ लेते हैं किन्तु विचारणीय है कि क्या भाषा और लेखनकला में कोई अन्तर नहीं है? क्या ये एक ही वस्तु के दो भिन्न नाम हैं? यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो ये भिन्न-भिन्न वस्तुएँ ज्ञात होंगी। लेखनकला का इतिहास अधिकाधिक सात हजार वर्षों का ही है किन्तु अपेक्षाकृत भाषा का इतिहास अति प्राचीन है। कदाचित् भाषारहित आज कोई भी जाति न मिलेगी जबकि अनेक जातियाँ आज भी लेखनकला से अनभिज्ञ, प्राप्त हैं। लेखनकला तो वस्तुत शिक्षित मनुष्यों की भाषा का ही प्रतिनिधित्व करती है।

यद्यपि 'भाषा' की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, किन्तु कतिपय प्रमुख भाषाविदों की परिभाषाएँ नीचे दी जा रही हैं जिनके आधार पर भाषा के स्वरूप के विषय में हमें यत्किंचित् ज्ञान हो जायेगा।

"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"——स्वी-

"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा हृद्गत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"——गुणे

"मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव-मस्तिष्क वस्तुतः विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दों का निरन्तर उपयोग करता है। इसप्रकार के कार्यकलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है।"——
——जेस्परसन

"जिन ध्वनिचिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।"

——डॉ०बाबूराम सक्सेना

इस प्रकार भाषा की अनेक प्रकार से पारिभाषित करने का प्रयास किया गया है, किन्तु किसी भी परिभाषा से वस्तुतः भाषा का वास्तविक रूप प्रकट

नहीं हो पाता। नीचे विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भाषा के रूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

## भाषा ध्वनियों का समूह है

एक शिक्षित व्यक्ति भाषा की परिभाषा इसी रूप में देगा। किन्तु यह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। क्योंकि अन्य प्राणी भी तो हैं जो ध्वनि के द्वारा ही भावाभिव्यक्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनियों का प्रयोग न करने वाले प्राणी भी हैं, जैसे गूँगे, बहरे आदि। वस्तुतः मनुष्य के ध्वनि अवयवों से निस्सृत ध्वनि ही भाषा के अन्तर्गत आती है।

## ध्वनि-प्रतीक तथा वस्तु में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं होता

वस्तुतः ध्वनि-प्रतीक तथा प्रतीत-वस्तु में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ 'ग् + आ + य् + अ' ध्वनियों से 'गाय' प्रतीक की संरचना हुई है किन्तु इस ध्वनिप्रतीक से जिस प्राणी का बोध होता है उसका और इस ध्वनिसमष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि एक ऐसा युग रहा होगा जबकि ध्वनियों तथा उससे बोधित होने वाली वस्तुओं का सम्बन्ध रहा होगा अर्थात् ध्वनियों के आधार पर ही शब्द निर्माण होता रहा होगा। इस विचार में अनुकरणमूलक अल्प शब्दावली के आधार पर आंशिक सत्य की सम्भावना ही परिलक्षित होती है।

## भाषा स्वच्छन्द पद्धति है

भाषा की स्वच्छन्दता का अर्थ केवल यही है कि भाषा अर्जित वस्तु है। अर्थात् मनुष्य अपने पूर्वजों तथा अपने समाज के द्वारा ही भाषा को सीखता है। मनुष्य जहाँ पर रहेगा उसी स्थान की भाषा को वह सीख लेगा इसीलिए भाषा को समाज सापेक्ष्य कहते हैं––एकान्त निर्जन का निवासी भाषा न सीख सकेगा। किन्तु संसार में कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जिन्हें भाषा सीखने के लिए समाज अपेक्षित नहीं होता। पशु-पक्षियों की भाषा समाज-सापेक्ष्य न होकर स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक होती है। बच्चा जब पैदा होता है तो उस समय वह जो 'केहें-केहें' करता है, यह भाषा स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक ही होगी, क्योंकि इसके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। किन्तु इस प्रकार की भाषा का अध्ययन भाषाशास्त्र की सीमा के परे है।

## भाषा क्रमबद्ध वस्तु है

भाषा की क्रमबद्धता की मुख्य बात यह है कि प्रत्येक भाषा की गठन का एक विशेष क्रम होता है जिसके आधार पर अन्य विचारों को भी प्रकट किया जा सकता है। हम किसी भी भाषा के गठन के विपरीत नहीं जा सकते। हिन्दी में राम ...... खाता है। इस रिक्त स्थान पर केवल जातिवाचक संज्ञा को ही रखा जा सकता है, अन्य प्रकार की संज्ञाओं को हम नहीं रख सकते क्योंकि एकवचन की क्रिया के साथ दो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग हिन्दी भाषा की गठन के प्रतिकूल है।

भाषा की क्रमबद्धता के विषय में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हम उसके किसी भी वाक्य के क्रमबद्ध शब्दों को उसीप्रकार के अन्य शब्दों द्वारा स्थानान्तरित भी कर सकते हैं। यह स्थानान्तरण की शक्ति केवल मनुष्य में होती है। उदाहरणार्थ 'राम पानी पीता है' यहाँ पानी के स्थान पर मनुष्य दूध, रस, सोम आदि इसीप्रकार के शब्दों का प्रयोग कर सकता है किन्तु मानवेतर प्राणी ऐसा करने में समर्थ नहीं होते।

## भाषा सार्थक ध्वनि प्रतीकों का समूह है

भाषा ध्वनि प्रतीकों का समूह है और ये सभी ध्वनि प्रतीक सार्थक होते हैं। यह प्रतीक द्योतकता ही भाषा का प्रधान लक्षण है जो मानवेतर प्राणियों द्वारा सम्पन्न नहीं हो पाता। अनेक मानवेतर प्राणी भी मुखोच्चरित ध्वनि की सहायता से अपनी जाति के अन्य प्राणियों में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं किन्तु इन (पशुपक्षियों आदि) की बोली भाषा नहीं है क्योंकि भाषा का प्रधान लक्षण प्रतीकद्योतक का कार्य इसके द्वारा सम्पन्न नहीं हो पाता। इन प्राणियों के बोलने से इनकी जातियों के अन्य प्राणियों में जो प्रतिक्रिया होती है वह यंत्रवत् तथा अज्ञान रूप में होती है किन्तु मनुष्य के कण्ठ से निकली हुई ध्वनि वस्तुतः सज्ञान प्रतिक्रिया का परिणाम होती है। विशेष अर्थ द्योतित करने के लिए मनुष्य विशेष ध्वनिसमष्टि (शब्द) का व्यावहार करता है। भाषा की विशेष ध्वनिसमष्टि के साथ विशेष अर्थ का अटूट सम्बन्ध होता है। इतर प्राणियों की ध्वनि में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता।

## भाषा अपने में पूर्ण होती है

भाषा की पूर्णता का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि प्रत्येक भाव को व्यक्त

करने के लिए इसमें भिन्न-भिन्न शब्द होते हैं। अपितु, भाषा की पूर्णता का अर्थ यह है कि प्रत्येक भाषा अपने समाज के भावों को व्यक्त करने में समर्थ होती है। प्रत्येक भाषा की शब्दावली उस भाषा के बोलने वालों के प्राकृतिक वाता वरण पर आधारित होती है। यही कारण है कि स्कीमों भाषा में संस्कृत की अपेक्षा दर्शनशास्त्र की शब्दावली कम है किन्तु इसके विपरीत भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्फो के लिए उनकी भाषा में अनेक ऐसे शब्द हैं जो संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं।

इसी अध्याय में विद्वान् लेखक ने बोली और भाषा का भी उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में नीचे सामग्री प्रस्तुत की जाती है।

## व्यक्तिबोली, बोली, भाषा

व्यक्तिबोली का सम्बन्ध वास्तव में किसी व्यक्ति की वाक्प्रवृत्ति (Speech-habit) से है। जब हम किसी निर्धारित समय में इन वाक्-प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हैं तो यह व्यक्तिबोली का अध्ययन होता है। व्यक्तिबोली की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—'किसी व्यक्ति के निर्धारित समय की वाक् प्रवृत्तियों की समष्टि ही व्यक्तिबोली है।' इसके कतिपय अपवाद भी हैं। बँगला अथवा मराठी भाषा-भाषी लड़के हिन्दी-क्षेत्र में घर में एक व्यक्तिबोली तथा हिन्दी भाषियों से हिन्दी में वार्तालाप करते समय दूसरी व्यक्तिबोली का उपयोग करते हैं। इसप्रकार एक ही समय में ये दो व्यक्तिबोलियों का उपयोग करते हैं। दो भाषाओं की सीमा के लोगों की व्यक्तिबोली का निर्धारण भी कठिन होता है। क्योंकि इसमें इन दोनों भाषा की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। ऐसी व्यक्तिबोली को सीमावर्ती व्यक्तिबोली की संज्ञा दी जा सकती है।

यद्यपि किसी व्यक्तिबोली का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु लोग प्रायः इसप्रकार का अध्ययन नहीं करते। वास्तव में व्यक्तिबोली के रूप में भी किसी समूह विशेष की वाक्-प्रवृत्तियों का अध्ययन ही उनका लक्ष्य होता है। फिर भी व्यक्तिबोली की स्पष्ट धारणा महत्वपूर्ण है, क्योंकि विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर कोई भी भाषा उपबोलियों के संकलन रूप में ही दृष्टिगोचर होती है। भाषा वस्तुतः वह आधारभूत वस्तु है जिसके द्वारा मानव, सामूहिक वृत्तियों को प्राप्त एवं उनका संवहन करता है किन्तु भाषण (Speaking) सामूहिक वृत्ति नहीं है। हम सम्पूर्ण जाति के अधिकांश भाषीय वृत्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते। इसीप्रकार किसी एक व्यक्ति के भाषीय वृत्तियों को भी हम नहीं देख सकते।

प्रत्यक्ष रूप में या तो हम केवल व्यक्तियों को बोलते हुए देख सकते हैं या इन बोलियों के लिखित रूप को देख सकते हैं।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, कोई भी भाषा एक प्रकार की व्यक्तिबोलियों का संकलनमात्र है। बोली भी ठीक यही वस्तु है, किन्तु दोनों में तनिक भेद है। जब हम एक ही साथ भाषा एवं बोली दोनों की चर्चा करते हैं तो हम स्पष्टरूप में यह देखते हैं कि भाषा में अन्तर्भुक्त समस्त व्यक्तिबोलियों में जिस मात्रा में समानता मिलती है उसकी अपेक्षा बोली में अन्तर्निहित समस्त व्यक्तिबोलियों में अधिक मात्रा में समानता उपलब्ध होती है। कोई भी व्यक्ति रोहतक में प्रयुक्त हिन्दी की व्यक्तिबोलियों एवं काशी में प्रचलित व्यक्ति-बोलियों को एक बोली अथवा भाषा के अन्तर्गत न रख सकेगा। इसीप्रकार एक ही भाषा बोलनेवालों के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम यह नहीं कह सकते कि इनमें से कुछ लोग उस भाषा की एक बोली का प्रयोग करते हैं और अन्य लोग 'वास्तविक भाषा' बोलते हैं। सच बात तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई एक बोली ही बोलता है। इसप्रकार का अन्तर होते हुए भी इन दोनों पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रायः शिथिल रूप में होता है। हिन्दी भाषा के क्षेत्र की चर्चा करते हुए हम उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार एवं राजस्थान को इसके अन्तर्गत मानते हैं, किन्तु कभी-कभी हम बिहारी तथा राजस्थानी हिन्दी की भी बातें करते हैं। इसमें न तो कोई हर्ज है और न गलती ही है। भाषा एवं बोली के प्रयोग में सापेक्षिक रूप में जो भी शैथिल्य है वह दोष की अपेक्षा गुण ही है क्योंकि व्यक्तिबोलियों की समानता की मात्रा को दृष्टि में रखकर इस सम्बन्ध में हम अनेक नए पारिभाषिक शब्द गढ़ सकते हैं।

## अध्याय ३

इस अध्याय में मैक्समूलर ने भारत तथा ग्रीस में भाषा सम्बन्धी अध्ययन के विषय में अपना विचार व्यक्त किया है। यह निर्विवाद तथ्य है कि भाषा के क्षेत्र में सबसे प्राचीन कार्य करने वाले भारतवर्ष के ब्राह्मण ऋषि एवं विद्वान् थे। भारतीय परम्परा के अनुसार भाषा (वाणी) के दो भेद हैं:—

(१) दैवी (२) मानुषी।

तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति
दैवीं च मानुषीं च। (का० सं० १४/५)

(इस कारण ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाणियों का प्रयोग करता है, यज्ञ

में स्वर सहित वेद-मंत्रों के उच्चारण करते समय दैवीवाणी का तथा यज्ञ से अन्यत्र लौकिक व्यवहार में मानुषी का )।

दैवीवाणी वास्तव में 'छन्दस्' की भाषा है और मानुषी-वाणी संस्कृत भाषा है। इन दोनों के सम्बन्ध में इस देश में जितनी गहराई के साथ विचार किया गया है उसका सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। यहाँ शब्द को ब्रह्म माना गया है और उसे अनादि बताया गया है। भर्तृहरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के आगमकाण्ड का आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया है--

अनादि-निधनं ब्रह्म शब्द तत्व यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

( अनादि तथा निधन रहित अनन्त अविनाशी शब्द तत्व रूप जो ब्रह्म है, वह अर्थ के भाव से विवर्त (विकास एवं वृद्धि) को प्राप्त होता है। उसी से जगत की प्रक्रिया प्रादुर्भूत (जगत् की सृष्टि) हुई है। इस श्लोक के अनुसार वाक्ब्रह्म मुख्य तथा अर्थतत्व उस पर आश्रित है।

भाषा (वाणी) शुद्ध होनी चाहिए तभी वह प्रभावशाली होगी और श्रोताओं पर भी उसका मनोवांछित प्रभाव पड़ेगा। पतंजलि ने तो 'महाभाष्य' में स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख किया है कि अशुद्ध भाषा के प्रयोग के कारण ही असुर लोग पराजित हुए थे--

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः।
(म० भा० पस्पशाह्निक)

आर्यों के इस देश में अशुद्ध कर्म ही नहीं अपितु अशुद्ध भाषा का प्रयोग एवं चिन्तन भी अपराध माना जाता था--

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात ।।
(म० भा०)

(जब मंत्र में किसी वर्ण या स्वर का अशुद्ध उच्चारण होता है तो विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं होती; वह वाणी वज्र होकर यजमान को ही मार देती है, यथा, वृत्र के लिए जपे गए 'इन्द्रशत्रुर्वधस्व' मंत्र में अन्तोदात्त के स्थान पर पूर्वपद प्रकृत स्वर उच्चारण करने से वृत्र का ही नाश हुआ था।)

वैदिक साहित्य में वाणी (वाक्) को कहीं प्राण कहा है, कहीं मन और कहीं बुद्धि। शिक्षा में इन तीनों के स्तरों का जो क्रम रखा गया है वह इस प्रकार है--(पा० शि० ६)

आत्मा पहले बुद्धि से परामर्श करती है फिर मन को आज्ञा देती है। मन प्राणवायु को प्रेरित करके ध्वनि उत्पन्न करता है। इसप्रकार इसमें तीन स्तर हैं--प्राण, मन एवं बुद्धि। ये तीनों अन्तर्धाराएँ हैं और इनका धरातल है ध्वनि, शब्द। यदि शब्द-ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया तो वाह्य जगत् और अन्तर्जगत् दोनों से साक्षात्कार हो जाएगा। सम्भवतः इसी ओर संकेत करते हुए पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है--(म० भा०)

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके च कामुधुग् भवति।'

यदि एक शब्द का ही सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त किया जाय तथा उसका सुष्ठु प्रयोग किया जाय तो वह स्वर्ग एवं लोक दोनों में यथेष्ट फलदायक होता है। यहाँ 'शब्द' शब्द-जगत् का, 'स्वर्ग' सूक्ष्म जगत् का तथा 'लोक' स्थूल जगत् का प्रतीक प्रतीत होता है। जिसका शब्द पर अधिकार होगा उसी का स्वर्ग एवं लोक दोनों पर अधिकार हो जायगा।

यह तथ्य निर्विवाद है कि मनुष्य का सम्पूर्ण चिन्तन, ज्ञान तथा आविष्कार वाणी के माध्यम से ही देश एवं काल का अतिक्रमण कर मानव जाति की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। दंडी का यह कथन सर्वांशतः सत्य है कि यदि वाणी का प्रादुर्भाव न होता तो समस्त विश्व अज्ञानान्धकार में निमज्जित होता--

इध अन्धतमंक्रत्स्नं जायेत भुवन त्रयम्
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते
(काव्यादर्श)

छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है कि यादि वाणी न होती तो धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत तथा साधु-असाधु का ज्ञान नहीं होता। अतएव वाणी की ही उपासना करनी चाहिए। इस वाणी के भी चार स्तर होते हैं। इसका सूक्ष्मतम अस्पष्ट रूप मूलचक्र के पास से उठता है, फिर वह नाभि के पास आकर अर्द्धस्पष्ट अथवा सूक्ष्मतर हो जाता है। यहाँ से ऊपर उठकर यह हृदय प्रदेश में पहुँचता है जहाँ वह और भी स्पष्ट हो जाता है तथा सूक्ष्मतर से कुछ स्थूल बन जाता है। मानववाणी के ये चार रूप क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म एवं स्थूल कहे

जा सकते हैं। इन्हें ही क्रमशः 'परा', 'पश्यन्ति', 'मध्यमा' एवं 'वैखरी' कहते हैं। इनमें से पहले तीन स्तर– चिन्तात्मक तथा चौथा ध्वन्यात्मक है। आधुनिक भाषाविज्ञानी इस चौथे स्तर, वैखरी से ही अपने अध्ययन का आरम्भ करते हैं।

वाणी के सम्बन्ध में यहाँ ऋग्वेद का एक मंत्र द्रष्टव्य है। यह इस प्रकार है :—

चत्वारिश्र्ृंगात्रयो अस्यपादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासौ अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महा देवोमर्त्यां आ विवेश।

( ऋग्वेद ४।५८।३ )

इसकी व्याख्या करते हुए पतंजलि ने बताया है कि वाणी के चार सींग–– नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात हैं, इसके तीन पाद, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान हैं, इसके दो सिर, नित्य तथा कार्यरूप दो शब्द स्वरूप है, इसके सात हाथ––हैं सातविक्तियाँ, यह तीन स्थानों––उरस, कंठ तथा शिरस में बँधा है।

इसमें संदेह नहीं कि जिस युग में वेद के संहिता-पाठ का पद-पाठ में परिवर्तन हुआ था उससे पूर्व ही संधि, समास, प्रत्यय आदि के अध्ययन की परम्परा परिपुष्ट हो चुकी थी। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने तो अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में कतिपय ऐसे वैदिक मंत्रों को उद्धृत किया है जिनमें व्युत्पत्ति या निरुक्त का ही निर्देश ध्वनित होता है। यद्यपि इन मंत्रों का मूल-उद्देश्य व्युत्पत्ति देना नहीं है तथापि इनमें प्रकारान्तर से जो व्युत्पत्ति आ गई है उससे यह तो प्रमाणित ही हो जाता है कि व्याकरणशास्त्र का आदिमूल भी वेद में उपलब्ध है। इनमें से कतिपय मंत्र नीचे दिए जाते हैं ––

(१) यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवाः।
ऋ० १।१६४।५०।।
( यज्ञ की निरुक्ति 'यज्' धातु से )

(२) ये सहांसि सहसा सहन्ते।।
ऋ० ६।६६।९।।
(सहस् की निरुक्ति 'सह्' धातु से)

(३) पूर्वीरश्न्ताविश्ना। ऋ ०८।५।३१।।
(अश्विन की निरुक्ति 'अश्' धातु से )

(४) स्तोतृभ्यो मंहते मघम्। ऋ० १।११।३॥
(मघ की निरुक्ति 'मह्' धातु से)
(५) धान्यमसिधिनुहि देवान्। यजु० १।२०।
धान की निरुक्ति 'धिन्व' से)

वेदों के अध्ययन के लिए उस युग में चरण, शाखाएँ एवं अनुशाखाएँ थीं। डॉ० वासुदेवशरण के अनुसार पाणिनि के पहले जो वैदिक विद्यालय थे उन्हें चरण कहते थे। यह विशेष नाम अष्टाध्यायी में आया है और संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। अध्यापन करनवाले आचार्य और अध्ययन करने वाले छात्र इन दोनों के समुदाय की संज्ञा चरण थी। जैसे इस युग में विश्व-विद्यालय हैं वैसे ही उस प्राचीन युग में चरणों के विद्वान नए-नए ज्ञानविज्ञान की ऊहा-पोह में आगे बढ़कर भाग लेते थे।

पंडित भगवतदत्त जी की सम्मति में चरणों के अन्तर्गत शाखाएँ एवं अनु-शाखाएँ थीं। शाखाएँ क्या हैं इस सम्बन्ध में भी अनेक मत है। पंडित भगवत-दत्त जी ने सभी मतों पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि शाखाएँ वस्तुतः वेद के पाठान्तर हैं। ये पाठान्तर भी व्याख्या के लिए ही किए गए हैं। इन शाखाओं में उच्चारण-भेद भी हैं जिनके सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार किया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद की शाकल एवं वाश्कल शाखाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इसीप्रकार अन्य वेदों की भी शाखाएँ हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन उच्चारण-भेदों का गहन अध्ययन अपेक्षित है।

जिसप्रकार आज भाषाविज्ञान के अध्ययन में ध्वनिशास्त्र का अध्ययन प्रमुख माना जाता है उसीप्रकार वैदिक काल में वेदांगों के अन्तर्गत शिक्षा (ध्वनिविज्ञान) का अत्यधिक महत्व था। संस्कृत में ध्वनि-विज्ञान के प्रति-पादक ग्रंथों में शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का विशाल वाङमय है। शिक्षा को यहाँ निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है---

वर्णस्वराद्युच्चारण प्रकारो
यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।

अर्थात् जिसमें वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण की प्रक्रिया का बोध कराया जाता है वह शिक्षा-शास्त्र है। ऋग्वेद भाष्य में कहा गया है कि वर्ण, स्वर, मात्रा, शक्ति, मंत्र और पंक्ति ये सब बातें शिक्षा अध्याय में कही गई हैं।

ऊपर के उल्लेख से यह प्रमाणित है कि शिक्षा-पाठ, वेद-पाठ का अंगस्व-रूप मान्य था। इसी कारण वेदाङ्ग का प्रथम अंग "शौनकीय शिक्षा",

प्राचीन काल में, वेदवत् माननीय थी। पाणिनि ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है--

शौनकादिभ्य छन्दसि (४,३।१०६)

इसकी व्याख्या में शब्देन्दुशेखरकार का मन्तव्य है कि--

छन्दसि किम् शौनकीया शिक्षा इति।

प्रातिशाख्यों में भी शिक्षा के विषय आलोचित हुए हैं। इन्हें पार्षद्-सूत्र भी कहते हैं। इनके इस नामकरण का कारण यह प्रतीत होता हैं कि प्रत्येक शाखा की शिक्षा (मंत्रों के शुद्ध उच्चारण) का निर्णय परिषद् द्वारा होता था। प्राचीन काल में संहिता-पाठ ही क्षिक्षा का एक आलोच्य विषय था। इसके बाद क्रम-पाठ प्रवर्तित हुआ। पद-पाठ में पदच्छेद, समास और संधिच्छेद करके पठन का नियम आरम्भ हुआ था। जहाँ इस तरह पदच्छेद करने पर भी वेद का अर्थ सहज में हृदयंगम नहीं होता है वह पदपाठ का प्रवर्तन यास्क और पाणिनि को अनुमोदनीय नहीं है। पाणिनि के भाष्यकार पतंजलि को भी यही स्वीकरणीय है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में संहिता-पाठ और पद-पाठ दोनों ही देखे जाते हैं। वर्तमानकाल में ऋग्वेद का, सामवेद का और अथर्ववेद का, एक-एक, यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता का एक तथा तैत्तरीय संहिता का एक प्रातिशाख्य उपलब्ध है।

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा-ग्रन्थों की अपेक्षा प्रातिशाख्यों में भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए अधिक सामग्री उपलब्ध है। कई वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में भी प्रातिशाख्यों में विभिन्न मत मिलते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि देश, काल एवं भौगोलिक स्थिति के कारण ही ऐसा हुआ होगा।

इस सम्बन्ध में विचार करते हुए श्री एलन महोदय अपनी पुस्तक--
"Phonetics in Ancient India" में लिखते हैं--

वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्य के प्रणेताओं में वैमत्य है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में भी आंचलिक प्रभाव के कारण वेद की विभिन्न शाखाओं में उच्चारण सम्बन्धी विभिन्नताएँ थीं। इन भिन्नताओं को प्रदर्शित करते हुए प्रातिशाख्य के प्रणेताओं में धार्मिक कट्टरता का लेश भी नहीं मिलता क्योंकि उनके विचार सर्वथा तथ्यपरक हैं। निसन्देह उन्होंने कतिपय उच्चारणों को दोषपूर्ण बतलाया है क्योंकि वे मान्य उच्चारण से सर्वथा भिन्न थे।" आगे चलकर एलन महोदय पुनः कहते हैं :--

"इन ग्रंथों के प्रणेता केवल पुरोहित ही नहीं थे अपितु स्पष्टरूप से वे ध्वनिविज्ञानी थे। उन्होंने सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिक पद्धति से ध्वनियों के विषय में मन्थन किया होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने मूल उद्देश्य से भटक गए हैं।"

सत्य तो यह है कि भारतीय संस्कृति को पूर्णरूप से हृदयंगम न कर सकने के कारण ही एलन ने ऊपर के विचार प्रकट किए हैं। यथार्थतः भारतीय परम्परा सम्पूर्ण रूप को खण्ड-खण्ड करके अध्ययन का विषय बनाने के पक्ष में नहीं है। यहाँ के अध्येताओं ने समग्र जीवन-दर्शन को एक सूत्र में आबद्ध कर अपने अध्ययन का लक्ष्य बनाया है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान ब्रह्मविज्ञान के उपजीव्य हैं। एलन ने निर्दिष्ट किया है कि ध्वनि-विज्ञान के उपरिकथित ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य जैसे ग्रन्थों में ध्वनि-विज्ञान के महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध हैं। पतंजलि की स्थापना है कि किसी भी भाषा की ध्वनियों का पर्याप्त अध्ययन होने के उपरान्त ही उसके व्याकरण का अध्ययन सम्भव है। ध्वनिसम्बन्धी उपकरणों की दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण में चर्चित करण-स्थान, ऐतरेय-आरण्यक (३।२।१) में निर्दिष्ट स्पर्श, ऊष्म, अन्तस्थ, घोषवत् तथा छान्दोग्य में उपलब्ध स्पर्श, ऊष्म, अन्तस्थ, स्वर, घोषवत् आदि उल्लेख महत्वपूर्ण हैं। शुक्लयजुर्वेद वर्णों के उच्चारणस्थान का स्पष्टीकरण करता है। यथा--सृक्किणी, वर्त्स, जिह्वा के विभिन्न भाग, जिह्वा की नोक जिसे सरस्वती की संज्ञा प्राप्त है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक वाङमय में भाषाविज्ञान तथा उसके एक विभाग ध्वनिविज्ञान के अध्ययन की कितनी अधिक सामग्री सन्निविष्ट है।

इसी अध्याय में विद्वान् लेखक ने प्राचीनयुग में ग्रीस में भाषा सम्बन्धी अध्ययन का उल्लेख किया है। यहाँ पर भारतीय एवं ग्रीक विद्वानों के भाषा के अध्ययन सम्बन्धी दृष्टिकोणों में जो अन्तर था उसे भी स्पष्टतया हृदयंगम कर लेना चाहिए। ग्रीक लोग अपने अतिरिक्त संसार के अन्य लोगों को बर्बर मानते थे। वे लोग ग्रीक भाषा को श्रेष्ठ तथा अन्य लोगों की भाषाओं को बर्बर नाम से अभिहित करते थे। भारतीय ऋषियों ने जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, भाषा को, दैवी तथा मानुषी दो भागों में बाँट रखा था। इनमें से वेद की भाषा तो दैवी भाषा थी किन्तु संस्कृत मानुषी भाषा थी। इसी मानुषी भाषा का व्याकरण पाणिनिकृत अष्टाध्यायी है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के

प्रसिद्ध विद्वान ब्लूमफल्ड एवं बैंजामिन ली हूर्फ के निम्नलिखित वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। ब्लूमफल्ड पाणिनि के सम्बन्ध में लिखते हैं:--

'वास्तव में वह भारत देश था, जहाँ ऐसे ज्ञान का उदय हुआ जो यूरोप के लोगों की भाषा सम्बन्धी विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करने वाला था।······ (प्राचीनकाल में) ······· ऐसी परिस्थिति आ गई थी कि उच्चवर्ग के लोग निम्नवर्ग के लोगों की भाषा को अपनाने के लिए बाध्य हो रहे थे। ऐसी स्थिति में हिन्दू वैयाकरणों का ध्यान वैदिक भाषा की ओर से उच्चवर्ग के लोगों की भाषा की ओर गया और वे उस भाषा के नियम-उपनियम बनाने में प्रवृत्त हुए जिसे आज संस्कृत कहते हैं। समय की प्रगति से इस भाषा के व्यवस्थित व्याकरण एवं कोश का निर्माण हुआ। (ऐसा प्रतीत होता है) पाणिनि के व्याकरण की रचना के पूर्व वैयाकरणों की कई पीढ़ियाँ गुजर गई होंगी। पाणिनि का व्याकरण वस्तुतः मानव ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। आज तक संसार की किसी भी भाषा का इतना पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं है। आगे चलकर, ब्राह्मण संस्कृति से ओत-प्रोत भारत की संस्कृत जो साहित्यिक एवं राज्यभाषा बनी, उसका आंशिक कारण पाणिनी का व्याकरण भी था। ···· यदि यूरोप के विद्वानों को संस्कृत के वर्णनात्मक व्याकरण की भाँति ही ग्रीक एवं लैटिन के व्याकरण उपलब्ध होते तो भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आज की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र गति एवं शुद्ध रूप में होता।"

इसी संदर्भ में बैंजामिन ली हूर्फ के ये वचन भी द्रष्टव्य हैं:--

"यद्यपि भाषाशास्त्र बहुत प्राचीन विज्ञान है, तथापि इसका आधुनिक प्रयोगात्मक रूप, जो अलिखित भाषा के विश्लेषण पर जोर देता है, सर्वथा आधुनिक है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, आज के रूप में ही ईसा से कई शताब्दि पूर्व, पाणिनि ने इस विज्ञान का शिलान्यास किया था। पाणिनि ने उस युग में वह ज्ञान प्राप्त कर लिया था जो हमें आज उपलब्ध हुआ है। संस्कृत भाषा के वर्णन अथवा संस्कृत भाषा को नियमबद्ध करने के लिए पाणिनि के सूत्र बीज-गणित के जटिल सूत्रों की भाँति हैं। ग्रीक लोगों ने वस्तुतः इस (भाषा-शास्त्र) विज्ञान की अधोगति कर रखी थी।

इनकी कृतियों से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक विचारक के रूप में, हिन्दुओं के मुकाबले में (ग्रीक लोग) कितने अधिक निम्नस्तर के थे। (सच तो यह है कि) उनकी भ्रान्तिपूर्ण धारणा का प्रभाव दो सहस्र वर्षों तक चलता रहा।

(वास्तव में) १९वीं शताब्दी के आरम्भ से जब से पश्चिम ने पाणिनि को प्राप्त किया है, तभी से आधुनिक भाषाशास्त्र का आरम्भ होता है।"

इस अध्याय के पृष्ठ ९८-९९ में मैक्समूलर ने भाषा-विज्ञान के इतिहास के पथ को प्रशस्त करने का श्रेय ईसाई धर्म को दिया है। आपके अनुसार ईसाई धर्म के मानवतावादी एवं उदार धार्मिक सिद्धान्तों ने विश्व-मानव को भाषाओं के अध्ययन में प्रवृत्त किया। इसमें सन्देह नहीं कि धर्मप्रचार में संलग्न ईसाई मिशनरियों ने विविध भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन करके इनके व्याकरण एवं कोश लिखे और आज भी विश्व की अनेक भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद के फलस्वरूप उनका यह कार्य अबाधगति से चल रहा है जिसमें अमेरिका के नाइडा एवं के०एल०पाइक जैसे प्रख्यात भाषाविज्ञानी भी हैं, किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ईसा के जन्म से कई सौ वर्ष पूर्व करुणावतार भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को संबोधित करते हुए कहा था——

"अनुजानामि भिक्खवे सकाय
निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितु"
(भिक्षुओं, अपनी-अपनी भाषा में
बुद्धवचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ)।

यह इतिहास की एक विचित्र घटना है कि विश्व के एक कोने में जहाँ ग्रीस एवं रोम के अधिवासी अपने अतिरिक्त अन्य लोगों को असभ्य एवं उनकी भाषा को बर्बर घोषित कर रहे थे वहाँ दूसरी ओर बुद्ध की ऊपर की अनुज्ञा, उसी युग में, भारतीय जनमानस को नवीन आलोक प्रदान कर रहीं थी। बुद्ध का सहिष्णुतापूर्ण यह उपदेश मानवता के इतिहास की वास्तविक धरोहर है। सच बात तो यह है कि भाषाविज्ञान के इतिहास में पाणिनि, बुद्ध, अशोक एवं पतञ्जलि का स्थान बहुत ऊँचा है। एक ओर जहाँ पाणिनि ने वेद की धार्मिक भाषा को पृथक करके लौकिक संस्कृत के व्याकरण का प्रणयन किया, वहाँ दूसरी ओर बुद्ध ने लोकभाषा में केवल उपदेश ही नहीं दिया अपितु अपने वचनों को अन्य भाषाओं में अनूदित करने की भी अनुज्ञा प्रदान की। अशोक ने अपने अभिलेखों में आँचलिक भाषाओं का प्रयोग करके उनकी प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि की तथा पतञ्जलि ने इस तथ्य को हृदयंगम कराया कि भाषा का निर्माण जनता द्वारा होता है, वैयाकरण द्वारा नहीं।

## अध्याय ५

इस अध्याय के पृष्ठ १११ पर मैक्समूलर ने वैदिक संस्कृत के सम्बन्ध में विचार किया है।

विकास क्रम के विचार से भारतीय आर्य-भाषा के तीन विभाग किए जाते हैं—(१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा (वैदिक-संस्कृत, लौकिक-संस्कृत) (२) मध्य भारतीय आर्य-भाषा (अशोक के अभिलेखों की भाषा, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश) (३) आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, सिन्धी आदि)।

## प्राचीन भारतीय आर्यभाषा

भारतीय आर्य एक यज्ञ परायण संस्कृति के अनुगामी थे। प्राचीन ईरानी संस्कृति के अध्ययन से विदित होता है कि भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही आर्यों में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। भारत में बस जाने पर यज्ञों के विधि-विधान में विकास होता गया और आर्य ऋषि देवताओं की प्रशंसा में सूक्तों की रचना करते रहे। ये सूक्त परम्परागत रूप में ऋषि परिवारों में सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद में विभिन्न ऋषि परिवारों से सूक्तों का संग्रह किया गया। यह संकलन (ऋग्वेद संहिता) के रूप में सम्पन्न हुआ। उस अविज्ञात अत्यन्त प्राचीनकाल से वेदाध्ययनपरायण मनीषियों न श्रुति परम्परा से "ऋक्-संहिता" को अविकल रूप में सुरक्षित रखकर भारोपीय परिवार के प्राचीनतम साहित्य को हम तक पहुँचाया है।

यज्ञों के विकास के साथ-साथ वैदिक वाङमय में भी विशेष वृद्धि होती गई। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत तीन विभाग हैं—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण एवं (३) उपनिषद्। संहिता भाग में 'ऋक्संहिता' के अतिरिक्त 'यजुः संहिता' एवं अथर्वसंहिता' हैं। यजुः संहिता में यज्ञों के कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र संग्रहीत हैं। इसके मंत्र यज्ञों में प्रयोग के क्रम से रखे गये हैं और पद्य के साथ-साथ गद्य में भी अनेक मंत्र इसमें उपलब्ध होते हैं। यजुः संहिता, कृष्ण एवं शुक्ल, इन दो रूपों में सुरक्षित है। कृष्णयजुर्वेद संहिता में मंत्रभाग एवं गद्यमय व्याख्यात्मक भाग साथ-साथ संकलित किये गए हैं, परन्तु शुक्लयजुर्वेदसंहिता में केवल मंत्र-भाग संग्रहीत हैं। सामवेद संहिता में सोम-यागों में गाये जाने वाले सूक्तों को गेयपदों के रूप में सजाया गया है। इसके अधिकांश सूक्त ऋग्वेद संहिता से लिये गए हैं। अथर्व वेद संहिता में जन साधरण में प्रचलित मंत्र-तंत्र, टोने-टोटकों का संकलन है। इसकी सामग्री ऋक्संहिता से कम प्राचीन नहीं है, परन्तु चिरकाल तक वेद के रूप में मान्यता-प्राप्त न होने के कारण इसकी भाषा का प्राचीनरूप सुरक्षित नहीं रह पाया।

ब्राह्मण भाग में कर्म-काण्ड की व्याख्या की गई है और इसी प्रसंग में अनेक

उपाख्यान दिये गये हैं। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की रचना गद्य में हुई है। ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण ग्रन्थ 'ऐतरेय-ब्राह्मण' है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सबसे प्राचीन है और इसका रचनाका : १००० ई० पू० है। सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ताण्ड्य' अथवा 'पञ्चविंश- ब्राह्मण' विशेष उल्लेखनीय है। 'शतपथ ब्राह्मण' शुल्क यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' आदि कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। अथर्ववेद को वेद के रूप में स्वीकार कर लेने पर इसके साथ भी ब्राह्मण ग्रन्थ जोड़े गये।

उपनिषद् ब्राह्मणग्रन्थों के परिशिष्ट भाग हैं। इनमें वैदिक मनीषियों के आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक चिन्तन के दर्शन होते हैं। इनमें आर्यों के ज्ञान-काण्ड का उदय एवं विकास हुआ। इनकी सरल प्रवाहमयी भाषा एवं हृदय ग्राहिणी शैली अत्यन्त प्रभाव कारिणी है।

भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विभिन्न दलों की भाषा में कुछ कुछ भिन्नता अवश्य थी, परन्तु उनमें साहित्यिक भाषा का एक सर्वमान्य रूप विकसित हो गया था। इसी साहित्यिक भाषा में 'ऋक्संहिता' के सूक्तों की रचना हुई। दीर्घ-काल तक ये सूक्त, श्रुतिपरम्परा से, ऋषिपरिवारों में सुरक्षित रखे जाते रहे। परन्तु जैसे-जैसे बोलचाल की भाषा की भाषा से सूक्तों की भाषा की भिन्नता बढ़ती गई और वह दुर्बोध होने लगी, वैसे वैसे इसके प्राचीनरूप को सुरक्षित रखने के लिये संहिता के प्रत्येक पद को संधिरहित अवस्था में अलग-अलग कर 'पदपाठ' बनाया गया तथा 'पदपाठ' से 'संहितापाठ' बनाने के नियम निर्धारित किये गये और प्रत्येक 'वेद' की विभिन्न शाखाओं के 'प्रातिशाख्यों' की रचना हुई। 'प्रातिशाख्यों' में अपनी-अपनी शाखा के अनुरूप वर्ण विचार, उच्चारण-विधि, पदपाठ से संहिता-पाठ बनाने की विधि आदि विषयों पर पूर्णतया विचार किया गया है। 'पदपाठों' एवं 'प्रातिशाख्य ग्रन्थों' से यह असंदिग्ध रूप से विदित होता है कि इनकी रचना के समय 'संहिता' का जो रूप था, वही अविकल रूप आज हमें प्राप्त हुआ है। यहाँ पर वैदिक भाषा के ध्वनि समूह एवं शब्द तथा धातुरूपों पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

## स्वरध्वनियाँ

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (वैदिक) में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ ऐ, औ तेरह स्वरध्वनियाँ हैं। इनमें की पहिले की नौ स्वर ध्वनियों को प्रातिशाख्यों में 'समानाक्षर' तथा बाद की चार स्वर ध्वनियों को 'संध्यक्षर' संज्ञा दी गई है। संध्यक्षरों में भी ए, ओ 'गुण' तथा 'ऐ', 'औ' वृद्धि स्वर हैं। 'ऐ'

तथा 'ओ' क्रमशः 'आ + इ' तथा 'अ + उ' की गुण संधि के और 'ऐ' तथा 'औ' क्रमशः 'आ + ए' तथा 'आ + औ' की वृद्धि संधि के परिणाम हैं। 'ऐ' 'औ' के मूलरूप क्रमशः 'आ इ' 'आउ' हैं। सन्धि में 'ऐ', औ' का क्रमशः 'आय्', 'आव्', रूप में परिणत होना यही सिद्ध करता है।

वैदिक भाषा की एक प्रधान विशेषता है स्वराघात (accent)। प्रधान स्वर युक्त ध्वनि कीउदात्त (acute), स्वरहीन अक्षर की 'अनुदात्त' (unaccented) तथा उदात्तस्वर की अव्यवहित परवर्ती निम्नगामी स्वर-ध्वनि एवं उदात्त में उठकर अनुदात्त स्वर में ढलने वाले अक्षर की 'स्वरित' (circumflex) संज्ञा है। स्वर परिवर्तन के कारण शब्दों के अर्थ तक में परिवर्तन हो जाता है। आद्युदात्त 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसक लिंग है और इसका अर्थ है 'प्रार्थना', परन्तु यही शब्द अन्तोदात्त ('ब्रह्मन') होने पर पुंल्लिग हो गया है और तब इसका अर्थ होता है 'स्तोता'। 'ऋक्संहिता' में अनुदात्त स्वर प्रकट करने के लिए अक्षर के नीचे पड़ी रेखा ( – ) तथा 'स्वरित' के लिये अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा (।) खींची जाती है; यथा––जुहोति (इसमें 'जु' अनुदात्त, 'हो' उदात्त एवं 'ति' स्वरित हैं)।

स्वरध्वनियों के उच्चारण में वैदिक काल की कुछ विशेषतएँ उल्लेखनीय हैं। 'अ' का उच्चारण प्रातिशाख्यों के समय में अति ह्रस्व संवृत स्वर के रूप में होने लगा था परन्तु मंत्रों के रचनाकाल में इसका उच्चारण विवृत (open) रहा होगा क्योंकि मंत्रों के छन्द को ठीक रखने के लिये 'ऋक्संहिता' में 'ए' 'ओ' के पश्चात् 'अ' स्वर ध्वनि का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है।

'ऋ' का उच्चारण आजकल 'रि' किया जाता है परन्तु वैदिककाल में इसका उच्चारण भिन्न था जो आज लुप्त हो गया है। ऋक् प्रतिशाख्य में इस 'र' युक्त स्वरध्वनि बताया गया है। इससे जान पड़ता है कि इसका उच्चारण प्राचीन इरानी 'एँ रे' के समान रहा होगा। यही बात 'ॡ' के उच्चारण में भी है।

'ऐ, औ' का उच्चारण आजकल 'अइ, अउ' हो गया है परन्तु संधि में इन संध्यक्षरों के परिवर्तन पर ध्यान देने से विदित होता है कि इनका मूलरूप 'अइ, आउ' है।

ऋक् संहिता में छन्द की लय को ठीक रखने के लिये 'र्' से संयुक्त व्यञ्जन के बीच अति ह्रस्व स्वर ध्वनि का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है। इस

स्वर सन्निवेश को 'स्वरभक्ति' कहते हैं। इसप्रकार 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्दर' करना पड़ता है।

## व्यञ्जन ध्वनियाँ

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में मूल भारोपीय भाषा की व्यञ्जन ध्वनियाँ अन्य भाषाओं से अधिक पूर्णरूप में सुरक्षित रहीं। व्यञ्जन ध्वनियों में मूर्धन्य 'टवर्ग' (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) का सन्निवेश भारतीय आर्यभाषा की अपनी विशेषता है। संभवतः 'टवर्ग' की उत्पत्ति द्रविड़ प्रभाव के फलस्वरूप हुई। 'ऋक्-संहिता' में मूर्धन्य व्यञ्जन केवल पद के मध्य अथवा अन्त में ही आये हैं। ये मूर्धन्य व्यञ्जन ध्वनियाँ मूर्धन्य 'ष' (मूल स्, श्, ज्, ह्) अथवा 'र्' से अनुगमित दन्त्य व्यञ्जनों के परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकट हुई हैं, यथा--'दुष्टर', 'अजेय' (='दुस्तर'), 'वष्टि' (='वश्-ति') 'इच्छा करता है', 'मृष्ट' (=मृज्-त), 'प्रक्षालित', 'नीड' (= 'निज्द') 'घोंसला', 'दूढी' (= 'दुज्-धी') 'अस्वस्थ', 'दृढ' (= दृह-त्), 'नृणाम' (= 'नृ-नाम्') आदि।

'टवर्ग' के समावेश से प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में व्यञ्जन ध्वनियों के उच्चारणस्थान के अनुसार पाँच वर्ग हो गये--'कवर्ग' (क्, ख्, ग्, घ्, ङ) कंठ्य; 'चवर्ग' (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) तालव्य; 'तवर्ग' (त्, थ्, द्, ध्, न्) दन्त्य; 'पवर्ग' (प्, फ्, ब्, भ्, म्) ओष्ठ्य; तथा 'टवर्ग' (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) मूर्धन्य। इन पाँच वर्गों के अतिरिक्त इसमें चार अर्धस्वर ध्वनियाँ 'य्, व्, र्, ल्', तीन ऊष्म ध्वनियाँ श्, ष्, स्, एक महाप्राण ह्, एक अनुनासिक ं (m) तथा तीन अघोष ध्वनियाँ विसर्जनीयः (h), जिह्वामूलीय ᳵ (h) एव उपध्मानीय (h) विद्यमान हैं। 'टवर्ग' के अन्तर्गत वैदिक भाषा में ळ (l) तथा ळह (lh) भी सम्मिलित हैं जो ऋक्संहिता में 'क्रमशः' स्वरोपहित 'ड्, ढ्' का स्थान ग्रहण करते हैं; यथा--'ईळे' (वास्तव में 'ईड्य') 'मीळ्हुषे' (वास्तव में 'मीढ्वान्')।

## शब्दरूप

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में शब्दों के दो विभाग लक्षित होते हैं-- 'अजन्त' (स्वरान्त) एवं 'हलन्त' (व्यञ्जनान्त)। 'अजन्त' शब्दों में ह्रस्व तथा दीर्घ 'अ, इ, उ, ऋ' में अन्त होने वाले शब्द हैं। 'हलन्त' शब्द अन्तिम प्रकृत अथवा प्रत्ययान्त व्यञ्जन के अनुसार अनेक प्रकार के हैं; यथा--'च्, क्, त्, थ्, द्, ध्, भ्, स्, श्' में अन्त होने वाले तथा वत्, तात्, इत्, उत्, त्, अन्त्, मन्त्, वन्त अन्, मन्, इन्, मिन्, विन्, अर्, तर्' इत्यादि प्रत्ययान्त शब्द।

इसमें तीन लिङ्ग, (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपंसकलिङ्ग) तीन वचन, (एक, द्वि तथा बहुवचन) तथा आठ कारक, (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन) हैं। प्रत्येक शब्द के आठों कारकों तीनों वचनों तथा लिङ्गो के रूप 'सुप् प्रत्यय' जोड़ने से निष्पन्न होते हैं।

## धातुरूप

भारोपीय परिवार की भाषाओं में ग्रीक तथा प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (वैदिक संस्कृत) ने धातुरूपों की विविधता को बहुत कुछ सुरक्षित रखा। ग्रीक के समान वैदिकभाषा में भी तीन वचन, तीनपुरुष, दो पद (आत्मनेपद एवं परस्मैपद), चारकाल (वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ्, एवं सम्पन्न या लिट्) तथा पाँच भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय निबंध) विद्यमान हैं।

धातुरूपों की तीन विशेषताएँ अनुलक्षणीय हैं--(१) धातु से पूर्व 'अ' के आगम (augment) का प्रयोग (२) धातु का दित्व (reduplication) तथा (३) धातु एवं तिङ प्रत्यय के मध्य 'विकरण' का सन्निवेश।

'विकरण' की भिन्नता के अनुसार धातुओं का दस 'गणों' में विभाग किया गया है--(१) 'अ'--विकरण वाली (भ्वादिगण), (२) विकरण रहित (अदादिगण), (३) विकरणरहित धातु के दित्ववाली (जुहोत्यादिगण), (४) 'य' विकरणवाली (दिवादिगण) (५) 'नु' विकरणवाली (स्वादिगण), (६) स्वराघात युक्त 'अ' विकरणवाली (तुदादिगण) (७) धातु के अंतिम व्यञ्जन से पूर्व 'न' या 'न्' के आगमवाली (रुधादि गण), (८) 'उ' विकरण वाली (तनादिगण), (९) 'ना' विकरणवाली (क्र्यादिगण), (१०) 'अय्' विकरणवाली (चुरादिगण)।

इन दस गणों के भी दो विभाग किये गये हैं--(१) जिनमें 'अङ्ग' (धातु का विकरण युक्त रूप, जिसमें 'तिङ' प्रत्यय जोड़े जाते हैं) 'अकारान्त' हो (thematic) तथा (२) जिनमें 'अङ्ग' 'अकारान्त' न हो (non-thematic)। प्रथम विभाग (संस्कृत वैयाकरणों ने इसको 'प्रथम व्यूह' संज्ञा दी है) में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ तथा दशमगण की धातुएँ तथा 'द्वितीय व्यूह' में शेष छै गणों की धातुएँ हैं। विकरण प्रत्यय केवल वर्तमान तथा इसके भावों एवं असम्पन्न में प्रयुक्त होते हैं; अन्य कालों में धातु से सीधे-सीधे तिङ प्रत्यय जुड़ जाते हैं।

वैदिक भाषा में धातुओं के 'असम्पन्न', 'सम्पन्न' एवं सामान्य रूपों में काल-

गत भेद नहीं है। इन रूपों में केवल प्रक्रिया भेद है। वैदिक भाषा में किसी धातुरूप का असम्पन्न (imperfect) अर्थ नहीं होता और जिन धातु-रूपों को यह संज्ञा दी गई है, वे वास्तव में वर्तमान काल का अर्थ द्योतित करते हैं और 'सम्पन्न' अर्थ उन धातु रूपों से व्यक्त होता है, जिनको 'सामान्य' की संज्ञा दी गई है।

वैदिक भाषा में 'वर्तमान', 'सम्पन्न' तथा 'सामान्य' के 'निर्देश', (indicative), अभिप्राय (subjunctive), सम्भावक (optative), तथा अनुज्ञा (imperative) एवं निर्बन्ध (injcnctive) भावों (moods) के रूप उपलब्ध होते हैं। इसप्रकार वैदिक भाषा के धातुरूपों को निम्न-लिखित विभागों में बाँटा जा सकता है--(१) वर्तमान विभाग, इसमें 'अस-म्पन्न भी सम्मिलित हैं; (२) सम्पन्न विभाग, (३) सामान्य विभाग तथा (४) भविष्यत् विभाग।

परस्मैपद तथा आत्मनेपद के तिङ प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं और इनके भी पुनः दो, कुछ कुछ भिन्न रूप होते हैं--(१) अविकृत (primary) और (२) विकृत (secondary)। 'सम्पन्न काल तथा अनुज्ञा' (imperative) भाव के रूप भी भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होते हैं।

ऋग्वेदसंहिता के सभी सूक्तों की रचना एक ही समय में नहीं हुई थी। अतः कालगत भेद के साथ-साथ उनमें भाषागत भिन्नताएँ भी परिलक्षित होती हैं। दशम मण्डल की भाषा अन्य मण्डलों की भाषा से कुछ बातों में भिन्न है। यहाँ 'र्' के स्थान पर 'ल्' का प्रयोग अधिक दिखाई देता है; प्राचीन भाषा के 'म्रुच', 'रभ्', 'रोमन्' आदि शब्दों का यहाँ 'म्लुच', 'लभ्', 'लोमन्', रूप हो गया है। प्राचीनवैदिक भाषा में 'ग्रभ्' धातु के 'भ्' के स्थान में 'ह्' केवल 'ऋ'कार के पश्चात् ही दिखाई देता है; यथा--'हस्तगृह्य', परन्तु दशम मण्डल में सर्वत्र ही 'ह्' मिलता है; यथा गृहाण (प्रा०वै०'गृभाय'), जग्राह इत्यादि। इसीप्रकार 'अनुज्ञा' (imperative) मध्यम पुरुष, एक वचन के तिङ् प्रत्यय 'धि' के स्थान पर दशम मण्डल में 'हि' का प्रयोग हुआ है। प्राचीन वैदिक भाषा में √'कृ' धातु के रूप 'नु' विकरण के योग से निष्पन्न होते हैं--यथा, 'कृणुमः' परन्तु दशम मण्डल में इसमें 'उ' विकरण लगाकर कुर्मः आदि रूप बनाये गये हैं। प्राचीन वैदिक भाषा में 'देवाः' (कर्ताकारक बहुवचन) तथा 'देवैः' (कारण ब०व०) के अतिरिक्त 'देवासः' तथा 'देवेभिः' रूप भी पर्याप्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु नवीन वैदिक में 'देवेभिः', 'देवासः' जैसे रूपों का प्रयोग बहुत कम हो गया है। इन भिन्नताओं के अतिरिक्त प्राचीन वैदिक भाषा

में बहुलता से प्रयुक्त 'ईम', 'विचर्षणि', 'वीति' जैसे शब्द नवीन वैदिक भाषा में लुप्त हो गये हैं।

ऋग्वेदसंहिता के सूक्तों की रचना पंजाब प्रदेश में हुई थी परन्तु आर्यों के दल निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ते जा रहे थे और स्थानीय अनार्य जातियों को अभिभूत कर उनके बीच अपनी संस्कृति एवं भाषा को प्रतिष्ठित कर रहे थे। 'यजुर्वेदसंहिता' तथा प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन के समय में मध्यदेश (गंगा-यमुना का अन्तर्वर्तीय प्रदेश) आर्य संस्कृति का केन्द्र बन चुका था। स्थानीय अनार्य जातियों के सम्पर्क तथा स्थानभेद के कारण भाषा में भी परिवर्तन होते जा रहे थे। प्राचीन वैदिकभाषा तथा दशममण्डल आदि की भाषा में भी परिवर्तन होते जा रहे थे। प्राचीन वैदिकभाषा तथा दशम मण्डल आदि की भाषा में जो भिन्नताएँ ऊपर बताई गई हैं, वे निरन्तर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं।

यजुर्वेदसंहिता के गद्यभाग तथा प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ळ्' तथा 'मूर्धन्य व्यंजनों' का प्रयोग बहुत बढ़ गया है; शब्दरूपों तथा धातुरूपों की विविधता बहुत कम हो गई है और अनेक प्राचीन शब्द लुप्त हो गये हैं। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषदों तथा सूत्रों की भाषा व्याकरण-रूपों की सरलता के कारण, 'संस्कृत' के बहुत समीप पहुँच गई है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का वह रूप जिसका पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में विवेचन किया गया है, 'संस्कृत' कहलाता है। ईसा पूर्व छठा शताब्दि अथवा इससे कुछ पहिले पाणिनि ने अपने समय की शिष्टसमाज के व्यवहार की भाषा आदर्शरूप में ग्रहणकर उसके आधार पर प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' की रचना की। ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक स्थानों पर इस बात का उल्लेख हुआ है कि उस समय 'उदीच्य भाषा' (पंजाब की भाषा) आदर्श भाषा मानी जाती थी। इसमें आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित था। मध्यदेश एवं पूर्व अञ्चल की भाषा में मूल आर्य भाषा से भिन्नताएँ बढ़ गई थीं। पाणिनि तक्षशिला के समीप शालातुर के निवासी थे; औदीच्य होने के कारण वे शिष्ट समाज में आदर्श रूप में स्वीकृत उदीच्च भाषा से पूर्ण परिचित थे। इन बातों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनि के 'व्याकरण' की आदर्शभाषा 'उदीच्यभाषा' थी। 'अष्टाध्यायी' द्वारा संस्कृतभाषा का रूप हमेशा के लिये स्थिर हो गया परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता, जैसा कुछ योरोपीय विद्वानों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, कि संस्कृत सर्वथा 'कृत्रिम भाषा' है और कभी बोलचाल की भाषा न थी। पाणिनि ने वैदिक भाषा को 'छन्दस्'

नाम दिया है तथा अपने व्याकरण की आदर्शभाषा को लोक प्रचलित भाषा कहा है। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की भिन्नताएँ यहाँ पर संक्षेप में प्रदर्शित की जाती हैं।

हम देख चुके हैं कि वैदिक भाषा में स्वराघात (accent) का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। इसके परिवर्तन के कारण शब्दरूपों में परिवर्तन हुआ और शब्दों के अर्थ में भी भेद हो गया। परन्तु संस्कृत में स्वराघात सर्वथा लुप्त हो गया।

शब्दरूपों में 'देवासः', 'देवेभिः', अश्विना (कर्ता० द्वि० व०) आदि अतिरिक्त रूप संस्कृत भाषा में सुरक्षित न रहे। वैदिकभाषा में जहाँ शब्दों के एकाधिक रूप मिलते हैं, वहाँ संस्कृत में प्रायः एक ही रूप लिया गया है।

## मध्य भारतीय आर्य भाषा

मध्य भारतीय आर्यभाषा को सामान्यतया प्राकृत नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्राकृत शब्द के भी विविध अर्थ हैं। इसका एक अर्थ है "प्रकृति" से निकाला हुआ या प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् किसी वस्तु के मूलरूप से निकला हुआ। इसका दूसरा अर्थ है सहज या नैसर्गिक, साधारण, लौकिक, ग्रामीण आदि। बहुत संभव है कि पहले पहल प्राकृत शब्द (शौरसेनी पाउद, महाराष्ट्री, पाउअ) सर्वसाधारण की नैसर्गिक या मातृभाषा को अति परिष्कृत और सिद्ध "संस्कृत" भाषा से पृथक् करने के लिये अपने इसी व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ हो।

मध्ययुग के व्याकरण और अलंकार ग्रंथों में प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार मिलती है—प्रकृतिः संस्कृतं, तत्रभवं तत् आगतं वा=प्राकृतम् —अर्थात् मूलभाषा संस्कृत है और प्राकृत उसी से प्रादुर्भूत हुई है। यह व्युत्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से भले सत्य न हो किन्तु यह सब प्रकार से समीचीन है क्योंकि व्यवहार में हम संस्कृत शब्दों को मूल मानकर उनसे प्राकृत के रूप सिद्ध करते हैं। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि संस्कृत शब्दों को उसी सीमा तक मूल मानना उचित है जहाँ तक वे प्राचीन भारती के रूपों को प्रकट करते हैं। परन्तु कभी-कभी प्रकृति रूप को सिद्ध करने के लिये प्राचीन भारती के उचित रूप का द्योतक शब्द संस्कृत में या तो सर्वथा मिलता ही नहीं और यदि मिलता भी है तो किसी अर्वाचीन ग्रन्थ में स्पष्टतया प्राकृत से संस्कृत में परिवर्तित किया हुआ होता है।

यदि हम संस्कृत के अन्तर्गत वैदिक तथा प्राचीन युग की समस्त लोक

भाषाओं को सम्मिलित कर लें तो यह कहना ठीक होगा कि प्राकृतें संस्कृत से ही उद्भूत हुई हैं। किन्तु यदि संस्कृत से हमारा अभिप्राय केवल पाणिनीय संस्कृत का हो तो यह कथन युक्तियुक्त न होगा।

प्राकृत शब्द अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। यह एक ओर जहाँ संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी एवं अर्धमागधी के लिये प्रयुक्त होता है वहाँ दूसरी ओर अशोक के शिलालेखों की भाषा एवं पालि के लिये भी प्रयुक्त होता है। यहाँ सर्वप्रथम पालि तथा इसके उपरान्त अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त एवं नाटकों में व्यवहृत प्राकृतों के सम्बन्ध में क्रमशः विचार किया जाता है।

## पालि

पालि में बौद्धधर्म के 'थेरवाद' (स्थविरवाद) अथवा 'हीनयान' सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य ग्रथित है। मगध सम्राट् अशोक के पुत्र राजकुमार 'महिन्द' (महेन्द्र) ने लंका में थेरवाद का प्रचार किया था तथा लंका नरेश 'वट्टगामिणि के संक्षरण में थेरवाद का 'त्रिपिटक' (बुद्ध के उपदेशों का संग्रह) लिपिबद्ध हुआ। तब से लंका में पालि साहित्य की सुरक्षा एवं अभिवृद्धि हुई। मूल त्रिपिटक पर "अट्ठकथा" (अर्थकथा) लिखी गई और "विसुद्धिमग्ग", "दीपवंस", एवं 'मिलिन्द पञ्हो' जैसे बौद्धधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। लंका से थेर-वाद का प्रचार वर्मा, स्याम, हिन्दचीन आदि देशों में हुआ और वहाँ भी पालिग्रंथों का अध्ययन होने लगा। इन देशों में अपनी-अपनी लिपियों में पालिग्रंथ लिखे गए।

वास्तव में पालि' शब्द किसी भाषा को द्योतित नहीं करता। इसका अर्थ होता है "मूलपाठ" अथवा "बुद्धवचन" और 'अट्ठकथा' से मूलपाठ की भिन्नता प्रकट करने के लिए इस शब्द का व्यवहार होता है; जैसा—'इमानि-ताव पालियं अट्ठकथायं पन' (ये तो 'पालि' में है, परन्तु 'अट्ठकथा' में तो) अथवा 'नेव पालियं नेव अट्ठकथायं आगतं' (न यह 'पालि' में है न 'अट्ठकथा' में)। 'पालि भाषा' न कहकर केवल 'पालि' शब्द से ही 'थेरवाद' के 'धार्मिक साहित्य' की भाषा को अभिहित करने की प्रथा आधुनिक काल में चल पड़ी है।

पालि के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह है कि यह भारत के किस प्रदेश की भाषा रही होगी अथवा भारत के किस प्रदेश की भाषा 'पालि' की आधार-भूता थी। इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी उठता है कि 'पालि' शब्द की निरुक्ति

क्या है? इन प्रश्नों का भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से समाधान किया है।

पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पालि' शब्द का निर्वचन संस्कृत 'पङ्क्ति शब्द ∠से किया है और इसके ध्वनि-परिवर्तन का क्रम पङ्क्ति ＞ पन्ति ＞ पत्ति ＞ पट्ठि पल्लि ＞ पालि बताया है। इस मत की पुष्टि इस बात से होती है कि स्वयं बौद्ध साहि य में पालि का अर्थ 'पङ्क्ति' भी किया गया है। "अभिधानप्पदीपिका" के "तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि", इस उद्धरण से 'पालि' का 'पङ्क्ति' अर्थ स्पष्ट हो जाता है। परन्तु ध्वनि-परिवर्तन के विचार से यह मत ठीक नहीं जँचता। ध्वनि-परिवर्तन का यह क्रम भारतीय आर्यभाषा के मध्यकालीन विकास को देखते हुए असाधारण प्रतीत होता है। यही बात 'पल्लि' (गाँव) से 'पालि' की व्युत्पत्ति के विषय में भी है। इस मत के स्थापकों का कहना है कि 'पालि गाँवों की भाषा थी और संस्कृत नगरों की। ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से इस मत में दो त्रुटियाँ हैं। एक तो 'ल्' व्यंजन का लोप और उसके पूर्व के स्वर का दीर्घ हो जाना, यह परिवर्तन मध्य आर्यभाषा की प्रारम्भिक अवस्था के अनुरूप नहीं है। दूसरे पालि के आविर्भाव काल में अन्तिम स्वर का ह्रस्व होना भी असाधारण बात है। इसके अतिरिक्त 'पालि' केवल गाँवों तक ही सीमित न थी।

मैक्स वालेसर महाशय ने पालि शब्द की व्युत्पत्ति पाटलिपुत्र से मानी है। उनका कहना कि ग्रीक में पाटलिपुत्र को (पालिबोथ्र) लिखा गया है। ग्रीक में पाटलि के स्थान पर पालि किसी भारतीय जनपदीय भाषा के आधार पर ही लिखा गया होगा। परन्तु यह मत भी इसलिए असंगत है कि पाटलि शब्द का मध्यभारतीय आर्य भाषा के विकास के दूसरे पर्व में पाडलिरूप हुआ और यह मान लेना युक्तियुक्त नहीं कि इसके प्रारम्भकाल में ही 'ड' का लोप होकर पालि शब्द चल पड़ा होगा।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने पालि महाव्याकरण में पालि शब्द की व्युत्पत्ति परियाय (सं०पर्याय) शब्द से की है। इस मत के अनुसार, परियाय > पलियाय > पालियाय और तत्पश्चात् केवल पालि शब्द निष्पन्न हुआ और व्यवहार में आया। इस मत में भी ध्वनि परिवर्तन की असाधारण स्थिति की कल्पना करनी पड़ती है। पालि शब्द की सीधी-सादी व्युत्पत्ति 'पा' धातु में 'णिच्' प्रत्यय 'लि' के योग से सम्पन्न होती है। प्राचीन लेखकों ने भी पालि की व्युत्पत्ति 'अत्थानं पाति रक्खतीति तस्मा पालि' (अर्थों की रक्षा करती है इसलिये पालि) 'पा' धातु से

की है। इससे 'पालि साहित्य' के संकलन एवं लिपिबद्ध किये जाने के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। अतः यही 'पालि' शब्द की सन्तोषजनक व्युत्पत्ति है।

'पालि' शब्द से यह कुछ भी संकेत नहीं मिलता कि यह किस प्रदेश की भाषा थी। लंका के बौद्धों की यह धारणा रही है कि 'पालि' मगध की भाषा थी और बुद्धवचन यथातथ्य रूप में इसीमें संकलित है। परन्तु पालि और मागधी भाषा में कुछ ऐसी मौलिक भिन्नताएँ हैं जिनके कारण पालि को मागधी भाषा नहीं माना जा सकता। 'प्राकृत' भाषा के वैयाकरणों ने 'मागधी' भाषा का जो निरूपण किया है और जो संस्कृत नाटकों में मिलती है, वह 'पालि' से वहुत बाद की भाषा है। परन्तु अशोक के सारनाथ, रामपुरवा आदि पूर्वी अभिलेखों की भाषा तथा मौर्य-काल के प्राचीन अभिलेखों से जिस मागधी भाषा का पता चलता है उसमें और पालि में भी वह भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं जो उत्तर कालीन मागधी और पालि में हैं। मागधी में श्, ष्, स्, यह तीनों ऊष्मध्वनियाँ 'श्' में परिणत हो गई हैं परन्तु पालि में केवल दन्त्य 'स्' ही मिलता है; मागधी में केवल 'ल्' ध्वनि है लेकिन पालि में र्, ल्,––दोनों ध्वनियाँ विद्यमान हैं और I ल्लङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों के कर्ताकारक एक वचन में मागधी में 'एं परन्तु पालि में 'ओ' प्रत्यय लगता है; यथा–– मागधी 'धम्मे', पालि 'धम्मो।' अब विद्वानों के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई कि यदि मागधी भाषा पालि की आधारभूता नहीं है, तो यह अन्य किस प्रदेश की भाषा रही होगी? इस प्रश्न पर विद्वानों के मतों का यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र संभव है।

डा० ओल्डनबर्ग ने 'महिन्द' (महेन्द्र) द्वारा सिंहल में धर्म प्रचार की बात को अनैतिहासिक ठहराया है। उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि सिंहल में बौद्धधर्म का प्रचार भारत एवं सिंहल के अनेक वर्षों के सम्पर्क के फलस्वरूप हुआ होगा। कलिङ्ग में खारवेल के खण्डगिरि-अभिलेख की भाषा ओल्डनबर्ग महाशय को पालि के बहुत समान प्रतीत हुई और उन्होंने यह मत स्थापित किया कि कलिङ्ग से ही लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ; अतः उनके अनुसार कलिङ्ग की भाषा ही पालि की आधारभूता भाषा है।

खारवेल के अभिलेख की भाषा कलिङ्ग की जन-भाषा थी, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत अवश्य अनेक प्रमाण हैं। खण्डनिगरि के समीप ही धौली में अशोक के अभिलेख की भाषा ख़ारबेल के अभिलेख की भाषा से बहुत भिन्न है। ईसा पूर्व की शताब्दियों में कलिङ्ग में आर्यभाषा का प्रचार नहीं हुआ था। बिहार (अशोक के समय में) तथा मथुरा (ईसा पूर्व

दूसरी शताब्दी) से कलिङ्ग में आने वाले विजेताओं तथा धर्म प्रचारकों ने अपनी-अपनी बोलियाँ प्रतिष्ठित कर दीं। इसप्रकार उत्तरी कलिङ्ग को ईसा की प्रथम स स्राब्दि के मध्यकाल के पश्चात् दक्षिण-पश्चिम बंगाल तथा महाकोशल अथवा छत्तीसगढ़ से आर्यभाषा प्राप्त हुई। खारवेल वस्तुतः द्रविड़ भाषा-भाषी था। उसका नाम ही द्रविड़भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'कृष्ण-ऋष्टि' (खड्ग) होता है। इन तथ्यों पर विचार करने से ओल्डनवर्ग का मत युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता।

वेस्टरगार्ड तथा ई० कुह्न ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली माना है। दो बातों से इस मत की पुष्टि होती है। एक तो अशोक के गिरनार (गुजरात) अभिलेख की भाषा की पालि से बहुत समानता है, दूसरे, राजकुमार महिन्द (महेन्द्र) का जन्म उज्जैन में हुआ था और यहीं उसका बाल्यकाल बीता। अतः राजकुमार महेन्द्र की मातृभाषा उज्जैन की बोली रही होगी और इसी बोली में उसने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया होगा तथा इसी बोली में वह वहाँ 'त्रिपिटक' ले गया होगा। यह मत बहुत कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होता है किन्तु इसके लिए पुष्ट प्रमाणों का अभाव है।

आर० ओ० फ्रैंक ने विन्ध्यप्रदेश की भाषा को पालि का आधार माना है। फ्रैंक ने उत्तर भारत की समस्त जनभाषाओं के साथ पालि की तुलना कर अपने इस मत की स्थापना की है। स्टेनकोनो ने भी यही मत प्रकट किया है। परन्तु वह कुछ भिन्न प्रकार से इस निष्कर्ष पर पहुँचे। पालि में पैशाची के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं, जैसे––ग, द, का क्, त् हो जाना और स्टेनकोनो महाशय ने बिन्ध्यप्रदेश को 'पैशाची' भाषा का स्थान मानकर 'पालि' का आधार विन्ध्यप्रदेश की बोली को माना। 'पैशाची' भाषा के स्थान के विषय में ग्रियर्सन महोदय का मत बहुत युक्तिसंगत है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि 'पैशाची' भाषा उत्तर -पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की भाषा थी। इससे स्टेनकोनों के मत का कोई आधार नहीं रह जाता।

ग्रियर्सन ने पालि में मागधी एवं पैशाची की कुछ विशेषताएँ देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि पालि मूलतः मगध की भाषा थी। यहाँ से वह तक्षशिला के विद्यापीठ में पहुँची और वहाँ उस पर पैशाची का प्रभाव पड़ा। अपने मत की पुष्टि मेंउन्होंने आधुनिक हिन्दी का उदाहरण दिया है। हिन्दी यद्यपि पछाँह की बोली है परन्तु उसका विकास बनारस तथा इलाहाबाद में हुआ। अतः वह भोजपुरी एवं अवधी से विशेष प्रभावित हुई है। ग्रियर्सन महोदय का यह मत वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने में असमर्थ है। तक्षशिला महायान

सम्प्रदाय का केन्द्र था। महायान सम्प्रदाय का त्रिपिटक संस्कृत में था। पालि में हीनयान सम्प्रदाय का त्रिपिटक था। अतः तक्षशिला में पालि त्रिपिटक के अध्ययन की सम्भावना अधिक नहीं है। हिन्दी का उदाहरण भी इस प्रसंग में ठीक नहीं बैठता। हिन्दी में भोजपुरी और अवधी के शब्द भले ही आ गए हों परन्तु उसके व्याकरण पर इन बोलियों की छाप नहीं पड़ी और यदि पालि को मगध की भाषा स्वीकार किया जाय तो ग्रियर्सन की स्थापना के अनुसार तक्षशिला में पहुँचकर तो उसका स्वरूप ही बदल गया जान पड़ता है।

प्रोफेसर रीज़ डेविड्स ने कोशल की बोली को पालि का आधार माना है। उनका कहना है कि ईसापूर्व छठी-सातवीं शताब्दि में कोशल में प्रचलित भाषा ही पालि की जननी है क्योंकि बुद्ध ने स्वयं अपने लिए 'कोसलखत्तिय' (कोशल क्षत्रिय) कहा है और सम्भवतः कोशल की बोली में ही वह उपदेश करते होंगे। पालि में बुद्धवचन मूलरूप में सुरक्षित हैं। अतः पालि कोशल की बोली से ही विकसित हुई है। प्रो० रीज़डेविड्स ने कोशल की बोली को मगध साम्राज्य की राष्ट्रभाषा मान लिया है परन्तु इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं दिखाई देता।

विंडिश और गायगर ने पालि को साहित्यिक भाषा माना है, जो सब जनपदों में समझी जाती थी और विभिन्न जनपदों में स्थानीय उच्चारण आदि की विशेषताओं को भी ग्रहण करती थी। परन्तु साहित्यिक भाषा भी किसी जनपद विशेष की बोली पर आधारित होती है और पालि को मगध की बोली पर आधारित मानना, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, युक्तिसंगत नहीं है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न भाषाओं में ग्रथित ग्रंथ स्वयं को ही बुद्ध वचनों का मूल रूप बताते हैं। ऐसी स्थिति में पालित्रिपिटक का ही मूल त्रिपिटक होना संदिग्ध है। यह संदेह इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि अशोक ने भाब्रू-अभिलेख में जो बुद्धवचन उद्धृत किए हैं वह पालि में न होकर प्राच्या में है।

पालि मूलतः मागधी से भिन्न है, यह पीछे लिखा जा चुका है परन्तु पालि त्रिपिटक में मागधी के अनेक रूप विद्यमान हैं; यथा—'भिक्खवे,' 'सुवे,' 'पुरिसकारे, इत्यादि। इसके अतिरिक्त पैशाची के भी कुछ लक्षण पालि में मिलते हैं परन्तु नियमित रूप से नहीं। इनका क्या कारण हो सकता है। गायगर महोदय ने इनका कारण विभिन्न जनभाषाओं का पालि पर प्रभाव बताया है। परन्तु संस्कृत त्रिपिटक में भी कुछ मागधी-रूप मिलते हैं। इनका विवेचन कर सिल्वाँलेवी तथा लूडर्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पालि एवं संस्कृत त्रिपिटक मूल

मागधी त्रिपिटक के अनुवाद हैं और अनुवादकों की असावधानी अथवा छन्द-निर्वाह के कारण मागधी रूप इनमें रह गये हैं।

इस प्रकार यह मानने में कोई बाधा नहीं कि त्रिपिटक का मूलरूप मागधी में रहा होगा और तब अन्य जनपदों की बोलियों में इसका अनुवाद हुआ। यह भाषा काशी, कोशल, विदेह और मगध में लोक व्यवहार की भाषा थी; अतः बुद्ध ने इसी में अपने उपदेश दिए होंगे। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके वचनों के संग्रह के लिए बौद्ध सभा हुई। इसमें भाग लेने वाले भिक्षुओं में 'महा कस्सप' प्रमुख थे। ये मध्यदेश के निवासी थे। बहुत सम्भव है इन्होंने मध्यदेश की भाषा (प्राचीन शौरसेनी, जो मथुरा से उज्जैन तक प्रचलित थी) में भी कुछ वचनों का अनुवाद किया हो। मध्यदेश उस समय ब्राह्मण एवं जैन धर्मों का केन्द्र था। अतः मध्यदेश की भाषा में त्रिपिटक का होना और भी आवश्यक था। इसी बीच उत्तर-पश्चिम की भाषा में भी बुद्धवचनों का अनुवाद हो गया होगा। राजकुमार महेन्द्र ने मध्यदेश की भाषा में अनूदित त्रिपिटक का ही अध्ययन किया होगा, क्योंकि स्वयं उनकी मातृभाषा भी यही थी। इसी त्रिपिटक को वह सिंहल ले गये थे। अतः मध्यदेश की भाषा ही पालि का आधार है। मागधी से अनूदित होने के कारण इसमें उसके अनेक रूप रह गए और पैशाची अनुवाद से भी इसने कुछ रूप ग्रहण किए। सिंहल में प्रतिष्ठित हो जाने पर पालि 'साहित्यिक भाषा' बन गई और इसमें अन्य भाषाओं के रूप भी लिए जाने लगे।

सिंहल के भिक्षुओं का पालि को मागधी भाषा समझना स्वाभाविक ही था क्योंकि बुद्ध ने मागधी में उपदेश दिए थे और मगध का ही एक राजपुत्र, इसे सिंहल में लाया था। पालि का प्राचीन शौरसेनी से जितना अधिक सादृश्य है उतना किसी अन्य बोली से नहीं। मध्यएशिया में अश्वघोष के नाटकों के जो अंश मिले हैं उनमें प्रयुक्त प्राचीन शौरसेनी (मध्यदेश की भाषा) पालि से बहुत अधिक समानता रखती है। ईसा से पूर्व तथा पश्चात् की एक दो शताब्दियों में मथुरा जैन धर्म का प्रधान केन्द्र था। जैन आचार्यों के साथ मध्यदेश की भाषा कलिंग में पहुँची और खारवेल ने इसी भाषा में 'हाथी गुम्फा' अभिलेख लिखवाया। अतः खारवेल के अभिलेख की भाषा पालि से बहुत समानता रखती है। साहित्यिक भाषा बन जाने पर पालि में प्राच्यभाषा तथा पैशाची (उत्तर पश्चिम की भाषा) के रूपों को भी स्थान मिलने लगा और संस्कृत शब्दों के तत्सम, अर्द्धतत्सम (जिनमें ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुसार व्यंजनों का समीकरण न कर, केवल स्वरसन्निवेश कर दिया गया, यथा—रत्न > रतन)

एवं तद्भव रूप प्रयुक्त होने लगे। यही कारण है कि पालि में एक शब्द के दो-दो रूप भी मिलते हैं।

भारतीय आर्यभाषा ने जिन परिवर्तनों के द्वारा मध्यस्तर में प्रवेश किया वे पालि में पूर्णतया परिलक्षित होते हैं। प्राचीन आर्यभाषा के सन्ध्यक्षर 'ऐ', 'औ' पालि में लुप्त हो गये और इनका स्थान 'ए', 'ओ' ने ले लिया। पालि में 'ऐरावण' का 'एरावण', 'चैत्यगिरि' का 'चेतियगिरि', 'गौतम' का 'गोतम', 'औषध' का 'ओसध' हो गया। संयुक्त व्यंजनों से पूर्व ह्रस्व स्वर का ही पालि में प्रयोग होता था; यथा––मार्ग > मग्ग; कार्य > कय्य; पूर्ण > पुन्न; अतः संयुक्त व्यंजनों से पूर्व 'ए', 'ओ' का ह्रस्व भी उच्चारण हो गया; यथा––मैत्री > मॆत्ती; ओष्ठ > ओॅट्ठ। इस प्रकार पालि में 'ए', 'ओ' का ह्रस्व एवं दीर्घ उच्चारण विकसित हुआ। प्राचीन आर्य भाषा की 'ॠ' 'लृ' ध्वनियाँ, पालि में लुप्त हो गईं, विसर्ग का भी लोप हो गया और अनुस्वार, जो प्राचीन आर्य भाषा में किसी स्वर का ही परिर्वाधित नासिक्य रूप होता था, पालि में स्वतंत्र नासिक्य स्वर बन गया (इसको पालि वैयाकरणों ने 'निग्गहीत' संज्ञा दी है)।

प्राचीन आर्यभाषा में स्वरों की मात्रा का निर्धारण, शब्द की व्युत्पत्ति, प्रकृति एवं प्रत्यय के अनुरूप होता था परन्तु मध्यभारतीय आर्यभाषा में शब्द के प्रकृति-प्रत्यय पर ध्यान न देकर केवल भाषण में सरलता एवं स्वरसाम्य के आधार पर ही स्वरों की मात्रा का निर्धारण होने लगा। ध्वनि-लोप एवं समीकरण इत्यादि के कारण शब्द के परिवर्तित रूप में वास्तविक प्रकृति प्रत्यय को समझ सकना साधारण बोलनेवाले के लिये कठिन था। अतः बोलने की सुविधा पर ही ध्यान दिया जाने लगा और प्राचीन आर्यभाषा में शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार निर्धारित दीर्घ अथवा ह्रस्व स्वरों के स्थान पर ह्रस्व अथवा दीर्घ स्वर प्रयुक्त होने लगे। इसप्रकार अनुदक > अनूदक एवं पच्चनीका > पच्चनिका जैसे रूप बनने लगे। यह प्रवृत्ति आर्यभाषा के अगले विकास क्रमों में बढ़ती गई।

प्राचीन आर्यभाषा का स्वराघात (Pitch Accent) मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं में लुप्त हो गया। इसके स्थान पर, शब्दों में किसी, विशेष भाग पर, बलाघात (Stress Accent) का प्रयोग होने लगा। इस बलाघात के कारण भी स्वरों का ह्रस्वीकरण अथवा लोप हुआ है। अलंकार > लंकार (पालि) इस प्रकार का उदाहरण है। 'लं' पर बलाघात होने के कारण 'अ' का इसमें लोप हो गया।

पालि में 'श्, ष्, स्', इन तीनों ऊष्म ध्वनियों के स्थान में केवल 'स्' का प्रयोग होने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य सब व्यंजन ध्वनियाँ बनी रहीं। परन्तु समीकरण के कारण संयुक्त व्यंजनों की विविधता बहुत कम हो गई। शब्द के प्रारम्भ में केवल असंयुक्त व्यंजन ही आ सकता था। प न्त व्यंजनों (क, ट, त, प, न, र तथा विसर्ग) का लोप हो गया और 'म' सर्वत्र अनुस्वार बन गया।

संस्कृत के साथ पालि की तुलना करने पर विदित होता है कि संस्कृत में, बहुत शब्दों के मध्य भारतीय आर्यभाषा के रूप सुरक्षित हैं और पालि में उन्हीं का कोई प्राचीन रूप बना हुआ है। उदाहरण के लिए, प्राचीन 'शवशान' शब्द का ह्रस्वीकृत रूप 'श्वसान' पालि में 'सुसान' के रूप में आया परन्तु किसी प्राचीन बोली में इसका 'श्मशान' रूप हो गया औ र यही संस्कृत तथा अन्य मध्यभारतीय आर्यभाषाओं ने ग्रहण किया। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्राचीन काल से ही आर्यभाषा का विकास विभिन्न बोलियों में हो रहा था। इनमें से पालि मध्यदेश में विकसित जनभाषा से उद्भूत हुई और संस्कृत मुख्यतः उदीच्य भाषा पर आधारित रही परन्तु अन्य जनपदों के शिष्ट प्रयोगों को भी ग्रहण करती रही।

पालि में स्वरों का मात्राकाल निश्चित नियमों का अनुसरण करता है। दीर्घस्वर केवल असंयुक्त व्यंजन के पूर्व ही आ सकता है। अतः प्राचीन आर्य-भाषा के जिस शब्द में संयुक्त व्यंजन से पूर्व दीर्घस्वर था, उसके पालि प्रति-रूप में, दीर्घस्वर, ह्रस्व हो गया; यथा––मार्ग>मग्ग; जीर्ण>जिण्ण; चूर्ण> चुण्ण; श्लेष्मन्>सेंम्ह, इत्यादि। प्राचीन आर्यभाषा के कुछ शब्दों के पालि प्रतिरूपों में, संयुक्त व्यंजनों में से पूर्व व्यंजन का लोप कर उससे पूर्व का स्वर दीर्घ हो गया है; यथा––दीर्घ>दीघ; लाक्षा>लाखा; सर्षप>सासप; वल्क> वाक। वास्तव में यह प्रवृत्ति मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रारम्भ काल के अनु-रूप नहीं है; उत्तरकाल एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के विकासकाल में ही यह प्रवृत्ति प्रकट हुई। पालि के साधारण नियम के अनुसार इन शब्दों का प्रतिरूप, क्रमशः 'दिग्घ', 'लक्खा', 'सस्सप', 'वक्क' होना चाहिए। फिर 'दीघ' इत्यादि रूपों के पालि में अस्तित्व का क्या कारण हो सकता है? इसका समाधान लिपि के विकास पर ध्यान देने से मिल जाता है। ब्राह्मी लिपि के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में, संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर एक ही व्यंजन लिखा जाता था और इसको स्पष्ट करने के लिए उससे पूर्व के स्वर को दीर्घ लिख दिया जाता था। बाद में यह लिखित रूप ही बोलचाल में प्रयुक्त होने लगा और "दीघ" जैसे

शब्द f यमित रूप समझे जाने लगे। पालि के कुछ शब्दों में उपर्युक्त प्रक्रिया का विपर्यय दिखाई देता है अर्थात् दीर्घस्वर + असंयुक्त व्यंज न के स्थान पर ह्रस्व स्वर + संयुक्त व्यंजन का प्रयोग; यथा--नीड>निड्ड; उदूखल>उदुक्खल; कूबर>कुब्बर इत्यादि। ऐसे शब्द संस्कृत शब्दों को जनभाषा का रूप देने की चेष्टा के परिणाम हैं और इनको "मिथ्या प्राकृतरूप" कहा जाता है।

संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर के स्थान पर पालि प्रतिरूप में कहीं-कहीं एक व्यंजन का लोपकर उससे पूर्व के ह्रस्वस्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्व स्वर का प्रयोग किया गया है; यथा--मत्कुण>मंकुण; शर्वरी >संबरी, शुल्क> सुंक। ध्वनि-परिवर्तन के साधारण नियमों के अनुसार इन शब्दों का पालि प्रतिरूप क्रमशः 'माकुण' या 'मक्कुण', 'साबरी' या 'सब्बरी', 'सूक' या 'सुक्क' होना चाहिए था। दीर्घस्वर का प्रयोग अथवा व्यजनों का समीकरण न कर सानुनासिक ह्रस्वस्वर के प्रयोग का कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ बोलियों में नासिका विवर को उन्मुक्त रखकर शब्दोच्चारण की प्रवृत्ति थी जिसके कारण स्वर सानुनासिक हो जाता था। इसके विपरीत कुछ अन्य बोलियों में, सभी अवस्थाओं में, नासिका विवर को बन्द रखा जाता था जिसके फलस्वरूप सानुनासिक स्वरों में भी अनुनासिक का अभाव हो जाता था। इन दोनों प्रकार की बोलियों के सम्मिश्रण से पालि में जहाँ 'मंकुण' जैसे रूप आए वहाँ "सीह" (सं० सिंह) वीसति, बीस (सं० विंशति) जैसे रूप भी प्रवेश कर गए।

पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व दीर्घस्वर नहीं आता परन्तु सन्धि में कहीं-कहीं इस नियम के अपवाद भी देखे जाते हैं; यथा, 'साज्ज' (सा + अज्ज), 'यथाज्झासयेन' (यथा+अज्झासयेन)। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों में भी लिपि दोष के कारण संयुक्त व्यंजनों से पूर्व दीर्घस्वर रह गया है; यथा-- दात्र>दात्त (ठीक रूप दत्त) इत्यादि।

पालि में संस्कृत के तद्भव रूपों में साधारणतया संयुक्त व्यंजनों का समीकरण हो जाता है। परन्तु किन्हीं शब्दों में संयुक्त व्यंजनों के मध्य में स्वर-सन्निवेश जिसको 'स्वरभक्ति' अथवा 'विप्रकर्ष' (Anapt xis) कहते हैं, भी देखा जाता है। इसप्रकार संस्कृत 'पद्म'> ' पदुम', एवं 'पोम्म', 'स्नेह'> 'सिनेह, एवं 'नेह', दोनों रूप पालि में चल पडे। स्वरभक्ति वाले रूपों को वास्तव में अर्ध-तत्सम रूप समझना चाहिए। कहीं-कहीं इन अर्धतत्सम रूपों ने तद्भव रूपों को पालि से निकाल ही दिया है। 'सूर्य' का पालि में केवल

सुरिय' प्रतिरूप रह गया है। इसका तद्भव रूप 'सुय्य' उत्तरकालीन प्राकृतों में "सुज्ज" के रूप में विद्यमान है।

संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व का 'अ' पालि प्रतिरूप में कहीं-कहीं 'ए' (ह्रस्व) हो गया है; यथा--फल्गु > फेग्गु; शय्या > सेय्या; अत्र > एत्थ; अधस्तात > हेट्ठा; कुछ शब्दों में इस परिवर्तन का कारण स्पष्ट है; यथा-- शय्या के प्रतिरूप में स्पष्टतः "य" के कारण 'अ' का 'ए' हुआ है। इसीप्रकार 'एत्थ' एवं हेट्ठा भी क्रमशः* इत्र एवं* अधस्तात के प्रतिरूप जान पड़ते हैं। संस्कृत में 'इत्र' रूप नहीं लिया गया परन्तु अवेस्ता 'इथ' से इसके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृत में 'अधि' एवं 'अधस्' दोनों रूप सुरक्षित हैं।

इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दों के करण एवं अधिकरण कारक के रूपों में 'इ', 'उ', दीर्घ हो गये हैं; यथा --मुनिभिः > मुनीह; साधुषु > साधूसु इत्यादि। संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व के 'इ', 'उ' पालि प्रतिरूम में क्रमशः 'ए', 'ओ' में बदल गये हैं; यथा--विष्णु > वेण्हु; उष्ट्र > ओट्ठ इत्यादि। पालि में 'इक्ष्वाकु' शब्द का प्रतिरूप 'ओक्काक' है। यह रूप उक्खाक अथवा 'उक्खाकु' पूर्वरूप पर आधारित प्रतीत होता है। आधुनिक आर्यभाषाओं में संस्कृत 'ईक्षु' के 'ईख्' 'ऊख', 'आख' प्रतिरूप मिलते हैं जो मध्य आर्यभाषाओं के *ईक्खु'* 'उक्खु'* 'अक्खु' रूपों पर आधारित है। इससे प्रतीत होता है कि 'इक्ष्वाकु' के साथ-साथ 'उक्ष्वाकु' रूप भी कहीं-कहीं प्रचलित रहा होगा जिनमें से एक रूप संस्कृत में लिया गया और दूसरे का विकसित रूप 'ओक्काक' पालि में आया।

ऋ स्वर का विकास 'अर्, इर्, उर्' और कभी-कभी 'एर्' के रूप में हुआ। मध्य-भारतीय-आर्यभाषाओं में 'र्' का लोप होकर केवल 'अ, इ, उ,' अथवा 'ए' रह गये। पालि में भी यह परिवर्तन दिखाई देता है; यथा ऋक्ष > अच्छ; हृदय > हदय; मृग > मिग; ऋण > इण; वृश्चिक > विच्छिक; ऋजु > उजु; पृच्छति > पुच्छति। इन अनेक स्वरों द्वारा 'ऋ' का स्थान ग्रहण किये जाने के कारण संस्कृत के ऋकार-युक्त शब्द के विचित्र प्रतिरूप मध्यभा० आर्यभाषाओं में बने और अनेक लोक भाषाओं से प्रभावित होने के कारण पालि में ये विभिन्न रूप स्थान पा गये।

'लृ' स्वर प्राचीन आर्यभाषा में केवल 'क्लृप्त' धातु के विविध रूपों में ही मिलता है। पालि में इसके स्थान पर 'उ' स्वर रखा गया है; यथा क्लृप्त > कुत्त।

पालि मे कहीं-कहीं स्वरों में समीपवर्ती स्वरों के प्रभाव के कारण परिवर्तन देखा जाता है। संस्कृत में जहाँ 'इ' के पश्चात् 'उ' स्वर आया है वहाँ पालि प्रतिरूप में 'इ' के स्थान पर भी 'उ' हो गया है, यथा--इषु>उसु; इक्षु>उक्खु; शिशु>सुसु।

इसीप्रकार समीपवर्ती 'उ' और 'इ' के कारण 'अ' के स्थान में भी 'उ' और 'इ' हो गया है; यथा--असूया>उसूया; तमिस्रा>तिमिस्सा।

कहीं-कहीं परवर्ती स्वर पूर्ववर्ती स्वर के अनुरूप भी हो जाता है। 'उ' के पश्चात् जहाँ संस्कृत में 'अ' है वहाँ पालि प्रतिरूप में 'अ' के स्थान में भी 'उ' हो गया है; यथा कुरंग>कुरुंग; उदंक>उळुंक। इसीप्रकार पूर्ववर्ती 'अ' के कारण परवर्ती 'इ', 'उ' का भी 'अ' तथा पूर्ववर्ती 'इ' के कारण परवर्ती 'अ' का भी 'इ' हो गया; यथा--अलिंजर>अरंजर; पुष्करिणी>पोक्खरणी; आयुष्मन् >आयस्मा; शष्कुली >सक्खली; शृंगवेर >सिंगिवेर; निषण्ण> निसिन्न।

समीपवर्ती व्यंजन का भी कभी-कभी स्वर पर प्रभाव देखा जाता है। ओष्ठ्य व्यंजन के समीपवर्ती स्वर का 'उ' तथा तालव्य व्यंजन के समीपवर्ती स्वर का प्रायः 'इ' हो जाता है; यथा--मति, मत, मतिमान्, >मुति, मुत, मुतिमा; निमज्जति>निमुज्जति; मज्जा>मिज्जा; जुगुप्सते> जिगुच्छति।

## व्यञ्जन-परिवर्तन

पहिले लिखा जा चुका है कि पालि में दो स्वर ध्वनियों के मध्य में अवस्थित 'ड' और 'ढ' क्रमशः 'ल' एवं 'ल्ह' में परिवर्तित हो जाते हैं। इस विषय में पालि, संस्कृत की अपेक्षा, वैदिक भाषा के अधिक समीप है। परन्तु कुछ शब्दों में यह परिवर्तन नहीं हुआ है; यथा--कुडव, सहोढ इत्यादि। पालि में संयुक्त व्यंजनों का समीकरण हो गया था परन्तु स्वरों के बीच में अवस्थित असंयुक्त व्यंजनों में साधारणतया परिवर्तन न होता था। अतः उत्तरकालीन प्राकृतों के समान पालि में 'न' और 'य' का क्रमशः 'ण' और 'ज' में परिवर्तन न हुआ। परन्तु पालि में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनमें अघोष व्यंजनों के स्थान में सघोष व्यंजन हो गये हैं; यथा--शाकल>सागल; माकन्दिक>मागन्दिय; स्रुच>सुजा, प्रतिकृत्य>पटिकिच्च एवं पटिगिच्च; उताहो>उदाहो; पृष्ट >पिट्ठ; रुत>रुद; प्रव्यथते>पवेधते; कपि>कवि (कपि भी); कपित्थ> कवित्थ एवं कपित्थ (संस्कृत का 'कपित्थ' शब्द मध्य आर्यभाषा का रूप है); पूप>*पूब--पूव; स्फटिक>*फडिक-फलिक; लाट>*लाड--लाल इत्यादि।

इसीप्रकार स्वरमध्यग अल्पप्राण व्यंजनों के लोप तथा स्वर मध्यग महाप्राण व्यंजनों में केवल प्राण ध्वनि 'ह' के 'अवशिष्ट' रह जाने के उदाहरण भी पालि में मिलते हैं। सघोष महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर केवल प्राण ध्वनि 'ह' का रह जाना मध्य-भारतीय आर्यभाषा के दूसरे पर्व की विशेषता है। पालि में, बाद में उत्तरकाल में विकसित प्राकृत रूप भी ग्रहण कर लिये गये; इसलिये इसमें लघु>लहु; रुधिर>रुहिर (रुधिर भी); साधु>साहु (साधु भी); भवति >होति; वैभार>*वेभार>वेहार जैसे रूप भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु कुछ शब्दों में पालि ने प्राचीन 'ध' को सुरक्षित रखा है। यद्यपि संस्कृत में भी उसका 'ह' हो गया था; यथा––वैदिक इध>संस्कृत इह परन्तु पालि 'इध'। स्वर मध्यग अल्पप्राण व्यंजनों का लोप भी पालि के प्रादुर्भाव के बहुत समय बाद का लक्षण है और पालि में जिन शब्दों में यह परिवर्तन दिखाई देता है वह पालि के साहित्यिक भाषा बन जाने पर इसमें ग्रहण किये गये। ऐसे शब्दों में व्यंजन का लोप होकर उसके अभाव की पूर्त्ति के लिये 'य' अथवा 'व' का सन्निवेश हो जाता था। इसको 'य-श्रुति' और 'व-श्रुति' कहा जाता है। इस विकास-क्रम को समझने के लिये 'शत' शब्द के परिवर्तितरूप अच्छे उदाहरण हैं। इसका क्रमिक विकास इसप्रकार हुआ––

शत>सद ('त' का 'व' होकर)>सय>सअ('य-श्रुति' का भी अभाव) और हिन्दी सौ। पालि के उदाहरण ये हैं––शुक>सुव (सुक भी); खादित> खायित; स्वादते>सायति; कुशीनगर>कुसिनअर (कुसिनार); कौशिक> कोसिय।

## शब्दरूप

पालि के शब्दरूपों में प्रधानतया दो विशेषताएँ लक्षित होती हैं––(१) मिथ्या सादृश्य के कारण सरलीकरण और (२) वैदिक भाषा के समान अनेक-रूपता। अन्य प्राकृतों के समान पालि में भी पदान्त व्यंजनों के लोप अथवा उनके साथ 'अ' जोड़ देने से हलन्त (व्यञ्जनान्त) प्रातिपदिक लुप्तप्राय हो गये। इसप्रकार सुमेधस्>सुमेध अथवा सुमेधस; आपद्>आपा अथवा आपद; विद्युत>विज्जु अथवा विज्जुता; शरद्>सरद; र्बाहष>बरिहिस के रूप परिर्वातत हो गये और विभिन्न कारकों एवं वचनों में इनके रूप स्वरान्त प्रातिपदिकों के समान निष्पन्न हुए। केवल 'वाचा' ('वाच' का तृ० ए० व०); 'राजानं' (राजन् द्वि ए० व०); तचो ('तच'<'त्वच्' प्र० ब० व०); प्रमुदि (>'प्रमुद' स० ए० व०) इत्यादि कुछ अवशेष रूप, व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों

के पालि में रह गये हैं। मिथ्यासादृश्य के कारण इकारान्त एवं उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्प्रदान सम्बन्धकारक के रूप अकारान्त प्रातिपदिकों के समान निष्पन्न हुए; यथा--'अग्गिस्स' (अग्गिनो भी); और अधिकरणकारक के रूप सर्वनामों के समान बने; यथा--अग्गिस्मि--अग्गिम्हि। सम्प्रदान-सम्बन्ध में 'अग्गिनो' रूप नपुंसकलिग प्रातिपदिकों के मिथ्यासादृश्य के कारण बना। इसीप्रकार नपुंसकलिंग शब्दों के अनेक रूप पुंल्लिग के समान बनने लगे; यथा--"यथा मे निरतोमनो" ('निरतो' के स्थान पर 'निरतं' होना चाहिए था), "तपोसुखो" ('सुखं' ठीक रूप होता) इत्यादि। सम्प्रदान एवं सम्बन्धकारक के रूप एक जैसे हो गये और बहुधा करण एवं अपादान कारक के बहुवचन के रूपों में भी कोई भिन्नता न रही। द्विवचन का मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रारम्भ काल में लोप हो गया था। बहुवचन ने ही द्विवचन का स्थान ले लिया। पालि में द्विवचन के केवल 'द्वे-दुवे' और 'उभो' रूप बच रहे हैं।

वैदिक भाषा में, कुछ कारकों एवं वचनों में, शब्दों के एकाधिक रूपों का पीछे उल्लेख हो चुका है। संस्कृत में ऐसे शब्द रूपों को नियमित कर दिया गया था परन्तु बोलचाल में यह एकाधिक रूप चलते रहे और पालि में वह सुरक्षित मिलते हैं। वैदिक भाषा के समान पालि में भी कर्ताकारक बहुवचन में 'देवा' (वैदिक 'देवाः') के साथ-साथ 'देवासे' (वैदिक 'देवासः'), करणकारक बहुवचन में 'देवेहि' (वैदिक 'देवेभिः' सं० 'देवैः') रूप चलते रहे। पालि के 'गोनं अथवा गुन्नं' ('गो' का सम्बन्ध कारक ब० व०, वैदिक 'गोनाम्' सं० 'गवाम्) तथा 'पतिना' (करण कारक एक वचन, वैदिक 'पतिना' सं० 'पत्या') रूप वैदिक भाषा का स्मरण दिलाते हैं।

वैदिक भाषा की एक अन्य विशेषता पालि में परिलक्षित होती है। वैदिक भाषा में लिंग एवं कारकों का व्यत्यय बहुधा हुआ है। पालि में भी इसके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। लिंग-व्यत्यय के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। 'ब्राह्मणस्य धनं ददाति', 'ब्राह्मणस्स सिस्सो' जैसे प्रयोगों में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग स्पष्ट है।

## धातुरूप

पालि में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के धातुरूपों की विविधता बहुत कुछ सुरक्षित रही। सभी गणों की धातुएँ इसमें विद्यमान हैं परन्तु अनेक धातुओं के गण में परिवर्तन भी हो गये हैं; यथा--पाहेति (√हि) प्रथम गण के अनुसार परन्तु 'पाहिणति' नवम गण के अनुरूप; 'कसति' (कृषति), साथ ही

'कस्सति' (कर्षति), 'तिट्ठति'--उट्ठाति (उत्+ठा) तथा 'थायामि' इत्यादि रूपों से स्पष्ट हो जायेगा। इसका कारण बहुत कुछ मिथ्यासादृश्य है जिससे पालि में धातुरूपों का वर्गीकरण दुष्कर हो गया है।

पालि में 'आत्मनेपद' ('अत्तनोपद') का प्रायः लोप हो गया है। केवल 'अम्हसे' (√अस्), 'अभिकीररे' इत्यादि कुछ ही रूपों में इसके दर्शन होते हैं। संस्कृत--कर्मवाच्य में आत्मनेपद के तिङ प्रत्ययों का योग होता था परन्तु पालि में यहाँ भी परस्मैपद (परस्सपद) के तिङ प्रत्यय लगाये गये। पालि में चार काल--वर्तमान (लट्), असम्पन्न-सामान्य (लुङ), भविष्यत् (लृट्), एवं 'क्रियातिपत्ति' (लृङ) तथा चार भाव--निर्देश, (indicative), अनुज्ञा (imperative), सम्भावक (optative) और अभिप्राय (subjunctive) विद्यमान हैं। सम्पन्नकाल (perfect) पालि में नहीं है और द्विवचन का अभाव इसकी विशेषता है। पालि में तिङ प्रत्यय प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के समान हैं।

## अशोक के अभिलेखों की भाषा

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि के मध्यभाग में मौर्यसम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों में धर्म तथा शासन सम्बन्धी लेख चट्टानों, प्रस्तर खण्डों, स्तम्भों, गुफाओं की भित्तियों इत्यादि पर उत्कीर्ण करवाए थे। ये अभिलेख हिमालय से मैसूर तथा बंगाल की खाड़ी से अरब सागर पर्यन्त विभिन्न स्थानों में पाए गए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से तो ये महत्वपूर्ण हैं ही, भाषा के विकासक्रम के अध्ययन में भी इनसे कम सहायता नहीं मिलती क्योंकि इनमें मध्यभारतीयआर्यभाषा का प्राचीनतम रूप मिलता है। इन अभिलेखों की एक विशेषता यह है कि जनसाधारण के बोध के लिए लिखे जाने के कारण विभिन्न जनपदों में इनको स्थानीय बोलियों में प्रस्तुत किया गया है। अतः इनमें मध्यभारतीयआर्यभाषा की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन की सामग्री सुरक्षित है।

विषय की दृष्टि से अशोक के प्राप्त अभिलेखों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में ६ शिलालेख आते हैं। इनमें से दो शिलालेख उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में, पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व शाहबाजगढ़ी में और पंजाब के हजारा जिले में मानसेरा नामक स्थान से एक मील पश्चिम की ओर पहाड़ों पर खुदे हैं। ये दोनों शिलालेख खरोष्टी लिपि में हैं जो दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। तीसरा शिलालेख गुजरात में गिरनार (प्राचीन रैव-

तक) पर्वत के अञ्चल में उत्कीर्ण है। चौथा देहरादून जिले में मसूरी से चकरौता की ओर जाने वाले मार्ग पर सोलह मील की दूरी पर कालसी नामक स्थान में है। पाँचवाँ और छठाँ शिलालेख कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) में धौली और जौगड़ नामक स्थानों में हैं। ये चारों शिलालेख ब्राह्मीलिपि में हैं। इन सभी शिलालेखों में अशोक के धर्म एवं शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन है।

दूसरी श्रेणी में ९ लघु शिलालेख हैं। इनमें से तीन मैसूर राज्य में सिद्धपुर जतिंग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में हैं। चौथा शाहाबाद जिले में सहसराम में, पाँचवाँ जबलपुर जिले में रूपनाथ में, छठाँ जयपुर राज्य में वैराट में, सातवाँ भी वैराट में ही था परन्तु अब कलकत्ता में रायल एशियाटिक सोसाइटी के भवन में रखा है और आठवाँ निजाम राज्य के अन्तर्गत मास्की नामक ग्राम में है। एक लघु शिलालेख मद्रास राज्य में भी मिला है। इन अभिलेखों से अशोक की जीवनी पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

तीसरी श्रेणी में आठ स्तम्भ लेख, गुहालेख और अन्य लघु अभिलेख आ जाते हैं। स्तम्भ लेख––अम्बाला, मेरठ, कौशाम्बी, बिहार के चम्पारन जिले में लोड़िया ग्राम के समीप दो, तथा रामपुरवा में एक, नेपाल की तराई में रुम्मिनदेई तथा निग्लीव ग्राम में स्थापित किए गए थे। अम्बाला और मेरठ के स्तम्भ आजकल दिल्ली में हैं और कौशाम्बी का स्तम्भ इलाहाबाद के किले में है। इनके अतिरिक्त सारनाथ, साँची इत्यादि स्थानों में लघु स्तम्भ लेख प्राप्त हुए हैं। गया के समीप बराबर की पहाड़ी में तीन गुहालेख उत्कीर्ण हैं।

अशोक के अभिलेखों में तीन भारतीय आर्य जनभाषाओं के रूप सुरक्षित हैं (१) उत्तर-पश्चिम की जनभाषा, शाहबाजगढ़ी और मानसेरा शिलालेखों में, (२) दक्षिण-पश्चिम की जनभाषा, गिरनार इत्यदि अभिलेखों में और (३) प्राच्य भाषा, धौली, जौगड़, रामपुरवा, सारनाथ, भाब्रू इत्यादि अभिलेखों में। कालसी, तोपरा, बैराट इत्यादि मध्यदेश में अवस्थित अभिलेखों में प्राच्यभाषा ने स्थानीय जनभाषा को इतने अधिक अंश में ढक लिया है कि इन अभिलेखों से स्थानीय जनभाषा के स्वरूप का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। प्राच्यभाषा का प्रभाव उत्तर-पश्चिम में मानसेरा-शिलालेख में भी पर्याप्त रूप में अभिलक्षित होता है और दक्षिण-पश्चिम के अभिलेखों की भाषा भी इसके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है। प्राच्य भाषा के इस प्रभाव का कारण यह है कि अशोक के ये अभिलेख पहले प्राच्य भाषा में प्रस्तुत किए गए थे और तब विभिन्न

जनपदों में, स्थानीय बोलियों में इनका रूपान्तर किया गया। धौली-जौगड़ में प्रधान अभिलेखों के अतिरिक्त दो लघु लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें उत्तर-पश्चिम की भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। डॉ० मधुकर अनन्त मेंहेन्दले का कहना है कि इन अभिलेखों का मूल रूप सम्राट अशोक ने अपनी राजधानी में तैयार नहीं करवाया अपितु उत्तर-पश्चिम में किसी स्थान में स्थानीय जनभाषा में लिखवाकर धौली-जौगड़ में भेजा होगा जहाँ यह स्थानीय भाषा में अनूदित हुए और अनुवादकों की कृपा से इनमें उत्तर-पश्चिम की भाषा के कुछ रूप रह गए।

## 'सुतनूका' अभिलेख

अशोक के प्राच्य अभिलेखों में ऊष्म व्यञ्जन 'श्' का प्रयोग नहीं हुआ है। मगध की बोली में 'श्, ष्, स्' इन तीनों ऊष्म व्यञ्जनों के स्थान पर 'श्' व्यञ्जन का प्रयोग होता था परन्तु यह प्रवृत्ति जनसाधारण तक ही सीमित प्रतीत होती है। पाटलिपुत्र की राजसभा की शिष्टभाषा ने 'श्' का प्रयोग न अपना कर 'स्' ही रहने दिया। इसलिए अशोक के प्राच्य-अभिलेखों में 'श्' दिखाई नहीं पड़ता लेकिन मिर्जापुर जिले के रामगढ़ पर्वत के जोगीमारा गुफा मे एक छोटा सा अभिलेख मिला है। इसमें प्राच्यभाषा की अन्य विशेषताओं के 'साथ श्, ष्, स्' इन तीनों ऊष्म व्यञ्जनों के स्थान पर 'श्' का प्रयोग हुआ है। इस अभिलेख की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'शुतनूक नम देवदशिकि।
तं कमयिथ वलनशेये
देवदिने नम लूपदखे'।

(अर्थात्—'सूतनूका नामक देवदासी—वाराणसी के देवदत्त नामक रूपदक्ष (सौंदर्य-पारखी) ने उसकी कामना की।')

संस्कृत में इसका अनुवाद यह होगा, "सूतनूका नाम देवदासिकातो अकाम-यिष्ट वाराणसेयः देवदत्त नाम रूपदक्षः।"

इस अभिलेख के प्रथम शब्द 'शुतनूका' पर इसका नाम 'सूतनूका' अभिलेख पड़ गया है। 'स्, ष्,' के स्थान पर 'श्' यथा—शुतनूक, दशिकि, वलनशेये के अतिरक्त इसमें 'र्' के स्थान पर 'ल्' यथा—वलनशेये < वाराणसेयः, लूपदेखे <रूपदक्षः तथा पुंल्लिङ्ग कर्ताकारक एकवचन का एकारान्त रूप (वलनशेये; लूपदखे) प्राच्य भाषा की विशेषताओं को स्पष्ट कर देते हैं। इसलिए, इतना लघु होने पर भी इतिहास की दृष्टि से इसका इतना महत्व है।

ईसा पूर्वकाल के दो अन्य प्राकृत अभिलेख, प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक कलिंगराज खारबेल का हाथीगुम्फा अभिलेख है तथा दूसरा यवनराजदूत भागवत हिलिओदोरस का बेसनगर का अभिलेख है। इन दोनों अभिलेखों की भाषा से स्पष्ट विदित होता है कि धीरे-धीरे संस्कृत का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा था। बुद्ध एवं अशोक के प्रयत्नों से लोकभाषाओं का सार्वजनिक एवं राजकीय कार्यों में व्यवहार बढ़ा था। परन्तु कालक्रम के साथ लोकभाषाओं में स्थानीय विशेषताएँ एवं परिवर्तन इतने बढ़ गए थे कि एक जनपद के निवासी के लिए अन्य जनपद की भाषा को समझ सकना सरल न रह गया। अतः शिष्टसमाज की भाषा संस्कृत ही राजकीय व्यवहार एवं विभिन्न जनपदों में पारस्परिक विचार विनिमय का माध्यम बन गई। यही कारण है कि ईसा की बाद की शताब्दियों के अभिलेख संस्कृतमें उपलब्ध होते हैं।

मध्य भारतीय आर्य भाषा के संक्रान्तिकाल (२०० ई० पू० से ३०० ई०) में एक नवीन परिवर्तन ने भाषाओं के स्वरूप में प्रवेश किया और स्वरमध्यग अघोष स्पर्श व्यंजनों के स्थान पर सघोष व्यंजनों का व्यवहार होने लगा। इसप्रकार क-ख, ट-ठ, त-थ, प-फ क्रमशः ग-घ, ड-ढ, द-ध, ब-भ हो गये और तब ड-ढ को छोड़कर अन्य व्यंजन प्राणध्वनि युक्त हो गए, यथा——सरत>सरद >सरद़; एक>एग>एग़; शुक>सुक>सुग़>सुअ

संक्रन्तिकालीन मध्य आर्यभाषा के अध्ययन की सामग्री, मध्य एशिया में, आधुनिक खोजों से प्राप्त हुई है। यहाँ अश्वघोष (१००-२००ई०) के दो संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मिली हैं। लूडर्स महोदय ने इनका सम्पादन किया है। इन नाटकों में जिस प्राकृत का प्रयोग किया गया है उससे इस संक्रान्ति-काल की भाषा का कुछ परिचय मिलता है। इन नाटकों के अतिरिक्त 'धम्मपद' का प्राकृत संस्करण भी उपलब्ध हुआ है। सर आरेल स्टेन महोदय की खोजों के परिणामस्वरूप मध्यएशिया के शानशान राज्य के राजकीय पत्र प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा तत्कालीन प्राकृत की एक शाखा है। 'निय' नामक स्थान में इसकी अधिकांश सामग्री प्राप्त होने के कारण इस प्राकृत को 'निय-प्राकृत' के नाम से अभिहित किया गया है।

## अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष के नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है—— (१) दुष्ट की भाषा, (२) गणिका एवं विदूषक की भाषा और (३) गोभम

की भाषा। इन विभिन्न प्राकृतों का स्वरूप अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त प्राकृतों जैसा ही है। साहित्यिक रचना होने के कारण इन पर संस्कृत का प्रभाव पर्याप्तमात्रा में पड़ा है। इन नाटकों का रचनाकाल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दि माना जाता है।

इन नाटकों में दुष्ट के मुख में नाटककार ने जो भाषा रखी है उसमें प्राचीन मागधी की सभी विशेषताएँ हैं। गणिका एवं विदूषक की बोली प्राचीन शौरसेनी के सदृश है। पालि से इसकी समानता स्पष्ट है। अतः इसमें हमें मध्य-देश की बोली के मध्यकालीन स्वरूप के दर्शन होते हैं। गोभम द्वारा प्रयुक्त प्राकृत को लूडर्स महोदय ने अर्धमागधी का प्राचीन रूप माना है।

## नियप्राकृत

मध्य-एशिया के प्राचीन शानशान राज्य में, खरोष्टी लिपि में लिखे हुए जो पत्र सर ऑरेलस्टे न की खोजों से प्रकाश में आये हैं वे ईसा की तीसरी शताब्दी के हैं। इनकी भाषा मूलतः भारत के उत्तर-पश्चिम अञ्चल की भाषा है (जिसका परिचय अशोक के शाहबाज़गढ़ी एवं मानसेरा अभिलेखों में मिलता है) परन्तु यह पड़ोसी ईरानी, तुख़ारी, मंगोल आदि भाषाओं से भी प्रभावित हुई है। प्राकृत धम्मपद की भाषा का भी यही स्वरूप है। परन्तु साहित्यिक रचना होने के कारण इसमें अधिक प्राचीन रूप स्थान पा सके हैं। खरोष्टी लिपि में लिखे जाने के कारण इसमें दीर्घस्वरों के स्थान पर ह्रस्व स्वर एवं संयुक्त व्यंजनों में से केवल एक व्यंजन ही लिखा गया है।

## बौद्ध संस्कृत

प्राकृतों के अतिरिक्त संस्कृतबहुला एक और भाषा का ईसा की प्रथम शताब्दि में प्रचार था जिसका प्रयोग बौद्धधर्म की महायानशाखा में था। जिसप्रकार हीनयान के अनुयायियों ने पालि को अपनाया, उसीप्रकार संस्कृत का आश्रय महायानियों ने लिया। इनके आगम भी हीनयान के आगमों से भिन्न हैं। इनके ग्रन्थों का भाषा की दृष्टि से श्री एडगर्टन ने निम्नलिखित विभाजन किया है—

(१) महावस्तु, भिक्षुप्रकीर्णक। (२) सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तार, गण्ड-व्यूह, काश्यपपरिवर्त, दशभूमिकसूत्र, सुखावतीव्यूह, समाधिराजसूत्र, सुवर्ण-प्रभाससूत्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, शिक्षासमुच्चय आदि। (३) मूल सर्वास्तिवादविनय, दिव्यावदान, अवदानशतक, प्रातिमोक्षसूत्र, मञ्जुश्रीमूल-

कल्प, अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारभिता, कारण्ड व्यूह, लंकावतार, जातकमाला आदि।

इन ग्रन्थों में आने वाले पद्यभाग को गाथा कहा जाता है और विशेष व्यत्यय गाथा भाग में ही प्राप्त होते हैं। अतएव डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र, मैक्समूलर, वेबर तथा बर्नफ आदि विद्वानों ने इसे गाथा संस्कृत की संज्ञा प्रदान की पर डॉ० एडगर्टन ने इसे मिश्रित बौद्ध संस्कृत के नाम से अभिहित किया है।

बर्नफ के अनुसार यह गाथा संस्कृत तथा पालि के बीच की भाषा है और पालि का विकास इसी से हुआ। यदि हम इस मत पर विचार करें तो इसे स्वीकार करने पर पालि के व्याकरण के ढाँचे पर भी इस संस्कृत की अमिट छाप रहनी चाहिए थी। पर पालि में इसका अभाव है। यह संस्कृत तो इकार तथा उकार-बहुला है, जो अपभ्रंश का लक्षण है। अतः भाषा तथा समय दोनों दृष्टियों से ही यह पालि से प्राचीन नहीं है। आधुनिक भाषाविद् बर्नफ के उक्त मत को न मानकर इस तथ्य की ही पुष्टि करते हैं कि यह संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा है, पूर्ण कृत्रिम है तथा यह भी साहित्यिक प्राकृतों के समकालीन है।

डॉ० एडगर्टन ने जो इसका नामकरण मिश्रित बौद्ध संस्कृत किया है, उस सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। विद्वानों की यह धारणा है कि किसी भाषा को ऐसा नाम देना उपयुक्त नहीं है। अधिक लोगों की यह राय है कि संस्कृत भाषा का यह सामान्यरूप उसके विशेष प्रचार की ओर ही इंगित करता है। साधु एवं शिष्ट संस्कृत की अपेक्षा यह बहुप्रचलित भाषा समाज में विशिष्ट रूप से समादृत थी तथा स्पष्ट और सरल होने के कारण अधिक ग्राह्य भी। अतएव पुराणों के प्रणेताओं, बौद्धों तथा जैनों सभी ने इसका समान रूप से प्रयोग किया। पुराणों में भी उक्त बौद्ध संस्कृत की अनेक समानताएँ विद्यमान हैं और इन व्यत्ययों को ही ध्यान में रखकर कीलहार्न तथा कीथ प्रभृति विद्वानों ने यह व्यक्त किया था कि पुराणों का पालि अथवा अन्य किसी प्राकृत से संस्कृत में रूपान्तर किया गया है और उस रूपान्तर में मूल की कुछ बातें यत्र-तत्र रह गई हैं। इस सम्बन्ध में यह तो निर्विवाद रूप से सत्य प्रतीत होता है कि उस समय संस्कृत के इस बहुप्रचलित रूप का अत्यधिक प्रयोग अवश्य था। पुराणों में भी सर्वसाधरण के लिये इसका प्रयोग आवश्यक समझा गया। विन्टरनित्स की तो यह धारणा है कि पुराणों में प्रयुक्त भाषा तात्कालिक जनभाषा के अत्यधिक निकट रही होगी। अतः यह बहुप्रचलित संस्कृत भाषा कही जा सकती है और जिसप्रकार सामान्य जन की भाषा में अथवा उनके साहित्य के

व्याकरण पर अधिक जोर नहीं दिया जाता था, वैसा ही पुराणों के सम्बन्ध में भी हुआ। पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत में लिखे गए अन्य टेकनिकल विषयों के वाङमय की भाषा भी ऐसी ही है। श्री बरो ने पुराणों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि मध्य-भारतीय-भाषा की तुलना में पुराणों की भाषा संस्कृत अवश्य कही जा सकती है, परन्तु यह ऐसी भाषा है जो निरन्तर ही पाणिनि के नियमों का उल्लंघन करती है जिनका पालन करना धार्मिक तथा साहित्यिक समाज में अनिवार्य समझा जाता था। पर इस सम्बन्ध में यह भी बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि पुराणों का पाठ तथा उनके आख्यानों का प्रचार ब्राह्मणों की अपेक्षा शिक्षा आदि में पिछड़े हुए सूतों आदि ने अधिक किया। अतः ब्राह्मणों की साधु एवं परिनिष्ठित भाषा की अपेक्षा इनकी भाषा अधिक सरल तथा सामान्य रही होगी और इस कारण से जन समाज ने इसे अधिक अपनाया होगा। जब प्राकृतों के उत्थान का युग आया तो उस समय पुरोहित ब्राह्मणवर्ग की संस्कृत भाषा, जिसमें पाणिनि के सूत्रों का विशेष ध्यान था, उसके अतिरिक्त अलग से इस रूप में प्रतिस्पर्द्धा से संस्कृत का प्रचार किया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों की कथा कहने वाले पूर्व शिक्षा के आधार पर नह , प्रत्युत तात्कालिक प्रयोगों के आधार पर ही संस्कृत भाषा को समझते थे। अतएव इनकी दृष्टि शास्त्रीय परिनिष्ठित भाषा की ओर नहीं थी, प्रत्युत उस सामान्य संस्कृत भाषा की ओर थी, जिसके गायन अथवा पाठ करने पर जनसाधारण उसे सरलतापूर्वक समझ सकता था। लोगों की ऐसी धारणा है कि आगे चलकर इन पुराणों का भी संस्कृतीकरण हुआ और व्याकरण में व्यत्यय नाम से प्रसिद्ध बहु प्रचलित भाषा की ये विशेषताएँ समाप्त हो गईं। पर पूर्णरूप से इनका अवसान न हो सका और इसके उदाहरण पुराणों में अवशेष के रूप में आज भी प्राप्त हैं, यथा––येन और तेन शब्दों के विशिष्ट प्रयोग :––

येन येन च गच्छन्ति, राक्षसा भयकर्षिताः।
तेन तेन स्म पश्यन्ति, रामेवाग्रतः स्थितम्॥
(बा०रा०', आरण्य, ३१,१९)।

जेकोबी की तो यह धारणा है कि शिष्ट संस्कृत के अतिरिक्त समाज में निम्नस्तर की भी भाषा प्रचलित थी। पतञ्जलि ने भी इस आशय को व्यक्त किया है कि शिष्ट भाषा के अतिरिक्त ऋषि लोग बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते थे––

"यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूव"

(महा०, १.११)

इत्यादि। अतएव साधु संस्कृत के अतिरिक्त सामान्य संस्कृत का भी समाज में अत्यधिक प्रचार था और वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी मतावलम्बियों ने समान रूप से उसका उपयोग किया। अतः बौद्ध संस्कृत भी उसी प्रयोग के परिणाम-स्वरूप ही विकसित है। इन कारणों से बौद्ध मिश्रित संस्कृत की अपेक्षा इसे बोलचाल की संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाय अथवा सामान्य संस्कृत की संज्ञा से विभूषित किया जाय तो यह अत्यधिक उपयुक्त होगा। डा० सुकुमार सेन के विचार इस सम्बन्ध में कितने स्पष्ट हैं––"पालि तथा अशोक के अभि-लेखों से स्पष्टतया यह ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दि के अन्त में निर्विवादरूप से मध्यभारतीय आर्यभाषा का अखिल भारतीयरूप साहित्य तथा शासन में प्रतिष्ठित हो गया था। यह साहित्यिकरूप ही संस्कृत के परिधान को ग्रहण करके बौद्धों द्वारा विकसित की गई बौद्ध संस्कृत के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। यही बात पुराणादि की भाषा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।" इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह भाषा तथा पुराणों की भाषा मध्य-भारतीय आर्यभाषा के संस्कृतीकरण के परिणामस्वरूप ही विकसित हुई है।

## साहित्यक प्राकृतें

### [द्वितीय पर्व]

मध्यभारतीय आर्यभाषा के संक्रांतिकाल में हम देख चुके हैं कि स्वरमध्यग अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लगे थे। ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में उच्चारण की इस प्रवृत्ति में अभिनव परिवर्तन प्रकट हुए, उन्होंने मध्य भारतीय आर्यभाषा का रूप बहुत बदल दिया। स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण में शिथिलता आ गई जिससे वे ऊष्म ध्वनि के समान बोले जाने लगे। यह स्थिति बहुत काल तक न बनी रही और कुछ समय पश्चात् शिथिलतापूर्वक उच्चरित ये सघोष व्यंजन ध्वनियाँ लुप्त होने लगीं। इस परिवर्तन से भाषा का स्वरूप इतना परिवर्तित हो गया कि वह पिछले पर्व की भाषा से भिन्न प्रतीत होने लगी। मध्य भारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व का यह प्रधान लक्षण है। निम्न उदाहरणों से यह परिवर्तन क्रम स्पष्ट हो जायगा––

शुक > सुग > सुग़ > सुअ
मुख > मुध > मुध् > मुह
हित > हिद > हिद़ > हिअ

कथा > कधा > कध़ा > कहा
अपर > अबर > अव़र > अअर

सघोष स्पर्श व्यंजनों के इस शिथिल ऊष्म उच्चारण को प्रकट करने के लिए लिपि में किसी नवीन चिह्न का प्रयोग न किया गया। इसप्रकार सुग़, 'हिद़' इत्यादि रूप 'सुग' हिद' ही लिखे जाते रहे। अतः लिखित भाषा में यह परिवर्तन प्रकट न हुआ और उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने समझ लिया' कि अघोष स्पर्श व्यंजनों के घोषवत् उच्चारण तथा सघोष व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया सम-कालीन है।' ऊष्मवत् उच्चारण की स्थिति से परिचित न होने के कारण वह भाषा के क्रमिक विकास को न समझ सके। यही कारण है कि उन्होंने भाषा के घोषवत् उच्चारण मुक्तरूप को तथा सघोष व्यंजनों के लोप से परिर्वातित स्वरूप को एक ही कालक्रम में रखकर विभिन्न नामों से अभिहित किया। परिवर्तन की प्रथम स्थिति में वर्तमान भाषा को उन्होंने "शौरसेनी" तथा अंतिम स्थिति में वर्तमान भाषा को 'महाराष्ट्री' संज्ञा दी। परन्तु वास्तव में शौरसेनी एवं महाराष्ट्री एक ही भाषा के आगे पीछे के रूप हैं।

व्यंजन ध्वनियों में इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ-साथ शब्द एवं धातु-रूपों के सरलीकरण की प्रक्रिया भी प्रगतिशील रही। शब्दरूपों की भिन्न-ताएँ बहुत कुछ प्रथम पर्व में ही समाप्त हो चुकी थीं। द्वितीय पर्व में अवशिष्ट रूपभेद भी लुप्त हो गए और सभी शब्दों के रूप अकारान्त शब्द के समान निष्पन्न होने लगे। कारकों की संख्या भी कम हो गई। सम्प्रदान एवं सम्बन्ध-कारक के रूप समान हो गए। कर्ता एवं कर्मकारण बहुवचन का काम एक ही रूप से लिया जाने लगा। द्विवचन प्रथम पर्व में ही समाप्त हो चुका था। धातु-रूपों में आत्मनेपद के इक्के दुक्के रूप ही बच रहे और वहाँ भी अपने मूल अर्थ को छोड़कर। लङ, लिट्, तथा विविध प्रकार के लुङ रूप समाप्त हो गए। कारक एवं क्रिया का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए संज्ञा शब्द के साथ कारका-व्यय एवं कृदन्त रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी। इसप्रकार 'रामाय दत्तम्' न कहकर 'रामाय कए (कृते) दत्तम्' अथवा 'रामस्स कए दत्तम' तथा 'रामस्य गृहम्' न कहकर 'रामस्स केरक (कार्यक) घरम' कहा जाने लगा। यही कारका-व्यय आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में अनुसर्ग या परसर्ग बने। इसप्रकार भारतीय आर्यभाषा विश्लेषणात्मक बनने लगी। मध्यकाल के द्वितीय पर्व तक आते-आते प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की शब्द एवं धातुरूपों की विविधता एवं सम्पन्नता समाप्तप्राय हो गई। परन्तु अब भी भाषा का रूप इस

सीमा तक नहीं बदला कि जन-सामान्य के लिए सर्वथा दुर्बोध हो जाय। संस्कृत-नाटकों में विविध प्राकृतों के प्रयोग की प्रथा से प्रतीत होता है कि संस्कृत जनसामान्य के लिए अभी भी बहुत कुछ बोधगम्य थी।

जिसप्रकार प्राचीन आर्यभाषा को साधारणतया 'संस्कृत' कह दिया जाता है उसीप्रकार मध्यभारतीय आर्यभाषा के लिए 'प्राकृत' शब्द का व्यवहार कर दिया जाता है। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जनसाधारण) से है; अतः 'प्राकृत' का अर्थ हुआ जनसाधारण की भाषा। शिष्ट समाज की भाषा संस्कृत से भेद प्रकट करने के लिए जनसामान्य की भाषा में 'प्राकृत' संज्ञा दी गई। उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरण 'पालि' से परिचित न थे और अशोक के अभिलेखों की भाषा भी उनके सामने न थी। अतः उन्होंने इन पर विचार न किया। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त तथा कुछ काव्यग्रन्थ एवं जैनों के धार्मिक ग्रन्थों में व्यवहृत प्राकृत पर ही इन वैयाकरणों ने विचार किया। अतः 'प्राकृत' शब्द जैन-आगमों की 'आर्षी' अथवा 'अर्द्धमागधी' तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं की 'मागधी', 'शौरसेनी', 'महाराष्ट्री' तथा 'पैशाची' बोलियों के अर्थ में रूढ़ हो गया। मध्य भारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व के अध्ययन की सामग्री हमें इन्हीं साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

प्राकृत वैयाकरणों में सबसे पहिला नाम वररुचि का आता है। वररुचि ने 'प्राकृत' के चार भेद किए––महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। जैन आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) ने आर्षी (अर्धमागधी) एवं 'शूलिका पैशाचिक' पर भी विचार किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने जिस भाषा का विवेचन किया है वह लोक भाषा पर आधारित अवश्य थी, परन्तु वह संस्कृत के आदर्श पर चलकर कालान्तर में केवल साहित्यिक रचनाओं की भाषा रह गई थी। इस रूप में प्राकृतों का प्रयोग संस्कृत नाटककार तेरहवीं शताब्दि तक करते रहे। इन प्राकृतों की अनेक शाखाएँ रही होंगी, परन्तु उनमें कोई साहित्यिक रचना न होने के कारण आज उनका पूरा परिचय नहीं मिलता। केवल यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ विशिष्ट शब्दरूपों से इसका अनुमान मात्र किया जा सकता है। यहाँ पर हम प्राकृत वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित साहित्यिक प्राकृतों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

## शौरसेनी

शौरसेनी प्राकृत मूलतः शूरसेन प्रदेश (मथुरा) की भाषा थी। संस्कृत नाटकों में स्त्री पात्र और विदूषक इसका प्रयोग करते थे। मध्यदेश की भाषा

होने के कारण यह संस्कृत के बहुत समीप रही और इस पर संस्कृत का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा। शौरसेनी प्राकृत की निजी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं--

(१) स्वरमध्यग 'द्, ध्' (मूल तथा 'त्, थ्' के परिवर्तित रूप) सुरक्षित हैं। यथा--आगतः>आवदो; कथयतः>कथेदु; कृतः>कदकिद।

(२) क्ष>क्ख; यथा--कुक्षि>कुक्खि; इक्षु>इक्खु।

(३) संयुक्त व्यञ्जनों में से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी में अधिक नहीं मिलती।

(४) विधि (optative) के रूप संस्कृत के समान बनते हैं, महाराष्ट्री एवं अर्धमागधी के समान इनमें 'एज्ज' प्रत्यय नहीं लगता।

(५) 'य' प्रत्यय का प्रतिरूप शौरसेनी में 'ईअ' हो जाता है।

## मागधी

मागधी मूलतः मगध की भाषा थी। संस्कृत-नाटकों में निम्नश्रेणी के पात्र मागधी प्राकृत बोलते थे। प्राच्यदेश की लोकभाषा होने के कारण यह वर्ण-विकार इत्यादि में अन्य लोकभाषाओं से बहुत आगे रही। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं--

(१) मागधी 'र्' ध्वनि का अभाव है। 'र्' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' पाया जाता है; यथा--राजा>लाजा; पुरुषः>पुलिशे (शौ० पुरिसो); समर>शमल।

(२) 'स्' 'ष्' के स्थान पर 'श्' का प्रयोग मागधी की एक प्रधान विशेषता है; यथा--शुष्क>शुश्क; समर>शमल।

(३) ज् > य् तथा झ्>य्ह; यथा--जानाति>याणादि; जनपद>यणवद; जायते>यायदे, झटिति>य्हति।

(४) द्य्,र्ज्,र्य् >य्य; यथा--अद्य>अय्य; आर्य>अय्य; अर्जुन>अय्युण; कार्य>कय्य।

(५) ण्य्, न्य्, ज्ञ्, ञ्ज्>ञ्ञ्; यथा--पुण्य>पुञ्ञ; अन्य>अञ्ञ; राज्ञः>लञ्ञो; अञ्जलि>अञ्ञलि।

(६) जिन संयुक्त व्यञ्जनों में प्रथम व्यञ्जन ऊष्म होता है, उनमें वर्ण-विकार के अतिरिक्त समीकरण आदि अन्य परिवर्तन नहीं होते; यथा--शुष्क शुश्क; हस्त>हश्त।

(७) च्छ>श्च; यथा--गच्छ>गश्च; पृच्छ>पुश्च।

(८) क्ष>श्क; यथा--पक्ष>पश्क, प्रेक्षते>प्रेश्कदि।

(९) शौरसेनी के समान मागधी में भी स्वरमध्यग 'द्' सुरक्षित रहा; यथा--भविष्यति>भविश्शदि।

(१०) कर्ताकारक एकवचन का प्रत्यय 'अः'>'ए'; यथा--सः>शे इत्यादि।

प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी की कुछ विकृतियों तथा विभाषाओं का उल्लेख किया है। 'चाण्डाली' तथा 'शावरी' मागधी की विकृतियाँ हैं और 'शाकारि' इसकी विभाषा प्रतीत होती है। 'शाकारी' मागधी की विशेषताएँ ये हैं--

(१) 'च्' के स्थान में 'य्च्', यथा--य्चिष्ठ<*चिष्ठ<तिष्ठ।

(२) सम्बन्धकारक एकवचन में 'अह' (आह) प्रत्यय; यथा--चालुदत्ताह<चारुदत्तस्य।

(३) अधिकरण एक वचन में 'आहि' प्रत्यय; यथा--पवहणाहिं<प्रवहणे।

## अर्धमागधी

अर्धमागधी काशी-कोशल प्रदेश की भाषा थी। जैन आचार्यों ने इस भाषा में शास्त्रों की रचना की। वह इसको 'आर्षी' कहते थे और आदि भाषा मानते थे। संस्कृत-नाटकों में भी अर्धमागधी का प्रयोग होता था। मध्यएशिया से प्राप्त अश्वघोष के संस्कृत नाटक 'शारिपुत्र प्रकरण' में अर्धमागधी का व्यवहार हुआ है।

अर्धमागधी में शौरसेनी एवं मागधी दोनों के लक्षण मिलते हैं। इसमें 'र्' एवं 'ल्' दोनो ही ध्वनियाँ विद्यमान हैं और प्रथमा एक वचन का रूप एकारान्त (मागधी के समान) तथा ओकारान्त (शौरसेनी के समान), दोनों प्रकार उपलब्ध होता है। 'श्' तथा 'ष्' के स्थान पर इसमें 'स्' हो गया है और 'स्म' का प्रतिरूप 'स' मिलता है; यथा--लोकस्मिन्>लोकम्हिं>लोयंसि; तस्मिन्>तंसि। अर्धमागधी की एक प्रमुख विशेषता यह है कि स्वरमध्यग लुप्त स्पर्श व्यञ्जनों का स्थान 'य्' ध्वनि ले लेती है। इसको 'य' श्रुति कहते हैं। उदाहरण ये हैं--सागर>सायर; स्थित> ठिय; कृत>कय (हिंदी 'किया')। कहीं-कहीं स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यञ्जन भी सुरक्षित हैं; यथा--लोगंसि<लोकस्मिन्। 'स्स' के स्थान पर यहाँ प्रायः 'स्' रह गया है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गया है; यथा--वास <वस्स <वर्ष। अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अर्ध-

मागधी में दन्त्य व्यन्जनों के मूर्धन्यादेश (cerebralisation) की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। संस्कृत के पूर्वकालिकक्रिया के प्रत्यय 'त्वा' एवं 'त्य' अर्धमागधी में 'त्ता' एवं 'च्चा' के रूप सुरक्षित रहे। 'तुमुन्नन्त' शब्दों का व्यवहार अर्धमागधी में पूर्वकालिकक्रिया के समान किया गया; यथा —काउँ<कर्तुम् का प्रयोग 'कृत्वा' के स्थान पर हुआ है।

जैन आचार्यों ने महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में भी शास्त्र रचना की। परन्तु उनकी भाषा अर्धमागधी से बहुत प्रभावित रही। अतः इनको जैन महाराष्ट्री एवं जैन शौरसेनी कहा गया।

## महाराष्ट्री

साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत सर्वाधिक विकसित है। प्राकृत वैयाकरणों ने इसको आदर्श प्राकृत माना है और सबसे पहिले उन्होंने इसी का विवेचन किया और तब अन्य प्राकृतों की विशेषताएँ बताई हैं। संस्कृत नाटकों में प्राकृत पद्य रचना प्रायः महाराष्ट्री में ही हुई है। महाराष्ट्री प्राकृत में महाकाव्य एवं खण्डकाव्यों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। 'सेतुबन्ध' (रावणवहो अथवा दशमुहवहो) तथा 'गउडवहो' काव्य महाराष्ट्री में है तथा हाल की 'गाथा सत्तसई' की भाषा भी महाराष्ट्री प्राकृत है।

महाराष्ट्री की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजनों का लोप हो गया है। इसप्रकार स्वरमध्यग क्, त् प्, ग्, द्, ब पूर्णतया लुप्त हो गये हैं और ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ्, के स्थान पर केवल प्राणध्वनि 'ह्' बच रही है। अतः प्राक्कत>पाउअ; प्राभृत<पाहुड; कथयति >कहेइ रूप महाराष्ट्री में मिलते हैं। यह मध्यभारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व के विकास की चरमावस्था है। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत में प्रमुख भिन्नता इसी परिवर्तन में है। अन्यथा महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी से बहुत अधिक साम्य रखती है। निस्सन्देह महाराष्ट्री प्राकृत आधुनिक मराठी का पूर्वरूप है और शौरसेनी से सादृश्य होने के अतिरिक्त इसमें आधुनिक मराठी के शब्दरूपों के पूर्वरूप भी विद्यमान हैं। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री में स्वरमध्यग व्यन्जनों के विषय में इस भिन्नता का कारण यह भी हो सकता है कि किसी प्रदेश की भाषा में अन्य प्रदेशों की भाषाओं की अपेक्षा परिवर्तन की गति अधिक तीव्र होती है। संभव है महाराष्ट्री में शौरसेनी की अपेक्षा परिवर्तन अधिक तीव्र गति से होता रहा हो। परन्तु इन सब समस्याओं का विवेचन कर श्री मनमोहन घोष इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वास्तव में महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का विकसित रूप है।

इन दोनों प्राकृतों में पहले स्थानगत भेद न होकर कालगत भेद था। इसके बाद महाराष्ट्री प्राकृत दक्षिण में पहुँची और काव्य-भाषा बन गई। वहाँ यह स्थानीय लोक-भाषा से भी प्रभावित हुई, जिसके कारण इसने अनेक मराठी रूप अपना लिए। दक्षिण से यह भाषा उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में लौटी और इसको अन्य प्राकृतों के बीच आदर का स्थान प्राप्त हुआ। इसप्रकार महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का ही विकसित रूप है और शौरसेनी प्राकृत एवं शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की स्थिति की परिचायिका है। महाराष्ट्री प्राकृत की अन्य विशेषताएँ निम्निलिखित हैं—

(१) इसमें कहीं-कहीं ऊष्म व्यञ्जन ध्वनि के स्थान पर 'ह्' हो गया है; यथा—पाषाण>पाहाण; अनुदिवसं>अनुदिअहं (इस उदाहरण में 'द्' का लोप इसलिए नहीं हुआ कि 'अनु' एवं 'दिवसं' अलग अलग शब्द हैं अतः 'द्' स्वरमध्यग न समझा गया)।

(२) अपादान एक वचन में साधारणतया 'अहि' प्रत्यय लगता है यथा —दूराहि (=दूरात्)।

(३) अधिकरण एकवचन के रूप 'म्मि' अथवा 'ए' के योग से बनते हैं; यथा लोए अथवा लोअम्मि<लोकस्मिन्।

(४) 'कृ' धातु के रूप वैदिक भाषा के समान निष्पन्न होते हैं; यथा—कुणइ<कृणोति (वै०)

(५) 'आत्मन्' का प्रतिरूप महाराष्ट्री प्राकृत में 'अप्प' हुआ है (शौ०, मा० 'अन्त')।

(६) क्रिया के कर्मवाच्य का 'य' प्रत्यय>'इज्ज'; यथा—पृच्छ्यते> पुच्छिज्जइ; गम्यते>गमिज्जइ।

(७) पूर्वकालिक क्रिया का रूप 'ऊण' प्रत्यय के योग से बनता है; यथा —पुच्छिऊण (सं० 'पृष्ट्वा')।

## पैशाची

पैशाची प्राकृत की कोई साहित्यिक रचना सुरक्षित नहीं रह सकी है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' (वड्डकहा) मूलतः पैशाची में लिखी गई थी, परन्तु इसका पैशाची पाठ लुप्त हो गया है। प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची की प्रमुख विशेषताएँ ये बताई हैं—

(१) सघोष व्यञ्जनों के स्थान पर समान अघोष व्यञ्जनों का प्रयोग यथा—नगर >नकर; राजा>राच।

(२) पैशाची की दूसरी विशेषता यह बताई गई है कि इसमें स्वरमध्यग स्पर्श व्यञ्जनों का लोप नहीं होता।

## अपभ्रंश

मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को "अपभ्रंश" नाम से अभिहित किया जाता है। अपभ्रंश मध्यभारतीय आर्यभाषा और आधुनिक आर्यभाषाओं (हिन्दी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि) के बीच की कड़ी है। प्रत्येक आधुनिक आर्यभाषा को "अपभ्रंश" की स्थिति पार करनी पड़ी है। "अपभ्रंश" शब्द विभिन्न अर्थों में महाभाष्यकार पतञ्जलि (ईसा पूर्व दूसरी शती) के समय से प्रयुक्त मिलता है। इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करना यहाँ असंगत न होगा क्योंकि उससे अपभ्रंश के काल-निर्णय में सहायता मिलेगी।

## अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—"भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य "गावी", 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिके' त्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।" (अपशब्द बहुत हैं, शब्द अल्प हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं, जैसे 'गो' शब्द के 'गावी', गोणी', 'गोता,' 'गोपोतलिका' इत्यादि)। शब्द से आचार्य पतञ्जलि का अर्थ पाणिनीय व्याकरण के सिद्ध शब्द से है और 'अपभ्रंश' का प्रयोग उन्होंने 'अपशब्द' के समानार्थक रूप में किया है। 'गो' शब्द के जो अपभ्रंश रूप आचार्य ने बताए हैं, उनमें से 'गावी', 'गोणी', 'गोता' को यदि 'गो' शब्द के ध्वनिविकार मान भी लें तब भी 'गोपोतलिका' को किसीप्रकार 'गो' का ध्वनिविकार नहीं कहा जा सकता। ये शब्द तत्कालीन विभाषाओं के होने चाहिए। इनमें से कुछ शब्द श्वेताम्बर जैन ग्रंथों की अर्द्धमागधी में मिल जाते हैं तथा कुछ को प्राकृत वैयाकरण चण्ड एवं हेमचन्द्र ने महाराष्ट्रीप्राकृत के शब्द कहा है। इससे स्पष्ट है कि महाभाष्यकार ने 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किसी भाषा विशेष के अर्थ में नहीं किया है, अपितु अपाणिनीय असाधु शब्द के अर्थ में किया है।

ईसा की छठीं शताब्दि में प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने अपने ग्रंथ "प्राकृतलक्षणम्" (३-३७) में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है। इसी शती में, बलभी के राजा द्वितीय धरसेन को एक ताम्रपत्र में "संस्कृत-

प्राकृतापभ्रंश-भाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्ध रचनानिपुणान्तःकरणः" कहा गया है। आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में संस्कृत एवं प्राकृत के साथ अपभ्रंश को रखा है (संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा; काव्यालंकार (१-२६) और आचार्यदण्डी ने 'काव्यादर्श में 'अपभ्रंश' को "आभीरादिगिरः (आभीर आदि की भाषा) कहा है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसा की छठीं शताब्दि तक "अपभ्रंश" शब्द किसी भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा था और यह भाषा आभीर आदि जातियों में बोली जाती थी।

ईसा की नवीं शताब्दि में आचार्य रुद्रट ने संस्कृत एवं प्राकृत के साथ अपभ्रंश का उल्लेख करते हुए देशभेद से इसके अनेक भेद कहे हैं। इससे अपभ्रंश के विस्तार का पता चलता है। ईसा की ग्यारहवीं शती में प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने 'अपभ्रंश' को शिष्टवर्ग की भाषा स्वीकार किया और बारहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। इसप्रकार ईसा पूर्व द्वितीय शती से अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न कालों में 'अपशब्द' 'विभाषा', 'लोकभाषा', 'शिष्ट एवं साहित्यिक भाषा' के अर्थों में किया गया।

## अपभ्रंशकाल

अपभ्रंश के सबसे प्राचीन उदाहरण भरत के नाटचशास्त्र (३०० ई०) में मिलते हैं। भरत ने 'आभीरोक्ति' का उल्लेख किया है और इसको उकार बहुला बताकर इसके कुछ उदाहरण भी दिये हैं, यथा--'मोरुल्लउ' 'नच्चन्तउ', इत्यादि। दण्डी के इस कथन से कि काव्य में 'आभीरादि' की भाषा अपभ्रंश कही जाती है, यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकारबहुला आभीरोक्ति अपभ्रंश रही होगी और भरत ने जो उदाहरण इस उकारबहुला आभीरोक्ति के दिए हैं, उनमें 'णेइ', 'णिच', 'जोण्हउं' आदि शब्द हैं भी ठेठ अपभ्रंश के। परन्तु भरत के इन उदाहरणों में प्राकृत प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध अपभ्रंश के उदाहरण नहीं माना जा सकता। हाँ, अपभ्रंश को जन्म देनेवाली प्रवृत्तियों के बीज यहाँ अवश्य देखे जा सकते हैं।

महाकवि कालिदास के 'विक्रमोरवशीय नाटक' के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के कुछ दोहे मिलते हैं। इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं। याकोबी, ए० पी० पण्डित आदि विद्वान् इनको प्रक्षिप्त मानते हैं; परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये एवं डा० ग० वा० तगारे इनको प्रामाणिक मानते हैं। यदि ये पद्य प्रामाणिक मान लिए जाएँ तो अपभ्रंश का प्रारम्भकाल ईसा

की पाँचवीं शती में माना जा सकता है; परन्तु इन विवादग्रस्त पद्यों को लेकर कोई निश्चय करना ठीक न होगा।

ईसा की छठीं शती में बलभी के राजा धरसेन के ताम्रपत्र के उल्लेख एवं संस्कृत आलंकारिकों के कथनों से स्पष्ट है कि उस समय तक 'अपभ्रंश' जन-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और उसमें साहित्य-रचना की ओर भी विद्वानों की प्रवृत्ति होने लगी थी। इससे अपभ्रंश का प्रारम्भ निश्चयपूर्वक ६०० ई० कहा जा सकता है। ईसा की छठीं शताब्दि से अपभ्रंश में काव्य रचनाएँ प्राप्त होने लगीं और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक होती रहीं। परन्तु ईसा की बारहवीं शती के अन्त तक अपभ्रंश लोकभाषा न रहकर साहित्यरूढ़ भाषा बन चुकी थी। आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने अपभ्रंश और ग्राम्यभाषा में भेद किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय में अपभ्रंश बोलचाल की भाषा न रह गई थी। हेमचन्द्र का अपभ्रंश-व्याकरण लिखना ही यह सिद्ध करता है कि उनके समय तक बोलचाल की भाषा अपभ्रंश को छोड़ आगे बढ़ चली थी। ईसा की तेरहवीं शती से तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रारम्भिक साहित्य-ग्रंथ मिलने लगते हैं। इसप्रकार बारहवीं शताब्दि तक ही अपभ्रंश का काल मानना ठीक होगा। अतः अपभ्रंश भाषा मध्य भारतीय आर्यभाषा का अन्तिम चरण है और ६०० से १२०० ई० तक यह भाषा लोकभाषा के पद पर आसीन रही।

## अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र

भरत के नाट्यशास्त्र में उकार बहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धु-सौवीर और इनके आश्रित देशों के लोगों के लिए करने का आदेश दिया है। इससे विदित होता है कि भरत के समय तक भाषा में अपभ्रंश की विशेष-ताएँ भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रकट हुई थीं। ईसा की दसवीं शताब्दि में राजशेखर ने अपने ग्रंथ "काव्यमीमांसा" में अपभ्रंश का वितार-क्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है। मरुभूमि से राजशेखर का तात्पर्य राजस्थान रहा होगा। टक्क प्रदेश की स्थिति विद्वानों ने विपाशा और सिन्धु नदी के बीच मानी है। भादानक की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। टक्क के साथ इसका उल्लेख होने से विद्वानों ने अनुमान किया है कि यह भी उसके आसपास का ही कोई प्रदेश रहा होगा। एन० एल० दे महाशय भादा-नक को भागलपुर से नौ मील दक्षिण में स्थित 'भदरिया' स्थान बताते हैं। परन्तु भादानक की स्थिति पश्चिमोत्तर भारत में ही अधिक संगत जान पड़ती

है। इसप्रकार राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का विस्तार राजपूताना और पंजाब तक हो चुका था। अपभ्रंश का जो साहित्य आज उपलब्ध है उसका रचना-स्थान, राजस्थान, गुजरात, पश्चिमोत्तर भारत, बुन्देलखंड, बंगाल और दक्षिण में धान्यखेट तक विस्तृत प्रतीत होता है। इससे विदित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दि तक अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत तथा दक्षिण तक में हो गया था। अपभ्रंश इस विस्तृत प्रदेश की जनभाषा थी, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इन प्रदेशों की भाषाओं पर अपभ्रंश और अपभ्रंश पर इन प्रदेशों की भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, यह असंदिग्ध है।

## अपभ्रंश की विभाषाएँ

अपभ्रंश का जो साहित्य मिलता है, उसमें भाषागत भेद बहुत कम है। यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है। परन्तु वैयाकरणों ने और विशेषतया उत्तरकालीन वैयाकरणों ने अपभ्रंश के देशभेद से अनेक भेद बताये हैं। ग्यारहवीं शती में नमि साधु ने अपभ्रंश के तीन भेद गिनाये—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। परवर्ती वैयाकरणों ने इन्हीं तीन भेदों को नागर, उपनागर और व्राचड संज्ञा दी। सत्रहवीं शती में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेद बताए। वास्तव में एक भाषा की अनेक विभाषाएँ होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्थानीय प्रभाव के कारण भाषा का रूप भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ न कुछ भिन्न होता ही है। अतः अपभ्रंश के भी देशगत अनेक भेद रहे होंगे। परन्तु अपभ्रंश साहित्य का विकास मालवा, गुजरात तथा राजस्थान में हुआ। अतः इन प्रदेशों की अपभ्रंश तत्कालीन साहित्यिक भाषा बन गई और बंगाल एवं दक्षिण तक में इस भाषा में साहित्य-रचना हुई। यही कारण है कि अपभ्रंश साहित्य में एक ही परिनिष्ठित अपभ्रंश मिलती है,; परन्तु उसमें स्थानीय रूपों की कुछ न कुछ झलक तो मिल ही जाती है।

## अपभ्रंश और आभीर जाति

अपभ्रंश के साथ आभीर जाति का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। अतः अपभ्रंश के विकास और प्रसार को समझने के लिए इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा।

आभीर जाति का उल्लेख सबसे पहले महाभारत में मिलता है। महाभारत में एक स्थान पर उन्हें सिन्धु के पश्चिम में रहनेवाली एक जाति कहा गया है, दूसरे स्थान में उनको द्रोण के 'सुपर्ण व्यूह' में योद्धाओं की पंक्ति में रखा गया

है, तीसरे स्थल पर उनके द्वारा पंचनद में द्वारका से कृष्ण की विधवाओं को लेकर लौटते हुए अर्जुन पर आक्रमण करते हुए बतलाया गया है और चौथे स्थल पर उनका उल्लेख राजसूय-यज्ञ के प्रसंग में हुआ है। यहाँ वे "शूद्र" बताए गये हैं। महाभारत के इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि आभीर जाति ईस्वी सन् के आसपास की शती में पश्चिमोत्तर भारत में बस गई थी।

काठियावाड़ के सुंद नामक स्थान में रुद्रदामन का एक अभिलेख मिला है। इसका समय १९१ ई० माना जाता है। इसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है। एन्थोबेन के नासिक अभिलेख (३०० ई०) में ईश्वरसेन नामक आभीर राजा की ओर संकेत है। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख (३६० ई०) में आभीरों का आधिपत्य गुप्त साम्राज्य की सीमा पर 'मालवा, गुजरात, राजस्थान आदि में बताया गया हैं। इन उल्लेखों से आभीरों के प्रसार एवं अधिकार-विस्तार पर प्रकाश पड़ता हैं। धीरे-धीरे यह जाति मध्य भारत एवं पूर्वी प्रदेशों में भी फैल गई और इसका प्रभुत्व भी बढ़ता गया। इनमें उच्चवर्ग के लोग क्षत्रिय-वैश्य वर्ग में मिला लिए गए और शेष को शूद्रों में स्थान मिला। अपभ्रंश के साथ गुर्जर जाति का भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भोज ने गुर्जरों के लिए लिखा है कि वे अपभ्रंश से ही तुष्ट होते हैं। गुर्जरों का सम्बन्ध इतिहासवेत्ता आभीर जाति से जोड़ते हैं। सम्भवतः गुर्जर भी आभीर जाति की कोई शाखा थे।

गुर्जर, आभीर आदि जातियों के सम्पर्क से भाषा में नवीन परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। इन जातियों के प्रसार के साथ-साथ अपभ्रंश का प्रसार बढ़ने लगा और मध्य भारतीय आर्यभाषा प्राकृत की स्थिति को छोड़कर 'अपभ्रंश' की ओर बढ़ी।

## अपभ्रंश की विशेषताएँ

संक्षेप में अपभ्रंश की निम्नलिखित विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं--

ध्वनिविकारों में--(१) संस्कृत एवं प्राकृत से प्राप्त अन्त्य स्वरों का ह्रास, (२) उपान्त्य स्वरों की मात्रा की सुरक्षा, (३) आद्य अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा द्वित्वव्यञ्जन के स्थान पर एक व्यञ्जन का प्रयोग, (४) समीपवर्ती स्वरों का संकोच। पद विधान में--(१) अकारान्त पुंल्लिंग शब्दरूपों की प्रधानता, (२) लिंगभेद प्राय समाप्त, (३) प्रथमा-द्वितीया--सम्बोधन में विभक्ति-प्रत्ययों का अप्रयोग, (४) सविभक्तिक कारकों के केवल दो समूह, तृतीया-सप्तमी और चतुर्थी-पंचमी-षष्टी तथा इनके रूपों में भी सम्मिश्रण और परसर्गों

का प्रयोग, (५) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूपों में स्वल्पता, (६) विशेषणमूलक सर्वनामों के रूप प्रायः नामों के अनुसार, (७) धातुओं के कालरूपों में विविधता की कमी, (८) कृदन्तरूपों का अधिक प्रयोग।

अपभ्रंश-काल में भारतीय आर्यभाषा संश्लिष्टरूप त्यागकर विश्लेषणात्मक बन गई। आधुनिक आर्यभाषाओं में यह प्रवृत्ति पूर्णतया विकसित हुई।

## अपभ्रंश और प्राकृत

अपभ्रंश की व्याकरणिक-गठन के परिचय से स्पष्ट विदित हो जाता है कि अपभ्रंश ने प्राकृत की प्रवृत्तियों को विकसित करने के साथ-साथ कुछ नई प्रवृत्तियों का भी विकास किया। म० भा० आर्यभाषा की विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश में पूर्णतया विकसित हुईं। ध्वनिविकारों में अपभ्रंश अपनी पूर्ववर्ती प्राकृत भाषा से अधिक दूर नहीं गई है और यह कह सकना कठिन है कि अपभ्रंश ने कौन सी नई ध्वनिविकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। परन्तु सुबन्त एवं तिङन्त रूपों में तथा कारक-संबंध प्रकट करने एवं क्रियापदों के निर्माण में अपभ्रंश प्राकृत का पल्ला छोड़कर स्वतंत्र मार्ग पर चल पड़ी। अपभ्रंश की प्राकृत से भिन्न अपनी विशेषताएँ निम्नलिखित बताई जा सकती हैं—

१. शब्दरूपों में अत्यधिक सरलता—लिंगभेद मिटाकर अपभ्रंश ने शब्दरूपों को बहुत सरल कर दिया। नपुंसकलिंग के अलग शब्दरूप अपभ्रंश में नहीं हैं और स्त्रीलिंग के भी बहुत कम रूप हैं। इन अभावों के कारण पुंल्लिंग रूपों का प्राधान्य स्थापित हो गया। शब्दरूप की दृष्टि से अपभ्रंश में केवल तीन कारक-समूह रह गए—कर्त्ता-कर्म-सम्बोधन समूह, करण-अधिकरण समूह, तथा सम्प्रदान-अपादान-सम्बन्ध समूह और इनमें भी द्वितीय तृतीय समूह के रूपों में सम्मिश्रण होने लगा। इस परिवर्तनों के कारण शब्दरूप अतिसरल एवं अल्प हो गए।

२. धातुरूपों में सरलता—अपभ्रंश ने तिङन्त रूपों का प्रयोग सीमित कर कृदन्तरूपों का व्यवहार बढ़ाया। इससे काल-रचना की जटिलता एवं दुरूहता समाप्त हो गई।

३. परसर्गों का प्रयोग—विभक्तियों के घिस जाने तथा लुप्त विभक्ति पदों के कारण वाक्य में अस्पष्टता आने लगी। इसको दूर करने के लिए अपभ्रंश ने परसर्गों का प्रयोग किया।

४. शब्दकोश का विस्तार—अपभ्रंश ने देशज शब्दों एवं धातुओं को खूब

अपनाया तथा तद्भव शब्दों के भी प्रचलित रूपों का प्रयोग किया। इससे अपभ्रंश प्राकृत आदि से बहुत भिन्न जान पड़ने लगी।

## अपभ्रंश और देशी

अपभ्रंश के सम्बन्ध में "देशी" शब्द की बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से 'देशी शब्द' एवं 'देशीभाषा', दोनों का बोध होता है। अपभ्रंश में देशी श दों के बहुल प्रयोग का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। ये देशी शब्द थे किस भाषा के? आचार्य भरत ने "नाटचशास्त्र" में उन शब्दों को "देशी" कहा है जो संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों से भिन्न हों। रुद्रट (९०० ई०) ने भी अपने ग्रंथ "काव्यालंकार" में उन शब्दों को देशी कहा है, जिनकी प्रकृति-प्रत्यय-मूला व्युत्पत्ति सम्भव न हो। यही अभिप्राय प्राकृत वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने भी व्यक्त किया है। "देशी नाममाला" में आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसे शब्दों का संग्रह किया है जिनकी व्युत्पत्ति किसी संस्कृतधातु अथवा शब्द से व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं होती। परन्तु पिशेल, डा० पी० एल० वैद्य आदि भाषाविज्ञानियों ने आचार्य हेमचन्द्र के अनेक देशी शब्दों को संस्कृत से व्युत्पन्न दिखाया है। वास्तव में ये 'देशी शब्द' जनभाषा के प्रचलित शब्द थे जो स्वभावतया अपभ्रंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती; परन्तु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है। प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके उन्हें देशी संज्ञा दी गई। पिशल ने भी यही मत प्रकट किया है कि 'देशी' शब्द देशीय तत्त्वों (heterogeneous elements) के सूचक हैं।

प्राचीनकाल से ही बोल-चाल की भाषा को "देशी भाषा" अथवा "भाषा" कहा जाता रहा। पाणिनि के समय में संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी अतः पाणिनि ने इसे भाषा कहा है। पतञ्जलि के समय तक संस्कृत केवल शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा रह गई थी और प्राकृत बोलचाल की भाषा बन गई थी। तब प्राकृत के लिए भाषा शब्द प्रयुक्त हुआ। प्राकृत के पश्चात् जब अपभ्रंश लोकभाषा बनी तब यह 'देशी' भाषा कही जाने लगी। महाकवि वाण ने अपने मित्र वर्ग में प्राकृत कवि 'वायुविकार' के साथ-साथ भाषा कवि 'ईशान' का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि वाण के समय बोलचाल की भाषा प्राकृत से भिन्न रही होगी। अपभ्रंश कवियों ने अपनी भाषा को 'देशी' कहा

है। 'पउमचरिउ' में स्वयंभू कवि ने अपनी कथा की भाषा को 'देशी' बताया। कवि पुष्पदंत (९६५ ई०) ने अपने "महापुराण" की भाषा के लिए 'ण वियाणमि देसी' कहा और पद्मदेव (१००० ई०) ने अपने 'पारसणाहचरिउ' को "देसी सद्दत्थ गाढ" कहा। इससे स्पष्ट है कि जब तक अपभ्रंश लोकभाषा रही, इसको 'देशी भाषा' कहा जाता रहा। आधुनिक आर्यभाषा के कवियों ने भी अपनी भाषा के लिए 'देशी' अथवा 'भाखा' शब्द का व्यवहार किया। गोस्वामी तुलसीदास ने "रामचरितमानस" की भाषा को 'अवधी' न कहकर 'भाखा' कहा है। प्रसिद्ध मराठी सन्त ज्ञानेश्वर ने भी गीता की अपनी मराठी टीका 'ज्ञानेश्वरी' की भाषा के लिए "अम्हां प्राकृता देशी कारे बन्धे गीता" लिखा है।

अतः 'देशी भाषा' जनभाषा का ही नाम है और जिस काल एवं स्थान में जो भाषा इस पर आसीन रही वह इस नाम से अभिहित हुई। ६०० से १२०० ई० तक अपभ्रंश 'देशी भाषा' के पद पर आरूढ़ रही और यद्यपि उसके बाद भी ईसा की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दि तक उसमें साहित्य-रचना होती रही, परन्तु तब यह केवल साहित्यरूढ़ भाषा मात्र रह गई थी। उस समय आधुनिक आर्य-भाषाएँ बोल-चाल की भाषाएँ बनकर "देशी" नाम की अधिकारिणी बन गई थीं।

अपभ्रंश में हमें उन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ मिल जाता है जो आगे चलकर आधुनिक भाषाओं में विकसित हुई। शब्द एवं धातुरूपों में नये-नये प्रयोग कर अपभ्रंश ने हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं के विकास की आधार-भूमि उपस्थित कर दी। अपभ्रंश का साहित्यिक क्षेत्र भी प्रधानतया वही मध्य-देश है जो हिन्दी का जन्म-स्थान है। अतः कुछ विद्वानों ने 'अपभ्रंश' को "पुरानी हिन्दी" के नाम अभिहित किया है। हिन्दी की विकास की पीठिका होने के कारण 'अपभ्रंश' के लिए पुरानी हिन्दी शब्द का प्रयोग अनुचित भी क्या है?

## संक्रान्तिकाल तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उदय

अपभ्रंश-काल की समाप्ति और आधुनिक आर्यभाषाओं के स्वरूप ग्रहण के बीच का काल भारतीय आर्यभाषा के विकासक्रम में बहुत अस्पष्टकाल है। निश्चितरूप से यह निर्धारण कर सकने का अभी तक कोई असंदिग्ध साधन उप-लब्ध नहीं है कि कथ्यभाषा के रूप में अपभ्रंश कब तक बनी रही और कब आधु-निक भारतीय आर्यभाषाएँ अपनी अलग-अलग विशेषताओं से पूर्ण होकर

अस्तित्व में आई। साहित्य की भाषा का प्राचीनता प्रेम प्रसिद्ध है। कथ्य भाषाओं को बहुत बाद में साहित्यिक भाषा के रूप में व्यवहृत होने का सौभाग्य प्राप्त होता है और ऐसा हो जाने पर भी भाषा के प्राचीन रूपों का सर्वथा परिहार उसमें नहीं होता, समस्त भारतीय वाङ्मय इस बात का प्रमाण है। अतः कथ्य भाषा के रूप में अपभ्रंश की स्थिति न होने पर भी बहुत समय तक अपभ्रंश में साहित्य-रचना होती रही और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्राचीन रचनाओं में भी अपभ्रंश रूपों का व्यवहार होता रहा। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र (बारहवीं शती) का अपभ्रंश व्याकरण लिखना यह सिद्ध कर देता है कि उनके समय तक अपभ्रंश साहित्य-रूढ़ भाषा हो चुकी थी और कथ्य भाषा का स्वरूप इससे विकास की अगली सीढ़ी की ओर अग्रसर हो चुका था। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ "काव्यानुशासन" में ग्राम्यापभ्रंश" का उल्लेख किया है। सम्भवतः इससे आचार्य का अर्थ तत्कालीन कथ्य भाषा से रहा हो। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ईसा की सोलहवीं शती से साहित्यिक रचनाएँ मिलने लगती हैं। भाषा का जो स्वरूप इन प्रारम्भिक रचनाओं में मिलता है वह अपभ्रंश की विशेषताओं से मुक्त एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की विशेषताओं से युक्त है। परन्तु भाषा के इस स्वरूप का साहित्य-रचना के लिए स्वीकृत होना प्रकट करता है कि भाषा का यह स्वरूप इन साहित्यिक रचनाओं के समय से बहुत पहले ही अस्तित्व प्राप्त कर चुका था तथा लोक में प्रतिष्ठित हो चुका था, नहीं तो, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, साहित्य में इसको स्थान न मिला होता। इस दृष्टि से विचार करने पर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की स्वरूप-प्राप्ति का समय इन रचनाओं से एक शती पूर्व अनुमानित किया जा सकता है। इसप्रकार पन्द्रहवीं शती तक भारतीय आर्य भाषा आधुनिककाल में पदार्पण कर चुकी थी तथा आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती के प्रारम्भ से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अभ्युदय के समय पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक का काल संक्रांतिकाल था जिसमें भारतीय आर्य-भाषा धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी।

संक्रांतिकालीन भाषा के अध्ययन के लिए अभी तक बहुत कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है तथा जिन थोड़ी सी कृतियों में इस काल की कथ्यभाषा के अध्ययन की सामग्री मिलती भी है, उन पर साहित्यिक अपभ्रंश (शौरसेनी अपभ्रंश) का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में अभिलक्षित होता है, जिससे उनको तत्का-

लीन अमिश्रित कथ्यभाषा की रचनाएँ नहीं कहा जा सकता; तब भी इन ग्रन्थों में संक्रान्ति-काल की अस्थिरता की प्राचीनता के साथ नवीनता की ओर उन्मुख होने के लक्षणों के दर्शन हो ही जाते हैं। भारतीय इतिहास के इस काल में भी मध्यदेश के राजवंशों का प्रभुत्व समस्त उत्तरापथ में बना हुआ था। अतः उनकी राजसभाओं में आदृत मध्यदेशीय अपभ्रंश, शौरसेनी, अन्य प्रान्तों में भी संस्कृत वर्ग की भाषा के रूप में आदर पाती थी और प्राच्य प्रदेशों एवं दक्षिण में महाराष्ट्र की ओर भी इस काल में, देशी भाषा में रचित साहित्य पर इस भाषा की पर्याप्त छाप पड़ती रही। इसलिए इन रचनाओं में भाषा के प्रान्तीय स्वरूप का पूरा निखार नहीं मिलता, केवल विशेष प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं।

निम्नलिखित कृतियों में संक्रान्तिकालीन भाषा मिलती है--'संनेहय रासय' (संदेश रासक), 'प्राकृत पैङ्गलभ्', 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' 'उक्तिव्यक्ति प्रकरणम्', 'वर्णरत्नाकर', 'कीर्तिलता', 'चर्यापद', तथा 'ज्ञानेश्वरी'। इनमें संनेहय रासय तथा प्राकृत पैङ्गलम् एवं पुरातनप्रबन्धसंग्रह के कतिपय पद्यों में उत्तर-पश्चिम की, उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् में कोसल प्रदेश (आधुनिक अवधी क्षेत्र) की तथा प्राकृत पैङ्गलम् के कुछ पद्यों, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता तथा चर्यापदों में प्राच्य प्रदेश की और ज्ञानेश्वरी में महाराष्ट्र प्रदेश की संक्रान्ति-कालीन भाषा की प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। नीचे इस सामग्री का परिचय दिया जाता है। संनेहय रासय (संदेश रासक) कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) की काव्यकृति है। इसमें एक विरहिणी नायिका किसी पथिक द्वारा अपने पति को सन्देश भेज रही है तथा इसी प्रसङ्ग में विभिन्न ऋतुओं में अपनी विरहावस्था का वर्णन करती है। कवि अद्दहमाण के निवास-स्थान इत्यादि के विषय में कोई निश्चित सूचना इस रचना में या अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अपने विषय में कवि ने लिखा है--

पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि।
तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्स।।३।।
तह तणयो कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेहय-रासयं रइयं।।४।।

"पश्चिम दिशा में पूर्वकाल से बहुत प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है, वहाँ जुलाहा मीर-सेन उत्पन्न हुआ। उसके प्राकृत काव्यों एवं गीत विषयों में प्रसिद्ध उसके पुत्र अद्दहमाण ने संनेहय रासय (संदेशक रासक) की रचना की।" इससे केवल

इतना ही विदित होता है कि अद्दहमाण मुसलमान जुलाहा था तथा पश्चिम प्रदेश का निवासी था।

अपने काव्य के विषय में अद्दहमाण का निवेदन है कि "जो न मूर्ख हो और न पण्डित, (अपितु जो) बिचली श्रेणी का हो, उसके ही सामने (यह काव्य) सदैव पढ़ा जाना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य सर्वसाधारण के लिए काव्य-रचना करने का था। उच्चवर्ग में तब भी संस्कृत अथवा प्राकृत काव्यों का आदर था और साहित्यिक अपभ्रंश में रचित काव्य भी पढ़े-लिखे लोगों के सम्मान की वस्तु थे। अतः लोक प्रचलित भाषा में रचना करने वाले कवि का यह आग्रह ठीक ही था। संनेहय-रासय की रचना चूँकि जनसाधारण के लिए हुई, अतः इसकी भाषा भी तत्कालीन लोकभाषा है, इसमें सन्देह नहीं। इस काव्य के रचनाकाल के विषय में श्री मुनि जिनविजय का मत है कि इसकी रचना विक्रम संवत् ११७५-१२२५ के बीच के समय में हो गई होगी। यहाँ संक्षेप में इसकी भाषा की प्रमुख विशेषताओं पर विचार किया जाता है।

ध्वनि-विकास एवं शब्दरूपों की दृष्टि से 'संदेश रासक' की भाषा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'साहित्यिक अपभ्रंश' से बहुत आगे नहीं बढ़ी है। द्वित्व व्यञ्जनों को सुरक्षित रखना, प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के स्वर मध्यग 'म्' का 'व्' (वँ) में परिवर्तन; यथा--डवा < दमन; रवणिज्ज < रमणीय इत्यादि; अनुज्ञाप्रकार में 'इ', 'हि', 'उ' तथा 'अ' प्रत्ययों का प्रयोग, 'इवि', 'अवि', 'एवि', 'एविणु', 'इ', 'अप्पि', प्रत्ययान्त क्रियापदों (absolutives) का व्यवहार और 'स' एवं 'ह' भविष्यत् का प्रयोग आदि बातें देखकर इसकी भाषा को अपभ्रंश कहना ही उचित जान पड़ता है। परन्तु अपभ्रंश की इन विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए भी इसकी भाषा में वह प्रवृत्तियाँ विकसित होती हुई दिखाई देती हैं जिन्होंने आधुनिक आर्य भाषाओं को जन्म दिया।

## प्राकृत पैङ्गलम्

यह छन्दशास्त्र का ग्रंथ है। छन्दों के उदाहरणस्वरूप इसमें जो पद्य संकलित किए गए हैं वे एक काल के नहीं हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि ये पद्य ९०० से १४०० ई० तक की रचनाएँ हैं। इनमें दो छन्द 'कर्पूरमंजरी' (प्राकृत) के भी हैं। अधिकांश पद्यों में साहित्यिक अपभ्रंश ही मिलते हैं, परन्तु कुछ में संक्रान्तिकालीन भाषा के भी यत्किंचित् दर्शन हो जाते

हैं और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के पूर्वरूप मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पद्य उद्धृत किए जाते हैं।

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि मह मुच्छिअ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर।।
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिग मग णह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ।।
दिग मग णह अंधार आण खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला।।
(प्रा०पैं० १-१४७)

हिन्दी में इसकी समानता निम्नलिखित शब्दानुवाद से स्पष्ट हो जायेगी:—
ढोल मारा (बजाया) दिल्ली में (तो) मूछित हुआ म्लेच्छ सरीर।
पुर (आगे कर) जज्जल मंत्रिवर (को) चला बीर हमीर।।
चला वीर हमीर पावों (के) भार (से) मेदिनी काँपे।
दिग (दिशाओं) मग (मार्ग) नभ (में) अँधेरा (छा गया) धूल (से) सूरज रथ झांपे (झंप गया)।।
दिग-मग-नभ (में) अँधेरा आने (ले आया, जीत लिए) खुरासान के ओल (सरदार)। दलमल कर (दलित कर) दमन कर विपक्ष (को) मारा (बजाया) दिल्ली में ढोल।।

इसीप्रकार निम्नलिखित पद्य की रेखांकित पंक्तियाँ अवधी का स्पष्ट रूप प्रकट करती हैं—

पंडववंसहि जम्म धरीजे।
सम्पअ अज्जिअ धम्मक दिज्जे।
**सोउ** जुहिट्ठिर संकट **पावा**।
**देवक** लिक्खअ **केण मेटावा**।।
(प्रा० पैं० २-१०१)

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उद्धरणों में भोजपुरी, मैथिली, और बँगला का प्राचीन रूप देखा जा सकता है—

उच्चउ छाअण विमल घरा तरुणी धरणी विणअपरा।
**वित्तक पूरल** मुद्दहरा बरिसा समआ सुक्खकरा।।
(प्रा० पैं० १-१७४)

[ऊँचा छाजन, विमल घर, तरुणी घरनी (नारी) विनयपरा, वित्तपूरित मुद्रागृह (कोष) हो तो बरसा का समय सुखकर (होता है)।]

तरुण तरणि तवइ धरणि **पवण** वह **खरा,**
लग णहि जल बड मरुथल **जण जिअण हरा।**
दिसइ चलइ हिअअ डुलइ हम **इकलि बहू।**
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ **मण इछइ कहू॥**

(प्रा० पैं० २-१९३)

[तरुण तरणि (प्रचंड सूर्य) धरती को तपा रहा है, तीखी हवा चल रही है, जल समीप (=लग) नहीं है, जन जीवन हरने वाला बड़ा मरुस्थल है, दिशाएँ चलायमान हैं, हृदय डोल रहा है, हम अकेली बहू हैं, प्रिय घर नहीं है, सुनते हो पथिक ! मन चाही कहो।]

णव मंजरि लिज्जिअ चूअह **गाछे,**
परिफुल्लिअ केसु णआ वण **आछे।**

[आम्रवृक्ष पर नवीन मंजरियां लगी हैं। किंशुक प्रफुल्लित हो गए हैं, बन में नूतन शोभा है।]

'कंत ण थक्कइ पासे'
[प्रियतम पास नहीं है।]

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्राकृत पैङगलम्' के समय तक साहित्यिक अपभ्रंश के बीच-बीच में तत्कालीन लोक भाषाओं के रूप भी यत्र-तत्र स्थान पाने लगे थे तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ यद्यपि प्रान्तीय रूप में विकसित न हो पाई थीं परन्तु उनकी विशेषताएँ प्रकट होने लगी थीं।

## पुरातनप्रबन्धसंग्रह

यह ग्रंथ प्राचीन जनश्रुतियों का संग्रह है। इसमें यत्रतत्र संक्रान्ति कालीन लोकभाषा के पद्य भी आ गए हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य देखा जा सकता है :—

चारि पाय बिचि दुड्गुसु दुड्गुसु
जाइ जाइ पुण रुड्घुसु रुड्घुसु।
आगलि पाछलि पूंछे हलावइ,
अँधारउँ किरि मूला चावइ॥

(पृ० १०, पैं० ८)

इसमें भाषा का आधुनिक रूप स्पष्ट है।

इस सामग्री पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि भाषा के ब्रज-राजस्थानी, खड़ीबोली आदि विभेद अभी स्फुट नहीं हो पाये थे परन्तु इनके बीज अंकुरित अवश्य होने लगे थे। भाषा, अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। दुर्भाग्यवश अभी तक खड़ीबोली प्रदेश की कोई संक्रान्तिकालीन रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस समय की भाषा गुजराती, राजस्थानी, ब्रज, खड़ीबोली, अवधी इन सभी की सामान्य विशेषताओं से युक्त थी। साहित्यिक अपभ्रंश का भाषा पर पर्याप्त प्रभाव था, परन्तु लोकभाषाएँ भी जन्म लेने लगी थीं।

'अवधी' का संक्रान्ति कालीन स्वरूप समझने के लिए आज हमें एक प्रामाणिक कृति उपलब्ध है। यह है 'उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्'। यह ग्रंथ भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित है। इस ग्रंथ से अवधी का प्राचीन स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है। यहाँ इस ग्रंथ का परिचय दिया जाता है।

## उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्

यह ग्रंथ काशी-कन्नौज के गहडवार नरेश गोविन्दचन्द्र (१११४ ई० से ११५५ ई०) के आश्रित पण्डित दामोदर की रचना है। राजकुमारों को स्थानीय लोकभाषा सिखाने के लिए पंडित दामोदर ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया था। "उक्ति" शब्द से लोकभाषा अथवा लोक व्यवहार में प्रयुक्त भाषा पद्धति अभिप्रेत है और "व्यक्ति" का अर्थ है विवेचन। अतः ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि लेखक ने इसमें तत्कालीन लोकभाषा का परिचय दिया है। संस्कृत के माध्यम से इस ग्रंथ में लोकप्रचलित वाग्व्यवहार की शिक्षा दी गई है। अतः संक्रान्तिकाल में काशी-कोशल प्रदेश की काव्य-भाषा के स्वरूप का प्रामाणिक परिचय इस ग्रंथ में मिलता है। पंडित दामोदर ने काव्यभाषा को 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' नाम से अभिहित किया है। इससे विदित होता है कि बारहवीं शती तक लोकभाषा के ब्रज, राजस्थानी, अवधी आदि भेद सुप्रतिष्ठित न हुए थे, अपितु समस्त उत्तर भारत की भाषा 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' कही जाती थी।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की अपभ्रंश में कोसली (पूर्वी हिन्दी) का संक्रान्ति कालीन रूप तो सुरक्षित है ही, परन्तु सामान्यतः मध्य देश एवं प्राच्य प्रदेश की आर्यभाषा की संक्रान्तिकालीन अवस्था के अध्ययन के लिए भी यह अत्यन्त

महत्वपूर्ण कीर्ति है। इस कृति को प्रकाश में लाने का श्रेय आचार्य मुनि जिनविजय को है। प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इसकी भाषा का विस्तृत विवेचन किया है।

## वर्णरत्नाकर

इस ग्रंथ का सम्पादन डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा पं० बबुआ मिश्र ने किया है। इसमें कवि समयों' का संग्रह किया गया है। इसके प्रणेता हैं कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर और इसके सम्पादकों के मतानुसार इसका रचना-काल चौदहवीं शताब्दि के प्रथम चरण का पूर्वार्ध है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर मिथिला के कर्णाटवंशीय शासक हरसिंह देव के आश्रित थे। हरसिंह देव का शासनकाल चौदहवीं शताब्दि के प्रथम चरण का पूर्वार्ध माना जाता है। अतः यही इस ग्रंथ का रचनाकाल भी है।

वर्णरत्नाकर मैथिली का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है। इसकी भाषा में मैथिली का प्राचीन रूप सुरक्षित है ही, बँगला आदि पूर्वी भाषाओं के प्राचीन रूप भी इसमें दिखाई देते हैं। वास्तव में इस समय तक बँगला, मैथिली, भोजपुरी, मगही आदि के स्पष्टभेद नहीं बन पाये थे। अतः मैथिली के इतिहास के लिए तो इस ग्रंथ की उपादेयता निस्संदेह है, साथ ही बँगला, भोजपुरी, मगही आदि के विकास के इतिहास पर भी यह ग्रंथ प्रकाश डालता है। इसकी भाषा एक ओर प्राचीन बँगला से समानता रखती है तो दूसरी ओर अवधी से भी बहुत मिलती है। अतः सामान्यतः आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के उदय पर यह ग्रंथ अच्छा प्रकाश डालता है। डा० चटर्जी ने इस ग्रंथ की भूमिका में इसकी भाषा का सुन्दर विवेचन किया है।

'वर्णरत्नाकर' की भाषा में आधुनिक मैथिली जैसी व्याकरणिक जटिलता का अभाव है। इसके क्रियापद आधुनिक मैथिली की अपेक्षा सरल हैं। इसकी भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है तथा फारसी-अरबी के शब्दों को भी अपनाया गया है। इसप्रकार 'वर्णरत्नाकर' की भाषा में संक्रान्तिकाल की विशेषताएँ प्रस्फुटित हुई हैं।

## कीर्तिलता

इसके रचयिता प्रसिद्ध मैथिली कवि विद्यापति हैं। इनका समय चौदहवीं शताब्दि का अंत एवं पन्द्रहवीं शती का प्रारम्भ है। 'कीर्तिलता' की भाषा को इन्होंने "अवहट्ट" नाम दिया है। यह ग्रंथ गद्य-पद्य मिश्रित है। पद्यों में

'साहित्यिक अपभ्रंश' एवं प्राकृत के पुराने रूप गद्य भाग की अपेक्षा अधिक हैं। साधारणतया इसकी भाषा 'साहित्यिक अपभ्रंश मिश्रित लोकभाषा' है। इसमें तत्कालीन पूरबी का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।

## चर्यापद

बँगला के प्राचीन रूप का कुछ परिचय हमें 'चर्यापदों' में मिलता है। ये रचनाएँ सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों की हैं और इनके पदों की संख्या ४७ है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को ये पद नेपाल में प्राप्त हुए थे। शास्त्री जी के अनुसार इनकी पाण्डुलिपि बारहवीं शती की है, परन्तु राखाल दास बनर्जी ने इसकी उतनी प्राचीनता में सन्देह प्रकट करते हुए इसे चौदहवीं शती के अन्तिम भाग में रखा है।

चर्यापदों की भाषा की कुछ विशेषताएँ बँगला के विकास पर प्रकाश डालती हैं। संक्षेप में ये विशेषताएँ इसप्रकार हैं--सम्प्रदानकारक में--रे, सम्बन्ध में--एर, –अर तथा अधिकरण में –त विभक्ति का प्रयोग; मांझ, अन्तर, साँग परसर्गों का व्यवहार; 'आछ', 'थाक' क्रियापदों का प्रयोग; भूतकाल में –इल, इब प्रत्यय; वर्तमान कृदन्त में--अन्त प्रत्यय तथा कर्मवाच्य में--इअ प्रत्यय का व्यवहार।

## ज्ञानेश्वरी

यह 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर सन्त ज्ञानेश्वर की लोकभाषा में की गई टीका का नाम है। इसका रचनाकाल तेरहवीं शती बताया जाता है। परन्तु इसकी प्रामाणिक पाण्डुलिपि अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। इसका जो रूप आज मिलता है वह संत ज्ञानेश्वर के तीन सौ वर्ष पश्चात् सन्त एकनाथ द्वारा संशोधित है। अतः इसके आधार पर "ज्ञानेश्वरी" की मूल भाषा का पता नहीं लगता। श्री हरिनारायण आप्टे जैसे विद्वान् ने इसकी प्राचीनता पर सन्देह किया है। इसलिए इसके विषय में अधिक कह सकना संभव नहीं है। इसकी भाषा में मराठी का आधुनिक रूप साफ दिखाई देता है। 'ज्ञानेश्वरी' की मूल प्रति उपलब्ध होने पर मराठी के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

संक्रान्तिकाल की ऊपर की उपलब्ध सामग्री के पर्यालोचन से स्पष्टतया विदित हो जाता है कि लोकभाषा अपभ्रंश की स्थिति छोड़कर आगे बढ़ रही थी। परन्तु अभी तक स्थानीय भेद इतने स्पष्ट नहीं हो पाए थे कि इनके आधार पर भाषा विभिन्न नामों से सम्बोधित की जा सके। 'संदेस रासक' के

रचयिता ने 'अवहट्टसक्कय--पाइयम्मि-पेसाइयंमि भाषाएँ' रचना करने वाले कवियों को नमस्कार किया है। सम्भवतः 'अवहट्ट' से उसका तात्पर्य तत्कालीन मध्यदेशीय लोकभाषा से था। 'कीर्तिलता' की भाषा को विद्यापति ने 'अवहट्ट' कहा है और 'उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्' में दामोदर पंडित ने 'कोसल' की जनभाषा को 'अपभ्रष्ट' कहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय लोकभाषा 'अवहट्ट' नाम से पुकारी जाती थी, चाहे वह मध्यदेश की हो या कोसल की या मिथिला की।

## आधुनिक भारतीय आर्यभाषा--सामान्य प्रवृत्तियाँ

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारतीय आर्यभाषा आधुनिककाल में पदार्पण कर चुकी थी। पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी अपभ्रंश भाषाओं ने क्रमशः आधुनिक सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी (ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि) राजस्थानी, गुजराती, मराठी, पूर्वीहिन्दी (अवधी इत्यादि), बिहारी, बँगला, उड़िया भाषाओं को जन्म दिया। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में परिवर्तन एवं ह्रास की जो क्रिया मध्यकाल के प्रारम्भ (लगभग ६०० ई० पू०) से चल पड़ी थी, वह आधुनिक भाषाओं के रूप में पूरी हुई। प्रारम्भ से ही हम देखते आए हैं कि परिवर्तन की गति आर्यावर्त के पूर्वी भाग में सबसे तीव्र रही है। इसके विपरीत उत्तर-पश्चिम प्रदेश में परिवर्तन की गति बहुत शिथिल रही है और वहाँ भाषा का स्वरूप बहुत धीरे-धीरे बदला ह। मध्यदेश में जहाँ नवीन परिवर्तनों को प्रश्रय मिला वहाँ प्राचीन रूप भी भाषा में सुरक्षित रहे। यही बात आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी परिलक्षित होती है। सिंधी-पंजाबी में आर्यभाषा का मध्यकालीन स्वरूप बहुत कुछ सुरक्षित है; परन्तु प्राच्य भाषा, विहारी-बँगला में मध्यकालीन आर्यभाषा का स्वरूप बहुत बदल गया है; गुजराती प्राचीन व्याकरण को बहुत अपनाये हुए है और हिन्दी भी वर्णों के उच्चारण आदि में संस्कृत से अधिक दूर नहीं है।

मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रारम्भकाल से ही प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान धुंधला होने लगा था जिससे स्वरों के मात्राकाल में अनेक परिवर्तन हुए। नवीन आर्यभाषा की प्राचीन आर्यभाषा से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि व्युत्पत्ति ज्ञान के लोप हो जाने से नवीन आर्य भाषा में स्वरों के मात्राकाल में बहुत परिवर्तन हो गया है। बलात्मक स्वराघात के परिणामस्वरूप प्रायः नवीन भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरों का लोप देखा जाता है। शब्द की उपधा में बलात्मक स्वराघात होने पर अन्तिम दीर्घस्वर, ह्रस्व हो जाता

है; यथा––कीरत्<कीर्ति; रास्<राशि शब्द के आदि स्वर का लोप भी बलात्मक स्वराघात का परिणाम है। यही बात आभ्यन्तर>हिं० भीतर, मराठी, भीतरी; अरघट्ट > हिं० रहट (प्रा० अरहट्ट) में भी द्रष्टव्य है।

स्वरों तथा व्यञ्जनों के उच्चारण में भी किन्हीं आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में नवीनता लक्षित होती है। बँगला में "अ" लुंठित निम्न मध्य पश्चस्वर है। मराठी में 'च' 'ज' का उच्चारण 'त्स', 'दज्' हो गया है। पश्चिमी हिन्दी एवं राजस्थानी में "ऐ", "औ" अग्र एवं पश्च-निम्न-मध्य ध्वनियाँ हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं में परिवर्तन की गति निम्नलिखित रूप में रही है:

(१) प्राकृत के समीकृत संयुक्त व्यञ्जनों 'क्क', 'क्ख', 'ग्घ' आदि में से केवल एक व्यञ्जन ध्वनि लेकर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ करना, पंजाबी-सिन्धी के अतिरिक्त सभी नवीन भारतीय आर्य भाषाओं में दिखाई देता है; यथा>कर्म>प्रा० कम्म>हिं० काम (पं०कम्म); अद्य>प्रा० अज्ज>हिं० आज (पं० अज्ज); अष्ट>प्रा० अट्ठ>हि० आठ (पं० अट्ठ)।

(२) नासिक्य व्यंजन + व्यंजन में, नासिक्य व्यंजन ध्वनि क्षीण होते होते लुप्त हो गई और पूर्ववर्ती स्वर सानुनासिक हो गया, किन्तु सिन्धी-पंजाबी भाषाएँ इस परिवर्तन से भी प्रायः मुक्त रहीं; यथा––दन्त>दाँत (पं० दन्द); कण्टक >प्रा० कण्टअ>हिं० काँटा (सिन्धी कंडो' पं० कंडा); कम्प>हिं० काँप (सिं०-पं० कम्ब)।

(३) अग्रपश्चात् स्वरध्वनि युक्त 'ड्', 'ढ्' अधिकांश नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में ताड़ित 'ड्', 'ढ्' अथवा कम्पित 'र्', 'र्ह' में परिणत हो गए हैं, यथा––दण्ड>प्रा० दण्ड>दाँड़, डाँड़, आदि।

(४) पदान्त अथवा पदमध्यवर्ती 'इ' (ई) + 'अ' एवं 'उ' (ऊ) + 'अ क्रमशः 'ई' तथा 'उ' (ऊ) में परिणत हो गए हैं; यथा––घृत>प्रा० घिअ> आ०भा० घी; मृत्तिका>प्रा० मट्टिआ>आ० भा० माटी (हिं० मिट्टी); वत्सरूप>प्रा० बच्छरूअ>भो० पु० बछरु' बं० बाछुर, हिं० बछड़ा।

(५) ध्वनि-परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक आर्य भाषाओं में लिङ्ग विपर्यय भी द्रष्टव्य है। संस्कृत, पालि तथा प्राकृत में तीन लिङ्ग––पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग थे, किन्तु आधुनिक भाषाओं में पदान्त स्वरध्वनि में विकार उत्पन्न हो जाने अथवा उनका लोप हो जाने के कारण केवल दो लिङ्ग––पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग रह गए। आधुनिक भाषाओं में गुजराती तथा मराठी में आज भी नपुंसकलिङ्ग का कुछ-

कुछ अस्तित्व वर्तमान है। सिंहली में प्राणि तथा अप्राणिवाची शब्दों को लेकर प्राणवान तथा प्राणहीन दो ही लिङ्ग हैं। अन्य आर्य भाषाओं में जहाँ दो ही लिङ्ग--पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग मिलते है वहाँ भी संस्कृत के पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग का अनुगमन नहीं किया गया है। ध्वनिविपर्यय या अज्ञान के फलस्वरूप संस्कृत के अनेक पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग शब्द आधुनिक भाषाओं में स्त्रीलिङ्ग में परिणत हो गए हैं। यथा--

| संस्कृत | आधुनिक भाषा |
|---|---|
| पुं० अग्नि | स्त्री,* अग्निका, स्त्री० आग (हिं), आगि प्राचीन बँगला तथा भोजपुरी), अग्ग (पं०)। |
| पुं० इक्षु* उक्षु | स्त्री० ईख, ऊख (हिं०) ऊस (गु०) पुं० ऊस (मराठी) इक्ख (पंजाबी)। |
| पुं० देह | स्त्री० देह (हिन्दी पंजाबी, गुज० पु० देह मराठी) |
| नपुं० दधि | स्त्री० दही (बिहारी), डही (सिन्धी), पुं० दही (हिन्दी), दही, (पंजाबी) नपुं० दहीं (मराठी), गुजराती) |

(६) पदान्त में ध्वनि-परिवर्तन के परिणामस्वरूप शब्दरूप के कतिपय चिह्न जो अपभ्रंश में बचे थे, उनका भी आधुनिक भाषाओं में लोप हो गया। दो एक को छोड़कर संस्कृत की विभक्तियाँ भी लुप्त हो गईं। इसीप्रकार कई कारकों का भी लोप हो गया और उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनुसर्गों अथवा परसर्गों (Post positions) का प्रयोग होने लगा। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो आधुनिक भाषाओं में केवल दो ही कारक रह गए हैं--(१) कर्त्ता (direct) कारक (२) तिर्यक (oblique) कारक। इनमें संस्कृत के प्रथमा एवं तृतीया विभक्ति युक्त पद प्रधान कारक (direct) तथा षष्टी एवं सप्तमी विभक्ति युक्त पद अप्रधान कारक अथवा तिर्यक (oblique) के अन्तर्गत आएँगे। आधुनिक आर्यभाषाओं में, वास्तव में अप्रधान कारक अथवा तिर्यक में ही अनुसर्ग अथवा परसर्ग का प्रयोग होता है।

सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी को छोड़कर अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं में कर्ता कारक के एकवचन तथा बहुवचन के रूप एक हो गए हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि इन भाषाओं में बहुवचन वाचक शब्द अथवा षष्ठी विभक्ति से प्रसूत अनुसर्ग अथवा परसर्ग के योग से बहुवचन के

रूप बनाये जाते हैं। यथा—बँगला लोकेरा<लोक-कार्य ; पुरुष-माने< पुरुष-माणवक; असमिया, बोर<बहुल; हँत<सन्त, मैथिली लोकनि, भोजपुरी लोगनि<लोकानाम्; घोड़वन<घोटकानाम् इत्यादि ।

सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी में कर्ताकारक बहुवचन के कई रूप आज भी उपलब्ध हैं; यथा—

| | एक वचन | बहुवचन |
|---|---|---|
| सिन्धी | पिउ (<पिता) | पिउर (<पितरः) |
| | डेह (<देशः) | डेह (<देशाः) |
| मराठी | माल (<माला) | माला (<मालाः) |
| | रात (<रात्रिः) | राती (<रात्रयः) |
| | सूत (<सूत्रम) | सूतें (<सूत्राणि) |
| पश्चिमी हिन्दी | बात (<वार्ता) | बातइँ, बातें (<* वार्तानि) |

पश्चिमी हिन्दी में अकारान्त संज्ञा के चार ऐसे रूप उपलब्ध हैं जिनका प्राचीन कारकरूपों से सम्बन्ध है। ये हैं—प्रथमा एक वचन, तृतीया बहुवचन, सप्तमी एक वचन तथा षष्ठी बहुवचन के रूप । इनमें तृतीया बहुवचन का रूप तो कर्ता बहुवचन में प्रयुक्त होता है। नीचे हिन्दी की अन्य बोलियों के रूपों से तुलना करते हुए इस पर विचार किया जाता है।

आधुनिक हिन्दी तत्सम तथा तद्भव संज्ञापदों से संस्कृत की प्रथमा विभक्ति लुप्त हो गई है, किन्तु पुरानी हिन्दी, नेपाली तथा हिमालय की पर्वतीय बोलियों में 'उ' विभक्ति के रूप में यह वर्तमान है। यह 'उ' वस्तुतः प्राकृत तथा संस्कृत की प्रथमा एक वचन विभक्ति 'ओ' एवं अस् (सु) का प्रति रूप है। उदाहरण-स्वरूप सं० देशः>प्रा० देस>ऊपर की बोलियों में देसु। इसीप्रकार सं० लाभः>प्रा० लाहो>लाहु (रामचरित मानस की अवधी), आधुनिक हिन्दी 'लाभ'। किन्तु आधुनिक हिन्दी के तद्भव आकारान्त प्रथमा, एकवचन के रूप में संस्कृत अकारान्त में स्वार्थे 'क' प्रत्यय जोड़ने के बाद प्रसूत हुए हैं; यथा—हिं० घोड़ा<सं० घोटकः (ब्रज—घोड़ौ, मारवाड़ी—घोड़ो) ।

आधुनिक हिन्दी के कर्त्ता बहुवचन का रूप "घोड़े" वस्तुत संस्कृत के तृतीया बहुवचन के रूप से निष्पन्न हुआ है। यथा—वै० सं० घोटकेभिः=हिं० कर्त्ता के बहुवचन के रूप घोडहि>घोड़े ।

इसीप्रकार आधुनिक हिन्दी के तिर्यक बहुवचन के रूप "घोड़ों" की

उत्पति संस्कृत के षष्टी के बहुवचन के रूप "घोटकानाम्" से हुई है। हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में "घोड़न" तथा 'घोड़ाँ' रूप भी मिलते हैं।

व्यञ्जान्त शब्दों के रूप तो हिन्दी में और भी सरल तथा कम हो गए हैं; यथा––सं० प्रथमा, ए० व० पुत्रः>हिन्दी 'पूत'; प्रथमा, ब०व० पुत्राः >हिन्दी 'पूत'; सप्तमी, ए० व० पुत्रे>पूत; षष्टी ब०व० पुत्राणाम्, हिन्दी पूतों।

## आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

### भीतरी तथा बाहरी उपशाखा

सन् १८८० ई० में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के आधार पर डा० ए० एफ० आर० हार्नले ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारत में आर्यों के कमसे कम दो आक्रमण हुए। पूर्वागत आक्रमणकारी आर्य पंजाब में बस गए थे। इसके बाद आर्यों का दूसरा आक्रमण हुआ। मध्यएशिया से चलकर आर्यों के इस दूसरे समूह ने काबुल नदी के मार्ग से गिलगित एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश में प्रवेश किया। मध्यदेश की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत, पश्चिम में सरहिन्द तथा पूरब में गंगा-यमुना के संगम तक थी। इस दूसरे आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि पूर्वागत आर्यों को तीन दिशाओं––पूरब, दक्षिण तथा पश्चिम में फैलने के लिए वाध्य होना पड़ा। इन नवागत आर्यों ने ही वस्तुतः सरस्वती, यमुना तथा गंगा के तट पर यज्ञपरायण संस्कृति को पल्लवित किया। उन्हें मध्यदेश अथवा केन्द्र में होने के कारण केन्द्रीय अथवा भीतरी आर्य के नाम से अभिहित किया गया और चारों ओर फैले हुए पूर्वागत आर्य बाहरी आर्य कहलाये।

डा० हार्नले के उपर्युक्त सिद्धान्त का डा० ग्रियर्सन ने अपने भाषा सम्बन्धी अन्वेषणों के आधार पर पहले लिंग्विस्टिक सर्वे, भाग १ खण्ड१, पृ० ११६ में तथा बाद में 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज़, लण्डन, इंस्टिट्यूशन' भाग १, खण्ड ३, १९३०, पृ० ३२ में समर्थन किया है। डा० ग्रियर्सन का दूसरा निबन्ध पहले की अपेक्षा विस्तृत और बड़ा है। इसमें आपने विविध आधुनिक भाषाओं से उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है। यद्यपि आर्यों के आक्रमण आदि के सम्बन्ध में ग्रियर्सन का हार्नले से मौलिक मतभेद है तथापि जहाँ तक भीतरी तथा बाहरी भाषाओं से सम्बन्ध है, दोनों विद्वानों का मत एक है। डा० ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे, भाग १, खण्ड १, पृ० १२० में आधुनिक आर्य भाषाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण दिया है:––

(क) बाहरी उपशाखा

प्रथम--उत्तरी पश्चिमी समुदाय

१. लहंदा अथवा पश्चिमी पंजाबी

२. सिन्धी

द्वितीय--दक्षिणी समुदाय

३. मराठी

तृतीय--पूर्वी समुदाय

४. उड़िया

५. बिहारी

६. बँगला

७. असमिया

(ख) मध्य उपशाखा

चतुर्थ--बीच का समुदाय

८. पूर्वी हिन्दी

(ग) भीतरी उपशाखा

पंचम--केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय

९. पश्चिमी हिन्दी

१०. पंजाबी

११. गुजराती

१२. भीली

१३. खानदेशी

१४. राजस्थानी

षष्ट--पहाड़ी समुदाय

१५. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली

१६. मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी

१७. पश्चिमी पहाड़ी

यह कहा जा चुका है कि नवागत आर्यों ने मध्यदेश को ही अपना निवास-स्थान बनाया था तथा यहीं पर यज्ञपरायण वैदिक संस्कृत की नींव पड़ी थी। वास्तव में इस मध्यदेश को ही दृष्टि में रखकर ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्य भाषाओं तथा बोलियों का विभाजन दो मुख्य उपशाखाओं में किया है। इनमें से एक उपशाखा की भाषा उस वृत्त के तीन चौथाई भाग में प्रचलित है जो पाकिस्तान

स्थित हज़ारा जिले से प्रारम्भ होकर पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, महाराष्ट्र, मध्य-भारत , उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा असम प्रदेश को स्पर्श करता है। गुजरात की भाषा को ग्रियर्सन ने केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत ही रखा है क्योंकि वस्तुतः मध्यदेश स्थित मथुरा वालों ने इस प्रदेश पर आधिपत्य किया था। इसप्रकार भौगोलिक दृष्टि से बाहर स्थित होते हुए भी, गुजरात, भाषा की दृष्टि से केन्द्रीय अथवा भीतरी समूह के अन्तर्गत है।

बाहरी तथा केन्द्रीय या भीतरी उपशाखा सम्बन्धी ऊपर के वर्गीकरण का आधार डा० ग्रियर्सन के अनुसार वस्तुतः इन दोनों उपशाखाओं में प्रचलित भाषाओं के व्याकरण की भिन्नता है। इस सम्बन्ध में नीचे विचार किया जाता है :--

**ध्वनितत्त्व**--ध्वनितत्त्व की दृष्टि से दोनों उपशाखाओं में पर्याप्त अन्तर है। सबसे पहले ऊष्म वर्णों (श, ष, स) को लिया जाता है। केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा में ये दन्त्य "स" के रूप में उच्चरित होते हैं। प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्राच्य (मागधी) में यह "स", "श" में परिणत हो गया है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में "स" आज भी "श" रूप में ही उच्चरित होता है, किन्तु पूर्वी बंगाल तथा असमप्रदेश में यह "ख" हो जाता है। इसके विपरीत उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश तथा कश्मीर में यह "ह" हो गया है।

**शब्दरूप**– संज्ञा के शब्द रूपों में भी इन दोनों उपशाखाओं में स्पष्ट अन्तर है। केन्द्रीय (भीतरी) उपशाखा की भाषाएँ तथा बोलियाँ वस्तुतः विश्लेषणात्मक अवस्था में हैं। इनमें प्राचीन कारकों के रूप विलुप्त हो चुके हैं तथा संज्ञा-पदों के रूप 'का', 'की', 'से' आदि अनुसर्गों की सहायता से सम्पन्न होते हैं। बाहरी उपशाखा की भाषाएँ विकास की परम्परा में एक कदम आगे बढ़ गई हैं। पहले संस्कृत की भाँति ही ये संश्लिष्टावस्था में थीं, इसके बाद ये विश्लिष्टावस्था में आई और अब पुनः ये संश्लिष्टावस्था की ओर उन्मुख हैं। इसका सर्वोत्तम उदारण बँगला की --एर विभक्ति है जो संज्ञा से संश्लिष्ट हो जाती है; यथा--हिन्दी ,"रामकी पुस्तक", किन्तु बँगला, "रामेर बोई"।

**क्रियारूप**--इन दोनों शाखाओं के क्रिया रूपों में भी भिन्नता है। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है। मोटे तौर पर आधुनिक आर्य भाषाओं तथा बोलियों में संस्कृत के दोनों कालों (Tenses) तथा तीन कृदन्तों ( participles ) के रूप मिलते हैं। ये हैं, वर्तमान (लट्),

भविष्यत् (लृट) तथा वर्तमान कर्तृवाच्य एवं अतीत और भविष्यत् के कर्मवाच्य के कृदन्तीयरूप। संस्कृत के अतीतकाल के रूप आधुनिक आर्य भाषाओं में विलुप्त हो गए। प्राचीन वर्तमान अथवा लट् के रूप प्रायः सभी भाषाओं में वर्तमान हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इनमें ध्वन्यात्मक तथा अर्थगत परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणस्वरूप कश्मीरी में ये भविष्यत् निर्देशक (Future Indicative) हो गए हैं तथा हिन्दी में इनका प्रयोग सम्भाव्य वर्तमान (present Subjunctive) के रूप में होता है। भविष्यत् (लृट्) के रूप, ह-भविष्यत् के रूप में केवल पश्चिमी भारत की भाषाओं तथा बोलियों में वर्तमान हैं। अन्य आधुनिक आर्य भाषाएँ ब–भविष्यत् के रूप में सस्कृत के भविष्यत्काल कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप का प्रयोग करती हैं। इस प्रकार जब इसके बोलने वाले यह कहना चाहते हैं––'मैं पीटूँगा' तो वास्तव में वे कहते हैं––"यह मेरे द्वारा पीटा जाने वाला है।" संस्कृत के अतीतकाल के रूप आधुनिक आर्यभाषाओं में लुप्त हो गए हैं और उनके स्थान पर अतीत कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप व्यवहृत होते हैं। इसप्रकार "मैंने उसे पीटा" के स्थान पर आधुनिक भाषाओं में "वह मेरे द्वारा पीटा गया" प्रयुक्त होता है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओं एवं बोलियों में उल्लेखनीय अन्तर है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्मवाच्य कृदन्तीयरूपों के साथ कर्ता "मैं" वस्तुतः "मेरे द्वारा" में परिणत हो जाता है। संस्कृत में 'मेरे द्वारा' के "मया" तथा लघुरूप में "मे" ये दो रूप मिलते हैं। इनमें "मया" की तो स्वतंत्र सत्ता थी, किन्तु "मे" अपने पूर्व शब्द के साथ संयुक्त हो जाता था। इसी प्रकार मध्यमपुरुष सर्वनाम के "त्वया", "ते" रूप मिलते हैं। लैटिन तथा इतालीय भाषाओं में भी यही प्रक्रिया चलती है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि बाहरी उपशाखा की भाषाओं का सम्बन्ध प्राचीन संस्कृत की उस बोल-चाल की भाषा से है जो कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूपों के साथ सर्वनाम के लघुरूपों को व्यवहृत करती थी, किन्तु केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा की भाषाओं की उत्पत्ति उस बोलचाल की प्राचीन संस्कृत से हुई है जो सर्वनाम के इन लघुरूपों का व्यवहार नहीं करती थीं। इसका परिणाम यह हुआ है कि केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा की भाषाओं में प्रत्येक पुरुष तथा वचन में क्रिया के एक ही रूप का व्यवहार होता था। उदाहरणस्वरूप 'मैंने मारा', 'हमने मारा', 'तूने मारा', 'तुमने मारा', 'उसने मारा ', 'उन्होंने मारा' आदि में 'मारा' रूप अपरिर्वातित रहता है; किन्तु बाहरी उपशाखा में सर्वनाम के

लघुरूप कृदन्तीयरूपों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप विभिन्न पुरुषों के क्रियापदों के रूप भी परिवर्तित हो जाते हैं। क्रिया के इन दोनों प्रकार के रूपों ने भीतरी तथा बाहरी उपशाखा को दो विभिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख किया है। भीतरी उपशाखा की भाषाओं तथा बोलियों का व्याकरण बाहरी उपशाखा की भाषाओं तथा बोलियों के व्याकरण से अपेक्षाकृत संक्षिप्त तथा सरल है।

अपने दूसरे निबन्ध में ग्रियर्सन ने भीतरी तथा बाहरी उपशाखा के सम्बन्ध में और भी गहराई के साथ विचार किया है जिसके अनुसार आधुनिक आर्य भाषाएँ तथा बोलियाँ दो भागों में विभक्त हो जाती हैं। अपने इस लेख में ग्रियर्सन ने भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत केवल पश्चिमी हिन्दी को स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त भारत की आधुनिक अन्य आर्यभाषाएँ बाहरी अथवा अवैदिक अथवा असंस्कृत अथवा हार्नले की तथाकथित मागधी के अन्तर्गत आती हैं। सिंहल की "सिंहली" भाषा तथा भारत के बाहर की "जिप्सी" भाषा भी इस बाहरी उपशाखा के अन्तर्गत ही आती हैं।

भारत के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण की आलोचना अपनी कृति 'ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बैंगाली लैंग्वेज' के परिशिष्ट "ए" के पृष्ठ १५०–१५९ में दी है। डा० ग्रियर्सन ने डा० चटर्जी की ऊपर की कृति की भूमिका में उनकी आलोचना की प्रशंसा की है, किन्तु उसके कारण उन्होंने अपने वर्गीकरण को असिद्ध नहीं माना है। आलोचना के उपरान्त डा० चटर्जी ने अपना वर्गीकरण दिया है जो इसप्रकार है—

(क) उदीच्य (उत्तरी)
 १. सिन्धी
 २. लहँदी
 ३. पूर्वी पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)
 ४. गुजराती
 ५. राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय
 ६. पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य (पूर्वी)

७. (i) कोसली या पूर्वी हिन्दी
(ii) मागधी प्रसूत
८. बिहारी
९. उड़िया
१०. बँगला
११. असमिया
(ङ) दाक्षिणात्य
१२. मराठी

## अध्याय ६

इस अध्याय के १३२–१३३ पृष्ठों में, भारत के सम्बन्ध में चीनी लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण दिया गया है। बौद्धधर्म के माध्यम से ही भारत एवं चीन में सम्पर्क-सम्बन्ध स्थापित हुआ था। मुख्यरूप से बौद्धधर्म के दो सम्प्रदाय —हीनयान तथा महायान हैं। इनमें से हीनयान की परम्परा प्राचीन है और इसके त्रिपिटक तथा अन्य ग्रंथ पालि में है। इसे स्थविरवाद के नाम से भी अभिहित किया जाता है और इसका केन्द्र श्री लंका (सीलोन) है। महायान सम्प्रदाय परवर्ती है तथा इसके ग्रंथ संस्कृत में हैं; आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व बौद्धधर्म के इसी सम्प्रदाय के माध्यम से चीन एवं भारत का सम्पर्क स्थापित हुआ था। चीनी एवं संस्कृत, दो सर्वथा भिन्न परिवारों की भाषाएँ हैं। इनकी गठन एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। इस कारण एक से दूसरे में अनुवाद-कार्य नितान्त दुरूह है। उदाहरणार्थ बुद्ध के पिता, शुद्धोदन के नाम में कई अक्षर हैं। एकाक्षर परिवार के चीनी भाषा-भाषी के लिए इसका उच्चारण अत्यन्त कठिन है; किन्तु 'शुद्ध' एवं 'ओदन', इन दो शब्दों के लिए चीनी में दो पृथक् एकाक्षरी शब्द हैं। चीनी-भाषी इन दोनों शब्दों के संयोग से ही "शुद्धोदन" शब्द को अनूदित कर अपना कार्य सम्पन्न करता है। संस्कृत से चीनी भाषा में किन सिद्धान्तों के आधार पर शब्द निर्मित हुए थे, इस सम्बन्ध में डा० चाउसियांग कुआँग द्वारा प्रदत्त निम्नलिखित विवरण द्रष्टव्य है :—

"हान और ताँग वंशों के राज्यकाल में, आठ सौ वर्षों में चीन के बौद्ध-विद्वानों ने पैंतीस सहस्र से अधिक नये शब्दों और शब्द-संयोगों का निर्माण किया। इस कार्य के लिए उन्होंने दो पद्धतियाँ अपनाई। पहली विधि से दो अमिश्र चीनी शब्दों को संयुक्त करके नूतन अर्थ देने वाले शब्द बना लिए जाते थे, यथा-"चिन्-जु"। इनमें 'चिन्' का अर्थ है 'सत्तावान' और "जु"का अर्थ है "संभाव्य"। दोनों के संयोग से निर्मित शब्द "चिन्-जु" का अर्थ हुआ "भूततत्थता"। महायान सम्प्रदाय में यह शब्द तात्त्विक अर्थ का बोधक है और इसका अर्थ है 'वह परमतत्त्व जो इस गोचर जगत का आदि कारण तथा लक्षण है।' दूसरा उदाहरण है—"चुंग-सेन"। "चुँग "का अर्थ है 'सर्व' या "वहु", "सेन" का अर्थ है "उत्पन्न"। इन दोनों के संयोग से निर्मित शब्द "चुँग-सेन" का अर्थ हुआ "सत्त्व" अथवा "समस्त प्राणी"। तीसरा उदाहरण है "यिग-युआन" जिसमें पहले शब्द का अर्थ "प्रथम कारण" तथा दूसरे का अर्थ "द्वितीय कारण" है, किन्तु दोनों के संयोगज शब्द का अर्थ "हेतु प्रत्यय" है।

दूसरी विधि में मूल संस्कृत शब्द को उसके उच्चारण के सहित अपना लिया जाता था। ऐसे शब्दों का एक उदाहरण है "नि-पान" जो संस्कृत के निर्वाण शब्द का चीनी उच्चारण है। तत्कालीन बौद्ध अनुवादक शब्दावली का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखते थे कि शब्द स्पष्ट तथा अर्थ को यथा सम्भव व्यक्त करने वाले हों।*

## चीनीवर्णमाला

अत्यन्त प्राचीनकाल से चीन में चित्रलिपि प्रचलित है। लिपि विशेषज्ञों के अनुसार लिपि के इतिहास की यह प्रथम अवस्था है। इसमें बहुसंख्यक प्रतीक हैं जिन्हें स्मरण रखना सरल कार्य नहीं है। लिपि का यह रूप ज्ञान एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार में नितान्त बाधक है। अतएव चीन में बौद्धधर्म एवं संस्कृत भाषा के प्रवेश हो जाने पर भारतीय विद्वानों ने एक अभिनव वर्णमाला तैयार करने का भी प्रयत्न किया। इसप्रकार की प्रथम नवनिर्मित लिपि में सम्भवतः चौदह प्रतीक थे। इसका नाम "हीयुहुशु" अथवा 'पश्चिम की विदेशी लिपि' और "पाला मानशु" अथवा 'ब्राह्मणी' (ब्राह्मी ?) लिपि भी था। तदुपरान्त भारत से चीन आगत बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत वर्णमाला के आदर्श पर 'छत्तीस प्रतीकों' की वर्णमाला बनाने

---

+चीनी बौद्धधर्म का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) पृ० २-३।

का यत्न किया और उन्हें उत्पन्न करने वाले ध्वनि स्थानों का भी निरूपण किया। इसके साथ ही उन्होंने वर्ण-विन्यास सम्बन्धी कतिपय तालिकाएँ भी बनाई। चीनी वर्णमाला में सुधार के ये प्रयत्न सफल न हो सके। सन् १९११ ई० में चीन में प्रजातंत्र की स्थापना के पश्चात चीन की राष्ट्रीय सरकार ने ध्वन्यात्मक वर्णमाला के प्रचलन का प्रयास किया, किन्तु इस कार्य में वह पूर्णतः असफल रही। चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना के पश्चात् वहाँ रोमन लिपि के प्रचार-कार्य का आरम्भ हुआ, किन्तु आज भी वहाँ पुरानी लिपि प्रचलित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आज से कतिपय वर्ष पूर्व स्वर्गीय श्री राहुल सांकृत्यायन सुधरी हुई नागरीलिपि की तालिका लेकर चीन के साम्यवादी अधिनायक श्री माओस्तुंग से मिले थे। श्री राहुल जी का तर्क था कि जब रूस की साम्यवादी सरकार अपने गणतंत्र के विविध राज्यों की भाषाओं के लिए रोमन से भिन्न रूसी लिपि का व्यवहार कर रही है तब चीन की साम्यवादी सरकार पूँजीवादी देशों में प्रचलित अवैज्ञानिक रोमन लिपि को क्यों अपनावे। श्री राहुल जी को यह पूर्ण आशा थी कि माओ एशिया की ब्राह्मी लिपि से प्रसूत, सुधरी हुई ध्वन्यात्मक नागरी लिपि को अवश्य अपनावेंगे, किन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। जो हो, चीन की लिपि समस्या आज भी जहाँ की तहाँ है और उसमें सुधार की बहुत कम सम्भावना है। प्राचीन चीनी चित्रलिपि के बहिष्कार में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि समस्त चीनी वाङमय इसी लिपि में है।

## चीन में बौद्धधर्म प्रवेश की तिथि

चीन में बौद्धधर्म के पदार्पण की तिथि अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है। किन्तु इतिहास लेखकों का विचार है कि 'हान' राज्यकाल में सन् ६४ ई० में भारतीय भिक्षु काश्यप मातंग के चीन में प्रवेश के दिन इसका आरम्भ मानना समीचीन है। आप भारत स्थित मध्यदेश के ब्राह्मण थे। चीन में आपके दूसरे सहयात्री एवं सहयोगी धर्मरथ थे। इन दोनों भिक्षुओं ने चीन के श्वेताश्व मठ में निवास करते हुए बौद्धधर्म सम्बन्धी अनेक संस्कृत ग्रंथों को चीनी भाषा में अनूदित किया।

चीन में सुचारुरूप से धर्मप्रचार का कार्य दूसरी शती ईस्वी के मध्य से आरम्भ हुआ था। इनमें से अधिकांश धर्मप्रचारक मध्यएशिया से चीन गए थे। इस युग में मध्यएशिया बौद्धधर्म का एक समर्थ केन्द्र था। प्रारम्भिक बौद्ध प्रचारकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध पार्थिया का "आन शिह काओ था।" उसका यह नाम संस्कृत के लोकोत्तम का अनुवाद था। यह १४८ ई० से १७१ ई० तक

चीन में रहा। अपने प्रवास के इन वर्षों में वह निरन्तर बौद्धसाहित्य के प्रचार में संलग्न था। उसने हीनयान एवं ध्यान सम्प्रदाय के ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। 'आन-शिहकाओ' के साथ ही मध्यएशिया से आगत दो भिक्षुओं ––'लोकरक्षक' एवं 'आनहुआन' के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से लोकरक्षक ने 'आनशिह' के अनुवाद कार्य में सहायता की। 'आनहुआन' सन् १८१ ई० में चीन आया था। वह युद्धकला में भी पारंगत था। इसने एक चीनी सहयोगी की सहायता से संस्कृत के महत्त्वपूर्ण बौद्धग्रंथ "उग्रपरिपृच्छासूत्र" का चीनी में अनुवाद किया था।

हान वंश (२०६ ई० पू० से २२० ई०) के अन्त के बाद विदेशी आक्रमण एवं गृहयुद्ध के कारण चीन साम्राज्य बिखर कर तीन खण्डों या राज्यों में विभक्त हो गया। ये तीनों राज्य––उत्तर में 'बाई', पश्चिम में 'शु' तथा दक्षिण में 'वू' थे।

यों तो चीन में बौद्धधर्म के पदार्पण काल में ही बौद्ध सूत्रों का मूल संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद होने लगा था, किन्तु मठीय बौद्धधर्म का प्रचार बाई काल में ही हुआ। बाई राज्य की राजधानी 'लो-याँग' में ही रही (२२० ई० से २६५ ई०) और वहाँ के श्वेताश्वमठ के शान्तिमय वातावरण में बौद्ध प्रचारक अपना कार्य करते रहे। बाई राज्यकाल में चार श्रेष्ठ बौद्ध अनुवादक ––धर्मरक्ष, भिक्षु काँग-सेंग-काई, धर्मसत्य एवं धर्मभद्र थे। ये चारों मध्य-एशिया के निवासी थे।

इसी काल में कई चीन-निवासी भिक्षु भारत में संस्कृत ग्रथों की खोज में गए। वू-राज्य के एक अभिलेख के अनुसार सन् २२४ ई० में विघ्न नामक एक भारतीय भिक्षु चीन आया था और उसने चीनी भाषा में "धम्मपद" का अनुवाद किया था।

संस्कृत ग्रंथों से चीनी भाषा में अनुवाद के अधिकतर कार्य चु-फा-निएन की सहायता से सम्पन्न हुए थे। आप पश्चिमोत्तर चीन के 'कांसू प्रान्त' स्थित 'लि-आङचाउ' के निवासी थे। आप के नाम में संलग्न "चु" उपसर्ग से प्रतीत होता है कि आप जन्मना भारतीय थे। आप ने मुख्यरूप से महायान सम्प्रदाय के 'बोधिसत्त्व' सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया था। इनमें से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निम्नलिखित हैं:––

१. बोधिसत्त्वमालासूत्र।
२. बोधिसत्त्वगर्भसूत्र।

३. बोधिसत्त्वमालानिदानसूत्र।

इसी काल में कश्मीर से अनेक विद्वान् चीन आए जिनमें संघभूति, धर्मनन्दि एवं संघदेव के नाम उल्लेखनीय हैं।

## फ़ा-हि-एनकी भारतयात्रा

फा-हि-एन का पूरा नाम 'शिह-फा-हिएन' तथा गोत्र नाम "कुंग" था। आप "पिंग-शाँग" (शान्सी प्रान्त के एक भाग) में स्थित "वु-याँग" के निवासी थे। आप के संघीय नाम 'फा-हिएन' का अर्थ "धर्म विख्यात" है। "शिह" शब्द शाक्यमुनि का संक्षिप्तरूप एवं अर्थ में 'वुद्ध' शब्द के समान है। फा-हिएन वीस वर्ष की अवस्था तक श्रामणेर रहे तथा तदुपरान्त प्रव्रज्या लेकर संघ के संगठन में प्रविष्ट हुए। आपने ३९९ ई० में चीन से भारत-यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। इसके पूर्व कई चीनी भिक्षुओं ने भारत आने का प्रयत्न किया था, किन्तु वे वापिस नहीं लौट सके थे।

फा-हिएन की यात्रा में कुल पन्द्रह वर्ष व्यतीत हुए थे। उसने गांधार, पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) होते हुए उत्तरी भारत में प्रवेश किया था तथा श्रीलंका (सीलोन) एवं यवद्वीप (जावा) होते हुए वह जल मार्ग से चीन वापिस गया था। उसकी यात्रा का मूल उद्देश्य विनयपिटक के ग्रंथों की खोज करना था। इस निमित वह दीर्घकाल तक पाटलिपुत्र में रहा। उसने देखा कि उत्तरी भारत के विहारों में शिक्षा की प्रणाली मौखिक थी तथा लिखित रूप में बहुत कम ग्रन्थ उपलब्ध थे। उसने यहाँ के किसी महायान मठ में तीन वर्ष रहकर संस्कृत भाषा एवं ग्रंथों का अध्ययन किया। उसने बौद्धधर्म के ग्रंथों की स्वयं प्रतिलिपि की तथा इनकी प्रतिलिपियाँ प्राप्त कीं। इनमें विनय के अतिरिक्त 'सात सहस्र गाथाओं में वर्णित सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के नियम', 'छै सहस्र गाथाओं युक्त संयुक्ताभिधर्म हृदय', 'पच्चीस सौ गाथाओं वाला एक अन्य सूत्र', 'परिनिर्वाण वैपुल्य सूत्र एक अध्याय जिसमें पाँच सहस्र गाथाएँ थीं' तथा 'महासांघिक अभिधर्म' ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। फा-हिएन इन सभी ग्रंथों को अपने साथ चीन ले गया।

फा-हिएन की यात्रा से प्रेरणा प्राप्त कर दो अन्य चीनी भिक्षुओं ने भी भारत-यात्रा की। इनमें से प्रथम 'चिह-गेंग' था। यह पीकिंग के निकटवर्ती स्थान का निवासी था। सन् ४०४ ई० में उसने भारत की ओर प्रस्थान किया था। उसके दल में कुल चौदह भिक्षु थे जिनमें से नौ की मार्ग में ही मृत्यु

हो गई। भारत में 'चिह-गेंग' का दल पाटलिपुत्र में ठहरा। उसने 'महापरि-निर्वाण' तथा 'सांघिक विनय' सम्बन्धी ग्रंथों का संग्रह किया तथा अपने आने वाले मार्ग से सन् ४२८ ई० में चीन वापिस चला गया।

दूसरा भिक्षु 'फ़ा-योंग' था। यह पू-चाउ स्थित 'हुआंग-लुंग' का निवासी था तथा उसने अपना संस्कृत नाम 'धर्माकर' रख लिया था। उसने चौंतीस भिक्षुओं के साथ चीन से प्रस्थान किया था जिनमें से तीस की मार्ग में ही मृत्यु हो गई थी। फा-योंग स्थलमार्ग से यात्रा करते हुए भारत आया तथा बौद्धधर्म सम्बन्धी अनेक संस्कृत ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करके वह जलमार्ग से चीन लौट गया।

## कुमारजीव

कुमारजीव का जन्म कियूत्सी में ३४३ ई० में हुआ था। उसका पिता-मह भारतवर्ष से आकर कियूत्सी में बस गया था। उसका पिता 'कुमारयान' अपनी जीवन शैली में भारतीय बना रहा। वह विद्याचरण-सम्पन्न एवं दानशील था। उसने उच्च सरकारी पद त्यागकर प्रवृज्या ग्रहण की थी। कियूत्सी के सरदार की एक बहन थी जो अत्यन्त बुद्धिमती एवं उच्च चरित्रवाली थी। उसका नाम 'जीव' था। कुमारयान ने उससे विवाह कर लिया। जीव के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम कुमारजीव रखा गया।

कुमारजीव की माता ने अपने पुत्र की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। नौ वर्ष की अवस्था में वह उसे कश्मीर ले गई जहाँ कुमारजीव ने वहाँ के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बन्धुदत्त के चरणों में बैठकर मध्यम-आगम तथा दीर्घ आगम का अध्ययन किया। बारह वर्ष की अवस्था में कुमारजीव पुनः अपनी माता के साथ कियूत्सी लौट आया। कुमारजीव की अद्भुत प्रतिभा देखकर एक अर्हत चकित हो गया था और उसने उसकी माता को बहुत सावधानी से रक्षा करने का परामर्श दिया था क्योंकि भविष्य में उसके द्वारा बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में सर्वाधिक सहायता मिलने की आशा थी।

अट्ठावन वर्ष की अवस्था में सन् ४०१ ई० में, कुमारजीव, चीन स्थित 'चाग-आम' आया और वहीं पर १३ अप्रैल सन् ४१३ ई० में, सत्तर वर्ष की अवस्था में, महामठ में उसका देहावसान हुआ। अपनी अद्भुत संगठन शक्ति के कारण इस अल्पकाल में ही उसने संस्कृत से चीनी में बौद्धधर्म के अनेक ग्रंथों को अनूदित कर चीन में बौद्धधर्म के इतिहास में अक्षयकीर्ति अर्जित की। सर्वप्रथम संस्कृत की भाँति ही कुमारजीव ने चीनी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त

किया। इसके बाद उसने चीनी में अनूदित अनेक ग्रन्थों का संशोधन किया। इस कार्य में उसे उस प्रदेश के राजा से भी पूर्ण सहायता मिली। कुमारजीव ने आठ सौ भिक्षुओं को अनुवाद कार्य में प्रवृत किया तथा उनके सहयोग से उसने "महाप्रज्ञापारमितासूत्र" का अनुवाद नितान्त स्पष्ट और सुबोध भाषा में किया। इस कार्य को सम्पन्न करने में पाँच सौ लिपिक कुमारजीव के सहायक थे। इसीप्रकार "सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र" तथा "ब्रह्मपरिपृच्छासूत्र" के अनुवाद में बारह सौ स्थानीय बौद्धों ने कुमारजीव की सहायता की थी। कुमारजीव ने चीन में अपने एक-एक क्षण का उपयोग किया। वे अपनी मृत्यु तक अपने कार्य में व्यस्त रहे। चीनी भाषा में उनके द्वारा अनूदित संस्कृत ग्रंथों की संख्या तीन सौ थी।

कुमारजीव की मृत्यु के पश्चात् उनके योग्य शिष्यों ने अनेक वर्षों तक अनुवाद का कार्य जारी रखा। इन शिष्यों में ताओ-शेन को लोग 'महापरिनिर्वाण का मुनि' तथा सेंग-चाओ को 'शास्त्रत्रय का जनक' कहते थे। इनके अतिरिक्त भी कुमारजीव के कई शिष्य थे जो निरन्तर संस्कृत से चीनी भाषा के अनुवाद कार्य में प्रवृत रहे।

## दक्षिण चीन में अनुवाद कार्य

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि फ़ा-हिएन सन् ४१४ ई० में अपनी भारत यात्रा से चीन लौट आया था। इसके बाद अनेक चीनी यात्री बौद्ध धर्म के ग्रंथों की खोज में भारत आए। भारतीय भिक्षु तो निरन्तर चीन जाते रहे। दक्षिण चीन में संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद कार्य का प्रारम्भ वू-राज्य के समय से हुआ था। प्रमुख अनुवादकों का विवरण इसप्रकार है :—

भिक्षु हुई-युआन ने जो 'पुण्डरीक सम्प्रदाय' का था, बौद्धग्रन्थों के अनुवाद कार्य को प्रोत्साहित किया। संघदेव ने अभिधर्म के सिद्धान्तों एवं बुद्धभद्र ने ध्यानमत का प्रचार किया। बुद्धभद्र (४१५ ई०) नानकिंग आया और विद्यापीठमठ में फा-हियन के सहयोग से सांघिक-विनय का चीनी भाषा में अनुवाद चालीस खण्डों में सम्पन्न किया था। महापरिनिर्वाणसूत्र का भी उसने अनुवाद किया। सन् ४२१ ई० में अवतंसकसूत्र का अनुवाद पचास खण्डों में सम्पन्न किया। बुद्धभद्र ने मंजुश्रीप्रतिज्ञासूत्र का भाषान्तर भी चीनी में किया था। सन् ४२९ ई० में उसका निधन हो गया था।

गुणवर्मा ४३१ ई० में नानकिंग पहुँचा था और उसने, ईश्वर नामक भारतीय भिक्षु द्वारा 'संयुक्त-अभिधर्म-हृदयसूत्र' का अनुवादकार्य जो उन्नीस

अध्यायों का भाषान्तर करके बन्द कर दिया गया था, उसे तेरह भागों में पूर्ण किया था। 'उपालिपरिपृच्छासूत्र' का अनुवाद भी छब्बीस भागों में सम्पन्न किया था। पैंसठ वर्ष की अवस्था में गुणवर्मा का निधन नानकिंग में हो गया था।

गुणभद्र सन् ४२१ ई० में जलमार्ग से कैंटेन पहुँचा और कुछ दिनों वहाँ रहकर वह नानकिंग गया। गुणभद्र की गणना महान अनुवादकों में की जाती है। चीन में चौंतीस वर्ष रहकर उसने सत्तर ग्रन्थों का अनुवाद कार्य सम्पन्न किया। इसमें से केवल अट्ठाइस अनूदित ग्रंथ ही आज उपलब्ध हैं। इसने हीनयान एवं महायान दोनों ग्रन्थों का अनुवाद किया था। सन् ४६८ ई० में उसका निधन हो गया था। गुणभद्र के अतिरिक्त तीन अन्य अनुवादक भिक्षुओं के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये हैं, संघवर्मा, धर्ममित्र, तथा कालयशस।

संघवर्मा ४३८ में नानकिंग आये। गुणवर्मा द्वारा 'संयुक्त-अभिधर्म-हृदयशास्त्र' का अनुवाद पूर्ण न हो सका था उसे दो भिक्षुओं की सहायता से संघवर्मा में सम्पन्न किया। यह अनुवाद ४३५ ई० में प्रकाशित हुआ था।

धर्ममित्र कमीर के निवासी थे। आप उत्तर-पश्चिमी स्थलमार्ग से खुतन होते हुए सन् ४१४ ई० में नानकिंग आये थे। आप ध्यानमत के उपदेष्टा थे और इस विषय के ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

कालयशस भी सन् ४२४ ई० में भारत से चीन आये थे। आपने भी बौद्ध-धर्म के कई सूत्रों को चीनी में अनूदित किया था।

धर्मरक्ष नामक कश्मीर निवासी एक भारतीय भिक्षु सन् ४२१ ई० में चीन स्थित कूत्सांग आया था। उसने महायान सम्प्रदाय के ग्यारह ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इनमें से महापरिनिर्वाण सूत्र का अनुवाद मुख्य माना जाता है।

चाई वंश के अल्प राजत्व-काल (४७९ ई० से ५०२ ई०) में संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने के लिये भारतवर्ष से पाँच भिक्षु आये। इनमें से संघभद्र का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह हीनयान मत का अनुयायी था। संघभद्र अपने साथ बुद्धघोष कृत 'समंतपसादिका' की एक प्रति लाया था। चीनी परंपरा के अनुसार वह विनयविभाषा को सन् ४८९ ई० में कैंटन लाया था तथा उसका अनुवाद चीनी भाषा में सम्पन्न किया था।

इसी युग में मध्य-देश निवासी चार अन्य भिक्षु भी चीन आए जिन्होंने संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद कार्य को गति प्रदान की। इनके नाम धर्मकृत

यशस, मतायान, धर्ममति एवं गुणबुद्धि थे। इनके द्वारा अनूदित कृतियाँ आज अनुपलब्ध हैं।

पश्चिमी भारत के उज्जैन का निवासी परमार्थ नामक बौद्धभिक्षु अड़तालीस वर्ष की आयु में चीन आया था। चीन में लगभग २४ वर्षों तक रहकर उसने कुल मिलाकर संस्कृत के सत्तर ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था।

सूई वंश (५५७ ई० से ५८१ ई०) के शासनकाल में संस्कृत से चीनी भाषा में जो अनुवाद का कार्य हुआ उसका विवरण निम्नलिखित है—

१—नालंदयस उज्जैन निवासी थे। प्रव्रजित होने के उपरान्त ५५८ ई० में आप चीन आये। आपके द्वारा अनूदित ग्रंथों की संख्या पन्द्रह है।

२—ज्ञानगुप्त उत्तर भारत स्थित गांधार के निवासी थे। बौद्धधर्म का उपदेश एवं प्रचार करते हुए आप ५५७ ई० में चीन पहुँचे। चीनसम्राट् की आज्ञासे आप चाँग आन के प्रसिद्ध विहार में अनुवादकों के अध्यक्ष नियुक्त हुए। धर्मगुप्त तथा अन्य चीनी भिक्षुओं की सहायता से आपने तैंतालीस संस्कृत ग्रथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। आप द्वारा अनूदित महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक' है जो चीन का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्मग्रन्थ है। ७८ वर्ष की आयु में, ६०० ई० में आपका निधन हो गया।

३— उज्जैन निवासी विनतिरुचि सन् ५८२ ई० में चीन आये। दो संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद आपने चीनी भाषा में किया।

चीन में ताँग वंश (६१८ ई० से ९०७ ई०) का शासनकाल बौद्धधर्म का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग के अनुवादकों की सूची इसप्रकार है—
१. प्रभाकरमित्र, २. अतिगुप्त, ३. नादि, ४. बुद्धपाल, ५. दिवाकर, ६. देवप्रजा तथा ७. शुभाकरसिंह।

इस युग के चार अन्य प्रसिद्ध भिक्षुओं हुआन-त्सांग, ई-त्सिंग, शिक्षानन्द एवं बोधरुचि के कार्यों का विवरण भी नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१– हुआन-त्साँग —यह प्रसिद्ध यात्री अनुवादक एवं बौद्ध धर्म का महापण्डित था। तेरह वर्ष की आयु में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर वह बौद्ध तीर्थों के दर्शन की अभिलाषा से प्रेरित होकर ६२९ ई० में भारत की यात्रा के लिये निकल पड़ा। वह ६३३ ई० में भारत पहुँच गया। भारतवर्ष में वह दश वर्षों तक रहा। उसने मध्यएशिया के मार्ग से ही ६५९ प्रसिद्ध ग्रथों को साथ लेकर चीन के लिये प्रस्थान किया था। हुआन-त्साँग ने प्रसिद्ध दार्शनिक वसुवन्धु एवं धर्म-

पाल के ग्रंथों को चीनी भाषा में अनूदित किया। बौद्धधर्म के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण चीनी की अपेक्षा भारतीय अधिक था। इस दृष्टि से अन्य अनुवादकों के समक्ष उसका अलग स्थान है। ६४५ ई० में चीन लौटने पर उसका स्वागत विजेता की भाँति हुआ था। जीवन के शेष वर्षों में अपनी मृत्यु के समय ६६४ ई० तक अनेक शिष्यों से सहायता लेते हुए, उसने संस्कृत से चीनी भाषा में ७५ ग्रंथों का अनुवाद किया था। शैली एवं भाषा की दृष्टि से इसका अनुवाद सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

२–ई-त्सिंग—इनका जन्म ६३४ ई० में हुआ था। चौदह वर्ष की अवस्था में इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। आप नौका द्वारा बंगाल की खाड़ी पार करते हुए ६७३ ई० में ताम्रलिप्त (आधुनिक तामलुक) बन्दरगाह पहुँचे और यहीं पर संस्कृत भाषा के ज्ञान का अर्जन किया। तत्पश्चात् दस वर्षों तक नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए चार सौ ग्रंथों को संग्रहीत किया। इसके अतिरिक्त अनेक पालि ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

३–शिक्षानन्द—आप खुतन निवासी शक जातीय थे। आपने चीन में आकर सम्पूर्ण प्रतियों सहित 'अवतंसकसूत्र' का अनुवाद चीनी भाषा में किया। ७१० ई० में आपकी मृत्यु हो गई।

४–बोधिरुचि—आप दक्षिण भारत में उत्पन्न कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। चीन में आकर ६९३ ई० से ७१३ ई० तक तिरपन ग्रंथों का अनुवाद एक सौ ग्यारह खण्डों में सम्पन्न किया ७२३ ई० में आपका शरीरान्त हो गया।

बोधिरुचि के बाद बहुत दिनों तक चीन में भारतीय भिक्षुओं के आगमन का विवरण नहीं मिलता। ९७६ ई० में दानपाल, धर्मदेव, तिएनसी-त्साई, आदि अनेक बौद्ध भिक्षु चीन आये। यह सभी चीनी बौद्ध इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। दानपाल ने एक सौ ग्यारह ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया इसके अतिरिक्त आपने नागार्जुन के कतिपय ग्रंथों का चीनी रूपान्तर भी किया। धर्मदेव ने सात ग्रंथों का अनुवाद किया। जिनमें कुछ कविताएँ एवं धारणी ग्रंथ है। यह चीनी भाषा वैज्ञानिकों के लिए महत्वपूर्ण हैं।

तिएनसी-त्साई का निवासस्थान गांधार था। आपके भारतीय नाम का पता नहीं लगता। आप अट्ठारह महत्वपूर्ण ग्रन्थों के लेखक माने जाते हैं। आपने 'मंजुश्रीमूलतंत्र' को चीनी भाषा में अनूदित किया था। यह अनुवाद सभी अनूदित तंत्रग्रंथों में श्रेष्ठतम है।

धर्मरक्ष १००४ ई० में मगध वे से चीन आये थे। आपने यहाँ तीन महत्व-पूर्ण ग्रंथों का अनुवाद किया था। सूर्ययशस धर्मरक्ष के समकालीन थे और आपने बौद्धधर्म सम्बन्धी दो संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

## तिब्बत और मंगोलिया में अनुवादकार्य

चीन की भाँति ही भारतीय भिक्षु बौद्धधर्म के मूल ग्रंथ लेकर तिब्बत गये और उन ग्रंथों को तिब्बती भाषा में अनूदित किया। इस कार्य में अनेक तिब्बत के विद्वानों ने भी उनकी सहायता की थी। ऐसी प्रसिद्धि है कि तिब्बत के राजा ६५० ई० लगभग संभोट नामक एक तिब्बती विद्वान् को बौद्धधर्म के अध्ययनार्थ भारत भेजा था। इस विद्वान् ने सात वर्ष तक दक्षिण भारत में बौद्ध संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया और तिब्बत लौटते समय अनेक ग्रंथों को साथ में लाया। इसने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि तत्कालीन उत्तरी गुप्त लिपि (जो कि ब्राह्मी का विकसित रूप ही है) के आधार पर एक तिब्बती वर्णमाला का निर्माण किया तथा उस भाषा का सर्व प्रथम व्याकरण लिखा इसके अतिरिक्त तिब्बत में जिन भारतीय भिक्षुओं ने अनुवाद कार्य सम्पन्न किया, उनका विवरण इस प्रकार है:—

### पद्मसंभव

आप नालन्दा विश्वविद्यालय में महायान के आचार्य थे। तिब्बत के तत्कालीन सम्राट् के आमत्रंण पर वहाँ गये। आपके शिष्यों की संख्या पचीस थी। इन सभी शिष्यों ने आपके सान्निध्य में अनेक संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया। वैगेदन आपके किसी शिष्य ने अनेक बौद्धधर्म-ग्रंथों के तिब्बती भाषा में रूपान्तरित किया था।

### दीपंकरश्रीज्ञान

आप बिहार स्थित विक्रमशिला विश्वविद्यालय से सन् १०३८ ई० में तिब्बत गये थे। तिब्बत में आप 'अतिशा' या 'अतिश' नाम से प्रख्यात थे। आपके कारण तिब्बत के बौद्धधर्म में विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। इसप्रकार आपने वहाँ बौद्धधर्म के एक अभिनव युग की स्थापना की थी। आपकी प्रेरणा से संस्कृत एवं पालि के अनेक ग्रंथ तिब्बती भाषा में अनूदित हुए थे।

सन् १३०० और १४०० ई० में मंगोलिया में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ था। यह कार्य तिब्बत के बौद्ध विद्वानों द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। मंगोलिया

के शासक तिब्बत से बौद्ध विद्वानों को बुलाते थे और उन्हें बहुमूल्य उपहारों से सम्मानित करते हुए उनसे बौद्ध धर्म एवं बौद्ध धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करते थे। तदनन्तर मंगोलों ने बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद अपनी भाषा में किया। इस प्रकार बहुत से बौद्ध-ग्रंथ और बौद्ध प्रवचनों का अनुवाद कार्य मंगोलिया की भाषा में सम्पन्न हुआ।

## भाषा-विज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन

भाषा शास्त्र के व्यवस्थित अध्ययन का समारम्भ करने वाले, डेनमार्क निवासी रैसमस क्रिश्चियन रास्क पहले कोपेन्हेगेन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सहायक के पद पर नियुक्त हुए। सन् १८११ ई० में रास्क ने डेनमार्क की भाषा में आइसलैंड की भाषा पर पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखी। सन् १८१४ में इन्हें आइसलैण्ड की भाषा के कोश का सम्पादन कार्य सौंपा गया। रास्क ने दस वर्षों तक आइसलैण्ड में रहकर वहाँ की भाषा एवं प्रथाओं तथा वहाँ के साहित्य का अध्ययन किया। सन् १८१६ में कोपेन्हेगेन में आइसलैण्ड की साहित्यिक-परिषद् की स्थापना होने पर आपने उसके प्रधान अध्यक्षीय पद को सुशोभित किया। सन् १८१६ ई० में रास्क अपनी साहित्यिक यात्रा पर प्रस्थित हुए। उनका उद्देश्य पूर्व की भाषाओं का अध्ययन करना तथा कोपेन्हेगेन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के लिये हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह करना था।

सर्वप्रथम आप स्वेडेन गए और वहीं से फिनलैंड की भाषा के अध्ययन के लिये फिनलैंड पँहुचे, जहाँ से आपने सन् १८१९ ई० में स्वेडेन की भाषा में अपना "ऐंग्लो सैक्सन" व्याकरण प्रकाशित कराया। सन् १८१९ ई० में आप स्टाकहोल्म से सेंट पिटर्सवर्ग गए और वहाँ से तारतारी होते हुए ईरान पँहुचे। कुछ समय तक आप तेबरिज़, तेहरान, पर्सपोलिस एवं शीराज़ में भी रहे। ईरान से आप भारत एवं सीलोन भी आए। सन् १८२३ ई० की मई मास में रास्क पुनः कोपेन्हेगेन लौट आए तथा फारसी, ज़ेन्द, पालि एवं सिंहली के अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ अपने साथ लाए। १४ नवम्बर सन् १८३२ ई० में केवल पैंतालीस वर्ष की अवस्था में निर्धनता, अशान्ति एवं स्वास्थ्य के बिगड़ जाने से यह उद्भट विद्वान् काल-कवलित हुआ।

सन् १८१४ ई० में रास्क ने डेनमार्क की साइंस ऐकेडेमी के समक्ष एक खोजपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया था जो प्राचीन नार्स अथवा आइसलैंड की भाषा की उत्पत्ति के विषय में था। डेन्मार्क की ऐकेडमी ने उस युग में एक प्रतियोगिता चालू की थी जिसका उद्देश्य उपयुक्त उद्धरण देकर ऐतिहासिक

एवं आलोचनात्मक दृष्टि से स्कैंडिनेविया की भाषा की उत्पत्ति के सबन्ध में विचार करना तथा स्कैण्डिनेवीय भाषा की विशेषताओं, प्राचीन एवं मध्ययुग में जर्मनी की बोलियों से उसके सम्बन्ध एवं उन मूल सिद्धान्तों की गवेषणा था, जिनके आधार पर इन भाषाओं का तुलनात्मक एवं व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन हो सकता है। रास्क के निबन्ध का वह भाग जिसका सम्बन्ध ऐकेडमी के अन्तिम उद्देश्य से है, अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें उन्होंने आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों एवं प्रणालियों को उपस्थित किया है।

रास्क ने अपने निबन्ध में भाषा की समग्र गठन के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उनका मंतव्य है कि दो भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय केवल कतिपय शब्दों एवं कुछ विशेषताओं को लेकर ही अग्रसर होना अपर्याप्त है। वे शब्द-समूह की समानता पर अधिक बल देने के विपक्ष में थे क्योंकि भौगोलिक निकटता के कारण पड़ोसी भाषाओं एवं बोलियों से, उपार्जित होकर प्रायः अनेक शब्द स्वतः आ जाते हैं। वास्तव में ये शब्द दो भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करने में असमर्थ होते हैं। रास्क के अनुसार, सम्बन्ध निर्धारण के लिये व्याकरण सम्बन्धी एकता ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि शब्दों में चाहे कितना ही अधिक आदान-प्रदान क्यों न हो, वाह्य प्रभावों के कारण भाषा के गठन में बहुत कम अन्तर आता है। इस तत्व को भली-भाँति हृदयंगम न करने के कारण पुराने अनेक शोध-कार्य महत्वहीन बन गए थे। रास्क ने भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण के लिये गठनतत्व के साम्य को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इस सम्बन्ध में कुछ सीमा के अन्तर्गत उसने ध्वनि तत्व के महत्व को भी स्वीकार किया है। आधुनिक तुलनात्मक प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्त उनके निम्नलिखित वक्तव्य में स्पष्ट हो जाते हैं:--

चाहे कोई भाषा कितनी ही मिश्रित क्यों न हो, यदि उसके आधारभूत शब्द वही हैं जो दूसरी भाषा के भी हैं तो ये दोनों भाषाएँ एकही परिवार की होंगी। यदि इन दोनों भाषाओं में इसप्रकार का शब्द-साम्य है कि उसके आधार पर इन दोनों के अक्षर (आज ध्वनि) परिवर्तन सम्बन्धी नियम को निर्धारित किया जा सके तो उन दोनों भाषाओं में आधारभूत एकता होगी। इसके साथ ही साथ इन दोनों भाषाओं की सुप्-तिङ् प्रणाली एवं सामान्यरूप से दोनों के गठन में भी समानता आवश्यक है।

रास्क ने अपने निबन्ध में भाषाशास्त्र की तुलनात्मक प्रणाली का सर्वाधिक स्पष्टीकरण किया है। यदि डेनमार्क की भाषा के बदले आपने अपना यह निबन्ध फ्रेंच अथवा जर्मन में लिखा होता और यदि उनके इस निबन्ध का क्षेत्र इतना संकुचित न होता तो आप आधुनिक भाषा-विज्ञान के प्रतिष्ठापक होने का गौरव पाते।

रैसमसरास्क को भाषा-विज्ञान के इतिहास में जो प्रतिष्ठा एवं स्थान मिलना चाहिए था वह उसे न मिल सका। आगे चलकर ग्रिम ने, रास्क द्वारा संकलित सामग्री पर कार्य करके जिस ध्वनि नियम का आविष्कार किया उसके कारण उसे अत्यधिक कीर्ति मिली। यहाँ ग्रिम महोदय का संक्षिप्त जीवन प्रस्तुत है :––

जैकब लुडविग कार्ल ग्रिम ४ जनवरी सन् १७८५ ई० को जर्मनी में आविर्भूत हुए। आपके पिता वकील थे और बाल्यावस्था में ही उनकी मृत्यु हो गई थी। इनकी माता निर्धन थीं अतएव इनके एवं इनके छोटे भाई विलहेल्म ग्रिम के अध्ययन की व्यवस्था इनकी बहन ने की। सन् १८१७ ई० में दोनों भाई गाटिंजन चले गए, जहाँ जैकब की नियुक्ति विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं पुस्तकाध्यक्ष के पद पर हुई थी।

सन् १८३७ में, अन्य सात प्रोफेसरों के साथ, इन दोनों भाइयों ने हैनोवर राज्य के विधान का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप इन्हें गाटिंजन से निर्वासित होना पड़ा। तदुपरान्त ये दोनों कासेल लौट आये और यहाँ से सन् १८४० ई० में बर्लिन चले गये। २० सितम्बर सन् १८३६ में जैकब की मृत्यु हो गई। वह अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक निरन्तर कार्य करते रहे।

भाषाशास्त्र के क्षेत्र में ग्रिम को जो सम्मान प्राप्त हुआ था उसके आप सर्वथा योग्य थे। इन्होंने अपनी कृति का प्रकाशन जर्मन भाषा में किया था। इस कारण भी ये पूर्णयश के भागी बने। ऊपर यह कहा जा चुका है कि जर्मन भाषा सम्बन्धी रास्क द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर ही ग्रिम ने ध्वनि नियम का निर्माण किया था, किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि रास्क द्वारा संग्रहीत सामग्री सीमित थी और इस सम्बन्ध में ग्रिम ने स्वयं प्रभूत मात्रा में सामग्री एकत्रित की थी। इसप्रकार रास्क द्वारा आविष्कृत ध्वनि नियम को पूर्ण बनाने में ग्रिम का बड़ा हाथ था। यही कारण है कि इन्हें तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जनक माना जाता है।

जैकब ग्रिम वस्तुतः प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने नवीन तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अनुसन्धान प्रणाली का अनुसरण करते हुए जर्मन भाषाओं के

व्याकरण की रचना की थी। अपने इस व्याकरण के प्रथम खण्ड के प्रथम संस्करण की भूमिका में आपने यह विचार अभिव्यक्त किया है कि उनका उद्देश्य व्याकरण सम्बन्धी नियम की रचना करना नहीं है अपितु वे जर्मन भाषा का वर्णनात्मक परिचय देना चाहते हैं। उन्होंने उस जर्मन भाषा का विवरण प्रस्तुत किया है जो प्राकृतिक रूप में विकसित हुई थी। उन्होंने प्रत्येक जर्मन-भाषा-भाषी को यह सम्मति दी है कि जर्मन भाषा के नियमों पर ध्यान न देते हुए उन्हें वह भाषा बोलनी चाहिए जिसे उन्होंने अपनी माता की गोद में बैठकर सीखा है। अपने व्याकरण के प्रथम खण्ड के द्वितीय संशोधित संस्करण में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि भाषा के तत्वों का अध्ययन निर्दोष दृष्टि से करना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में उनके विचार इसप्रकार हैं :—"मैं व्याकरण में तर्कशास्त्र के हस्तक्षेप के विरुद्ध हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि ठीक-ठीक परिभाषा गढ़ने में तर्कशास्त्र से सहायता मिलती है, किन्तु इससे निरीक्षण में बाधा उपस्थित होती है, जो वास्तव में भाषाविज्ञान का प्राण है।" ग्रिम ने अपने व्याकरण में प्रथम संस्करण (सन् १८१९) में रास्क के निबन्ध की प्रशंसा की है। इसके प्रभाव से ही उन्हें ध्वनिशास्त्र के अध्ययन के महत्व का अनुभव हुआ था और वे यह तथ्य हृदयंगम कर सके थे कि साहित्य में सुरक्षित किसी भाषा विशेष अथवा भाषाओं के समूह की ध्वनियों का अध्ययन किस रूप में होना चाहिए। वास्तव में भाषा के यही तत्व हैं। उस युग के अन्य विद्वानों की भाँति ही ग्रिम में भी वर्ण एवं ध्वनि के अन्तर को स्पष्टतया समझने की क्षमता न थी। उनके व्याकरण के ध्वनि शास्त्र सम्बन्धी अध्याय का शीर्षक है—'वर्णों का अध्ययन', जो वास्तव में त्रुटिपूर्ण है। इसके लिये "ध्वनियों का अध्ययन" शीर्षक अधिक सटीक होता। किन्तु इस त्रुटि के होते हुए भी विविध जर्मन भाषाओं के लिखित रूपों का उन्होंने जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह काफी सही है। अपने युग की परम्परा का अनुसरण करते हुए ग्रिम ने भी कहीं-कहीं कल्पनापूर्ण समीक्षा की है। प्राचीन उच्च जर्मन के ध्वनि परिवर्तनों की समीक्षा करते हुए ग्रिम लिखते हैं कि —"एक दृष्टि से इस ध्वनि परिवर्तन में बर्बर पथभ्रष्टता दृष्टिगोचर होती है जिसका अन्य शान्तिप्रिय जातियों में अभाव है किन्तु इसी के परिणाम-स्वरूप प्राचीन मध्ययुग में जर्मनी स्वतन्त्रता एवं उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ था। तथा यूरोप में आमूल परिवर्तन के कार्य का समारम्भ हुआ था।"

जब हम मध्य युग के परिप्रेक्ष्य में इनकी अनुसन्धान प्रणाली एवं निष्कर्षों

पर विचार करते हैं तो यह कहने को बाध्य हो जाते हैं कि वे उन्नीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठतम भाषाशास्त्री थे।

यह ध्यान रहे कि ग्रिम ही एकमात्र प्रथम व्यक्ति नहीं थे जो ग्रीक तथा लैटिन एवं अंग्रेजी और जर्मन के पारस्परिक साम्य से प्रभावित थे। उस युग के कई विद्वान् तो नितान्त सुव्यवस्थित ढंग से इनकी व्याख्या इस रूप में करते थे कि इनमें से एक भाषा प्राचीन है और अन्य भाषायें उसी से प्रसूत हुई हैं। वास्तव में सर विलियम जोन्स पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एशियाटिक सोसाइटी में सन् १७८६ में दिये गये भाषण में उपर्युक्त तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। इसके बाद रैसमसरास्क ने एक कदम आगे बढ़कर यह दिखलाया कि इन भाषाओं में पारस्परिक साम्य एवं सम्बन्ध इतना अधिक है कि केवल कतिपय वर्णों के परिवर्तन से ही एक भाषा के शब्द दूसरे में परिणत हो जाते हैं। रास्क ने इस परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए कतिपय सूत्र भी बनाए। जैकब ग्रिम ने रास्क के सूत्रों को सुव्यवस्थित एवं विस्तृत बनाया। अपने व्याकरण के द्वितीय संस्करण (१८२२) के प्रथम खण्ड में ग्रिम ने जर्मन भाषा तथा सम्बन्धित जर्मनेतर भाषाओं की शब्दसूची प्रस्तुत की है तथा इनमें जो ध्वन्यात्मक अनुरूपता है उसे भी स्पष्ट किया है। यह अनुरूपता इतनी व्यवस्थित है कि ग्रिम ने इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक सूत्रों का निर्माण किया है। इन्हीं सूत्रों को आगामी पीढ़ी के विद्वानों ने 'ग्रिम-नियम' के नाम से अभिहित किया है।

ग्रिम नियम का सर्वाधिक महत्व यह है कि यह केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं एवं जर्मनीय भाषाओं की ध्वन्यात्मक अनुरूपता को ही प्रदर्शित नहीं करता अपितु वह हमारे दृष्टिकोण को भी विस्तृत बनाता है। जहाँ तक तथ्य का प्रश्न है, ग्रिम रास्क से आगे नहीं बढ़ सके। ग्रिम की भाषा-शास्त्र को यह विशिष्ट देन है कि जिन्होंने ऐसे नियम बनाये जिनके द्वारा भारोपीय के व्यंजन वर्णों की परिवर्तन प्रक्रिया की व्याख्या प्राचीन जर्मन एवं उच्च जर्मन के सन्दर्भ में की जा सके। ग्रिम के अनुसन्धान का आधार लेकर ही भाषाशास्त्रियों को यह क्रान्तिकारी घोषणा करने का साहस हो सका कि "ध्वनि सम्बन्धी नियम अपवाद रहित होते हैं।" चूँकि भाषाशास्त्र के इतिहास में ग्रिम नियम अत्यधिक महत्वपूर्ण है अतएव यहाँ उसके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जाता है।

## ग्रिम नियम

ग्रिम के ध्वनिनियम का सम्बन्ध जर्मेनिक भाषाओं के ध्वनि परिवर्तन से है। यह स्पष्टरूप से दो युगों के ध्वनिपरिवर्तनों की व्याख्या करता है। इनमें से एक ध्वनिपरिवर्तन प्रागैतिहासिक युग में हुआ था। इसे प्रथम ध्वनि परिवर्तन के नाम से अभिहित किया जाता है। द्वितीय ध्वनि परिवर्तन सातवीं शताब्दी अथवा उससे कुछ पूर्व सम्पन्न हुआ था। यह उच्च जर्मन तथा निम्न जर्मन बोलियों में जो परिवर्तन हुआ था उसकी व्यख्या प्रस्तुत करता है। यहाँ उच्च और निम्न शब्दों का प्रयोग भी भौगोलिक दृष्टि से हुआ है। जर्मनी का दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से अपेक्षाकृत ऊँचा है। अतएव यहाँ की बोली को उच्च जर्मन कहते हैं। इसका उत्तरी भाग समतल और निम्न है अतएव यहाँ की बोली निम्न जर्मन के नाम से विख्यात है। इस निम्न जर्मन शाखा के अन्तर्गत अंग्रेजी, डच, नार्वे एवं स्वीडन की भाषाएँ आती हैं।

प्रथम ध्वनि परिवर्तन को हम निम्नलिखित त्रिभुज की सहायता से स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं--

क् त् प् (अघोष अल्पप्राण) >>ख् थ् फ् (अघोष महाप्राण)
ख् थ् फ् (अघोष महाप्राण) >>ग् द् ब् (घोष अल्पप्राण)
ग् द् ब् (घोष अल्पप्राण) >>घ् ध् भ् (घोष महाप्राण)

इसमें क् त् प् अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ मूल भारोपीय की प्रतिनिधि ध्वनियाँ हैं। ये संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में तो अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं किन्तु जर्मेनिक (गाथिक तथा अंग्रेजी) में ख् (ह) थ् फ् (घ् ध् भ्) अघोष महाप्राण में परिणत हो गई हैं। इसीप्रकार मूल भारोपीय की घ् ध् भ् घोष महाप्राण ध्वनियाँ संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन में तो सुरक्षित हैं किन्तु जर्मेनिक में यह ग् द् ब् घोष अल्पप्राण में परिणत हो गई हैं। पुनः मूल भारोपीय की ग् द् ब् घोष अल्पप्राण ध्वनियाँ संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में तो अपने मूल-रूप में सुरक्षित हैं किन्तु जर्मेनिक में क् त् प् अघोष अल्पप्राण में परिणत हो गई हैं।

उपर्युक्त ध्वनि परिवर्तन के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं--

| भारोपीय | संस्कृत | ग्रीक | लैटिन | गाथिक | अंग्रेजी |
|---|---|---|---|---|---|
| *q क् | कः | | quod | hwas | who |
| *t त् | त्रयः | treis | tres | — | three |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| *p प् | पिता | pater | pater | fadar | father |
| *j य् (ज्) | युगम् | zugon | jugum | juk | yoke |
| *d द् | दस | deka | decem | taihum | ten |

## द्वितीम ध्वनिपरिवर्तन

जैसा कि ऊपर किया जा चुका है--प्रथम ध्वनि परिवर्तन का सम्बन्ध एक ओर भारोपीय परिवार की संस्कृत, लैटिन और ग्रीक भाषाओं और दूसरी ओर जर्मेनिक भाषाओं के बीच हुआ था। किन्तु द्वितीय-ध्वनि-परिवर्तन स्वयं जर्मेनिक भाषाओं की ही दो भाषाओं में सम्पन्न हुआ था। जिन्हें निम्न जर्मन एवं उच्च जर्मन के नाम से अभिहित किया जाता है। इस ध्वनि परिवर्तन में क्रमशः ग् द् ब् का क् त् प्, और ख् थ् फ् का ग् द् ब् हो जाता है।

कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं--

| | निम्न जर्मन | उच्चजर्मन |
|---|---|---|
| क से ख-- | (बुक) | (बुख) |
| थ से द-- | (थ्री) | (द्रेइ) |
| प से फ-- | (स्लिप) | (श्लाइफन) |

आदि।

ग्रिमनियम के अनेक अपवाद थे जिनका समाधान बाद के भाषा विज्ञानियों के द्वारा सम्पन्न हुआ। ग्रिम की व्याख्या पूर्णरूप से सही थी, यह भी कहना कठिन है क्योंकि उसे ध्वनि एवं वर्ण का अन्तर स्पष्ट नहीं था। किन्तु यह सब होते हुए भी ग्रिम नियम का भाषाशास्त्र के इतिहास में अत्यधिक महत्व है। वस्तुतः यह प्रथम अवसर था जब एक व्यक्ति ने एक ऐसे सिद्धान्त को खोज निकाला जिस पर जटिल ध्वन्यात्मक परिवर्तन आवश्यक था। यह बात स्वतः अभिनव, मौलिक एवं महत्वपूर्ण थी। रास्क तथा अन्य भाषा-विज्ञानियों ने इस प्रक्रिया का अनुभव तो किया था किन्तु वास्तव में यह ग्रिम ही था जिसने प्रथम बार इसे ऐसे सिद्धान्त रूप में स्थिर किया जिनसे विभिन्न ध्वन्यात्मक परिवर्तन समन्वयात्मक रूप में एक महान् प्रक्रिया के अन्तर्गत आ गए। सच बात तो यह है कि ग्रिम की यह खोज भविष्य में ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए अत्यन्त मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण थी। इसका स्पष्टरूप से यह प्रभाव पड़ा कि भाषा-विज्ञानी अब इस बात का अनुभव करने लगे कि ध्वनिपरिवर्तन संयोग की

बात नहीं है, अपितु यह कतिपय नियमों द्वारा अनुशासित होता है। इससे उन्हें वह अन्तर्दृष्टि मिली जिससे वे भाषा परिवर्तन के कारणों के सैद्धान्तिक अध्ययन में प्रवृत्त हुए। यह सत्य है कि भाषाविज्ञानी भाषा-विषयक जटिल समस्याओं के समाधान में सदैव सफल न हो सके किन्तु इसके साथ ही यह भी सच है कि विद्वान् शोधकर्ता अब इस तत्व को भी जानने लगे कि भाषायें भी कतिपय परीक्षणीय शक्तियों के आधीन होती हैं और इस शक्ति का प्रभाव भाषा में इस रूप में परिव्याप्त रहता है कि प्रथम दृष्टि में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन असम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में ये एक साँचे के अनुसार होते हैं।

जेकबग्रिम ने केवल व्यंजन समूह के परिवर्तनों को ही सारणीबद्ध नहीं किया था किंतु इससे आगे बढ़कर उसने इन परिवर्तनों की आधारभूत स्थितियों का भी अनुसन्धान किया था। हमें यह ज्ञात है कि उसने सिद्धान्त रूप में जो अभिमत व्यक्त किया था उनमें से कुछ अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित थे। किन्तु वास्तव में वह अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति था। सच तो यह है कि उसने सिद्धान्त और साँचे की दृष्टि से तथ्यों को देखा और इसप्रकार उसने ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान के पथ को प्रशस्त बनाया। आज इसी पथ का अनुसरण करते हुए हम गठनात्मक भाषाशास्त्र की अवस्था तक पहुँचे हैं।

ज्यों-ज्यों विद्वान् संस्कृत की ओर अधिक आकृष्ट होते गये त्यों-त्यों भाषा के तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र भी व्यापक एवं विस्तृत होता गया। तथ्य की बात तो यह है कि भारोपीय तुलनात्मक भाषा विज्ञान का समारम्भ यथार्थतः संस्कृत के अध्ययन से हुआ था। तुलनात्मक व्याकरण से अध्ययन क्षेत्र को विस्तृत बनाने की पृष्ठभूमि के साथ जर्मन भाषाशास्त्री फ्रेन्ज़ बाप्प (१७९१-१८६७) की कीर्ति दृष्टव्य है।

## फ्रेन्ज़ बाप्प

इनका जन्म १४ सितम्बर १७९१ में मेंज़ में हुआ था। यह स्थान बवेरिया में है। सन् १८१२ ई० में बाप्प संस्कृत के अध्ययन के लिये पेरिस गए और सन् १८१६ में अपने-अपने संस्कृत के रूप सम्बन्धी तुलनात्मक ग्रंथ का प्रकाशन कराया। बाप्प के अनुसन्धान का लक्ष्य संस्कृत, फारसी, ग्रीक और लैटिन के व्याकरणीय रूपों के अध्ययन के द्वारा उसके मूल उत्स की खोज करना था। इसके पूर्व इस विषय में ऐसे अध्ययन का कभी प्रयत्न ही नहीं किया

गया था। इन भाषाओं के क्रियारूपों के ऐतिहासिक विश्लेषण के परिणाम-स्वरूप वह प्रथम बार भाषा-सम्बन्धी तुलनात्मक सामग्री को प्रस्तुत कर सके।

इसके उपरान्त बाप्प लन्दन गए और सन् १८२० में उन्होंने वहाँ के प्राच्य साहित्य की पत्रिका में एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा ट्यूटानिक भाषा के व्याकरणीयरूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया था। सन् १८२१ ई० में बाप्प बर्लिन विश्वविद्यालय में संस्कृत के तुलनात्मक व्याकरण के अध्यक्ष नियुक्त हुए और दूसरे वर्ष रायल प्रशियन एके-डेमी के सदस्य निर्वाचित हुए। इन्होंने सर्वप्रथम सन् १८३३ में संस्कृत, जेन्द, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनीय, गाथिक एवं जर्मन के तुलनात्मक व्याकरण का प्रकाशन प्रारम्भ कराया जो सन् १८५२ ई० में पूर्ण हुए। उपरान्त इसके दो और संस्करण सन् १८५७ तथा १८६८ में हुए थे। ऊपर की भाषाओं के अतिरिक्त उक्त ग्रंथों की सामग्री में बाप्प ने प्राचीन स्लाव, केल्तिक एवं आल्वनीय भाषाओं को भी सम्मिलित कर लिया था।

बाप्प के विशेष अध्ययन का विषय रूप-प्रक्रिया था और इसप्रकार वे रास्क तथा ग्रिम से सर्वथा भिन्न धारा के अध्येता थे। यद्यपि रास्क तथा ग्रिम दोनों ध्वनि-शास्त्री थे और उनके अध्ययन का विषय भी ध्वनिशास्त्र ही था तथापि बाप्प ने पद से 'सुप्' एवं 'तिङ' विभक्तियों को पृथक् करके उसका विश्लेषण आरम्भ किया था। इसप्रकार के विश्लेषण से वे पद के मूलरूप एवं अर्थ को प्राप्त करना चाहते थे। इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। क्योंकि उस युग में उन्होंने जो व्याख्या प्रस्तुत की थी, आज वह असिद्ध हो चुकी है। बाप्प की यह विचित्र धारणा थी कि प्रत्येक क्रियापद में 'भू' के रूप सन्निहित रहते हैं। उनके अनुसार वाक्य में कर्ता, कर्म एवं क्रियापद होते हैं तथा कर्ता एवं कर्म, दोनों, क्रियापद के द्वारा सम्बद्ध होते हैं। चूँकि क्रिया-पद का कार्य कर्ता-कर्म को सम्बद्ध करना होता है अतएव वास्तविक क्रिया-पद 'भू' ही होता है।

बाप्प संस्कृत के पंडित थे तथा संस्कृत-पद विश्लेषण की प्रक्रिया से आप भली-भाँति अभिज्ञ थे। संस्कृत में सन्धि-नियम इतने स्पष्ट एवं व्यवस्थित हैं कि यहाँ पद-विश्लेषण की प्रक्रिया सहजरूप में सम्पन्न हो जाती है और भाषा के अध्येता को पद के विभिन्न अंशों को व्याकरणिक कोटियों के अन्तर्गत नियोजित करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। ग्रीक एवं लैटिन में यह प्रक्रिया पूर्णरूप से लागू नहीं हो पाती।

यद्यपि बाप्प के अनेक सिद्धान्त एवं निष्कर्ष, बाद में, असिद्ध हो गए किन्तु उनकी विश्लेषण-प्रक्रिया तथा तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में संस्कृत के महत्व के प्रतिपादन जैसे योगदानों के, भाषा-विज्ञान के महत्व के प्रतिपादन जैसे योगदानों के भाषा विज्ञान के अध्ययन को विशेष प्रगति मिली। भाषा शास्त्र के इतिहास में बाप्प का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के अभाव में भाषा शास्त्र की प्रगति रास्क के आगे न बढ़ पाती।

बाप्प ने इसके अध्ययन की उपयोगिता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करके इसे चिरस्थायी महत्व प्रदान किया। इससे तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त बना। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप सन् १८६१ में एक उत्कृष्ट कृति का प्रकाशन हुआ। इसके प्रणेता उन्नीसवीं शताव्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् आगस्ट श्लाइखर (१८२१-१८६८) थे।

## श्लाइखर

आपका जन्म जर्मनी के मेंगिन्गेन नामक स्थान में १९ फरवरी सन् १८३१ में हुआ था और मृत्यु ६ दिसम्बर सन् १८६८ ई० में 'जेना' नामक स्थान में हुई थी। आपने धर्मविद्या तथा प्राच्य भाषाओं का अध्ययन सर्वप्रथम लाइपिज़िक विश्वविद्यालय तथा बाद में टुबिंगेन में किया था।

सन् १८४६ में आपने 'बान' विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद आप भाषाविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए और अन्त तक इसी पद पर कार्य करते रहे।

सन् १८५० ई० में आप भाषा के विशिष्ट प्रोफेसर के रूप में प्राहा में निमंत्रित हुए। यहाँ आपने 'स्लाव' भाषाओं का विशेषरूप से अध्ययन किया। आप कई महीनों तक निरन्तर यात्रा करते हुए लिथुआनीय भाषा का अध्ययन करने के लिए लिथुआनिया गए।

सन् १८५७ ई० में आपकी नियुक्ति सम्मानित प्रोफेसर के रूप में 'जेना' विश्वविद्यालय में हुई थी। यहाँ आप जर्मन भाषाविज्ञान के प्रोफेसर थे। यहीं पर आपका निधन हुआ था। आपने अपना भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन विषयक ग्रंथ सन् १८४८ में प्रकाशित कराया था। जर्मन भाषा में आपने भाषाविज्ञान विषयक अनेक शोध-निबन्ध भी लिखे थे।

श्लाइखर के विशेष अध्ययन के विषय दर्शन, भौतिकविज्ञान एवं भाषाविज्ञान, तीनों थे। उनका छात्र-जीवन जर्मनी के 'टुबिंगिन विश्व-विद्यालय में

व्यतीत हुआ था। यहाँ आपने प्रसिद्ध दार्शनिक हेगेल के ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था। परवर्ती काल में उन पर चार्ल्स डारविन का भी प्रभाव पड़ा। जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने हेगेल तथा डारविन के सिद्धांतों में समन्वय स्थापित करने का उद्योग किया और वास्तव में इस समन्वयात्मक सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने भाषा सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों का प्रणयन किया।

श्लाइख़र द्वारा लिखित भारोपीय भाषाओं का संक्षिप्त व्याकरण एक उत्कृष्ट कृति है। यह इस क्षेत्र के विद्वानों की कृतियों एवं खोजों पर आधारित है। श्लाइख़र की खोजों में मौलिकता न थी किन्तु वे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और उन्होंने अपने विचार क्रमबद्ध रूप में तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किए हैं। उनकी कथन-शैली सहज, बोधगम्य एवं प्रभावशाली हैं और उस युग के भाषाविज्ञानियों में उनका स्थान अन्यतम है। अनेक वर्षों तक उनके व्याकरण की प्रामाणिकता अक्षुण्ण रही।

भाषाविज्ञान के क्षेत्र में श्लाइख़र के तीन कार्य उल्लेखनीयहैं। ये हैं, भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक सिद्धान्त, तुलनात्मक प्रणाली द्वारा मूल भाषा के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया एवं भाषाओं के रूपात्मक वर्गीकरण का सिद्धान्त।

श्लाइखर का विश्वास था कि जीव के विकास की भाँति ही भाषा का विकास भी स्वतंत्ररूप में हुआ है। उन्होंने भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध की खोज ठीक उसी रूप में की जिस रूप में वनस्पतिशास्त्री वनस्पति सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य करता है। जिस प्रकार वनस्पति-शास्त्री समान विशिष्टता वाले फूलों को एक प्रजाति का उपजाति मानता है उसी प्रकार श्लाइख़र को भी जहाँ दो भाषाओं में समान विशेषता के तत्व मिले वहाँ उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ये दोनों किसी एक ही भाषा से प्रादुर्भूत हुई हैं और इन दोनों का विकास भी समान गति से हुआ है। इसप्रकार विश्लेषण करते हुए वह अतीत की ओर बढ़ते गए और अन्त में वे ऐसे बिन्दु पर पहुँच गए जिसके आगे वर्गीकरण सम्भव न था। इस तरह के तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य मूल भाषा की खोज करना था। यहाँ मूल भाषा से मानव की आदि भाषा से तात्पर्य नहीं है। उस भाषा का पता लगाना तो आज नितान्त दुरूह है। वास्तव में यहाँ मूलभाषा से किसी परिवार की प्राचीनतम भाषा से तात्पर्य है और श्लाइख़र का मन्तव्य तो स्पष्टरूप से भारोपीय परिवार के वंशवृक्ष से है। आपने भारोपीय परिवार की भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार किया तथा इन भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का भी स्पष्टीकरण किया।

श्लाइखर की कार्यप्रणाली में अनेक दोष थे। सिद्धान्त रूप में तुलनात्मक प्रणाली द्वारा अन्ततोगत्वा एक ऐसी भाषा की उपलब्धि होती है जिसमें बोली सम्बन्धी विभिन्नताओं का अभाव रहता है, क्योंकि जब कोई भाषा समान रूप से विकसित होने वाली भाषाओं से पुनर्निर्मित होगी तो स्पष्टतया उसमें बोली सम्बधी विभिन्न रूप नहीं होंगे। किन्तु हम यह जानते हैं कि व्यवहारिक रूप में कोई भी ऐसी भाषा नहीं मिलती जिसमें स्थानीय बोलियों के विभिन्न रूप उपलब्ध न हों। भारोपीय भाषा में भी निश्चितरूप से स्थानीय बोलियों के रूप रहे होंगे। उदाहरणस्वरूप भारोपीय के कारकीय रूपों को निर्धारित करते समय तिर्यक बहुवचन के एक प्रत्यय के सम्बन्ध में भाषा विज्ञानी यह निर्णय नहीं कर पाते कि दो प्रत्ययों में से किसे समीचीन माना जाय क्योंकि ये दोनों प्रत्यय प्राचीन ग्रंथों में प्रयुक्त मिलते हैं। इसप्रकार के और भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं और इनसे यही एक निष्कर्ष निकलता है कि अन्य भाषाओं की भाँति ही भारोपीय में भी बोली सम्बन्धी विभिन्नताएँ विद्यमान थीं। तुलनात्मकप्रणाली इसप्रकार की सम्भावना स्वीकार नहीं करती। वह मूल अथवा पितृभाषा में उन्हीं रूपों को स्वीकार करती है जो प्रत्येक सन्तान भाषा द्वारा स्वतन्त्ररूप से प्रमाणित होते हैं। वास्तव में सम्बन्धित भाषाओं के ये रूप ही अन्त में पितृभाषा के रूप को निर्धारित करते हैं।

पितृभाषा के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समय के प्रभाव से यह सहसा तथा पूर्णतया दो या दो से अधिक भाषाओं में खंडित हो जाती है तथा विखण्डन के बाद इन भाषाओं में परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध-सम्पर्क नहीं रहता। कार्य-पद्धति की दृष्टि से इसप्रकार की कल्पना आवश्यक है क्योंकि यदि हम यह बात स्वीकार करते हैं कि दो या दो से अधिक भाषाओं में जो समानता उपलब्ध होती है, उसका कारण उनका स्वतन्त्र विकास नहीं अपितु उनका पारस्परिक प्रभाव है तो हम कभी भी इन भाषाओं के ऐतिहासिक सम्बन्ध को निर्धारित करने में सफल नहीं हो सकते। यह बात सत्य है और इसे सभी लोग जानते भी हैं कि स्वतन्त्ररूप धारण कर लेने के बाद भी एक भाषा प्रायः दूसरी भाषा को प्रभावित करती रहती है। यह बात तथ्यहीन है कि स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में आ जाने के बाद डच तथा जर्मन भाषा ने एक दूसरे को प्रभावित नहीं किया है अथवा स्वेडैन की भाषा स्वेडिश तथा डेनमार्क की भाषा डेनिश या पोलैंड की भाषा पोलिश एवं रूसी भाषाओं में पारस्परिक लेन-देन

का व्यवहार नहीं हुआ है। पुनः तुलनात्मक प्रणाली की प्रतिज्ञा, स्पष्टतया, अन्यथा सिद्ध हो जाती है।

अब यह प्रश्न सहजरूप में पूछा जा सकता है कि जब भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करने की यह प्रणाली इसप्रकार की भ्रान्त प्रतिज्ञाओं पर आधारित है तो आज भी भाषाशास्त्री इसका प्रयोग क्यों करते हैं? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि प्रणाली के रूप में यह अत्यन्त उपयोगी है। व्यावहारिक रूप में इस प्रणाली की कार्य-पद्धति को स्वीकार करते हुए, भाषाशास्त्री, अपने अनुसंधान-कार्य में जहाँ तक सम्भव होता है, आगे बढ़ते जाते हैं और इसके बाद नवीन उपलब्ध तथ्यों के प्रकाश में वे अपने निष्कर्षों में संशोधन कर लेते हैं। मोटे तौर पर तुलनात्मक प्रणाली की तुलना हम रसायनशास्त्र के गैस नियम (गैस-ला) से कर सकते हैं। व्यावहारिक रूप में मानक तापमान तथा दबाव के कारण जो अन्तर आता है, उसे ध्यान में रखकर रसायनशास्त्री को अपने निष्कर्ष में संशोधन करना पड़ता है अन्यथा उसका निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण हो जाता है। इसीप्रकार किसी वस्तु की गति के वेग के निर्धारण के लिए जो सूत्र (फार्मूला) है उसमें घर्षण को ध्यान में रखते हुए संशोधन करना पड़ता है। ठीक यही बात तुलनात्मक प्रणाली के सम्बन्ध में भी है। यहाँ भी जब हम प्रत्यक्षरूप में उपलब्ध अशुद्धियों का संशोधन कर देते हैं तो अन्य प्रणालियों की अपेक्षा तुलनात्मक प्रणाली सटीक सिद्ध हो जाती है। अब तक श्लाइख़र के अनेक सिद्धान्त असिद्ध हो चुके हैं किन्तु उसकी प्रणाली के अपरिहार्यतत्व आज भी अक्षुण्ण हैं।

इधर गत शताब्दी में कई ऐसी पुरातात्विक खोजें हुई हैं, जिनसे तुलनात्मक प्रणाली की प्रामाणिकता में और भी शंकाएँ उत्पन्न हो गई हैं। इन खोजों में दक्षिणी-पूर्वी एशिया माइनर में मिट्टी की खपरैलों पर वाणमुख लिपि में लिखित सामग्री अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब ये पुरालेख पढ़े गये तो यह ज्ञात हुआ कि इनकी भाषा भारोपीय है तथा कैल्टिक एवं इटालीय भाषाओं से इसका आश्चर्यजनक साम्य है। यह हत्ती या खत्ती (हिट्टाइट) भाषा है। इस भाषा की अति प्राचीनता (हत्ती साम्राज्य का समय ई० पू० २००० से ई० पू० १२०० तक है) तथा भाषाशास्त्रियों द्वारा निर्मित आदि भारोपीय भाषा से कई बातों में इसकी भिन्नता देखकर कतिपय विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया कि हत्ती तथा भारोपीय, दोनों एक प्राचीन भाषा से प्रादुर्भूत हुई हैं जिसे "आदि भारो हत्ती" (प्रोटो इंडो हिट्टटइट) कहना उपयुक्त है। इधर यह सिद्धान्त

अमान्य हो गया है और अब विद्वान् हत्ती को भारोपीय परिवार की केवल प्राचीनतम भाषा मानने लगे हैं। किन्तु हत्ती तथा भारोपीय ढाँचे में कहीं-कहीं आश्चर्यजनक भिन्नता देखकर विद्वानों को तुलनात्मकप्रणाली त्रुटिपूर्ण प्रतीत होने लगी है। बात यह है कि तुलनात्मकप्रणाली द्वारा निर्मित आदि-भारोपीय भाषा का ढाँचा अत्यन्त संश्लिष्टात्मक है। इसमें सुप्-तिङ्-प्रत्ययों का बाहुल्य है तथा इसके शब्द एवं धातुरूपों की प्रक्रिया पर्याप्त मात्रा में जटिल है। इसकी तुलना में हत्ती भाषा वि-लेषात्मक है और इसमें विभक्ति-मय शब्दरूपों का अपेक्षाकृत अभाव है। भारोपीय तथा हत्ती की इस विभिन्नता के कारण विद्वानों के सामने एक समस्या खड़ी हो गई है जो यह है कि तब पुर्ननिर्मित भाषा की गठन को इतना अधिक संश्लिष्टात्मक क्यों माना जाय? सावधानी से पुर्ननिर्माण के फलस्वरूप यद्यपि आज हत्ती तथा आदि भारोपीय का वैषम्य, बहुत अंशों में, समाप्त हो चुका है तथापि जिस भ्रान्ति-पूर्ण मान्यता को लेकर पुर्ननिर्माण प्रणाली चल रही है उसका उत्तर अभी तक विद्वानों को नहीं मिल पाया है। वह मान्यता यह है कि तुलनात्मक प्रणाली पितृभाषा में न तो विभिन्न रूपों को स्वीकार करती है और न यह सम्बन्धित भाषाओं में स्वतन्त्ररूप से प्रादुर्भूत उभयनिष्ठ परिवर्तनों को ही मानती है। वास्तव में, इस सम्बन्ध में हमें विश्वस्त सूचना तभी प्राप्त हो सकती है जब समय एवं दूरी के कारण होने वाले परिवर्तनों की जानकारी हो जाय। जब समय एवं दूरी का अधिक व्यवधान नहीं रहता तथा प्राचीन साहित्य में उप-लब्ध रूपों के आधार पर पुर्ननिर्माण का कार्य सम्पन्न किया जाता है तो निष्कर्ष भी विश्वसनीय होता है। जर्मेनिक तथा विशेषरूप से रोमान्स भाषाओं में तुलनात्मकप्रणाली के द्वारा विश्वसनीय निष्कर्ष उपलब्ध हुए हैं। इसका कारण यह है कि पुरालेखों तथा प्राचीन कागज-पत्रों के रूप में इन भाषाओं की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। किन्तु जहाँ समय का व्यवधान अधिक है और क्षेत्र भी विस्तृत है वहाँ ज्ञात तथ्यों के अभाव में तुलनात्मक प्रणाली द्वारा प्राप्त निष्कर्ष भी अविश्वसनीय हो जाते हैं।

हेगेल के दर्शन का प्रभाव श्लाइख़र कृत भाषा के रूपात्मक वर्गीकरण पर भी स्पष्टतया परिलक्षित होता है। श्लाइख़र ने यह अनुभव किया कि भाषा में दो तत्व——अर्थ एवं रूप हैं। चूँकि अर्थ के बिना भाषा अस्तित्वहीन है अतएव श्लाइख़र के अनुसार इसकी दो विशेषताओं के आधार पर इसे तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है। "यहाँ हेगेल के दर्शन के त्रिक्

का प्रभाव स्पष्ट है।" इनमें प्रथम वर्गीकरण के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनमें शब्द के व्याकरणिक रूप का अर्थ पर बहुत कम अथवा बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ता। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है जिसमें वाक्य में शब्दों के स्थान के अतिरिक्त व्याकरणिक कोटियों का प्रायः अभाव रहता है। इस प्रकार की भाषाओं को श्लाइख़र ने अयोगात्मक के नाम से अभिहित किया।

श्लाइख़र के अनुसार दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनमें कोशगत (=शब्दीय) एवं संरचनात्मक तत्व सम्पृक्त रहते हैं, किन्तु जिनमें संरचनात्मक अथवा सम्बन्धतत्व स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं के सम्बन्धतत्व में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। श्लाइख़र ने इसप्रकार की भाषा को योगात्मक की संज्ञा दी। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण तुर्की भाषा है।

तीसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनमें अर्थ एवं रूप दोनों संश्लिष्ट होते हैं। (यहाँ हेगेल का पक्ष (थीसिस), प्रतिपक्ष (एण्टीथीसिस) एवं संश्लेषण (सिन्थेसिस) का त्रिक् सिद्धान्त दृष्टव्य है)। इन भाषाओं में केवल धातुरूपों में ही आन्तरिक परिवर्तन नहीं होता अपितु उपसर्गों एवं प्रत्ययों से निर्मित्त पदों के रूप एवं अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। तीसरे वर्ग की भाषा का श्लाइखर ने संश्लेषणात्मक नामकरण किया। इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषाएँ लैटिन, ग्रीक एवं संस्कृत हैं।

प्राकृतिक विज्ञान के अध्येता होने के नाते श्लाइख़र को कोशीय जीवधारी के जीवनचक्र की गति भली-भाँति ज्ञात थी। यह गति है--जन्म, यौवन, जरा एवं मृत्यु। जब पिण्ड अथवा शरीर विकास की चरमसीमा पर पहुँच जाता है तब ह्रास अवश्यंभावी हो जाता है। अपने इस पर्यवेक्षण में श्लाइख़र ने हेगेल के प्रगति सम्बन्धी सिद्धान्त को भी मिश्रित कर दिया। हेगेल के अनुसार समस्त प्रगति दो विरुद्ध शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होती है। प्रतिक्रिया का कार्य निरन्तर चलता रहता है। इन दोनों शक्तियों के सफल अथवा असफल समन्वय से ही प्रगति होती है। हेगेल ने इन्हें पक्ष (थीसिस), प्रतिपक्ष (एण्टीथीसिस) एवं संश्लेषण (सिन्थेसिस) के नाम से अभिहित किया था। अपने भाषा के वर्गीकरण के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते समय श्लाइख़र ने ऊपर के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दोनों प्रकार के सिद्धान्तों को दृष्टि में रखा था।

श्लाइखर ने विचार करके यह निर्धारित किया कि आरम्भ में भाषा अयोगात्मक रही होगी, (यह उसका पक्ष (थीसिस) था) क्योंकि गठनात्मक दृष्टि से यह भाषा का सरलतम रूप है। इसके बाद यह योगात्मक रूप में विकसित हुई होगी। भाषा की यह दूसरी अवस्था अपेक्षा कृत जटिल थी क्योंकि अब उसके द्वारा गहन विचारों की अभिव्यक्ति होने लगी। (रूप की दृष्टि से यह श्लाइखर का प्रतिपक्ष (एण्टीथीसिस) था)। अन्त में जब मानव की बौद्धिक एवं तार्किक शक्ति का विकास हुआ तो उसने रूप एवं अर्थ में सामञ्जस्य स्थापित किया और तब भाषा संश्लिष्ट बन गई। भाषा सम्बन्धी ऊपर के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए श्लाइखर ने स्वयं यह प्रश्न पूछा--भाषा के इस जीवनचक्र में भारोपीय भाषाओं का स्थान कहाँ है? इसका यह स्पष्ट उत्तर था कि भारोपीय भाषाएँ विकास की चरम सीमा पर हैं क्योंकि ये सर्वाधिक संश्लिष्ट हैं। श्लाइखर ने भारोपीय भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार किया और तब उसे यह अवबोध हुआ कि भाषा जितनी अधिक प्राचीन है उतनी ही अधिक वह संश्लिष्ट भी है। प्राचीनता की दृष्टि से विचार करते हुए उसने यह प्रतिपादित किया कि लैटिन से प्राचीन ग्रीक तथा ग्रीक से अधिक प्राचीन संस्कृत भाषा है क्योंकि संस्कृत में, अपेक्षाकृत, शब्द एवं धातु रूपों का बाहुल्य है। इस सूत्र को ग्रहण करके श्लाइखर ने यह विचार निर्धारित किया कि इस बात की सर्वाधिक सम्भावना है कि भारोपीय भाषाओं की जननी आदि भारोपीय भाषा अपनी पुत्री-भाषाओं की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट थी। अब प्रश्न यह उठता है कि तब भाषा सम्बन्धी जीवन-चक्र में उपलब्ध भाषाओं का स्थान कहाँ है? श्लाइखर के अनुसार ये स्पष्ट रूप से ह्रास एवं अधःपतन के युग की भाषाएँ हैं। संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भाषाएँ आदि भारोपीय भाषा के निकट होने से अधिक शक्तिशाली हैं किन्तु विभक्ति प्रत्यय रहित अंग्रेजी जैसी अर्वाचीन भाषा शक्तिहीन एवं दुरावस्था में है।

अब इस बात पर विचार करना है कि दार्शनिक प्रेरणा से प्रादुर्भूत श्लाइखर के इस भाषा विषयक सिद्धान्त का ऐतिहासिक साक्ष्य क्या है? क्या वास्तव में कोई ऐसा साक्ष्य उपलब्ध है जिससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि भाषा तीन अवस्थाओं--अयोगात्मक, योगात्मक एवं संश्लेषणात्मक--से होते हुए विकसित हुई हैं। चूँकि अंतिम दो अवस्थाएँ एक ही प्रक्रिया के दो रूप--लघु अर्थवान इकाइयों की संधि हैं अतएव इस बात की अधिक सम्भावना है कि भाषा के कतिपय रूपों का विकास स्वतंत्र अर्थवान इकाइयों के संयोजन से हुआ

होगा। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि दुर्भाग्यवश इस कल्पना को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों का अभाव है।

ऊपर की त्रुटियों के बावजूद श्लाइख़र का प्रभाव आज अक्षुण्ण है। उसकी तुलनात्मक प्रणाली का संशोधित रूप आज भी प्रयोग में आ रहा है तथा आज भी अनेक भाषाशास्त्री उसकी पुनर्निर्माण की प्रणाली को स्वीकार करते हैं। भाषाओं को अयोगात्मक, योगात्मक एवं संश्लिष्ट रूप में वर्गीकृत करने की प्रणाली (वास्तव में श्लाइखर प्रथम व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने भाषाओं का वर्गीकरण किया था अपितु उनके पूर्व सन् १८३० में दो प्रसिद्ध जर्मन व्युत्पत्ति-शास्त्री विल्हेन वानहम्बोल्ट तथा आगस्ट पाट इसप्रकार का वर्गीकरण कर चुके थे) आज त्रुटिपूर्ण मानी जाने लगी हैं किन्तु अभी भी लोग इस प्रणाली को स्वीकार करते हैं और भाषाशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के रूप में आज भी ये शब्द प्रचलित हैं। भाषाओं के विकास की व्याख्या के रूप में श्लाइख़र द्वारा प्रवर्तित भाषा का जीवन-चक्र आज भी अनेक विद्वानों को मान्य है। यद्यपि तनिक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आज इसका कोई आधार नहीं है। अब विद्वान् यह मानने लगे हैं कि भाषा कोई जीवित वस्तु नहीं है अतः उसके ह्रास की बात व्यर्थ है। भाषा के सम्बन्ध में आज हम इतना ही कह सकते हैं कि समय की प्रगति के साथ-साथ यह परिवर्तित होती रहती है।

श्लाइखर ने भाषा के गठनतत्व का विशेष रूप से अध्ययन किया था क्योंकि उसे यह ज्ञात था कि भाषा के व्याकरण के ढाँचे पर बाह्य तत्वों का बहुत कम प्रभाव पड़ता है और इसीलिए वह अपने पूर्णरूप में सुरक्षित भी रहती है। उसके विचारानुसार भाषा का ध्वनितत्व उतना स्थायी नहीं होता क्योंकि जनता के स्थानान्तरण एवं पराजय जैसी अभाषीय शक्तियों के कारण उसमें परिवर्तन आ जाता है। श्लाइखर के अनुसार किसी भी भाषा के शब्द-समूह अत्यधिक अस्थिर होते हैं एवं भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करने में इसका उतना महत्व नहीं है।

यद्यपि आगस्ट श्लाइखर ने अपनी खोजों से भाषाविज्ञान को समुन्नत बनाया तथापि तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययनक्षेत्र को उसकी खोजों से हानि भी पहुँची। इसका कारण स्पष्ट है। वह अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन तथा उसकी सत्यता सिद्ध करने में इतना व्यस्त हो जाता था कि कभी-कभी वह तथ्य की भी परवाह नहीं करता था। उदाहरणार्थ जब कोई उसके सामने

पितृभाषा के ह्रास सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध कोई तथ्य उपस्थित करता था तो वह उसके लिए असह्य हो जाता था क्योंकि श्लाइख़र के अनुसार पितृभाषा स्वर्णयुग की विकाररहितपूर्ण भाषा थी। संस्कृत को वह पितृभाषा के अति समीप मानता था क्योंकि पितृभाषा के बाद वह उस अवस्था की भाषा थी जिसमें किंचित् ही विकार आया था। परवर्ती भाषाविज्ञानियों ने श्लाइख़र की इस मान्यता को असिद्ध कर दिया।

यहाँ पर दो अन्य भाषाविज्ञानियों का नामोल्लेख भी आवश्यक है। इनमें से एक "आगस्ट एफ० पॉट" (सन् १८०२-१८८७) तथा दूसरे "फ्रेड्रिक मैक्स-मूलर" (१८२३-१९००) हैं। पॉट के निधन पर मेक्समूलर ने उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए जो शोकोद्‌गार व्यक्त किया था वह अन्यत्र दिया जा चुका है। मैक्समूलर ने उस युग में भाषाविज्ञान पर जो भाषण दिया था उससे यह विज्ञान जनप्रिय बना। उसने अपने भाषणों में कितने बहुमूल्य तथ्यों का संग्रह किया था तथा उसके ये भाषण कितने प्रेरणा-दायक थे उसका अन्दाजा इस अनूदित पुस्तक के पढ़ने से सहज ही में लग जायगा।

१९वीं शताब्दी के मध्य में, सन् १८५५ ई० में एक युवक भाषाविज्ञानी "स्टिंथल" (सन् १८२५-१९००) ने एक ऐसे ग्रंथ का प्रणयन एवं प्रकाशन किया जिसमें व्याकरण, मनोविज्ञान एवं तर्कशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में विचार किया गया था। वास्तव में स्टिंथल पहला व्यक्ति था जिसने भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान के महत्व एवं उसके योगदान पर प्रकाश डाला था। यद्यपि भाषाविज्ञान के अभिनव इतिहास का आरम्भ स्टिंथल की इस कृति के प्रकाशन के पंद्रह वर्ष उपरान्त सन् १८७० में हुआ तथापि इस ग्रंथ के प्रकाशन से पुरानी विचारधारा के भाषाविज्ञानियों में काफी खलबली मची। उन्होंने युवक भाषाविज्ञानियों को व्यंग्य में "नव्यवैयाकरण" (जर्मन, 'जुंगग्रामा-तिकर', अंग्रेजी, 'यंगग्रामेरियन') कहना आरंभ किया। नव्यवैयाकरणों ने भाषाविज्ञान के अध्ययन में निम्नलिखित चार बातों पर विशेष बल दिया:—

**(१) जीवन्त भाषाओं का अध्ययन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना प्राचीन भाषाओं का।** यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि यूरोप में भाषाविज्ञान के अध्ययन का आरम्भ वहाँ संस्कृत के प्रवेश से हुआ था। इसके बाद संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से इसका क्षेत्र विस्तृत हुआ। उस युग में बोलचाल की जीवित भाषाओं के अध्ययन की ओर

किसी का ध्यान भी न था। नव्यवैयाकरणों ने इन भाषाओं के महत्व को प्रतिपादित करते हुए इनके अध्ययन पर बल दिया।

(२) **भाषा की उत्पत्तिविषयक समस्या का हल निकालना नितान्त कठिन है।** भाषाविज्ञान के अध्ययन के आरम्भिक युग का एक महान् प्रश्न भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना था। उन दिनों यह एक ज्वलन्त प्रश्न था और अधिकांश भाषाविज्ञानियों ने इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ अवश्य लिखा, किन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ विद्वानों को इस बात का अनुभव होने लगा कि उपलब्ध तथ्यों के आधार पर इस प्रश्न का समाधान नितान्त दुरूह है। एक बात जो इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है यह है कि भाषा की उत्पत्ति के विषय में उस युग में जो विचार व्यक्त किए जाते थे उनमें अधिकांश अनुमान पर आश्रित थे। इसका एक परिणाम यह होता था कि लोग उत्पत्तिविषयक प्रश्न को हल करने में इतने अधिक व्यस्त हो जाते थे कि भाषा सम्बन्धी अन्य तथ्यपरक कार्यों के सम्पन्न करने के लिए उन्हें समय ही नहीं मिल पाता था। पैरिस की लिंग्विस्टिक सोसाइटी ने तो १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण में यह नियम बना दिया था कि उसके तत्वावधान में होनेवाली बैठकों में कोई व्यक्ति भाषा की उत्पत्ति के विषय में चर्चा न कर सकेगा।

(३) **भाषा के भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार एक दूसरे से सर्वथा पृथक् है।** भाषा के उच्चारण में मनुष्य उच्चारणोपयोगी अवयवों से सहायता लेता है। समय की प्रगति से इन उच्चारणों में भी परिवर्तन आ जाता है। पुरानी पीढ़ी के भाषाशास्त्री इसे एक सर्वथा भौतिक प्रक्रिया मानते थे। किन्तु नव्यवैयाकरणों ने विचारपूर्वक यह सिद्ध किया कि उच्चारण के समय केवल उच्चारणोपयोगी अवयव ही सक्रिय नहीं रहते अपितु उस समय मानव मस्तिष्क भी सक्रिय रहता है। इन दोनों के सहयोग के बिना भाषा अस्तित्व में ही नहीं आ सकती। भाषा में जो भौतिक तत्वों का समावेश है उनका तो समुचित अध्ययन हो सकता है किन्तु उसके मनोवैज्ञानिक तत्वों का अध्ययन दुरूह है और उसके लिए कोई नियम भी नहीं बनाए जा सकते। भाषा में जो अपवाद मिलते हैं वे मनोवैज्ञानिक तत्वों के कारण ही होते हैं। मनोविज्ञान के आधार पर ही इन अपवादों की व्याख्या सम्भव है।

(४) **भाषा के विकास में सादृश्य का महत्वपूर्ण स्थान है।** मानव मस्तिष्क सदैव विविधता में एकता की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह समानवस्तुओं को एक समूह में रखने का प्रयत्न करता है और इसप्रकार भाषा के विकास में सादृश्य सतत क्रियाशील रहता है।

(५) भाषा के इतिहास पर बोलियों के सम्मिश्रण का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। कोई भी जाति बहुत दिनों तक अलग और अप्रभावित नहीं रह सकती। विविध जातियों का सम्मिश्रण आवश्यक है। अतीतकाल में भी ऐसा हुआ है और सम्मिश्रण की प्रक्रिया आज भी उसी रूप में चल रही है। जब जातियों का सम्मिश्रण होता है तो उसके परिणामस्वरूप उनकी बोलियों एवं भाषाओं का सम्मिश्रण भी अवश्यंभावी हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि **विश्व में कोई भी भाषा अथवा बोली विशुद्ध नहीं है।**

यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि नव्यवैयाकरण अपने इस सिद्धान्त पर अटल रहे कि "ध्वनिनियम अपवाद रहित होते हैं।" उनके अनुसार 'ध्वनि-नियम' में जो भी व्यत्यय दृष्टिगोचर होते हैं उनका एकमात्र कारण हमारा भाषा के इतिहास का अज्ञान है और ज्यों ही भाषा सम्बन्धी अभिनव एवं पूर्ण सामग्री प्राप्त हो जाती है त्यों ही वे अपवाद भी लुप्त हो जाते हैं। जिसप्रकार भाषाविद् तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग इस रूप में करते हैं कि वह पूर्णतः सही है उसीप्रकार नव्यवैयाकरणों ने यह कहना उपयुक्त समझा कि ध्वनिनियम पूर्णरूप से निर्दोष हैं और इनमें जो भी अपूर्णता दृष्टिगोचर होती हैं वह भाषा सम्बन्धी पूर्णज्ञान की उपलब्धि के बाद तिरोहित हो जाती है। आज यद्यपि हम ध्वनि नियम की सत्यता को स्वीकार करते हैं तथापि "लेस्कियन" की अलंकारात्मक भाषा से बचते हुए इसे सही रूप में इस तरह से कह सकते हैं कि समय एवं स्थान की सीमा में, एक ही अवस्था में, ध्वनिविशेष एक ही प्रकार से कार्य करती है।

नव्यवैयाकरणों ने वैज्ञानिक प्रणाली को दृढ़ता से अपनाने पर विशेष बल दिया था। उन्होंने विश्लेषण के लिए भाषा के केवल भौतिक पक्ष को ही ग्रहण किया था किन्तु इसके कारण उनकी अत्यधिक आलोचना भी हुई। इनके विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह था कि इनके अध्ययन का विशेष लक्ष्य भाषा का रूपमात्र था, उसका कार्य नहीं। इसप्रकार भाषा के अध्ययन को वे विशुद्ध विवरणात्मक रूप देने में संलग्न थे। आलोचकों के मतानुसार नव्यवैयाकरणों की अध्ययन-पद्धति शुद्धरूप से यांत्रिक थी और उसमें विद्वता के गुणों का अभाव था।

भाषाशास्त्र के आरंभिक अनुसंधानों में जो विचित्र कल्पनाएँ की गई थीं उनकी जब हम नव्यवैयाकरणों की वैज्ञानिक पद्धति से तुलना करते हैं तो यह बात समझ में नहीं आती कि उनके द्वारा स्वीकृत अभिनव एवं सुव्यवस्थित

पद्धति का चिन्तनशील विद्वानों ने क्यों विरोध किया ? इनमें से कुछ आलोचनाओं का कारण तो व्यक्तिगत राग-द्वेष था किन्तु सामान्यतया इसका अन्य कारण विद्वानों की यह आशंका हो सकती है कि नव्यवैयाकरण भाषा को मानव से पृथक् करने के प्रयास में हैं। इन आलोचकों का यह भी कथन था कि नव्य-वैयाकरणों के सिद्धान्तों का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि भाषा की स्वतंत्र सत्ता है तथा यह ऐसी यांत्रिक शक्तियों द्वारा परिचालित होती है जो मनुष्य के अधिकार के परे है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्चिम के दार्शनिक परंपरावादी विद्वानों के द्वारा उक्त सिद्धान्त की स्वीकृति सहज बात नहीं थी क्योंकि वे व्याकरण को तर्कशास्त्र का अनुगामी मानते थे।

नव्यवैयाकरणों के सिद्धान्तों एवं विचारों का सबसे तीव्र विरोध, इनके जन्मस्थान जर्मनी के बाहर यूरोप के अन्य स्थानों में हुआ। संयुक्तराज्य अमेरिका में आज भी नव्य-वैयाकरणों की परंपरा प्रभावशाली है। इसका कारण यह है कि यहाँ के विश्वविद्यालयों के अधिकांश भाषाविद् जर्मन परंपरा में दीक्षित हैं।

अब हमें ऐतिहासिक सर्वेक्षण की ओर पुनः लौटना है। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भाषा के सिद्धान्तों एवं ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषाशास्त्र का विशेष अध्ययन सम्पन्न हुआ। उदाहरणार्थ सन् १८८० ई० में 'हरमनपॉल' के "भाषाशास्त्र के इतिहास" का प्रकाशन हुआ जिसमें भाषा के परिवर्तन का अध्ययन सर्वाधिक पूर्णता के साथ सम्पन्न हुआ था। इसमें ध्वनिसादृश्य एवं अर्थ संबंधी परिवर्तनों का अनेक उदाहरणों के साथ विश्लेषण किया गया था।

सन् १८८६ ई० में 'कार्लब्रुगमान' तथा 'डेलब्रुक' कृत भारोपीय के तुलनात्मक व्याकरण का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। वास्तव में यह ग्रंथ भाषाशास्त्र के इतिहास में कीर्तिमान स्थापित करने वाला था। यह आज भी प्रामाणिक माना जाता है। बाद में, भारोपीय के सम्बन्ध में जो अध्ययन हुआ उसके परिणामस्वरूप इसमें अनेक भूलें मिलीं। अनेक शब्दों एवं धातुओं की व्युत्पत्ति तो इसमें विशुद्ध अनुमान के आधार पर दी गई थी। इन त्रुटियों के होते हुए भी इसमें इतने अधिक उदाहरण उपलब्ध हैं कि ये भविष्य के अध्येताओं के लिए बड़े काम के है। नवीन ज्ञान के प्रकाश में इधर कार्ल ब्रुगमान की अनेक अशुद्धियों का परिशोधन भी हुआ है।

'हरमन हर्ट' कृत भारोपीय व्याकरण की एक अन्यकृति का उल्लेख भी यहाँ

आवश्यक है। इसका प्रकाशन सन् १९२१ ई०-१९३७ ई० में 'हाइडेलबर्ग' से सात भागों में हुआ था। यद्यपि इस कृति की अत्यधिक आलोचना हुई फिर भी भारोपीय के अध्ययन को अग्रसर करने में इससे विशेष बल मिला।

इस युग के सबसे बड़े विद्वान् 'सॉरबोन' विश्वविद्यालय के 'अन्तोने मेइये' थे, जिनके द्वारा लिखित "भारोपीय के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका" आज भी इस क्षेत्र का आकर ग्रंथ है। इसका तृतीय संस्करण सन् १९१२ ई० में हुआ था। यह सर्वाधिक पूर्ण ग्रंथ है।

यूरप तथा अमेरिका में आज भी भारोपीय का अध्ययन विधिवत् चल रहा है। अमेरिका में तो इधर इस अध्ययन का पुनरुत्थान हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि भाषाशास्त्र के अध्ययन में यह विषय अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसके लिए लैटिन, संस्कृत एवं ग्रीक के अतिरिक्त भारोपीय परिवार की किसी एक भाषा का विशिष्ट ज्ञान भी अपेक्षित है।

भारोपींय के अध्ययन से उपलब्ध तुलनात्मक एवं पुनर्निर्माण प्रणाली का प्रयोग आज अमेरिका के आदिवासियों की भाषा के अध्ययन में अत्यन्त सफलतापूर्वक किया जा रहा है। 'एडवर्ड सापिर', 'ब्लूमफील्ड' एवं 'मेरीहास' ने उत्तरी अमेरिका की आदिवासियों की बोलियों के अध्ययन के लिए इस प्रणाली का सफलता से प्रयोग किया है।

इधर 'येल' विश्वविद्यालय के आचार्य श्री 'आइसिडोर डायन', इसी प्रणाली की सहायता से 'मैलेपालिनीशियन' भाषा के वर्गीकरण में संलग्न हैं। इस भाषा समूह के अन्तर्गत लगभग पाँच सौ भाषाएँ तथा बोलियाँ आती हैं, जो अत्यन्त जटिल हैं।

इधर एक अन्य विषय "कोशीय अंकशास्त्र" (लेक्सिको स्टेटिस्टिक्स) का प्रयोग भी भाषाओं के अध्ययन के संदर्भ में प्रचलित हुआ है। यह सिद्धान्त अभी भी विवाद का विषय है।

तुलनात्मक प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा भाषा परिवर्तन के समय अथवा काल का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, केवल पूर्व एवं पर संबधों का ज्ञानमात्र हो जाता है। इस प्रणाली के द्वारा जो कालनिरूपण होता है वह सापेक्षिक होता है। उदाहरणार्थ हमें यह ज्ञात है कि जर्मन तथा अंग्रेजी दोनों भाषाएँ एक ही प्राचीन भाषा से, प्रसूत हुई हैं किन्तु आज यह कहना कठिन है कि स्वतंत्र भाषा के रूप में ये दोनों कब अस्तित्व में आईं?

सन् १९५० ई० के प्रारंभ में अमेरिका के नृविज्ञानी एवं भाषाशास्त्री 'मॉरिस स्वेडिश' (जन्म १९०९) ने भाषाओं के कालनिरूपण एव पारस्परिक सम्वन्ध के ज्ञान के लिए एक प्रणाली का आविष्कार किया जो 'भाषीय-कोष अंकशास्त्र' ('लेक्सिको स्टैटिस्टिक्स') अथवा 'भाषा-कालनिर्णय-प्रणाली' (='ग्लाटोक्रॉनोलोजी') के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में ऐतिहासिक तुलनात्मक में यह एक अत्य त महत्वपूर्ण खोज है। इसका आधार रसायनशास्त्र है तथा इसका प्रयोग नृ-विज्ञान एवं पुरातन-इतिहास में, कालनिर्णय के लिए किया जाता है। वहाँ इसे 'कार्बनडेटिंग' कहते हैं। प्रोफेसर स्वेडिश ने इसी से प्रेरणा प्राप्त करके अपनी खोज की। आपने एक ऐसी प्रणाली खोज निकाली जिससे शब्द के जीवनकाल का पता चल जाता है। आपने यह प्रणाली निम्नलिखित रूप में विकसित की।

स्वेडिश ने सर्वप्रथम इसके लिए एक ऐसी भाषा को चुना जिसमें प्राचीनकाल से लिखित रूप में साहित्यिक सामग्री उपलब्ध थी। इससे आपने दो सौ (बाद में एक सौ) शब्दों की सूची तैयार की। इन शब्दों को आपने उस प्राचीन भाषा के शब्द-समूह में से सार-भूत शब्दों के रूप में ग्रहण किया। स्वेडिश ने जब इन शब्दों का, सम्बन्धित भाषाओं में, कालक्रम से अध्ययन प्रारंभ किया तो देखा कि कई सौ वर्षों के बाद इन शब्दों के कुछ प्रतिशत लुप्त हो जाते हैं। इस अध्ययन क्रम में आपको इस बात का भी पता चला कि सभी भाषाओं में शब्द लोप का निरूपित-अंश समान है। प्रतिशत की दृष्टि से हिसाब लगाने पर प्रो० स्वेडिश को ज्ञात हुआ कि पितृ-भाषा से विच्छिन्न होने के बाद, एक हजार वर्ष की अवधि में, किसी भाषा विशेष में, इस सारभूत शब्दावली के ८१% शब्द सुरक्षित रहते हैं; पुनः आगे के एक हजार वर्ष में उस भाषा की ८१% की ८१% सारभूत शब्दावली सुरक्षित रहती है। यही गणितीय क्रम आगे भी चलता है। इसके विपरीत, जब हम आधुनिक भाषा की ओर से प्राचीन भाषा की ओर बढ़ते हैं, अर्थात् जब हम विपरीत ढंग से गणना करते हैं तो ज्ञात होता है कि यदि दो सम्बन्धित भाषाओं में ६६%सारभूत शब्दावली समान है तो पितृभाषा से दोनों के पार्थक्य का समय एक हजार वर्ष है। इसप्रकार आगे बढ़ते हुए हम पितृभाषा से पार्थक्य के काल का ज्ञान कर पाते हैं।

प्रोफेसर 'स्वेडिश' की ऊपर की प्रणाली का वास्तविक मूल्यांकन आज भी कठिन है और अभी भी यह विवादास्पद है कि इसे प्रणाली के रूप में ग्रहण करना कहाँ तक उचित है। इस प्रणाली में सबसे बड़ी कठिनाई दो सौ सारभूत शब्दों के चयन की है। आशा है, भविष्य में, इस फारमूले में आवश्यक सुधार

हो जायेगा और परिवर्तन परिवर्द्धन के पश्चात् यह ऐसा बन जायेगा जिससे कि दो सम्बन्धित भाषाओं के विच्छिन्न होने के काल का निर्णय सम्यक् रूप से किया जा सके।

यदि उन्नीसवीं शताब्दी ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषाशास्त्र का स्वर्ण-युग था तो बीसवीं शताब्दी के काल को वर्णनात्मक (=डिस्क्रिप्टिव) भाषा-शास्त्र के विकास का युग कहा जा सकता है। इस वर्णनात्मक भाषाशास्त्र की परिभाषा "विल्हेमवान हम्बोल्ट" के शब्दों में इसप्रकार है :--"वास्तव में यह भाषा के उस रूप का विश्लेषण है जो स्पष्ट उच्चरित रूप में हमें प्राप्त होता है।" सम्प्रति भाषा का अध्ययन, उसकी गठन (structure) की दृष्टि से होता है। अब यहाँ गठनात्मक भाषाशास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में विचार किया जाता है।

गठनात्मक भाषाशास्त्र को वास्तविक रूप देने वाला तथा इसके सिद्धान्त को विकसित करने वाला इस युग का सबसे प्रतिभाशाली विद्वान् स्विटज़रलैण्ड निवासी "फर्डिनेण्ड डी सस्योर" (१८५७-१९१३) था। उसके निधन के बाद उसके दो शिष्यों, 'चार्ल्स बेली' तथा 'अलबर्ट सेच हे' ने उसके भाषणों को एकत्र एवं सम्पादित करके उसे सन् १९१६ में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित कराया। इसके बाद सन् १९५९ में इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। डी सस्योर ने भाषा-शास्त्र की सबसे बड़ी सेवा यह की कि उसने भाषा की प्रकृति को यथार्थरूप में समझने का प्रयास किया। उसने अपने अनेक भाषणों में इसे स्पष्ट किया तथा भाषा की परिभाषा अत्यन्त सावधानी से दी। उसका यह महनीय और प्राथमिक योगदान निम्न रूप में द्रष्टव्य है--

कल्पना किया कि 'क' तथा 'ख' दो व्यक्ति एक दूसरे से वार्तालाप करने में संलग्न हैं। पुनः यह कल्पना किया कि वार्तालाप के चक्र का समारम्भ 'क' से होता है जहाँ मानसिक तथ्य (=कन्सेप्ट=प्रत्यय) उन भाषीय ध्वनियों (ध्वनि-चित्रों) के वेष में सहचर के रूप में वर्तमान है जिनके द्वारा उनका प्रकाशन होता है। एक प्रत्यय विशेष मस्तिष्क में तदनुरूपी ध्वनिचित्र उद्घाटित करता है। इस विशुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के साथ शरीर में क्रियात्मक प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है। मस्तिष्क, ध्वनि उत्पन्न करने वाले अवयवों में मनो-वेग के अनुरूप चित्र को संचारित करता है। तब 'क' के मुख से ध्वनि-तरंग आरंभ होकर 'ख' के कर्ण कुहरों में प्रविष्ट करती है, यह विशुद्ध शरीर क्रियात्मक प्रक्रिया होती है। इसके बाद यह 'चक्र' 'ख' में परिचालित रहता है किन्तु इसकी

प्रक्रिया नितान्त विपरीत हो जाती है। यह कर्ण से मस्तिष्क की ओर चलता है और तदुपरान्त यह ध्वनिचित्र क्रियात्मक प्रक्रिया रूप में संचरण करता है। पुनः मस्तिष्क में इस चित्र का मनोवैज्ञानिक साहचर्य तदनुरूप प्रयत्न के साथ होता है।

ऊपर के विवरण से भाषा की प्रकृति के संबंध में कतिपय तथ्य स्पष्ट सामने आ जाते हैं और उनके साथ ही कई प्रश्न भी उठते हैं। इनमें से एक प्रश्न यह है कि क्या प्रयत्य भाषा के उपादान हैं? उसका उत्तर नकारात्मक है। क्योंकि प्रत्यय क्रियाहीन एवं विशुद्ध मनोवैज्ञानिक होते हैं। वास्तव में प्रक्रिया का वह रूप जिसे हम उच्चरित होते समय प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करते हैं, भाषा का उपादान होता है। इस संबंध में पुनः दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में यही भाषा है? उसका भी उत्तर है, नहीं, क्योंकि यह ध्वनि-मात्र हो सकती है, उच्चरणोपयोगी शरीरावयवों द्वारा उच्चरित निरर्थक ध्वनि हो सकती है। किसी भी ध्वनि को सार्थक होने के लिए उसका प्रत्यय से संयोग या संबंध होना चाहिए और इस संबंध को ही 'सस्योर' भाषा का सारतत्व मानता है। **वास्तव में भाषा विचार तथा ध्वनि को जोड़ने वाली कड़ी है।**

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्योर ने विचार एवं प्रत्यय की एकता को कार्यरूप में अनुभव किया, वस्तु रूप में नहीं। इस एकता के परिणाम-स्वरूप जो भाषीयतत्व प्रादुर्भूत होता है वह उसी अंश तक अर्थवान् रूप होता है जिस अंश तक वह ध्वनि एवं प्रत्यय को संयुक्त करता है। सस्योर व्यक्त (signified) एवं व्यक्तकर्ता (signifier) के साहचर्य से व्युत्पन्न तत्व को भाषीय-प्रतीक (Linguisticsign) मानता है। चूँकि सस्योर के अनुसार, भाषाशास्त्र का कार्य इस प्रतीक का भली-भाँति अध्ययन करना है, अतएव भाषाशास्त्रियों को इसकी प्रकृति के संदर्भ में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सस्योर ने इस प्रतीक को यादृच्छिक माना है। यादृच्छिकता से उसका तात्पर्य यह था कि यह प्रतीक प्रवृत्ति-रहित (unmotivated) होता रहता है। इसके ध्वन्यात्मक अनुक्रम में कोई आंतरिक संबंध नहीं होता। यह एक विचित्र बात है कि शब्द की यह यादृच्छिकता ही उसे शाश्वत अथवा अपरिवर्तनीय रूप देती है। यद्यपि शब्द एवं उसके द्वारा घोषित वस्तु में कोई समवाय सम्बन्ध नहीं है। फिर भी प्रत्येक भाषा की अपनी शब्दावली होती है। अतएव व्यक्त एवं व्यक्तकर्ता में किसी प्रकार का युक्तियुक्त संबंध मानना निरर्थक है। क्या कोई ऐसा भी कारण है कि हम सौर्यमण्डल के केन्द्र में सूर्य की स्थिति न स्वीकार

करें ? यह तर्क करते हुए सस्योर कहता है कि प्रतीक शाश्वत बन जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इसके अन्य कारण भी हैं। ये हैं--भाषा की शब्दावली की विशालता, उसके गठन की जटिलता जो अत्यधिक अध्ययन के बाद ज्ञात होती है तथा भाषा की विचित्र जड़ता। इनके अतिरिक्त भाषा सार्वजनिक सम्पत्ति है और कुछ लोग चाहते हुए भी इसमें परिवर्तन नहीं कर सकते। भाषा के संबंध में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है कि इसकी जड़ें अतीत में रहती हैं और वे बहुत मजबूत होती हैं। भाषा को हम अपने पूर्वजों से प्राप्त करते हैं और इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई दूसरा उपाय नहीं है, क्योंकि बहुत चाहते हुए भी हम इसमें अपनी इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते। चूँकि भाषा के प्रतीक यादृच्छिक हैं अतएव परम्परा के अतिरिक्त यह अन्य किसी के द्वारा शासित नहीं होती और चूँकि यह परंपरा पर आधारित है अतएव यह यादृच्छिक है।

फिर भी शब्द के रूप एवं अर्थ में परिवर्तन होता है। इसका क्या कारण है। इसे स्पष्ट करते हुए सस्योर कहता है, कि यह इसलिए होता है कि व्यक्त (Signified) तथा व्यक्तकर्ता (Signifier) में जो बन्धन है वह किसी प्रकार शिथिल हो जाता है। उदाहरणार्थ पुराने जर्मन में एक तिहाई के लिए एक शब्द था--Dritteil (अर्थात् Drit – teil=तीसरा भाग); आधुनिक जर्मन में अब यह शब्द drittel बन गया है। यद्यपि यहाँ प्रत्यय (= Concept) में कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु संबंध में परिवर्तन हो गया। यह Drittel एक अन्य ध्वन्यात्मक रूप ही नहीं बन गया है अपितु यह toil (अंश) या 'भाग' संज्ञा शब्द से पूर्णतया पृथक् हो गया है। अब यह एक पृथक् शब्द ही बन गया है। यदि सस्योर के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यहाँ व्यक्तकर्ता एवं व्यक्त के संबंध में जो परिवर्तन हुआ है उससे इस भाषीय प्रतीक (Linguistic sign) के मूल्य (value) में भी परिवर्तन आ गया है। भाषा में एक प्रत्यय के लिए जो नाम है तथा उसका जो मूल्य है इन दोनों में सस्योर भेद स्थापित करता है। जहाँ प्रत्यय का संबंध केवल एक ध्वनिचित्र से होता है वहाँ इसके मूल्य का निर्धारण भाषा में उपलब्ध सम्पूर्ण शब्दावली के साथ उसके संबंध से होता है। उदाहरणार्थ --'Sheep' (भेड़) के लिए स्पेनिश भाषा में Carnero तथा फ्रेंच में 'mouton' शब्द मिलते हैं। इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है किन्तु इनका मूल्य एक ही नहीं है क्योंकि अंग्रेजी Sheep से जीवित पशु से तात्पर्य है किन्तु इसमें Mutton शब्द का प्रयोग

पके हुए मांस के लिए किया जाता है। स्पेनिश एवं फ्रेञ्च में, इन दोनों शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। जहाँ तक अंग्रेजी का सम्बन्ध है, इस पशु के लिए वहाँ दो शब्द--Sheep तथा Mutton हैं किन्तु स्पेनिश तथा फ्रेंच में यद्यपि अर्थ वही हैं जो अंग्रेजी Sheep का है किन्तु दोनों के मूल्य विभिन्न हैं। यही बात हिन्दी चावल शब्द में है। भोजपुरी में कूटे हुए कच्चे धान को चावल कहते हैं किन्तु जब इसे उबाल लेते हैं तो यह भात कहलाता है, किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी में कच्चे तथा उबाले हूए दोनों को चावल ही कहते हैं। इसप्रकार यहाँ भी अर्थ एवं मूल्य का अंतर स्पष्ट है।

सस्योर ने इस मूल्य के सिद्धान्त को केवल भाषा के प्रणत्यययात्मक पक्ष में ही प्रयुक्त नहीं किया बलिक उसने इसे भाषा के भौतिक पक्ष में भी व्यवहृत किया है। जिसप्रकार प्रतीक या चिह्न (Sign) का प्रत्ययात्मक मूल्य भाषा में उपलब्ध सभी प्रतीकों के संबंध से निर्धारित होता है उसीप्रकार ध्वनियों की विशेषता इस बात में होती है कि वे एक दूसरे से स्वतन्त्र अथवा पृथक् हैं। ध्वनिग्राम वास्तव में परस्पर विरोधी, सापेक्षिक एवं विपरीतार्थक तत्व हैं। सस्योर के अनुसार भाषा भाषीय विपरीतार्थक तत्वों की प्रक्रिया मात्र है। ये विपरीतार्थक तत्व सम्बन्धों के साँचे (पैटर्न) का निर्माण करते हैं और इसका अध्ययन ही भाषाशास्त्र है। भाषाशास्त्र के विषय का स्पष्टीकरण करते हुए सस्योर ने उच्चार (फ्रेंच) Parole=Utterance) तथा भाषा (फ्रेञ्च) Langue=Language) का भी अंतर स्पष्ट किया है।

भाषा के अस्तित्व में दो तत्व होते हैं। इनमें से एक है --जीवित भाषा का प्रवाह। यह व्यक्तिगत भाषा है--प्रत्येक मनुष्य वास्तव में अपनी भाषा बोलता है। भाषा के इस तत्व को सस्योर ने 'उच्चार' या 'पेरोल' कहा है। यह भौतिक सत्य है तथा प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है; किन्तु भाषा का एक दूसरा पक्ष भी है जिसे सस्योर ने 'लैंग्वे' (लैंग्वेज =भाषा) नाम से अभिहित किया है। जब हम 'बँगला', 'फ्रेंच', 'जर्मन', 'तमिल', 'हिन्दी' भाषा कहते हैं तो हमारा भाषा से तात्पर्य होता है। 'भाषा' (= 'लैंग्वे') एक अमूर्त भाषीय प्रणाली है जिसका व्यक्ति बोली (=पैरोल) से पृथक् अस्तित्व होता है। **यह स्थिर व्यक्ति से परे एवं सामान्य वस्तु है।** इसे बोलनेवाला न तो कोई एक व्यक्ति उसे उत्पन्न कर सकता है और न इसमें परिवर्तन ही ला सकता है। (इसके विपरीत भी कतिपय तथ्य उपलब्ध हैं किन्तु वे अपवाद स्वरूप हैं)। वास्तव में भाषा (=लैंग्वे) को कोई नहीं

बोलता। यह भाषीय तत्त्वों का समष्टि रूप होती है और यह किसी क्षेत्र की समस्त बोलियों से प्रादुर्भूत होती है। यह सामाजिक वस्तु है तथा इसका अस्तित्व सामाजिक संस्थान के रूप में होता है। यही कारण है कि भाषा सदैव समाज के साथ-साथ चलती है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि भाषा का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध भी समयापेक्षित है। चूँकि भाषा मूल्यों की पद्धति से निर्मित होती है, अतएव इसका अध्ययन उसी समाज के परिवेश में किया जा सकता है जिसने उन मूल्यों को निर्धारित किया है। इस विचार से सस्योर को भाषा-शास्त्र के दो रूपों, "स्थैतिक" ('स्टैटिक'='एककालिक' या 'संकालिक') तथा 'वैकसिक' (डायक्रानिक=द्वैकालिक अथवा ऐतिहासिक) में भेद करने का मार्ग प्रशस्त किया।

एककालिक भाषाशास्त्र समय के एक ही स्तर पर भाषा सम्बन्धी व्यापारों का अध्ययन करता है किन्तु द्वैकालिक भाषाशास्त्र समय के क्रमिक स्तरों के अनुसार भाषा सम्बन्धी व्यापारों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इनमें से प्रथम वर्णनात्मक अध्ययन है तो दूसरा ऐतिहासिक। सस्योर का यह दृढ़ मत है कि इन दो विभिन्न धरातलों वाले भाषाशास्त्र में, एक ही प्रणाली से खोज नहीं की जा सकती अतएव दोनों तरह के भाषाशास्त्रों की सीमा अत्यन्त सावधानी से निर्धारित की जानी चाहिए।

उदाहरणस्वरूप ध्वनि संबंधी परिवर्तन का अध्ययन द्वैकालिक अथवा ऐतिहासिक धरातल पर होना चाहिए। तथ्य की बात यह है कि ध्वनि संबंधी परिवर्तन ऐतिहासिक व्यापार है। इस परिवर्तन की गति स्वाभाविक होती है तथा इसमें कई पीढ़ियों का योगदान होता है। प्रत्येक प्रणाली एक ही सामान्य ध्वनि प्रणाली का प्रयोग करती है किन्तु किसी को यह अनुभव नहीं होता कि कुछ ध्वनि समूह अपने पूर्व मानक से पृथक् जा रहे हैं। पुरानी अंग्रेजी का (Stan) 'पत्थर' आधुनिक अंग्रेजी में 'Stone' बन गया है। इसीप्रकार संस्कृत के 'कर्म' तथा 'भक्त' शब्द आज हिन्दी में 'काम' तथा 'भात' बन गए हैं किन्तु परिवर्तन की गति इतनी क्रमिक थी कि किसी भी पीढ़ी को यह ज्ञात नहीं हुआ कि सचमुच यह परिवर्तन हो रहा है। दूसरी ओर संकालिक व्यापार सदैव महत्त्वपूर्ण होते हैं और ये दो या दो से अधिक गठनात्मक या कोषीय सम्भावनाओं में से चुनाव की ओर संकेत करते हैं, ये मूल्य में परिवर्तन प्रदर्शित करते हैं।

भाषाशास्त्र सम्बन्धी परवर्ती सिद्धान्तों पर सस्योर की खोजों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। पश्चिमी देशों में गठनात्मक भाषाशास्त्र की जो इतनी अधिक चर्चा है उसका कारण भी सस्योर ही है। इसके मूल्यों के अध्ययन ने तो विद्वानों को भाषा के क्षेत्र में नवीन खोजें करने के लिए प्रेरणा प्रदान की। उसने दो प्रकार के मूल्य सम्बन्ध में भेद दिखलाया। इनमें से एक तो वह है जो भाषा के शब्दों के उस रैखिक अनुक्रम पर आधारित है जो उसे उच्चरित करते समय उत्पन्न होते हैं। दूसरा मूल्य उस अर्थ सम्बन्धी साहचर्य से उत्पन्न होता है जिसके आधार पर शब्दों को समान जातीय समूह में वर्गीकृत किया जाता है। रैखिक आधार की संरचना का नाम सस्योर ने 'सिगटैग्म' (Syntagms) दिया है। भाषा में वार्तालाप करते समय उच्चरित भाषा में से इनकी उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर अर्थ-सबंधी सम्बन्ध वास्तव में भाषीय न होकर मनोवैज्ञानिक होता है। इसका मूल्य मानसिक सामञ्जस्य पर निर्भर करता है। इसप्रकार के सम्बन्ध को सस्योर ने संयवक (ऐसोसियेटिव) कहा है।

चूँकि संयवक सम्बन्ध का आधार मनोवैज्ञानिक है अतएव अमेरिका के अनेक भाषाशास्त्री इसे भाषाशास्त्र की सीमा के बाहर की वस्तु मानते हैं। गठन सम्बन्धी सिद्धान्त को भाषाशास्त्रियों ने शब्दावली के अध्ययन में भी लागू किया जिससे नवीन खोजें सम्भव हो सकीं। इनमें 'लिंग्विस्टिक फील्ड का सिद्धान्त' है।

इस सिद्धान्त का बीज जर्मन भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक हम्बोल्ट (१७६७-१८३५) के विचारों में मिलता है। हम्बोल्ट के अनुसार मनुष्य अपने चारों ओर के संसार में मुख्यतया उसी रूप में रहता है जिस रूप में भाषा इसे प्रस्तुत करती है। हम्बोल्ट ने तर्क आदि से पुष्ट करते हुए इस सम्बन्ध में एक दूसरा वक्तव्य दिया कि भाषा वस्तु (Thing) नहीं है अपितु यह क्रियाशीलता (Activity) है। यह बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति है। अतएव किसी संस्कृति को समझने के लिए इस बात की जानकारी आवश्यक है कि किसी भाषा के शब्दों की जीवन्त शक्ति ने उसके बोलनेवालों के चारों ओर के संसार का निर्माण किस रूप में किया है।

हम्बोल्ट ने इस सम्बन्ध में किसी टैकनीक का निर्माण नहीं किया किन्तु उनके विचारों ने आगे चलकर नवीन विचारों को जन्म दिया। सस्योर ने भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह भाव व्यक्त किया कि भाषा, क्रिया

(function) है, न कि रूप (form)। सम्भवतः इस पर हम्बोल्ट के प्रसिद्ध प्रबन्ध "भाषा की गठन प्रकृति तथा मनुष्य के बौद्धिक विकास पर उसका प्रभाव" का असर पड़ा था। वास्तव में सस्योर ही वह व्यक्ति था जिसने भाषा के कार्य की खोज की प्रणाली का अन्वेषण किया। यह खोज 'गठन प्रणाली' सम्बन्धी थी। जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं, सस्योर केवल रूप के संयोजन का ही अध्ययन नहीं करना चाहता था अपितु वह प्रत्यय का भी अध्ययन करना चाहता था। सस्योर के इस विचार तथा हम्बोल्ट के दार्शनिक विचारों की ओर अनेक शोधकर्ता आकृष्ट हुए जिनमें से अधिकांश जर्मन थे। इन्होंने प्रत्यय के ढाँचे के अध्ययन की प्रणाली अथवा टेकनीक का आविष्कार किया जो 'फील्ड सिद्धान्त' के नाम से प्रचलित हुआ।

यूरप में आविष्कृत इस सिद्धान्त (फील्ड सिद्धान्त) से बेंजामिन ली ह्वर्फ (१८९७-१९४१) द्वारा प्रणीत सिद्धान्त की तुलना की जा सकती है। ह्वर्फ के इस सिद्धान्त का नाम भाषीय-सापेक्षता (Linguistic Relativity) है। इसके अनुसार वास्तविकता (Reality) के सम्बन्ध में मनुष्य के विचार अधिकांशतः उसकी भाषा के ढाँचे अथवा साँचे से निर्धारित होते हैं। ह्वर्फ ने इसके स्पष्टीकरण के लिए अमेरिका के आदिवासियों की विविध बोलियों से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

सस्योर से अंशतः प्रेरणा प्राप्त करके भाषाशास्त्र सम्बन्धी एक अभिनव विचारधारा का समारम्भ हुआ जो 'प्राहा-सर्किल' के नाम से प्रख्यात है। इसका विशष विवरण 'भाषा विज्ञान के प्राहा स्कूल' शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।

## भाषाविज्ञान का प्राहास्कूल

भाषाविज्ञान के प्राहास्कूल का समारम्भ इसकी प्रथम बैठक ६ अक्टूबर सन् १९२६ से हुआ, किन्तु इसके पूर्व जिन विद्वानों ने प्राहा में भाषाशास्त्र के अध्ययन की पृष्ठभूमि तैयार की थी उनमें "विलेम मैथिसियस" का नाम उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् १८८२ ई० में 'पारडुविचे' (बोहेमिया) में हुआ था तथा इनकी शिक्षा प्राहा के 'केरोलिना' विश्वविद्यालय में हुई थी। यहीं पर सन् १९०९ में आपकी नियुक्ति प्राध्यापक और सन् १९१२ में अंग्रेजी के प्रोफेसर के रूप में हुई थी। आपके अध्ययन के विषय अंग्रेजी साहित्य का इतिहास एवं सामान्य भाषाविज्ञान थे।

प्राहास्कूल की स्थापना के पूर्व आपने भाषाविज्ञान के 'एककालिक' अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आर्कषित किया था। इस सम्बन्ध में आपने

सन् १९११ ई० में 'चेकोस्लोवेकिया' की विद्वत् परिषद् के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था। दुर्भाग्यवश आपका यह भाषण अंग्रेजी भाषा में होने के कारण बहुत समय तक अज्ञात रहा। आपके इस भाषण को बहुत बाद में प्राहा स्कूल के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी रोमन याकोब्सन ने अनूदित करके प्रकाशित कराया था। इसकी प्रशंसा करते हुए याकोब्सन ने लिखा है--"यदि यह भाषण कहीं मास्को में दिया गया होता तो भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति हो गई होती। प्राहास्कूल की स्थापना के पश्चात् 'मैथिसियस' इसके प्रतिष्ठापक सदस्य एवं सभापति बने। सन् १९४५ ई० में आपकी मृत्यु हो गई।

प्राहास्कूल के संस्थापकों में, दो अन्य रूसी विद्वानों, "राजकुमार निकोलाइ सरगे विच त्रुबेस्क्वाय" एवं "रोमन ओसिपोविच याकोब्सन" के नाम गौरव के साथ लिए जाते हैं। अतएव इन दोनों विद्वानों का संक्षिप्त जीवन चरित यहाँ दिया जाता है।

राजकुमार निकोलाइ त्रुबेस्क्वाय का जन्म १६ अप्रैल सन् १८९० ई० में मास्को नगर में हुआ था। आपके पिता मास्को विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर रह चुके थे तथा त्रुबेस्क्वाय ने दर्शनशास्त्र का ज्ञान अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। अपने इस ज्ञान का प्रयोग उन्होंने भाषा विज्ञान के अध्ययन में किया। रूस की राज्यक्रान्ति के पश्चात् त्रुबेस्क्वाय को अपने देश से निर्वासित होना पड़ा था। आप 'रोस्टोव', 'सोफिया' एवं 'वियना' विश्वविद्यालयों में, सन् १९२३ ई० में 'स्लाव फिलॉलोजी' के प्रोफेसर थे। रोमन याकोब्सन की मैत्री एवं उनकी ध्वनि-अध्ययन सम्बन्धी प्रणाली के अध्येता के रूप में आपका प्राहास्कूल से सम्बन्ध स्थापित हुआ था और आगे चलकर आप इस स्कूल के एक प्रतिष्ठिापक सदस्य बन गए। नाज़ी आक्रमण के परिणामस्वरूप २५ जून सन् १९३८ ई० में आपका निधन हो गया। आप 'स्लाव', 'फिन्नोउग्रीय' एवं काकेशीय भाषाओं के साहित्य के पंडित थे।

रोमन आसिपोविच याकोब्सन का जन्म मास्को में ११ अक्टूबर, सन् १८९६ ई० में हुआ था। आपने सन् १९२४ ई० में मास्को के प्राच्यविद्या विभाग एवं सन् १९१८ ई० में मास्को विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की थी। सन् १९१५-१७ ई० में आपने 'रूस की सायन्स एकेडेमी' के तत्वावधान में 'बोली विज्ञान' एवं 'लोकसाहित्य' के क्षेत्र में कार्य किया। सन् १९१८ से १९२० ई० तक आपने मास्को विश्वविद्यालय में सहायक शोध-कर्त्ता के रूप में कार्य किया था। आप पर रूस के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी 'बाउ-

डिन दी कुर्तिने', 'फार्चुनेतोव' तथा एल० वी शेरबा का विशेष प्रभाव था। सन् १९२० ई० में आप प्राहा चले आए जहाँ से आपने सन् १९३० ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९३३ से १९३९ ई० तक आपने 'चेकोस्लोवेकिया' के 'ब्रनो' विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के प्रोफेसर रहे। जब चेकोस्लोवेकिया पर नाज़ी लोगों का अधिकार हो गया तो आप डेनमार्क एवं नार्वे चले गए और अन्त में यूरोप छोड़कर अमेरिका में जा बसे। कुछ दिनों तक आपने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक भाषाशास्त्र एवं स्लाव भाषा पर भाषण दिए। किन्तु सन् १९४९ ई० से आप हार्वर्ड विश्वविद्यालय में स्लाव भाषा एवं साहित्य के प्रोफेसर बन गए। आज भी आप इसी पद पर कार्य कर रहे हैं।

ऊपर के दो विद्वानों के अतिरिक्त प्राहास्कूल के तीन अन्य ऐसे भाषाविद् हैं जिनके जीवन के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। ये हैं (१) सर्गे आइसिफोविच कर्चवस्की (२) ब्लाडिमिर-स्कलिश्का एवं (३) ट्रंका बोहुमिल।

(१) सर्गे आइसिफोविच कर्चवस्की का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था। वे रूसी भाषाविद् हैं। इन्होंने जेनेवा में अध्ययन किया। आप अपने भाषा सम्बन्धी विचारों में 'जेनेवा' स्कूल से सर्वाधिक प्रभावित थे। बीसवीं शती के मध्यभाग में आप 'प्राहा' पहुँचे और इसकी सदस्यता ग्रहण की। सन् १९५५ ई० में आपका निधन हुआ।

(२) ब्लाडिमिर-स्कलि का का जन्म सन् १९०९ ई० में प्राहा में हुआ था। आपकी स्नातकोत्तर शिक्षा भी प्राहा विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई थी, जहाँ बाद में आप 'उग्रोफिन्नीय' भाषाशास्त्र के आचार्य नियुक्त हुए। द्वितीय महायुद्ध के अनन्तर आप इसी संस्थान में सामान्य भाषाविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त किए गए। आप प्राहास्कूल के एक सम्मानित सदस्य के रूप में विख्यात रहे।

(३) ट्रंका बोहिमिल का आविर्भाव बोहेमिया स्थित हुम्पोलेक के निकट क्लेटे ना नामक स्थान में हुआ था। आपकी शिक्षा भी प्राहा विश्वविद्यालय में ही सम्पन्न हुई थी। आप मैथिसिमसके शिष्य थे और प्राहा में अवस्थित कैरोलिन वि-वविद्यालय के प्राध्यापक थे। इन्हें भी 'प्राहास्कू ल' के प्रतिष्ठापक होने का गौरव प्राप्त है।

## प्राहास्कूल का क्लासिकल युग

प्राहास्कूल का यह युग सन् १९२९ ई० से १९३९ ई० तक था। इस अवधि में इस स्कूल के विद्वानों ने भाषाविज्ञान सम्बन्धी अनेक नये तत्वों की खोज की थी। इस स्कूल का उल्लेख करते हुए सामान्यरूप से उपरिलिखित दो विद्वानों त्रुबेस्क्वाय एवं रोमन याकोब्सन के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें किंचित् संदेह नहीं कि इन्होंने अपनी कृतियों से इस स्कूल को अत्यधिक गौरवान्वित किया। किन्तु इनके पूर्व एवं इनके साथ मैथिसियस ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो योगदान दिया था वह भी उतना ही महत्वपूर्ण था।

प्राहास्कूल के भाषा विज्ञानी अपने को संरचनात्मक भाषाशास्त्री (स्ट्रक्चरलिस्ट) ही नहीं कहते अपितु वे अपने को कार्यफलदायक (फंकशनलिस्ट) भी कहते हैं। यहाँ फंक्शन से इन पंडितों का क्या तात्पर्य था यह जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक भाषा में वाक्य, शब्द, पद, स्वनिम आदि की स्थिति अपरिहार्य होती है। ये सभी तत्व संयुक्त होकर विचार वहन करने का कार्य सम्पादान करते हैं। 'फंक्शन' से उक्त पंडितों का यही अभिप्राय है।

अन्य शब्दों में, प्राहा स्कूल की विचारधारा के अनुसार, भाषा स्वतः ऐसी पूर्ण इकाई नहीं है जो वाह्य भाषीय यथार्थता (एक्स्ट्रा लिंगुअल रियलिटी) से पृथक् अस्तित्व रखती हो। किन्तु वास्तव में इनका प्रमुख धर्म इस यथार्थता की ओर निर्देश करना तथा प्रतिक्रियान्वय घटित करना होता है। यह दृष्टिकोण एक ओर जहाँ उन्हें अमेरिका के संरचनात्मक भाषा-शास्त्रियों से पृथक् कोटि में रखता है वहाँ दूसरी ओर यह हेमसेव के 'ग्लासमेटिक स्कूल' से भी विलग रखता है। इस स्कूल के विषय में अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि प्राहा स्कूल के सिद्धान्तों का निर्धारण यद्यपि इस स्कूल के विद्वानों ने ही किया है तथापि त्रुवेस्क्वाय एवं जेकोब्सन के अतिरिक्त इस पर शेरबा, फार्तुनोव तथा कर्चेवस्की का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

## प्राहास्कूल के सामान्य सिद्धान्तों का स्वरूप

पिछले अध्यायों में फ्रेन्ज़ बाप्प, रास्क, श्लाइख़र आदि भाषाविज्ञान के विद्वानों का उल्लेख हो चुका है। इन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन एवं विश्लेषण किया तथा इन्हें पूर्ण बनाने का प्रयास भी किया था। इन सिद्धान्तों के संस्थापकों का एक दोष यह था कि ये इस तथ्य का अनुभव न कर सके कि भाषा की अपनी संरचना भी होती है। परिणाम यह हुआ कि ये

किसी भाषा की अलग-अलग ध्वनियों का अध्ययन तो कर सके किन्तु ये ध्वनियाँ एक दूसरे को किस रूप में प्रभावित करती हैं तथा इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या होता है इस ओर उनका ध्यान ही न जा सका। सच बात तो यह है कि ये पुरातन भाषाशास्त्री भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में इतने संलग्न थे कि इन्हें इस बात का अनुभव भी न हो सका कि इसका एककालिक अध्ययन भी सम्भव है।

नव्य वैयाकरणों का ध्यान जीवित भाषाओं के अध्ययन की ओर तो गया किन्तु ये भी भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन करनेवालों की भाँति ही एककालिक अध्ययन के लिए किसी वैज्ञानिक प्रणाली की खोज न कर सके। इनके अनुसार भाषाओं में पारस्परिक विभिन्नता का कारण उन भाषाओं के बोलनेवालों की राष्ट्रीय चेतना सम्बन्धी विभिन्नता थी। इसप्रकार इनका अधिक बल भाषा के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में था। उस युग में मनोविज्ञान का वैज्ञानिक रूप भी स्थिर नहीं हो पाया था।

मैथिसियस को ऊपर के दोनों स्कूलों, प्राचीन एवं नव्य, के गुण-दोष भली-भाँति ज्ञात थे। उसने दोनों की विशिष्टताओं का समन्वय किया और भाषा सम्बन्धी अपने अभिनव सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयत्न किया। उसने नव्यवैया-करणों के विवरणात्मक अध्ययन सम्बन्धी सिद्धान्तों को पूर्णतर बनाया और विवरण प्रस्तुत करने के लिए सूक्ष्म तत्वों का अन्वेषण किया। यद्यपि वह "आधुनिक एककालिक" प्रणाली को स्पष्टरूप से ग्रहण न कर सका एवं उसके मंतव्यों को भी अवगत न कर सका तथापि उसने उसके ध्वनिविज्ञान का गहन अध्ययन किया। इसप्रकार उसने नव्य वैयाकरणों की विवरणात्मक अध्ययन पद्धति को अग्रसर किया। उसने चेक और अंग्रेजी भाषाओं का विवरणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया।

मैथिसियस के दो अन्य रूसी सहयोगियों त्रुबेस्क्वाय एवं याकोब्सन ने भाषा के एककालिक अध्ययन सम्बन्धी एक अन्य मार्ग का अनुसरण किया। इन दोनों ने एककालिक अध्ययन के क्षेत्र में रूसी परम्परा को अंगीकार किया। इन पर जे० बाउडिन दि कुर्तिने तथा शेरबा का प्रभाव तो स्पष्ट रूप से पड़ा ही, फार्तुनोव द्वारा आविष्कृत भाषा की अध्ययन प्रणाली का भी असर दिखाई देता है। एक बाहरी, प्रभाव इनके अनुसन्धान क्षेत्र एवं प्रणाली को और भी अधिक पूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। यह प्रभाव फर्डिनेन्ड डी सस्योर एवं उसके स्कूल का था। इस प्रभाव को याकोब्सन और त्रुबेस्क्वाय ने अपने मित्र और सहधर्मी एस० आइ० कर्चेवस्की के द्वारा ग्रहण किया था। कर्चेवस्की

बहुत काल तक जेनेवा में रह चुके थे और उन्हें भाषाविज्ञान के महापण्डित डी० सस्योर के सिद्धान्तों का प्रत्यक्षरूप से ज्ञान था।

डी० सस्योर ने 'लैंग्वे' तथा 'पेरोल' में जो अन्तर किया था उसने प्राहा स्कूल को प्रभावित नहीं किया किन्तु द्वैकालिक भाषाविज्ञान की अपेक्षा उसने जो एककालिक अध्ययन पर बल दिया था उसने अवश्य प्राहा स्कूल को प्रभावित किया। बात यह थी कि इसके लिए मैथिसियस ने पहले ही से पृष्ठभूमि तैयार कर रखी थी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राहा स्कूल के 'स्वनिम' सम्बन्धी विचारों के निर्धारण में भी डी० सस्योर का प्रभाव पड़ा था। यद्यपि यह सत्य है कि उनकी दिलचस्पी भाषा के 'स्वनिम' स्तर पर विचार करने के सम्बन्ध में नहीं थी फिर भी यह बात उल्लेखनीय है कि यह सस्योर के प्रभाव का ही परिणाम था कि प्राहा स्कूल ने 'स्वनिम' तथा स्वनिम-प्रक्रिया को दो पृथक् तत्वों के रूप में परिगृहीत किया। त्रुबेस्क्वाय का तो यह कथन है कि 'स्वनिम' प्राकृतिक विज्ञान है और यह भाषा-विज्ञान का सहायक मात्र है किन्तु स्वनिम-प्रक्रिया भाषाविज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में प्राहा स्कूल के सदस्यों ने भाषा के एककालिक विश्लेषण के सम्बन्ध में पर्याप्त कार्य किया किन्तु यह स्वीकार करना भूल होगी कि प्राहा स्कूल ने द्वैकालिक भाषा-विज्ञान के अध्ययन की किसी भी रूप में उपेक्षा की।

यह अन्यत्र कथित है कि भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में सर्वाधिक गम्भीर चिंतन रोमन याकोब्सन ने किया। याकोब्सन ने सन् १९२९ में ही रूसी भाषा के स्वन-प्रक्रियात्मक विकास के विषय में एक गवेषणात्मक निबन्ध प्रस्तुत किया था जिसके आरम्भ तथा अंतिम अध्यायों में विद्वान् लेखक ने स्वन-प्रक्रियात्मक विकास का सिंहावलोकन किया था। आपने सस्योर के दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए उसकी आलोचना की थी तथा इस सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए थे। सस्योर ने भाषा (लैंग्वे) तथा 'पैरोल' में अन्तर तो किया था किन्तु इन दोनों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने में वे कृतकार्य नहीं हो सके थे। आपने भाषा का सैद्धान्तिक विवेचन तो किया था किन्तु 'पैरोल' के विषय में वे किसी सिद्धान्त को स्थिर नहीं कर सके। सस्योर ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया था कि भाषाविषयक परिवर्तनों के कारण उसकी संरचना में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। याकोब्सन ने अपने निबन्ध में सस्योर के भाषाविषयक विचारों का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया कि भाषा में स्वस्थ परिवर्तन (Therapeutic change) की प्रक्रिया

निरन्तर गतिशील रहती है। याकोब्सन का मन्तव्य है कि भाषा एक ऐसी व्यवस्था है जिसके आभ्यन्तरिक तत्व संतुलन की ओर उन्मुख रहते हैं। इस संतुलन से तात्पर्य यह है कि भाषा में एक प्रकार का ऐसा विन्यास होता है जिसका उसके आन्तरिक तत्व अनुगमन करते हैं। कभी-कभी यह सन्तुलन विशृंखलित हो जाता है तब इसके परिशोधन की आवश्यकता होती है। यह कार्य भाषा की व्यवस्था में किंचित परिवर्तन करने मात्र से ही घटित होता है किन्तु इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था में कहीं न कहीं निर्बलता का आरोप सहज ही हो जाता है। यह निर्बलता प्रकारान्तर से कतिपय स्वस्थ परिवर्तनों के द्वारा दूर हो जाती है। इसप्रकार के परिवर्तन-परिवर्धन की परम्परा भाषा में सतत प्रवहमान रहती है। अपने विचारों की व्याख्या के लिए ही याकोब्सन ने "रूसी भाषा में स्वनप्रक्रियात्मक विकास" शीर्षक अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया था।

प्रसंगानुकूल यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि याकोब्सन को "भाषा के स्वरूप परिवर्तन" सम्बन्धी विचारों की प्रेरणा सम्भवतः सस्योर से ही प्राप्त हुई थी। सस्योर ने भाषा की तुलना शतरंज से की थी। याकोब्सन इसकी टिप्पणी करते हुए कहते हैं--"जब शतरंज के खिलाड़ी का कोई मोहरा पिट जाता है तब उसे अपनी स्थिति को संयमित करने के लिए अन्य मोहरों को व्यवस्थित करना पड़ता है। इसीप्रकार किसी भाषा विशेष की 'स्वनप्रक्रियात्मकप्रणाली' को संतुलित रखने के लिए उसमें अनेक स्वन-सम्बन्धी परिवर्तन घटित करने पड़ते हैं। जिस प्रकार शतरंज के खेल में एक ओर तो संतुलन स्थापित होता है किन्तु दूसरी ओर उसमें निर्बलता भी आ जाती है, ठीक यही प्रक्रिया भाषा में भी घटित होती है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि याकोब्सन ने त्रुबेत्स्काय एवं कर्चेवस्की के साथ इस सम्बन्ध में सन् १९२८ ई० के 'हेग' के भाषाविज्ञान की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् में अपना वक्तव्य दिया था। सन् १९२९ में उसने अपने इस शोधप्रबन्ध में, अनेक उदाहरणों के द्वारा इसके सैद्धान्तिक पक्ष का प्रबल समर्थन भी किया था।

## प्राहा तथा कोपेनहेगेन विचारधारा में अन्तर

यहाँ प्राहा तथा कोपेनहेगेन स्कूलों की विचारधारा के अन्तर को भी जान लेना आवश्यक है। कोपेन-हेगेन स्कूल के संस्थापक डेनमार्क के भाषाविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय हेमसेव थे। आप भाषा के विकास के अध्ययन में बाहरी तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार करने के विपक्ष में थे। आपके अनुसार भाषा

का विकास उसकी आन्तरिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। हेमसेव के ये विचार सस्योर की विचारधारा के पूर्णरूपेण समर्थक थे। सस्योर ने भाषा की उपमा शतरंज की खेल से दी थी। जिसप्रकार शतरंज की खेल उसकी आन्तरिक व्यवस्था पर निर्भर करती है उसीप्रकार भाषा की भी आन्तरिक व्यवस्था होती है। प्राहा स्कूल ने हेमसेव के विचारों का खण्डन किया। इस सम्बन्ध में व्लाडिमिर स्कलिश्का का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। आपने सन् १९४८ ई० में एक चेक पत्र में इस विषय की अपनी आलोचना प्रकाशित की थी।

## याकोब्सन तथा आन्द्रे मार्तिने की विचारधारा में अन्तर

याकोब्सन ने सन् १९२९ ई० में स्वनात्मक परिवर्तन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था उसकी तुलना आन्द्रेमार्तिने के इस विषय के बहुत बाद के कथन से की जा सकती है। मार्तिने अपने एक शोध प्रबन्ध में स्वनात्मक-परिवर्तन के कारणों में मुख्य स्थान लाघव (Economy) को दिया है। मार्तिने के अनुसार स्वनात्मक परिवर्तन इस कारण से होते हैं कि किसी भाषा के बोलने वाले कम से कम स्वनिमों का प्रयोग करना चाहते हैं। यह क्रिया इस रूप में सम्पन्न होती है कि जब किसी भाषा की स्वनिम अभिरचना में कोई स्थान रिक्त होता है तो वहाँ नूतन स्वनिम का आविर्भाव हो जाता है। तात्त्विक दृष्टि से याकोब्सन एवं मार्तिने के विचारों में बहुत कम अन्तर है। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि किसी भाषा की विकास प्रक्रिया में लाघव का महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु इसे सैद्धान्तिक स्थान नहीं दिया जा सकता। कभी-कभी भाषा में ऐसे तत्त्वों के दर्शन होते हैं जिन्हें लाघव की परिधि में रखना कठिन है। इसप्रकार यहाँ यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि भाषा में लाघव एवं सरलता के साथ-साथ दुरूह तथा जटिल तत्त्व भी रहते हैं। याकोब्सन एवं मार्तिने के दृष्टिकोणों में जो मुख्य अन्तर है वह यह है कि याकोब्सन भाषा-विकास को लाघव की दृष्टि से विचार करने के लिए तत्पर नहीं है, अपितु वे इस समस्या पर संरचनात्मक संतुलन की दृष्टि से विचार करते हैं। सच बात तो यह है कि भाषाविचार वहन करने का साधन है और जब तक इस प्रक्रिया में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती तब तक सरलता और कठिनता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ऊपर भाषा के विकास के सम्बन्ध में प्राहा स्कूल की विचारधारा का जो उल्लेख किया गया है उसका सारांश यही है कि अधिकांश रूप में, भाषा में, जो परिवर्तन होते हैं वे उसकी

आन्तरिक व्यवस्था की निर्बलता अथवा संरचनात्मक त्रुटि के कारण ही होते हैं।

यदि भाषा विषयक संरचनात्मक त्रुटि को किसी अन्य भाषा, विशेषरूप से पड़ोसी भाषा के द्वारा दूर किया जा सकता है तो वह स्वीकार कर लिया जाता है किन्तु यह स्वीकृति भी भाषा की संरचनात्मक आवश्यकता एवं अनुकूलता पर ही निर्भर करती है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि द्विभाषी लोग भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। इस तथ्य की ओर प्राहा स्कूल के विद्वानों—बी० हवर्नेक एवं याकोब्सन—ने विशेषरूप से हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इनके अनुसार दो भाषाओं की व्यवस्थाओं से समान रूप में भिज्ञ लोग ऐसे उपयुक्त व्यक्ति हैं जिन्हें इनकी संरचनात्मक त्रुटियों का अनुभव होता है। ये अचेतन भाव से इन त्रुटियों को दूर करने में संलग्न रहते हैं। प्राहा स्कूल के अनुसार, अधिकांश रूप से, द्विभाषियों की उपस्थिति तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के परिणामस्वरूप ही भाषा-सामंजस्य का कार्य सम्पन्न होता है। इस भाषा सामंजस्य से यह तात्पर्य है कि पारिवारिक विभिन्नता के बावजूद भी एक भौगोलिक क्षेत्र की भाषाओं की स्वनप्रक्रिया में, कई समानताएँ सहजरूप में आ जाती हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश इसप्रकार है—

प्रत्येक भाषा की व्यवस्था में कुछ न कुछ संरचनात्मक त्रुटि होती है। भाषा अबाध गति से विकसित होती जाती है किन्तु फिर भी उसकी व्यवस्था पूर्णरूप से संतुलित नहीं हो पाती। भाषा में कुछ न कुछ असंतुलन सदैव वर्तमान रहता है। अतएव जब भाषाविज्ञानी किसी भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण करता है तो यह विश्लेषण उतना पूर्ण नहीं हो पाता जितना वह आशा करता है। सुसंस्कृत भाषाओं में तो विशेषरूप से व्यवस्था विषयक त्रुटियाँ उपलब्ध होती हैं। चूँकि ये भाषाएँ परम्परा का अनुसरण करती हैं अतएव इनकी त्रुटियों का निराकरण कठिन होता है। जब हम परम्परागत किसी प्राचीन सुसंस्कृत भाषा का विश्लेषण करने लगें तो उसकी संरचनात्मक त्रुटियों पर ध्यान देना आवश्यक है।

ऊपर भाषाविषयक एककालिक तथा द्वैकालिक अध्ययन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उनमें से एक तथ्य पर प्राहा स्कूल ने विशेष बल दिया है। वह तथ्य यह है कि एककालिक भाषाविज्ञान को स्थैतिक (स्टैटिक) मानना उचित नहीं है। दूसरे शब्दों में जब हम किसी भाषा का एककालिक अध्ययन

करते हैं तो हम पूर्ण स्थिर एवं समरूप भाषीय तत्त्वों का अध्ययन नहीं करते। इसके विपरीत किसी भी भाषा के विकासकाल में ऐसे क्षण आ सकते हैं जब उसके कतिपय तत्त्वों का तो लोप हो रहा हो तथा अन्य अभिनव तत्त्व उसमें आविर्भूत हो रहे हों। इस सम्बन्ध में तथ्य की बात यह है कि प्रत्येक भाषा के एक ठोस आन्तरिक मुख्य साँचे के अतिरिक्त एक बाह्य गौण साँचा भी होता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये दोनों साँचे पूर्णरूप से समान हों तथा बाहरी साँचा पूर्णरूप से आन्तरिक साँचे के नियमों से अनुशासित हो। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इस बाहरी साँचे के अध्ययन की ओर अभी हाल में ही भाषाविज्ञान के विद्वानों का ध्यान गया है। यहाँ यह प्रश्न सहजरूप में पूछा जा सकता है कि तब भाषा की व्यवस्था किस प्रकार की होती है? यह पहले कहा जा चुका है कि किसी भी भाषा की व्यवस्था ऐसी नहीं होती जिसे पूर्णरूपेण संतुलित कहा जा सके। इसका आन्तरिक साँचा बाह्य साँचे की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है और इन दोनों साँचों में स्पष्टरूप से अन्तर भी होता है।

इसप्रकार भाषा की व्यवस्था को जो लोग अति सरल मानते हैं वे भारी भूल करते है। इस सम्बन्ध में यथार्थ स्थिति यह है कि भाषा की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में जटिल होती है। इस जटिलता को इस रूप में समझा जा सकता है कि भाषा में एक वृहद् व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक लघु उपव्यवस्थाएँ भी होती हैं। इन सभी उपव्यवस्थाओं की अपनी-अपनी संरचनाएँ एवं समस्याएँ होती हैं। प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानियों ने भाषा-व्यवस्था सम्बन्धी इन तथ्यों को सदैव ध्यान में रखा तथा उन्हीं के आलोक में उन्होंने भाषा का विश्लेषण भी किया। इन विद्वानों को भाषा के स्वनिम, रूपिम एवं शैली विषयक स्तरों की समस्याओं का पूर्णरूप से ज्ञान था। इन्हें यह तथ्य भी ज्ञात था कि भाषा इन सभी स्तरों का योगफल मात्र नहीं है, अपितु वह एक ऐसी उच्च व्यवस्था है कि इसमें सभी स्तर, यत्किंचितरूप में, एक दूसरे से शृंखलाबद्धरूप में, सम्बन्धित होते हुए समाहित रहते हैं। इस विषय में तथ्य की बात यह है कि प्राहा स्कूल के अनुसार भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था है। इसके साथ ही साथ प्राहा स्कूल के विद्वानों का यह स्पष्ट मत है कि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसके विभिन्न स्तरों का पार्थक्य आवश्यक नहीं है। ब्लूमफिल्ड द्वारा स्थापित अमेरिकन स्कूल के एककालिक अध्येता, भाषा के अध्ययन के लिए उसके विभिन्न स्तरों का पार्थक्य आवश्यक मानते थे। इस विषय में प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानी अमेरिका के प्रो० केनेथ एल० पाइक के मत के पोषक हैं।

प्रो० पाइक के मतानुसार भाषा का विखंडित अध्ययन उचित नहीं है किन्तु इसके साथ ही प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानियों पर यह आक्षेप कि वे भाषा के विभिन्न स्तरों का सम्मिश्रण कर देते हैं, ठीक नहीं है। प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भाषा के विभिन्न स्तर होते हैं और प्रत्येक स्तर की समस्याएँ होती हैं किन्तु ये येल (अमेरिका का एक विश्वविद्यालय) की इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं कि भाषा के विभिन्न स्तर एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। इनका यह स्पष्ट मत है कि भाषा के स्तर किसी भाषा की व्यवस्था में एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी भाषा के एक स्तर में जो परिवर्तन होते हैं वे उसके दूसरे स्तर को प्रभावित करते हैं। यह प्रभाव किसी भी संश्लिष्ट भाषा के विश्लिष्ट रूप-परिवर्तन के स्तरों में देखा जा सकता है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि प्राहा स्कूल के विद्वान् भाषा के विभिन्न स्तरों के पार्थक्य को अस्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में इनका एवं जननशील (जेनरेटिव) तथा रूतान्तरण वादी (ट्रान्सफार्मेशनल) भाषाविज्ञानियों का एक मत है। एक दूसरे बिन्दु पर भी इनकी विचारधारा एक है। जिसे रूपान्तरणवादी अन्तःज्ञान (इंटयूशन) कहते हैं, उसे प्राहास्कूल के विद्वान् भाषा सम्बन्धी चेतना के नाम से अभिहित करते हैं। यद्यपि प्राहास्कूल के भाषा विज्ञानी भाषा के विश्लेषण में 'अभाषीय-यथार्थताओं', विशेषरूप से मनोविज्ञान के हस्तक्षेप के विरोधी हैं तथापि उन्होंने भाषा-सम्बन्धी चेतना के महत्त्व को स्वीकार किया है।

प्राहा स्कूल एवं अमेरिका के भाषाविज्ञानियों, विशेषरूप से ब्लूमफिल्ड की विचाधारा में स्पष्ट अन्तर हैं। एक ओर जहाँ अमेरिका के भाषा-विज्ञानी भाषा के विश्लेषण में अर्थ से अपना पिण्ड छुड़ाने के पक्ष में हैं वहाँ दूसरी ओर प्राहा स्कूल के विद्वान् अर्थ से विच्छेद करने के पक्ष के विरुद्ध हैं। अर्थ से प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानियों का भाषा के अन्तर्वस्तु अथवा "कन्टेन्ट" से तात्पर्य है। भाषा विषयक इस अन्तर्वस्तु अथवा अर्थ से वास्तव में किसी उच्चार के संदर्भ का निर्देश होता है। यही भाषा का कार्य (= फंक्शन) होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ध्वनिक (= Acoustic) रूप एवं अर्थतत्व में निरन्तर संघर्ष की स्थिति रहती है। यह महत्वपूर्ण तथ्य एक ओर जहाँ भाषा की संरचनात्मक व्यवस्था की किंचित अंश में व्याख्या

करता है वहाँ दूसरी ओर यह भाषा के परिवर्तन की समस्या के हल में भी सहायक सिद्ध होता है। प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानी अर्थतत्व के अन्तर्गत केवल कोशीय अर्थ को ही नहीं लेते अपितु ये व्याकरणीय स्तरों एवं शैली को भी इसके अन्तर्गत ग्रहण करते हैं।

कर्चेवस्की ने प्रतीक (Sign) एवं उसके अर्थ के सम्बन्ध में एक महत्व-पूर्ण निबन्ध लिखा था। इस निबन्ध में उसने यह स्पष्ट करने का यत्न किया था कि प्रतीक तथा उसके द्वारा द्योतित अर्थ में पूर्ण सम्बन्ध नहीं होता है क्यों-कि ये दोनों सभी बिन्दुओं पर एक क्षेत्र को आच्छादित नहीं करते। एक प्रतीक कई कार्यों को द्योतित करता है और यह कार्य कई अन्य प्रतीकों द्वारा भी द्योतित हो सकता है। दूसरे शब्दों में भाषा का प्रत्येक प्रतीक एक ही साथ विभिन्नार्थी एवं समानार्थी दोनों होता है। जैसा कि कर्चेवस्की ने अपने निबन्ध में कहा है––ध्वन्यात्मक प्रतीक तथा उसके अर्थ का सम्बन्ध यत्किंचित विसर्पी होता है। वास्तव में इन दोनों में सदैव एक प्रकार का तनाव वर्तमान रहता है। किसी विशेष संदर्भ में एक प्रतीक का जो अर्थ होता है उसके अति-रिक्त भी उसका कार्य अथवा अर्थ होता है और एक-ही अर्थ को एक से अधिक प्रतीकों द्वारा द्योतित किया जा सकता है। इसप्रकार इन दोनों का सम्बन्ध अव्यवस्थित होता है और जैसा कि कर्चेवस्की ने कहा है इनका सन्तुलन भी अस्थिर होता है। अपने निबन्ध के अन्त में कर्चेवस्की ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है––"प्रतीक की संरचना की इस अव्यवस्थित द्वैतता के कारण ही वस्तुतः किसी भाषा का विकास सम्भव होता है।" यथार्थतः किसी ठोस परिस्थिति के अनुसार प्रतीक का अर्थ परिवर्तित होता रहता है।

कर्चेवस्की का यह निबन्ध याकोब्सन के भाषा सम्बन्धी विचारों का पूरक है। याकोब्सन के अनुसार भाषा-विषयक परिवर्तन का एक मुख्यकारण उसकी व्यवस्था है। मूलतः यह कारण भाषा के प्रतीक की प्रकृति के साथ प्रतिबद्ध रहता है और इसके परिणामस्वरूप प्रतीकों से समाविष्ट भाषा से भी यह प्रतिबन्धित रहता है। कर्चेवस्की के इस निबन्ध का यह महत्व है कि उसके प्रतीक एवं भाषा के उच्च स्तरों का उसकी व्यवस्था से जो सम्बन्ध है, उसका स्पष्टीकरण किया है। उसके विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि ध्वन्यात्मक स्तर पर भाषा में जो परिवर्तन परिवर्धन हो रहा है, केवल उसी के कारण उसका विकास नहीं होता अपितु भाषा के उच्च स्तरपर जो परिवर्तन परिवर्धन होता है उसका भी इसके विकास पर प्रभाव पड़ता है।

यहाँ यह बात निःसंकोच भाव से कही जा सकती है कि प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानियों ने भाषा की आभ्यन्तरिक व्यवस्था की तनावपूर्ण स्थिति का विश्लेषण कर तथा उसका सम्बन्ध भाषा के विकास से प्रदर्शित कर भाषा विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट एवं विस्तृत बनाया। प्राहा स्कूल के इस योगदान को अमेरिका के आधुनिक युग के भाषाविज्ञानी भी स्वीकार करते हैं।

ऊपर प्राहास्कूल के संरचना सम्बन्धी विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब यहाँ भाषा के कार्य के विषय में निवेदन किया जाता है। भाषा के द्वारा उसके बोलने वाले विचारों का सम्प्रेषण करते हैं। विचारों की इस सम्प्रेषण-क्रिया में कथन तथा श्रवण में गणित के एक-एक का अनुपात नहीं होता। चूँकि भाषा समाज की वस्तु है अतएव इसमें समाज विषयक अनेक तत्व विद्यमान रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सम्प्रेषण रूप में जो कथन होता है उसका अर्थ उससे कहीं अधिक हो जाता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि सम्प्रेषण के समय वक्ता श्रोता को केवल तथ्य विषयक सूचना ही नहीं देता अपितु उन तथ्यों के सम्बन्ध में वह अपने निजी भावों का द्योतन भी करता है। उसके सम्प्रेषण का उद्देश्य श्रोता में मनोनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करने का होता है। सम्प्रेषण सम्बन्धी इन सभी कार्यों का भाषा की व्यवस्था में एक निश्चित स्थान है और प्राहा स्कूल के भाषा विज्ञानियों ने इसका सम्यक रूप से अध्ययन किया है। प्राहास्कूल के भाषा-विज्ञानियों को इस अध्ययन की प्रेरणा कार्लबूलर से मिली। बूलर आस्ट्रिया के निवासी तथा मनोविज्ञान के प्रसिद्ध पंडित थे। आप बियना विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के आचार्य एवं त्रुबेस्क्वाय के मित्र थे। आपने सन् १९३४ में एक महत्वपूर्ण प्रबन्ध प्रकाशित किया था जिसमें सम्प्रेषण कार्य पर भी आपने प्रकाश डाला था। बूलर के अनुसार सम्प्रेषण का एक कार्य जहाँ सूचना देना है वहाँ इसके द्वारा दो अन्य कार्य भी सम्पन्न होते हैं। ये हैं––अभिव्यक्तिकार्य (फंक्शन आव एक्सप्रेशन) तथा अभ्यर्थना कार्य (फंक्शन आव अपील)।

अभिव्यक्ति कार्य के अन्तर्गत वक्ता के शब्दों में, वाक्यांशों एवं वाक्यों के उच्चारण के ढंग तथा उसकी व्यक्तिगत शैली का समावेश होता है। यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि वक्ता की व्यक्तिगत शैली का कोई सामाजिक मूल्य नहीं होता। अतएव, भाषा के अन्तर्गत इसका विचार नहीं होना चाहिए। किन्तु यह तर्क इसलिए अमान्य है कि सम्प्रेषण के समय वक्ता की व्यक्तिगत

शैली का भी श्रोता पर प्रभाव पड़ता है और इसप्रकार यह शैली भी सामाजिक मूल्यवाली बन जाती है।

अब बूलर के दूसरे उद्देश्य 'अभ्यर्थना कार्य' के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह कार्य कभी-कभी वाक्यों पर बल देने या वाक्यों के विशेष सुर में उच्चारण करने से सम्पन्न होता है। कई भाषाओं में तो व्याकरण कोटियों को (यथा, किसी व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए) एक विशेष लहजे में बोलना पड़ता है। अतएव, प्राहा स्कूल के विद्वानों ने इसे भी भाषा के अध्ययन के अन्तर्गत रखा है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि भाषा के कार्य के अध्ययन के लिए कार्ल बूलर द्वारा निर्धारित ऊपर के तीनों सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इधर हाल में भाषा के एक अन्य कार्य की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है––यह है भाषा के कार्यों की संरचना का कार्य (द फंक्शन आव दस्ट्रक्चर आव द फंक्शन) इस ओर सन् १९४८ में कार्ल होरलेक ने अपने एक निबन्ध में विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। सन् १९३७ में याकोब्सन के एक मित्र पी० एन० बोक्तिरेव ने चेकोस्लोवेकिया स्थित दक्षिणी मोरेविया की राष्ट्रीय पोशाक के सम्बन्ध में एक पुस्तक का प्रणयन किया था। इसमें बोक्तिरेव ने कृषकों की पोशाक का अध्ययन किया था। इसके सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि इसमें "कार्यों की संरचना के कार्य का सिद्धान्त" लागू होता है। भाषाविज्ञानियों ने इससे तथा होरलेक के अनुसन्धानों से प्रेरणा लेकर वक्ता की मातृभाषा के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को लागू किया। प्रत्येक भाषा के बोलनेवाल विभिन्न व्यक्तियों की भाषा में कुछ न कुछ वैयक्तिक तत्व रहते हैं और इन सभी तत्वों का मुख्य उद्देश्य किसी कार्य को सम्पन्न करना होता है। किन्तु भाषा सम्बन्धी इस सम्पूर्ण व्यवस्था के ऊपर भी एक ऐसा कार्य होता है जिसे हम कार्यों की संरचना का कार्य कह सकते हैं। भाषा में कुछ परिस्थितियों में यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप धारण कर लेता है। सम्प्रति, अनेक भाषाओं में जो शुद्धीकरण की प्रवृति चल पड़ी है वह इसी कार्य के फलस्वरूप है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार भाषा की संरचना जटिल होती है उसी प्रकार उसका कार्य भी जटिल होता है।

## प्राहास्कूल की स्वनप्रक्रिया [ Phonology ]

साधारणतया लोग स्वन-प्रक्रिया तथा स्वन-विज्ञान (Phonetics) को एक ही मानते हैं। अमेरका में स्वन-प्रक्रिया (फोनालोजी) के लिए स्वनिम-विज्ञान (फोनेमिक्स) का व्यवहार होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से फोनेमिक्स शब्द का सम्बन्ध 'फोनीम' से है किन्तु फोनेमिक्स के अन्तर्गत केवल फोनीम के विषय में ही विचार नहीं किया जाता अपितु इसमें सुर तथा विवृति आदि का भी समावेश होता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञानियों का एक वर्ग फोनेमिक्स को भ्रामक मानता है। प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानी फोनॉलोजी शब्द का ही व्यवहार करते हैं फोनेमिक्स का नहीं। प्राहा स्कूल के प्रसिद्ध विद्वान त्रुबेस्क्वाय तथा रोमन याकोब्सन ने फोनॉलोजी एवं फोनेटिक्स के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट किया है। आप लोगों के मतानुसार फोनॉलोजी भाषाविज्ञान का एक मुख्य अंग है किन्तु फोनेटिक्स उसका सहायक मात्र है। स्वनविज्ञानी (फोनेटीशियन) प्राहा स्कूल की इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार फोनॉलोजी एवं फोनेटिक्स एक दूसरे से अति घनिष्ट रूप में सम्बन्धित हैं और इन दोनों के अध्ययन का विषय भी एक ही है। अतएव इन दोनों में किसी तरह का भेद स्थापित करना उचित नहीं है। प्रसिद्ध फ्रेन्च भाषाविज्ञानी मार्तिने ने इस विवाद का अन्त करने के लिए फोनॉलोजी के स्थान पर फंक्शनल फोनेटिक्स शब्द का प्रयोग किया है। फोनालोजी एवं फोनेटिक्स का स्पष्ट अन्तर बी० ट्रन्का ने सन् १९४० में चेक भाषा में प्रकाशित अपने एक लेख में किया था। उस लेख में आपने अपना विचार इस रूप में व्यक्त किया है। "फोनॉलोजी एवं फोनेटिक्स ये दोनों विज्ञान एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं। स्वनविज्ञानी (फोनेटीशियन) को स्वनिमविज्ञान (फोनेमिक्स) की समस्याओं पर सदैव ध्यान देना चाहिए और जो तत्व स्वनिमविज्ञान की दृष्टि से अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण हों उनपर पूर्ण रूप से विचार करना चाहिए। इसीप्रकार स्वनिम-विज्ञानी (फोनॉलोजिस्ट) को स्वनविज्ञानी (फोनेटीशियम) द्वारा संग्रहीत तत्वों को ग्रहण करना चाहिए। किन्तु इसके आगे जब स्वनिम-विज्ञानी इन तत्वों के आधार पर स्वनिमों का वर्गीकरण एवं वर्गबन्धन करने लगेगा तो स्वनिम-विज्ञान स्वन-विज्ञान से सर्वथा पृथक् हो जायगा। इसे स्पष्ट करते हुए बी० ट्रंका अपने शोध प्रबन्ध में लिखते हैं——जब हम अपने अनुसन्धान में रूप (फार्म) की ओर से अमूर्त नियमों की ओर अग्रसर होते हैं तो स्वनिम-विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। किन्तु इसके विपरीत जब हम अमूर्त नियमों की ओर मूर्तरूप की ओर बढ़ते हैं तो स्वन-

विज्ञान के क्षेत्र में चले जाते हैं। जब हम इस बात का अनुभव करते हैं कि प्रक्रिया की दृष्टि से स्वनविज्ञान तथा स्वनिम-विज्ञान का कार्य एक दूसरे से सर्वथा विपरीत है तो इन दोनों विज्ञानों को पृथक् करनेवाली रेखा लुप्त होती हुई प्रतीत होने लगती हैं। क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के पूरक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु इसके साथ ही हमें यह बात स्पष्टरूप से हृदयंगम होनी चाहिए कि ये दोनों विज्ञान दो विभिन्न तत्वों एवं तथ्यों का निदर्शन करते हैं। स्वन-सम्बन्धी सभी तत्वों के कार्यान्वियन से हम स्वनिमप्रणाली के निर्माण में सफल न हो सकेंगे। इसके विपरीत स्वनिम विषयक मानकों को लघु खण्डों में विभाजित कर हम इन्हें स्वनिक तत्वों में परिवर्तन नहीं कर सकते। इसप्रकार त्रुवेस्क्वाय ने स्वन एवं स्वनविज्ञानों में अन्तर स्पष्ट करते हुए इन दोनों को दो पृथक् विज्ञान माना था, वह उपयुक्त ही था क्योंकि दोनों में भाषा विश्लेषण के दृष्टिकोण एवं उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहते हैं।"

जब हम ऊपर के तथ्यों को ध्यान में रखकर भाषाविज्ञान के प्राहा स्कूल की देन के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि इस स्कूल ने भाषाविज्ञान की उस शिल्प-विधि का अन्वेषण किया जिसके द्वारा भाषा अपनी ध्वनि-इकाइयों को एक निश्चित ढाँचे में संघटित करती है।

प्राहा स्कूल की ध्वनि-संघटन-प्रणाली का मूलाधार ध्वनि-व्यतिरेक है। इसके अनुसार इस व्यतिरेक अथवा वैषम्य के द्वारा ही ध्वनियों के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रणाली का निर्माण किया जा सकता है। कौन ध्वनियाँ मुख्यरूप से व्यतिरेकी हैं इसे निर्धारित करने की कसौटी अर्थ है। ध्वनियों के जो भेद अर्थ में अन्तर नहीं लाते वे व्यवच्छेदक एवं ध्वनिग्रामीय नहीं हैं। वास्तव में जो तत्व दो ध्वनि-इकाइयों के अन्तर को स्पष्ट करता है वह ध्वनि नहीं है व्यवच्छेदक कार्य है। अतएव इन भेदक कार्यों के योग को ध्वनिग्राम के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। वास्तव में ध्वनिग्राम वस्तु नहीं हैं बल्कि ये भावात्मक तत्व हैं। ध्वनियाँ स्वतः ध्वनिग्राम नहीं हैं। ये उसीरूप में ध्वनिग्राम हैं जिसरूप में ये अर्थभद को द्योतित करती हैं। किसी भाषा के ध्वनिग्राम का निर्धारण उसके न्यूनतम व्यतिरेकी युग्मों के आधार पर होता है। जब ये ध्वनियाँ अर्थभेदक होती हैं तो ये ध्वनिग्रामीय बन जाती हैं। चूँकि ध्वनिग्राम का सारतत्व, वास्तव में, अर्थव्यवच्छेदकता पर निर्भर करता है अतएव त्रुबेस्क्वाय ने ध्वनि सम्बन्धी वैपरीत्य की पहचान एवं उसके वर्गीकरण के लिए कई प्रकार की व्यक्तिरेकी कसौटियाँ विकसित कीं।

ध्वनिग्राम में किसी प्रकार की स्वयंभूतता अथवा पूर्णता नहीं होती। ध्वनि का कोई विशिष्टरूप, सापेक्षिक रूप में, अन्य विशिष्ट रूप से भिन्न होता है। इसके कतिपय युग्म दूसरे युग्मों की अपेक्षा समान हो सकते हैं। इस समानता से वास्तव में ध्वन्यात्मक समानता से ही तात्पर्य है। चूँकि ध्वनिग्राम के ढाँचे के सम्बन्ध में पूर्ण वक्तव्य देने के लिए इसप्रकार के तथ्यों की जानकारी आवश्यक है अतएव त्रुबेस्क्वाय ने एक प्रकार की विपरीत ध्वनियों के युग्मों को लिया जिसे द्विपक्षीय (bilateral) के नाम से अभिहित किया जाता है। उदाहरणार्थ जर्मन। क्। । ख्। तथा हिन्दी। क्। । ख्। ध्वनियों को लिया जा सकता है। जर्मन तथा हिन्दी में ये दोनों ध्वनियाँ (अथवा ध्वनिग्राम) कण्ठ्य एवं अघोष हैं। अतएव हम यह कह सकते हैं कि ये दोनों ध्वनिग्राम एक दूसरे से घनिष्टरूप में सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत। अ। एवं। इ। दो अन्य ध्वनि-ग्रामों को लिया जा सकता है। इनमें बहुपक्षीय वैपरीत्य है। इनमें केवल इतनी ही समानता है कि ये दोनों स्वर हैं।

अन्य ध्वन्यात्मक वैपरीत्य समानुपातिक अथवा एकल हो सकते हैं। ये उस दशा में समानुपातिक होते हैं जब एक व्यतिरेकी रूप की भेदक कसौटी अन्य ध्वनिग्रामीय युग्मों में भी लागू होती है। उदाहरणार्थ यहाँ। प्। तथा। ब्।,। त्। तथा। द्। एवं। क्। तथा। ग्। ध्वनिग्रामों को लिया जा सकता है। यहाँ ध्वनि-मुखरता की कसौटी केवल। प्। तथा। ब्। में ही व्यक्तिरेकी रूप में लागू नहीं है अपितु यह अन्य दो युग्मों। त्। तथा। द्। एवं। क्।तथा। ग्। में भी लागू होती है। एकल व्यक्तिरेकी का उदाहरण स्पैनिश भाषा के। र्। तथा। र। युग्म में उपलब्ध है। इन दोनों ध्वनियों के कम्पन-सुर (trill) की अवधि में जो अन्तर है वह इस भाषा के अन्य युग्मों में उपलब्ध नहीं होता।

यह वैपरीत्य अभावात्मक या नकारात्मक भी हो सकता है, अर्थात् एक युग्म के दो ध्वनिग्रामों में से एक में जो तत्त्व हों उसका दूसरे में अभाव हो सकता है। उदाहरणार्थ महाप्राणत्व तथा महाप्राणत्व का अभाव, अनुनासिक तथा अनुनासिकता का अभाव, आदि।

दूसरे प्रकार का व्यतिरेक वहाँ होता है जहाँ दो ध्वनियाँ कुछ स्थानों में तो व्यतिरेकी होती हैं किन्तु अन्य स्थानों में नहीं होतीं। स्पैनिश में। र्। तथा। र्। (कम्पनयुक्त) दो स्वरों के बीच तो व्यतिरेकी हैं किन्तु अन्य स्थानों में नहीं। अंग्रेजी में। p। तथा। b। ध्वनिग्राम। s। के बाद व्यतिरेकी नहीं हैं। स्थानविशेष में इसप्रकार के व्यतिरेक के अभाव को त्रुबेस्क्वाय ने 'न्यूट्रलाइजेशन' की संज्ञा

दी है। अव्यतिरेकी (nonconstrastive) स्थान में द्विपक्षीय वैपरीत्य ध्वनिग्रामों में से कोई भी ध्वनिग्राम आ सकता है, किन्तु इसका वितरण भाषा की गठन के अनुसार होगा। स्पैनिश भाषा में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, । र् । तथा । र् । दो स्वरों के बीच में व्यतिरेकी हैं, उदाहरणार्थ pero-perro, अतएव यहाँ इन दोनों को दो ध्वनिग्राम माना जायेगा किन्तु र (r) केवल आदि में आता है किन्तु । र् । (r) अन्त्य एवं कतिपय व्यञ्जनगुच्छों के मध्य में आता है। इसप्रकार के विभेदी ध्वनिग्राम को 'आर्कीफोनीम' (archiphoneme) के नाम से अभिहित किया जाता है।

ध्वनिग्रामिक साँचे के निर्माण में अन्तिम कदम यह है कि जो व्यतिरेक प्रतिष्ठापित हो गए हैं उनके फलनीय सम्बन्ध (Functional Relation) की तालिका तैयार की जाय। वैपरीत्यों (oppositions) के साँचे के निर्माण की यह प्रक्रिया किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का कारण ज्ञात हो जाता है।

वह ध्वनिरूप जो दो स्वनिमों (ध्वनिग्रामों) के व्यतिरेकी युग्म को संयुक्त करता है, त्रुबेस्क्वाय के अनुसार सह-सम्बन्धवाची है। आगे चलकर त्रुबेस्क्वाय ने सह-सम्बन्ध की भी परिभाषा दी है। उसके अनुसार, सह सम्बन्ध, वास्तव में द्विपक्षीय व्यतिरेक है जो एक से अधिक सहसम्बन्धी युग्मों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार । प् ।—। ब् ।, । त् ।—। द् । तथा । क् ।— । ग् । में मुखरता का सह-सम्बन्ध है। स्वनिमों (ध्वनिग्रामों) में एक से अधिक सह-सम्बन्ध होते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत में एक साथ ही एक सहसम्बन्ध मुखरता का मिलता है तो दूसरा प्राणत्व का। ये दोनों कार्य, सहसम्बन्धों के निम्नलिखित ढाँचे में सुस्पष्ट किये जा सकते हैं :—

इसप्रकार के ढाँचे वाले स्वनिमों को जो एक ही क्रम में सजे होते हैं (तथा एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं) प्राहा स्कूल के भाषाविज्ञानियों ने सह-सम्बन्ध का समूह (बंडल) कहा।

त्रुबेस्क्वाय ने स्वनिम की प्रकृति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसे यदि हम संक्षेप में कहना चाहें तो इसप्रकार कह सकते हैं :—

स्वनिम वस्तुतः एक साथ ही व्यवच्छेदक रूपों का समुदाय है जिसमें द्विपक्षीय व्यतिरेक होता है। यह समुदाय द्विपक्षीय व्यतिरेकों का योग होता

है तथा विशेष एवं सापेक्षिक ध्वन्यात्मक व्यतिरेकों में ही इसकी प्रामाणिकता द्रष्टव्य है।

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि सस्योर ने यह व्यवस्था दी थी कि एक-कालिक (वर्णनात्मक) तथा द्वैकालिक (ऐतिहासिक) अध्ययन के लिए दो विभिन्न प्रणालियों का अनुगमन करना चाहिए। अपने विचारों में निरन्तर संगति का ध्यान रखते हुए सस्योर इस निष्कर्ष पर पहुँचा था। सस्योर ने इस बात का अनुभव किया था कि उसके द्वारा अन्वेषित अर्थ को निर्धारित करने वाली प्रणाली, जो उस सामाजिक तत्त्व को जिसे वह भाषा कहता था, की संरचना के कारणों को स्पष्ट करने में तो समर्थ है किन्तु यह भाषा की द्वैकालिक (ऐतिहासिक) खोज के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि इसके द्वारा ध्वनिविकास की खोज नहीं की जा सकती। इसप्रकार के द्वैकालिक अध्ययन का नामकरण उसने 'स्वन-विज्ञान' (फोनेटिक्स) किया। सस्योर के अनुसार स्वनविज्ञान का कार्य ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन करना था। इस अध्ययन का आधार साहित्य एवं लेख्य में उपलब्ध भाषा ही थी। सस्योर ने ध्वनिपरिवर्तन के कारणों पर विचार नहीं किया। चूँकि उसका विशेष बल भाषा के सामाजिक रूप के अध्ययन पर था अतएव उसने उसके ऐतिहासिक पक्ष के अध्ययन पर बहुत कम ध्यान दिया।

सस्योर के इस सिद्धान्त का कि संकालिक तथा द्वैकालिक अध्ययन परस्पर अपवर्जी हैं, सर्वप्रथम, खुला विरोध, सन् १९२८ में त्रुबेस्क्वाय, याकोब्सन एवं कर्चेवस्की ने किया था। इन तीनों विद्वानों ने हेग के भाषा वैज्ञानिकों के प्रथम कांग्रेस में एक घोषणापत्र प्रस्तुत किया था जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस घोषणापत्र में यह दावा किया गया था कि सिद्धान्त रूप में ध्वनि-सम्बन्धी प्रणाली संकालिक तथा द्वैकालिक, दोनों प्रकार के विश्लेषणों में लागू की जा सकती है और इससे न तो सिद्धान्त की प्रामाणिकता में किसी प्रकार की क्षति की आशंका है और न इसके कारण निष्कर्ष पर ही कुप्रभाव पड़ सकता है। वास्तव में यह एक निर्भीक दावा था तथा यह सफल भी था क्योंकि अनेक विद्वानों के मतानुसार द्वैकालिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ही प्राहास्कूल का अंशदान विशेषरूप से उल्लखनीय है। द्वैकालिक भाषाविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में आज सारबॉन (पैरिस) के भाषाविज्ञानी आंद्रे मार्तिने ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

अब यहाँ द्वैकालिक भाषाविज्ञान के ध्वनिसम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में संक्षेप में विचार किया जाता है।

द्वैकालिक भाषाविज्ञान ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन उसी सीमा तक करता है जहाँ तक उसके कारण भाषा की गठन में परिवर्तन हो जाता है क्योंकि इसी अवस्था में किसी परिवर्तन विशेष का महत्त्व परिलक्षित होता है। इसप्रकार का क्रियाशील अथवा उद्देश्यपूर्ण ध्वनिपरिवर्तन उस ध्वनि परिवर्तन से जो भाषा में नियमित रूप से नहीं होता, अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे 'ध्वन्यात्मक रूपान्तरण' नाम से अभिहित किया जाता है। चूंकि क्रियाशील परिवर्तन (Functional Change) भाषा के अर्थवान तत्त्वों का पुनर्गठन करता है अतएव यह जागृत एवं प्रबुद्ध कार्य है। यह उस प्रकार का सामान्य ध्वनिपरिवर्तन नहीं है जो स्वतः विकासशील रूप में किसी भाषा के बोलनेवालों के द्वारा कई पीढ़ियों में होता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि सभी प्रकार के क्रियाशील परि-वर्तनों की उत्पत्ति ध्वनि-परिवर्तन से ही होती है।

क्रियाशील परिवर्तन इस विचार को स्वीकार कर आगे बढ़ता है कि भाषा में एक प्रकार की व्यवस्था अथवा क्रम है तथा भाषा के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा की इस व्यवस्था में निश्चितरूप से संगति अथवा सामंजस्य एवं संक्षिप्तता है और इसे स्पष्टरूप में देखा जा सकता है। इस व्यवस्था का यह परिणाम होता है कि वे ध्वनिग्रामीय वैषम्य जो विचित्र एकल एवं गठन तथा सहसम्बन्ध के प्रतिकूल होते हैं, वे स्वतः लुप्त हो जाते हैं अथवा छँट जाते हैं। सहसम्बन्ध के विषय में एक बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यह इसप्रकार की संक्षिप्तता प्रकट करता है जिससे किसी भाषा विशेष की पद्धति अथवा व्यवस्था अपने ध्वनिग्रामों का ढाँचा बनाती है। सहसम्बन्ध की संख्या जितनी ही अधिक होती है उतनी ही अधिक भाषा में गठन सम्बन्धी संक्षिप्तता होती है क्योंकि इस अवस्था में यह न्यूनतम व्यवच्छेदक, ध्वन्यात्मक रूपों द्वारा अधिकतम संख्या में ध्वनिग्रामों में विभेद प्रदर्शित करती है।

वास्तव में कार्य (Function) किस रूप में गठन को प्रभावित करता है, इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना करें कि एक ऐसी भाषा है जिसकी ध्वनियाँ उच्चारण स्थान, मुखरता एवं अमुखरता (घोष-अघोष) के सहसम्बन्ध पर निर्भर करती हैं। इसके साथ ही यह भी कल्पना किया कि इस भाषा में द्वयोष्ट, दन्त्य तथा कण्ठ्य अघोष स्पर्श व्यञ्जन वर्ण हैं, किन्तु इनके घोष प्रतिरूप तीन में से केवल दो ही—द्वयोष्ठ्य एवं दन्त्य—में उपलब्ध हैं। इस अवस्था की हम निम्नलिखित सारणी बना सकते हैं:—

क्—

प्-ब्                    त्-द्

भाषा वैज्ञानिक संक्षिप्तता एवं संगति के सिद्धान्तों की दृष्टि से ऊपर के विषम वितरण का विश्लेषण तीन प्रकार से किया जा सकता है। इनमें एक प्रकार यह है कि इसमें एक घोष कण्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन को इसमें सम्मिलित करके इसके ढाँचे को इस प्रकार पूर्ण बनाया जा सकता है :—

क्-ग्

प्-ब्                    त्-द्

दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि उच्चारण-स्थान को महत्त्व देकर इसका निम्नलिखित ढाँचा तैयार किया जाय—

क्

प्                    त्

अथवा मुखरता को दृष्टि में रखकर इसे तीसरे प्रकार से निम्नलिखित रुप में सजाया जाय—

प्-ब्                    त्-द्

प्राहा स्कूल के अनुगामियों की यह घोषणा है कि उन ध्वन्यात्मक कार्यों की जिनके द्वारा सहसम्बन्ध का ढाँचा तैयार होता है निर्धारित करके भाषा के ऐतिहासिक विकास विषयक अनेक गठन सम्बन्धी परिवर्तनों की व्याख्या की जा सकती है।

भाषा में कतिपय व्यतिरेक अधिक संख्या में घटित होते हैं। यह तथ्य भाषा के द्वैकालिक अध्ययन के लिए अत्यधिक मूल्यवान् है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में (|p|—|t| का व्यतिरेक अधिक संख्या में मिलता है (इन दोनों ध्वनि-ग्रामों का फंकशनल इल्ड अधिक है।) इसके विपरीत |q|— |d| के व्यतिरेक कम संख्या में उपलब्ध हैं। द्वैकालिक ध्वनिग्राम-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि जिन ध्वनिग्रामों के व्यतिरेक कम संख्या में मिलते हैं वे लुप्त हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप भाषीय ढाँचे में परिवर्तन हो जाता है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है |p|—|b| के व्यतिरेक के उदाहरण अंग्रेजी में अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। इस व्यतिरेक का आधार मुखरता है। इस युग्म में यही सहसम्बन्ध है। यही सह-सम्बन्ध |t|—|d| एवं |k|—|g| में उपलब्ध हैं। ये तीनों युग्म एक ही क्रम, एक ही शृंखला में आबद्ध हैं। अब यदि इन युग्मों में से किसी

युग्म के व्यतिरेकी उदाहरण कम संख्या में भी मिलें तो भी इनका लोप नहीं होगा, ये भाषा में सुरक्षित रहेंगे।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, द्वैकालिक ध्वनिग्राम विज्ञान का मुख्य कार्य क्रियाशील परिवर्तन (फंक्शनल चेंज) तथा रूपान्तरण परिवर्तन (ट्रांस-फार्मेशन) का भेद करना है। [इसे यह निर्धारित करना है कि कौन ध्वन्यात्मक परिवर्तन क्रियाशील है तथा कौन रूपान्तरण सम्बन्धी है]। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर उन अनेक प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की क्रियाशीलता के वैशिष्ट्य को निर्धारित करने के लिए परिभाषाएँ बनाई गई हैं तथा टेकनीकों को भी खोज निकाला गया है जिनके कारण कोई भाषा विकसित होती है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत ध्वनिग्रामीय एवं अध्वनिग्रामीय का भेद है। इसे स्पष्टरूप से समझ लेने की आवश्यकता है।

उदाहरणार्थ कतिपय विद्वानों के अनुसार अठारहवीं शताब्दि की अँग्रेजी में ई (ee), ए (e), ऊ (uu) तथा (oo) स्वर अपने विशुद्ध दीर्घ रूप में वर्तमान थे तथा ये अंग्रेजी के 'geese', 'eight', goose एवं goat जैसे शब्दों में द्रष्टव्य हैं। इसके बाद इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर 'इय्' (ij), एय् (ej), उव् (uw) एवं ओव् (ow) रूप में होने लगा और आज भी ये इसीरूप में उच्चरित हो रहे हैं। यह परिवर्तन (यदि यह वास्तव में हुआ भी था तो) क्रियाशील (फंक्शनल) नहीं था, अतएव इस दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं है। यहाँ ध्वनि ग्रामों के ध्वन्यात्मक रूप में तो परिवर्तन आ गया है किन्तु भाषा के ध्वनिग्रामीय ढाँचे में परिवर्तन नहीं हुआ है, यह उसी रूप में सुरक्षित है।

## भाषाविज्ञान का अमरीकी स्कूल

आधुनिक युग में अमेरिका भाषा-विज्ञान के वर्णनात्मक, विशेषरूप से एककालिक अध्ययन का केन्द्र बन गया है। अतएव संक्षेप रूप में यहाँ इस सम्बन्ध में विचार किया जाता है। अमेरिका में भाषा विज्ञान के अध्ययन में, विशेषरूप से तीन विद्वानों——फ्रेंज बोआज, एडवर्ड सापिर एवं लियोनर्ड ब्लूम-फिल्ड——के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से ब्लूमफिल्ड के नाम पर तो अलग एक स्कूल की ही स्थापना हो गई है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा। आरम्भ में यहाँ तीनों भाषाविज्ञानियों का जीवन-चरित दिया जायेगा।

## (१) फ्रेंज़ बोआज़ (सन् १८५८ ई० से १९४२ ई०)

आप अमेरिका के प्रसिद्ध नृविज्ञानी थे। आपका जन्म ९ जुलाई सन् १८५८ ई० में वेस्टफेलिया के मिंडन नामक स्थान में हुआ था। आपकी शिक्षा जर्मनी के हाइडेलबर्ग, बॉन तथा कील विश्वविद्यालयों में हुई थी।

आप के अध्ययन के विषय भौतिकविज्ञान, गणित एवं भूगोल थे। सन् १८८१ ई० में आपने कील विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। आपकी रुचि भूगोल में अधिक थी इसलिए आप सन् १८८३-१८८४ ई० में हैम्बुर्ग से आर्कटिक की यात्रा करने वाले एक दल के सदस्य बन गए थे।

आर्कटिक प्रदेश में आप ने 'एस्किमो' लोगों का अध्ययन किया था। बर्लिन में आकर आप भूगोल के प्राध्यापक नियुक्त हुए। सन् १८८६ ई० में अमेरिका आकर आप नृ-विज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त हो गए। नृ-विज्ञान के क्षेत्र में बोआज़ ने अनेक महत्त्वपूर्ण शोध निबन्ध लिखे। आपने अमेरिका के आदिवासियों की भाषा एवं संस्कृति का गम्भीर अध्ययन किया था। आपसे प्रेरणा प्राप्त कर अनेक अमरीकी युवक नृ-विज्ञान एवं भाषाविज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त हुए थे।

## (२) एडवर्ड सापिर

आपका जन्म २६ जनवरी सन् १८८४ ई० में 'लवनबुर्ग पोमेरानिया' में हुआ था तथा आपकी मृत्यु ४ फरवरी सन् १९३९ ई० में न्यूहेवेन में हुई थी। आप येल विश्वविद्यालय में नृ-विज्ञान के अध्यक्ष थे। आपका बाल्यकाल न्यूयार्क और बाल्टीमोर में व्यतीत हुआ था तथा आपने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान एवं नृ-विज्ञान का अध्ययन सम्पन्न किया था। सन् १९०८ ई० से सन् १९१० ई० तक आप पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे। इसीप्रकार सन् १९२५ ई० से सन् १९३१ ई० तक आप शिकागो वि-वविद्यालय में नृ-विज्ञान के अध्यक्ष थे।

सन् १९३१ ई० से मृत्युपर्यन्त आप "येल विश्वविद्यालय' के नृ-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष रहे। सापिर के विशेष अध्ययन का विषय अमेरिका के आदि-वासियों की भाषा थी, किन्तु आप विश्व की अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं के ज्ञाता थे। आपने भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष में भी अनेक अभिनव सिद्धान्तों का आविष्कार किया था। आपकी गणना नृ-विज्ञान एवं भाषाविज्ञान के प्रवर्त्तकों में की जाती है।

## (३) ब्लूमफिल्ड

आप अमेरिका के प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी थे। आपका जन्म १ अप्रैल सन् १८८७ ई० में शिकागो में हुआ था और मृत्यु १८ अप्रैल सन् १९४९ ई० में न्यूहेवेन में हुई थी।

आपकी शिक्षा 'हार्वर्ड', 'विस्कान्सिन' तथा शिकागो विश्वविद्यालयों में हुई थी। सन् १९१३-१४ ई० में आपने जर्मनी के 'लाइपज़िग' एवं 'गार्टिजन' विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया था। आरम्भ में आप विस्कान्सिन तथा शिकागो विश्वविद्यालयों में जर्मनभाषा के शिक्षक थे। सन् १९१३ ई० से सन् १९२१ ई० तक आप अमेरिका के 'इलिनॉयस' विश्वविद्यालय में जर्मन भाषा एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आचार्य थे और इसके बाद के छै वर्षो तक आप 'ओहायो' विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र एवं जर्मन के प्राचार्य रहे।

सन् १९२७ ई० में आप शिकागो विश्वविद्यालय में जर्मेनिक भाषाविज्ञान के अध्यक्ष बनकर आए तथा सन् १९४० ई० में यहाँ से ये येल विश्वविद्यालय चले गए। अपने जीवन के शेष दिनों तक आप यहीं रहे। आप भाषाविज्ञान के उत्कृष्ट विद्वान् थे। आपका मत था कि लेखन के पूर्व किसी भाषा के बोलने का अभ्यास आवश्यक है। आप अमेरिका में वर्णनात्मक भाषाशास्त्र के प्रवर्तक थे। आप की कृति "लैंग्वेज" भाषाविज्ञान का प्रामाणिक ग्रंथ है। आपने अमेरिका के आदिवासियों की बोलियों का भी गम्भीर अध्ययन किया था।

### ब्लूमफिल्ड स्कूल

ब्लूमफिल्ड ने स्वयं न तो किसी स्कूल की स्थापना की और न वे इसके पक्ष में ही थे। वे अत्यन्त संकोची व्यक्ति थे, फिर भी अमेरिका में अभिनव रूप में जिन विद्वानों ने भाषाविज्ञान के अध्ययन को अग्रसर किया उनमें आप अग्रगण्य थे। यही कारण है कि उनके नाम के साथ स्कूल का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक है।

ब्लूमफिल्ड ने एक ओर जहाँ अध्यापक के रूप में नवयुवकों को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में दीक्षित किया वहाँ दूसरी ओर आपकी लेखनी भी तीव्र गति से चलती रही। आप निरन्तर भाषा-विज्ञान विषयक लेख एवं पुस्तकों का प्रणयन करते रहे जिससे नई पीढ़ी के भाषा विज्ञानियों को प्रेरणा मिलती रही। सन् १९३३ ई० में आपकी पुस्तक "लैंग्वेज" का प्रकाशन हुआ और यह पुस्तक

पाठ्य-पुस्तक के रूप में संयुक्तराज्य अमेरिका के सभी विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान के अध्येताओं के लिए वरदान सिद्ध हुई।

भाषाविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में जो प्रगति हुई थी उसके सर्वेक्षण के लिए वास्तव में ब्लूमफिल्ड ने अपने इस ग्रंथ का प्रणयन किया था। वे स्वयं अपने इस ग्रंथ को साधारण कोटि का मानते थे किन्तु वास्तव में बात ऐसी न थी। इससे युवक भाषा विज्ञानियों को गहराई के साथ अध्ययन में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिली। इस कृति के सम्बन्ध में बर्नर्डब्लाक के निम्नलिखित उद्‌गार द्रष्टव्य हैं—

"सन् १९३३ ई० से इस देश (संयुक्तराज्य अमेरिका) में भाषा-विश्लेषण सम्बन्धी जो भी सूक्ष्म विचार प्रादुर्भूत हुए उसकी प्रेरणो ब्लूमफिल्ड की कृति से ही मिली है। आज यदि हमारी अध्ययन-प्रणाली पहले की अपेक्षा किंचित् समुन्नत है और हम भाषा संरचना के कतिपय पक्षों को पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्टरूप से देखने लगे हैं तो इसका कारण भी ब्लूमफिल्ड की कृति ही है।"

इसमें सन्देह नहीं कि ब्लूमफिल्ड तथा उनके मार्ग को अनुसरण करने वाले भाषाविज्ञानियों ने कतिपय महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का अनुगमन किया किन्तु भाषा विषयक विश्लेषण की पद्धतियाँ सब की एक न थी। यह होते हुए भी ब्लूमफिल्ड तथा इस स्कूल के अन्य भाषाविज्ञानियों ने भाषाविज्ञान को वास्तव में विज्ञान बनाने के कार्य में योगदान दिया। नीचे ब्लूमफिल्ड के भाषाविषयक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जाता है :—

## (क) ध्वनिपरिर्तन की नियमितता

आरम्भ में ब्लूफिल्ड ध्वनिनियम (फोनेटिक ला) के अध्ययन में प्रवृत्त हुए। सन् १९१० से सन् १९२४ ई० तक आप इसे पूर्ण बनाने में प्रवृत्त रहे। आपने ध्वनि-परिवर्तन के कारणों पर गहराई से विचार करके उसके अनेक अपवादों को दूर किया तथा उसकी नियमितता सिद्ध की। आपने यह सिद्ध किया कि सकारण ध्वनि-परिवर्तन स्वनिक (phonetic) होते हैं और ये अर्थ (meaning), आवृत्ति (frequency) तथा सामंजस्य (harmony) जैसे अस्वनिक तत्त्वों से स्वतंत्र होते हैं। ब्लूमफिल्ड इस सिद्धान्त को इतनी दृढ़ता से मानते थे कि इस सम्बन्ध में वे किसी से समझौता करने को तैयार न थे। आपके मतानुसार ध्वनिसम्बन्धी नियमितता ने ही भाषाविज्ञान को यथार्थतः विज्ञान बनाया है। इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त

करते हुए आप अपनी पुस्तक "लैंग्वेज" में लिखते हैं, "सन् १८७० ई० में जब भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली अपेक्षाकृत शिथिल थी तो इस नियमित परिवर्तन की ओर लक्ष्य करके भाषाविज्ञानियों ने घोषणा की थी कि स्वनिक-नियम अथवा ध्वनिनियम (फोनेटिक ला) अपवाद रहित हैं। यहाँ "ला" शब्द विचारणीय है। यह शिथिल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि ध्वनि-सम्बन्धी (=स्वनिक) परिवर्तन किसी भी अर्थ में "ला" नहीं है, अपितु यह ऐतिहासिक घटना है। इस घोषणा में 'अपवाद रहित है' वाक्य भी अत्यन्त शिथिल है। यहाँ यह कहना चाहिए कि अर्थ, आवृत्ति एवं सामंजस्य जैसे अस्वनिक तत्त्व, स्वनिक परिवर्तन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते।

ब्लूमफिल्ड के ऊपर के विचारों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि स्वनिक नियम (फ़ोनेटिक ला) के सम्बन्ध में उन्होंने किस रूप में सटीक विचार व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में ब्लूमफिल्ड ने जो कार्य किया वह यह था कि उन्होंने भाषा एवं स्वनिक परिवर्तनों को स्पष्टरूप से दो पृथक् तत्त्व स्वीकार किया।

## (ख) मनोविज्ञान से पार्थक्य

ब्लूमफिल्ड का दूसरा कार्य यह था कि उन्होंने भाषाविज्ञान को मनोविज्ञान से पृथक् किया। स्वनिक परिवर्तन के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्हें इस बात की प्रतीति हुई कि यह स्वाभाविक क्रिया के परिणामस्वरूप क्रमशः होता है तथा इसमें मनोविज्ञान का हाथ नहीं होता। ज्यों-ज्यों आप भाषा की प्रकृति के अध्ययन में गहराई से प्रवृत्त होते गए त्यों-त्यों इस सम्बन्ध में आपके विचारों में भी दृढ़ता आती गई और अन्त में आप इस परिणाम पर पहुँचे कि मनोविज्ञान को पूर्णतया पृथक् रखते हुए भाषा का अध्ययन सम्भव है। भाषा-विज्ञान को एक पृथक् विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए यह आवश्यक था। आपने स्पष्टरूप से यह मत व्यक्त किया कि भाषा के अध्ययन के लिए स्वनिकविज्ञान (फोनेटिक्स) एवं मनोविज्ञान के अध्ययन आवश्यक हैं।

## (ग) वैज्ञानिक तथा वर्णनात्मक वक्तव्य

ब्लूमफिल्ड ने विशुद्ध वैज्ञानिक एवं वर्णनात्मक वक्तव्य पर बल दिया। उनके अनुसार वक्तव्य मनोविज्ञान से सर्वथा असंपृक्त होने चाहिए। ये इस रूप में होने चाहिए ताकि भौतिक धरातल पर इनका परीक्षण हो सके। इसी

प्रकार भाषा की विश्लेषण प्रक्रिया भी गणित की भाँति तर्कपूर्ण एवं स्पष्ट होनी चाहिए।

भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के निर्माण में ब्लूमफिल्ड के इन विचारों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आज इसी का परिणाम है कि भाषा के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए अमेरिका में अनेक नूतन पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हुआ है।

## (घ) अर्थ का प्रयोग

सम्प्रति अमेरिका के कतिपय भाषाशास्त्री भाषा में अर्थ-तत्त्व को महत्त्व-पूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार अर्थतत्त्व भाषा की सीमा के बाहर की वस्तु है। ब्लूमफिल्ड भाषा के अध्ययन में अर्थतत्त्व को आवश्यक मानते हैं, किन्तु इसके साथ ही उनका यह स्पष्ट मत है कि भाषा के विश्लेषण, वर्गीकरण एवं उसकी परिभाषा के आधार रूप में परम्परा से जो अर्थ का प्रयोग हो रहा है वह ठीक नहीं है तथा इसके परित्याग में ही कल्याण है। सच तो यह है कि अर्थ-तत्त्व के विश्लेषण के द्वारा हम वाक्य तथा विभिन्न व्याकरण कोटियों की विशिष्टता को नहीं जान सकते।

इस विषय में वास्तविक स्थिति यह है कि भाषा की व्याकरणीय संरचना तो अर्थतत्त्व का निर्देश करती है और इस दृष्टि से अर्थ की व्याख्या भी आवश्यक है किन्तु इसके विपरीत भाषा का अर्थतत्त्व उसकी संरचना की ओर इंगित नहीं करता। यही कारण है कि आधुनिक भाषा-विज्ञानी, आरम्भ से ही, भाषा के विश्लेषण में अर्थतत्त्व का समावेश अवैज्ञानिक मानते हैं। ब्लूमफिल्ड एवं उनके अनेक अनुगामी अर्थ के कतिपय रूपों एवं पक्षों को भाषा-विश्लेषण के लिए आवश्यक प्रक्रिया मानते हैं। हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से अथवा सूचक द्वारा अर्थ की उपलब्धि कर ही लेते हैं। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि भाषा विषयक अर्थतत्त्व औपचारिक होते हैं तथा इनकी व्याख्या भी भौतिक धरातल पर ही होनी चाहिए।

## (ङ) भाषाविज्ञान का क्षेत्र

ब्लूमफिल्ड ने भाषा के आन्तरिक विश्लेषण एवं वर्णनात्मक प्रणाली की अपनी खोजों के द्वारा ही भाषाविज्ञान को वास्तविक रूप में विज्ञान नहीं बनाया अपितु आपने इसके क्षेत्र का भी विस्तार किया तथा समाज में भी इसे स्थान दिलाया। अनेक वर्षों तक भाषा-विज्ञानियों की दृष्टि में, भारोपीय परिवार की भाभाषओं का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन ही वैज्ञानिक

प्रक्रिया थी। इन भाषाविज्ञानियों के अनुसार वर्णनात्मक भाषाशास्त्र का कोई वैज्ञानिक महत्त्व एवं मूल्य न था। अमेरिका में वर्णनात्मक भाषाशास्त्र के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप में स्वीकृत कराने का श्रेय 'फ्रेंज बोआज़' को है। ब्लूमफिल्ड बोआज़ से अत्यधिक प्रभावित थे तथा उन्हें अपना गुरु मानते थे।

बोआज के शिष्य 'सापिर' ने भी वर्णनात्मक भाषाशास्त्र को समुन्नत बनाने यें योगदान किया। उनके द्वारा प्रणीत 'लैंग्वेज' (सन् १९२१) ग्रंथ आज भी मान्य है। सन् १९२२ ई० में ब्लूमफिल्ड ने इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किया था--

अब हम लोग इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि केवल भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन तक अपने को सीमित रखना उचित नहीं है। प्रणाली की दृष्टि से भी यह असम्भव है। अतएव इस पुस्तक को प्रकाशित देखकर प्रसन्नता हो रही है कि इसमें सापिर ने द्वैकालिक भाषाशास्त्र के पूर्व एककालिक भाषाशास्त्र के अध्ययन पर बल दिया है।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, यूरप में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का श्रेय स्विटजरलैंड के भाषाविज्ञानी 'फर्डिनेण्ड डी सस्योर' को है जिन्होंने द्वैकालिक तथा एककालिक, दोनों प्रकार के भाषाविज्ञानों के अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। डी सस्योर ने वास्तव में किसी ग्रंथ का प्रण .न नहीं किया था। आपने पैरिस विश्वविद्यालय में अपने छात्रों को समय-समय पर जो भाषण दिये थे उन्हें ही संकलित तथा सम्पादित करके उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया था। इसके द्वितीय संस्करण (सन् १९२२ ई०) की आलोचना करते हुए ब्लूमफिल्ड ने सन् १९२४ ई० में लिखा था--"इस कृति की यह विशेषता है कि इसमें डी सस्योर ने प्रथम बार इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि भारोपीय का ऐतिहासिक अध्ययन भाषा के अध्ययन का एक पक्ष मात्र है। इसमें डी सस्योर ने मानव भाषा के अध्ययन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।"

विशेष रूप से 'बोआज़' से तथा कुछ अंशों में सापिर से प्रेरणा प्राप्त करके ब्लूमफिल्ड ने सन् १९२० ई० से अमेरिका के आदि निवासियों की भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन आरम्भ किया था। सन् १९२०-२१ ई० में आपने "मेनोमिनी" तथा सन् १९२५ ई० एवं सन् १९३८ ई० में आपने "क्री" एवं 'ओजिब्वा' भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया। इन भाषाओं का ब्लूमफिल्ड ने वर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से अध्ययन किया।

इससे भी अधिक एक महत्त्वपूर्ण कार्य जो ब्लूमफिल्ड ने किया उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। भाषा के क्षेत्र में 'डी सस्योर' की कृति के महत्त्व के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। डी सस्योर ने भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष के सम्बन्ध में अनेक नूतन एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर इंगित किया था। उदाहरणार्थ डी सस्योर ने "भाषा" (ला लांग) एवं "पेरोल" में अन्तर किया था। इस सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए ब्लूमफिल्ड अपनी कृति "लैंग्वेज" में लिखते हैं--

जेस्पर्सन के अनुसार भाषा, अभिव्यक्ति का एक ढंग अथवा प्रकार है। इसके माध्यम से वक्ता अपने विचारों अथवा भावों को श्रोता तक पहुँचाता है और यह प्रक्रिया मानव-जीवन में, आवश्यकतानुसार सदैव परिचालित रहती है। डी सस्योर की भाँति मेरे तथा सापिर के लिए यह "पेरोल" है जो भाषा-विज्ञान की सीमा के बाहर की वस्तु है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध तो भाषा के उस रूप से है जिसे डी सस्योर ने 'ला लांग' कहा है तथा जिसका सामान्य रूप से एक जाति या समूह के सभी भाषाभाषी बोलते समय प्रयोग करते हैं। वास्तव में ये किसी भाषा के स्वनिम, व्याकरण कोटियाँ एवं शब्द-भाण्डार आदि हैं। भाषा के ये तत्त्व किसी समूह के सम्पूर्ण उच्चारों (उच्चरित ध्वनियों) के अंश मात्र हैं। बालक को भाषा का यही रूप सिखाया जाता है और वह इसे इतनी पूर्णता से सीख लेता है कि आगे के जीवन में विभिन्नताओं के कारण उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। भाषा के तत्त्व एक ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिसका वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। किसी भाषा के व्याकरणीय एवं कोषीय तत्त्व उस भाषा के सारभूत रूप होते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब भाषाविषयक दृढ़ व्यवस्था का अतिक्रमण करके व्यक्ति मानक से भिन्न भाषा का प्रयोग करने लगता है तो अन्ततोगत्वा भाषा में परिवर्तन की प्रक्रिया का समारम्भ हो जाता है। किन्तु यह बात न भूलनी चाहिए कि एक दो व्यक्तियों के अपप्रयोग से भाषा में परिवर्तन नहीं होता। भाषा में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि उसके बोलने वाले सभी लोग किन्हीं कारणों से अपप्रयोग को स्वीकार कर लें। भाषा के परिवर्तन में किसी व्यक्ति विशेष का अपप्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु इसमें सम्पूर्ण जाति द्वारा स्वीकृत अपप्रयोग दिखाई देते हैं। यह परिवर्तन एक रूप एवं क्रमश: होता है। इस परिवर्तन के प्रत्येक क्षण में भाषा की व्यवस्था, अन्य समय की भाँति ही सुदृढ़ होती है। यदि भाषा के जीवन्त तथ्यों एवं वास्तविक उच्चारों का हम अध्ययन करें तो यह स्थिति कदापि न होगी। इन उच्चारों में भाषा-

विषयक ऐसे तथ्य उपलब्ध होंगे जिनका समुचित अध्ययन किसी भी भाषाशास्त्री के लिए सम्भव न होगा। जिस प्रकार इन तत्त्वों में से सारभूत रूप में हम भाषा-विषयक तत्त्वों को भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए पृथक् कर लेते हैं उसी प्रकार शरीर एवं मनोविज्ञानी भी अपने अध्ययन के लिए इन तत्त्वों को कतिपय रूपों को ग्रहण कर लेंगे।

अतएव भाषा सम्बन्धी अध्ययन में, मैं जेस्पर्सन की भाँति रूप एवं अर्थ को दो पृथक् तत्त्वों के रूप में ग्रहण नहीं करूँगा। एक ओर हम (भाषाविज्ञानी) इस बात से प्रसन्न होते हैं कि हम इन दोनों तत्त्वों को पृथक् करके विचार कर सकते हैं वहाँ दूसरी ओर इस सम्बन्ध में यथार्थ बात यह है कि हमारे अध्ययन के सारभूत तत्त्व (भाषा) को ये प्रभावित नहीं करते। व्याकरणीय कोटियों को निर्धारित करते समय हमें भाषा के प्रकृत एवं प्रचलित रूपों को ग्रहण करना चाहिए।"

ब्लूमफिल्ड के संरचनात्मक भाषाविज्ञान का यही आधार है। हम यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि किसी विशेष अवसर पर कोई व्यक्ति क्या कहेगा तथा भाषा सम्बन्धी किन रूपों का प्रयोग करेगा। ये वास्तव में वाक् (पैरोल) के कार्य हैं। किसी जाति या समुदाय के वाक् कार्यों का योगफल मात्र भाषा नहीं है। भाषा वास्तव में व्यतिरेकी रूपों की वह सुदृढ़ व्यवस्था है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति विशेष का कथन प्रभावोत्पादक बन जाता है और वह श्रोता के हृदय में भी वक्ता के समान ही भावना जागृत करता है। इस प्रणाली की सुदृढ़ व्यवस्था के द्वारा हम किसी भाषीय समुदाय की नियमित प्रक्रिया के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकते हैं। भाषा की व्यवस्था की इस प्रणाली के विषय में विवरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत करना ही वर्णनात्मक एवं संरचनात्मक भाषाशास्त्र का कार्य है। सम्प्रति भाषा के वर्णनात्मक अध्ययन पर अधिक बल दिया जा रहा है। इससे भाषाविज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है। वर्णनात्मक के साथ-साथ ऐतिहासिक अध्ययन का कार्य भी पूर्व-वत् चल रहा है। इन दोनों प्रकार के (एककालिक एवं द्वैकालिक) अध्ययनों में संरचना एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया है। विभिन्न कुल की बोलियों एवं भाषाओं के वर्णनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप ही संरचना सम्बन्धी विचार का प्रादुर्भाव हुआ है। एक ओर जहाँ आधुनिक भाषाविज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो गया है वहाँ दूसरी ओर संरचनात्मक अन्तर्दृष्टि के कारण उसमें एक-रूपता भी आ गई है।

अमेरिका के भाषा विज्ञानियों को ब्लूमफिल्ड ने किस रूप एवं किस मात्रा में प्रभावित किया है उसका सही मूल्यांकन आज सम्भव नहीं है। ब्लूमफिल्ड ने भाषाविज्ञान के अनेक क्षेत्रों में कार्य किया किन्तु उनका मुख्य योगदान भाषा-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों के निर्माण में था। उन्होंने भाषा के विश्ले-षण के क्षेत्र में वस्तुओं से अधिक प्रणाली तथा प्रणाली से भी अधिक संरचना का महत्त्व प्रतिपादित किया।

अमेरिका में आज वैज्ञानिक रीति से भाषाविज्ञान का जो अध्ययन हो रहा है उसका बहुत कुछ श्रेय ब्लूमफिल्ड तथा कुछ अंशों में सापिर को है। केनेथ पाईक, ज़ैलिग हैरिस, कार्लबोगलिन एवं हाकिट जैसे भाषाविज्ञानियों पर इन दोनों विद्वानों का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। अमेरिका में आज भाषाविज्ञान प्रगति पथ पर आरूढ़ है और यहाँ के विद्वानों ने सिद्धान्त के क्षेत्र में अनेक नई खोजें की हैं।

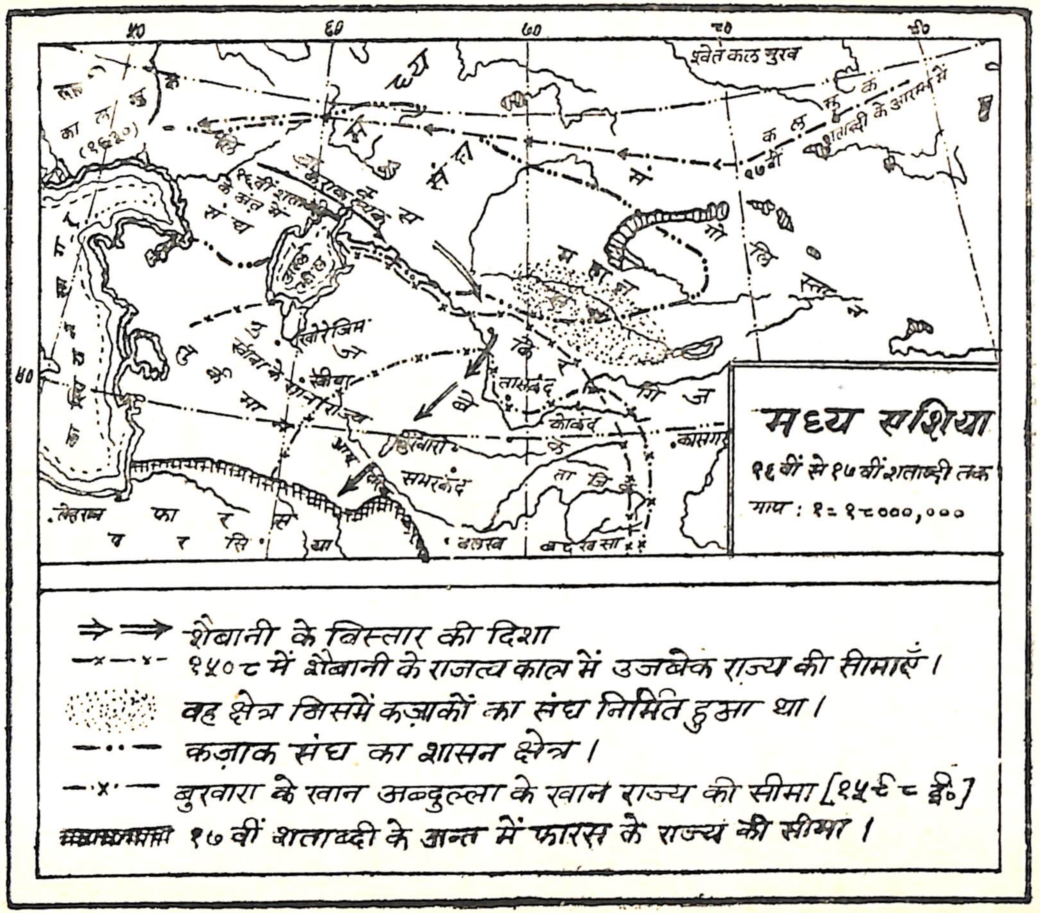
ऊपर के कथन की समाप्ति के पूर्व अमेरिका की आज की भाषा विश्लेषण पद्धति के विषय में भी कुछ निवेदन की आवश्यकता है। आज अमेरिका में भाषाविश्लेषण पद्धति पर बहुत बल दिया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन पद्धतियों के प्रवर्तक ब्लूमफिल्ड थे। ब्लूमफिल्ड की भाषा विश्लेषण की पद्धति अपनी थी। उन्होंने अपने ढंग से सूचकों से भाषा सम्बन्धी सामग्री एकत्र की और उसके आधार पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। ब्लूमफिल्ड नवीन भाषाओं के सीखने में बहुत दक्ष थे। वे पहले सूचक की भाषा सीख लेते थे तदुपरान्त उससे वार्तालाप द्वारा सामग्री प्राप्त करते थे। सूचक से सामग्री प्राप्त करने की भी उनकी कोई निश्चित पद्धति न थी। जिन भाषा विज्ञानियों ने आरम्भ में उनकी पद्धति का अनुगमन किया उन्होंने भी आगे चलकर स्वयं अपनी पद्धति बना ली और इसप्रकार भाषा विश्लेषण की पद्धति की परिधि का इन्होंने विस्तार किया। केनेथ पाईक एवं ज़ैलिग हैरिस की कृतियाँ इस सम्बन्ध में प्रमाणस्वरूप हैं।

## अध्याय ११

# परिशिष्ट

### तुर्की भाषाभाषियों का संक्षिप्त परिचय

तुर्क शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग चीनी भाषा में 'तु-क्यु' रूप में छठीं शताब्दि में मिलता है। इस शब्द का प्रयोग उस घुमन्तू जाति के लिए किया गया है जिसने


मध्य एशिया
१६ वीं से १७ वीं शताब्दी तक
माप : १ = १८०००,०००
श्वेत काल गुरब
खीवा
तासकंद
कोकंद
समरकंद
बुखारा
कासगर
खीवा के खान राज्य
१७ वीं शताब्दी के आरम्भ में
⇒ ⟹ शैबानी के विस्तार की दिशा
—x—x— १५०८ में शैबानी के राजत्व काल में उजबेक राज्य की सीमाएँ।
वह क्षेत्र जिसमें कज़ाकों का संघ निर्मित हुआ था।
—·:·— कज़ाक संघ का शासन क्षेत्र।
—·x·— बुखारा के खान अब्दुल्ला के खान राज्य की सीमा [१५९८ ई०]
१७ वीं शताब्दी के अन्त में फारस के राज्य की सीमा।

मंगोलिया एवं चीन की उत्तरी सीमा से लेकर काले सागर तक एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। इस साम्राज्य के भी दो स्वतंत्र भाग थे जिन्हें दो भाइयों ने स्थापित किया था। इनमें से एक उत्तरी तुर्कों का तथा दूसरा पश्चिमी तुर्कों का साम्राज्य था। सातवीं शताब्दी में ये दोनों साम्राज्य चीन के तां-ग वंश के अधीन थे; किन्तु तुर्क सन् ६८२ ई० में स्वतंत्र हो गए तथा उन्होंने एक नये राज्य की स्थापना की जो ७४४ ई० तक चलता रहा। तुर्की के प्राचीनतम 'ओरखान' अभिलेख का सम्बन्ध इसी राज्य से है।

छठीं शताब्दी से पूर्व का तुर्की का इतिहास अज्ञात है। चीनी स्रोतों से, ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व, चीन के पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम में 'हिउंग-नु' जाति के लोग रहते थे। ३०० ई० पू० इन लोगों ने चीन की महान दीवार से लेकर मंगोलिया तथा पूर्वी तुर्किस्तान होते हुए, पश्चिम में, कास्पियन सागर तक साम्राज्य की स्थापना की थी। यह साम्राज्य किसी न किसी रूप में ईसा की प्रथम शताब्दी तक चलता रहा।

यह निश्चितरूप से कहना कठिन है कि 'हिउंग-नु' लोगों का तुर्क, मंगोल अथवा तुंगुज़ लोगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध था। बहुत सम्भव है कि प्रथम दो के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता हो और हिउंग-नु साम्राज्य में अन्य जातियों के अतिरिक्त तुर्क एवं मंगोल लोग भी बसे हों। इसीप्रकार हूण लोगों का सम्बन्ध भी 'हिउंग-नु' लोगों से बताया जाता है। हूण कौन थे, इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। सम्भवतः ये लोग तुर्क, मंगोल एवं तुंगुज़ के सम्मिश्रण थे तथा इनमें उन फिन्नोउग्रीय एवं इरानी जाति के लोगों का भी रक्त था, जो मूलतः मंगोल वंश के थे।

'ओरखान' अभिलेख का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इसमें तुर्क जाति के विभिन्न वर्गों के वितरण का विवरण मिलता है। इसमें 'ओगुज़'नाम का कई बार उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं तो यह शब्द तुर्क लोगों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। किन्तु अन्यत्र इन्हें उनका शत्रु एवं शासक बतलाया गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि 'ओगुज़' के अन्तर्गत कई अन्य जातियाँ अथवा क़बीलों का सम्मिश्रण था। इसमें 'उइग़ुर' तथा 'किरग़िज' लोगों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम जाति के लोगों का निवास मंगोलिया के 'सेलेंगा' नदी के निकट तथा दूसरी जाति के लोगों का निवास 'येनिसेइ' नदी के आसपास बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त इस अभिलेख में "कार्लुक" लोगों का भी उल्लेख मिलता है। ये लोग भी तुर्क ही थे तथा

पश्चिमी तुर्कों के पूर्व में इनका निवासस्थान था। सन् ७६६ ई० में इन्हीं लोगों ने पश्चिमी तुर्कों की भूमि अधिकृत कर ली थी।

सन् ७४५ ई० में मंगोलिया की राजसत्ता 'ओग़ुज़' लोगों के हाथ से निकल कर 'उइग़ुर' लोगों के हाथ में आ गई। कुछ 'ओग़ुज' तो 'उइग़ुर' लोगों के शासन में मंगोलिया में ही रह गए, किन्तु अन्य लोग पश्चिम तथा दक्षिण की ओर चले गए। सम्प्रति दक्षिण-पश्चिम में ज़ो तुर्क लोग हैं, वे मूलतः इन्हीं 'ओग़ुज, लोगों के वंश के हैं जो स्थानान्तरण के फलस्वरूप इधर आए थे।

नवीं शताब्दि में उइग़ुर लोगों ने 'मनीची' धर्म स्वीकार कर लिया। यह धर्म उन्हें सोग़डियन लोगों से प्राप्त हुआ था। सोग़डियन लिपि से ही 'उइग़ुर' लिपि विकसित हुई थी। आगे चलकर, उस युग में प्रचलित तुर्की लिपि का उच्छेद कर, यही लिपि प्रतिष्ठापित हुई।

सन् ८४० ई० में किरग़िज लोगों ने 'उइग़ुर' साम्राज्य को ध्वस्त कर डाला। मंगोलिया से निष्कासित होने पर उइग़ुर लोगों ने दो नये राज्यों की स्थापना की। इनमें से एक कन्सू में था तथा दूसरा 'शिवालिक' एवं 'कराखोज' में था। इनमें से प्रथम को तो "तंगुत" लोगों ने सन् १०२८ ई० में जीत लिया, किन्तु दूसरा राज्य मंगोल युग तक चलता रहा। सन् ९२४ ई० में, "किताई" लोगों ने 'किरग़िज' लोगों को मंगोलिया से निष्कासित कर दिया। "किताई" लोग वास्तव में तुंगुज लोगों के ही वंशज थे। किरग़िज लोगों की पराजय से मंगोलिया में तुर्की शासन का अवसान हो गया। मंगोलिया से निष्कासित होने के बाद अधिकांश किरग़िज, 'येनिसेई' नदी के ऊपरी क्षेत्र में जा बसे। यहाँ से कुछ लोग दक्षिण की ओर चले गये। आज भी यह अंचल किरग़िज लोगों का वासस्थल है।

पश्चिमी तुर्कों ने सन् ५७६ ई० में, 'बाइज़ैन्टाइन' से 'बासफोरस' को जीत लिया, किन्तु केवल ५९० ई० तक ही इस पर उनका प्रभुत्व रहा। कैस्पियन सागर के पूर्व ओर ससानीय वंश के पारसीक लोगों के राज्य का कुछ भाग हस्तगत करके इन्होंने अपने राज्य की सीमा 'आमू' नदी तक कर ली। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पश्चिमी एवं उत्तरी तुर्कों को ६५९ ई० में, चीन के 'तां-ग' वंश की नाममात्र की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् ६९९ ई० तथा सन् ७११ ई० में इन्हें उत्तरी तुर्कों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी; किन्तु थोड़े दिनों के बाद ही ये स्वतंत्र हो गए।

पश्चिमी तुर्कों के ऐतिहासिक विवरण के पूर्व यहाँ "खज़ार" लोगों का

उल्लेख भी आवश्यक है। ये लोग यूराल के निवासी थे तथा सातवीं शताब्दि में इन्होंने एक साम्राज्य की स्थापना की थी जिसका काकेशस से लेकर क्रिमिया तक विस्तार था। आगे चलकर इस साम्राज्य का विस्तार और भी बढ़ा और यह 'यूराल' से 'डिनीपर' नदी एवं 'काकेशस' से वोल्गा के मध्य भाग तक हो गया। यह साम्राज्य दसवीं शताब्दि तक चला। इसके उपरान्त रूस ने इसे ध्वस्त कर दिया।

ये 'खज़ार' लोग भी तुर्क ही थे, किन्तु इनकी भाषा अन्य तुर्की भाषाओं से सर्वथा भिन्न है। सम्प्रति इसकी एक मात्र प्रतिनिधि भाषा "चुवाश" है। सम्भवतः इनका सम्बन्ध "बोलग़ार" लोगों से था जिनका साम्राज्य 'वोलगा' नदी के मध्य एवं निचले भाग तक विस्तृत था। यह साम्राज्य नवीं से तेरहवीं शताब्दि तक चला था। पाँचवीं शताब्दि के आस-पास कुछ बोलग़ार लोगों ने 'उक्राइन' को जीत लिया तथा सन् ६७८ ई० में डैन्यूब नदी को पार कर अपने राज्य की सीमा बाल्कन पर्वत तक बढ़ा ली थी। गत दो शताब्दियों में इनका पूर्णरूप से 'स्लाव' लोगों में विलयन हो गया है।

सातवीं शताब्दि के अन्त में पश्चिमी तुर्कों तथा अरब लोगों में युद्ध हुआ जिसमें अरब विजयी हुए तथा ट्रान्सोख़ानियाँ को जीतकर इन्होंने 'सिर' नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। अगली तीन शताब्दियों में फ़ारसवालों ने अरबों का उच्छेद कर डाला। उन्होंने ट्रान्सोख़ानिया पर आक्रमण किया तथा इधर अपनी शक्ति एवं प्रभाव की अभिवृद्धि में वे सफल हुए। ट्रान्सोखानियाँ का दक्षिणी भाग सन् ८७४ ई० तक अब्बासी तथा इसके बाद समनीवंश के अधिकार में था। तुर्क लोग बराबर इस क्षेत्र पर आक्रमण करते थे, किन्तु वे इसे अधिकृत न कर सके। सन् ९९९ ई० में उन्होंने 'करखनी' वंश अथवा इलेकख़ान के शासन-काल में उन्होंने 'बुख़ारा' और 'समरकन्द' पर अधिकार कर लिया और एक बार पुनः आमू नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया।

## ओग़ुज़ तथा किपचक स्थानान्तरण

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में तुर्क लोगों के दो बड़े स्थानान्तरण हुए। तुर्क लोगों के बाद के इतिहास की दृष्टि से ये दोनों अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे। इनमें से प्रथम स्थानान्तरण ओगुज लोगों का था। ये लोग 'सिर' नदी के उत्तरी क्षेत्र से स्थानान्तरित हुए थे। इनकी एक शाखा 'ख़लजी' या "ख़िलजी" थी जो दक्षिण की ओर ट्रान्सोख़ानियाँ होते हुए अफग़ानिस्तान में

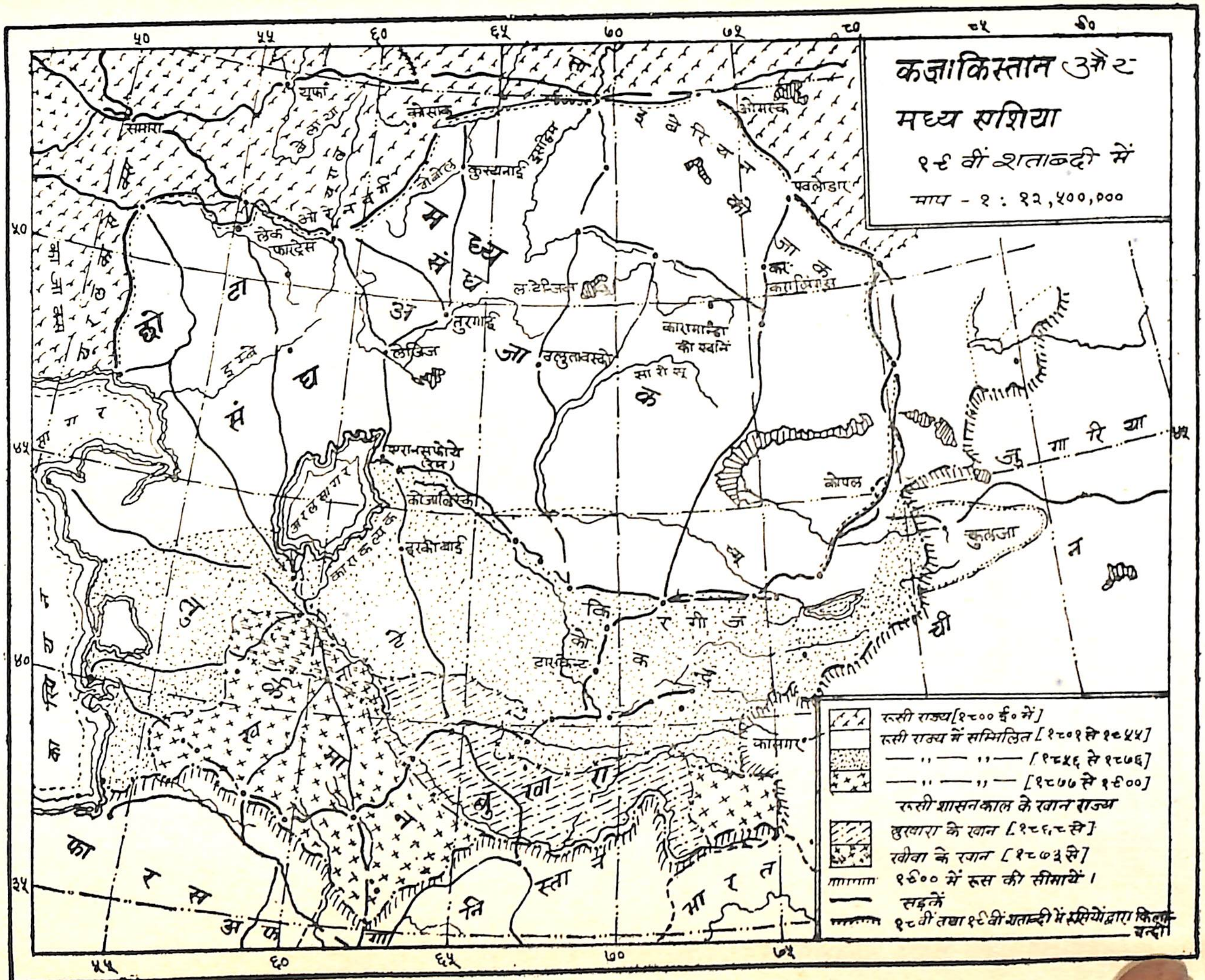
प्रविष्ट हुई थी। पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान में 'गिलज़ाई' जाति के पहले ये लोग बस गए थे और बाद में इस वंश के बादशाहों ने दिल्ली पर शासन किया था।

इनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण शाखा 'सेलजुक' थी। इसने ट्रान्सोख़ानियाँ को पारकर फ़ारिस को विजित किया तथा बग़दाद होते हुए यह सिरिया तथा आर्मेनिया पहुँची। सन् १०७१ में इस शाखा ने वैज़ैन्टाइन को पराजित किया और कियत काल तक इसके राज्य का विस्तार 'आमू' नदी से फ़ारस की खाड़ी तक तथा सिन्धु से भूमध्य सागर तक था। सन् ११०० ई० में इनका साम्राज्य विखंडित होने लगा था। इनमें से अनातोलिया स्थित 'कोनया' के सुल्तान तथा 'अराल' झील के निकट 'खोरेज़म' के शाह का शासन तो तेरहवीं शताब्दि तक, मंगोलों द्वारा विध्वंस किये जाने के पूर्व, तक चलता रहा। यह उल्लेखनीय है कि सम्प्रति तुर्किस्तान, उत्तरी-पूर्वी फारस तथा उत्तरी-पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान में जो तुर्क रहते हैं, वे वास्तव में उन 'सेलज़ुक' लोगों के वंशज हैं, जो दक्षिण की ओर चले गए थे।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि मंगोल शासन के अवसान के पश्चात् "ओग़ुज" के ही वंशज "ओटोमन" लोग 'अनातोलिया' के शासक बने। सन् १३२६ ई० में, बाइज़ैन्टाइन सीमा स्थित, तुर्की के खान के "ओस्मान" नामक एक कर्मचारी ने "बुर्सा" पर अधिकार कर लिया तथा "ओटोमन" साम्राज्य की स्थापना की। इसके बाद की शताब्दियों में, यह साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया कि सोलहवीं शताब्दि में, यह पश्चिम में 'अलजिरिया' से लेकर पूरब में 'फ़ारस' तथा दक्षिण में 'यमन' एवं 'सूडान' से लेकर उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम में, यह 'क्रिमिया' 'मोलडाविया' एवं 'हुंगेरी' तक विस्तृत हो गया था। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दि में यह विखंडित होने लगा और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तो इसका स्वरूप वर्तमान टर्की का हो गया।

'ओग़ुज़' लोगों के पिछले स्थानान्तरण के आरम्भ के एक शताब्दि पूर्व, ये लोग एक बार पश्चिम की ओर भी प्रयाण किये थे। इस ओर ये 'खज़ार' लोगों की सहायता से, तुर्की वंश के 'पेचनेग' लोगों को, उनके स्थान, यूराल क्षेत्र से निष्कासित करने में सफल हुए थे।

'पेचनेग' भी तुर्क ही थे जो इनसे बहुत पहले पृथक् हो गये थे। उनका प्राचीतम स्थान यूराल-वोल्गा क्षेत्र था। इनके दक्षिणी-पश्चिमी पड़ोसी 'खज़ार' लोग तथा दक्षिणी-पूर्वी पड़ोसी 'ओग़ुज' थे। जब 'ओग़ुज' लोगों ने उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में, इन्हें इस क्षेत्र से निष्कासित कर दिया तो ये पश्चिम की ओर बढ़े



कज़ाकिस्तान और मध्य एशिया
१९ वीं शताब्दी में
माप - १ : १२,५००,०००
रूसी राज्य [१८०० ई० में]
रूसी राज्य में सम्मिलित [१८०१ से १८५५]
[१८५६ से १८७६]
[१८७७ से १९००]
रूसी शासनकाल के खान राज्य
बुखारा के खान [१८६८ से]
खीवा के खान [१८७३ से]
१९०० में रूस की सीमायें।
सड़कें
१८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी में रूसियों द्वारा किलाबन्दी
समारा
यूफा
ओरेनबर्ग
लेक फाद्रेस
तुरगाई
लेविज
उलुतावस्की
कारागान्डा की खानें
पवलोडार
ओमस्क
कोपल
कुलजा
कज़ालिंस्क
टाश्कन्द
कासगर
अरल सागर

और 'डोन' एवं 'डिनीपर' नदियों के बीच रहने वाले 'मगयार' लोगों पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया। मगयार लोग तब पश्चिम की ओर चले गये और अपने वर्तमान स्थान में बस गए। 'पेचनग' लोग भी इनके पीछे बढ़ते गए तथा ये दक्षिणी रूस में 'बेस्सराबिया' एवं 'मोलडेविया' को पार करते हुए कार्पेथियन तक अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इसके साथ ही साथ ये हुंगरी के विविध स्थानों में भी बस गए।

ऊपर जिन दो 'ओग़ुज़' शाखाओं का उल्लेख किया गया है, उनके स्थानान्तरण के समय ही, इनकी एक तीसरी शाखा, पश्चिम की ओर गई। यह शाखा पेचनेग लोगों के राज्य में प्रविष्ट हो गई तथा सन् १०६५ में उसने इन्हें पराजित कर दिया। इसके उपरान्त पेचनेग लोग 'डैन्यूब' तथा बाल्कन की ओर जाने को बाध्य हुए। 'ओग़ुज' लोगों ने डैन्यूब नदी को पार कर बाल्कन क्षेत्र को, दक्षिण में, ग्रीस तक ध्वस्त कर दिया। इसके थोड़े ही समय बाद ये लोग 'पेचनेग' तथा बुल्गार लोगों द्वारा पूर्णरूप से पराजित एवं ध्वस्त कर दिये गये। पुनः सन् १०९१ ई० तथा सन् ११२२ ई० के दो युद्धों में, बैजैन्टाइन ने पेचनेग लोगों को पराजित करके इन्हें विनष्ट कर दिया।

तुर्कों के दो बड़े स्थानान्तरणों में से दूसरा 'किपचिक' लोगों का था। ओग़ुज़ स्थानान्तरण के समय ही, ये लोग भी, इर्तुश नदी से दक्षिण-पश्चिम ओर. सिर नदी तक गये तथा इन्होंने 'ओग़ुज़' के पुराने राज्य एवं पूर्वी यूरप को अधिकृत कर लिया। जिसप्रकार 'ओग़ुज़' लोगों का स्थानान्तरण आज के तुर्कों के दक्षिणी-पश्चिमी आवास की व्याख्या करता है, उसीप्रकार 'किपचिक' लोगों का स्थानान्तरण उनके आज के उत्तरी-पश्चिमी निवासस्थान की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

पूर्वी यूरप में 'किपचिक' लोगों ने कार्पेथियन, डैन्यूब डेल्टा, क्रिमिया तथा वोल्गा के निचले क्षेत्रों को अधिकृत कर लिया था। उन्हें रूस के निवासी 'पोलोवत्सी' तथा पूर्वी यूरप के लोग 'कुमान' नाम से अभिहित करते थे। सन् १२३९ ई० में जब मंगोलों ने इनके साम्राज्य को विध्वंस कर दिया तो ये लोग 'नोग़ाई' एवं 'मगयार' लोगों में विलीन होकर, सदा के लिए, इतिहास में अपना अस्तित्व खो बैठे। आज 'किपचिक', 'उज़बेक' एवं 'कज़ाक' लोग क़बीले के नाम के रूप में ही जीवित हैं।

उधर 'ओगु ' लोगों के 'करखनीदों' के राज्य से होकर जाने के एक शताब्दी बाद जब हम 'ट्रान्सोख़ानिया' की घटनाओं की ओर एक बार पुनः

दृष्टिपात करते हैं तो उत्तरी चीन के 'किताई' लोगों को 'करखनीदों' को विजित करते हुए पाते हैं। 'किताई' लोगों के सम्बन्ध में पहले उल्लेख किया जा चुका है और यह कहा जा चुका है कि किसप्रकार दो शताब्दी पूर्व उन्होंने 'किरग़िज़ों' को 'मंगोलिया' से बाहर निष्कासित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब 'किताइयों' ने 'करखनीदों' को जीतकर तथा उनके राज्य को अधिकृत कर 'येनसेई' नदी से 'बलख़' तथा 'खोरेज़म' से 'उइगुर' लोगों के राज्य तक अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, तब ये लोग पूर्णरूप से चीनी संस्कृति को अपना चुके थे और उनकी राजकाज की भाषा भी चीनी हो चुकी थी।

'किताई' साम्राज्य के पश्चिम में 'खोरेज़म' के "शाह" लोगों का राज्य था। यह 'सेलजुक' साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग था तथा उसके विखंडन के बाद सन् ११०० ई० में अत्यधिक शक्तिशाली हो गया था। सन् १२१० ई० में 'खोरेजम' के अन्तिम शाह ने 'किताई' लोगों को पराजित किया तथा कुछ दिनों के लिए 'बुख़ारा' एवं 'समरकन्द' को अधिकृत कर लिया। किन्तु केवल दस वर्षों में ही चिंगेज़ खाँ के अधिनायकत्व में मंगोलों ने उन्हें पराजित करके उनके राज्य पर अधिकार कर लिया।

## मंगोलविजय

सन् १२०५ ई० में चिंगेज़ खाँ, मंगोलिया में शक्तिशाली हो गया और सन् १२०९ ई० में, उसने 'येनसेई' के 'किरगिज़ों' एवं अन्य दो तुर्की क़बीलों 'मरकित' एवं 'नइमान' को पराजित किया। बचे हुए 'मरकित' पश्चिम की ओर 'किपचप' लोगों के देश की ओर भाग गए। चिंगेज़ खाँ का सबसे बड़ा पुत्र, 'जुची' इनका पीछा करते हुए आगे बढ़ा। उसने 'खोरेजम' के शाह से भी युद्ध किया। सन् १२१९ ई० में, मंगोलों ने शाह को परास्त कर उसके देश को अपने अधिकार में कर लिया। इसके अनन्तर मंगोल लोग सुदूर पश्चिम की ओर बढ़े। उन्होंने 'किपचक' लोगों को परास्त किया तथा वे 'कीव' और 'डिनीपर' नदी के किनारे जा पहुँचे।

सन् १२२७ ई० में चिंगेज़ खाँ की मृत्यु हो गई और उसका साम्राज्य उसके चार पुत्रों--'जुची', 'चग़ताई', 'युगेदेइ', एवं 'तुलुई'--तथा उनके उत्तराधिकारियों में बँट गया। इनमें से प्रथम पुत्र, जो वास्तव में चिंगेज़ खाँ की मृत्यु के कुछ महीने पूर्व ही कालकवलित हो चुका था, पश्चिमी क्षेत्र का अधिकारी




# तुर्किक भाषाओं का वितरण

1. चुवाश
2. याकुत
3. तुवाँ
4. कारागस्स
5. शोर, अबकन तथा युज़
6. स्टैपीज़ की भाषाएँ और बोलियाँ सगाई, कच, कोइबल, किज़िल क्वारिक, बेल्तिर और कमास.
7. सरिग़, उइगुर (सरियोगुर)
8. बरबा
9. अल्ताई भाषाएँ (कुमंद, लेबेद, तुबा, ओइरोत, तेलुत, तेलेंग, तोलोस इत्यादि)
10. किरगिज़
11. कज़ाक
12. कराकल्पक
13. नोगाई
14. कुम्यक
15. कराचाई, बल्कर
16. तातार बोलियाँ
17. बश्किर
18. पश्चिमी कराइम
19. पूर्वी तुर्किस्तान (तुर्की बोलियाँ)
20. तरांची
21. उज़बेक
22. तुर्कमेन
23. अज़ेरबैजानी
24. दक्षिणी ईरान की बोलियाँ (कश्कै, अइनल्लु, बोरबारलु और नफ़र)
25. अनातोलियन बोलियों के स... तुर्की-तुर्किश
26. बाल्कन तुर्किक
27. दक्षिणी क्रीमियन तातार
28. पूर्वी कराइम
29. चोलिम, रबा और चेरनी (चीश...)

रेखांकित अंक - अल्प-संख्यक तुर्की भाषा भाषी

बना। इसके राज्य का विस्तार 'सिर' नदी से लेकर, यूराल पर्वत के उस पार, वोल्गा एवं डॉन नदियों के और आगे था। यह राज्य 'गोल्डेन होर्ड' के नाम से विख्यात था। दूसरे पुत्र 'चग़ताई' को 'ट्रान्सोख़ानिया', 'फरग़ना', 'सेमिरेचे' तथा ट्रान्सोख़ानिया के दक्षिण का वह भाग मिला जो आज 'सिक्यांग' कहलाता है। तीसरे पुत्र 'युगेदेई' के हिस्से में, मंगोलों का मूल-स्थान आया तथा चौथे पुत्र 'तुलुई' को चीन के सुदूर पूरब का भाग मिला।

'जुची' के छोटे लड़के 'बातू खाँ' ने 'गोल्डेन होर्ड' राज्य की सीमा पश्चिम में, बढ़ाकर क्रिमिया तक कर दी। उसने भीतर प्रवेश करके 'साइलेशिया', पोलैण्ड, हुंगेरी एवं बोहेमिया को लूटा और आक्रमण करता हुआ वह अपनी सेना को वेनिस के निकट 'उदिने' तक ले गया। 'बातू खाँ' के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में दो महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए। इनमें से एक था राज्य का तुर्कीकरण तथा दूसरा था इस्लाम धर्म की स्वीकृति। ये दोनों कार्य चौदहवीं शताब्दी में सम्पन्न हुए। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में 'गोल्डेन होर्ड' की शक्ति क्षीण होने लगी। इसका मुख्य कारण उत्तराधिकार के लिए पारस्परिक संघर्ष था; किन्तु सन् १३७८ ई० में एक बार पुनः 'तोक्तमिश' के शासन-काल में, इसका उत्थान हुआ। सन् १३९५ ई० में, तैमूर के आक्रमण के परिणामस्वरूप, यह राज्य नष्ट हो गया।

'गोल्डेन होर्ड' के विनष्ट हो जाने के बाद, पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में तीन नये राज्यों—कज़ान', 'अस्त्राख़ान', एवं 'क्रिमिया'—की स्थापना हुई तथा इन तीनों के शासक तीन ख़ान बने। इनमें से प्रथम दो को, एक शताब्दि बाद रूस ने अधिकृत कर लिया। तीसरे राज्य 'क्रिमिया' को सन् १४७५ ई० में 'ओटोमन तुर्कों' ने जीत लिया और सन् १७८३ ई० तक यह उनके अधिकार में रहा, अन्ततोगत्वा रूस ने इसे भी अपने राज्य में मिला लिया।

सन् १२४१ ई० में चग़ताई की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी उत्तर पश्चिम में 'गोल्डेन होर्ड' को, अधिकृत करने के लिए निरन्तर युद्ध करने लगे और एक समय उन्होंने 'खोरेज़म' को जीत भी लिया। इसीप्रकार पूरब-दक्षिण में ये लोग 'तुलुइ' के उत्तराधिकारियों से भी युद्ध करते रहे। 'तुलुइ' के ज्येष्ठ पुत्र 'मंगू' ने सन् १२५१ ई० में मंगोलिया को जीत लिया तथा अपने छोटे भाई 'हुलागू' को, उसने दक्षिण-पश्चिम में विजय के लिये भेजा। उसने सन् १२५८ ई० में बग़दाद को अधिकृत किया तथा पारस में ख़ान वंश के राज्य की स्थापना की। इस पर अधिकार करने के लिए चग़ताई के वंश निरंतर युद्ध करते रहे।

उधर चग़ताई वंश वालों ने जब स्थल वाले व्यापारिक मार्ग को अपने कब्ज़े में कर लिया तब इसके महत्व को कम करने के लिए तुलुई के उत्तराधिकारियों ने पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्र का व्यापारिक मार्ग बनाया। इसके उपरान्त धीरे-धीरे, इस क्षेत्र की समृद्धि का ह्रास होने लगा तथा इधर से चीन के साथ जो व्यापार होता था वह पूर्णरूप से समाप्त हो गया। इसी समय रूस ने पूर्व की ओर चीन एवं प्रशान्त महासागर में अपनी शक्ति बढ़ाई। उसने पश्चिम पूर्व के व्यापार के लिए एक सुरक्षित मार्ग बनाया जो स्थानीय गृहयुद्धों के कारण विनष्ट हो गया था।

## तैमूर तथा उसके उत्तराधिकारी

चग़ताई वंश के उत्तराधिकारियों के शासन में तुर्कीकरण एवं इस्लामीकरण की प्रकिया में अभिवृद्धि हुई। खान लोगों की शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई और वास्तविक शक्ति तुर्की राज्यपालों के हाथ में आ गई। इन्हीं में से एक राज्यपाल "तैमूर" भी था जिसने सन् १३६९ ई० में चग़ताई वंश को पराजित करके "ट्रान्सोखानियाँ" में अपना शासन आरंभ कर दिया। अपनी मृत्यु के समय सन् १४०५ ई० तक उसने अपने राज्य का विस्तार "गोल्डेन होर्ड" फ़ारस के बहुत बडे भाग 'दक्षिणी बग़दाद' एलप्पो एवं 'दमिसकस' तथा 'दिल्ली' तक कर लिया। उसने तुर्की के सुलतान 'वेइजित प्रथम' को अंकारा के निकट परास्त किया था।

तैमूर के उत्तराधिकारियों का सौ वर्ष का युग, 'साहित्य एवं संस्कृति' के उत्थान का स्वर्णयुग था। तैमूर की मृत्यु की आधी शताब्दी बाद ही राजनैतिक शक्ति क्षीण होने लगी। उत्तर-पश्चिम में उज़बेक लोग शक्तिशाली हो उठे और १५०० ई० में तैमूर के उत्तराधिकारी बाबर को शाइबानी ने देश छोड़ने के लिए वाध्य किया। बाबर यहाँ से भारत चला आया जहाँ उसने मुगलराज्य की स्थापना की।

बातू खान के वंशज 'उज़बेक' के नाम पर ही इस वंश का यह नाम पड़ा। ये तुर्क लोगों की वह शाखा थी जो किपचक क्षेत्र से चली थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में, जब ये लोग दक्षिण-पूरब में स्थानान्तरित हुए तो कज़ाक लोग, उज़बेक लोगों से अलग हो गये। इनलोगों ने अपना अलग राज्य स्थापित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में रूसियों ने इन्हें पराजित कर इनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। तुर्क लोगों की एक दूसरी शाखा जो किपचक से चली थी, "लोग़ाई" लोगों की थी। प्राच्य-साहित्य में इनका नाम "मनग़ित" मिलता है। ये घुमन्तू

जाति के लोग थे और रूसी शासक के अन्तर्गत वोल्गा के निचले भागों में इन्होंने भी अपना राज्य प्रतिष्ठापित किया था। सत्रहवीं शताब्दी में काल्मुक लोगों ने इन्हें इस प्रदेश से निष्कासित कर दिया।

ट्रान्सोखानियाँ से बाबर को निकालकर "शइबानी" फ़ारस के "सफ़विद" वंश के संस्थापक 'इस्माइल' से युद्ध करने गया, किन्तु वहाँ वह पराजित हो गया और सन् १५१० ई० में उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद उज़बेक राज्य आमू नदी के उत्तर से लेकर "कोपेत दाग़" तक रह गया और इसका शासक बुख़ारा का ख़ान बन बैठा। इसी समय "खोरेजम" में "जुची" के वंश की एक दूसरी शाखा ने "खोरेजम के ख़ान" के नाम से एक राज्य की स्थापना की। इसकी राजधानी खीवा थी और आगे चलकर यहाँ के ख़ान भी खीवा के ख़ान के नाम से अभिहित किये जाने लगे।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में "काश-ग़र" में भी ख़ान राज्य की स्थापना हुई। ये लोग मुगलवंशीय थे तथा इनका राज्य चीन की सीमा तक था।

इस राज्य में भी तुर्की एवं इस्लामीकरण अति शीघ्रता से सम्पन्न हुआ था और सोलहवी शताब्दी के मध्य में यह पूर्ण हो गया। इधर की 'सरीग' एवं उईग़ुर (पीत उईग़ुर) जातियाँ जो पर्वतों एवं दक्षिणी क्षेत्र में निवास करती थी, बौद्धधर्मावलंबी ही बनी रहीं और आज भी ये उसी रूप में है। उन्होंने अठारहवीं शताब्दी में अपनी 'उईग़ुर' लिपि को तिलांजलि देकर उसके स्थान पर तिब्बती लिपि को स्वीकार किया। सन् १६८२ ई० में कालमुक लोगों ने मुग़लों को पराजित करके उनके राज्य का नाश कर डाला।

## तुर्की भाषाभाषी अन्य लोग

यहाँ पर तुर्की भाषाभाषी अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी कुछ विचार आव-श्यक है। इनमें से एक जाति 'याकूत' लोगों की है, जो तेरहवीं शताब्दी में 'येन सेई' राज्य से निष्कासित होकर 'लेना' के काँठे में जा बसे थे, जहाँ वे आज भी हैं। इसीप्रकार की दूसरी जाति उन 'क़िरगिज' लोगों की है, जो 'किरगिज' स्था-नान्तरण के समय दसवीं शताब्दी में 'येनसेई' क्षेत्र में ही रह गई थी। इन 'येनसेई' के 'किरगिज' लोगों को सन् १२०९ ई० तथा १६४२ ई० में मंगोलो ने पराजित किया था। कालमुक लोगों द्वारा मंगोल-राज्य के विनष्ट कर देने के

बाद ये लोग सन् १७०३ई० में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'सेमीरेचे' में चले आये।

तुर्की भाषाभाषी, छोटे-छोटे अन्य कई क़बीले उत्तरी क्षेत्र में ही रह गये थे। इनमें से 'येनसेई' क्षेत्र के क़बीले उल्लेखनीय हैं। रूसी क्रान्ति के बाद ये सामान्य नाम 'खक्कस' के नाम से अभिहित किये गये। दूसरे उल्लेखनीय क़बीले अल्ताई पर्वत के रहनेवाले हैं। रूसी क्रान्ति के बाद इन्हें 'ओईराँत' नाम दिया गया। ये क़बीले जिनमें 'याकूत' लोग भी सम्मिलित हैं, कभी भी इस्लाम धर्म से प्रभावित नहीं हुए। अन्त में इन तुर्की भाषाभाषियों के साथ 'चुवास' क़बीले का उल्लेख आवश्यक है। ये संभवतः बोलगर लोगों के वंशज हैं और बोल्गा के दक्षिणी किनारे पर रहते हैं। इन लोगों ने ईसाई धर्म को अंगीकार किया है और इनकी भाषा अन्य तुर्की भाषाभाषियों से भिन्न है। इनकी भाषा को हम प्राचीन तुर्की की प्रतिनिधि भाषा कह सकते हैं।

## कालमुक राज्य

यहाँ पर मंगोलिया के कालमुक लोगों का उल्लेख भी आवश्यक है क्योंकि तुर्क लोगों के इतिहास पर इनका भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी मंगोलिया के 'ओईराँत' मंगोल-राज्य से इस राज्य का प्रादुर्भाव हुआ था। सन् १४५५ ई० में यह राज्य विखंडित हो गया था, किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में यह पुनः शक्तिमान हो गया। यह मध्यएशिया के घुमन्तू लोगों का सबसे बड़ा राज्य था। कालमुक लोग अपने अभियान में दक्षिण पश्चिम की ओर भी बढ़े और सन् १६०३–४ में इन लोगों ने "खीवा' के ख़ान राज्य पर आक्रमण किया। सन् १६१८ ई० में कालमुक लोगों का एक समुदाय अपने सम्प्रदाय से अलग हो गया और पश्चिम की ओर चला गया। सन् १६३२ ई०में इन्होंने बोल्गा के किनारे की भूमि को अधिकृत किया और यहाँ से तातार एवं क्रिमिया के ख़ानों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। १७२४ ई० से, ये नाममात्र को रूस के शासन में रहे और सन् १७७१ ई० में ये लोग चीन-राज्य में चले गये। इनमें से थोड़े से लोग बोल्गा के के क्षेत्र में रह गये और इनके वंशज बोल्गा नदी के दाहिने किनारे पर रह गये। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सोवियत सरकार ने उन्हें एक अज्ञात स्थान में भेज दिया। बोल्गा-क्षेत्र के अधिकांश कालमुक लोग 'कज़ाक' लोगों के आक्रमण से अत्यधिक पीड़ित होने के कारण पूरब की ओर चले गये।

इसी समय १६४२ ई० में कालमुक लोगों ने 'येनसेई के किरगिज लोगों को अधिकृत करते हुए अपने राज्य का विस्तार किया और उन्हें १७०२ ई० में 'सेमिरेचे' जाने को बाध्य किया। उन्होंने मुग़लराज्य को विनष्ट करके सन् १६८२ई० में काशग़ार और १७२३ ई० में ताशकन्द को ले लिया। सन् १७-५८ ई० में चीनी लोगों ने कालमुक राज्य को विध्वंश कर डाला और 'कज़ाकों' ने उसपर अधिकार कर लिया।

बुख़ारा एवं खीवा के इतिहास पर पुनः विचार करने के पूर्व यहाँ पर तुर्कमान लोगों का संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है। 'ओगुज़' स्थानान्तरण के समय ग्यारहवीं शताब्दी में जो तुर्कमान लोग अपने मूलस्थान में ही रह गये थे, वे मंगोल-युग में, मंगोलों में विलीन न हो सके। पन्द्रहवीं शताब्दी में 'कराकोलूनू' तथा 'अंककोयलूनू' के तुर्कमान वंशीय लोगों की अपार राजनैतिक शक्ति थी। यद्यपि ये लोग अपने को स्वतंत्र रखने में सदैव सफल रहे, फिर भी मध्यएशिया में, ये अपने राज्य की स्थापना में सफल न हो सके।

ये प्रायः 'खीवा' तथा 'बुख़ारा' के ख़ानों के राज्य पर आक्रमण करते रहे और सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में स्वयं कालमुक लोगों द्वारा आक्रान्त रहे। सन् १८८१-८५ ई० में ये अपनी स्वतंत्रता खो बैठे क्योंकि इसी समय रूसी लोगों ने इन्हें पराजित कर इनके राज्य को अधिकृत कर लिया।

## बुखारा, खीवा तथा कोकन्द् के खान

बुख़ारा का 'अब्दुल्ला खाँ 'अपनी मृत्यु के पूर्व सन् १५९८ ई० में खोरेज़म तथा बुख़ारा को एक राज्य में गठित करने में सफल हुआ था। लेकिन ये दोनों राज्य केवल थोड़े समय के लिए ही संयुक्त रह सके। सन्१७४० ई० में नादिर-शाह ने बुखारा तथा खीवा पर आक्रमण किया, किन्तु उसके वंशजों का इधर नाममात्र का ही अधिकार था। इसके बाद वहाँ पर अशान्ति हो गई और सन् १७८४ ई० में 'मनगित' के अमीर शक्तिशाली बन बैठे। सन् १९२०–२१ई० में सोवियत रूस ने बुख़ारा के अमीर को विनष्ट करके इसे अपने राज्य में मिला लिया। इस वंश के शासक अपने को खान नाम से अभिहित नहीं करते थे, अपितु अमीर कहते थे।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में कोकन्द में, खानों का एक तीसरा राज्य प्रतिष्ठापित हुआ। यह राज्य सन् १८७५-७६ ई० तक चलता रहा, किन्तु सन् १८४७-५३ ई० में रूसी लोगों ने सिर नदी के उत्तरी भाग को अधिकृत कर लिया।

रूसी लोगों नें 'सेमिरिचे' तथा 'इली' क्षेत्र को सन् १८५४ ई० में ले लिया और १८६३ ई० में वे 'चिमी' केन्द्र तथा 'इसिक कोल' क्षेत्र में जा घुसे। इन्होंने सन् १८६५ई० में ताशकन्द, १८६८ में ट्रान्सोखानियाँ और समरकन्द को ले लिया और सन् १८७३ ई० में खीवा के ख़ान राज्य को विनष्ट कर दिया। सन् १८६९ ई० में बुखारा के अमीर, रूस के करदाता बन गये। अन्ततोगत्वा सन् १९२० ई० भें रूसियों ने इसे अधिकृत करके इसे अपने राज्य में मिला लिया।

## तुर्की भाषाएँ

तुर्की भाषा में लिखित प्राचीनतम सामग्री इसके प्रत्नलेख हैं। ये लेख सन् ६८२ ई० में लिखे गये थे तथा इनका सम्बन्ध उत्तर के ख़ान तुर्कों से है। इसके बाद के अभिलेख आठवीं शताब्दी के हैं क्योंकि इनमें तिथियाँ उपलब्ध हैं; किन्तु कतिपय ऐसे भी अभिलेख हैं जिनमें कोई भी तिथि नहीं दी हुई है। इनमें से कुछ पुराने हो सकते हैं। ये प्रत्नलेख सन् १८८९ एवं सन् १७२१ ई० में 'ओरखान' एवं 'येनसेई' नदियों के काँठे में उपलब्ध हुए थे।

तुर्की भाषाओं के सम्बन्ध में कुछ सामग्री चीनी स्रोतों से भी उपलब्ध है, किन्तु चीनी लिपि में लिखित होने के कारण यह सामग्री इतनी संदिग्ध है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह बहुत उपयोगी नहीं है। चौथी शताब्दी की तुर्की-भाषा का एक वाक्य श्री एल० बाज़िन ने अत्यधिक परिश्रम से पढ़ा है और यही इसकी प्राचीनतम् उपलब्ध सामग्री है।

उपरिलिखित 'ओरख़ान' और 'येनसेई', प्रत्नलेख तथा 'सेमिरेचे' एवं 'तलास' नदी के काँठे में उपलब्ध अन्य अभिलेख तथा चीनी तुर्किस्तान स्थित तुर्फान और मिरान में प्राप्त नवीं शताब्दी के हस्तलेख रुनिकलिपि में लिखे हुए हैं। सन् १८९३ई० में डेनमार्क के प्रसिद्ध भाषाविद् बी० थॉमसन इन अभिलेखों को पढ़ने में कृतकार्य हुए थे। इस लिपि के प्रतीक आरमाइक से लिए गये हैं और आरमाइक ने इन्हें सोगडियन लिपि से प्राप्त किया है। इन प्रत्नलेखों के प्रतीकों में अत्यधिक विभिन्नता है।

ऊपर के तुर्की टेक्स्टों में ध्वनि, गठन एवं शब्दावली सम्बन्धी कतिपय ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जो बाद की तुर्कीभाषा से लुप्त हो गई हैं। सभी टेक्स्टों में ये विशेषताएँ समान रूप में उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण बोली सम्बन्धी विभिन्नताएँ प्रतीत होती हैं, किन्तु प्रत्नलेखों में जिन जातियों एवं कबीलों के नाम मिले हैं उनसे इनका सम्बन्ध जोड़ना सरल कार्य नहीं है।

आठवीं एवं नवीं शताब्दी में 'उइगुर' लिपि, सोगडियन के माध्यम से, उत्तरी सामी लिपि से प्रादुर्भूत हुई थी। 'उइगुर' एवं 'सोगडियन' लिपि एक दूसरे के अति निकट हैं। रुनिक लिपि के स्थान पर ही 'उइगुर' लिपि का प्रयोग हुआ था।

उइगुर लिपि में लिखित अनेक प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ, तुर्किस्तान, पश्चिमी चीन एवं तुर्फान में प्राप्त हुई हैं। इस्लाम धर्म में दीक्षित होने से पूर्व मध्यएशिया के तुर्कों में 'उइगुर' लिपि प्रचलित थी। जब नवीं तथा दसवीं शताब्दि में, इनमें इस्लाम धर्म प्रविष्ट हुआ तो धीरे-धीरे 'उइगुर लिपि' का स्थान अरबी लिपि लेने लगी। जो तुर्क चीन राज्य में चले गये थे तथा जिन्होंने इस्लाम धर्मको नहीं स्वीकृत किया था, उनमें उइगुर लिपि प्रचलित रही। 'कन्सू' के 'सरिग उइगुर' लोगों में तो यह लिपि अठारहवीं शताब्दि तक चलती रही, किन्तु अन्ततोगत्वा इन्होंने इस लिपि का परित्याग कर तिब्बती लिपि को अपनाया।

यह एक दिलचस्प बात है कि इस्लाम धर्मावलम्बी तुर्कों द्वारा अरबीलिपि की स्वीकृति के बाद भी उइगुर लिपि कचहरियों में प्रचलित रही। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दि तक 'गोल्डेन होर्ड' एवं किपचक तथा चग़ताई लोगों में उइगुर लिपि का प्रचार था और इनकी भाषाएँ इसी लिपि में लिखी जाती थीं।

रुनिक प्रत्नलेखों एवं पुरानी हस्तलिखित प्रतियों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसी वर्ग की उइगुर लोगों की साहित्यिक भाषा भी है, किन्तु यह अपेक्षाकृत कम प्राचीन है। उइगुर लोगों की साहित्यिक भाषा में बोली सम्बन्धी विभिन्नताएँ प्राप्त हैं। इलेक खाँ अथवा करखनीद लोगों के राज्य में दसवीं एवं ग्यारहवीं शताब्दि में मध्यएशिया की तुर्की भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई थी। इस भाषा का आधार इस्लामपूर्व की उइगुर साहित्यिक भाषा थी, किन्तु यह अरबी लिपि में लिखी जाती थी। इसे करखनीद साहित्यिक भाषा के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।

इस भाषा में स्थानीय ओगुज एवं किपचक बोलियों का यत्किंचित सम्मिश्रण था। तेरहवीं शताब्दि में 'गोल्डेन होर्ड' तथा 'खोरेजम' में साहित्यिक भाषा के रूप में इसका प्रयोग प्रचलित था। उस युग में मुस्लिम तुर्की क्षेत्र में विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ न थीं। यहाँ तक कि सेलजुक लोगों में जो साहित्यिक भाषा प्रचलित थी, उसका स्पष्टरूप से मध्यएशिया की तुर्की भाषा से सम्बन्ध था।

चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दि के बाद मुस्लिम तुर्की संसार के विभिन्न भागो में विभिन्न साहित्यिक भाषाओं का प्रादुर्भाव होने लगा था। इनमें ओटोमन तथा

चग़ताई तुर्की साहित्यिक भाषाएँ विशेषरूप से महत्वपूर्ण थीं। इनमें से पहली भाषा सेलजुक-युग की साहित्यिक भाषा से विकसित हुई थी और जैसा कि कहा जा चुका है, मध्यएशिया की तुर्की भाषा से इसका सम्बन्ध था। यह आटोमन साहित्यिक भाषा अपने विविध रूपों एवं शैलियों में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक प्रचलित थी और अन्ततोगत्वा यह आधुनिक तुर्की साहित्यिक भाषा के रूप में परिणत हो गई। सन् १९२८ ई० से अरबी लिपि के बदले यह लैटिन अथवा रोमन लिपि में लिखी जाने लगी। चग़ताई साहित्यिक भाषा का प्रयोग तैमूर के राज्य में था। इसका विकास तेरहवीं शताब्दि की करखनीद साहित्यिक भाषा के आधार पर हुआ था। इसमें ओग़ुज तथा किपचक भाषाओं के अनेक तत्त्व भी सम्मिलित कर लिये गये थे। ये तत्त्व चग़ताई क्षेत्र की बोलचाल की भाषाओं से लिए गये थे। चग़ताई साहित्यिक भाषा, पन्द्रहवीं शताब्दि के आरंभ से बीसवीं शताब्दि तक प्रचलित थी। सन् १९२०ई० में जब रूस ने बुखारा के अमीर के राज्य को जीत लिया, तब यहाँ साहित्यिक भाषा के रूप में उजबेक का प्रयोग होने लगा।

उजबेक साहित्यिक भाषा का प्राचीनतम नमूना सत्रहवीं शताब्दि में मिलता है, किन्तु उजबेक साहित्यिक भाषा इसके बहुत पहिले से ही विकसित हो रही थी। इस साहित्यिक भाषा ने चग़ताई भाषा का उच्छेद कर डाला था। सन् १९२३ई० में यह एक प्रकार की सुधारी हुई अरबी लिपि में लिखी जाने लगी। इस नई लिपि में स्वरों को पूर्णरूप से प्रदर्शित करने के लिए कतिपय नये प्रतीक व्यवहार में लाये गये। किन्तु यह नवीन लिपि लोगों द्वारा स्वीकृत न हो सकी। इसका एक कारण यह भी था कि इसकी अखरौटी का आधार ईरान के आभिजात्य वर्ग का उच्चारण था, जिसमें मूलस्वर संगति का अभाव था। इसके स्वीकृत न होने का एक अन्य कारण यह भी था कि यह उजबेक की अन्य बोलियों से बहुत भिन्न थी।

सन् १९२७ ई० में उजबेकिस्तान के वैज्ञानिक केन्द्र ने उजबेक साहित्यिक भाषा के लिखने के लिए लैटिन लिपि का सुझाव दिया। किन्तु सन् १९२९–३० ई० के पूर्व यह कार्यान्वित न हो पाया। इसके बाद तुर्की साहित्यिक भाषाओं के लिखने के लिए एक अन्य पूर्ण लैटिन लिपि का आविष्कार किया गया और यह लिपि उजबेकिस्तान की सरकारी लिपि मान ली गई। इसी समय एक साहित्यिक भाषा की भी प्रतिष्ठापना हुई। इसके उच्चारण का आधार सुदूर

उत्तर में स्थित तुर्किस्तान की बोली रखी गई और इसकी शब्दावली तथा व्याकरण का आधार ताशकन्द की बोली बनी। इस साहित्यिक भाषा में लिखित सामग्री आसपास के तुर्की भाषाभाषियों के लिए बोधगम्य थी। इन सभी भाषाओं के लिए लैटिन लिपि का प्रयोग किया गया था क्योंकि इस लिपि द्वारा आसपास के तुर्की भाषाओं एवं तुर्किस्तान की उजबेक बोली में उपलब्ध स्वरसंगति को प्रदर्शित किया जा सकता था।

सन् १९३७ ई० में, रोमन में लिखित इस उजबेक साहित्यिक भाषा में पुनः परिवर्तन हुआ और ताशकन्द के नागरिक उच्चारण के आधार पर एक नवनिर्मित भाषा प्रचलित हुई इसके साथ ही फ़रगना क्षेत्र की बोलियों की व्याकरणीय एवं कोषीय विशेषताओं से भी इस साहित्यिक भाषा को सम्पन्न बनाया गया। इसकी लिपि तो रोमक ही रखी गई किन्तु अखरौटी का आधार ताशकन्द की बोली का आधार लिया गया। यह नवीन साहित्यिक भाषा आस-पास के अन्य तुर्की भाषियों के लिए अबोधगम्य हो गई।

सन् १९४०-४५ ई० में इस रोमक (लैटिन) लिपि के स्थान पर रूसी लिपि का प्रयोग प्रचलित हुआ। रूसी लिपि में कतिपय नवीन चिह्न को जोड़कर ही यह लिपि निर्मित हुई थी। साहित्यिक भाषा में तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु ताशकन्द की बोली की कतिपय उच्चारण सम्बन्धी एवं फ़रगना क्षेत्र की बोलियों की कई नवीन व्याकरणीय एवं कोषीय विशेषताओं का इसमें समावेश किया गया। सन् १९४० ई० के बाद से यही साहित्यिक भाषा यहाँ प्रचलित है।

अन्य तुर्की भाषाओं को मोटेतौर पर दो समूहों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से एक समूह की भाषाएँ वे हैं, जिनमें साहित्य उपलब्ध है तथा जो रूसी क्रान्ति के पूर्व, अरबी लिपि में लिखी जाती थीं। दूसरे समूह के अन्तर्गत उन भाषाओं की गणना है, जो एक सीमित रूप में मिशनरियों द्वारा निर्मित (रोमक) लिपि में लिखी जाती थीं। इनमें पहले समूह के अन्तर्गत 'तुर्कमान' 'अजरबाइजानी', क्रिमिया एवं कज्जाक तातार की भाषाएँ आती हैं। सम्प्रति इन दोनों समूहों की भाषाएँ रूसी लिपि के आधार पर नव-निर्मित लिपि में लिखी जाती हैं। ये प्रायः सभी भाषाएँ पहले लैटिन (रोमक) लिपि में लिखी जाती थीं। ये भाषाएँ निम्नलिखित हैं:—

**तुर्कमान**—जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, तेरहवीं शताब्दि में ओग़ुज (तुर्कमान) लोगों ने मध्यएशिया की तुर्कीभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया

था। चौदहवीं शताब्दि में तुर्कमान लोगों ने अपनी भाषा में साहित्य लिखना प्रारंभ कर दिया था। इस भाषा का कविता में विशेषरूप से प्रयोग होता था। पन्द्रहवीं शताब्दि में इस भाषा पर 'चग़ताई' का विशेष प्रभाव पड़ा। अठारवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दि में विशुद्ध तुर्कमान भाषा का साहित्य में प्रयोग होने लगा था। रूसी क्रान्ति के कुछ दिनों बाद तक यह भाषा प्रयुक्त होती रही। किन्तु इसके बाद एक जीवन्त साहित्यिक भाषा का प्रयोग आरम्भ हुआ। इस भाषा का आधार, विशेषरूप से, 'तेक्के' एवं "योमुद" बोलियाँ थीं। सन्१९२९-३०ई० में यह साहित्य, लैटिन (रोमक) लिपि में लिखा जाता था। किन्तु सन् १९३९–४० ई० से रूसी लिपि प्रयुक्त होने लगी।

**अजरबाइजानी**––आटोमन से अत्यधिक सम्बन्धित, सोलहवीं शताब्दि, अजरबाइजानी का स्वर्णयुग था। किन्तु बाद की शताब्दियों में, यह अन्य तुर्की भाषाओं के साहित्य के सम्मुख अपना उच्चस्तर न रख सकी। उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य में, ट्रान्सकाकेशिया क्षेत्र में इस भाषा के साहित्य का पुनरुत्थान हुआ, किन्तु बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में इस पर ओटोमन तुर्की का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। रूसी-क्रान्ति के बाद यह प्रभाव समाप्त हो गया।

अजरबाइजानी वस्तुतः प्रथम तुर्कीभाषा थी, जिसे सन् १९२४ ई० में ही लैटिन लिपि में लिखना आरम्भ किया गया था। इसके बाद इसके लिए तुर्किक लैटिन लिपि प्रयुक्त हुई और सन् १९३९–४० से यह रूसी रोमक लिपि में लिखी जाने लगी।

**क्रिमियन तातार :––**

तेरहवीं शताब्दि में, 'गोल्डेन होर्ड' में एक साहित्यिक भाषा की परम्परा प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। पन्द्रहवीं शताब्दि में इसके विखंडित होने के बाद जो तीन खान-राज्य स्थापित हुए, उनमें भी यह परम्परा प्रचलित रही। क्रिमिया में जो साहित्यिक भाषा प्रचलित हुई उसमें 'किपचक' तत्त्व की प्रधानता थी। सत्रहवीं शताब्दि तक यहाँ सरकारी कामकाज में भी यह भाषा प्रयुक्त होती रही, किन्तु अन्ततोगत्वा इसे ओटोमन साहित्यिक भाषा के सम्मुख झुकना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में एक प्रतिद्वन्दी क्रिमियन तातार साहित्यिक क्रियाकलाप का समारम्भ हुआ। इसकी प्रेरणा का स्रोत श्री 'इस्माइल गैसप्रिन्स्की' का समाचार-पत्र 'तर्जुमा' था। इसमें एक अभिनव क्रिमियन तातार साहित्यिक भाषा का प्रयोग होने लगा। इसका आधार दक्षिण की क्रिमियन तातार बोली थी। यह तुर्की-तुर्किशवर्ग की थी और उससे अत्यधिक समानता रखती

थी। सन् १९०५ ई० की क्रान्ति के बाद क्रिमियन तातार साहित्य में ह्रास होने लगा, किन्तु सन् १९२०ई० के बाद इसका द्वितीय पुनरुत्थान आरंभ हो गया। सन् १९३० ई० में इसे लिखने के लिए तुर्किकलैटिन लिपि का व्यवहार किया जाने लगा, किन्तु सन् १९४० ई० से रूसीलिपि व्यवहृत होने लगी। महा-युद्ध के अन्त में क्रिमियन तातार भाषा में साहित्य एवं प्रकाशन का कार्य एकदम बन्द हो गया क्योंकि रूसी सरकार ने इन्हें पृथक् जाति एवं भाषा वाले वर्ग का नहीं माना। अब रूस की भाषा-सम्बन्धी मानचित्र से इसका नाम ही मिट गया।

**कज़ान तातार**—कज़ान के ख़ान के राज्य में वही साहित्यिक भाषा व्यवहृत होती थी जो क्रिमिया के ख़ान के राज्य में। किन्तु शीघ्र ही इसपर चग़ताई एवं पुरानी ओटोमन भाषा का प्रभाव पड़ने लगा। उन्नीसवीं शताब्दि में इस पर आधुनिक ओटोमन के प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे। उन्नीसवीं शताब्दि के द्वितीय चरण में स्थानीय कज़ान तातार बोली को साहित्य में व्यवहृत करने का आन्दोलन चला और यह सफल भी हुआ। यह अभिनव कज़ानतातार साहित्यिक भाषा केवल कज़ानतातार क्षेत्र ही में व्यवहृत नहीं हुई अपितु 'मिशरतातार' तथा अस्त्राख़ान के नोगाई क्षेत्र (नोगाई क्षेत्र के लोग अपनी बोलचाल की भाषा का परित्याग कर बोल्गा तातार बोली को स्वीकार कर चुके थे) एवं 'बशकिर' क्षेत्र में भी प्रचलित हो गई। बाद में 'बशकिर' लोगों ने अपनी साहित्यिक भाषा का व्यवहार आरंभ कर दिया। क्रान्ति के बाद कुछ समय तक कज़ान तातार भाषा सुधरी हुई अरबी-लिपि में लिखी जाती रही। सन् १९२९–३०ई०में यहाँ तुर्कीलैटिन लिपि का व्यवहार होने लगा, किन्तु अन्ततोगत्वा सन् १९३९–४० में रूसी लिपि ने इसका स्थान ले लिया।

**बशकिर**—सर्वप्रथम बीसवीं शताब्दि के प्रथम दशक में 'बशकिर' सहित्यिक भाषा के निर्माण का यत्न हुआ। सन् १९१७ ई० में जब 'बशकिर-प्रजातंत्र' अस्तित्व में आया तो सामान्यरूप से यह भाषा व्यवहृत होने लगी। इस प्रजातंत्र के विखंडित होने के बाद भी यह भाषा यहाँ चलती रही। सर्वप्रथम यहाँ सुधरी हुई अरबी-लिपि का व्यवहार हुआ। इसके उपरान्त सन् १९३०ई० में तुर्कीलैटिन लिपि व्यवहृत होने लगी। अन्ततोगत्वा सन् १९३९ ई० से यहाँ रूसी लिपि प्रचलित हो गई।

**कज़ाक**—उन्नीसवीं शताब्दि में कज़ाक लोगों में साहित्यिक भाषा प्रचलित हुई और इस शताब्दि के अन्त तथा बीसवीं शताब्दि के आरंभ में इसमें आश्चर्य-जनक प्रगति हुई। यहाँ पहले अरबी-लिपि प्रचलित थी किन्तु बाद में 'बाइतुरसुना'

ने इसमें आवश्यक सुधार करके इसे लिखावट के लिए पहले से अधिक सक्षम बनाया। जब यहाँ तुर्की-लैटिन लिपि के व्यवहार का प्रस्ताव आया तो मध्य-एशिया के सभी तुर्की जातियों से अधिक कज़ाक लोगों ने इसका विरोध किया। इसके बावजूद भी सन् १९२८ ई० में तुर्की-लैटिन लिपि यहाँ की सरकारी लिपि घोषित कर दी गई। सन् १९४० ई० में अन्ततोगत्वा इस लिपि के स्थान पर रूसी लिपि का व्यवहार होने लगा।

**कराकलपक**—रूसी क्रान्ति के पूर्व कराकलपक की कोई अपनी साहित्यिक भाषा न थी तथा सन् १९२८ ई० से पूर्व इसका विकास भी नहीं हुआ था। इसी समय यहाँ तुर्कीलैटिन लिपि के प्रयोग का आरंभ हुआ था। इसके बाद साहित्य का विकास शीघ्रता से होने लगा। सन् १९३९ ई० से तुर्कीलैटिन लिपि के स्थान पर रूसी लिपि व्यवहृत होने लगी।

**किरग़िज**—किरग़िज़ की साहित्यिक भाषा का आरंभ रूसीक्रान्ति के पूर्व ही हुआ था। उस समय यह अरबी-लिपि में लिखी जाती थी तथा इसके साहित्यिक कार्य की सीमा भी बहुत संकीर्ण थी। क्रान्ति के बाद सन् १९२४ ई० में अरबी लिपि में सुधार हुआ तथा सन् १९२८ ई० में तुर्कीलैटिन लिपि प्रचलित हुई। सन् १९४० ई० से यहाँ रूसी लिपि का चलन प्रारम्भ हुआ।

**पूर्वी तुर्की**—सोलहवीं शताब्दि में पूर्वीतुर्की के तुर्कीकरण के समय से स्थानीय बोलियों के सम्मिश्रण के साथ साहित्यिक भाषा के रूप में 'चग़ताई प्रयुक्त होने लगी थी। क्रमशः स्थानीय बोलचाल की भाषा के शब्द प्रचलित होते गए और अन्त में 'चग़ताई' का उच्छेद हो गया। किन्तु यहाँ एक सामान्य पूर्वी तुर्किस्तान की साहित्यिक भाषा अस्तित्व में न आ सकी। यहाँ की साहित्यिक कृतियों में भी विभिन्न बोलियों के लेखकों के अनुसार विभिन्नता मिलती है; परन्तु अरबी-लिपि के कारण ध्वनि संम्बन्धी अनेक अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाते।

**तारानची**—(आधुनिक उइगुर) उन्नीसवीं शताब्दि में काशग़र, यारकन्द, ख़ोतन, अक्सू एवं तुरफान निवासी, पूर्वी तुर्की लोग, 'इली' की घाटी में चले गये और इसी शताब्दि के दूसरे चरण में रूस के राज्य की ओर बढ़ गये। रूसी क्रान्ति के बाद इनकी बोली तारानची को आधुनिक उइगुर के नाम से अभिहित किया गया। यह भाषा पूर्वी तुर्किस्तान के सभी तुर्कों की साहित्यिक भाषा है। पूर्वी तुर्किस्तान में तो आज भी अरबीलिपि प्रयुक्त होती है। किन्तु रूसी क्षेत्र में सन् १९२९ ई० में इसे लिखने के लिए तुर्कीलैटिन लिपि का प्रयोग किया गया। अन्त में सन् १९४० ई० में यह रूसी लिपि में लिखी जाने लगी।

**सरीग़ उइगुर** (सरी योगुर) यहाँ पर सरीग़ उइगुर (सरी योगुर) का उल्लेख पुनः आवश्यक है। यह कन्सू प्रदेश की भाषा है। अठारहवीं शताब्दि तक यह अरबी-लिपि में लिखी जाती थी, किन्तु इसके बाद इसके लिए तिब्बती-लिपि प्रयुक्त होने लगी।

**कुम्यक**—उत्तरी पूर्वी काकेशस में उन्नीसवीं शताब्दि में साहित्यिक भाषा के रूप में कुम्यक का प्रयोग होने लगा। रूसी क्रान्ति के बाद सन् १९२९–३० ई० में इसका स्थान तुर्कीलैटिन लिपि ने ले लिया। किन्तु १९३९ ई० में अन्ततोगत्वा यहाँ रूसी लिपि व्यवहृत होने लगी।

**कराचाई तथा बालचर**—सन् १९२४ ई० में उत्तरी काकेशस के कराचाई तथा बालकर लोगों में इसी नाम की साहित्यिक भाषा विकसित हुई। यह लैटिन-लिपि में लिखी जाती थी। बाद में यहाँ तुर्कीलैटिन लिपि व्यवहृत होने लगी और सन् १९३८ ई० में यहाँ रूसी लिपि का प्रयोग होने लगा। आगे चलकर यहाँ के लोगों को भिन्न रक्तवाली जाति के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव यह राज्य सोवियत भाषा सम्बन्धी मानचित्र से समाप्त कर दिया गया।

**नोग़ाई**—नोग़ाई लोगों में से केवल एक वर्ग के लोग ही, जो सिरकाशियन तथा दाग़ेस्तान में रहते थे, अपनी भाषा को सुरक्षित रख सके। जो नोग़ाई लोग क्रिमियाँ में रहते थे, उन्होंने दक्षिणी क्रिमियन-तातार भाषा एवं जो अस्त्राखान में रहते थे, उन्होंने बोल्गा-तातार भाषाओं को स्वीकार कर लिया। जो लोग अभी भी नोग़ाई भाषा बोलते थे, उन्होंने सन् १९२८ ई० में साहित्यिक भाषा के रूप में इसे स्वीकार किया और यह तुर्कीलैटिन लिपि में लिखी जाने लगी। पहले यहाँ दो साहित्यिक भाषाएँ प्रचलित थीं। इनमें एक का आधार सरकाशियन तथा दूसरे का आधार दग़ेस्तान की बोली थी, किन्तु जबसे यहाँ रूसी लिपि का व्यवहार होने लगा तबसे इन दोनों साहित्यिक भाषाओं को एक करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रूसी क्रान्ति के पूर्व शेष तुर्की भाषाभाषी लोगों में से अधिकांश की भाषाएँ साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित न हो पाई थीं और इनमें जो कुछ भी साहित्य था, वह रूसी मिशनरियों द्वारा प्रचलित रूसी लिपि में लिखा जाता था।

अल्ताई के तुर्कों की भाषा मंगोल-लिपि में लिखी जाती थी किन्तु बहुत सीमित क्षेत्र में यह प्रचलित थी। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि परंपरा के अनुसार याकूत लोगों की भी अपनी लिपि थी।

**ओइरात**—सन् १९२२ ई० में ओइरात साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। मुख्यरूप से अल्ताई क्षेत्र की बोली इसका आधार थी और इस क्षेत्र के अल्ताई,

तेलुत, तेलेंग, तूबा, कुमंड तथा अन्य सम्बन्धित तुर्की जातियों ने इसे स्वीकार किया। आरम्भ में यह रूसी मिशनरियों की लिपि में लिखी जाती थी। सन् १९२९-३० ई० में इसके लिए तुर्की लैटिन लिपि व्यवहृत हुई और अन्ततोगत्वा १९३८-३९ ई० में यहाँ रूसीलिपि प्रचलित हुई।

**खकस**—सन् १९२२ ई० में साहित्यिक भाषा के रूप में 'खकस' की प्रतिष्ठापना हुई। इसका आधार सग़ाई और कचा बोलियाँ थीं। ओरियत के उत्तर पूरब में रहने वाली तुर्की जातियों—'सग़ाई,' 'कचा,' 'कोइबल,' 'किज़िल, क्वारिक,' 'चोलिम,' 'बेलतिर' एवं 'कमस' आदि जातियों—की यह साहित्यिक भाषा बनी। यह भाषा पहले रूसी मिशनरियों की लिपि में लिखी जाती थी किन्तु सन् १९२८ ई० में में यहाँ तुर्कीलैटिन लिपि व्यवहृत होने लगी और अन्ततोगत्वा सन् १९३८ ई० में यहाँ रूसी लिपि प्रचलित हो गई।

**शोर**—शोर लोग खकस लोगों के पश्चिमी भाग के निवासी थे। इन लोगों ने इसी नाम की एक पृथक साहित्यिक भाषा की प्रतिष्ठापना की। आरंभ में ये भी सुधरी रूसीलिपि में लिखी जाती थी, किन्तु सन् १९२८ ई० में यहाँ तुर्कीलैटिन लिपि व्यवहृत होने लगी और सन् १९३७–३८ ई० में यहाँ रूसी लिपि प्रचलित हो गई।

**तुवा**—तनुतुवा (अब केवल तुवा) में, तुवा भाषा की साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठापना हुई। सन् १९३० ई० में यह लैटिन लिपि में लिखी जाती थी लेकिन सन् १९४० ई० में यहाँ रूसी लिपि प्रचलित हो गई।

**याकुत**—याकुत भाषा रूसीक्रान्ति के समय तक सुधरी हुई रूसीलिपि में लिखी जाती थी। ये सुधार याकुत भाषाभाषी एस० पी० नोवोगोरदोव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि के आधार पर सन १९२० ई० में सम्पन्न किये गये थे। सन् १९२७–२८ ई० में यहाँ तुर्कीलैटिन लिपि का व्यवहार आरंभ हुआ और १९३९-४० ई० में अन्ततोगत्वा यहाँ रूसी लिपि व्यवहृत होने लगी।

**चुवाश**—चुवाश साहित्यिक भाषा पहले सुधरी हुई रूसी लिपि में लिखी जाती थी। सन् १८७०ई० में आई० या० याकोवलेव ने इसमें पुनः सुधार किया तथा अखरौटी की दृष्टि से इसे पूर्ण बनाया। यह लिपि सन् १८३८ ई० तक चलती रही, किन्तु इसके बाद यहाँ भी रूसी लिपि प्रचलित हो गई। चुवाश में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दि के जो अभिलेख प्राप्त हैं, वे अरबीलिपि में लिखे हुए हैं।

**कराइम**--कराइम लोग तेरहवीं शताब्दि में क्रिमियाँ में रहते थे। ये यहूदी धर्मावलम्बी थे तथा सदैव हिब्रू लिपि का व्यवहार करते रहे। मंगोल-युग के पूर्व ही इनमें से कुछ लोग उत्तर-पश्चिम की ओर पोलैण्ड एवं लिथुवानियाँ में जा बसे और शेष लोग क्रिमियाँ में ही रह गए। उस युग की कराइम भाषा 'किपचक' बोली थी, जिससे पश्चिमी कराइम भाषा प्रादुर्भूत हुई है। क्रिमियाँ में रहने वाले कराइम लोगों ने दक्षिणी क्रिमियन तातार भाषा को स्वीकार कर लिया। सम्प्रति कराइम तथा इन लोगों की भाषा के सम्बन्ध मे कोई सूचना प्राप्त नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रिमयम कराइम तथा क्रिमियम तातार दोनों मिलकर एक हो गये हैं।

सोवियत युग में तुर्की भाषाभाषी राज्यों का संगठन अन्ततोगत्वा निम्नलिखित रूप में सम्पन्न हुआ है:—

मध्यएशिया में सम्प्रति चार तुर्की भाषाभाषी गणराज्य हैं। इनके नाम हैं— 'उज़बेक', 'किरग़िज़', 'तुर्कमान' तथा कज़ाक। इनके अतिरिक्त 'कराकलपक' गणराज्य की भी स्थापना की गई है। 'कज़ाक' गणराज्य के उत्तर-पश्चिम 'ओइरात', 'खकश' तथा 'तुवा' के स्वतंत्र प्रदेश हैं। इसीप्रकार उत्तर-पूरब में याकुत का स्वतंत्र प्रान्त है। मध्यएशिया के अतिरिक्त 'अज़र- बाइज़ान', 'दग़स्तान' 'तातार बस्किर' एवं बोल्गा-यूराल क्षेत्र के 'चुवाश' प्रदेश में भी, तुर्की भाषाभाषी रहते हैं। हाल तक काकेशस के कराचाय में भी तुर्की भाषाभाषियों का स्वतंत्र राज्य था, किन्तु युद्ध के बाद यह राज्य समाप्त कर दिया गया और इसके अधिवासी किसी अज्ञात स्थान में भेज दिये गए।

सोवियत राज्य के अन्य शासकीय इकाइयों में भी तुर्कीभाषा प्रचलित है। उदाहरणार्थ नोग़ाई, सरकाशियन के कुछ भाग, क्रिमियाँ के क्रिमियन तातार तथा ताजिक राज्य के उज़बेक लोग तुर्की भाषाभाषी हैं।

## भाषा सम्बन्धी तथ्य

### अन्य भाषाओं से सम्बन्ध

प्रायः लोगों का विश्वास है कि तुर्की भाषाएँ मंगोलियन भाषाओं से सम्बन्धित हैं, किन्तु अनेक विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते क्योंकि अभी तक यह स्पष्टरूप से सिद्ध नहीं हो सका है कि ये दोनों भाषाएँ किसी एक "मूलभाषा से प्रादुर्भूत हुई हैं। अधिकांश विद्वान्, तुर्की एवं मंगोल भाषाओं का तुंग़ुज़ भाषाओं से सम्बन्ध जोड़ते हैं और इनको "अल्ताई भाषावर्ग" में रखने के पक्ष में हैं।

किन्तु इस विषय में भी अनेक विद्वानों को सन्देह है। अल्ताई भाषा के अनेक विशेषज्ञों के अनुसार 'कोरिया की भाषा' भी अल्ताई वर्ग की ही है। इसके साथ ही अनेक भाषाविदों के मतानुसार 'अल्ताई' एवं यूराली' (फिन्नो-उग्रीय एवं समोयद) भाषाएँ एक वृहत परिवार की भाषाएँ हैं, किन्तु कई भाषाशास्त्री इस मत के प्रबल विरोधी हैं। कतिपय विद्वानों का यह भी सुभाव है कि 'यूराली, अल्ताई' एवं 'जापानी' भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध है। अतएव ये एक वर्ग की हैं।

## तुर्की भाषाओं का वर्गीकरण

तुर्की भाषाभाषियों की संख्या आज चार करो से अधिक है। इनका क्षेत्र भी विस्तृत है। यत्किंचित व्यवधान के साथ, एशियामाइनर होते हुए बाल्कन प्राय-द्वीप, काकेशस, दक्षिणी रूस, मध्यएशिया, पश्चिमी साइबेरिया में 'कोलयमा' नदी तक तथा उत्तरी-पूर्वी साइबेरिया एवं साइबेरिया के समुद्र-तट तक इनका क्षेत्र है।

तुर्की भाषाओं में आश्चर्यजनक एकता एवं समानता है। इनमें केवल 'चुवाश' एवं 'याकूत' दो ही ऐसी भाषाएँ हैं जो अन्य तुर्कीभाषाओं से अत्यधिक भिन्न हैं। तुर्की भाषाओं की यह विशेषता है कि समय की प्रगति के साथ-साथ इनमें बहुत कम परिवर्तन हुआ है। जब हम आठवीं शताब्दि के 'ओरखान' एवं 'येनसेई' अभिलेखों की भाषा से आधुनिक पूर्वी तुर्की की बोलियों एवं 'तारानची' से तुलना करते हैं तब इन दोनों में हमें बहुत कम अन्तर मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्वी तुर्की एवं 'तारानची' का, अभिलेखों की पुरानी तुर्की भाषा से अतिनिकट का सम्बन्ध है।

तुर्की भाषाओं को वर्गीकृत करने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए हैं। इनमें कतिपय का आधार तो केवल भौगोलिक है। अतएव इन्हें युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अन्य वर्गीकरणों के भौगोलिक आधार को मानते हुए ध्वनि-सम्बन्धी तत्त्वों का आधार लिया गया है, अतएव यह वर्गीकरण अधिक विश्वस्त है। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि कोई भी वर्गीकरण पूर्णतया संतोषजनक नहीं है और इस सम्बन्ध में अनुसंधान एवं सुधार की आवश्यकता है।

अनेक ध्वन्यात्मक विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार करना यहाँ सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ कुछ ध्वन्यात्मक आधारों के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जाता है--

सर्वप्रथम तुर्की भाषाओं को दो असमान वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से एक 'र-वर्ग' तथा दूसरा 'ज-वर्ग' है। यह वर्ग नौ के उच्चारण

को लेकर किया गया है। 'चुवाश 'एवं प्राचीन 'बोलगर' में इसका उच्चारण "टखर" होता है। दूसरे वर्ग में इसका उच्चारण "तोक्कुज" होता है तथा इस वर्ग में तुर्की की अन्य सभी पुरानी एवं नई भाषाएँ आती हैं। इस वर्ग की भाषाएँ पहले मंगोलिया, दक्षिणी साइबेरिया, स्टेपिज एवं अल्ताई क्षेत्र में बोली जाती थीं। बाद में इस वर्ग के लोग 'चुवाश' क्षेत्र को छोड़कर चारों ओर फैल गये।

'ज-वर्ग' को पुनः दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से एक "द-उपवर्ग" (इसमें पद को अदक़ कहा जाता है) तथा दूसरा "य-उपवर्ग" (इसमें पद को अयक़ रूप में उच्चरित किया जाता है) है। इन दो उपवर्गों का सर्वप्रथम उल्लेख मुहम्मद अलकाशगरी ने किया है। उसने ग्यारहवीं शताब्दि में तुर्की भाषाओं का विवरण देते हुए एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है; किन्तु ये दोनों उपवर्ग उसके बहुत पहले से चले आ रहे थे। पुरानी तुर्की भाषाओं में से 'तु-कियु', 'उइग़ुर' एवं 'किरग़िज़' द-उपवर्ग की भाषाएँ हैं। सम्प्रति इस वर्ग में पूर्वी साइबेरिया, मंगोलिया एवं चीन की भाषाएँ आती हैं और ये तीन उपश्रेणियों में विभाजित हैं। इनमें एक 'त-श्रेणी' (इसमें पद=अतक) है और इसकी प्रतिनिधि भाषा "याकुत" है। इसमें अनेक ऐसी विशेषताएँ उपलब्ध हैं कि इन्हें एक स्वतंत्र तुर्की भाषा माना जा सकता है। दूसरी श्रेणी 'द-भाषाओं' (पद= अदक) की 'तुवा' (या 'सोयोत' तथा उरियनखाइ) एवं 'करागस्स' भाषाएँ हैं। "करागस्स" 'तुवा 'के उत्तर में बोली जाती है। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत" "ज-भाषाएँ" (पद=अजक) आती हैं। ये भाषाएँ एवं बोलियाँ 'शोर' एवं 'खकश' क्षेत्र में प्रचलित हैं तथा इनमें 'शोर', 'सगाई', 'कच', 'कोइबल" 'किजिल', 'कुवरिक', 'चोलिम', 'बेलतिर', 'कमस' तथा चीन की 'सरिस उइगुर' भाषाओं का समावेश है। महमूद अलकशगरी के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दि में पूर्वी यूरप में 'ज-श्रेणी' की भाषाएँ बोली जाती थीं।

महमूद अल-कशगरी के अनुसार 'किपचक' तथा 'ओग़ुज़' भाषाएँ 'य-वर्ग' की थीं तथा ये उसके युग में मध्यएशिया के पश्चिमी भाग तथा पूर्वी यूरप के कुछ भागों में प्रचलित थीं। सम्प्रति 'य-वर्ग' की भाषाएँ अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित हैं। 'चुवाश' क्षेत्र को छोड़कर ये प्रायः सभी तुर्की क्षेत्र में प्रचलित हैं। वास्तव में इस वर्ग के अन्तर्गत 'ज-वर्ग' की भाषाओं को छोड़कर अन्य सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

महमूद अल-काशगरी ने 'य-भाषाओं' को पुनः दो श्रेणियों में विभाजित किया है। इनमें से एक में, प्रत्यय के आदि में आने वाले 'ग' का अभाव (क़ल्-

अन) है तो दूसरे में यह (कल्-गन) सुरक्षित है। ग्यारहवीं शताब्दि में 'ओग़ुज़' 'क़ल-अन' वर्ग की भाषा थी और आज इसकी उत्तराधिकारी — 'तुर्की-टर्किश', 'अनातोलियन', 'कनकाई', 'अइनल्लु', 'बोलरलु', एवं संभवतः 'नफर' (चारो ईरान की भाषाएँ) बाल्कन तुर्की तथा दक्षिणी क्रिमियन-तातार एवं पूर्वी कराइम भाषाएँ हैं। 'चुवाश' को छोड़कर 'कल-अन' की यह विशिष्टता सभी 'ओग़ुज़' भाषाओं में उपलब्ध हैं।

'कल-अन' वर्ग की अपेक्षा 'क़ल्-गन' का विस्तार कहीं अधिक है। इसके अन्तर्गत 'य-वर्ग' की सभी शेष भाषाएँ आती हैं।" य-वर्ग' ('क़ल-ग़न' श्रेणी की भाषाओं) को ध्वन्यात्मक आधार पर पुनः विभाजित किया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है। संक्षेप में नीचे एम० रैसनेन का वर्गीकरण दिया जाता है :—

## ध्वन्यात्मक विशेषताओं के आधार पर तुर्की भाषाओं का वर्गीकरण

१. र-वर्ग : चुवाश, बोलग़र तथा सम्भवतः खज़ार

२. ज़-वर्ग : (i) याकुत

(ii) द्-भाषाएँ :

(क) द-वर्ग (तुवा, करगस्स)

(ख) ज़-वर्ग (शोर तथा खकस्स बोलियाँ, सरिग़ उइग़ुरया (सरियोगुर)

(iii) य-भाषाएँ

(क) "क़ल्-ग़न"—श्रेणी (बरबा तथा अल्ताई भाषाएँ, किरग़िज़, कज़ाक, कराकलपक, नोग़ाई, कुम्युक, कराचाइ, तथा बालकर, तातार बोलियाँ, बशकिर, पश्चिमी कराइम, पुरानी पूर्वी कराइम, पेचेनेग, कुमन, पूर्वी तुर्किस्तान की बोलियाँ तथा तारानची, उज़बेक एवं चग़ताई)।

(ख) "क़ल्-ग़न"-श्रेणी (तुर्कमान, अज़रबाइजानी' दक्षिणी इरान की कतिपय बोलियाँ, टर्की-तुर्की, अनातोलियन एवं बाल्कन तुर्की, दक्षिणी क्रिमियन-तातार तथा पूर्वी कराइम आदि)।

## ज़-वर्ग का एक अन्य वर्गीकरण

२. ज़-वर्ग (i) द्-भाषाएँ:
(क) त-श्रेणी (याकुत)
(ख) द-श्रेणी (ऊपर जैसी)
(ग) ज-श्रेणी (ऊपर जैसी)
(ii) य—भाषाएँ (ऊपर जैसी)

नीचे तुर्की भाषाओं का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है वह एम० रैसनन, का है। इसका आधार मुख्यरूप से जी० जे० रैम्सटेट (G. j. Rams tedt) का वर्गीकरण है, किन्तु इसमें ए० समोइलोविच (A. Samoi lovich) तथा डबल्यू रैडलॉफ (W. Radloff) के वर्गीकरणों से भी सहायता ली गई है। ऊपर की तालिका में जिन ध्वन्यात्मक विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है, वे नीचे के वर्गीकरण में भी उपलब्ध हैं। ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्गीकरण यत्किंचित त्रुटिपूर्ण है, उदाहरणार्थ उत्तरी-पूर्वी वर्ग के (क) तथा (ख) उपवर्ग, द-भाषाओं के अन्तर्गत रखे गए हैं, किन्तु इसीका (ग) उपवर्ग य-वर्ग के अंतर्गत रखा गया है।

श्री एम० रैसनन के वर्गीकरण के अनुसार तुर्की भाषाएँ छै वर्गों में विभाजित हैं। इनमें से कतिपय भाषाओं के और भी विभाजन हो सकते हैं। ये वर्ग निम्नलिखित हैं:—

**(१) चुवाश वर्ग**—इसके अन्तर्गत चुवाश के अतिरिक्त डैन्यूब की लुप्त एवं 'वोलगर-बोलग़ार' भाषाएँ आती हैं। सम्भवतः 'खजार' भाषा का भी इसी वर्ग में समावेश है। अन्य तुर्की भाषाओं से ये भिन्न हैं। ये र-भाषाओं के निकट हैं।

**(२) याकुत**—यह 'याकुत-राज्य' की भाषा है। अन्य तुर्की भाषाओं से यह बहुत भिन्न है। इन भिन्नताओं के रहते हुए भी समोइलोविच् एवं अन्य कतिपय विद्वान् इसे द-वर्ग की भाषा मानते हैं। दूसरे शब्दों में इसे ये तीसरे समूह में रखते हैं जो रैसनेन के वर्गीकरण का (क) और (ख) है और इनमें से भी ये त-श्रेणी की हैं।

**नोट**—इस वर्गीकरण का २से६ तक के वर्ग वही हैं जो ऊपरी की तालिका के ज़-वर्ग के हैं।

## ३. उत्तरीपूर्वी (उइगुर) वर्ग

यह वर्ग पुनः तीन उपवर्गों में विभाजित है। इसके (क) एवं (ख) वर्ग ऊपर की तालिका के द-भाषाओं के समान हैं।

(क) इस उपवर्ग के अन्तर्गत **तुवा** या (सोयोत उरियान्खइ) का समावेश है। यह पुराने 'तन्नुतुवा' (अब केवल 'तुवा) गणतंत्र की भाषा है। 'सयन पर्वत' के उत्तरी ढाल पर बोली जाने वाली 'करगस्स,' 'ओरख.न' एवं येनिसेइ अभिलेखों की भाषा तथा महमूद अलकाशग़री के अनुसार पुरानी किरग़िज़ भाषा इसी परिवार के अन्तर्गत हैं। इस उपवर्ग की भाषाएँ ऊपर की तालिका की द-वर्ग की द-श्रेणी की भाषाओं के समान हैं।

(ख) इस उपवर्ग की भाषाएँ एवं बोलियाँ 'अबकन' एवं 'युज़' के घास के मैदानों (स्टेपिज़) में प्रचलित हैं। इनमें से अधिकांश 'खकस्स' राज्य में बोली जाती हैं। 'शोर', 'सगाइ', 'कचा', 'कोइबल', 'किज़िल', 'कुआरिक', 'चोलिम', 'बेलतिर', 'कमस', एवं 'शोर' और 'खकस्स' साहित्यिक भाषाएँ तथा चीन की 'सरिग़ उइग़ुर' ('सरियोगुर') भाषाएँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। ये ऊपर की तालिका की द-भाषाओं की ज-श्रेणी की हैं।

(ग) इस उपवर्ग की भाषाएँ 'बरबा स्टेपिज़ मे प्रचलित हैं। उत्तरी अल्ताई की 'कुमंड', 'लेबेद' तथा 'तुबा', अल्ताई खास, विशेषरूप से गोरनो अल्ताई की साहित्यिक भाषा 'ओइरॉत', 'तेलेउत', 'तेलेंग' और 'तोलोस' आदि भाषाएँ इसी के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। अभी तक इन भाषाओं का अन्तिम रूप में वर्गीकरण सम्पन्न नहीं हो सका है। समइलोविच के अनुसार 'ओइरॉत एवं 'तेलेउत', इस उपवर्ग तथा उत्तरी पश्चिमी वर्ग के बीच की कड़ी हैं।

**नोट**—वर्ग ३ (ग) की भाषाओं से लेकर ६ वर्ग की भाषाएँ, तालिका की य–भाषाओं के समान हैं। इसीप्रकार वर्ग ३ (ग) से ५ तक की भाषाएँ तालिका के य-भाषाओं "क़ल्-ग़न" श्रेणी के समान हैं।

## (४) उत्तरी-पश्चिमी (किपचक) समूह

इस विस्तृत समूह के अन्तर्गत निम्नलिखित भाषाओं का समावेश है:—

**किरग़िज़**—यह भाषा किरग़िज़-गणतंत्र, चीन-राज्य एवं अफग़ानिस्तान में प्रचलित है। उत्तरी-पश्चिमी समूह की सभी भाषाओं में किरग़िज़ का 'ओइरॉत'-एवं 'तेलेउत' से अत्यधिक साम्य है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह उत्तरी-पश्चिमी समूह तथा (ग) उपवर्ग की उत्तरी-पूर्वी समूह के बीच की कड़ी है।

**कज़ाक**––वास्तव में यह कज़ाक-गणतंत्र, कराकलपक-राज्य एवं मंगोल-गणराज्य की भाषा है।

**कराककलपक**––यह कज़ाक की ही एक बोली है। यह कराकलपक-गणतंत्र तथा अफ़ग़ानिस्तान में रहनेवाले कराकलपक लोगों की बोली है।

**नोग़ाइ**––इसकी तीन बोलियाँ हैं––श्वेत नोग़ाइ, यह अन्य दो बोलियों से भिन्न है तथा 'सरकासियन'-राज्य में प्रचलित है। अन्य दो बोलियाँ **कृष्ण-नोग़ाइ** एवं **मध्य नोग़ाइ**, दग़ेस्तान प्रदेश में प्रचलित हैं। क्रिमियन-नोग़ाइ लोगों ने अपनी भाषाओं का परित्याग कर, दक्षिणी-पश्चिमी समूह की दक्षिणी क्रिमियन-तातार को स्वीकार कर लिया है तथा अस्त्राख़ान के नोग़ाइ लोगों ने 'वोलगा-तातार' को अपनाया है।

**कुम्मुक**–यह भाषा दग़ेस्तान राज्य में प्रचलित है।

**कराचई तथा बालकर**––पहले ये भाषाएँ कराचई एवं कबार्दो बालकर-क्षेत्रों में बोली जाती थीं, किन्तु अब राजनैतिक इकाई के रूप में इनका अस्तित्व समाप्त हो गया है और युद्ध के बाद से इधर इनका अस्तित्व समाप्त हो गया है।

**वोलगा-तातार बोलियाँ**––इसके अन्तर्गत दो बोलियों का समावेश है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण बोली 'कज़ानतातार' है, जो वोलगा-क्षेत्र के तातार-राज्य में बोली जाती है। दूसरी बोली '**मिशर तातार** है और यह 'कज़ान' के दक्षिण-पश्चिम में प्रचलित है।

**कसितमोवातार**––यह बोली रियज़न-क्षेत्र में, मिशरतातार के पश्चिम में बोली जाती थी। सम्प्रति 'रसिमोवतार' में इसका विलयन हो गया है।

**तेपतेर तातार**––यह यूराल एवं बशकिर क्षेत्र की बोली है।

**साइबेरियन तातार**––(तोबोल, इर्तिश, कुर्दक, तुरा) ये बोलियाँ इर-तिश नदी के क्षेत्र में, बशकिर राज्य के पूर्व में तथा उसके आगे पूरब में ओब नदी तक, नोवोसिबिरस्क के उत्तर में बोली जाती हैं।

**बशकिर**––यह बशकिर राज्य में प्रचलित है।

**उत्तरी एवं मध्य क्रिमियनतातर**––ये भाषाएँ दक्षिणी-पश्चिमी समूह की दक्षिणी क्रिमियनतातार में विलीन हो गई हैं।

**पुरानी पूर्वी कराइम**––सम्प्रति पूर्वी कराइम लोगों ने दक्षिणी क्रिमियन तातार को अपना लिया है।

**पश्चिमी कराइम**––यह पोलैंड के कुछ भागों एवं लिथुआनिया में प्रचलित है। पहले पोलैण्ड एवं लिथुआनिया के तातार लोग तातार बोलियाँ बोलते थे

किन्तु सम्प्रति ये आसपास के लोगों में मिलजुल गए हैं। हाँ, अभी तक ये इस्लाम धर्म अवश्य मानते हैं। लुप्त भाषाओं में से **पेचेनेग** तथा **कुमान** (प्राचीन किपचक) इसी समूह के साथ वर्गीकृत की जाती हैं। उज़बेक की किपचक बोली भी प्रायः इसी के साथ वर्गीकृत की जाती है। वास्तव में यह कज़ाक बोली है और उज़बेक बोली से इसका सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि समोइलोविच, ओइरॉत तथा तेलेउत को उत्तरी-पूर्वी समूह की अपेक्षा उत्तरी पश्चिमी-समूह में वर्गीकृत करना युक्तियुक्त मानते हैं; उनके अनुसार ये भाषाएँ दोनों के बीच की कड़ी हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि तोमस्क के निकट बोली जानेवाली बोलियों––चोलिम, आबा तथा चेर्नी (यिश)––को समोइलोविच एक पृथक समूह की भाषा मानते है। इन्हें उत्तरी-पश्चिमी समूह (समूह ४) तथा उत्तरी-पूर्वी वर्ग की 'तुवाकार-गस्स' और 'शोरखकस्स' उपवर्ग (समूह३) (क) तथा ३ (ख) के बीच की बोली मानते हैं।

(५) **दक्षिणी-पूर्वी (चग़ताई) वर्ग**––इस वर्ग में निम्नलिखित भाषाओं एवं बोलियों का समावेश है :–

**पूर्वी तुर्किस्तान की (तुर्की) बोलियाँ**––ये चीनी तुर्किस्तान में प्रचलित हैं तथा इनके अन्तर्गत **काशग़र, यारकन्द, खोतन, केरया, चेरचेन**, अक्सु, कूचा एवं तुर्फान की बोलियों का समावेश है। इसके अतिरिक्त 'इलि' नदी के काँठे की तरानची (आधुनिक उइग़ुर) 'कुल्जा' तथा 'जारकेन्त' के आसपास की बोलियाँ, उज़बेक-गणतंत्र की विभिन्न बोलियाँ, कराकलपक-क्षेत्र के दक्षिणी एवं तुर्कमान के पूर्वी-क्षेत्र, ताजिक-गणतंत्र के उत्तरी-पश्चिमी भाग, कज़ाक-गणतंत्र के दक्षिणी भाग तथा उत्तरी-अफगानिस्तान की बोलियाँ, इसी के अन्तर्गत आती हैं। लुप्त चग़ताई साहित्यिक भाषा भी इसी वर्ग की है। समोइलोविच 'खीवा-क्षेत्र' की 'खीवा' एवं 'उरगेन्च' उज़बेक बोलियों को, तुर्की बोलियों के एक पृथक् वर्ग को मानते हैं। वास्तव में इन पर तुर्कमान भाषा का सर्वाधिक प्रभाव है तथा ये उत्तरी एवं दक्षिणी-पश्चिमी वर्गों के बीच की मध्यवर्ती बोलियाँ हैं। इसे वे मध्यवर्ती किपचक तुर्कमान वर्गों के नाम से अभिहित करते हैं।

६––**दक्षिणी-पश्चिमी तुर्कमान वर्ग**––इस वर्ग की भाषाएँ य-भाषाओं की 'क़ल-ऊन' श्रेणी की हैं। इस वर्ग में निम्नलिखित भाषाएँ हैं :––

**तुर्कमान**––यह भाषा तुर्कमान-गणतंत्र में प्रचलित है। इसका क्षेत्र कराकल्पकिया, उज़बेकिस्तान, कज़ाकस्तान, इरान एवं अफग़ानिस्तान तक है।

इसके अतिरिक्त अनातोलिया, सीरिया एवं ट्रांकाकेशिया आदि में भी तुर्कमान लोगों के छिटपुट समूह मिलते हैं।

**अज़रबाइजानी**—यह अज़रबाईजान-गणतंत्र एवं ईरान में प्रचलित है। 'कशकइ', 'अइनल्लु', 'बोरखारलल्लु' तथा संभवतः 'नफर' बोलियाँ दक्षिणी ईरान में बोली जाती हैं।

इसी के अन्तर्गत अनातोलियन बोली, तुर्की की तुर्कीभाषा, बाल्कन प्रायद्वीप की बाल्कन तुर्की अर्थात् 'बस्सराबिया' तथा रुमानिया में बोली जाने-वाली 'गगुज़ी' तथा 'रुमलिया', 'बुलगारिया', 'बीसनिया' तथा मैसेडोनिया में बोली जाने वाली तुर्की भाषाएं एवं बोलियाँ आती हैं।

**दक्षिणी क्रिमियन तातार** भी इसी वर्ग की भाषा है, किन्तु युद्ध के दिनों से यह क्रिमिया में नहीं बोली जाती। पूर्वी कराइम लोगों की भाषा भी यही है क्योंकि इन लोगों ने अपनी मातृभाषा का परित्याग कर दक्षिणी क्रिमियन तातार को ही अपना लिया है।

**तुर्की भाषाओं की विशेषताएँ**—नीचे तुर्की भाषाओं की कतिपय ध्वन्यात्मक, रूपात्मक एवं वाक्य रचनात्मक विशेषताएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन विशेषताओं का संकलन भाषाविज्ञान की दृष्टि से नहीं अपितु सामान्य पाठकों को दृष्टि में रखकर किया गया है।

तुर्की, अल्ताइक एवं यूरालियन भाषाओं की एक बड़ी विशेषता स्वर-संगीति (Vowel-harmony) है। इसका मुख्य सिद्धान्त संक्षेप में निम्नलिखित है :—

तुर्की में दो प्रकार के स्वर हैं। इनमें से कुछ स्वर तो अग्र ए,इ, ओ (e,i,o,) हैं तथा अन्य पश्च अ, इ ( a i )हैं। सामान्यरूप से, शब्दों में, ये दोनों प्रकार के स्वर ही व्यवहृत होते हैं। जब इन शब्दों में प्रत्ययों का संयोग होता है तब स्वर संगीति का सिद्धान्त स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। दूसरे शब्दों में अग्रस्वर वाले शब्दों में जब प्रत्यय का संयोग होता है, तो उस प्रत्यय का स्वर भी अग्र हो जाता है, किन्तु जब यही प्रत्पय पश्चस्वर वाले शब्दों में संयुक्त होता है तो इस प्रत्यय का स्वर भी पश्च हो जाता है। कतिपय उदाहरणों के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

टर्की की तुर्की में 'घर' के लिए 'एव्' (ev) तथा घोड़े के लिए 'आत्' शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनमें 'दोनों में 'ए' अग्रस्वर तथा 'आत्' में 'अ' पश्च स्वर हैं। इन शब्दों के बहुवचन के रूप लेर् (ler) या—लर् (—lar) संयुक्त करने से

सम्पन्न होते हैं। इसप्रकार 'घरों' का रूप तुर्की में 'एव् लेर्' (ev–ler) होगा तथा घोड़ों का रूप 'आत्-लार्' (at-lar) हो जायगा। चूँकि 'एव्' में 'ए' अग्रस्वर है अतएव स्वरसंगीति के कारण--लेर् प्रत्यय में 'ल' का रूप 'ले' हो जायगा। इसीप्रकार 'आत्' में 'आ' पश्चस्वर है, अतएव-'लार्' प्रत्यय में 'ल' का रूप 'ला'हो जायगा'। 'मेरे घरों के लिए तुर्की में एव्-लेर्-इम् (ev—ler--im)हो जायगा तथा मेरे घोड़ों' के लिए आत्-लार्-इम् (at—lar--im) होगा। 'मेरे घरों के लिए, इसमें एव्-लेर्-इम्-ए (ev--ler--im--e) तथा 'मेरे' घोडों के लिए 'आत्-लार्-इम्-आ' (at—lar—im—a) होगा। इसीप्रकार स्वरसंगीति के प्रभाव से आगे के रूप भी होंगे। इसी तुर्की के कतिपय शब्दों में, अग्र स्वर के साथ कतिपय विशेष व्यंजनों तथा पश्चस्वर के साथ अन्य विशेष व्यंजनों का प्रयोग विहित माना जाता है। उदाहरणार्थ तुर्की में दो 'क'हैं। एक 'क' का उच्चारण तो हिन्दी 'कपाल' शब्द के 'क' की तरह होता है किन्तु दूसरे 'क' का उच्चारण जिह्वा के पश्चभाग को कोमल तालु से स्पर्श करके किया जाता है। इनमें प्रथम 'क' का प्रयोग अग्रस्वर के साथ तथा द्वितीय का प्रयोग पश्चस्वर के साथ होता है। यही कारण है कि जिन भाषाओं में स्वर-संगीति है, उनमें इन दोनों 'क' के लिए अलग-अलग प्रतीक नहीं हैं; यथा टर्की की तुर्की, किरगिज़ एवं ओइराँत में; किन्तु जिन भाषाओं में स्वरसंगीति नहीं, है वहाँ इन दोनों के लिए अलग अलग दो प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ उज़बेक में दो प्रतीक हैं। इसीप्रकार स्वरसंगीति के होते हुए भी 'कज़ाक' एवं 'बशकिर' में दो अलग-अलग प्रतीक हैं। हिन्दी में इनके लिए दो पृथक प्रतीक 'क' तथा 'क़' रखे गए हैं। कतिपय तुर्की भाषाओं एवं बोलियों, उज़बेक तुर्कमान, अजरबाइजानी, अनातोलियन, में स्वरसंगीति भंग हो गई है।

ऊपर की स्वरसंगीति के साथ-साथ एक दूसरे प्रकार की स्वरसंगीति भी तुर्कीभाषा में उपलब्ध है। यह वृत्ताकार स्वर की संगीति है। इसका सिद्धान्त यह है कि 'ओ' एवं 'उ' जैसे वृत्ताकार स्वरों के बाद वृत्ताकार स्वर तथा 'अ' एवं 'ए' जैसे अवृत्ताकार स्वरों के बाद अवृत्ताकार स्वर आने चाहिए। अधिकांश तुर्की भाषाओं में इसप्रकार की स्वरसंगीति का प्रभाव केवल संकीर्ण स्वरों पर ही पड़ता है तथा जब अग्रवृत्ताकार स्वर औ तथा ऊ" (ö तथा ū) के बाद इ (i) आता है तो यह ऊ"(ū)में परिपरिणत हो जाता है, किन्तु जब यह पश्चवृत्ताकार ओ तथा उ (o तथा u) का अनुगमन करता है तो यह 'उ' (u) में परिवर्तित हो जाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता

है। टर्की की तुर्की में एव् (ev)=घर; गौज़ (göz)=आँख; कोल(kol) (उच्चारण क़ोल)=हाथ, इम् (im)=मेरा। यहाँ पर 'म' के पूर्व 'इ' संकीर्ण स्वर है। स्वरसंगीति में वस्तुत: य 'इ' ही ऊपर के नियमों का अनुसरण करते हुए परिवर्तित होता है। यथा—मेरा घर=एव्-इम् (ev-im), मेरी आँख=ग्+औ+ज़+ऊम् (göz-ūm) मेरा हाथ=कोल्-उम् (kol-um) किन्तु उच्चारण में क़ोल्-उम् (qol-um), किन्तु मेरा घोड़ा=आत्-इम् (आत्-इम्); यहाँ 'आ' पश्च अवृत्तस्वर है। मेरे घर=एव्-लेर्-इम् (ev-ler-im), मेरी आँखें=गौज़-लेर्-इम् (goz-ler-im), यहाँ e (ए) संकीर्ण नहीं अपितु विस्तृतस्वर है अतएव यहाँ ओष्ठ्य की स्वर-संगीति के नियम से मुक्त है। इसीप्रकार मेरे हाथ=कोल्-लर्-इम्' उच्चारण में क़ोल्-लर्--इम् (kol-lar-im), मेरे घोडे =आत्-लर्-इम् (at-lar-im)।

'किरगिज़', 'ओइरॉत', 'शोर', 'तुवा' आदि जैसी भाषाओं में ओष्ठ्य-संगीति (इसे ओष्ठ्य अकर्षण labial atrraction के नाम से भी अभिहित करते हैं) के कारण विस्तृत अथवा विकृत स्वर प्रभावित होते हैं। कतिपय भाषाओं में तो यह प्रकिया उस समय होती है जब विवृतस्वर के बाद वृत्ताकार स्वर आता है; यथा, 'औ' के बाद 'ओ'। किन्तु जब संकीर्ण अथवा संवृतस्वर के बाद वृत्ताकार संकीर्ण स्वर आता है तो यह प्रक्रिया नहीं होती; यथा, 'ऊ' के बाद 'उ'। किरिगिज़ से यहाँ कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं। यहाँ 'घोड़ों पर' के लिए "आत्-तार्-दा" (at-tar-da) कहा जाता है। इसीप्रकार यहाँ स्थानों में = सेर्-ले-देर् (cer-le-der) है, किन्तु आँखों में = कौज़्-दौर्-दौ (Köz-dör-dö) है और हाथों में = क़ोल्-दोर्-दो (Qol-dor-do) है।

ओष्ठ्य-संगीति के कारण प्रत्येक प्रत्यय के कम से कम चार रूप हो सकते हैं। व्यंजनों के परिवर्तन के कारण तो बहुत से प्रत्ययों के इससे अधिक भी रूप हो जाते हैं।

आज की तुर्की भाषाओं की एक दूसरी विशेषता दीर्घ स्वरों का अभाव है। पुरानी तुर्की में ह्रस्व एवं दीर्घ, दोनों प्रकार के स्वर थे। 'तुर्कमान' एवं 'याकूत' में ये आज भी सुरक्षित हैं, किन्तु अन्य तुर्की भाषाओं में ये यदाकदा ही मिलते हैं। आज की तुर्की भाषा में, दीर्घस्वर, केवल अरबी-फ़ारसी से गृहीत शब्दों में ही उपलब्ध होते हैं। सच तो यह है कि इन भाषाओं में दीर्घत्व का आगमन, गौण-रूप से, बलात्मक स्वराघात अथवा व्यंजन-लोप के परिणमस्वरूप, कभी-कभी, होता है।

तुर्की भाषा के शब्दों के आदि में 'र्' 'ल्' का सर्वथा अभाव है। इसीप्रकार इसमें शब्दों के अन्त में व्यंजन-गुच्छ भी नहीं मिलते।

तुर्की भाषा की एक बढ़ी भारी विचित्रता यह है कि इसमें व्यंजन-वर्णों का भी परिवर्तन होता है। यत्किंचित मात्रा में, यह विशेषता प्रायः सभी तुर्की भाषाओं में उपलब्ध है, किन्तु उत्तरी-पश्चिमी, उत्तरी-पूर्वी वर्गों की भाषाओं तथा 'याकूत' में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यहाँ व्यंजन-वर्णों के उच्चारण में भी अत्यधिक अन्तर मिलता है। प्रायः स्वरमध्यग व्यंजनों में यह परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ उज़बेक में 'क्' वर्ण 'र्' या 'ग्' में परिवर्तित हो जाता है; यथा 'एशिक्' 'दरवाजा,' >एशिगि।

इससे महत्वपूर्ण एवं अत्यधिक प्रचलित परिवर्तन उस समय होता है जब एक व्यंजन वर्ण दूसरे का अनुगमन करता है। जब दो आस-पास के व्यंजनों में से दूसरा व्यंजन प्रथम व्यंजन से प्रभावित होकर उसके समान बन जाता है तो इस परिवर्तन को अग्रगामी समीकरण के नाम से अभिहित किया जाता है। जब इसी दशा में दूसरा व्यंजन प्रथम की अपेक्षा बहुत बदल जाता है तब इस परिवर्तन को अग्रगामी विषमीकरण कहते हैं। अग्रगामी समीकरण प्रायः सभी तुर्की भाषाओं में उपलब्ध होता है। टर्की की तुर्की से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। यथा--वह आया= **गेल्-दि** (gel-di), किन्तु वह गया = गित्-ति (git-ti)। यहाँ दि का द्, जब 'गित्' के साथ संयुक्त हुआ तो यह भी 'त्' में परिणत हो गया। अग्रगामी समीकरण अधिकांशतः उत्तरी-पश्चिमी, उत्तरी-पूर्वी वर्गों की भाषाओं एवं 'याकूत' में मिलता है। उदाहरणार्थ --किरगिज़ में प्रत्यय के आदि का 'ल्' 'द' एवं 'त्' में परिवर्तित हो जाता है। कज़ाक एवं कराकलपक में 'म्', 'ब्' तथा 'प्' में परिर्वातित हो जाता है। यहाँ पर किरगिज़ भाषा से कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं। इसमें बहुवचन के लिए-लेर (–ler) प्रत्यय संयुक्त किया जाता है; इस प्रत्यय के आदि में 'ल्' अन्त में 'र्' तथा दोनों के बीच विवृत स्वर 'ए' है। इसमें ऊपर कथित, दोनों प्रकार के स्वर-संगीति के नियम लागू होते हैं। जब यह प्रत्यय किसी ऐसे शब्द से संयुक्त होता है जिसके अन्त में कोई स्वर अथवा 'र्' या 'य्' होता है तब प्रत्यय का आदि 'ल्' अपरिर्वातित रहता है। यथा–अता-लर् (ata-lar)= पिताओं; सेर्-लेर् (cer-ler) स्थानों; अय्-लर् (ay-lar) महीनों, आदि। किन्तु जब यह प्रत्यय किसी ऐसे शब्द से संयुक्त होता है जिसके अन्त में 'र्' 'य्' के अति-- रिक्त कोई सघोष व्यंजन वर्ग रहता है, जैसे ज़, ल, म, न, (z, l, m, n,)

तब इस प्रत्यय के आदि का 'ल्''द्' में परिवतिर्त हो जाता है। यथा—कौज़-दौर (kōz-dōr), आँखें, 'कौल-दौर' (kōl-dōr) झीलें, 'कून-दौर' (kûn-dòr), दिनों, आदि। जब यह प्रत्यय किसी ऐसे शब्द से संयुक्त होता है जिसके अन्त में अघोष व्यंजन वर्ग यथा—क या क़, त् या च, श (k या q, r, c, s) आदि आते हैं तब आदि 'ल्' (l), 'त्' (t) में परिवर्तित हो जाता है। यथा—'मिल्तिक़-तर' (miltiq-tar) रायफलें; अत्- तर् (at-tar) घोड़े; ओत्-तोर् (ot-tar)=आगें, 'चिगच्-तर' (eigac-tar)=वृक्षों; बश-तर (baṡ-tar)=सिरों; आदि। अग्रगामी विषमीकरण एवं ऊपर कथित दो प्रकार के स्वरसंगीतियों के कारण किरगिज़ तथा अन्य तुर्की भाषाओं में बहुवचन के प्रत्यय के बारह रूप हो सकते हैं। यथा—

—लेर्,-लर्,-लौर-लोर्,

—डेर्,-डर्,-डौर,-डोर्,

—तेर्,-तर्,-तौर,-तोर,

इसीप्रकार इसमें कर्मकारक के प्रत्यय के रूप इसप्रकार हैं—

—नि,-नी,-नू,-नु,

—दि,-दी,-दू,-दु,

—ति,-ती,-तू,-तु आदि।

याकूत भाषा में केवल अग्रगामी समीकरण एवं विषमीकरण ही उपलब्ध नहीं होते अपितु इसमें पश्चगामी समीकरण भी मिलता है। इसमें दो पास के व्यंजन वर्णों में से प्रथम, द्वितीय का रूप धारण कर लेता है. यथा—तुर्की में अत् (at)=घोड़ा। इसमें मेरे घोड़े को = अप्-पर् (ap-par). अक़-कीत्तन=(aq ki:ttan)= तुम्हारे घोड़े से।

तुर्की भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें बलाघात एवं सुर दोनों मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरानी तुर्की में शब्द के प्रथम अक्षर पर बलाघात था। इसी के परिणामस्वरूप इसमें स्वरसंगीति का प्रादुर्भाव हुआ। दूसरे शब्दों में शब्द के प्रथम अक्षर के स्वर का दूसरे अक्षर के स्वर पर प्रभाव पड़ा। प्रथम अक्षर पर बलात्मक स्वराघात के उदाहरण विशेषरूप से कराकलपक एवं कज़ाक भाषाओं में तथा साधारणरूप से उज़बेक में मिलते हैं। अन्य भाषाओं, यथा, टर्की की तुर्की तथा कज़ान्-तातार में प्रथम अक्षर पर इस मूल बलात्मक स्वराघात के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।

अधिकांश योरोपीय भाषाओं की भाँति तुर्की भाषाओं में केवल एक अथवा

दो अक्षरों पर ही बल नहीं होता। इनमें प्रत्येक अक्षर पर के बल एवं उसकी मात्राओं के संबंध में विचार करना आवश्यक है।

तुर्की भाषा में शब्दों के प्रथम अक्षरों के अतिरिक्त किसी अन्य अक्षर पर किस प्रकार का बलात्मक स्वराघात है यह उसके ध्वन्यात्मक ढाँचे पर निर्भर करता है और कुछ हद तक शब्द के प्रथम अक्षर का बलात्मक स्वराघात भी शब्द के ढाँचे पर निर्भर करता है।

इसके अतिरिक्त अक्षर के ढाँचे के अनुसार प्रत्ययों पर जितना बलात्मक स्वराघात होना चाहिए उससे अधिक मात्रा में होता है किन्तु अन्यत्र इससे विपरीत भी होता है।

अधिकांश तुर्की भाषाओं में अत्यन्त विचित्र एवं महत्वपूर्ण स्वराघात का जो रूप मिलता है वह है बलात्मक स्वराघात। इसमें वक्ता शब्द के किसी अक्षर अथवा प्रत्यय पर अपने इच्छानुसार बल देते हुए उच्चारण करता है। जिन शब्दों एवं प्रत्ययों में एक से अधिक अक्षर होते हैं उसमें बलात्मक स्वराघात अक्षर के ढाँचे के अनुसार होता है। यह 'कज़ाक' तथा 'कराकलपक' भाषाओं में विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है क्योंकि इनमें प्रथम अक्षर का मूल बलात्मक स्वराघात बहुत अंशों में आज भी सुरक्षित है। अन्य भाषाओं में यह बहुत कम मिलता है। 'कज़ाक' एवं 'कराकलपक' जैसी भाषाओं में प्रायः प्रत्येक दूसरे शब्द पर विभिन्न मात्राओं का बलात्मक स्वराघात मिलता है।

जब किसी अक्षर पर बलात्मक स्वराघात होता है तो उसके बाद के अक्षर कभी सबल एवं कभी निर्बल ढंग से उच्चरित होते हैं; इसप्रकार स्वराघात की प्रणाली में पर्याप्त मात्रा में अन्तर आ जाता है।

उपरिलिखित अनेक तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप तुर्की भाषाओं में स्वराघात की प्रक्रिया नितान्त जटिल एवं दुरूह हो गयी है। यह दुरूहता विभिन्न भाषाओं में सापेक्षिक दृष्टि से, कम अथवा अधिक मात्रा में उपलब्ध होती है। टर्की की तुर्की भाषा में यह प्रक्रिया सामान्यतया सरल एवं कम जटिल है। ऊपर के तत्वों के फलस्वरूप तुर्की भाषाओं में कभी-कभी अन्तिम अक्षर पर बलात्मक स्वराघात विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। इससे कतिपय लोगों ने यह धारणा बना ली है कि इनमें अन्तिम अक्षर पर ही बलात्मक स्वराघात होता है। तुर्की भाषाओं में प्रत्येक शब्द एवं वाक्य में चढ़ाव और उतार का सुर होता है। कभी-कभी बलात्मक स्वराघात के कारण इसमें परिवर्तन भी हो जाता है और तब इसकी सुर प्रक्रिया प्रणाली भी जटिल हो जाती है।

ऊपर की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप हम तुर्की भाषाओं को अर्द्ध-सुर वाली भाषा अथवा सुर एवं सुर रहित भाषाओं के मध्य की कह सकते हैं।

## ख—गठन तथा वाक्य संबंधी विशेषताएँ

वास्तव में तुर्की भाषाएँ संयोगात्मक भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इस संयोगात्मकता पर ही उ के गठन एवं शब्द-निर्माण की प्रणाली निर्भर है। तुर्की भाषाओं में संयोगात्मकता का यह तात्पर्य है कि सम्प्रति इनमें जो प्रत्यय संयुक्त होते हैं उनका अपना कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं होता। ये प्रत्यय शब्दों के अन्त में संयुक्त होते हैं और चाहे एक के बाद दूसरे प्रत्यय क्यों न जोड़े जायँ, इनके रूप अ-परिवर्तित रहते हैं। यहाँ शब्द की इकाई प्रकृत एवं प्रत्यय दोनों मिलकर होते हैं। शब्द की यह इकाई स्वरसंगीति के नियमों से शासित होती है। इस पर सुर और स्वराघात का भी प्रभाव पड़ता है।

तुर्की भाषाओं में शब्द-निर्माण की प्रक्रिया, जर्मन, लैटिन, एवं रूसी जैसी योरोपीय भाषाओं से सर्वथा भिन्न है। योरोपीय भाषाओं में प्रत्ययों के अनुसार रूप एवं अर्थ दोनों में परिवर्तन होता जाता है। यहाँ धातु से निर्मित शब्दों एवं प्रत्ययों, दोनों में परिवर्तन होता है इसलिए यहाँ संधि के नियम भी जटिल हैं। तुर्की भाषाओं में प्रत्येक व्याकरणीय भाव के लिए विशिष्ट प्रत्यय होता है। उदाहरणस्वरूप रूसी एवं लैटिन भाषा में विभिन्न कारकों में एक वचन और बहुवचन के प्रत्ययों में अन्तर होता है, किन्तु इन प्रत्ययों में कारक और वचन के रूप भिन्न-भिन्न नहीं होते। तुर्की भाषाओं में ये दोनों स्वतंत्र एवं भिन्न होते हैं। इनके विभिन्न कारकों के एक वचन तथा बहुवचन के रूप एक ही होते हैं।

ऊपर तुर्की भाषाओं के व्याकरणीय रूपों की जिन विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है उनमें दो बातें स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम यह कि तुर्की भाषाओं का रूपात्मक गठन नितान्त सुन्दर एवं नियमित है और इनके शब्दरूपों में किसी प्रकार के अपवादों एवं अनियमितता की कोई गुंजाइश नहीं है। इसका कारण यह है कि इसके प्रत्येक प्रत्यय एक व्याकरणीय भाव को व्यक्त करते हैं। इ में आवश्यकतानुसार किसी संज्ञा पद के साथ संयुक्त होते समय परिवर्तन होते हैं। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, एवं रूसी भाषाओं में ऐसा नहीं है। यहाँ संज्ञा शब्दों के रूप भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्मित होते हैं। तुर्की भाषाओं के संबंध में दूसरी बात यह है कि इनके मूल शब्द एवं

प्रत्यय स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। अतएव इनमें व्याकरणीय विश्लेषण में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं होती।

विभिन्न तुर्की भाषाओं में प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक नहीं है, किन्तु ये प्रत्यय अन्य प्रत्ययों से संयुक्त होकर अनेक शब्दों का निर्माण करते हैं। यदि भली भाँति इन प्रत्ययों पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाय तो तुर्की भाषा का अध्ययन सरल हो जाता है। इसके अध्ययन का सबसे अच्छा ढंग इन प्रत्ययों के व्याकरणीय अर्थ को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना है। इसके बाद तो प्रत्ययों के सहारे शब्दों का निर्माण अत्यन्त सरल हो जाता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना किया कि मुझे तुर्की में "मेरे घरों में" के भाव को व्यक्त करना है। इसके लिए सर्वप्रथम 'घर' शब्द का तुर्की रूप लेना उपयुक्त है; तदुपरान्त इसमें बहुवचन के प्रत्यय को संयुक्त करना युक्ति-युक्त है। इस प्रत्यय को संयुक्त करते समय ऊपर वर्णित दोनों प्रकार के स्वर संगीतियों का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके पश्चात् "मेरे" शब्द के तुर्की रूप को प्राप्त करना आवश्यक है, अन्त में 'में' के तुर्की रूप को संयुक्त करने की आवश्यकता है। इन सभी रूप-निर्माणों में स्वर-संगीति का ध्यान रखना परमावश्यक है। इसप्रकार "मेरे घरों में" का भाव तुर्की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। व्यवहारिक रूप में यह कार्य इस रूप में सम्पन्न होगा :—

तुर्की में एव् = घर; लेर् = बहुवचन प्रत्यय; इम् = मेरा; दे = में; अब उज़बेक में यह "ऊय-लेर्-इम्-दे" तथा किरगिज़ में "ऊय-लौर-ऊम्-दौ" होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्दों का क्रम इसीरूप में रहेगा और इसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा।

ऊपर की प्रक्रिया कतिपय लोगों को कठिन प्रतीत होगी किन्तु अनेक शब्द-रूपों को कंठस्थ करने के बजाय तुर्की भाषा को सरलता से ग्रहण करने का यही मार्ग है। वस्तुतः "मेरे घर में" वाक्य को तुर्की भाषा में व्यक्त करना उतना कठिन नहीं है क्योंकि इसके प्रत्येक पदग्राम का व्याकरणीयरूप स्पष्ट है, किन्तु इसप्रकार के भी क्रियारूप इसमें आते हैं जिन के द्वारा प्रेरणार्थक कर्मवाच्य, असभाव्य, अतीतकाल में अनिश्चितता के भाव, अन्य पुरुष एवं बहुवचन को द्योतित करना पड़ता है। इन व्याकरणीय भावों को प्रकट करने के लिए तुर्की में 'क्रिया' में एक के बाद कई प्रत्यय संयुक्त करने पड़ते हैं। आर्यपरिवार की संस्कृत, ग्रीक, लैटिन जैसी भाषाओं में ऊपर के व्याकरणीय भावों को द्योतित करने के लिए जटिल प्रकिया का अवलम्बन करना पड़ता है, किन्तु तुर्की भाषाओं

में इसप्रकार की जटिलता का अभाव है। इसमें क्रिया के साथ प्रत्येक व्याकरणीय भाव को द्योतित करनेवाले प्रत्यय स्पष्टरूप से दिखाई देते हैं। यही कारण है कि जब हम तुर्की के किसी वाक्य को अंग्रेजी एवं हिन्दी जैसी भाषाओं में अनूदित करते हैं तो वाक्य बहुत लम्बा हो जाता है।

तुर्की भाषा के वाक्य में शब्दों का क्रम भी एक विशेषरूप में होता है। इसमें हिन्दी की भाँति ही क्रिया, वाक्य के अन्त में आती है। यही कारण है कि हिन्दी जानने वालों को वाक्य में इसके क्रियापद का क्रम बिल्कुल विपरीत प्रतीत नहीं होता है।

तुर्की भाषाओं की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इनमें लिङ्ग-भेद का सर्वथा अभाव है। केवल संदर्भ से ही तुर्की भाषा-भाषियों को इसका ज्ञान होता है।

नीचे तुर्की भाषा की रूपप्रकिया के संबंध में संक्षेप में विचार किया जाता है।

१—(क) **संज्ञा**—कर्त्ताकारक के एक वचन तथा बहुवचन के साथ एक ही प्रत्यय का प्रयोग होता है, किन्तु बहुवचन को द्योतित करने के लिए कर्त्ताकारक के प्रत्यय के बाद बहुवचन के प्रत्यय को संयुक्त करना पड़ता है।

कर्त्ता तथा अनिश्चित कर्मकारक को द्योतित करने के लिए किसी प्रकार के प्रत्यय का संयोग नहीं होता, केवल पाँच कारकों में प्रत्ययों का प्रयोग होता है। ये हैं, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, तथा संबंध।

संबंधकारक के भाव को द्योतित करने के लिए केवल षष्ठी के प्रत्यय को ही संयुक्त करना प्रर्याप्त नहीं होता, अपितु वस्तु के साथ भी अन्यपुरुष के प्रत्यय को संयुक्त करना पड़ता है; उदाहरणार्थ यदि हम "मनुष्य का घर" इस वाक्य को तुर्की में अनूदित करें तो हमें इसे "मनुष्य का घर-उसका" इस रूप में अनूदित करना पड़ेगा। टर्की की तुर्की भाषा में इसे "आदम्-इन् इव्-इ" तथा उज़बेक में "आद्म-निङ ऊय-इ" कहना पड़ेगा।

(ख) तुर्की भाषा में अधिकार को द्योतित करने के लिए संज्ञा में विशेष प्रत्ययों को संयुक्त करना पड़ता है। यह हिन्दी या अंग्रेजी की भाँति अधिकारवाची सर्वनाम के द्वारा द्योतित नहीं होता है। यहाँ अधिकारवाची प्रत्ययों के बाद बहुवचन का प्रत्यय आता है; उदाहरणस्वरूप "मेरा घर" इसको तुर्की में "एव्–इम्", (घर मेरा) कहेंगे। इसीप्रकार "मेरे-घरों में" को तुर्की में "एव्-लेर्–इम्-दे" (घर-बहुवचन प्रत्यय-मेरा-में) कहा जायगा। 'मेरा', 'तुम्हारा', उसका',

जैसे स्वतंत्र अधिकारवाची सर्वनामरूपों का प्रयोग तुर्की में केवल जोर देकर कहने के लिए किया जाता है। ऐसे सर्वनामों की यहाँ स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।

२—(क) **सर्वनाम**—यहाँ पर इस बात का पुनः उल्लेख आवश्यक है कि अंग्रेजी की भाँति अन्यपुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग-पुलिंग के रूपों का तुर्की में अभाव है। इन भाषाओं में लिंग की भिन्नता नहीं होती।

(ख) अंग्रेजी-हिन्दी के अधिकारवाची सर्वनाम की पृथक् सत्ता होती है, किन्तु तुर्की में यह कार्य अधिकारवाची प्रत्ययों के द्वारा संपन्न होता है। यहाँ कर्तृ-रूप को द्योतित करने के लिए विशेष प्रत्यय व्यवहृत होते हैं। इनके भी दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत व्यक्तिवाची सर्वनाम या उनसे प्रसूत रूप व्यवहृत होते हैं। दूसरे प्रकार के अन्तर्गत अधिकारवाची प्रत्ययों का व्यवहार होता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। किरगिज़ में 'हम' = विज़ तथा 'हम आते हैं'= केल्-ए-बिज् (आते-वर्तमानकाल-हम), 'उज़बेक में यही "केल्--ए- मिज्"हो जाता है। यहाँ दूसरा उदाहरण अधिकारवाची प्रत्ययों (अथवा उससे उत्पन्न प्रत्ययों) का दिया जाता है; उदाहरणार्थ उज़बेक में 'मेरा'-=इम् और 'तुम्हारा'=इङ-इज्। इसप्रकार "मैं आया" =केल्-द्-इम् (आया—मेरा) और 'तुम आए'=किल्-द्-इङ- इज् (आये तुम्हारा)।

अधिकांश तुर्की भाषाओं में व्यक्तिगत (कर्तृ) के प्रत्यय उससे व्युत्पन्न प्रत्यय अथवा अधिकारवाची सर्वनाम के प्रत्यय, अतीतकाल तथा संभाव्य-काल में संयुक्त होते हैं। अन्य क्रियापदों में पुरुषवाची सर्वनाम के प्रत्यय क्रियापदों में संयुक्त होते हैं; केवल दक्षिणी-पश्चिमी वर्ग की भाषाएँ इस नियम की अपवाद हैं। नीचे के उदाहरणों से ऊपर की बातें स्पष्ट हो जायँगी :—

**उज़बेक**

| **पुरुषवाची सर्वनाम** | अधिकारवाची सर्वनाम | क्रियारूप |
|---|---|---|
| मैं=मेन् | मेरा=–इम् | मैं आता हूँ=केल्-ए-**मेन्** |
| तुम=सिज़ | तुम्हारा=–इङइज् | तुम आते हो=केल्-ए-**सिज़** |
| **टर्की-तुर्की** | **ओ के बाद** | |
| मैं=बेन् | मेरा=उम् | मैं आता हूँ =गेल्-इयोर्-**उम्** |
| तुम=सिज़ | तुम्हारा=सुनुज़् | तुम आते हो=गेल्-इयोर्-सुनुज़् |

(ग) तुर्की भाषा में उल्लेख-सूचक सर्वनाम 'यह', 'वह' के तीन रूप होते हैं। 'यह' का एक रूप निकटवाची उल्लेखसूचक सर्वनाम के रूप में व्यव-हृत होता है, किन्तु यहाँ 'वह' दूरवाची उल्लेख-सूचक सर्वनाम के दो रूप उप

लब्ध होते हैं। इनमें से एक रूप तो वह है जो आँखों से दिखलाई देता है किन्तु दूसरा रूप वह है जो आखों से बिल्कुल दिखलाई नहीं देता।

३—**विशेषण**—(क) तुर्की भाषाओं में संज्ञा एवं विशेषण में स्पष्ट अन्तर प्रदर्शित करना सरल नहीं। यहाँ द्रव्यवाची संज्ञापद तो अपरिवर्तित रूप में विशेषण की भाँति व्यवहृत होते हैं। उदाहरणार्थ :—उज़बेक में—तेमिर् = लोहा; योल् = मार्ग, से 'तेमिर् योल्' बनेगा जिसका अर्थ है 'लौह-मार्ग' अर्थात् रेलवे।

(ख) तुर्की भाषाओं में विशेषण की तुलनात्मक श्रेणियों के लिए संस्कृत की 'तरप्', 'तमप्' प्रत्ययों की भाँति व्यवहार नहीं होता अपितु यह कार्य केवल अपादान की विभक्ति से संपन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ :—उज़बेक में अच्छा=याख़िश; किन्तु मुझसे अच्छा = मेन् दे-याख़िश होगा। यहाँ मेन्=मुझ, तथा दे=से, अपादान कारक की विभक्ति, इस कार्य के लिए बलात्मक प्रत्यय "रैक" भी व्यवहृत होता है। यथा :—"मेन्-देन्-याख़िश-रैक"। इसमें तमप् का भाव द्योतित करने के लिए विशेषण के पूर्व 'एङ' प्रत्यय व्यवहृत होता है यथा-"एङ याख़िश"।

(ग) इसमें विशेषण का बलात्मक रूप एक विचित्र ढंग से संपन्न होता है। सर्वप्रथम विशेषण के प्रथम अक्षर का चयन किया जाता है और यदि यह स्व-रान्त होता है तो इस प्रथम अक्षर के अन्तिम व्यंजन के स्थान पर प, - म या-स को संयुक्त करके यह रूप संपन्न किया जाता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अधिकतर -प का ही प्रयोग किया जाता है और -म तथा -स का प्रयोग यदा-कदा ही होता है। यथा, उज़बेक में क़ारे = काला, बिल्कुल काला = "क़ापू-क़ारे, इसीप्रकार कौक् = नीला, हरा किन्तु कौम्-कौक् = बिल्कुल नीला-बिल्कुल हरा।

(घ) हिन्दी और अंग्रेजी की भाँति विशेषण संज्ञा के पूर्व व्यवहृत होता है किन्तु इसमें संज्ञा के लिंग आदि के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ—टर्की की तुर्की भाषा में—इ य इ-एव्-लेर्- इमिज़-देन् = हमारे अच्छे घरों से।

४—**अव्यय**—तुर्की में 'आज', 'कल', 'कहाँ', 'जहाँ' और 'तहाँ' जैसे अव्ययों के भाव संज्ञा, विशेषण, क्रियार्थक संज्ञाओं अथवा संख्यावाची शब्दों के द्वारा-द्योतित किए जाते हैं। कभी-कभी इनके साथ किसी प्रकार के प्रत्यय व्यवहृत

नहीं होते, किन्तु यदा-कदा इनमें विभक्ति प्रत्यय, अधिकारवाची सर्वनाम के प्रत्यय, बलात्मक एवं अन्य प्रत्यय संयुक्त होते हैं।

५—**संख्यावाची शब्द**—(क) जब किसी संज्ञा के साथ संख्यावाची विशेषण व्यवहृत होता है तो संज्ञा पद का रूप एक वचन का ही होता है, बहुवचन का नहीं; यथा टर्की की तुर्की में बिर् आत्=एक घोड़ा; 'इकि आत्'=दो घोड़ा (हिन्दी में दो घोड़े); 'ऊच अत्=तीन घोड़ा (हिन्दी में तीन घोड़े)।

(ख) तुर्की भाषा में कई प्रकार के स्वंख्यावाची विशेषण व्यवहृत होते हैं। यहाँ गणनावाची एवं क्रमवाची के अतिरिक्त नामवाची विशेषण भी होते हैं। उदाहरणार्थ उज़बेक में तीन=ऊच, किन्तु "हम तीनों"='ऊच्-अव्-इमिज़्' (तीन नाम-हम) होगा।

६—**अनुसर्ग**—तुर्की में हिन्दी की भाँति ही अनुसर्ग का प्रयोग होता है। ये हिन्दी की भांति ही संज्ञा के बाद व्यवहृत होते हैं।

तुर्की भाषा के अनेक अनुसर्ग वास्तव में अधिकारवाची सर्वनाम के प्रत्यय एवं कारक-विभक्ति से संयुक्त संज्ञापद होते हैं। ये सम्बन्धवाची वाक्यों का निर्माण करते हैं, यद्यपि यहाँ सम्बन्धवाची प्रत्यय संयुक्त नहीं होते।

७—**समुच्चयबोधक अव्यय**—तुर्की में हिन्दी की भाँति, "किन्तु" 'परन्तु', 'तथा', 'और" जैसे समुच्चयबोधकअव्यय शब्दों का प्रयोग नहीं होता। वस्तुतः इनके लिए तुर्की में क्रियारूप व्यवहृत होते हैं। यह होते हुए भी तुर्की में अरबी, फ़ारसी तथा रूसी से अनेक समुच्चयबोधक अव्यय-शब्द ग्रहण किए गए हैं।

८—**क्रिया**—प्रयोग एवं रूप की दृष्टि से तुर्की के क्रियापद नितान्त दुरुह एवं जटिल हैं तथा आर्य भाषाओं के क्रियापदों से इनमें अत्यधिक अन्तर है।

"रखना" अथवा "है" को तुर्की में एक विचित्र ढंग से द्योतित करते हैं। उदाहरणार्थ "मैं एक घोड़ा रखता हूँ" अथवा "मेरे पास एक घोड़ा है", इसे तुर्की में इसप्रकार कहा जायेगा— "मैं-पर घोडा अस्तित्व-है" अथवा "घोड़ा मेरा अस्तित्व-है"। तुर्की में दो विशिष्ट ऐसे शब्द हैं जो अंशतः क्रिया का भाव द्योतित करते हैं। ये हैं —"अस्तित्व है" तथा "अस्तित्व नहीं है"। ये दोनों शब्द 'रखना' तथा 'नहीं रखना' के भाव को व्यक्त करते हैं। उजबेक में 'रखना' के लिए 'बार्' (bar) तथा नहीं रखना के लिए "योक़" (yoq) शब्द प्रयुक्त

होते हैं। ऊपर के वाक्य को उज़बेक में इसप्रकार कहेंगे—"मेन्-दे आत्बर्" आत्-इम्-बर्"।

तुर्की क्रिया के अनेक रूप होते हैं। नीचे इनके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जाता है :—

(क) तुर्की में, सामान्य क्रिया में, प्रत्यय संयुक्त कर कर्तृवाच्य, प्रेरणार्थक, परस्परताबोधक, अपनत्वबोधक एवं नकारात्मक भाव व्यक्त किये जा सकते हैं। इसमें, कभी क्रिया में एक प्रत्यय तथा कभी दो प्रत्यय संयुक्त कर उसे बड़ा बनाया जा सकता है। उदाहरणार्थ टर्की की तुर्की भाषा में —'यप्'=बनना, यप्-तिर् 'बनाना', 'यप्-तिर्-इल्', 'बनवाना' होगा। चिक् ( उच्चारण चिक़् ), 'बाहर निकलना', 'बाहर जाना', 'चिक़्-अर्', बाहर निकालना' 'चिक़्-अर्-त्', 'बाहर निकलवाना', चिक़्-अर्-त्-इल्', 'निकलवाने के लिए प्रेरित करना', 'चिक़्-अर्-त्-इल्-मा', 'न निकलवाना'।

(ख) सामान्य एवं मिश्रित: दोनों प्रकारों को मिलाकर, तुर्की भाषा में अनेक 'काल' होते हैं। इसमें अतीतकाल तो कई हैं, किन्तु भविष्यत्काल का इसमें अभाव है।

(ग) तुर्की में पुरुषवाची अथवा अधिकारवाची सर्वनाम से प्रसूत प्रत्यय ही क्रियापदों में संयुक्त हो जाते हैं। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(घ) उज़बेक में कभी-कभी दो क्रियापदों को संयुक्त कर एक क्रियापद निर्मित होता है। इस प्रक्रिया के अवशेष टर्की की तुर्की भाषा में भी उपलब्ध होते हैं। इस संयुक्त क्रियापद के भी कई प्रकार मिलते हैं। इनमें से एक प्रकार वह होता है जिसमें दो क्रियापदों को संयुक्त कर किसी निश्चित विचार को ठीक ढंग से व्यक्त किया जाता है। यहाँ केवल एक क्रियापद से यह कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। कई तुर्की भाषाओं में तो एक क्रियापद के द्वारा, स्पष्टरूप से, विचारों का द्योतन ही सम्भव नहीं होता। यही कारण है कि इनमें दो या दो से अधिक क्रियापद संयुक्त किए जाते हैं।

तुर्की भाषा के क्रियापद के एक अन्य प्रकार में, वर्णनात्मक सहायकक्रियापद को संयुक्त किया जाता है। यह सहायकक्रिया, मुख्य क्रिया के बाद आती है। इससे मुख्य क्रियापद द्वारा द्योतित कार्य की अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। इसप्रकार इससे कार्य के आरम्भ होने, कार्य के निरन्तर चलते रहने, कार्य के सम्पन्न होने की अवस्थाओं का द्योतन होता है। यहाँ, स्पष्टीकरण के लिए

उज़बेक़ से कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं। यहाँ "युबर्," 'भेजना' को वर्णनात्मक सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यह क्रिया ऐसे कार्य की अवस्था को व्यक्त करती है जो यकायक आरम्भ होता है, किन्तु थोड़ी देर के बाद समाप्त हो जाता है। यथा, "कूलिब् युबर-दि-एर" 'उन्होंने हँसना आरम्भ किया', "यिग्ल्एव युबर्-दिक्," 'हम लोगों ने रोना आरम्भ किया।' किरग़िज़ में "केल्," 'आना', वर्णनात्मक सहायकक्रिया के रूप में प्रयुक्त होता है। यह ऐसे कार्य की अवस्था को द्योतित करता है जो आरम्भ होकर अभी तक चल रहा है; यथा--"एकि चिल् ओशो मेक्तेप्, ते ओक़ुप् केल्-दि," 'वह स्कूल में दो वर्षों से पढ़ रहा है।'

(ङ) तुर्की भाषा की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें क्रियार्थक संज्ञाओं एवं कृदन्तों का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग होता है। टर्की की तुर्की भाषा में क्रियार्थक संज्ञा तथा कृदन्त के रूपों में अन्तर मिलता है किन्तु अन्य तुर्की भाषाओं में, इनके रूप समान होते हैं, केवल इनके प्रयोग में अन्तर होता है।

इन दोनों के अन्तर को इसप्रकार समझा जा सकता है। जिन रूपों में अधिकार वाची सर्वनाम के प्रयत्न एवं कारक-विभक्तियाँ संयुक्त मिलती हैं वे क्रियार्थक संज्ञाएँ हैं, किन्तु जिनमें ये प्रत्यय संयुक्त नहीं रहते वे कृदन्त हैं।

यद्यपि क्रियार्थक संज्ञाओं में कारक विभक्तियाँ एवं अधिकारवाची सर्वनाम के प्रत्यय संयुक्त होते हैं तथापि इनमें क्रिया की प्रकृति वर्तमान रहती है। प्रत्येक तुर्की भाषा में अनेक क्रियार्थक संज्ञाएँ हैं तथा इनके द्वारा वास्तविकता, निरन्तरता, स्थिरता एवं भविष्य के भाव द्योतित होते हैं। इस तरह इनके द्वारा विभिन्न दशाओं एवं स्थितियों का बोध होता है। टर्की की तुर्की भाषा में "हस्तलन्-दिग्-इम्-दन् मेक्तेब्-ए गिद्-एमे-द्-इम्" से तात्पर्य है, 'मैं स्कूल न जा सका क्योंकि मैं बीमार पड़ गया था, (=वास्तविक पड़ा-बीमार-मेरा-से स्कूल-को जा-न-सका मैं) आदि।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तुर्की में कृदन्तीय रूप क्रियार्थक संज्ञा के समान ही होते हैं, किन्तु इनके प्रयोग में अन्तर होता है। इन कृदन्तीय रूपों के साथ अधिकारवाची सर्वनाम के प्रत्यय एवं कारकीय विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता। ये विशेषण की भाँति प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ टर्की की तुर्की में, "गेल्-एन् आदम्"='आता हुआ मनुष्य'; "गेल्-मिश् आदम्"=मनुष्य जो आया। इसका वास्तविक रूप है "आता-अतीत मनुष्य; "गेल्-एचेक् आदम्" ='मनुष्य जो आयेगा' (=वास्तविक रूप, 'आता--भविष्य मनुष्य')। इसी-

प्रकार उज़बेक में "केल्-गेन किशि"='मनुष्य जो आया', (वास्तविक रूप, 'आता-अतीत मनुष्य')।

(च) तुर्की भाषाओं में क्रिया का एक और विचित्ररूप उपलब्ध होता है। यह कृदन्तीय संज्ञा (कन्वव या जेरंड) अथवा कृदन्तीय रूप होता है। यह अव्यय की भाँति अन्य क्रिया का गुणविस्तार करता है। क्रियार्थक संज्ञा की भाँति, वा य में, न तो यह कर्त्ता और न कर्मकारक के रूप में ही प्रयुक्त हो सकता है और न इसके साथ कोई प्रत्यय ही संयुक्त किया जा सकता है। यह कृदन्तीय रूप विशेषण भी नहीं होता। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि कतिपय तुर्की भाषाओं में क्रियार्थक संज्ञा कृदन्तीय रूप तथा कृदन्तीय संज्ञा का अन्तर धीरे-धीरे लुप्त हो रहा है।

सामान्यरूप से कृदन्तीय संज्ञा (=कन्वर्व) से न तो किसीप्रकार के काल का ही बोध होता है और न कारक एवं पुरुष का ही ज्ञान होता है। वास्तव में कारक एवं पुरुष का ज्ञान उस मुख्य क्रियापद से होता है जिसका कृदन्तीय क्रियापद गुण विस्तार करता है। तुर्की भाषाओं में ये कृदन्तीय संज्ञापद पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

आर्य भाषा भाषियों के लिए तुर्की वाक्य एक विचित्र पहेली है और आरम्भ में इसके भाव को हृदयंगम करना कठिन है। इसका कारण यह है कि वाक्य में शब्दों के विचित्र क्रम के अतिरिक्त इसमें कृदन्तीयसंज्ञाओं, कृदन्तीय रूपों एवं क्रियार्थक संज्ञाओं का प्रयोग होता है, किन्तु सापेक्षिक दृष्टि से अल्प समय में ही इनका अभ्यास हो जाता है और तब तुर्की भाषा नितान्त सरल हो जाती है।

## अध्याय १३-१४

इन दो अध्यायों में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मैक्समूलर ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। यह उस युग का ज्वलन्त प्रश्न था और इस सम्बन्ध में लिखा भी बहुत गया किन्तु नव्य वैयाकरणों के प्रादुर्भाव के पश्चात् आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने इस सम्बन्ध में बिल्कुल विचार करना छोड़ दिया है। बात यह है कि भाषा के सैद्धान्तिक पक्ष सम्पुष्ट करने तथा भाषाविज्ञान को वास्तविक विज्ञान के पद पर आसीन करने के लिए आज के युग में इतने अधिक तथ्य उपलब्ध हैं कि काल्पनिक प्रश्नों के हल करने में आज भाषाविज्ञानियों को कोई रस नहीं मिलता। यही कारण है कि आज भाषा की उत्पत्ति-विषयक चर्चा भाषाविज्ञान की अध्ययन परिधि की बाहर की वस्तु बन गई है।

———

क्रम-संख्या १

# वंश-वृक्ष
## आर्य भाषा परिवार

| जीवित भाषाएँ | मृत भाषाएँ | शाखाएँ | वर्ग | भाग |
|---|---|---|---|---|
| भारत की भाषाएँ | आधुनिक संस्कृत—प्राकृत और पाली, वैदिक संस्कृत | | भारतीय | दक्षिण-पूर्वी भाग |
| अफगानिस्तान, जिप्सियों की भाषाएँ | | | | |
| ईरान की भाषाएँ | पारसी, पहलवी, कोणाकृति शिलालेख, जेन्द | | इरानिक | |
| कुर्दिस्तान की भाषाएँ | | | | |
| बलूचिस्तान की भाषाएँ | | | | |
| ओस्सेथी | | | | |
| आरमेनियन भाषाएँ | प्राचीन आरमेनियन | | | |
| वेल्श | प्राचीन वेल्श | सिमरिक | कैल्टिक | उत्तर-पश्चिमी भाग |
| ब्रिटैनी | प्राचीन आरमोनिकन | | | |
| + | कार्निश | | | |
| स्काटलैण्ड की भाषाएँ | | गोइडेलिक | | |
| आयरलैण्ड की भाषाएँ | | | | |
| मानद्वीप की भाषाएँ | | गालिक | | |
| + | गाउल में शिलालेख | | | |
| पुर्तगाल की भाषाएँ | | | इतालिक | |
| स्पेन की भाषाएँ | | | | |
| प्रोवेन्स की भाषाएँ | लांग द' ओक, लांग द' ओइल — गँवारी भाषाएँ — ओस्कन, लैटिन, उमब्रियन | | | |
| फ्रान्स की भाषाएँ | | | | |
| इटली की भाषाएँ | | | | |
| रूमानिया की भाषाएँ | | | | |
| ग्रीजो प्रदेश की भाषाएँ | | | | |
| अल्बानिया की भाषाएँ | | | इलिरिक | |
| ग्रीस की भाषाएँ | ठोरिक, एलोरिक एटिक, आयोनिक | | हेलेनिक | |
| लियुआनिया की भाषाएँ | | लैटिक | विन्डिक या लैटो स्लाविक | |
| + | प्राचीन प्रुसियन | | | |
| कुरलैण्ड और लिवोनिया की भाषाएँ | | | | |
| बुल्गारिया की भाषाएँ | बाइबिल की स्लावोनिक भाषा | दक्षिणी-पूर्वी स्लावोनिक | | |
| रूस की भाषाएँ (बड़े, छोटे, सफेद रूसी) | | | | |
| इलीरिया की भाषाएँ (स्लावेनियन या कारिनटेन, सरवियन, क्रोटेन) | | | | |
| पोलेण्ड की भाषाएँ | | पश्चिमी स्लावोनिक | | |
| बोहेमिया की भाषाएँ (स्लावोकियन) | प्राचीन बोहेमियन | | | |
| ल्युसाटिया की भाषाएँ (वैन्ड्स् और सार्ब्स्) | | | | |
| + | पोलेबियन | | | |
| जर्मनी की भाषाएँ | मध्य एवं प्राचीन उच्च जर्मन | उच्च जर्मन | ट्यूटानिक | |
| पश्चिम: इँगलैण्ड की भाषाएँ | एंग्लो-सैक्सन | निम्न जर्मन | | |
| पश्चिम: हालैण्ड की भाषाएँ | मध्य एवं प्राचीन डच | | | |
| पश्चिम: फ्रिसलैण्ड की भाषाएँ | प्राचीन फ्रिजियन | | | |
| पश्चिम: जर्मनी के उत्तर की भाषाएँ | प्राचीन सैक्सन | | | |
| + | गाथिक | | | |
| पूर्व: डेनमार्क की भाषाएँ | | स्कैण्डिनेवियन | | |
| पूर्व: नार्वे की भाषाएँ | | | | |
| पूर्व: आइसलैण्ड की भाषाएँ | | | | |
| पूर्व: स्वीडन की भाषाएँ | | | | |

क्रम-संख्या २

## वंश-वृक्ष

## सैमेटिक भाषा परिवार

| जीवित भाषाएँ बोलियाँ | मृत भाषाएँ | वर्ग | |
|---|---|---|---|
| + ......... | खल्दी (मसोरा, तालमुद, तारगुम, खल्दी में अनुवादित बाइबिल की भाषा) | आरमेइक | उत्तरी |
| + .......... | स्मारितन | आरमेइक | उत्तरी |
| + .......... | मन्दाइयन | आरमेइक | उत्तरी |
| सिरिया की बोलियाँ | सिरिक (पेसितो) | आरमेइक | उत्तरी |
| यहूदियों की बोलियाँ | बाइबिल की हिब्रूभाषा | हैब्रेइक | उत्तरी |
| + .......... | फैनीसियन और कार्थेजियन अभिलेख | हैब्रेइक | उत्तरी |
| + .......... | मोआबाइट्स् | हैब्रेइक | उत्तरी |
| अरब की बोलियाँ | थमुदिक एवं हिमियारितिक शिलालेख | अरबी | दक्षिणी |
| एबीसीनिया (अम्हारिक, तिग्रे, एकरिली) | एथोपिक एवं ग्रीज़ | अरबी | दक्षिणी |

क्रम-संख्या ३

## वंश-वृक्ष

# तूरानी भाषा परिवार

### उत्तरी विभाग

| जीवित भाषाएँ बोलियाँ | मृत भाषाएँ | शाखाएँ | वर्ग |
|---|---|---|---|
| यूराकियन..... | | उत्तरी | समोयद |
| ताउजियन...... | | | |
| येनिसियन | | | |
| ओस्टियाको समोयद | | पूर्वी | |
| कमस्सिनियन | | | |
| चापोगिर (ऊपरी तुंगुजुक) | | पश्चिमी | तुंगुजिक (अल्ताइक) |
| ओरोतोंग (निचली ,, ) | | | |
| नेअर्तचिंस्क | | पूर्वी | |
| लामूती | | | |
| मन्दशू (चीनी) | | | |
| शर्रा मंगोल (गोबी के दक्षिण) | | पूर्वी मंगोल | मंगोल (अल्ताइक) |
| खलखस (गोबी के दक्षिण) | | | |
| शराईगोई (तिब्बत एवं तुंगुत) | | | |
| चोशोट (कोकोनूर).... | ओलोत या काल्मुक (मृत) | पश्चिमी मंगोल | |
| द्सुंगुर | | | |
| तोरगोद | | | |
| दुरबेत | | | |
| ऐमक (फारस की एक जाति) | | | |
| सोकपस (तिब्बत) | | उत्तरी मंगोल | |
| बुरियत (बैकाल झील) | | | |

| | | |
|---|---|---|
| उइगुर | | |
| कोमाने | | |
| चग़ताई | दक्षिणी-पूर्वी | |
| उजबेक | चग़ताई | |
| तुर्कमान | | |
| कसान | | |
| किरगिज़ | | |
| बशकिर | | |
| नोगाई | | |
| कुमिअन | | तुर्किक |
| करचाई | उत्तरी | (अल्ताइक) |
| कराकल्पक | तुर्किक | |
| मेश्चेरक | | |
| साइबेरियाई | | |
| याकुत | | |
| दुरबेंद | | |
| अजेरबिजान | | |
| क्रिमियन | पश्चिमी | |
| अनातोलियन | तुर्किक | |
| रुमेलियन | | |

---

| | | |
|---|---|---|
| हुंगेरियन | | |
| वोगुल | उग्रिक | |
| उग्रोओस्तियाक | | |
| चेरेमिशियन | बुल्गारिक | |
| मोर्दविन | | |
| पर्मियन | | |
| सिरजानी | पर्मिक | फिनिक |
| वोतियक | | (यूरालिक) |
| लैप | | |
| फिन | | |
| एस्थ | युडिक | |
| लिवी | | |
| वोती | | |

## दक्षिणी विभाग

| जीवित भाषाएँ | मृत भाषाएँ | शाखाएँ | | |
|---|---|---|---|---|
| बोलियाँ | | | | |
| चीनी | | ताइक | | |
| सियामी | | | | |
| अहोम | | | | |
| लाओस | | | | |
| खाम्टी | | | | |
| शान (तेनासेरियम) | | | | |
| मलय पोलिनेशियन | | मलयिक | | |
| द्वीपसमूह | | | गंगिक | |
| तिब्बती | | ट्रांस हिमालयिक (हिमालय पारिक) | | |
| होर्पा (उ० प० तिब्बत, बुखारिया) | | | | |
| तोचू सिफन (उ० पू० तिब्बत, चीन) | | | | |
| मन्यक सिफन | | | | |
| तप्का (कोम्बो के पश्चिम) | | सब हिमालयिक (हिमालय-अवारिक) | | |
| केनवरी (सतलज घाटी) | | | | |
| सर्पा (प० गंडकी घाटी) | | | | |
| सुनवार (गंडकी घाटी) | | | | |
| गुरुंग ( ,, ,, ) | | | | |
| मगर ( ,, ,, ) | | | | |
| नेवार (गंडकी-कौशिकी घाटी मध्य) | | | | |
| मुर्मी ( ,, ,, ,, ) | | | | |
| लिम्बू (कौशिकी घाटी) | | | | |
| किरान्ती ( ,, ,, ,, ) | | | | भोटिया |
| लेप्चा (तिस्टा की घाटी) | | | | |
| भूटानी (मन्सियन घाटी) | | | | |
| चेपांग (नेपाल-तराई) | | | | |

बर्मी (बर्मा-अराकान)
धीमल (कोंकी-धोर्ला मध्य)
कचरी-बोडो (रेखांश ८०°-९३½°, २५°-२७°)
गारो (रेखांश ९०°-९१° पू० २५°-२६° उ०)
चांगलो (रे० ९१°-९२° पू०)
मिकिर (नौगांग)
डोफ्ला (रे० ९२½°-९७° उ०)
मिरी (रे० ९४°-९७° पू०)
अबोर मिरी
अबोर (रे० ९७°-९९°पू०)
सिबसागर मिरी
सिंगफो (रे० २७°-२८° उ०)
नागा वर्ग (रे० ९३°-९७° अ० २३°)
नागा (नमसंग)
नागा (नौगाँव)
नागा (तेंग्सा)
नागा (तबलुंग, सिबसागर-उत्तर)
नागा (खाउ, जोरहट)
नागा (अंगामी, दक्षिण)
कुकी (चटगाँव–उ० पू०)
ख्येंग (श्यु) (अ० १९°-२१° उ० अराकान)
कमी (कुलड्न, द० अराकान)
कुमी ( ,, ,, ,, ,, )
शेन्दुस (रे० ९३°-९४°, २२°-२३°)
म्रु (अराकान, चटगाँव)
सक (नौफ नदी-पूर्व)
तुंगल्हू (तेना सेरियम)

} लोहितिक (ब्रह्मपुत्रीय)

| | |
|---|---|
| हो (कोलेहन) | मुंडा |
| सिंहभूम कोल (चाईबासा) | |
| सोंताल ( ,, ) | |
| भूमिज ( ,, ) | |
| मुंडला (छोटानागपुर) | |
| कन्नड | तमिलिक |
| तमिल | |
| तेलुगु | |
| मलयालम | |
| गोंड | |
| ब्राहुई | |
| तुलुवा | |
| टोडुवा | |
| उराँव-कोल | |

# परिशिष्ट ३

## अनुक्रमणिका

### [ क ] भाषा, बोली तथा लिपि





फा० ३७

## [ख] स्थानादि के नाम

----

## [ग] व्यक्तिनाम

## [घ] ग्रंथ नाम

---

# परिशिष्ट—४

## मानक पारिभाषिक शब्दावली अंग्रेजी-हिन्दी

A

| | |
|---|---|
| ablative | अपादान |
| ablaut (=Vowel gradation) | अवश्रुति |
| abridged clause | संक्षिप्त उपवाक्य |
| abridgment | संक्षेपण |
| absorption | विलयन |
| abstract language | अमूर्त भाषा |
| abstract noun | भाववाचक संज्ञा, भाववाचक नाम |
| abstract term | भाववाचक शब्द |
| accent | आघात |
| —, acute | उदात्त |
| —, bound | बद्ध आघात |
| —, circumflex | स्वरित |
| —, final | अंत्य आघात |
| —, grave | अनुदात्त |
| —, initial | आदि आघात |
| —, medial | मध्य आघात |
| —, musical | स्वराघात |
| —, pitch | स्वराघात |
| —, primary | मुख्य आघात |
| —, secondary | गौण आघात |
| —, stress | बलाघात |
| —, tonic (=pitch accent) | स्वराघात |
| accented | आघातित |

| | |
|---|---|
| —, pronominal | सार्वनामिक क्रिया-विशेषण |
| —, relative | सम्बन्धवाचक क्रिया-विशेषण |
| adverbial | क्रिया विशेषणात्मक/क्रियाविशेषण |
| —, clause | क्रियाविशेषण उपवाक्य |
| —, expression | क्रियाविशेषणात्मक अभिव्यक्ति |
| —, modifier | क्रियाविशेषणात्मक विशेषक |
| adversative conjunction | विरोधवाचक समुच्चयबोधक |
| affective | प्रभावी |
| —similarity | भावात्मक सादृश्य |
| —verb | प्रभावी क्रिया |
| affinity | बन्धुता |
| affirmative | (१) अस्तिवाचक<br>(२) स्वरूपवाचक |
| —, conjunction | स्वरूपवाचक समुच्चयबोधक |
| affix | प्रत्यय |
| affixation | प्रत्यययोजन |
| affixing language | प्रत्ययप्रधान भाषा |
| affricate | स्पर्श संघर्षी/अनुघर्षी |
| after sound | पश्चध्वनि |
| agent | कर्त्तृ/कर्ता/साधक |
| —action | कर्तरि प्रयोग |
| agent noun | कर्तृसंज्ञा/साधक संज्ञा/<br>कर्तृनाम/साधकनाम |
| agglomerating language<br>(incorporating language) | समावेशक भाषा<br>(प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषा) |
| agglutinating prefix | योजक पूर्वप्रत्यय |
| agglutinating suffix | योजक परप्रत्यय |
| agglutination | योजन |
| agglutinative | योगात्मक |
| —language | योगात्मक भाषा |
| agreement | अन्विति |
| air chamber | वायु-कोष्ठ |

| | |
|---|---|
| amplificative | विस्तारक |
| amplitude | आयाम |
| analogical change (=analogous change) | सादृश्यमूलक परिवर्तन |
| —creation | सादृश्यमूलक सृष्टि |
| —extension | सादृश्यमूलक विस्तार |
| —form | सादृश्यमूलक रूप |
| —induction | सादृश्यमूलक निवेशन |
| analogist | नियमवादी |
| analogous | सदृश |
| —pair | अल्पदेशीय युग्म/न्यूनकल्प युग्म |
| analogue | सदृशरूप |
| analogy | सादृश्य/साम्यानुमान |
| analysis | विश्लेषण |
| analytic (analytical) | विश्लेषणात्मक |
| —language | विश्लेषणात्मक भाषा |
| analytical approach | विश्लेषणात्मक उपगम |
| anaptyctic insertion | विप्रकर्ष-प्रक्षेप/स्वरभक्ति |
| —vowel | विप्रकर्षक स्वर/भक्तिस्वर |
| anaptyseis | विप्रकर्ष/स्वरभक्ति |
| animate | चेतन |
| —gender | चेतनलिंग |
| anomalous | असंगत |
| anomaly | असंगति |
| antecedent | (१) पूर्ववर्ती<br>(२) पूर्वपद |
| antepenult | उपधापूर्व/उपांत्यपूर्व |
| antepenultimate | उपधापूर्व/उपांत्यपूर्व |
| anthropoligical linguistics | मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान |
| anthropology | मानवविज्ञान |

| | |
|---|---|
| antithesis | प्रतिपक्ष |
| aorist | अनिर्दिष्टकाल |
| aperture | रन्ध्र |
| apex | जिह्वाग्र |
| aphaeresis | आदिस्वनलोप |
| aphesis | आदिलोप/आदिस्वरलोप |
| apical | जिह्वान्तीय |
| —articulation | जिह्वान्तीय उच्चारण |
| —contact | जिह्वान्तीय संस्पर्श |
| apocope | अंत्यलोप |
| apophony (=vowel gradation = ablaut) | अवश्रुति |
| applied linguistics | अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान |
| apposition | समानाधिकरण |
| approach | उपगम |
| —, structural | संरचनात्मक उपगम |
| arbitrary | यादृच्छिक |
| —connection | यादृच्छिक सम्बन्ध |
| —symbol | यादृच्छिक संकेत |
| Archaic | (१) पुरागत (२) आर्ष |
| archaism | पुरागत प्रयोग |
| archetype | आद्यप्ररूप |
| archimorpheme | आर्कीरूपिम |
| archiphoneme | आर्कीस्वनिम |
| areal linguistics (=linguistic geography) | क्षेत्रीय भाषाविज्ञान (भाषा भूगोल) |
| argot | कूटबोली |
| Argument | युक्ति |
| article | आर्टिकल/उपपद |

| | |
|---|---|
| —, definite | निश्चायक आर्टिकल/ निश्चायक उपपद |
| —, indefinite | अनिश्चायक आर्टिकल/ अनिश्चायक उपपद |
| articulate | उच्चारण करना |
| articulated | उच्चारित |
| —sound | उच्चारित स्वन |
| —speech | उच्चारित वाक् |
| articulation | उच्चारण |
| —, explosive | बहिःस्फोटक उच्चारण |
| —, imperfect | अभिनिधान/अपूर्ण उच्चारण |
| —, implosive | अन्तःस्फोटक उच्चारण |
| —, manner of | प्रयत्न |
| —, point of | उच्चारण-स्थान |
| —, region of | उच्चारण-स्थान |
| articulator | करण |
| articulatory phonetics | उच्चारणात्मक स्वनविज्ञान |
| artificial language | कृत्रिम भाषा/कल्पित भाषा |
| artificial larynx | कृत्रिम काकल/कृत्रिम स्वरयंत्र |
| —palate | कृत्रिमतालु |
| arytenoid cartilage | दर्वीकल्प उपास्थि |
| —muscle | दर्वीकल्प पेशी |
| arytenoids | दर्वीकल्प |
| aspirate | महाप्राण |
| aspirated | महाप्राण |
| —consonant | महाप्राणव्यंजन |
| —stop | महाप्राणस्पर्श |
| aspiration | महाप्राणत्व/महाप्राणता |
| —process | महाप्राण प्रक्रिया |
| assibilant | स्पर्शशर/ऊष्मीकृत स्पर्श |

| | |
|---|---|
| assibilation | शर्करण/ऊष्मीकरण |
| assimilated phoneme | समीभूत स्वनिम/समीकृत स्वनिम |
| assimilation | (१) समीभवन |
| | (२) समीकरण |
| —progressive | (१) पुरःसमीभवन |
| | (२) पुरःसमीकरण |
| —regressive | (१) पश्च समीभवन |
| | (२) पश्च समीकरण |
| assnoance | स्वरावृत्ति |
| athematic | अविकरण/विकरणहीन |
| atlas, linguistic | भाषा मानचित्रावली/भाषा एटलस |
| attested form | उपलब्ध रूप |
| attribute | (१) विशेषण/गुणवाचक (२) गुण |
| attributive adjective | गुणवाचक विशेषण/विशेष्य विशेषण |
| —compound | कर्मधारय समास |
| audition | श्रवण |
| auditory | श्रव्य/श्रवणात्मक/श्रुतिग्राह्य |
| —nerve | श्रवण-तंत्रिका |
| —phonetics | श्रवणात्म स्वनविज्ञान |
| augment | आगम |
| automatic | स्वाश्रित |
| auxiliary | सहायक |
| —verb | सहायक क्रिया |
| axis | अक्ष |

B

| | |
|---|---|
| back | पश्च |
| —formation | सादृश्यमूलक व्युत्पत्ति |
| back of the tongue | जिह्वापश्च |
| —stroke | पश्चाघात |
| —vowel | पश्च स्वर |

| | |
|---|---|
| base | (१) प्रकृति, अंग |
| | (२) प्रातिपदिक |
| | (३) आधार रूप |
| —form | आधार रूप |
| —of comparison | तुलना का आधार |
| basic alternant | आधारी परिवर्त/आधारी विकल्प |
| basis of articulation (=points of articulation) | उच्चारणस्थान |
| bilabial | उभयोष्ठ्य/द्वयोष्ठ्य |
| bilabial spirant | उभयोष्ठ्य घर्षी/उभयोष्ठ्य संघर्षी |
| —stop | उभयोष्ठ्य स्पर्श |
| bilabio-dental | द्वयोष्ठ्य-दन्त्य |
| bilateral opposition | द्विविध प्रतियोग/द्विविध विरोध |
| bilingual | द्विभाषी |
| bilingualism (=bilinguality) | द्विभाषिता |
| bilinguist | द्विभाषी |
| binary | द्विचर |
| —principle | द्विचर नियम |
| —segment | द्विचर खण्ड |
| —structure | द्विचर संरचना |
| blade | फलक |
| —of the tongue | जिह्वाफलक |
| blend | मिश्र शब्द |
| blending | मिश्रण |
| borrowed word | आगत शब्द/आदत्त शब्द |
| borrowing | आदान/स्वीकरण |
| bound | बद्ध |
| —accent | बद्ध आघात |
| boundary | सीमा |
| bound form | बद्धरूप |

—root बद्धधातु
—stress बद्ध बलाघात
Boustrophedon प्रत्यावर्ती लेखन
breath श्वास
breathed श्वास-/अघोष
breathe in प्रश्वसन/उच्छ्वसन
(=inspiration)
—out
(=expiration) निःश्वसन
breath group एकश्वासी वर्ग
breathing (१) श्वसन (२) प्राणत्व
—, rough महाप्राणत्व
—, smooth अल्पप्राणत्व
bridge-letter सेतुवर्ण
——phoneme सेतु-स्वनिम
——sound सेतु-स्वन
——syllable सेतु-अक्षर
——vowel सेतु-स्वर
broad transcription स्थूल लिप्यंकन
buccal cavity मुखविवर/मुख गुहिका
(=vocal/cavity/
oral cavity)
bundle of isoglosses समभाषांश रेखा |समूह

C

cacuminal प्रतिवेष्टित/मूर्धन्य
(=cerebral/retroflex)
cadent stress अवरोही बलाघात
canon अभिनियम
canonical form विहित रूप
cant वर्गभाषा
cardinal consonant मान व्यंजन

| | |
|---|---|
| —numeral | गणनासूचक संख्यावाचक |
| —vowel | मानस्वर |
| case | कारक/विभक्ति |
| —, ablative | अपादान कारक/पंचमी |
| —, accusative | कर्म कारक/द्वितीया |
| —, active | कर्तृ कारक/कर्तृ विभक्ति |
| —, adhessive | निकटतावाची कारक |
| —, aditive | अभिमुखार्थ कारक |
| —, allative | अभिवाचक कारक |
| —, agential | कर्तृ कारक/साधक कारक<br>कर्तृ विभक्ति/साधक विभक्ति |
| —, comparative | तुलनावाची कारक |
| —, compellative | संबोधन कारक |
| —, confermative (=similative case) | सादृश्यवाची कारक |
| —, dative | सम्प्रदान कारक/चतुर्थी विभक्ति |
| —, destinative | गंतव्यवाची कारक |
| —, direct | (१) कर्तृ कारक<br>(२) अविकारी कारक/ऋजु कारक |
| —, directive | निमित्तवाची कारक |
| —, discriminative | प्रेरक कारक |
| —, elative | वहिर्वाची कारक |
| —, ergative | साधक कारक |
| —, essive | सत्तावाची कारक |
| —, instrumental | करक कारक/तृतीया विभक्ति |
| —, genitive | सम्बन्ध कारक/षष्टी विभक्ति |
| —, locative | अधिकरण कारक/सप्तमी विभक्ति |
| —, mediative (=instrumental) | करण कारक |
| —, nominative | कर्तृ कारक/कर्ता कारक/प्रथमा विभक्ति |
| —, oblique | (१) इतर कारक<br>(२) विकारी कारक/तिर्यक् कारक |

| | |
|---|---|
| —, vocative | संबोधन कारक |
| —ending | विभक्ति प्रत्यय/विभक्ति |
| —form | विभक्ति/कारक |
| catch word | सूत्र शब्द/सूचक शब्द |
| category | कोटि/संवर्ग |
| causal clause | प्रयोजनार्थक उपवाक्य |
| —conjunction | कारणवाचक समुच्चयबोधक |
| causative | प्रेरणार्थक |
| —case | प्रेरणार्थक कारक |
| —form | प्रेरणार्थक रूप |
| —infix | प्रेरणार्थक मध्य प्रत्यय |
| —mood | प्रेरणार्थक वृत्ति |
| —prefix | प्रेरणार्थक पूर्व प्रत्यय |
| —suffix | प्रेरणार्थक पर प्रत्यय |
| —verb | प्रेरणार्थक क्रिया |
| cavity (=chamber) | विवर/गुहिका/कोष्ट |
| —friction | विवर-घर्षण/गुहिका घर्षण |
| —stricture | विवर निकोच/गुहिका निकोच |
| central air escape | केन्द्रगत वायु निर्गम |
| centralized vowel | केन्द्रीकृत स्वर |
| central meaning (=essential meaning) | मुख्यार्थ |
| —resonantoval (=vocoid) | केन्द्रगत अनुनादी स्वन (स्वनध्वनि/स्वरक) |
| centre | केन्द्र/मध्य |
| —of the tongue | जिह्वामध्य |
| centrifugal | अपकेन्द्री |
| centripetal | अभिकेन्द्री |
| centum language | 'केन्तुम' भाषा |
| cerebral | प्रतिवेष्टित/मूर्धन्य |
| crebralization | प्रतिवेष्टन |

| | |
|---|---|
| cerebrum | मूर्धा |
| chamber | कोष्ट/विवर/गुहिका |
| change | परिवर्तन |
| —of meaning, regular | नियमित अर्थपरिवर्तन |
| ——meaning, singular | विशिष्ट अर्थपरिवर्तन |
| channel noise | सरणि-रव |
| character | लिपि चिह्न/वर्ण |
| characteristic | विशेषता/लक्षण |
| checked syllable (=closed syllable) | व्यंजनांत अक्षर |
| chest pulse | वक्ष-स्पन्द |
| child language | बाल भाषा |
| Christian name | अभिधेय नाम/मुख्यनाम |
| chromatic accent (=pitch accent) | स्वराघात |
| chronological development | कालानुक्रमिक विकास |
| chronology | कालानुक्रम |
| circumflex accent | स्वरित |
| circumlocution | वाग्विस्तार/व्यास शैली |
| citation | अनुलेखन |
| class | वर्ग |
| —concept | वर्गवाचक संकल्पना |
| classical | (१) वरेण्य<br>(२) लौकिक |
| classification | वर्गीकरण |
| classificatory language | वर्गकारी भाषा |
| classifier | वर्गक/वर्गीकारक |
| class-meaning | वर्गार्थ |
| —words | वर्ग शब्द |
| clause | उपवाक्य |
| —, adverbial | क्रियाविशेषण उपवाक्य |

| | |
|---|---|
| —, collateral (=subordinate clause) | गौण उपवाक्य |
| —, dependent | आश्रित उपवाक्य |
| —, independent | स्वतंत्र उपवाक्य |
| —, inserted | अन्तर्निविष्ट उपवाक्य/क्षिप्त उपवाक्य |
| —, subordinate | गौण उपवाक्य |
| —, temporal | कालसूचक उपवाक्य |
| ——, fading | अवरोही उपवाक्यांत |
| ——, rising | आरोही उपवाक्यांत |
| ——, sustained | सम उपवाक्यांत |
| clear 'l' | अग्र 'ल' |
| cliche | रूढ़ोक्ति/क्लीशे |
| click | क्लिक |
| click, labial | ओष्ठ्य क्लिक |
| climax(=gradation) | अवश्रुति |
| clipped word | छिन्न शब्द |
| clitic | युक्त |
| close | संवृत |
| —, half | अर्धसंवृत |
| —contact | आसन्न संस्पर्श |
| closed syllable | व्यंजनांत अक्षर |
| close juncture | संहिता/सन्निकृष्ट संहिता |
| —lip rounding | संवृतोष्ट-वर्तुलन |
| —nexus | दृढ़ सम्बन्ध |
| —vowel | संवृत स्वर |
| closure | संवार/अवरोध |
| —, incomplete | अपूर्ण संवार/अपूर्ण अवरोध |
| cluster | गुच्छ |
| coalescene | सन्धि |
| co-articulation | सह-उच्चारण |
| coda | अन्त |

| | |
|---|---|
| code noise | कूट रव |
| co-extension | सह-विस्तार |
| cognate | सजात |
| —form | सजात रूप |
| —object | सजात कर्म |
| —words | सजात शब्द |
| coinage | सृष्टि/निर्मित |
| coined word | सृष्ट शब्द/निर्मित शब्द |
| collation | समाकलन |
| collective noun | समुदायवाचक संज्ञा/समुदायवाचक नाम |
| —number | समुदायवाचक वचन |
| collocation | सहसम्बन्ध/अन्वित विन्यास |
| colloquial | बोलचाल की भाषा |
| colloquialism | बोलचाल का प्रयोग |
| colloquial standard (=educated standard) | व्यवहार मानक |
| —style | बोलचाल की शैली |
| common case | सामान्य कारक |
| —cove | समान क्रोड |
| —gender | सामान्य लिंग/समान लिंग/उभय लिंग |
| —language | सामान्य भाषा |
| common noun | जातिवाचक संज्ञा/जातिवाचक नाम |
| —syllable | उभयनिष्ठ अक्षर |
| comparatist | तुलनावादी/तुलनात्मक अध्ययन कर्ता |
| comparative | तुलनात्मक/तुलन |
| —case | तुलनावाची कारक |
| —degree | तुलन कोटि/तरभाव |
| —grammar | तुलनात्मक व्याकरण |
| —linguistics | तुलनात्मक भाषाविज्ञान |
| —method | तुलनात्मक पद्धति |
| —process | तुलनात्मक प्रक्रिया |

| | |
|---|---|
| —transcription | तुलनात्मक लिप्यंकन |
| comparison | तुलना |
| compensation | प्रतिपूरण/प्रतिपूर्ति |
| compensatory lengthening | प्रतिपूरक दीर्घीकरण |
| —shortening | प्रतिपूरक ह्रस्वीकरण |
| complement | पूरक |
| complementation | पूरण |
| —, multiple | अनेकविध पूरण |
| complete | पूर्ण |
| —predicate | पूर्ण विधेय |
| —sentence | पूर्ण वाक्य |
| —verb | पूर्णक्रिया |
| complex form | मिश्ररूप |
| complex paradigm | मिश्र रूपावली |
| —peak | मिश्र शिखर |
| —phoneme | मिश्र स्वनिम |
| —sentence | मिश्र वाक्य |
| component | घटक |
| compound | समास |
| compound phoneme | संयुक्त स्वनिम |
| —sentence | संयुक्त वाक्य/यौगिक वाक्य |
| —tense | संयुक्त काल |
| —verb | संयुक्त क्रिया/समस्त क्रिया |
| —word | समस्त पद/समास |
| compulsory | अनिवार्य/नित्य |
| —sandhi | नित्य सन्धि |
| concentration | संकेन्द्रण |
| concord (=agreement) | अन्विति |
| concordance | अन्वय/संगति |
| concrete concept | मूर्त संकल्पना |

| | |
|---|---|
| —name | द्रव्यार्थक संज्ञा/द्रव्यार्थक नाम |
| —term | मूर्त शब्द |
| conditional mood | हेतुमद् वृत्ति |
| —sentence | हेतुमद् वाक्य |
| —sound change | सोपाधिक स्वन परिवर्तन/आश्रित स्वन परिवर्तन |
| —stress | सोपाधिक बलाघात/आश्रित बलाघात |
| —variat | सोपाधिक परिवर्त/आश्रित परिवर्त |
| conditioned | आश्रित/सोपाधिक |
| conformation (of a language) | भाषासंरचना |
| congruence | (१) समता/सर्वसमता (२) अन्विति |
| congruent | सम/सर्वसम |
| conjugate | क्रियारूप बताना |
| conjugation | क्रियारूप |
| —, strong | अनियमित क्रियारूप |
| —, weak | नियमित क्रियारूप |
| conjunct | संयुक्त |
| —consonant | संयुक्त व्यंजन |
| conjunction | समुच्चय बोधक |
| connecting vowel | योजक स्वर |
| connection (=liaison) | संधि |
| connector | संयोजक |
| connotation | गुणार्थ/इष्टार्थ/संपृक्तार्थ |
| consonant | व्यंजन |
| —, aspirated | महाप्राण व्यंजन |
| —, cardinal | मान व्यंजन |
| —, dental | दन्त्य व्यंजन |
| —, syllabic | आक्षरिक व्यंजन |
| —, velarized | मृदुतालव्यीकृत व्यंजन/कोमल तालव्यीकृत व्यंजन |

| | |
|---|---|
| consonantal group (=conjunct or compound consonant) | संयुक्त व्यंजन |
| —vowel | व्यंजनात्मक स्वर |
| constituent | घटक/रचनांग/अवयव |
| —, immediate | अव्यवहित अवयव/अव्यवहित घटक |
| —, ultimate | चरम अवयव |
| —, unique | एकल अवयव |
| constricted | संकुचित |
| construction | रचना |
| contact | संस्पर्श |
| —, close | आसन्न संस्पर्श |
| —, loose | शिथिल संस्पर्श |
| contamination | सम्मिश्रण |
| contemporary | समकालिक |
| content | आशय |
| —word | पूर्णार्थ शब्द |
| context | प्रसंग/प्रकरण/सन्दर्भ |
| contextual meaning | सांदर्भिक अर्थ |
| contiguity | सन्निधि/संलग्नता/अव्यवधान |
| contiguous | सन्निहित/संलग्न/अव्यवहित |
| —assimilation | (१) सन्निहित सभीभवन/ अव्यवहित समीभवन (२) सन्निहित समीकरण/अव्यवहित समीकरण |
| continuant | प्रवाही/संतत |
| contoid | व्यंजनध्वनि/व्यंजनक |
| contour | परिरेखा |
| —, terminal | अंत्यपरिरेखा |
| contraction | संकोचन |
| contrast | वैषम्य |

| | |
|---|---|
| contrasting stress | वैषम्यात्मक बलाघात |
| —distribution | विषम वितरण |
| contrastive grammar (=transfer grammar) | व्यतिरेकी व्याकरण |
| —linguistics | तोलन वर्णनात्मक भाषा विज्ञान/ व्यक्तिरेकी व्याकरण |
| —pair | विषम युग्म |
| convention | संकेत/रूढ़ि |
| conventional | सांकेतिक/रूढ़ |
| —, sign | रूढ़ संकेत |
| convergent | अभिसारी |
| conversation | सम्भाषण |
| conversion | परिवर्तन |
| coronal | जिह्वाफलकीय |
| corpus | सामग्री |
| correlation | सहसम्बन्ध/सम सम्बन्ध/अन्योन्याश्रय |
| correlative | सहसम्बन्धी/सम सम्बन्धी/अन्योन्याश्रित |
| cultural borrowing | सांस्कृतिक आदान |
| —language | सांस्कृतिक भाषा |
| cuneiform | वाणमुख/कीलाक्षर |
| cursive writing | प्रवाही लेखन |

D

| | |
|---|---|
| dark "l" | पश्च 'ल' |
| —vowel (=back vowel) | पश्चस्वर |
| dative | सम्प्रदान/चतुर्थी |
| dead language | मृतभाषा |
| —word | मृतशब्द |
| deaspiration | महाप्राणत्व-लोप |
| declension | नामरूप/संज्ञारूप/ विभक्ति रूप/शब्द रूप |
| —, mixed | मिश्र शब्दरूप |
| —, strong | अनियमित शब्दरूप |

| | |
|---|---|
| —, weak | नियमित शब्दरूप |
| decline | नामरूप बताना/संज्ञारूप |
| deep vowel (=back vowel) | पश्चस्वर |
| deep grammar | गहनव्याकरण |
| defective paradigm | विकल रूपावली |
| —verb | विकल क्रिया |
| —word | विकल शब्द |
| —writing | विकल लेखन |
| definite | निश्चायक/निश्चयवाचक |
| —article | निश्चायक उपपद |
| —pronoun | निश्चयवाचक सर्वनाम |
| degree | कोटि |
| —, comparative | तुलनकोटि/तर-भाव |
| —, equative | समकोटि/सम-भाव |
| —, positive | सामान्य कोटि |
| —, superlative | अतिशय कोटि/तम-भाव |
| —of comparison | तुलनाकोटि/तरतम भाव |
| demonstrative adjective | निर्देशक विशेषण/ संकेतवाचक विशेषण |
| —pronoun | निर्देशक सर्वनाम/संकेतवाचक सर्वनाम |
| de-nasalization | निरनुनासिक्य रंजन |
| denominative | नामजात |
| —root | नामधातु |
| dental | दन्त्य |
| —consonant | दंत्य व्यंजन |
| —spirant | दंत्यघर्षी/दंत्यसंघर्षी |
| —stop | दंत्यस्पर्श |
| depalatalization | वितालव्यरंजन |
| derivation | व्युत्पत्ति/शब्द साधन |
| derivational | व्युत्पत्तिमूलक/शब्दसाधक |
| —affix | व्युत्पादी प्रत्यय |
| derivative | व्युत्पादी/व्युत्पत्ति/साधित |

| | |
|---|---|
| —, primary | कृदंत |
| —, secondary | तद्धित |
| descriptive grammar | वर्णनात्मक व्याकरण |
| —linguistics | वर्णनात्मक भाषाविज्ञान |
| —phonetics | वर्णनात्मक स्वन-विज्ञान |
| desiderative | इच्छार्थक/सन्नंत |
| determinant | निर्धारक |
| device, syntactic | वाक्यविन्यास-युक्ति |
| devocalization | अस्वरीकरण/व्यंजनीकरण |
| devoiced | अघोषीकृत/निर्घोषीकृत |
| devoicing | अघोषीकरण/निर्घोषीकरण |
| diachronic | कालक्रमिक |
| —grammar | कालक्रमिक व्याकरण |
| diachronic lnguistics | कालक्रमिक भाषाविज्ञान |
| —phonetics | कालक्रमिक स्वनविज्ञान |
| —phonology | कालक्रमिक स्वनप्रक्रिया |
| —semantics | कालक्रमिक शब्दार्थविज्ञान |
| dialect | बोली/उपभाषा/भाषिका |
| dialectal | बोली सम्बन्धी/भाषिका सम्बन्धी |
| —area | बोली क्षेत्र/भाषिका क्षेत्र |
| dialect atlas | बोली-एटलस/बोली मानचित्रावली |
| —borrowng | बोली-आदान/भाषिका आदान |
| —geography | बोली भूगोल/भाषिका भूगोल |
| dialectology | बोली विज्ञान/भाषिका विज्ञान |
| diffusion | विसरण/विसार |
| diminutive | लघुतावाची/अल्पार्थक |
| —suffix | लघुतावाची पर-प्रत्यय/अल्पार्थक पर-प्रत्यय |
| diphthong | संध्यक्षर/द्विस्वर संध्यक्षर |
| diphthongization | संध्यक्षरीकरण |
| direct case | (१) कर्तृकारक<br>(२) ऋजुकारक/अविकारी कारक |

| | |
|---|---|
| —contrast | प्रत्यक्ष वैषम्य |
| —discourse | प्रत्यक्ष कथन |
| direct object | मुख्य कर्म/उक्त कर्म |
| discontinuous | (१) विच्छिन्न/असंतत<br>(२) असंचायक |
| —morpheme | असंतत रूपिम |
| discourse | (१) वाक्यबंध<br>(२) कथन |
| displaced speech (=abstract speech) | विस्थापित भाषा/ अमूर्त भाषा |
| dissimilation | (१) विषमीभवन<br>(२) विषमीकरण |
| distinctive | परिच्छेदक/भेदक/व्यावर्तक |
| —feature | परिच्छेदक अभिलक्षण |
| —function | भेदक प्रकार्य/व्यावर्तक प्रकार्य |
| —opposition | व्यवच्छेदक |
| —sound (=phoneme) | परिच्छेदक स्वन/स्वनिम |
| distribution | वितरण |
| —, complementary | पूरक वितरण |
| —, exclusive | व्यावर्तक वितरण |
| —, free | स्वतंत्र वितरण |
| distributive | वितरक |
| —numeral | वितरण संख्यावाचक |
| dwergence | अपसरण |
| domal | मूर्धन्य/प्रतिवेष्टित |
| dorsal | पश्चजिह्वीय |
| —contact | पश्चजिह्वीय संस्पर्श |
| dorsum | पश्चजिह्वा |
| down glide | अधोविसर्प |
| dramatic present (=historical present) | भूतार्थक वर्तमान |

| | |
|---|---|
| dual | द्वि |
| dualism | द्वैतवाद |
| dual number | द्विवचन |
| duplicated verb | द्विगुणित क्रिया |
| duplication | द्विगुणन |
| duration | अवधि/मात्रा |
| dyad | युग्मक |
| dynamic | गतिक |
| —accent | गतिक आघात/बलाघात |

E

| | |
|---|---|
| ear training | श्रवण-अभ्यास |
| echo | प्रतिध्वनि |
| echo word | प्रतिध्वनि शब्द |
| eclipsis | व्यंजन लोप/हल्लोप |
| economy | लाघव |
| —of effort | प्रयत्न लाघव |
| educated standard | व्यवहार मानक/शिक्षित वर्ग मानक |
| effort | प्रयत्न |
| —, external | वाह्यप्रयत्न |
| —, internal | आभ्यन्तर प्रयत्न |
| element | (१) अंश<br>(२) तत्त्व |
| elision | लोप |
| emphasis | अवधारण/भार |
| emphatic | अवराधक/भारवाचक |
| empirical | अनुभवाश्रित |
| empty morph | रिक्त रूप/प्रकार्य रूप |
| enclitic | पूर्वाश्रयी |
| ending | (१) अंत<br>(२) अंत प्रत्यय |
| endocentric | अंतः केन्द्रिक |

| | |
|---|---|
| —construction | अंत: केन्द्रिक रचना |
| enlargement | (१) विस्तार<br>(२) पूरक |
| environment | परिसर/संदर्भ |
| epenthesis | अपिनिहिति |
| epiglottis | उपजिह्वा |
| epithet | विशेषण |
| equivalent | समानार्थी |
| essential meaning | मुख्यार्थ |
| ethnolinguistics | मानवजाति भाषा-विज्ञान |
| etymological | व्युत्पत्ति-विषयक |
| etymology | (१) व्युत्पत्ति<br>(२) व्युत्पत्ति विमर्श |
| —, false | भ्रामक व्युत्पत्ति |
| —, folk | लौकिक व्युत्पत्ति |
| euphemism | शिष्टोक्ति |
| euphonic | सुश्राव्य/श्रुतिमधुर |
| —combination | संधि |
| evolution | क्रमविकास/विकास |
| —, phonetic | स्वन-विकास |
| —theory | विकासवाद |
| exclusive distribution | व्यावर्तक वितरण |
| exocentric | बहि:केन्द्रिक |
| —construction | बहि:केन्द्रिक रचना |
| expansion | प्रसरण/प्रसारण |
| experiment | प्रयोग |
| expiraton | नि:श्वास/नि:श्वसन |
| expletive | अनुपूरक |
| explosion | स्फोटन |
| explosive | (१) बहि:स्फोट (विशे०)<br>(२) स्पर्श (सं०) |
| expression | अभिव्यक्ति |

| | |
|---|---|
| expressive | वक्तृबोधक |
| extended morph | विस्तारितरूप |
| extension | विस्तरण/विस्तार |
| extension of meaning | (१) अर्थविस्तार<br>(२) मुख्यार्थ/वाच्यार्थ |
| external meaning | वाह्यार्थ |
| —open juncture | बाह्य अवग्रह |
| —sandhi | वाह्य संधि |

F

| | |
|---|---|
| false analogy | मिथ्या सादृश्य |
| —etymology | भ्रान्त व्युत्पत्ति |
| —palate | कृत्रिमतालु |
| family | कुल/परिवार |
| —, language | भाषाकुल/भाषापरिवार |
| feature | अभिलक्षण/लक्षण |
| —, distinctive | परिच्छेदक अभिलक्षण |
| —, non-distinctive | अपरिच्छेदक अभिलक्षण |
| —, prosodic | स्वनगुण अभिलक्षण |
| —, suprasegmental | अधिपरिच्छिन्न अभिलक्षण/<br>अभिखंडीय अभिलक्षण |
| feminine | स्त्रीलिंग |
| field | क्षेत्र |
| —, linguistic | भाषाक्षेत्र |
| —study | क्षेत्र-अध्ययन |
| —theory | क्षेत्र-सिद्धान्त |
| final | (१) अंत<br>(२) अंत्य |
| —accent | अंत्य आघात |
| —pitch | अंत्य स्वराघात |
| finite form | विधेय क्रियारूप |
| —verb | विधेय क्रियारूप |

| | |
|---|---|
| flapped | उत्क्षिप्त |
| flection | (१) विभक्ति |
| (=flexion/unflection) | (२) रूपसिद्धि |
| flectional | विभक्त्यात्मक/विभक्तिप्रधान |
| —language | विभक्तिप्रधान भाषा |
| (=unflectional language) | श्लिष्टयोगात्मक भाषा |
| folk etymology | लौकिक व्युत्पत्ति |
| —speec | लोकभाषा |
| food-passage | आहारनाल |
| form | रूप/आकृति |
| —, analogical | सादृश्यमूलक रूप |
| —, attested | उपलब्ध रूप |
| —, bound | बद्धरूप |
| —, cognate | सजातरूप |
| —, complex | मिश्ररूप |
| —, free | स्वतंत्र रूप |
| —, linguistic | भाषिक रूप |
| —relic | अवशेष/अवशिष्ट रूप |
| —, sandhi | संधि रूप |
| form class | रूपवर्ग |
| formula | सूत्र/सूत्रवत् उक्ति |
| fertis | दृढ़ |
| free form | स्वतंत्र रूप |
| —variant | स्वतंत्र परिवर्त |
| —vibration | स्वतंत्र कंपन |
| frequency | आवृत्ति |
| —curve | आवृत्तिवक्र |
| fricative | संघर्षी/घर्षी |
| (=spirant) front (of the tongue) | उपाग्र/जिह्वोपाग्र |
| front vowel | अग्रस्वर |

## G

| | |
|---|---|
| gathering | संग्रहण |
| geminated | द्वित्वभूत |
| gemination (=doubling) | दित्व |
| gender | लिंग |
| —, animate | चेतन लिंग |
| —, feminine | स्त्रीलिंग |
| —, inanimate | अचेतन लिंग |
| —, masculine | पुंलिंग |
| —, neuter | नपुंसक लिंग |
| geneological classification | आनुवंशिक वर्गीकरण |
| general linguistics | सामान्य भाषाविज्ञान |
| —phonetics | सामान्य स्वन विज्ञान |
| generative grammar | प्रजनक व्याकरण |
| genetic classification | आनुवंशिक वर्गीकरण |
| genitive case | संबंधकारक |
| gerund | क्रियार्थक संज्ञा |
| gerundive | कृदन्त विशेषण |
| gestural theory | अंगविक्षेपवाद |
| gesture language glide | अंगविक्षेप भाषा विसर्प/श्रुति |
| —vowel | विसर्प स्वर |
| gloss | भाषांश |
| glossematics | ग्लासेमेटिक्स/ग्लासीम विज्ञान |
| glossology (=linguistics) | भाषाविज्ञान |
| glottal | श्वासद्वारीय |
| glottalization | श्वासद्वारीयरंजन |
| glottal stop | श्वासद्वारीय स्पर्श |
| glottis | श्वासद्वार |
| glottology (=linguistics) | भाषाविज्ञान |

| | |
|---|---|
| glottochronology | भाषा कालक्रम विज्ञान |
| govern | नियंत्रण करना/नियमन करना |
| gradation (=ablaut) | अवश्रुति |
| —, qualitative | गुणात्मक अवश्रुति |
| —, quantitative | मात्रात्मक अवश्रुति |
| grammar | व्याकरण |
| —contrastive (or transfer grammar) | व्यतिरेकी व्याकरण |
| —, deep | गहन व्याकरण |
| —, descriptive | वर्णनात्मक व्याकरण |
| —, diachronic | कालक्रमिक व्याकरण |
| —, formal | रूपात्मक व्याकरण |
| —, general | सामान्य व्याकरण |
| —, generative | प्रजनक व्याकरण |
| —, historical | ऐतिहासिक व्याकरण |
| —, normative | मानकी व्याकरण |
| —, synchronic | एककालिक व्याकरण |
| —, transfer (=contrastive) | व्यतिरेकी व्याकरण |
| —, transformational | रचनांतरणपरक व्याकरण/ रचनांतर व्याकरण |
| grammatical | व्याकरणिक/व्याकरण विषयक |
| grammatology | लेखन विज्ञान |
| grapheme | लेखिम/वर्णिम |
| graphemics | लेखिम विज्ञान |
| grave accent | अनुदात्त |
| grimm's law | ग्रिम का नियम |
| gums | दंतपाली/मसूड़े |
| guttural | कंठ्य |

## H

| | |
|---|---|
| half close | अर्धसंवृत |
| half open | अर्धविवृत |
| haplology | (उच्चारण में) समाक्षर लोप |
| hard palate | कठोर तालु |
| harmony | संगति |
| —of vowels | स्वर संगति |
| (=vowel harmony) | |
| head | (१) शीर्ष |
| | (२) प्रधान |
| —word | प्रधानशब्द |
| hetrosyllable | विषमाक्षर |
| hiatus | विसंधि/प्रगृह्य |
| hierarchy | अधिक्रम |
| hieroglyph | चित्रलेख |
| hieroglyphic writing | चित्रलिपि |
| high | उच्च |
| higher-low | उच्चतर निम्न |
| higher-mid | उच्चतर मध्य |
| high-level pitch | उच्च (स्तर) स्वराघात |
| —tone | उच्चतान |
| —vowel | उच्चस्वर |
| historical grammar | ऐतिहासिक व्याकरण |
| —linguistic | ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान |
| —phonetics | ऐतिहासिक स्वन-विज्ञान |
| holophrastic language | बहुसंश्लेषणात्मक भाषा/प्रश्लिष्ट |
| (=polysynthetic language | योगात्मक भाषा |
| homeophone | समस्वनवर्ग |
| homograph | समलेख |
| homomorph | समरूप (शब्द) |
| homonym | समनाम (शब्द) |
| homonymy | समानता |

| | |
|---|---|
| homophone | समस्वन |
| homophony | समस्वनता |
| homoorganic | सवर्ण/एकस्थानीय/तुल्य स्थानीय |
| —articulation | तुल्यस्थानीय उच्चारण |
| —phoneme | सवर्णस्वनिम |
| —sound | सवर्णस्वन |
| honorific | आदरार्थक |
| hybrid language | संकर भाषा |

I

| | |
|---|---|
| identical | तद्रूप/सर्वसम |
| identification | अभिनिर्धारण |
| identity (identity of form) | सर्वसमिका/एकरूपता |
| ideogram | भावलेख |
| ideograph (=ideogram) | भावलेख |
| ideographic writing (=ideography) | भावलेखन |
| ideography | भावलेखन |
| ideolect | व्यक्तिबोली/निभाषिका/व्यक्ति भाषा |
| imitation | अनुकरण |
| —of sounds | स्वनानुकरण |
| imitative | अनुकरणात्मक |
| —word (=onomatopoeia) | अनुकरण शब्द |
| immediate constituent | सन्निहित अवयव/सन्निहित घटक |
| immigrant language | आप्रवासी भाषा |
| imperative mood | आज्ञार्थक/आज्ञार्थक वृत्ति |
| imperfect participle | अपूर्ण कृदन्त विशेषण |
| —tense | अपूर्ण काल |
| impersonal mood | भावार्थक वृत्ति |
| —verb | भाववाच्य क्रिया |

| | |
|---|---|
| implosion | अंतःस्फोटन |
| implosive | अंतःस्फोटक |
| import | अर्थ/आशय/विवक्षा |
| inanimate | अचेतन/जड़ |
| —gender | अचेतन लिंग |
| inarticulate sound | अनुच्चारित स्वन/अव्यक्त स्वन |
| incontiguous assimilation (=distant assimilation) | व्यवहित समीकरण/ असन्निहित समीकरण |
| incorporating language | समावेशक भाषा |
| incorporation | समावेशन |
| indeclinable | अव्यय/अविकारी |
| indefinite article | अनिश्चायक उपपद/अनिश्चायक आर्टिकिल |
| —pronoun | अनिश्चयवाचक सर्वनाम |
| index | सूचक |
| indicative mood | निश्चयार्थकवृत्ति |
| indirect object | गौणकर्म/अनुक्त कर्म |
| infinitive | भावार्थक संज्ञा/तुमर्थ |
| infix | मध्यप्रत्यय |
| inflected word | पद |
| inflection | (१) विभक्ति (२) रूपसिद्धि |
| inflectional affix | विभक्ति प्रत्यय |
| —ending | विभक्ति प्रत्यय |
| —language | विभक्ति प्रधान भाषा/श्लिष्ट योगात्मक भाषा |
| infermant | सूचक |
| initial | आद्य/आदि |
| —accent | आदि-आघात |
| —inflection | आदि-विभक्ति |
| —stress | आद्य बलाघात |
| injunctive mood | विधि/विध्यर्थक (वृत्ति) |

| | |
|---|---|
| key | (१) सूचक (२) मूलशब्द, धात्वंश |
| —word | सूचक शब्द/कुंचिका शब्द |
| kinaesthetic | गतिबोधक |
| kinetic consonant | स्पर्श |
| kinship term | बंधुतावाची शब्दावली |
| kymograph | तरंगग्राह/काइमोग्रोफ |

L

| | |
|---|---|
| 'l', clear | अग्र 'ल' |
| 'l', dark | पश्च 'ल' |
| labial | ओष्ठ्य |
| labialization | ओष्ठ्यरंजन |
| language | भाषा |
| —, agglutinative | योगात्मक भाषा |
| (=agglutinating language) | |
| —, amalgamating | संलयात्मक भाषा |
| —, analytic | विश्लेषणात्मक भाषा |
| —, auditory | श्रव्य भाषा |
| —, cantum | 'केन्तुम्' भाषा |
| —, cultural | सांस्कृतिक भाषा |
| —, flectional | विभक्तिप्रधान भाषा |
| (=inflectional language) | |
| —, gesture | अंगविक्षेप भाषा |
| —, holophastic | बहुसंश्लेषणात्मक भाषा/प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषा |
| —, incapsulating | बहुसंश्लेषणात्मक भाषा |
| (=polysynthetic language) | |
| —, incorporating | समावेशक भाषा/प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषा |
| —, inflectional | विभक्तिप्रधान भाषा |
| (=inflective language) | श्लिष्ट योगात्मक भाषा |
| —, isolating | अयोगात्मक भाषा |

| | |
|---|---|
| —, link | संपर्क भाषा |
| —, literary | साहित्यिक भाषा/ग्रांथिक भाषा (तेलुगु)<br>साधु भाषा (बँगला) |
| —, liturgical | धर्म-कर्म भाषा |
| —, living | जीवित भाषा |
| —, mixed | मिश्र भाषा/संकर भाषा |
| —, monosyllabic | एकाक्षर भाषा |
| —, native | देशीय भाषा |
| —, official | राजभाषा |
| —, parent | उद्गम भाषा |
| —, primary | भाषा/बोलभाषा (मराठी) |
| —, primitive | आदिम भाषा |
| —, satem | 'शतम्' भाषा |
| —, secondary | (१) लिखित भाषा<br>(२) संस्कृति भाषा |
| —, standard | मानक भाषा |
| —, synthetic | संश्लेषणात्मक भाषा |
| —, tone | तान भाषा |
| —, upper (=dominant language) | प्रभावी भाषा |
| lapse | स्खलन |
| laryngal | काकलीय |
| larynx | काकल/स्वरयंत्र |
| lateral | पार्श्विक |
| lax | शिथिल |
| layer of structure | संरचना-स्तर |
| learned word | शिष्ट शब्द |
| le langue | भाषा |
| length | दीर्घता |
| lengthening | दीर्घीकरण |
| —, compensatory | प्रतिपूरक दीर्घीकरण |
| lenis (=lax/loose) | शिथिल |

| | |
|---|---|
| le parole | वाक् |
| letter | वर्ण |
| lexeme | शब्दिम |
| lexical meaning | शाब्दिक अर्थ |
| lexicography | शब्दकोश विज्ञान |
| lexicology | शब्दार्थ विज्ञान |
| lexicon | शब्दकोश |
| lexico statistical dating | सांख्यिकीय भाषा-काल निर्धारण |
| linear | रैखिक/रेखीय |
| —phoneme (=segmental phoneme) | रैखिक-स्वनिम |
| lingua franca | (१) संपर्क अवभाषा<br>(२) संपर्क भाषा |
| lingual | (१) जिह्वीय<br>(२) (retroflex) प्रतिवेष्टित/मूर्धन्य |
| linguist | (१) भाषाविज्ञानी<br>(२) बहुभाषाविद् |
| linguistic | (१) भाषाविज्ञान सम्बन्धी<br>(२) भाषाई/भाषिक/भाषासम्बन्धी |
| —analysis | भाषा-विश्लेषण |
| —area | भाषाक्षेत्र |
| —borrowing | भाषाई आदान |
| —comparison | भाषाई तुलना |
| —family | भाषाकुल/भाषा-परिवार |
| —field | भाषाक्षेत्र |
| —form | भाषागत रूप |
| —geography | भाषा-भूगोल |
| linguistician (=linguist) | भाषाविज्ञानी |
| linguist-paleontology | भाषाविषयक प्रत्नविद्या |
| linguistics | भाषाविज्ञान |
| —, applied | अनुप्रयुक्त भाषा-विज्ञान |
| linguistic science | भाषाविज्ञान |

| | |
|---|---|
| linguistics —, comparative | तुलनात्मक भाषा-विज्ञान |
| —, contrastive | तोलनवर्णनात्मक भाषाविज्ञान/व्यतिरेकी भाषाविज्ञान |
| linguistics, descriptive | वर्णनात्मक भाषाविज्ञान |
| —, diachronic | कालक्रमिक भाषाविज्ञान |
| —, evolutionary | विकासक्रमिक भाषाविज्ञान |
| —, functional | प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान |
| —, general | सामान्य भाषाविज्ञान |
| —, historical | ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान |
| —, mathematical | गणितीय भाषाविज्ञान |
| —, static | स्थैतिक भाषाविज्ञान |
| —, structural | संरचनात्मक भाषाविज्ञान |
| —, synchronic | एककालिक भाषाविज्ञान |
| linguistic stock | भाषा समुदाय |
| —typology | भाषा-प्ररूप विज्ञान |
| linking verb | संयोजक क्रिया |
| link language | संपर्क भाषा |
| lip (=lips) | ओष्ठ |
| —, lower | अधरोष्ठ |
| —, upper | ऊर्ध्वओष्ठ |
| —retraction (=lip spreading) | ओष्ठप्रस्तार |
| lip round | ओष्ठवर्तुलन |
| loan word | आगत शब्द |
| locative case | अधिकरणकारक |
| loss | लोप |
| loud stress | प्रबल बलाघात |
| low level pitch | निम्न (स्तर) स्वराघात |
| —tone | निम्नतान |
| —vowel | निम्नस्वर |
| lungs | फुफ्फुस/श्वासकोश/फेफड़े (हिन्दी) |

## M

| | |
|---|---|
| machine translation | यांत्रिक अनुवाद/मशीनी अनुवाद |
| malformation | अपरचना |
| manifested | अभिव्यक्त |
| manifesting | अभिव्यंजक |
| marker | चिह्नक |
| matrix | आधात्री |
| mechanism | (१) क्रिया विधि |
| | (२) यंत्र/अवयव |
| medial | मध्य |
| —accent | मध्य आघात |
| —position | मध्य स्थान |
| medium stress | मध्यम बलाघात |
| melody | सुस्वरता |
| member | सदस्य/घटक |
| mentalist | मनोवादी |
| merger | विलयन |
| metalanguage | निरूपक भाषा |
| metalinguistics | इतरविषयी भाषाविज्ञान |
| metathesis | विपर्यास/विपर्यय/व्यत्यास |
| microlinguistics | सूक्ष्म भाषाविज्ञान |
| micro-phoneme | सूक्ष्म स्वनिम |
| micron | ह्रस्व-चिह्न |
| microsegment | सूक्ष्म परिच्छेद |
| mid | मध्य |
| middle verb | आत्मनेपदी क्रिया |
| —voice | भाववाच्य |
| mimetic word | अनुकरण शब्द |
| minimal | अल्पतम/न्यूनतम |
| —contrast | अल्पतम वैषम्य/न्यूनतम वैषम्य |
| —pair | अल्पतम युग्म/न्यूनतम युग्म |

| | |
|---|---|
| minimum | न्यूनतम |
| —free form | न्यूनतम स्वतंत्ररूप |
| minus feature | वर्णलोप |
| mode of speech | वाग्रीति/बोलने का ढंग (हिन्दी) |
| modification | विकृति |
| modifier | विशेषक |
| mongrel word | संकर शब्द |
| monosemy | एकार्थता |
| mood | वृत्ति/अर्थ |
| —conditional | हेतुमत् वृत्ति |
| —, imperative | आज्ञार्थक/आज्ञार्थक वृत्ति |
| —, indicative | निश्चयार्थक वृत्ति |
| —, optative | इच्छार्थक वृत्ति |
| —, potential | विध्यर्थक वृत्ति |
| —, precative | अनुनय वृत्ति |
| mora | मात्रा |
| morph | रूप |
| morpheme | रूपिम |
| —class | रूपिमवर्ग |
| morphemic | रूपिमिक |
| morphemics | रूपिमविज्ञान |
| morphology | शब्दरूपप्रक्रिया/रूपप्रक्रिया |
| morphophoneme | रूपस्वनिम |
| motor phonetics | गतिक स्वनविज्ञान |
| multilinguist | बहुभाषाभाषी |
| multiplicative numeral | गुणन-संख्यावाचक/ गुणात्मक संख्यावाचक |
| musical accent (=pitch) | स्वराघात accent—tomic accent |
| mute | स्पर्श |

## N

| | |
|---|---|
| narrative sentence | विवरणात्मक वाक्य |
| narrow transcription | सूक्ष्म लिप्यंकन |

| | |
|---|---|
| —vowel | दृढ़स्वर |
| nasal | नासिका |
| nasalization | (१) नासिकारंजन |
| | (२) अनुनासिक |
| nasal passage | नासामार्ग |
| natural category | प्राकृतिक कोटि |
| naturalized word | देशीकृत कोटि |
| near minimal pair | अल्पदेशीय युग्म/न्यूनकल्प युग्म |
| neatness of pattern | अभिरचना |
| principle of | सौष्ठव सिद्धान्त |
| negative aspect | निषेध पक्ष |
| —conjugation | निषेधात्मक क्रियारूप |
| —particle | निषेध निपात/नास्तिवाचक निपात |
| neogrammarian | नव्यवैयाकरण |
| neolinguist | नव्य भाषाविज्ञानी |
| neuter | नपुंसक लिंग |
| neutralization | निर्वैषम्य/निर्विषमीकरण |
| noise | रव |
| nomenclature | नामपद्धति |
| nominative | कर्त्ता/प्रथमा विपक्ति |
| —absolute | अनन्वित कर्त्ता |
| non-Aryan | आर्येतर |
| non-aspirate | अल्पप्राण |
| non-aspiration | अल्पप्राणत्व |
| non-linguistic | भाषेतर |
| nonsence form | अर्थहीन रूप |
| non-standard | मानकेतर |
| non-syllabic | अनाक्षरिक |
| norm | मानक/आदर्श |
| nuance | अर्थच्छाया |
| nucleus | केन्द्रक |
| numeral | संख्यावाचक |

| | |
|---|---|
| —, cardinal | गणनामूलक संख्यावाचक |
| —, distributive | वितरक संख्यावाचक |
| —, multiplicative | गुणनसंख्यावाचक/ गुणात्मक संख्यावाचक |
| —, ordinal | क्रमसूचक संख्यावाचक |
| —adjective | संख्यावाचक विशेषण |
| numerative compound | द्विगु समास |
| nursery form | बालालाप |
| —language | शिशुभाषा |

O

| | |
|---|---|
| object | कर्म |
| —, direct | उक्त कर्म |
| —, indirect | अनुक्त कर्म |
| objectival | कर्म-सम्बन्धी |
| oblique case | (१) इतर कारक (२) विकारी कारक/तिर्यक् कारक |
| obsolete | लुप्त/अप्रचलित |
| omission | लोप |
| onomatopoeic theory | अनुकरणवाद/अनुरणनवाद |
| onset | प्रारंभ |
| open | विवृत |
| —, half | अधविवृत |
| opening | विवृति |
| open juncture | अवग्रह/विप्रकृष्टसंहिता |
| —syllable | स्वरांत अक्षर |
| —transition | शिथिल संक्रमण |
| —vowel | विवृत स्वर |
| optative mood | इच्छार्थक वृत्ति |
| option | विकल्प |
| oral cavity | मुखविवर/मुख-गुहिका |
| order structural | संरचनात्मक क्रम |

| | |
|---|---|
| order of words | शब्दक्रम |
| ordinal numeral | क्रमसूचक संख्यावाचक |
| organ | अवयव |
| organic | सावयव/अवयवी |
| —language | सावयव भाषा |
| orthographic procedure | वर्णविन्यास प्रक्रिया/वर्णलेखन-प्रक्रिया |
| orthography | (१) वर्तनी (२) शुद्धलेखन |
| outer form | वाह्य रूप |
| overall pattern | सर्वसमावेशी अभिरचना |
| over-defferentiation | अतिविभेदन |
| overlapping | १. (विशे०) अंशपाती/अतिव्यापी<br>२. (सं०) अतिव्यापन |
| overt | प्रकट |
| —category | प्रकट कोटि/प्रकट संवर्ग |

P

| | |
|---|---|
| pair | युग्म |
| —, analogous (=subminimal pair) | अल्पदेशीय युग्म/न्यूनकल्प युग्म |
| —, contrastive | विषम युग्म |
| —, minimal | अल्पतम युग्म/न्यूनतम युग्म |
| —, noncontrastive | अविषम युग्म |
| —, nonsuspicious | असंदिग्ध युग्म |
| —, suspicious | संदिग्ध युग्म |
| palatal | तालव्य |
| palatalization | तालव्यरंजन |
| palatal law | तालव्य नियम |
| —vowel (=front vowel) | अग्रस्वर |
| palate | तालु |
| —hard | कठोर तालु |
| —soft | मृदुतालु/कोमल तालु |
| palatogram | तालुचित्र/तालुलेख |

| | |
|---|---|
| paleography | पुरालेख विद्या |
| paleontology, linguistic | भाषाविषयक प्रत्नविद्या |
| paradigm | रूपावली |
| parenthesis | (१) निक्षेप (२) निक्षिप्त उपवाक्य |
| parenthetical clause | निक्षिप्त उपवाक्य |
| parent language | उद्गम भाषा |
| parsing | पदपरिचय/पदनिरूपण |
| participial | कृदंतपरक |
| —noun | कृदंतपरक संज्ञा/कृदंतपरक नाम |
| participle | कृदंत विशेषण |
| particle | निपात |
| parts of speech | शब्दभेद |
| passive voice | कर्मवाच्य/कर्मणि प्रयोग |
| past | भूत |
| patois | अवभाषिका |
| pattern | अभिरचना |
| patterning | अभिरचन |
| peak, complex | संमिश्र शिखर |
| —, simple | सरल शिखर |
| —, syllabic | अक्षर-शिखर |
| pendant | पुच्छ |
| penult | उपांत्य/उपधा |
| peripheral language | परिधीय भाषा |
| periphrasis | विस्तरण |
| periphrastic | (१) विस्तरित<br>(२) संयुक्त |
| —tense | संयुक्त काल |
| person | पुरुष |
| —, first | उत्तम पुरुष/प्रथम पुरुष |
| —, second | मध्यम पुरुष |
| —, third | अन्य पुरुष |
| personal affix | पुरुषवाचक प्रत्यय |

| | |
|---|---|
| —ending | पुरुषवाचक परप्रत्यय |
| —infinitive | पुरुषवाचक भावार्थ संज्ञा |
| —pronoun | पुरुषवाचक सर्वनाम |
| pharynx | ग्रसनी |
| philologist | वाङ्मीमांसक |
| philology | वाङ्मीमांसा |
| phone | स्वन |
| phonematic | स्वनिमात्मक |
| phoneme | स्वनिम |
| —, segmental | परिच्छिन्न स्वनिम/खंडात्मक स्वनिम |
| —, suprasegmental | अधिपरिच्छिन्न स्वनिम/अधिखंडात्मक स्वनिम |
| phonemic alphabet | स्वनिमिक वर्णमाला |
| —analysis | स्वनिमिक विश्लेषण |
| phonemics | स्वनिम विज्ञान |
| phonetic | स्वनिक |
| —alphabet | स्वनिक वर्णमाला |
| —change | स्वनिक परिवर्तन |
| phonetician | स्वनविज्ञानी |
| phonetic law | स्वन नियम |
| phonetics | स्वनविज्ञान |
| phonetics acoustic | भौतिक स्वनविज्ञान |
| —, articulatory | उच्चारणात्मक स्वनविज्ञान |
| —, instrumental | प्रायोगिक स्वनविज्ञान |
| phonetic script | स्वनलिपि |
| phonetic writing | स्वनिक लेखन |
| phonology | स्वनप्रक्रिया |
| phrase | पदबंध/वाक्यांश |
| place name study | स्थलनाम अध्ययन |
| plosion (=explosion) | स्फोटन |
| plosive | स्पर्श |

| | |
|---|---|
| pluperfect | पूर्णभूत |
| plural (number) | बहुवचन |
| point of articulation | उच्चारण-स्थान |
| polarity | ध्रुवता |
| polygot | बहुभाषी |
| polysyllable | बहु-अक्षर |
| polysynthesis | बहुसंश्लेषण |
| pooh-pooh theory | पूह-पूहवाद |
| popular etymology (=folk etymology) | लौकिक व्युत्पत्ति |
| possessive | संबंधवाची |
| post position | परसर्ग/अनुसर्ग |
| post velar | पश्च मृदुतालव्य |
| predicate verb | विधेय क्रिया |
| prefix | पूर्वप्रत्यय |
| prehistoric age | प्रागैतिहासिक युग |
| premise | आधारवाक्य |
| preposition | पूर्वसर्ग |
| present participle | वर्तमानकालिक कृदंत |
| —perfect | आसन्नभूत/पूर्ण वर्तमान |
| —tense | वर्तमान काल |
| preterite | पूर्णकाल |
| primary accent | मुख्य आघात |
| —affix | कृत् प्रत्यय |
| —derivate | कृदंत |
| —formation | कृदंत |
| —stress | प्राथमिक बलाघात |
| —suffix | कृत् प्रत्यय |
| primary tense | सामान्य काल |
| productive affix | उत्पादक प्रत्यय |
| progressive assimilation | (१) पुरःसमीभवन<br>(२) पुरःसमीकरण |

| | |
|---|---|
| —tense | घटमानकाल |
| pronoun | सर्वनाम |
| pronunciation | उच्चारण |
| proper noun | व्यक्तिवाचक संज्ञा/व्यक्तिवाचक नाम |
| proposition | प्रतिज्ञप्ति |
| prosodic feature | स्वनगुणिमिक अभिलक्षण |
| prothesis | आदिनिहिति |
| prothetic vowel | आदिनिहिति स्वर |
| prototype | आदि प्ररूप |
| psycholinguisties | मनोभाषाविज्ञान |
| purism | शुद्धिवाद |

## Q

| | |
|---|---|
| quadrilateral of the vowels | स्वर-चतुष्कोण |
| qualifier | विशेषक |
| qualitative accent | गुणात्मक आघात |
| —gradation | गुणात्मक अवश्रुति |
| quality | (स्वर) गुण |
| quantitative | मात्रात्मक आघात |
| —gradation | मात्रात्मक अवश्रुति |
| quantity | परिमाण/मात्रा |
| —mark | परिमाण-चिह्न |
| quotation mark | उद्धरण चिह्न |

## R

| | |
|---|---|
| rank | श्रेणी |
| ranking | (१) श्रेणी (२) श्रेणीकरण |
| reborrowing | पुनरादान |
| reconstruction | पुनर्रचना/पुनर्निर्माण |
| reduced grade | संप्रसारण |
| reduction | ह्रास/ह्रसन |
| redundancy | समधिकता |
| redundant | समधिक/आधिक्यबोधक |

| | |
|---|---|
| reference grammar | संदर्भ व्याकरण |
| reflexive pronoun | निजवाचक सर्वनाम/आत्मार्थक सर्वनाम |
| regressive | पश्चगामी/पश्च |
| —assimilation | पश्चसमीभवन/पश्चसमीकरण |
| regular | नियमित |
| —change of meaning | नियमित अर्थ-परिवर्तन |
| regular sandhi | नियमित संधि/सामान्य संधि |
| relative adverb | संबंधवाचक क्रिया-विशेषण |
| relic area | अवशिष्ट क्षेत्र |
| relic form | अवशेष/अवशिष्ट रूप |
| replacement | (१) प्रतिस्थापन (२) आदेश |
| replacive | आदेश/आदिष्ट |
| resonance | अनुनाद |
| —chamber | अनुनाद विवर |
| resonant | अनुनादी |
| respiration | श्वसन |
| resultant | परिणामी |
| retracted | प्रत्याकर्षित |
| retraction | प्रत्याकर्षण |
| retroflex | प्रतिवेष्टित/मूर्धन्य |
| retroflexion | प्रतिवेष्टन/मूर्धन्यीकरण |
| retroflex vowel | प्रतिवेष्टित स्वर |
| rhotacism | रेफण |
| rhyme | प्रास/तुक (हिन्दी) |
| —word | प्रास शब्द/तुक शब्द |
| rhythm | लय |
| rolled | लोड़ित |
| romanization | रोमनीकरण |
| romic | रोमन-लिप्यंकन |
| root | (१) धातु (२) मूल |
| root denominative | नामधातु |

| | |
|---|---|
| root of the tongue | जिह्वामूल |
| rounded vowel | वर्तुलित स्वर |
| rounding | वर्तुलन |

## S

| | |
|---|---|
| script | लिपि |
| secondary accent | गौण आघात |
| secret dialect | कूट बोली |
| segment | (१) खंड (२) परिच्छेद |
| —, binary | द्विचर खंड |
| segmental phoneme | खंडात्मक स्वनिम/परिच्छिन्न स्वनिम |
| segmentation | खंडीकरण/परिच्छेदन |
| semanteme | अर्थिम |
| semantic | (१) शब्दार्थ विषयक<br>(२) शब्दार्थ विज्ञान विषयक |
| —borrowing | अर्थादान |
| semantics | अर्थविज्ञान/शब्दार्थ विज्ञान |
| semantic theory | शब्दार्थ सिद्धान्त |
| sememe | अर्थिम |
| semiology | संकेत विज्ञान |
| semiotic | संकेत विज्ञान संबंधी |
| semiotics | संकेत विज्ञान |
| sentence | वाक्य |
| —kernel | मूलवाक्य/आधार वाक्य |
| sequence | अनुक्रम |
| series | श्रेणी |
| shortening | ह्रस्वीकरण |
| —, compensatory | प्रतिपूरक ह्रस्वीकरण |
| sibilant | ऊष्म |
| sign | संकेत |
| sign language | संकेत भाषा |
| silent | अनुच्चरित |

| | |
|---|---|
| —verb | अनियमित क्रिया |
| structural approach | संरचनात्मक उपगम |
| —class | संरचनावर्ग |
| structural linguistics | संरचनात्मक भाषाविज्ञान |
| —meaning | संरचनात्मक अर्थ |
| —order | संरचनात्मक क्रम |
| —system | संरचना-व्यवस्था |
| structure | संरचना |
| stylistic | (१) शैलीगत (२) शैली-शास्त्र सम्बन्धी |
| stylistics | शैलीविज्ञान |
| subject | (१) कर्त्ता (२) उद्देश्य |
| subjective | कर्तृ सम्बन्धी |
| subordinate | आश्रित/अधीन |
| —clause | अधीन उपवाक्य / आश्रित उपवाक्य |
| —variant | अधीन परिवर्त / अधीन विकल्प |
| subsidiary word | सहायक शब्द |
| substitute | (१) आदेश (२) प्रतिनिधि |
| substratum | (१) अधस्तल (२) अधस्तल भाषा |
| subsystem | उपव्यवस्था |
| suction stop | चूषण स्पर्श / चूषण व्यंजन |
| suffix | पर प्रत्यय |
| superlative degree | अतिशय कोटि / तमभाव |
| supra segmental feature | अधिखंडात्मक अभिलक्षण / अधि-परिच्छिन्न अभिलक्षण |
| surd | अघोष |
| surname | अभिजन नाम/कुलनाम |
| syllabic | आक्षरिक |
| syllabic writing | आक्षरिक लेखन |
| syllable | अक्षर |
| symbol | प्रतीक |
| symmetry | सममिति |
| syntax | (१) वाक्य विन्यास/वाक्य विचार |

| | |
|---|---|
| synthesis | संश्लेषण |
| system | व्यवस्था |

**T**

| | |
|---|---|
| table | सारणी/तालिका |
| taboo word | वर्जित शब्द |
| tagmeme | (१) प्रत्ययिम (२) बंधिम टेग्मीम |
| taxeme | पदिम |
| tempo | गति |
| temporal | कालसूचक |
| tenus | अघोष स्पर्श |
| terminal contour | अंत्य परिरेखा |
| —string | अंत्यमाला |
| text | (१) पाठ (२) उक्ति |
| thematic | विकरणयुक्त /सविकरण |
| thesis | पक्ष |
| timbre | रणन |
| tongue | जिह्वा/जीभ |
| —, root of | जिह्वामूल |
| —, tip of the | जिह्वाग्र |
| tooth | दंत |
| toponomy | स्थलनामविज्ञान |
| trachea (=wind pipe) | श्वासनली |
| transcription | लिप्यंकन |
| —, broad | स्थूल लिप्यंकन |
| —, narrow | सूक्ष्म लिप्यंकन |
| —, phonemic | स्वनिमिक लिप्यंकन |
| —, phonetic | स्वनिक लिप्यंकन |
| transfer | अंतरण/विपरिणाम |
| —grammar | व्यतिरेकी व्याकरण |
| transformation | रचनांतरण |
| transformational | रचनांतरणपरक |

| | |
|---|---|
| —grammar | रचनांतरण व्याकरण |
| transliteration | लिप्यंतरण |
| trill | कंपन |
| tune | राग |
| typology | प्ररूप विज्ञान |

U

| | |
|---|---|
| ultimate constituent | चरम अवयव |
| —tagmeme | चरम बंधिम |
| —taxeme | चरमपदिम |
| umlaut | अभिश्रुति |
| unaspirated | अल्पप्राण |
| underlying form | मूलाधार रूप |
| —word | मूलाधार शब्द |
| unilateral | एकपार्श्विक |
| universe of discourse | वादक्षेत्र/विचारक्षेत्र |
| unrounded vowel | अवर्तुलित स्वर |
| unvoiced | अघोष |
| urbanism | नागर रूप |
| utterance | (१) उक्ति (२) उच्चार |
| uvula | अलिजिह्वा/काकलक |

V

| | |
|---|---|
| variant, positional | सोपाधिक परिवर्त |
| variation | भेद/प्रकार |
| variety | परिवर्तन/विकल्पन |
| velar | (१) मृदु तालव्य/कोमल तालव्य (२) कंठ्य |
| velar vowel | पश्च स्वर |
| verbal adjective | कृदंत विशेषण |
| verbal noun | क्रियार्थक संज्ञा/कृदंत भावनाम |
| vibration | स्पंदन/कंपन |
| vocable | शब्द |

| | |
|---|---|
| vocal cords | घोषतंत्री |
| vocalization | स्वरीकरण |
| vocoid | स्वरध्वनि/स्वरक |
| voice | (१) घोष (२) वाच्य |
| —, active | कर्त्तृवाच्य/कर्तरिप्रयोग |
| —, middle | भाववाच्य |
| —, passive | कर्मवाच्य/कर्मणिप्रयोग |
| voiced | सघोष |
| voiceless | अघोष |
| voicing | (१) घोषीकरण (२) घोषत्व |
| vowel harmony | स्वर-संगति |
| —mutation (=umlaut) | अभिश्रुति |
| —quality | स्वर-गुण |
| —system | स्वर-व्यवस्था |
| —triangle | स्वर त्रिकोण |

W

| | |
|---|---|
| whisper | फुसफुसाहट/उपांशु |
| whispered vowel | फुसफुसाहट स्वर/ उपांशु स्वर |
| whispering | फुसफुसाहट/उपांशु |
| wind pipe (=trachea) | श्वासनली/श्वास प्रणाली |
| word | शब्द/पद |
| —, alien | विदेशी शब्द |
| —, anaphoric | अन्वादेशक शब्द |
| —, borrowed | आदत्त शब्द/आगत शब्द |
| —, coined | सृष्ट शब्द/निर्मित शब्द |
| —, derived | व्युत्पन्न शब्द |
| —, echo | प्रतिध्वनि शब्द |
| —, governed | नियंत्रित शब्द |
| —, head | प्रधान शब्द |
| —, imitative | अनुकरण शब्द |

| | |
|---|---|
| —, inflected | पद |
| —, key | सूचक शब्द/कुंचिका शब्द |
| —, learned | शिष्ट शब्द |
| —, morphological | रूपप्रक्रियात्मक शब्द |
| —, onomatopoetic | अनुकरण शब्द/अनुरणन शब्द |
| —, phonetic | स्वनिक शब्द |
| —, phonological | स्वनप्रक्रियाजात शब्द |
| —, taboo | वर्जित शब्द |
| —formation | शब्द-रचना |
| —order | शब्दक्रम |
| writing | लेखन |

Y

| | |
|---|---|
| yo-he-ho theory | यो-हे-हो वाद |

Z

| | |
|---|---|
| zero-affix | शून्य प्रत्यय |
| —alternant | शून्य परिवर्त |
| —ending | शून्य प्रत्यय |
| —juncture | शून्य संहिता |
| —modification | शून्य विकृति |
| —morpheme | शून्यरूपिम |

———

# हिन्दी-अंग्रेजी

| | |
|---|---|
| अंकन | notation |
| अंगविक्षेप भाषा | gesture language |
| —वाद | gestural theory |
| अंत:केन्द्रिक | endocentric cons- |
| —रचना | truction |
| अंत:स्थ | median (sound) |
| अंत:स्फोट | implosive |
| अंत | (1) ending (2) Final (3) Coda |
| अंतप्रत्यय | ending |
| अंतर्राष्ट्रीय भाषा | inter language |
| —स्वन-वर्णमाला | international phonetic Alphabet (I. P. A.) |
| अंत्य आघात | final accent |
| अंत्य परिरेखा | terminal contour |
| अंत्य प्रत्यय | desinence/termination |
| अंत्य बलाघात | terminal stress |
| अंत्य लोप | apocope |
| अंत्य स्वराघात | final pitch |
| अकर्तरि प्रयोग/अकर्तृवाच्य | inactive voice |
| अकर्मक क्रिया | intransitive verb |
| अक्रमिक स्वन परिवर्तन | sudden phonetic change |
| अक्षर | syllable |
| अक्षर विज्ञान | syllabics |
| अक्षर विभाजन | syllabation/syllabication/ syllabification |
| अग्रतालव्य | prepalatal |

| | |
|---|---|
| अग्र 'ल' | clear 'L' |
| अग्र स्वर | front vowel (bright vowel/ palatal vowel) |
| अघोष | unvoiced/voiceless/surd/ breathed |
| अघोष स्वन | breathed sound |
| अघोष स्पर्श | tenuis |
| अघोषीकरण | devoicing/unvoicing |
| अघोषीकृत | devoiced |
| अचिह्नित सदस्य | unmarked member |
| अचिह्नित स्वनिम | zero phoneme |
| अचेतन | inanimate |
| अचेतन लिंग | inanimate gender |
| अति व्यापन/अतिव्यापी | overlapping |
| अतिशोषित रूप | hyper form/hyper urbanism |
| अद्वितीयता | uniqueness |
| अधरोष्ठ | lower lip |
| अधिकरण कारक | locative case |
| अधिकरण निपात | locative particle |
| अधिखंडात्मक अभिलक्षण | supra segmental feature |
| अधिखंडात्मक स्वनिम/ अधिपरिच्छिन्न स्वनिम | supra segmental phoneme |
| अधीन | subordinate |
| अधीन उपवाक्य | subordinate clause |
| अधीन परिवर्त/विकल्प | subordinate variant |
| अनाक्षरिक | asyllabic/non-syllabic |
| अनाघातित | unaccented |
| अनाघातित स्वर | unaccented vowel (=light vowel) |
| अनियमित क्रिया | irregular verb/strong verb |
| अनियमित परिवर्त | irregular alternant |

| | |
|---|---|
| अनियमित रूप-वर्ग | irregular form class |
| अनियमित विकल्प | irregular alternant |
| अनियमित शब्द रूप | strong declension |
| अनियमित संज्ञा | strong noun |
| अनियमित संधि | irregular sandhi |
| अनुकरणवाद/अनुरणनवाद | onomatopocic theory |
| अनुकरणात्मक | imitative |
| अनुकूलन | adaptation |
| अनुकूलन सिद्धान्त | adaptation theory |
| अनुकूल परिवर्तन | adaptive change |
| अनुक्रम | (1) sequence<br>(2) succession |
| अनुक्रम वर्ग | sequence class |
| अनुघर्षी | affricate/semiplosive |
| अनुच्चरित | silent |
| अनुतान | intonation (=tonality) |
| अनुत्क्षिप्त | unflapped (non-flapped) |
| अनुदात्त | grave accent |
| अनुनाद | resonance |
| अनुनासिकता | nasalization |
| अनुप्रयुक्त अर्थ | applied meaning |
| अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान | applied linguistics (practical linguistics) |
| अनुप्रयुक्त स्वनविज्ञान | applied phonetics |
| अनुरूपता | similitude |
| अनुलेखन | citation |
| अनुशासनमूलक व्याकरण/ अनुशासन व्याकरण | prescriptive grammar |
| अनुसर्ग | postposition |
| अन्वय | concordance |
| अन्वित विन्यास | collocation |

| | |
|---|---|
| अन्विति | (1) accord/agreement/ concord<br>(2) congruence |
| अपरिच्छेदक | non-distinctive (irrelevant) |
| अपरिच्छेदक अभिलक्षण | non-distinctive feature |
| अपसामान्य | abnormal |
| अभिनिर्धारण | identification |
| अभिलक्षण | feature |
| अभिवृद्धि | accretion |
| अभिश्रुति | umlaut (=vowel mutation) |
| अयोगात्मक भाषा | isolating language |
| अरूपात्मक भाषा | formless language |
| अर्थ | (1) meaning/sense/import<br>(2) mood |
| अर्थ-विकार | semantic change (=semantic shift) |
| अर्थ-विज्ञान | semantics (semasiology/ sematology/significs) |
| अर्थविज्ञानी | semanticist |
| अर्थातिभार | semantic over load |
| अर्थादान | semantic borrowing |
| अर्थादेश | displacement of meaning |
| अर्थिम | sememe (semanteme) |
| अर्धस्वर | semi vowel |
| अलिजिह्व | uvular |
| अल्पतम | minimal |
| अल्पदेशीय युग्म | analogous pair |
| अल्पदेशीय वैषम्य | non-minimal contrast |
| अल्पप्राण | unaspirated/non-aspirate |
| अल्पप्राणत्व | non-aspiration |

| | |
|---|---|
| अल्पबलाघात | weak stress |
| अवधारण | emphasis |
| अवयव | (1) constituent<br>(2) mechanism<br>(3) organ |
| अवरोध | closure |
| अवर्तुलन | unrounding |
| अवर्तुलित स्वर | unrounded vowel |
| अवशिष्ट रूप | relic form/fossile form/ survival |
| अवश्रुति | apophony/metaphony/ vowel gradation/ablant |
| अविकारी कारक | direct case |
| अव्यय | indeclinable/invariable inflexible/immutable |
| अव्यवधान | contiguity |
| अव्यवहित | contiguous/immediate |
| असंतत | discontinuous |
| असंदिग्ध युग्म | non-suspicious pair |
| अस्तिवाचक | affirmative |

आ

| | |
|---|---|
| आंचलिक रूप | regionalism/provincialism |
| आंशिक | partial |
| आंशिक पूरण | partial complementation |
| आंशिक स्वन सादृश्य | partial phonetic similarity |
| आक्षरिक | (1) syllabic<br>(2) sonant |
| आक्षरिक बलाघात | syllabic stress |
| आक्षरिक लेखन | syllabic writing |
| आक्षरिक विभाजन | syllabic division |
| आक्षरिक व्यंजन | syllabic consonant |

| | |
|---|---|
| आगत शब्द | borrowed word/loan word |
| आगम | augment |
| आघात | accent |
| आघातित | accented |
| आज्ञार्थक | imperative mood |
| आत्मनेपदी क्रिया | middle verb |
| आत्मार्थक सर्वनाम | reflexive pronoun |
| आदत्त शब्द | borrowed word |
| आदरार्थक | honorific |
| आदान | borrowing |
| आदि/आद्य | (1) initial<br>(2) proto |
| आदि लोप | aphesis |
| आदेश | replacive/replacement/ antiques ubstitute/substitution |
| आद्यप्ररूप | arche type |
| आधार | (1) base<br>(2) karnel<br>(3) gundamentum |
| आधिक्यवोधक | redundant |
| आनुवंशिक वर्गीकरण | genetic classification/geneological classification |
| आनुवंशिक सम्बन्ध | genetic relationship |
| आभ्यंतर | interior (internal) |
| आभ्यंतर अवग्रह | internal open juncture |
| आभ्यंतर परिवर्तन | internal change |
| आभ्यंतर पुनर्रचना | internal reconstruction |
| आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता | internal open juncture |
| आभ्यंतर संधि | internal sandhi<br>(=morphologic sandhi) |

| | |
|---|---|
| आरोही | rising/crescendo |
| आरोही-अवरोही स्वराघात | rising falling pitch |
| आरोही तान | rising tone |
| आरोही संध्यक्षर | rising diphthong |
| आरोही स्वराघात | rising pitch |
| आर्कीरूपिम | archimorpheme |
| आर्कीस्वनिम | archiphoneme |
| आर्टिकल | article |
| आर्येतर | non-Aryan |
| आर्ष | archaic |
| आवृत्ति | frequency |
| आसन्न | adjacent |
| आसन्न भविष्यत् | immediate future tense |
| आसन्नभूत | present perfect |
| आसन्न संस्पर्श | close contact |

इ

| | |
|---|---|
| इच्छार्थक | desiderative/optative/ volitive/voluntative |
| ——वृत्ति | optative mood |
| इतर कारक | oblique case |
| ——विषयी भाषा विज्ञान | metalinguistics |
| इतिहासवाची काल | historical tense |

ई

| | |
|---|---|
| ईषद् विवृत घर्षी | slit spirant |

उ

| | |
|---|---|
| उक्त कर्म | direct object |
| उक्ति | (1) utterance (2) text high |
| उच्च | high |
| ——स्वर | high vowel |
| —— (स्तर) स्वराघात | high-level pitch |
| उच्चतर निम्न | higher-low |

| | |
|---|---|
| ——मध्य | higher-mid |
| उच्चारण | articulation |
| ——रीति | manner of pronunciation |
| उच्चारणात्मक स्वनविज्ञान | articulatory & phonetics |
| उत्क्षिप्त | flapped |
| उत्तम पुरुष | first person |
| उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण | genetic classification |
| उत्परिवर्तन | mutation |
| उत्पादक प्रत्यय | productive affix |
| उदासीन स्वर | neutral vowel |
| उद्गम भाषा | parent language |
| उद्देश्य | subject |
| उपजिह्वा | epiglottis |
| उपधा | penultimate |
| उपपद | article |
| उपभाषा | dialect |
| उपरूप | (1) allomorph<br>(2) allomorphic |
| उपवर्ण | allograph |
| उपवाक्य | clause |
| उपव्यवस्था | sub system |
| उपस्वन | allophone |
| उपस्वनिक | allophonic |
| उपांशु | whisper/whispering |
| ——स्वर | whispered vowel |
| उभयनिष्ठ अक्षर | common syllable |
| उभयोष्ठ्य | bilabial |
| ——घर्षी | bilabial spirant |
| ——स्पर्श | bilabial stop |

ऊ

| | |
|---|---|
| ऊर्ध्व ओष्ठ | upper lip |

| | |
|---|---|
| ऊष्म | sibilant |
| ——स्वन | hissing sound |
| ऊष्मीकरण | assibilation |
| | **ऋ** |
| ऋजुकारक | direct case |
| | **ए** |
| एक | singular |
| एक कालिक | achronistic/synchronic |
| ——भाषाविज्ञान | synchronic linguistics |
| ——व्याकरण | synchronic grammar |
| ——स्वनविज्ञान | synchronic phonetics |
| ——स्वनिम विज्ञान | synchronic phonemics |
| एक पार्श्विक | unilateral |
| एक मूल शब्द | doublets |
| एकरूपता | identity |
| एकवचन | singular number |
| एकाक्षर | monosyllable |
| ——भाषा | monosyllabic language |
| एकार्थता | monosemy |
| एकीकरण | integration |
| | **ऐ** |
| ऐतिहासिक भाषाविज्ञान | historical linguistics |
| ——व्याकरण | historical grammar |
| ——स्वनविज्ञान | historical phonetics |
| | **ओ** |
| ओष्ठ | lip (lips) |
| ओष्ठवर्तुलन | lip rounding |
| ओष्ठ्य | labial |
| ओष्ठ्यरंजन | labialization |
| | **औ** |
| औचित्य | fit |

| | |
|---|---|
| औपचारिक भाषा | fermal language |
| ——वाक् | formal speech |

क

| | |
|---|---|
| कंठ | throat |
| कंठोष्ठ्य | labio-velar |
| कंठोष्ठ्यरंजन | labio-velarization |
| कंठ्य | faucal/guttural/velar |
| कंपन | (1) trill<br>(2) vibration |
| कंपनयुक्त स्पन्दन | vibratory trill |
| कंपनावृत्ति | frequency of vibration |
| कंपमान | vibrating |
| कंपित | trilled |
| कठोरतालु | hard palate |
| कर्णग्राह्य अक्षर | real syllable |
| कर्णग्राह्य खंड | real segment |
| कर्णग्राह्य स्वन | real phone |
| कर्णपट | ear-drum |
| कर्त्ता | (1) agent<br>(2) subject<br>(3) nominative |
| कर्त्ताकारक | agential case/nominative case |
| कर्तृकारक | direct case/agential case/active case |
| कर्तृगामी क्रिया | reflexive verb (=reflective verb) |
| कर्तृवाचक रचना | active construction |
| कर्म | object |
| कर्मकारक | accusative |
| कर्मधारय समास | attributive compound |

| | |
|---|---|
| कर्मवाच्य | passive voice |
| कर्म सम्बन्धी | objectal/objectival |
| कलन | calculus |
| कल्पित भाषा | artificial language |
| काकल | larynx (=sound box) |
| काकलक | uvula |
| काकलदर्शी | laryngoscope |
| काकलरंजित स्वर | laryngalized vowel |
| काकलीय | laryngal (also laryngeal) |
| काकलीय अनुरेखण | larynx tracing |
| काकल्यरंजन | laryngealization |
| कारक | (1) case |
| | (2) case form |
| काल | tense |
| कालक्रमिक | diachronic |
| कालक्रमिक भाषाविज्ञान | diachronic Linguistics |
| कालक्रमिक रूपप्रक्रिया | diachronistic morphology |
| कालक्रमिक व्याकरण | diachronic grammar |
| कालक्रमिक शब्दार्थ विज्ञान | diachronistic semantics |
| कालक्रमिक स्वन प्रक्रिया | diachronistic phonology |
| कालक्रमिक स्वनविज्ञान | diachronic phonetics |
| कालानुक्रम | chronology/sequence of time |
| कीलाक्षर | uniform |
| कुंचिका शब्द | key word |
| कूट बोली | argot secret dialect |
| कूट रव | code noise |
| कृदन्त | primary derivative |
| | primary formation |
| कृदन्तपरक | participial |
| 'केन्तुम' भाषा | 'centum' language |
| केन्द्र | centre |

| | |
|---|---|
| केन्द्रक | nucleus |
| केन्द्रकीय | nuclear |
| केन्द्रीय क्षेत्र | focal area |
| कैनानिकल रूप | canonical form |
| कोटि | (1) category<br>(2) degree |
| कोमलतालव्य | velar/velaric |
| कोमलतालव्यरंजन | velarization |
| कोशविज्ञान | lexicography |
| कोष्ठ | cavity chamber |
| क्रम | order/ordering |
| क्रमविकास | evolution |
| क्रिओल | creol |
| क्रिया | verb |
| क्रियारूप | conjugation |
| क्रियार्थक नाम | action noun/action nominal/ participial noun |
| क्रियावाक्य | verb sentence |
| क्लिक | click |
| क्लिकरणन | click timbre |
| क्षीण स्वर | light vowel |
| क्षीणाक्षर | light syllable |
| क्षेत्रीय अध्ययन | areography |
| क्षेत्रीय भाषाविज्ञान | areal linguistics (=linguistic geography) |

## ख

| | |
|---|---|
| खंड | segment |
| खंडात्मक स्वनिम | segmental phoneme |
| खंडात्मक स्वनिमविज्ञान | segmental phonemics |
| खंडीकरण | segmentation |

ग

| | |
|---|---|
| गणनासूचक संख्यावाचक | cardinal numeral |
| गणितीय भाषाविज्ञान | mathematical linguistics |
| गति | (1) motion<br>(2) speed (of utterance)<br>(3) tempo |
| गतिक | dynamic |
| गतिक स्वनविज्ञान | motor phonetics |
| गलचाप | fauces |
| गलचापीय | faucal |
| गुंठिका अवरोध | velic closure |
| गुच्छ | cluster |
| गुण | attribute |
| (स्वर-) गुण | quality |
| गुणवाचक | attribute/adjective/ abstracis |
| गुणस्वनिम | prosodic phoneme |
| गुणस्वनिम विज्ञान | prosodic phonemics |
| गुणात्मक अवश्रुति | qualitative gradation |
| गुणार्थ | connotation |
| गुहिका | cavity/chamber |
| गूढ़ | covert |
| गूढ़ शब्दार्थविज्ञान | crypto-semantics |
| गौण आघात | secondary accent |
| गौण बलाघात | secondary stress |
| ग्रंथि | gland |
| ग्रसनी | pharynx |
| ग्रसनी गुहिका | pharyngal cavity (also pharyngeal cavity) |
| ग्राम्य | vulgar |
| ग्राम्यभाषा | substandard speech |
| ग्रिमनियम | Grimnis law |

| | |
|---|---|
| ग्लॉसीम | glosseme |
| ग्लॉसीम विज्ञान/ ग्लॉसेमेटिक्स | glossematics |

**घ**

| | |
|---|---|
| घटक | (1) component |
| | (2) constituent |
| | (3) member |
| घटमान काल | progressive tense |
| घर्षण | friction |
| घर्षरंजित | frictionalized |
| घर्षी | (1) spirant/fricative |
| | (2) frictional |
| घोष | voice |
| घोषतंत्री | vocal cards |
| घोषत्व | voicing/voice pitch |
| घोषवली | vocal fold |
| घोषीकरण | sonorization (=voicing) |

**च**

| | |
|---|---|
| चतुःस्वरक | tetraphthong |
| चतुराक्षर | quadri-syllable |
| चतुर्थी | dative |
| चयन | section |
| चरम अवयव | ultimate constituent |
| चरम पदिम | ultimate taxeme |
| चरम बंधिम | ultimate tgmeme |
| चित्रलिपि | (1) pictography |
| | (2) hictoglyphic writing |
| चित्रलेख | (1) pictogram/pictograph |
| | (2) hieroglyph |
| चिह्न | (1) mark |
| | (2) signature(of the modulus) |

| | |
|---|---|
| चिह्नक | (1) marker |
| | (2) alogism |
| चेतन | animate |
| चेतनलिंग | animate gender |

**छ**

| | |
|---|---|
| छदन | velum |
| छद्मभाषा | simulative language |
| छिन्न शब्द | stump word/clipped word |

**ज**

| | |
|---|---|
| जटिल वाक्य संरचना | involution |
| जड़ | inanimate |
| जननिक स्वनविज्ञान | genetic phonetics |
| | (articulatory phonetics) |
| जननोत्तर स्वनविज्ञान | genemic phonetics |
| जनभाषा | demotic language |
| जाति | type |
| जातिवृत्तीयपरिवर्तन | phylogenetic change |
| जातीय (तेलुगु) | idiomatic |
| जिह्वा | tongue |
| जिह्वाकंठिकापेशी | hyoglossus muscle |
| चिह्वाग्र | apex/tip of the tongue |
| जिह्वाग्र उच्चारण | apical articulation |
| जिह्वाग्र संस्पर्श | apical contact |
| जिह्वापश्च | back of the tongue |
| जिह्वाफलक | blade of the tongue |
| जिह्वाफलकीय | coronal |
| जिह्वाफलकीय उच्चारण | coronal articulation |
| जिह्वा-मध्य | centre of the tongue |
| जिह्वा-मूल | root of the tongue |
| जिह्वामूलीय | radical |
| जिह्वीय | (1) lingual |

| | |
|---|---|
| | (2) linguo |
| जिह्वोपाग्र | front (of the tongue) |
| जिह्वोपाग्रीय | laminal |
| जीवभाषाविज्ञान | biolinguistics |
| जीवितभाषा | living language |
| ज्ञानमीमांसा | epistemology |
| **झ** | |
| झर्झरिका वायु-कोशिका | ethmoidal air cell |
| **ट** | |
| टाइप | type |
| टेपरिकार्डर | tape recorder |
| टैग्मीम | tagmeme |
| टोटेमवाचक नाम | totemistic name |
| **ड** | |
| डार्मेस्टेटर नियम | Darmesteter's law |
| डालनियम | Dhal's law |
| डिंग-डोंगवाद | ding-dong theory |
| **त** | |
| तंत्रबाह्य स्वनिम | extra-systematic phoneme |
| तंत्रिका कोशिका | neuron |
| तंत्रिकाक्ष | axon |
| तंत्रिकाविज्ञानी | neurologist |
| तत्पुरुष समास | determinative compound |
| तत्त्व | element |
| तद्धित | secondary derivative |
| तद्रूप | identical |
| तरंगग्राह | kymograph |
| तल भाषा | sub language |
| ताड़न | tap |
| ताड़नरहित | tapless |
| ताड़ित स्वन | tap sound |

| | |
|---|---|
| तात्विक भाषा | metaphysical language |
| तान भाषा | tone language/polytonic language |
| तानस्वनिम | toneme |
| तानस्वनिमिक | tonemic |
| तानिम | toneme |
| ताराचिह्न | asterisk |
| तालव्य | palatal |
| तालव्य नियम | palatal law |
| तालुलेख | palatogram |
| तालुलेखन | palatography |
| तालु-वर्त्स्य | palato-alveolar |
| तिर्यक्कारक | oblique case |
| (स्वन-) तीव्रता | intensity (of sound) |
| तीव्रता-अवधारण | emphasis for intensity |
| तुक (हिन्दी) | rhyme |
| तुलनात्मक | comparative |
| तुलनात्मक भाषाविज्ञान | comparative linguistics |
| तृतीयक अनुक्रिया | tertiary response |
| तृतीय बलाघात | tertiary stress |
| त्रि | tripal |
| त्रिवचन | trial number |
| त्रिस्वर | (proper) triphthong |
| त्रिस्वरक/त्रिस्वर संध्यक्षर | triphthong |
| त्र्यक्षर | tri-syllable |
| त्र्यक्षरिक | trisyllabic |

## द

| | |
|---|---|
| दंत | tooth |
| दंत्य | dental |
| दीर्घता | length |

| | |
|---|---|
| दीर्घ स्वर | long vowel |
| दीर्घीकरण | lengthening |
| दुर्बलबलाघात | weak stress |
| देशी शब्द | indigenous word |
| दोलन लेखी | oscillograph |
| द्रव्यार्थक नाम | concrete name |
| द्विगुणन | duplication |
| द्विगुणित क्रिया | duplicated verb |
| द्विचर | binary |
| —संरचना | binary structure |
| द्वितीयक धातु | secondary root |
| द्वित्व | gemination (=doubling) |
| द्वित्वभूत | germinated |
| द्विभाषिता | bilingualism |
| द्विभाषी | bilingual |
| —कोश | bilingual dictionary |
| द्विवचन | dual number |
| द्विविध प्रतियोग | bilateral opposition |
| द्विव्यंजन | double consonants |
| द्वयक्षरिक | diasyllabic |
| द्वयोष्ठ्य | bilabial |

### ध

| | |
|---|---|
| धातु — | root/verbal root/verb base/ root base |
| धात्वंग | root base |
| ध्रुवता | polarity |
| ध्वनिक | acoustic |
| ध्वनितंत्रिका | acoustic nerve |
| ध्वनि विज्ञान | acoustics |
| ध्वनिकी | acoustics |

न

| | |
|---|---|
| नपुंसक लिंग | neuter (gender) |
| नम्यता | flexibility |
| नव्य भाषाविज्ञानी | neolinguist |
| --व्याकरण | neogrammarian |
| नागर रूप | urbanism |
| नाम | noun |
| - -अध्ययन | name study |
| नामजात | denominative |
| नामधातु | denominative root |
| नाम-पद्धति | nomenclature |
| नामरूप | declension |
| - -बताना | decline |
| नामविज्ञान | name study |
| नासागुहिका | nasal cavity |
| नासा मार्ग | nasal passage |
| नासा विवर | nasal cavity |
| नासिक्य | nasal |
| - -रंजन | nasalization |
| नास्तिवाचक निपात | negative particle |
| नि:श्वसन | expiration/breath out |
| निक्षेप | parenthesis |
| निर्घोषीकरण | devoicing |
| निजवाचक सर्वनाम | reflexive pronoun |
| नित्य संधि | compulsory sandhi |
| निपात | particle |
| निभाषिका | ideolect |
| निम्न | low |
| --तान | low tone |
| --(स्तर) स्वराघात | low level pitch |
| नियंत्रण करना | govern |

| | |
|---|---|
| नियमित | regular |
| --अर्थपरिवर्तन | regular change of meaning |
| नियंत्रित क्रिया | regular verb |
| नियमित क्रिया रूप | weak conjugation |
| --संज्ञा | weak noun |
| --संधि | regular |
| निरपेक्ष | absolute |
| --कारक | absolute case |
| --रचना | absolute construction |
| --रूप | absolute form |
| निरुपाधिक स्वनपरिवर्तन | independent phonetic change |
| निरूपक भाषा | meta language |
| निर्घोषीकृत | devoiced |
| निर्देशक | declarative/indicative |
| --सर्वनाम | demonstrative pronoun |
| निर्देशव्याकरण | reference grammar |
| निर्मित शब्द | coined word |
| निर्मित | coinage |
| निविष्ट माला | imput string |
| निश्चयवाचक | definite |
| निश्चयार्थकवृत्ति | indicative mood |
| निषेध-क्रियारूप | negative conjugation |
| निहितार्थ | implication/implied meaning/internal meaning |
| न्यूनकल्पयुग्म | analogous pair/ sub minimal pair/ near minimal pair/ minimal pair |
| न्यूनतम | minimal/minimum |
| --युग्म | minimal pair |

| | |
|---|---|
| ——वैषम्य | minimal contrast |
| ——स्वतंत्र रूप | minimum free form |

प

| | |
|---|---|
| पक्ष | (1) aspect (2) thesis |
| पद | (1) word/inflected word (2) term |
| पदबंध | phrase |
| पद-व्याकरण | word grammar |
| पद-सीमा | word-limit |
| पदिम | taxeme |
| परप्रत्यय | suffix |
| परप्रत्यययोजक भाषा | suffixing language |
| परसर्ग | postposition |
| पराश्रित स्वनिक परिवर्तन | dependent phonetic change |
| परिच्छिन्न स्वनिम | segmental phoneme |
| परिच्छेद | segment |
| परिच्छेदक अभिलक्षण | distinctive feature |
| ——स्वन | distinctive sound (=phoneme) |
| परिच्छेदन | segmentation |
| परिणामी | resultant |
| परिधीय भाषा | peripheral language |
| परिरेखा | contour |
| परिवर्त | alternant |
| परिवार | family |
| परिवृत्ति | shift |
| परिसर | environment |
| पर्याय | (1) synonym (2) synonymous |
| पश्च | (1) back (2) regressive |

| | |
|---|---|
| ––जिह्वा | dorsum |
| ––तालव्य | post-palatal |
| ––'ल' | dark 'l' |
| पश्च समीभवन | regressive assimilation |
| पांडित्यवाद | scholasticism |
| पाठ | text |
| पाद | foot |
| पारस्परिक बोधगम्यता | mutual intelligibility |
| पार्थक्य | isolation |
| पार्श्विक | lateral |
| पुंलिग | masculine gender |
| पुनरादान | reborrowing |
| पुर्नानिर्माण | reconstruction |
| पुरःसमीकरण | progressive assimilation |
| पुरुष प्रत्यय | personal affix |
| पूरक | (1) compliment<br>(2) engagement |
| पूरक वितरण | complementary distribution |
| पूरण | complementation |
| पूर्ण | (1) absolute<br>(2) complete |
| पूर्वकंठ्य | prevelar |
| पूर्वनासारंजित स्पर्श | prenasalized stop |
| पूर्वनिर्धारक | pre-determiner |
| पूर्व प्रत्यय | prefix |
| प्रकट कोटि | overt category |
| प्रकरण | context |
| प्रकार | (1) aspect<br>(2) variety |
| प्रकार्य | function |
| प्रकार्य और संरचनात्मकवाद | functional and structural theory |

प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान functional linguistics
प्रकृति base/stem base
प्रकृति समास stem compound
प्रतिध्वनि echo
प्रतिनिधान substitution
प्रतिनिधि substitute
प्रतिपक्ष antithesis
प्रतिपूरण,/प्रतिपूर्ति compensation
प्रतीक symbol
प्रतीक रूपात्मभाषा symbolic metaphorical language
प्रत्यय (1) affix
(2) formative
प्रयत्न manner of articulation
प्रयत्नलाघव economy of effort
प्ररूप type
प्रविधि technique
प्राकृतिक कोटि natural category
प्राणत्व breathing
प्रातिपदिक stem (=noun base/base)
प्राथमिक बलाघात primary stress
प्राधान्य prominence
प्रायोगिक शब्दार्थ विज्ञान experimental semantics
प्रायोगिक स्वनविज्ञान experimental phonetics

फ

फलक blade
फलकघर्षी slit spirant
फुप्फुस lungs
फुसफुसाहट whisper/whispering

ब

बंध frame

| | |
|---|---|
| बंधिम | tagmeme |
| बंधुतावाची शब्दावली | kinship terms |
| बद्ध | bound |
| बलाघात | stress/stress accent/dynamic accent |
| बलाघात परिवर्तन | modulation |
| बलाघात स्वनिम | taseme |
| बहिःकेन्द्रिक | exocentric |
| बहिःस्फोटक | explosive |
| बहु-अर्थ | multiple meaning |
| बहु-अर्थक | polysemantic/polysemous |
| बहु-अर्थकता | polysemy |
| बहुतान भाषा | polytonic language (=tone language) |
| बहुभाषाविद | linguist |
| बहुभाषी | multilingual/polylingual/plurilingual/polyglot |
| बहुरूपिमिक | polymorphemic |
| बहुसंश्लेषण | (1) polysynthesis |
| बृहद् खंड | macro-segment |
| बृहद् भाषाविज्ञान | macro linguistics |
| बाह्यार्थ | external meaning |
| बोली | dialect |
| बोली आदान | dialect borrowing |
| बोली एटलस/बोली मान-चित्रावली | dialect atlas |
| बोली क्षेत्र | dialectal area |
| बोली भूगोल | dialect geography |
| बोली विज्ञान | dialectology |

भ

| | |
|---|---|
| भार | emphasis |

| | |
|---|---|
| भाव | affect (intonation attective) |
| भावगुण/भावना | feeling tone |
| भावलेख | ideogram/ideograph |
| भावानुवाद | paraphrase |
| भावे प्रयोग | impersonal voice |
| भाषण गति | rate of speaking |
| भाषांश | gloss |
| भाषा | language/lelanguage (=primary language) |
| भाषाई | linguistic |
| भाषा-एटलस | linguistic atlas |
| भाषा-कालक्रम विज्ञान | glottochronology |
| भाषा-कुल | language family |
| भाषा-क्षय | extinction of a language |
| भाषा-क्षेत्र | linguistic area/ linguistic field/ speech area |
| भाषागत अनुपात | linguistic ratio |
| भाषा-तल | linguistic stratum |
| भाषा-नवप्रवर्तन | linguistic innovation |
| भाषा-भूगोल | linguistic geography (=areal linguistics) |
| भाषाविज्ञान | linguistics (linguistic science/ glossology/glottology) |
| भाषाविज्ञानी | linguist/linguistician |
| भाषिक/भाषासम्बन्धी | linguistic |
| भाषिका | dialect |
| भाषिकाविज्ञान | dialectology |
| भेद | variety |
| भेदक | distinctive |
| भौतिक ध्वनि-परिणाम | acoustic impression |

| | |
|---|---|
| भौतिक ध्वनि लक्षण | acoustic feature |
| भौतिक स्वन विज्ञान | acoustic/phonetics/physical phonetics |
| भ्रामक व्युत्पत्ति | false etymology |
| भ्रामक शब्द | ghost word/(phantom word) |

म

| | |
|---|---|
| मध्य | (1) centre/mid/medial<br>(2) interlude |
| मध्य कंठ्य | medio-velar |
| मध्यकर्ण | middle ear/tympanum |
| मध्य प्रत्यय | infix |
| मध्यलोप | syncope |
| मध्य व्यंजनलोप | jamming |
| मनोभाषाविज्ञान | psycholinguistics |
| मनोवादी | mentalist |
| मर्मर | murmur |
| मसूड़े | gums |
| महत्तम | maximum |
| महाप्राण | aspirate/aspirated |
| महाप्रणता/महाप्राणत्व | aspiration (=rough breathing) |
| मात्रा | duration/quantity/mora |
| मानक | norm |
| मानकेतर | non-standard |
| मानवजाति-भाषाविज्ञान | ethnolinguistics |
| मानव्यंजन | cardinal consonant |
| मानस्वर | cardinal vowel |
| मिश्रण | blending |
| मिश्र भाषा | mixed language |
| मिश्रित भाषा | pidgin |
| मुक्त कंपन | free vibration |

| | |
|---|---|
| मुखविवर | buccal cavity/vocal cavity/ oral cavity/oral chamber |
| मुक्य अवयव | primay organ |
| मुख्य आघात | primary accent/main accent |
| मुख्यार्थ | (1) essential meaning/ central meaning<br>(2) applicatin (=denotation) |
| मूर्धन्य | domal/cerebral/retroflex/ cacuminal |
| मूर्धा | crebrum |
| मूल | (1) fundamental<br>(2) kernel<br>(3) root |
| मूल धातु शब्द | primary root word |
| मूल स्वर | simple vowel |
| मृदु तालव्य | velar/velaric |
| मोचक खंड | trigger segment |
| मोचन | release |

य

| | |
|---|---|
| यंत्र | mechanism |
| यादृच्छिक | arbitrary |
| युंगग्रामाटिकेर | junggrammatiker |
| युगपत् | simultaneous |
| युग्म | (1) pair<br>(2) doublets |
| योगात्मक | agglutinative/agglutinating |
| योजक चिह्न | hyphen/additive marker |
| यौगिक | compound |

र

| | |
|---|---|
| रंध्र — | aperture |

| | |
|---|---|
| रचनांग | (1) constituent<br>(2) formative |
| रचनांतरण | transformation |
| रचना | construction |
| रचित भाषा | constructed language |
| रणन | timbre (=timber) |
| रव | noise |
| राग | tune |
| रिक्त रूप | empty morph |
| रूढ़ | conventional |
| रूढ़ शब्द | prime word |
| रूप | (1) form<br>(2) morph |
| रूपतानिमविज्ञान | morphotonemics |
| रूपप्रक्रिया | morphology/accidence |
| रूपवर्ग | form class |
| रूपशब्द | morpholexical |
| रूपसिद्धि | inflection (flection/inflexion) |
| रूपस्वनप्रक्रिया | morphophonology |
| रूपस्वनिम | morphophoneme |
| रूपस्वनिमविज्ञान/ रूपस्वनिमिकी | morphophonemics |
| रूपात्मक | formal |
| रूपावली | paradigm/accidence |
| रूपिम | morpheme |
| रूपिम विज्ञान | morphemics |

ल

| | |
|---|---|
| लक्षक | mark |
| लक्षण | feature/characteristic |
| लक्ष्यार्थ | figurative meaning/transferred meaning |

| | |
|---|---|
| लचीलापन | flexibility |
| लाघव | economy |
| लिंग | gender |
| लिपि | script |
| लुप्त | (1) obsolete<br>(2) elliptical |
| लेखविज्ञान | graphics/graphetics |
| लेखिम | grapheme |
| लेखिमविज्ञान | graphemics/graphonomy |
| लोड़ित | rolled |
| लोप | elision/ellipsis/disappear-ance/loss/omission |
| लौकिक | classical |

व

| | |
|---|---|
| वंश | genus |
| वंशवृक्षवाद | tree stem theory |
| वंशानुक्रमवाद | pedigree theory |
| वक्ष | thorax |
| वचन | number |
| वरण | section |
| वरेण्य | classical |
| वर्ग | class |
| वर्गक | class formative/classifier |
| वर्ग भाषा | cant |
| वर्गिकी कोटि | taxonomic category |
| वर्जित शब्द | taboo word |
| वर्ण | (1) letter<br>(2) character |
| वर्णनात्मक क्रम | descriptive order |
| वर्णमाला | alphabet |
| वर्णलोप | minus feature |

| | |
|---|---|
| वर्णिम | grapheme |
| वर्तनी | spelling/orthography |
| वर्तुलन | rounding |
| वर्त्स | alveolar/alveolus |
| वाक् | speech (=le language/ le parole) |
| वाक् आशय | speech content |
| वाक्यबंध | discourse |
| वाक्यविचार | syntax |
| वाक्यविन्यास | syntax/syntactic construction |
| वाक्यविन्यास विज्ञान | syntactics |
| वाक्यांश | phrase |
| वाग्यंत्र | vocal organ/vocal apparatus/speech apparatus/ speech mechanism |
| वाग्रीति | mode of speech |
| वाग्विशेष | locution |
| वाग्विस्तार | circumlocution |
| वाग्वेग | rate of speaking |
| वाङ्मीमांसा | philology |
| वाचक | significant (name) |
| वाच्यार्थ | denotation |
| विकल्प | (1) alternant<br>(2) option |
| विकार | mutation |
| विकारी कारक | oblique case |
| विकासवाद | evolution theory |
| विकृति | modification |
| वितरक | distributive |
| वितरण | distribution |

| | |
|---|---|
| विधेय | predicate |
| विन्यास | (1) arrangement<br>(2) fused configuration |
| विन्यासक्रमात्मक | syntagmatic |
| विन्यासक्रमी | syntagm (syntagma) |
| विन्यासविज्ञान | tactics |
| विपर्यय | metathesis/transposition/ anastrophe |
| विप्रकर्ष | anaptyxis |
| विभक्ति | (1) case/case form/case ending<br>(2) (inflexion/flection/ flexion) |
| विभक्ति प्रधान | flectional |
| विभक्ति रूप | declension |
| विभक्ति ह्रास | deflexion |
| वियोजकता | isolatism |
| वियोजन | disjunction/isolation |
| विरुद्धार्थ | antinomy |
| विलयन | absorption/merger |
| विवर | cavity/chamber/sinuses |
| विवृत | open |
| विशिष्ट | (1) absolute<br>(2) particular |
| विशेषक | modifier/qualifier/adjunct (=secondary word) |
| विशेषण | (1) attribute/adjective<br>(2) epithet |
| विशेष्य | substantive |
| विश्लेषण | analysis |
| विश्वकोश | encyclopedia |

| | |
|---|---|
| विषम वितरण | contrasting distribution |
| विसार | diffusion |
| विस्तार | extension/enlargement |
| वृत्ति | mood |
| वैषम्य | contrast |
| व्यंग्य/व्यंग्योक्ति | irony |
| व्यंजन | consonant |
| व्यक्ति | token |
| व्यक्ति बोली/ व्यक्तिभाषा | ideolect |
| व्यवहित | non-contiguous (=remote) |
| व्याकरणिक | grammatical |
| व्यावर्तक | distinctive |
| व्युत्पत्तिमूलक | derivational |
| व्युत्पत्ति-विमर्श | etymology |
| व्युत्पादी | derivative |

**श**

| | |
|---|---|
| 'शतम्' भाषा | satem language |
| शब्द | (1) word<br>(2) term<br>(3) vocable |
| शब्दकोष | lexicon/dictionary |
| शब्दकोष विज्ञान | lexicography |
| शब्दक्रम | word order (order of words) |
| शब्दचिह्न | logogram |
| शब्दचिह्नक | word-marker |
| शब्दचिह्न-लेखन | logography |
| शब्दरूप | (1) declension<br>(2) lexical form |
| शब्दरूप प्रक्रिया | morphology |
| शब्द-लेख | logograph |

| | |
|---|---|
| शब्दसंग्रह/शब्दसमूह | vocabulary |
| शब्दादेश | metonymy |
| शब्दाधिक्य | pleonasm |
| शब्दार्थमीमांसा | philosophical semantics |
| शब्दार्थविज्ञान | semantics (semasiology/ semantology/lexicology/ significs) |
| शब्दार्थसूचक | semantic indicator |
| शब्दावली | glossary |
| शब्दिम | lexeme |
| शब्दिमकोटि | lexemic category |
| शरीररचनाविज्ञान | anatomy |
| शर्करण | assibilation |
| शाब्दिक | lexical |
| शिखर | point |
| शिथिल | (1) lax (lenis/loose) (2) relaxed (state of pharynx) |
| शिशुभाषा | nursery language |
| शिष्टेतर प्रयोग | slang |
| शिष्टोक्ति | euphemism |
| शीर्ष | head |
| शुद्ध उच्चारण | orthophony |
| शुद्धलेखन | orthography |
| शून्य | zero element (=zero feature) |
| शून्य उपपद | zero article |
| शून्य परिवर्त | zero alternant |
| शून्य रूपिम | zero morpheme |
| शैली विज्ञान | stylistics |
| श्रवणात्मक/श्रुतिग्राह्य | auditory |
| श्रव्य | (1) auditory |

| | |
|---|---|
| | (2) sonorous |
| श्रुति | glide (=glide vowel) |
| श्रुतिकटुत्व | dissonance |
| श्रुतिगम्य | sonorous |
| श्रुतिगम्यता | sonority |
| श्रेणी | (1) rank/ranking |
| | (2) series |
| श्लेष | pun |
| श्वसन | breathing/respiration |
| श्वसनी | bronchus |
| श्वास | (1) breath |
| | (2) breathed |
| श्वासकोष | lungs |
| श्वासद्वार | glottis |
| श्वासद्वारीय | glottal |
| श्वासनली | wind pipe (=trachea) |

### स

| | |
|---|---|
| संकरभाषा | hybrid language/mixed language |
| संक्रमण | transition |
| संक्रमित अर्थ | transferred meaning |
| संकुचित अर्थ | narrowed meaning |
| संकेत | (1) sign/signal |
| | (2) convention |
| संकेतवस्तुविज्ञान | semantics (Ullmann) |
| संकेतक | (1) signifier |
| | (2) encoder |
| संक्षेप | abbreviation |
| संक्षेपण | abridgement |
| संख्यावाचक | numeral |
| संगति | (1) hormony |

| | |
|---|---|
| | (2) concordance |
| संग्रहण | gathering |
| संघटन | composition |
| संघर्ष | collision |
| संघर्षी | fricative/spirant |
| संचयन | cumulation |
| संज्ञा | (1) noun |
| | (2) primary word |
| | (3) substantive (as opposed to 'noun' Jespersen) |
| संज्ञारूप | declension |
| संज्ञारूप बताना | decline |
| संतत | (1) durative/continuative |
| | (2) continuant |
| संदर्भ | (1) reference |
| | (2) context |
| | (3) environment |
| संधि | Sandhi (connection/liaison/ coalescence/euphonic combination fusion) |
| संध्यक्षर | diphthong |
| संध्यक्षीकरण | dipthongization |
| संपर्क अवभाषा | contact vernacular (makeshift language/ lingua franca) |
| संपर्क भाषा | (1) link language |
| | (2) (contact) vernacular/ make shift language |
| संपाती वितरण | coincident distribution |
| संप्रदान | dative |
| संबन्ध विभक्ति | allocation/possession |

| | |
|---|---|
| संबंधिम | syntagm (syntagma) |
| संबोधन | vocative |
| संबोधनकारक | compellative care/vocative case |
| संभावनार्थक | subjunctive (=thought mood) |
| संभाषण | conversation |
| संमिश्रण | contamination |
| संयोजक | (1) conjunctive<br>(2) connector |
| संरचना | structure |
| संरचनात्मक भाषाविज्ञान | structural linguistics |
| संरचनावर्ग | structural class |
| संलग्नता | contiguity |
| संवर्ग | category |
| संवार | closure |
| संवृत | close |
| संवेग | affect (intonation affective) |
| संवेगात्मक | emotive |
| संश्लेषण | synthesis |
| संसर्ग | contagion (as in semantic contagion)/condensation |
| संस्पर्श | contact |
| संहित रूप | atonic form |
| संहिता | (1) juncture<br>(2) close juncture |
| सकार | affirmation |
| 'स' जोड़ना | sigmate |
| सत्तार्थक क्रिया | substantive verb |
| सदस्य | member |
| सदृश | analogous/similar |

| | |
|---|---|
| सम | (1) equivalent<br>(2) congruent |
| समकालिक | contemporary |
| समता | congruence |
| समतान | isotone |
| समधिक | redundant |
| समनाम (शब्द) | homonym |
| समनामता | homonymy |
| समप्ररूप | isotype |
| सममिति | symmetry |
| समरूप (शब्द) | homomorph |
| समलेख (शब्द) | homograph |
| समस्वन | homophone |
| समस्वनता | homophony |
| समाक्षरलोप (उच्चारण में) | haplology |
| समाक्षर-लोप (लेखन में) | haplography |
| समान क्रोड | common core |
| समानाधिकरण | apposition/coordination |
| समानार्थकता | synonymity<br>(=synonymy) |
| समास | compound (word) |
| समीकरण | assimilation/equalization |
| समीभवन | assimilation |
| समुच्चय | set |
| समुच्चयबोधक | conjunction/link word |
| सरणि-रव | channel noise |
| सर्वनाम | pronoun |
| सर्वसम | identical/congruent |
| सर्वादेश | suppletion |
| सवर्ण | homorganic |
| सव्यय | flexible |

| | |
|---|---|
| सहसम्बन्ध | (1) collocation<br>(2) correlation |
| सहस्थिति | co-occurance |
| सहायक | auxiliary |
| साक्षर | literate |
| सादृश्य | analogy |
| साधक | agent |
| साधित | derivative |
| सामग्री | corpus |
| सारणी | table |
| सार्थक | significant |
| सार्वकालिक | panchronic (=panchro-nistic) |
| सार्वनामिक | pronominal |
| सावयव | organic |
| सिद्ध प्रयोग | idiom |
| सुश्राव्य | euphonic |
| सूक्ष्म भाषा | metaphysical language |
| सूक्ष्म भाषाविज्ञान | micro-linguistics |
| सूचक | (1) informant<br>(2) index<br>(3) key |
| सूचिम | glosseme |
| सूत्र | formula |
| सूत्रशब्द | catchword |
| सेनिम | ceneme |
| स्खलन | (1) lapse<br>(2) stumbling (speech) |
| स्तर | layer |
| स्थलनाम विज्ञान | toponomy (=toponomastics/toponomatology/toponymy) |

| | |
|---|---|
| स्थानाश्रित/स्थानीय | positional |
| स्थानीय बोली | local dialect |
| स्थूल लिप्यंकन | broad transcription |
| स्थैतिक भाषाविज्ञान | static linguistics |
| स्पंदन | vibration |
| स्पर्श | stop (mute/plosive/explo-sive/occlusive/obstruent/lkenetic/consonant) |
| स्वन | phone |
| स्वनकरण | phonation |
| स्वनगुण | sound attribute/prosody) |
| स्वनगुण-अभिलक्षण | prosodic feature |
| स्वनगुणिम | prosodeme |
| स्वननियम | phonetic law |
| स्वनप्रक्रिया | phonology |
| स्वन-प्रतीक | phonetic symbol |
| स्वनयांत्रिकी | phono mechanics |
| स्वनविज्ञान | phonetics (phonics) |
| स्वनिक | phonetic (=phonic) |
| स्वनिम | phoneme |
| स्वनिम विज्ञान | phonemics |
| स्वनिमात्मक | phonematic |
| स्वनिमायतम्(तमिल) | phonoid |
| स्वनिमाश्रित परिवर्तन | phonemically conditioned alternation |
| स्वनिमिक लिप्यंकन | phonemic transcription |
| स्वनिमिक वर्णमाला | phonemic alphabet |
| स्वनिमिक विश्लेषण | phonemic analysis |
| स्वरक/स्वरध्वनि | vocoid |
| स्वर-गुण | vowel quality |
| स्वर-त्रिकोण | vowel triangle |

| | |
|---|---|
| स्वरभक्ति | anaptyxis/anaptyctic insertion |
| स्वर-मध्य | intervocal (=intervocalic) |
| स्वरयंत्र | layrnx (=sound box) |
| स्वराघात | pitch |
| स्वराघात आवृत्ति | pitch frequency |
| स्वराघात परिवर्तन | modulation |
| स्वरेतर ध्वनि | non-vocoid |
| स्वाश्रित | automatic |
| स्वीकरण | borrowing |

ह

| | |
|---|---|
| हकलाना | stammering/stuttering |
| हिक्कित व्यंजन | ejective consonant |
| ह्रसन | reduction |
| ह्रस्व खण्ड | short segment |
| ह्रस्व चिह्न | breve/micron |
| ह्रस्व स्वर | short vowel |
| ह्रस्वीकरण | shortening |
| ह्रास | decrement/reduction |